Barcode : 5990010098724
Title - ABHIDHAMMATTHASANGAHO
Author - BALADEVA UPADHYAYA
Language - sanskrit
Pages - 531
Publication Year - 1972
Barcode EAN.UCC-13
5 990010 098724

PĀLI GRANTHAMĀLĀ—1

Anuruddhācariya's

ABHIDHAMMATTHASAṄGAHO

[Vol. I]

Along with

Hindi Translation

&

ABHIDHARMA-PRAKĀŚINĪ Commentary

General Editor

BALADEVA UPADHYAYA

Director Research Institute

Critically Edited, Translated & Commented

by

BHADANT REWATADHAMMA (Burma)

AND

RAM SHANKAR TRIPATHI

Varanaseya Sanskrit Vishwavidyalaya

VARANASI

Published by .
Director · Research Institute,
Varanaseya Sanskrit Vishwavidyalaya,
VARANASI–2.

First Edition . (1000 Copies)

Price · Rs. 15/-

पालिग्रन्थमाला—१

आचार्य-अनुरुद्ध-प्रणीत

अभिधम्मत्थसङ्गहो

[प्रथम भाग]

हिन्दी अनुवाद और अभिधर्मप्रकाशिनी व्याख्या से
विभूषित

सम्पादक, अनुवादक तथा व्याख्याकार

भदन्त रेवतधम्म (ब्रह्मदेश)
रामशंकर त्रिपाठी
वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

प्राप्तिस्थान :

विक्रयविभाग,

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय

वाराणसी–२

प्रथम संस्करण : (१००० प्रतियाँ)

मूल्य : १५) रुपये

वक्तव्य

'अभिधर्म' पालि-त्रिपिटको मे अपनी दार्शनिक स्थापनाओ तथा मनोविज्ञान के विस्तृत विवरण के कारण नितान्त महत्त्वशाली स्थान रखता है। पालि के इतर दोनों त्रिपिटको का साक्षात् सम्बन्ध बुद्ध-धर्म की व्यावहारिक शिक्षा तथा भिक्षुओ के दैनन्दिन आचार-सदाचार के साथ मुख्यरूपेण विद्यमान है। 'सूत्रपिटक' बौद्धधर्म के नैतिक शिक्षण का भाण्डागार है, तो 'विनयपिटक' बुद्धधर्मानुयायी गृहस्थो तथा भिक्षुओ के आचार-व्यवहार का विश्वकोश है। इसके विपरीत अभिधर्मपिटक बौद्धधर्म–स्थविरवादी सम्प्रदाय–के दार्शनिक सिद्धान्तो का विशाल निकेतन है। 'अभिधम्म' (स० अभिधर्म) मे 'अभि' शब्द 'अतिरेक' या 'विशेष' अर्थ का बोधक है। 'धर्म' से अतिरिक्त अथवा विशिष्ट होने के कारण ही 'अभिधर्म' का यह नामकरण सार्थक है। 'धर्म' से तात्पर्य सूत्रपिटक से है। फलत सूत्रपिटक से अधिक गम्भीर और विशिष्ट धर्म होने के कारण ही यह तृतीय पिटक तन्नाम्ना अभिहित होता है। 'अभिधर्म' के विशिष्ट अनुशीलन किये विना तथागत के शिक्षण तथा उपदेश का मर्म समझना नितान्त कठिन है, परन्तु 'अभिधर्म' का अनुशीलन एक दुष्कर व्यापार है। अभिधर्म वर्ण्य विपयो का इतना विस्तार तथा व्यूहन करता है कि उसके भीतर प्रविष्ट होकर तत्त्वों का ज्ञान करना साधारण वैदुष्य का काम नही है।

इस काठिन्य तथा दुरूहता को दूर करने के लिए ही आचार्य अनुरुद्ध ने प्रकृत ग्रन्थ **'अभिधम्मत्थसगहो'** (अभिधर्मार्थसग्रह) की रचना की। नव परिच्छेदो मे विभक्त यह ग्रन्थ अभिधर्म के लिए एक कमनीय हस्तामलक है, अथवा यो कहना चाहिए कि अभिधर्म के स्वरूप-दर्शन के लिए यह उज्ज्वल दर्पण है। इसकी विपुल ख्याति का परिचय इसके ऊपर निर्मित विशाल व्याख्या-सम्पत्ति से भी आपातत लगाया जा सकता है। अभिधर्म के दुरूह तत्त्वो के जिज्ञासु जनो के लिए 'अभिधम्मत्थसगहो' का अनुशीलन अनिवार्य है। इस ग्रन्थ के महनीय रचयिता आचार्य अनुरुद्ध पालि-अट्ठकथाओ के निर्माता आचार्य बुद्धघोष के समकालीन तथा समवयस्क माने जाते है। फलत इनका आविर्भाव काल चतुर्थ शती का अन्तिम भाग और पञ्चम शती का पूर्व भाग है। लगभग ३७५–४३० ई० इनका समय मानने मे विशेष विप्रतिपत्ति नही होनी चाहिए।

इस ग्रन्थ का अध्ययन ब्रह्मदेश (बरमा) मे विशेषरूप से होता चला आ रहा है। उस देश मे इस ग्रन्थ के साम्प्रदायिक अध्यापन की एक सुदीर्घ परम्परा है, जो आज भी वहाँ जागरूक है। इसके ऊपर पालि मे लगभग १९ टीकाओ के लिखे जाने का सकेत मिलता है, जिनमे से अनेक आज भी उपलब्ध है तथा प्रकाशित हो गई है। **अभिधर्म-प्रकाशिनी व्याख्या**, जिसे यहाँ प्रकाशित करते हुए हमे विशेष हर्ष हो रहा है, इस व्याख्याशृखला की अन्तिम कडी है।

इस टीका का विपुल वैशिष्टय अवधान-योग्य है। यह हिन्दी भाषा मे निबद्ध की गई है। इसे टीका की सज्ञा देना शब्द का दुरुपयोग है, यह टीका न होकर विपुलकाय भाष्य है, जिसमे प्रत्येक शब्द की व्याख्या तथा मीमासा पालि तथा सस्कृत के आधारभूत मौलिक ग्रन्थो का आश्रय लेकर प्रमाणपुर सर की गई है। 'अभिधम्मत्थसगहो' मूल त्रिपिटक के समान ही मनोविज्ञान की दार्शनिक भित्ति पर अवस्थित है। फलत मनोविज्ञान के शतश साधारण तथा विशिष्ट शब्दो का पूर्ण विवरण देने मे यह व्याख्या नितरा समर्थ है – यह कथन व्याख्या के आपातत अध्येता की भी दृष्टि से परोक्ष नही है। 'अभिधर्मप्रकाशिनी' की रचना का आधार प्राचीन

नवीन तथ्यो का विवरण लेखको के गम्भीर अध्ययन तथा व्यापक पाण्डित्य का परिचायक है । बरमा तो अभिधर्म के शिक्षण का आज शताब्दियो से मूलपीठ बना हुआ है, परन्तु वहाँ की किसी भी टीका मे न तो इतनी तुलनात्मक सामग्री है, और न मूल का इतना पुङ्खानुपुङ्ख अनुशीलन है । मेरी दृष्टि मे इस कोटि का ग्रन्थ किसी भी भाषा मे नही है–चाहे वह यूरोप की हो, भारत की हो अथवा बरमा की हो । टीका की प्रामाणिकता पृष्ठे पृष्ठे नही, अपि तु पदे पदे, अभिव्यक्त होती है । ऐसे ग्रन्थरत्न को प्रकाशित कर सस्कृत विश्वविद्यालय ने दार्शनिक तत्त्वो के जिज्ञासु जनो का जो उपकार किया है, वह असाधारण है, अनुपमेय है तथा आदरणीय है ।

इस टीका की रचना का श्रेय पण्डित रामशकर त्रिपाठी तथा भदन्त रेवतधर्म को है । ये दोनो विद्वान् वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय के साथ सम्बद्ध है । पण्डित रामशकर त्रिपाठी सस्कृत विश्वविद्यालय मे बौद्धदर्शन के प्राध्यापक है । इन्होने बौद्ध ग्रन्था का विधिवत् शास्त्रीय पद्धति से अध्ययन किया है । ये एक नवयुवक विद्वान् है । इन्होने बौद्ध धर्म ओर दर्शन के अध्ययन मे अपना जीवनदान किया है । प्रस्तुत ग्रन्थ के माध्यम से स्थविरवादी बौद्धधर्म को राष्ट्रभाषा मे लाने का जो सत्प्रयास किया गया है, उसका इनको श्रेय है । ग्रन्थ की भाषा अत्यन्त सरल एव सुबोध है । इनसे बौद्धज्ञान के जिज्ञासुओ को भविष्य मे बडी आशाये है । रेवतधर्म जी बर्मा के निवासी है और वहाँ के विद्यापीठ मे उन्होने अभिधर्म का अध्ययन प्रख्यात बौद्ध पण्डितो से विधिवत् सम्प्रदायानुकूल पद्धति पर किया है । फलत वे अभिधर्म के साम्प्रदायिक व्याख्यानो से पूर्ण परिचित है । इस समय ये हमारे अनुसन्धान सस्थान मे पातञ्जलयोग तथा बौद्धयोग का तुलनात्मक अध्ययन कर रहे है और हमारे छात्र है । इन दोनों पण्डितो का अनेक वर्षो का गम्भीर तुलनात्मक अध्ययन इस टीका की रचना मे पदे-पदे प्रतिफलित होता है ।

आरम्भ की प्रस्तावना मे व्याख्याकारो ने अपने दृष्टिकोण को भलीभाँति समझाया है तथा अभिधर्म-विषयक उपादेय तथ्यो को अभिव्यक्त किया है । मेरी दृष्टि मे तुलनात्मक टिप्पणियो से परिपुष्ट इस अनुवाद की पालिग्रन्थो के उन छिछले अनुवादो से तुलना ही नही की जा सकती, जो इधर हिन्दी के माध्यम से प्रकाशित हुए है और हो रहे है ।

ऐसे प्रामाणिक अथच सुबोध ग्रन्थ को प्रकाश मे लाने के कारण यह अनुसन्धान सस्थान उचित गर्व का अनुभव कर रहा है । मेरा पूरा विश्वास है कि इस सस्करण की सहायता से कोई भी जिज्ञासु थेरवाद के दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक तथ्यों को भलीभाँति हृदयङ्गम कर सकता है । मै इस ग्रन्थ के रचयिता विद्वान् लेखको को भी आशीर्वाद देता हूँ और आशा करता हूँ कि इतर जटिल पालिग्रन्थो की व्याख्या लिख कर वे अपनी प्रतिभा को प्रकाशित करेगे तथा बौद्धधर्म और दर्शन के तत्त्वानुसन्धित्सु विद्वज्जनो के सत्कार तथा आभार के भाजन बनेगे ।

वाराणसी
आग्रहायणकृष्ण एकादशी
संवत् २०२३

श्री बलदेव उपाध्याय
अनुसन्धान सचालक

भूमिका

जगत् के उत्तम शास्ता परम कारुणिक भगवान् बुद्ध ने देवताओ सहित इस लोक के अनन्त हित और सुख के लिये धर्म एवं विनय की देशना की। बौद्ध धर्म त्रिधा विभक्त है, यथा,–परियत्ति, प्रतिपत्ति (पटिपत्ति) और प्रतिवेध (पटिवेध)। इनमे से भगवान् द्वारा उपदिष्ट धर्म 'परियत्ति' नामक सद्धर्म है[1]। यही बुद्धशासन की आधारशिला है। इस (परियत्ति धर्म) के होने पर ही अन्य (प्रतिपत्ति और प्रतिवेध) धर्म भी स्थित रह सकते है, न होने पर नही। इसीलिये अङ्गुत्तरनिकाय की अट्ठकथा मे भी कहा गया है—

"सुत्तन्तेसु असन्तेसु पमुट्ठे विनयम्हि च।
तमो भविस्सति लोको सुरिये अत्थङ्गते यथा॥
सुत्तन्ते रक्खिते सन्ते पटिपत्ति होति रक्खिता।
पटिपत्तियं ठितो धीरो योगक्खेमा न धंसति॥"[2]

अर्थात् सूत्रान्तो के न होने पर और विनय के विनष्ट हो जाने पर यह लोक उसी प्रकार अन्धकारपूर्ण हो जायगा, जिस प्रकार सूर्य के अस्तङ्गत हो जाने पर होता है। सूत्रान्तो के सुरक्षित रहने पर पटिपत्ति (ध्यानभावना आदि) भी सुरक्षित रहती है और पटिपत्ति मे स्थित धीर पुरुष योग-क्षेम से परिभ्रष्ट नही होता।

इसी कारण सद्धर्म की चिरस्थिति की कामना से महाकाश्यप आदि महास्थविरो ने 'परियत्ति' (त्रिपिटक) नामक बुद्धवचनो का सङ्गायन कर बुद्धशासन की रक्षा की। सद्धर्म की अभिवृद्धि चाहनेवाले तत्कालीन राजाओं और सामान्य जनो ने भी सङ्गीति करनेवाले उन महास्थविरो की भरपूर सहायता की।

सङ्गीतियाँ

प्रथम सङ्गीति–बुद्ध के अनुपधिशेष निर्वाणधातु मे प्रवेश के बाद उनके द्वारा उपदिष्ट धर्म का सरक्षण भिक्षुसघ के सम्मुख एक महान् कार्य था, क्योकि भगवान् बुद्ध को परिनिर्वृत्त हुए अभी एक सप्ताह भी न बीता था कि पावा और कुशीनारा के मध्य ५०० भिक्षुओ के साथ चारिका करते हुए महाकाश्यप ने सुभद्र नामक एक वृद्ध प्रव्रजित को यह कहते हुए सुना–"बस, आयुष्मानो! मत शोक करो, मत विलाप करो, हम उस महाश्रमण (बुद्ध) से अच्छीतरह मुक्त हो गये। हम उसके द्वारा सदा यह कहकर पीडित किये जाते थे–'यह तुम्हे विहित है, यह तुम्हे विहित नही है।'

---

१. "परियत्तीति तीणि पिटकानि, पटिवेधो ति सच्चपटिवेधो, पटिपत्तीति पटिपदा" –विभ० अ०, पृ० ४३५।

अब हम जो चाहेंगे करेंगे, जो नही चाहेंगे वह नही करेंगे[1] ।" सुभद्र के ये वचन सुनकर महाकाश्यप जैसे भिक्षु का चिन्तित होना स्वाभाविक था । उन्होंने सोचा, अधर्म और अविनय प्रकट हो रहे है, अत: आवश्यक है कि धर्म और विनय का सङ्गायन किया जाय[2] ।

सङ्गीति के लिये महाकाश्यप ने पाँच सौ अर्हत् भिक्षुओ को चुना । महाकाश्यप इस सङ्गीति के अध्यक्ष थे । उन्होने धर्मसम्बन्धी प्रश्न आनन्द से तथा विनयसम्बन्धी प्रश्न उपालि से पूछे । अन्त मे भिक्षुओं ने उनका सङ्गायन किया । यह सङ्गीति भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के अनन्तर चतुर्थ मास मे राजगृह की सप्तपर्णी गुहा मे आयोजित की गई थी । मगधशासक अजातशत्रु इसमे सहायक थे। यह सभा बौद्ध जगत् मे 'पञ्चशतिका' नाम से विख्यात है ।

द्वितीय सङ्गीति–भगवान् के परिनिर्वाण के १०० वर्ष बीतने पर आयुष्मान् यश ने वैशाली के वज्जिपुत्तक भिक्षुओ को विनयविपरीत दश वस्तुओ का आचरण करते हुये देखा, जिनमे सोने-चादी का ग्रहण भी एक था[3] । अनेक भिक्षुओ की दृष्टि मे उनका यह आचरण निन्दित था । इसका निर्णय करने के लिये वैशाली मे एक सभा बुलाई गई। इसमे ७०० अर्हत् भिक्षु सम्मिलित हुए । यह सभा आठ मास तक चलती रही । महास्थविर रेवत इसके सभापति थे । सभा ने वैशाली के भिक्षुओ के दश वस्तु सम्बन्धी आचरण विनय से विपरीत निश्चित किये । तदनन्तर भिक्षुओ ने धर्म और विनय का सङ्गायन किया । इस समय के राजा कालाशोक इस सङ्गीति के सहायक थे । बौद्धो मे यह सङ्गीति 'सप्तशतिका' नाम से विख्यात है ।

वैशाली के वज्जिपुत्तक भिक्षुओ ने इस द्वितीय सङ्गीति के महास्थविरो का निर्णय अमान्य कर दिया और उन्होने कौशाम्बी मे एक पृथक् सङ्गीति आयोजित की । इसमे १०,००० भिक्षु एकत्र हुए थे । उन्होने इस सङ्गीति मे अपने मत के अनुकूल निर्णय किये । यह सभा 'महासघ' या 'महासङ्गीति' कहलायी और इस सभा के निर्णयो को माननेवाले 'महासाघिक' कहलाये । 'दीपवस' के अनुसार "महासङ्गीति के भिक्षुओ ने बुद्धशासन को बिलकुल विपरीत कर डाला । मूलसंघ मे भेदकर उन्होंने एक नया संघ खड़ा कर लिया । मूल 'धर्म' को नष्ट कर उन्होने सूत्रो का नवीन सग्रह किया ।

---

१ "अल, आवुसो! मा सोचित्थ, मा परिदेवित्थ । सुमुत्ता मय तेन महासमणेन । उपद्दुता च होम – 'इद वो कप्पति, इद वो न कप्पती' ति । इदानि पन मय य इच्छिस्साम तं करिस्साम, य न इच्छिस्साम न तं करिस्सामा ति ।" – दी० नि०, द्वि० भा०, पृ० १२५ ।

२. "हन्द, मय आवुसो ! धम्म च विनय च सङ्गायाम । पुरे अधम्मो दिप्पति, धम्मो पटिबाहिय्यति । अविनयो दिप्पति, विनयो पटिबाहिय्यति ।" – चुल्ल० (विनयपिटक), पृ० ४०६ ।

३ द्र० – "कप्पति सिङ्गिलोणकप्पो, कप्पति द्वङ्गुलकप्पो, कप्पति गामन्तरकप्पो, कप्पति आवासकप्पो, कप्पति अनुमतिकप्पो, कप्पति आचिण्णकप्पो, कप्पति अमथितकप्पो, कप्पति जलोगिं पातु कप्पति अदसक निसीदन, कप्पति जातरूपरजत ति ।" – चुल्ल०

उन्होंने विनय और पाच निकायो मे सूत्रो के क्रम और अर्थ बदल दिये तथा कुछ स्व-रचित सन्दर्भ जोड दिये[1] ।"

अष्टादश बौद्ध निकाय–इस प्रकार स्थविरवादी और महासाधिक – ये दो निकाय हो गये । यही से बौद्ध सघ मे भेद का सूत्रपात होता है । यह भेद प्रक्रिया यही नही रुकी, अपितु २०० वर्ष बीतते बीतते संघ १८ प्रमुख निकायो मे विभक्त हो गया । महासाधिक कालान्तर में दो भागो मे विभक्त हो गये, यथा – एकव्यावहारिक और गोकुलिक । गोकुलिक से पुन. दो शाखाये निकली – १. प्रज्ञप्तिवादी और २ बाहुलिक (=बाहुश्रुतिक) । बाहुलिक से चैत्यवादी नामक एक और शाखा प्रकट हुई । इस प्रकार महासाधिक से ५ निकाय विकसित हुये, जो महासाधिक के साथ कुल ६ निकाय होते है । दूसरी ओर स्थविरवादी भी पहले दो भागो मे विभक्त हुये, यथा – वज्जिपुत्तक (वात्सीपुत्रीय) और महीशासक । वज्जिपुत्तक पुन ४ भागो मे विभक्त हुये, यथा – १ धर्मोत्तरीय, २ भद्रयाणिक, ३. छन्नागारिक (षाण्णागरिक) और ४ सम्मितीय । महीशासक भी दो शाखाओ मे विभक्त हो गये, यथा – धर्मगुप्तिक और सर्वास्तिवादी । सर्वास्तिवादियो से क्रमश काश्यपीय, काश्यपीय से साङ्क्रान्तिक और साङ्क्रान्तिक से सूत्रवादी (सौत्रान्तिक) निकाय विकसित हुये । इस प्रकार सर्वास्तिवादी निकाय से ११ निकाय विकसित हुये, जो सर्वास्तिवादी निकाय के साथ कुल १२ होते है । दोनो प्रकार के निकायभेद मिलकर कुल १८ निकाय हो जाते हैं ।

'दीपवंश' के अनुसार निकाय भेद

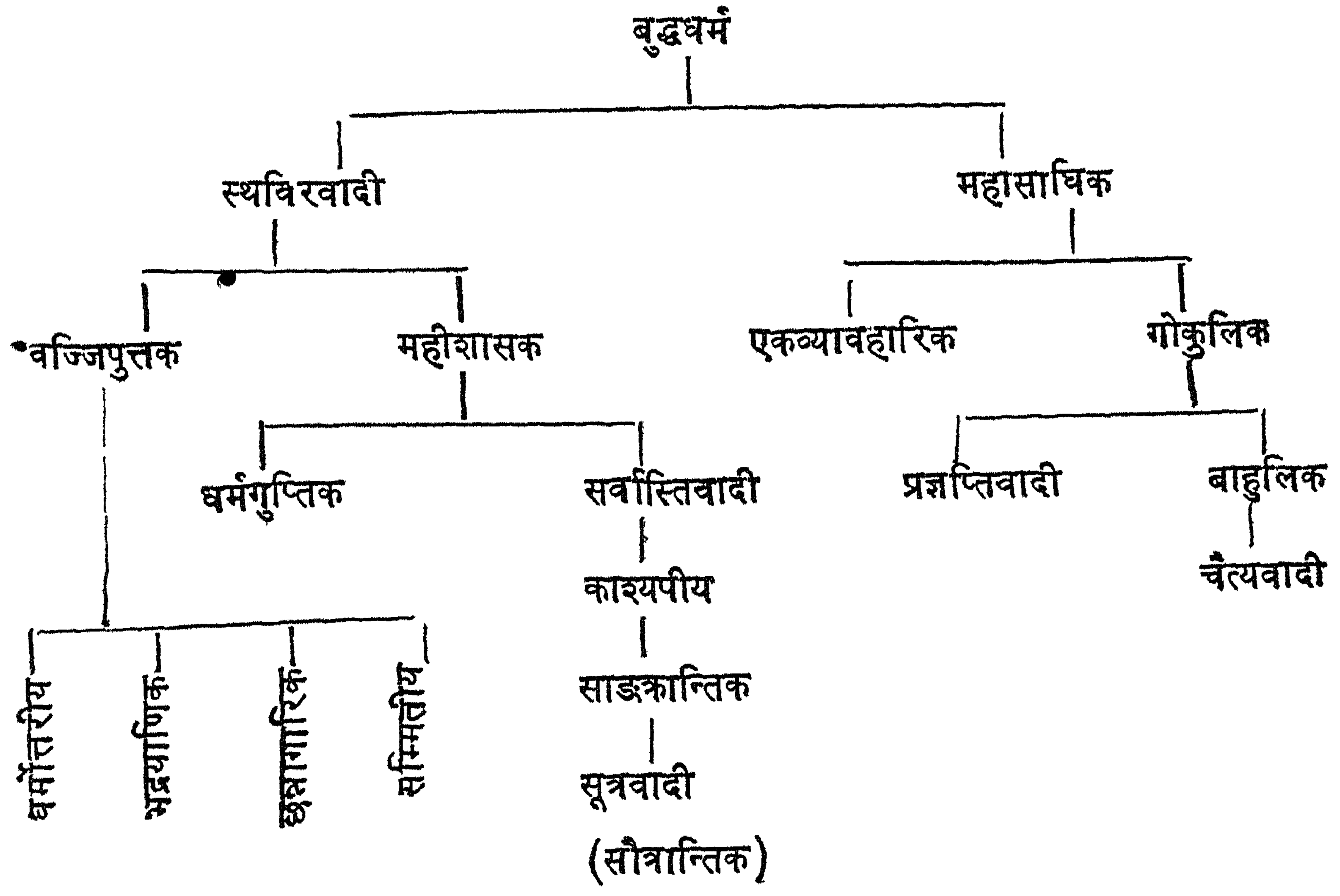

---

१. "महासङ्गीतिका भिक्खू विलोम अकसु सासन ।
भिन्दित्वा मूलसङ्घं अञ्ञ अकसु सङ्घ ।।
अञ्ञथा सङ्गहित सुत्त अञ्ञथा अकरिंसु ते ।

इन १८ नामों के अतिरिक्त कथावत्थु की अट्ठकथा मे अन्य निकायो के नाम भी उपलब्ध होते हैं, यथा – राजगिरिक, सिद्धत्थक, पुब्बसेलिय, अपरसेलिय, हेमवत, वजिरिय, उत्तरापथक, हेतुवादी एव वेतुल्लक । इनमे पहले छह नाम 'महावस' मे भी उल्लिखित हैं । शारिपुत्रपरिपृच्छा और भव्य के अनुसार इन अष्टादश निकायो की २ सूचियाँ और उपलब्ध होती हैं । इनमे वर्णित क्रम उपर्युक्त प्रारूप मे वर्णित क्रम से भिन्न है ।

तृतीय सङ्गीति—सम्राट् अशोक बुद्ध धर्म मे प्रविष्ट होने के बाद प्रतिदिन बुद्धपूजा, धर्मपूजा, सघपूजा, आचार्यपूजा और चारो द्वारो मे भैषज्य के लिये भिक्षुओ को प्रभूत धन दान करता था, जबकि अन्य तैर्थिक साधारण भोजन और वस्त्र के लिये भी दान नही पाते थे, फलत वे लाभ और सत्कार के लिये भिक्षुसघ मे प्रविष्ट हो गये । प्रविष्ट होकर उन्होने नाना प्रकार के मतवादो और आचरणो द्वारा सघ को दूषित करना प्रारम्भ कर दिया । स्थिति यहाँ तक पहुँच गई कि पाटलिपुत्र के अशोकाराम मे ७ वर्षो तक उपोसथ भी न हो सका । इस परिस्थिति के निराकरण के लिये सम्राट् अशोक ने भिक्षुओ को एकत्र कर मोग्गलिपुत्त तिस्स (तिष्य) स्थविर के साथ परामर्श किया और लुके-छुपे प्रविष्ट ६० सहस्र तैर्थिकों को श्वेत वस्त्र पहना संघ से निष्कासित कर दिया । तदनन्तर शुद्ध भिक्षुओ द्वारा तृतीय सङ्गीति का अयोजन किया ।

बुद्ध के परिनिर्वाण के २३६ वर्ष बाद सम्राट् अशोक के काल मे पाटलिपुत्र मे तृतीय सङ्गीति हुई । इसमे एक सहस्र अर्हत् भिक्षु सम्मिलित हुये थे । इसके अध्यक्ष मोग्गलिपुत्त तिस्स (तिष्य) महास्थविर थे । यह सङ्गीति ९ मास तक चलती रही । पाटलिपुत्र की इस सभा मे अन्तिम रूप से बुद्धवचनो के स्वरूप का निश्चय किया गया । इसी सभा मे मोग्गलिपुत्त तिस्स महास्थविर ने मिथ्यावादी १७ बौद्धनिकायो का निराकरण करते हुये 'कथावत्थु' नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसे 'अभिधम्म पिटक' मे स्थान मिला । सम्पूर्ण 'अभिधम्म पिटक' के स्वरूप का अन्तिम निर्णय इस सङ्गीति तक हो गया था । इस सभा का सबसे महत्त्वपूर्ण निश्चय विदेशो मे बौद्धधर्म के प्रचारार्थ भिक्षुओ को भेजना था । इसी निश्चय के अनुसार सम्राट् अशोक ने अपने विशाल साम्राज्य के विभिन्न प्रान्तो; सीमान्तो तथा यवन, कम्बोज, गान्धार, सुवर्णभूमि (बर्मा) एव सिहलद्वीप आदि विदेशो मे धर्मोपदेशक भेजे ।

चतुर्थ सङ्गीति—सम्यक्सम्बुद्ध के परिनिर्वाण से ४५० वे वर्ष मे लङ्काद्वीप मे राजा वट्टगामणि अभय के शासनकाल (प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व) मे चतुर्थ सङ्गीति हुई । यह सिहलद्वीप के मातुल जनपद की 'आलोक' नामक गुहा मे आयोजित की गई थी । इसमे ५०० अर्हत् भिक्षु सम्मिलित हुये थे । इसके अध्यक्ष महास्थविर धर्मरक्षित थे । भगवान् बुद्ध के समय से लेकर अब तक उनके उपदेशो का अध्ययन-अध्यापन मौखिक रूप से ही चल रहा था । इस सङ्गीति की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसमे समस्त बुद्धवचनो को प्रथम बार लेखबद्ध किया गया । यह सङ्गीति लोक मे 'पुस्तकारोपण-सङ्गीति' के नाम से प्रसिद्ध है ।

नाम से प्रसिद्ध रत्नपुञ्ज नामक नगर मे आयोजित की गई थी । इसमे २४०० स्थविर भिक्षु सम्मिलित हुये थे । इसके अध्यक्ष दक्षिणारामवासी त्रिपिटकधर भदन्त जागर महास्थविर थे । इस सङ्गीति मे समस्त बुद्धवचनो को शिलापट्ट पर अङ्कित किया गया था, अत यह सङ्गीति लोक मे 'शिलाक्षरारोपण-सङ्गीति' के नाम से विख्यात है ।

षष्ठ सङ्गीति—इस समय तक देश-विदेश मे प्रचलित त्रिपिटक के पाठ मे प्रमादवश अनेक परिवर्तन हो चुके थे, अत ब्रह्मदेश के वृद्ध महास्थविर भिक्षुओ ने सोचा—'यदि इस समय त्रिपिटक का सशोधन न किया गया तो कालान्तर मे वे अत्यधिक मलिन हो जायेंगे । नयी पीढी के भिक्षु उन्हे शुद्ध करने मे असमर्थ रहेगे; फलत पालि (त्रिपिटक) का अर्थ दुर्बोध हो जायगा और इस प्रकार सद्धर्म के लोप का भय है ।' जैसे अङ्गुत्तरनिकाय मे भी कहा गया है—

"द्वे मे भिक्खवे ! धम्मा, सद्धम्मस्स सम्मोसाय अन्तरधानाय संवत्तन्ति । कतमे द्वे ? दुन्निक्खित्तं च पदब्यञ्जन अत्थो च दुन्नीतो । दुन्निक्खित्तस्स भिक्खवे ! पदब्यञ्जनस्स अत्थो पि दुन्नयो होति । इमे खो भिक्खवे ! द्वे धम्मा, सद्धम्मस्स सम्मोसाय अन्तरधानाय सवत्तन्तीति ।"[1]

अर्थात् भिक्षुओ ! ये दो धर्म सद्धर्म के सम्प्रमोष और अन्तर्धान के कारण होते हैं । कौन दो ? – १ उचित स्थान पर स्थापित न किये गये पद और व्यञ्जन तथा २ भलीभाति न समझा गया अर्थ । भिक्षुओं ! उचित स्थान पर स्थापित न किये गये पद और व्यञ्जनों का अर्थ भी भलीभाति ज्ञात नही हो पाता । भिक्षुओ ! ये दो धर्म सद्धर्म के सम्प्रमोष और अन्तर्धान के कारण होते हैं ।

भिक्षुओ के उपर्युक्त भय को ध्यान मे रखकर बर्मा के तत्कालीन धार्मिक प्रधानमन्त्री 'ऊ नु' द्वारा सस्थापित बुद्धशासनसमिति ने देश-विदेश (प्रमुखतः स्थविर-वादी बौद्ध देशो) के गणमान्य विद्वान् भिक्षुओं और पण्डितों को इस विषय पर विचार करने के लिये आमन्त्रित किया । उन भिक्षुओं और पण्डितो ने सद्धर्म की चिरस्थिति और बहुजन के हित एवं सुख के लिये षष्ठ सङ्गायन का निश्चय किया ।

तदनुसार भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के २५०० वे वर्ष बर्मा की राजधानी रगून मे 'श्रीमङ्गल' नामक स्थान पर लोकशम (कम्भाए) नामक चैत्य के समीप इसी कार्य के लिये नवनिर्मित महापाषाण शैलगुहा मे षष्ठ सङ्गीति आयोजित की गई । भदन्त रेवत महास्थविर इस सङ्गीति के अध्यक्ष थे । इसमे सम्मिलित देश-विदेश के २५०० भिक्षुओ ने सम्पूर्ण त्रिपिटक का सशोधन कर सङ्गायन किया ।

बुद्धवचन

बुद्धगया मे बोधि प्राप्त करने के अनन्तर ४५ वर्षों तक लगातार मध्यमण्डल मे चारिका करते हुये भगवान् बुद्ध ने स्थान-स्थान पर जो उपदेश किये, उनके शिष्यो ने उन्हे कण्ठस्थ कर लिया, वे ही 'बुद्धवचन' कहलाते है । यह एक अत्यन्त विशाल भाण्डार है । बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद उनके महास्थविर शिष्यो ने बुद्धवचनो की सुरक्षा की दृष्टि से उपर्युक्त सङ्गीतियो मे उन (बुद्धवचनो) का सङ्गायन किया और उनका विभिन्न भागो मे वर्गीकरण किया । प्रथम सङ्गीति के वर्णनप्रसङ्ग मे यद्यपि

'धम्मं च विनय च सङ्गायाम' (चुल्ल०) के अनुसार धर्म और विनय के ही सङ्गायन की बात कही गयी है, वहा अभिधर्म के सङ्गायन की बात उल्लिखित नही है, अतः कुछ इतिहासवेत्ता यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि 'अभिधर्म पिटक' की रचना प्रथम सङ्गीति से परवर्तीकाल की है, तथापि यह निष्कर्ष बौद्ध परम्परा को मान्य नही है। आचार्य बुद्धघोष ने प्रथम सङ्गीति के अवसर पर ही अभिधर्म के सङ्गायन का भी स्पष्ट उल्लेख किया है।[1] ह्वेनसाग भी इससे सहमत है। कुछ भी हो, इतना तो निश्चित है कि राजगृह की सङ्गीति मे बुद्धवचनो का जो स्वरूप निश्चित हुआ था, वही वर्तमान त्रिपिटक का आधार है। आचार्य बुद्धघोष के वर्णनानुसार प्रथम सङ्गीति के अवसर पर ही महास्थविरो ने समस्त बुद्धवचनो का तीन पिटक, पाँच निकाय, नौ अङ्ग और ८४००० धर्मस्कन्धो मे स्पष्टत विभाजन किया। हमे जो त्रिपिटक साहित्य आज उपलब्ध है, यह वही त्रिपिटक है, जिसका तृतीय सङ्गीति मे सङ्गायन हुआ था और जिसे कुछ ही काल बाद भिक्षु महेन्द्र (सम्राट् अशोक के पुत्र) धर्मप्रचार के निमित्त लङ्का ले गये थे।

१. त्रिपिटक

बुद्धवचनो का एक विभाग (वर्गीकरण) त्रिपिटक है। पिटक तीन है, यथा—विनय पिटक, सूत्र(सुत्त)पिटक और अभिधर्म पिटक। पिटक 'पिटारी' को कहते है। पिटारी की भाति होने से एक प्रकार के सग्रह को एक 'पिटक' कहते है।

विनय पिटक—विनय 'अनुशासन' को कहते है। जिसमे भगवान् बुद्ध द्वारा भिक्षु और भिक्षुणियो के आचार-सम्बन्धी नियम (कर्त्तव्य) प्रज्ञप्त है, उसे (उस सग्रह को) 'विनय पिटक' कहते है। इसे भिक्षुसघ का 'सविधान' कह सकते है। धार्मिक दृष्टि से इसका बड़ा महत्त्व है। विनय सम्बन्धी नियमो को लेकर ही अष्टादश निकाय-भेद हो गये। बौद्ध सघ मे विनय पिटक के प्रति सदा से अत्यधिक आदर रहा है। उन्होने इसे सूत्र पिटक से भी ऊँचा स्थान दिया है। यह बुद्धशासन की आयु है। उनका विश्वास है कि जब तक विनय पिटक विशुद्ध रहेगा तब तक बुद्धशासन भी अक्षुण्ण रहेगा।

विनयपिटक के विषय तीन भागो मे विभक्त है, यथा-सुत्तविभङ्ग, खन्धक (स्कन्धक) और परिवार। सुत्तविभङ्ग के दो विभाग है—पाराजिक और पाचित्तिय। इसी प्रकार खन्धक भी दो भागो मे विभक्त है—महावग्ग और चुल्लवग्ग। इस तरह विनयपिटक के पाच भाग हो जाते है, यथा—पाराजिक, पाचित्तिय, महावग्ग, चुल्लवग्ग, और परिवार। पाराजिक-पाचित्तिय ही भिक्षु-विभङ्ग और भिक्षुणी-विभङ्ग कहलाते है और इन्ही का सार भिक्षु-प्रातिमोक्ष और भिक्षुणी-प्रातिमोक्ष है।

---

१. "धम्मसङ्गणि-विभङ्गञ्च कथावत्थुञ्च पुग्गलं।
धातु-यमकपट्ठान अभिधम्मा ति वुच्चती' ति॥
एवं संवण्णित सुखमञाणगोचरं तन्ति सङ्गायित्वा इद अभिधम्मपिटक नामा

सूत्रपिटक–इसमे विनय से भिन्न सामान्य बुद्धवचनो का सङग्रह है । यह पाँच निकायो मे विभक्त है, यथा – दीघ (दीर्घ)- निकाय, मज्झिम (मध्यम)- निकाय, सयुत्त (सयुक्त)- निकाय, अङगुत्तर (अङ्गोत्तर)- निकाय और खुद्दक (क्षुद्रक)- निकाय ।

सर्वास्तिवादी सूत्रपिटक भी उपर्युक्त पाँच विभागो मे विभक्त है । उसमे केवल निकाय के स्थान पर 'आगम' शब्द का प्रयोग किया गया है । प्रारम्भ मे उन (सर्वास्तिवादियो) का त्रिपिटक सस्कृत मे था, किन्तु आज वह अपने मूलरूप मे उपलब्ध नही है । उसका चीनी अनुवाद उपलब्ध है । उसका अध्ययन हुआ है और पालित्रिपिटक से उसकी तुलना की गई है । सर्वास्तिवादी-त्रिपिटक और पालित्रिपिटक के सूत्रपिटक और विनयपिटक मे मूलभूत समानताये पायी गयी है, केवल विषय-विन्यास मे ही थोडा-बहुत अन्तर पाया जाता है । यही बात अभिधर्मपिटक के सम्बन्ध मे नही कही जा सकती । दोनो परम्पराओ मे अभिधर्मपिटक की ग्रन्थ-सख्या समान होने पर भी विषय-वस्तु मे कोई समता नही है ।

क दीघनिकाय–यह दीर्घ आकार के सूत्रो का सग्रह है । आकार की दृष्टि से जो सूत्र (बुद्धोपदेश) लम्बे है, वे इस निकाय मे सङगृहीत है । दीघनिकाय मे कुल ३४ सूत्र है, जो तीन वर्गों मे विभक्त है, यथा – १. सीलक्खन्धवग्ग — इसमे १–१३ सूत्र है । २ महावग्ग – इसमे १० सूत्र (१४–२३) है तथा ३ पाथेय्यवग्ग – इसमे ११ सूत्र (२४–३४) है ।

ख मज्झिम निकाय – इसमे मध्यम आकार के सूत्रो का सग्रह है । यह तीन भागो मे विभक्त है, यथा – मूल पण्णास, मज्झिम पण्णास और उपरिपण्णास । इसमें कुल १५ वर्ग है, जिनमे १५२ सूत्र सगृहीत है ।

ग सयुत्त निकाय – जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, इसमे छोटे, बडे सभी आकार के सूत्रो का सग्रह है । अधिकतर छोटे आकार के सूत्र ही अधिक है । बुद्धघोष के अनुसार इसमे ७७६२ सूत्र है, जो ५ वर्ग और ५६ सयुत्तो मे सगृहीत है, यथा – सगाथवग्ग मे ११ सयुत्त, निदानवग्ग मे १० (१२–२१) सयुत्त, खन्धवग्ग मे १३ (२२–३४) सयुत्त, सलायतनवग्ग मे १० (३५–४४) सयुत्त तथा महावग्ग मे १२ (४५–५६) सयुत्त है ।

घ अङ्गुत्तर निकाय – यह सूत्रपिटक का सबसे बडा भाग है । इसका विषय पूर्व के तीन निकायो से भिन्न नही है, किन्तु शैली इसकी सबसे विलक्षण है । सख्याबद्ध शैली इसकी विशेषता है । सम्पूर्ण निकाय एक-निपात, दुक-निपात आदि ११ निपातो मे विभक्त है । एक एक निपात अनेक वर्गों मे विभक्त है तथा एक एक वर्ग मे अनेक छोटे आकार के सूत्र है । बुद्धघोष के अनुसार इसमे ९५५७ सूत्र है, जो ११ निपात और १६९ वर्गो मे सगृहीत है ।

ङ खुद्दक निकाय – यह सूत्रपिटक का पाँचवाँ मुख्य भाग है । पहले के चार निकायो की भाति इसमे सूत्र नही है, अपितु यह छोटे-छोटे स्वतन्त्र ग्रन्थो का सग्रह है । सभी ग्रन्थ छोटे भी नही है, कुछ तो जातक-आदि काफी बड़े ग्रन्थ है । इसमे १५ ग्रन्थ

१५ ग्रन्थ इस प्रकार हैं–१ खुद्दक पाठ, २ धम्मपद, ३ उदान, ४. इतिवुत्तक, ५ सुत्तनिपात, ६ विमानवत्थु, ७ पेतवत्थु, ८. थेरागाथा, ९. थेरीगाथा, १० जातक, ११ निद्देस, १२ पटिसम्भिदामग्ग, १३ अपदान, १४ बुद्धवंस तथा १५ चरियापिटक ।

सिंहलदेशीय परम्परा निद्देस के चूळनिद्देस और महानिद्देस इन दो भागो को दो स्वतन्त्र ग्रन्थ मानकर खुद्दकनिकाय मे १६ ग्रन्थो को मानती है । ब्रह्मदेशीय परम्परा पूर्वोक्त १५ ग्रन्थो के अतिरिक्त इन चार ग्रन्थो को भी खुद्दकनिकाय मे सम्मिलित करती है, यथा–मिलिन्दपञ्ह, सुत्तसङ्गह, पेटकोपदेस और नेत्ति-पकरण ।

अभिधम्मपिटक–यह त्रिपिटक का तीसरा मुख्य भाग है । इसमे भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट दार्शनिक मन्तव्यो का सग्रह है । यह सात प्रकरणो मे विभक्त है, यथा–धम्मसङ्गणि, विभङ्ग, धातुकथा, पुग्गलपञ्ञत्ति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान। यद्यपि इन ग्रन्थो मे अनेक गम्भीर और दुर्बोध दार्शनिक तत्त्वो का विवेचन किया गया है, तथापि सक्षेपत चित्त, चैतसिक, रूप और निर्वाण–ये चार परमार्थ धर्म ही इन सभी प्रकरणो के सामान्य अभिधेय हैं । इन चार परमार्थ धर्मों का ही स्पष्ट और अभ्रान्त ज्ञान कराने के लिये उपर्युक्त सात प्रकरणो मे इनका विभिन्न प्रकार से सयोग और विभाग करके प्रतिपादन किया गया है । इस प्रकार शैली के भेद से इस पिटक का सात प्रकरणो मे विभाजन किया गया है ।

'अभिधर्म' मे 'अभि' शब्द 'अतिरेक' या 'विशेष' अर्थ का वाचक है[1] । 'धर्म' शब्द 'परियत्ति धर्म' के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। इसीलिये 'धर्म' शब्द द्वारा सूत्रो का भी ग्रहण होता है, यथा–"यो वो आनन्द! मया धम्मो च विनयो च देसितो पञ्ञत्तो[2]" आदि कहा गया है । अत सूत्रपिटक-पालि से अधिक गम्भीर और विशिष्ट धर्म 'अभिधर्म' है । अभिधर्मपिटक मे धर्मों का कुशल-अकुशल-अव्याकृत आदि नाना नयो से विभाजन करके प्रतिपादन किया गया है । यही सूत्रपिटक से इसकी अतिशयता या विशिष्टता है । आचार्य वसुबन्धु ने अपने 'अधिधर्मकोश' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ मे सपरिवार अमला प्रज्ञा को परमार्थत अभिधर्म कहा है तथा उस अमला प्रज्ञा को प्राप्त करानेवाली सामान्य प्रज्ञा और उसका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रो को भी व्यवहारत अभिधर्म कहा है[3] । महायानी आचार्य असङ्ग ने 'अभिधर्म' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए 'अभि' शब्द को चार अर्थों मे प्रयुक्त किया है, यथा–निर्वाण के अभिमुख होने के कारण, धर्म का विविध वर्गीकरण करने के कारण, विरोधी मतो का अभिभव करने के कारण तथा सूत्रो के सिद्धान्त का अनुगमन करने के कारण । इस प्रकार उन्होंने चार अर्थों मे 'अभिधर्म शब्द' की सार्थकता दिखलाई है[4] ।

---

१ "तत्थ अभिधम्मो ति केनट्ठेन अभिधम्मो ? धम्मातिरेक-धम्मविसेसट्ठेन । अतिरेक-विसेसत्थदीपको हि एत्थ 'अभि'-सद्दो ।"–अट्ठ०, पृ० २ ।

२. दी० नि०, द्वि० भा०, पृ० ११८ ।

३. "प्रज्ञाऽमला सानुचराऽभिधर्मस्तत्प्राप्तये याऽपि च यच्च शास्त्रम् ।"–अभि० को० १:२, पृ० ५ ।

४. "अभिमुखतोऽथाभीक्ष्ण्यादभिभवगतितोऽभिधर्मश्च ।"–महा० सू०, ११ ३ ।

देवान तावतिंसान अभिधम्मकथ कथेसि – 'कुसला धम्मा, अकुसला धम्मा, अब्याकता धम्मा' ति[१]" – यह अभिधर्म का निदान है ।

अपि च – सूत्रो का तो एक ही निदान होता है, अभिधर्म मे दो निदान हैं, यथा – अधिगम निदान और देशना निदान । इनमें से दीपङ्कर दशबल से लेकर महाबोधिपर्यङ्क पर्यन्त 'अधिगम निदान' तथा धर्मचक्रप्रवर्तन से लेकर 'देशना निदान' है।

इन दोनो निदानो के सम्यग् ज्ञान के लिये आचार्य बुद्धघोष ने कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाये हैं और अन्त मे उनका समाधान दिया है[२], यथा – यह अभिधर्म किससे प्रभावित है ? कहाँ परिपक्व हुआ है ? कहाँ अधिगत (प्राप्त) हुआ है ? कब अधिगत हुआ है ? किसने अधिगत किया ? कहाँ विचित (अन्वेषित) हुआ है ? कब विचित (अन्वेषित) हुआ है ? किसने अन्वेषण (विचार) किया है ? कहाँ देशित हुआ है ? किस पुद्गल के लिये देशना की गई है ? किस लाभ के लिये देशना की गयी ? किसने इसका प्रतिग्रहण किया है ? कौन इसे सीखते है ? कौन शिक्षित हैं ? कौन धारण करते हैं ? यह किसका वचन है ? तथा यह किसके द्वारा लाया गया है ?

समाधान – बोधि के प्रति अभिनीहार करनेवाली श्रद्धा से प्रभावित है । ५५० जातको मे परिपक्व हुआ है । बोधिवृक्ष के मूल मे अधिगत हुआ है । वैशाखी पूर्णिमा की रात्रि मे अधिगत हुआ है । सर्वज्ञ बुद्ध ने प्राप्त किया है। बोधिमण्ड मे अन्वेषण (विचार) किया है । रत्नगृह सप्ताह मे अन्वेषित हुआ है । सर्वज्ञ बुद्ध ने अन्वेषण किया है । त्रायस्त्रिंश देवभूमि मे देशना की । देवताओ के लिये देशना की गयी । चतुर्विध ओघ से निस्तरण (निर्याण) के लिये देवताओ ने ग्रहण किया । शैक्ष और कल्याण पृथग्जन शिक्षा ग्रहण करते है । क्षीणास्रव अर्हत् शिक्षित हैं । जिनमे योग्यता है, वे धारण करते है । अर्हत् भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध का वचन है । आचार्य परम्परा द्वारा लाया गया है ।

आभिधार्मिको की वह आचार्य परम्परा इस प्रकार है—सारिपुत्त, भद्दजि सोभित, पियजाली, पियपाल, पियदस्सी, कोसियपुत्त, सिग्गव, सन्देह, मोग्गलिपुत्त, सुदत्त, धम्मिय, दासक, सोणक और रेवत । इस आचार्य परम्परा ने जम्बूद्वीप (भारतवर्ष) मे बुद्ध के उपदेश काल से लेकर तृतीय सङ्गीति पर्यन्त अभिधर्म को पहुँचाया । तदनन्तर उनके शिष्यो और अनुशिष्यो ने इस क्रम को आगे भी जारी रखा । इसके बाद महिन्द, इट्टिय, उत्तिय, सम्बल, पण्डित, भद्दनाम आदि आचार्य इसे (अभिधर्म को) सिहल द्वीप ले गये । तदनन्तर इन आचार्यो के शिष्यो और अनुशिष्यो की परम्परा ने इसे आज तक पहुचाया है ।

कथावत्थु का बुद्धवचनत्व – आचार्य मोग्गलिपुत्त तिस्स (तिष्य) स्थविर ने (जो तृतीय सङ्गीति के अध्यक्ष थे) तृतीय सङ्गीति के अवसर पर स्थविरवाद से भिन्न मतावलम्बी १७ बौद्धनिकायो के मतो का निराकरण करते हुये कथावत्थु की रचना

---

१ अट्ठ०, पृ० २६ ।

२ अट्ठ०, पृ० २७ ।

की । ऐसी स्थिति मे अभिधर्मपिटक के अन्य ६ ग्रन्थो को किसी तरह बुद्धवचन मान भी लिया जाय तो भी कथावत्थु तो आचार्यभाषित होने से किसी भी तरह बुद्धवचन नही हो सकती ? यह प्रश्न आज ही नही, बुद्धघोष के युग मे भी ज्वलन्त रूप से विद्यमान था । स्थविरवादी परम्परा, जो सम्पूर्ण अभिधर्म पिटक को बुद्धवचन मानती है, वह भी जिस रूप मे आज कथावत्थु उपलब्ध है, उसे आचार्यभाषित ही मानती है; किन्तु उसका कहना है कि भगवान् बुद्ध ने अभिधर्म की देशना करते समय कथावत्थु की देशना के अवसर पर केवल मातिकाओ (मातृकाओ) की स्थापना की और कहा कि मेरे परिनिर्वाण के २१८ वर्ष बाद मोग्गलिपुत्त तिस्स स्थविर परवाद का खण्डन और स्ववाद का मण्डन करते हुये इन (मातृकाओ) का विस्तृत व्याख्यान करेगे । मोग्गलिपुत्त तिस्स स्थविर ने भी इस ग्रन्थ का व्याख्यान करते समय अपने स्वयभूत ज्ञान से व्याख्या नही की, अपितु शास्ता द्वारा प्रदर्शित नय से स्थापित की हुई मातिकाओ के आधार पर ही व्याख्यान किया । अत शास्ता द्वारा स्थापित मातिकाओ के आधार पर देशित होने से आचार्य भाषित होने पर भी यह प्रकरण बुद्धभाषित ही है[1] ।

कुछ विद्वानो का कथन है कि इस ग्रन्थ मे केवल अशोककालीन सिद्धान्तो का ही खण्डन नही है, अपितु कुछ बाद के काल मे आविर्भूत निकायो (सम्प्रदायो) का भी खण्डन है, यथा—अन्धक, अपरशैलीय, पूर्वशैलीय, राजगिरिक, सिद्धार्थक, वैपुल्य, उत्तरापथक और हेतुवादी । अत यह ग्रन्थ अवश्य तृतीय सङ्गीति से भी बाद की रचना है । किन्तु जिन सम्प्रदायो का ऊपर उल्लेख किया गया है, कथावत्थु मे उनके नामो का उल्लेख नही है, वहाँ तो केवल सिद्धान्तमात्र का उल्लेख है । सम्प्रदायो के नामों का उल्लेख तो अट्ठकथाचार्य बुद्धघोष ने पाँचवी शताब्दी मे किया है । अत यह सम्भव है कि अशोक के समय मे केवल सिद्धान्तमात्र का अस्तित्व हो, अभी वे विचार इतने परिपक्व न हुये हो कि उनके साथ किसी सम्प्रदाय का नाम जोडा जा सके । बुद्धघोष का समय आते आते उन विचारो ने सम्प्रदाय का स्वरूप ग्रहण कर लिया हो। अत कथावत्थु मे सम्प्रदायो के नाम उल्लिखित न होने से तथा अट्ठकथाकार द्वारा अशोक के बाद के सम्प्रदायो का उल्लेख किया जाने से यह रचना तृतीय सङ्गीति के बाद की है—ऐसा नही माना जा सकता ।

सर्वास्तिवादी अभिधर्मपिटक—यह पहले कहा जा चुका है कि स्थविरवादियो और सर्वास्तिवादियो के दो पिटको—सूत्र और विनय मे पर्याप्त समानता है, किन्तु यही बात अभिधर्मपिटक के भी बारे मे नही कही जा सकती । सर्वास्तिवादियो के अभिधर्मपिटक के सारे ग्रन्थ चीनी भाषा मे सुरक्षित है । कभी वे सस्कृत मे थे, किन्तु आज कोई भी ग्रन्थ मूलरूप मे प्राप्य नही है । सर्वास्तिवादियो का कहना है कि यद्यपि उनका अभिधर्मपिटक बुद्धवचनो (सूत्रपिटक) पर आधृत है, तथापि वह साक्षात् बुद्धवचन नही है । वे उसे आचार्यो की रचना मानते है । स्थविरवादियो के समान उनके अभिधर्मपिटक के ग्रन्थो की भी सख्या सात है ।

---

१ द्र०—अट्ठ०, पृ० ४–५ ।

ग्रन्थ	आचार्य
१ ज्ञानप्रस्थान शास्त्र	आर्य कात्यायन
२ प्रकरणपाद	स्थविर वसुमित्र
३ विज्ञानकायपाद	स्थविर देवशर्मा
४ धर्मस्कन्धपाद	आर्य शारिपुत्र
५ प्रज्ञप्तिशास्त्रपाद	आर्य मौद्गल्यायन
६. धातुकायपाद	पूर्ण (या वसुमित्र)
७. सगीतिपर्यायपाद	महाकौष्ठिल्ल

पालि अभिधर्मपिटक के साथ इनकी तुलना करने से नामो मे पर्याप्त साम्य परिलक्षित होता है, यथा –

पालि अभिधर्मपिटक	सर्वास्तिवादी अभिधर्मपिटक
१ धम्मसगणि	४ धर्मस्कन्धपाद
२ विभङ्ग	३ विज्ञानकायपाद
३ पुग्गलपञ्ञत्ति	५ प्रज्ञप्तिपाद
४. धातुकथा	६ धातुकायपाद
५ पट्ठान	१ ज्ञानप्रस्थान
६. यमक	७ सङ्गीतिपर्यायपाद
७. कथावत्थुप्पकरण	२ प्रकरणपाद

नामों मे पर्याप्त समानता होने पर भी विषयगत साम्य बिलकुल नही है। दोनो सम्प्रदायो के अभिधर्मपिटक अपने अपने सूत्रपिटक के ऊपर अवलम्बित है और दोनो के सूत्रपिटको मे अधिक वैषम्य नही है, अत सामान्यत कुछ साम्य तो अवश्य है; किन्तु एक सम्प्रदाय के एक ग्रन्थ की दूसरे सम्प्रदाय के जिस ग्रन्थ से नाम मे समानता है, उन ग्रन्थो के विषय अवश्य समान नही है।

पालि अभिधर्म्मपिटक का सक्षिप्त परिचय

धम्मसङ्गणि – यह अभिधर्मपिटक का मूलग्रन्थ माना जा सकता है। इसमे समस्त धर्मों को कुशल, अकुशल और अव्याकृत मे विभाजित करके उनकी व्याख्या की गई है। इसे बौद्ध नीतिवाद की मनोवैज्ञानिक व्याख्या कह सकते है। इसमे सम्पूर्ण धर्मों का १२२ मातिकाओ मे विभाजन किया गया है। इनमे २२ त्रिक मातृका तथा १०० द्विक मात्रिकाये है। समस्त ग्रन्थ ४ भागों मे विभक्त है, यथा – चित्तकाण्ड, रूपकाण्ड, निक्खेपकाण्ड और अत्थुद्धारकाण्ड।

चित्तकाण्ड मे चित्त का कामावचर, रूपावचर, अरूपावचर और लोकोत्तर – इन चार भागों मे विभाग किया गया है। कामावचर चित्त कुशल, अकुशल, विपाक और क्रिया – इन चार भागो मे विभक्त है। इनमे कुशल चित्त ८, अकुशल १२, कुशल विपाक १६, अकुशल विपाक ७ तथा क्रियाचित्त ११ है। रूपावचर चित्तो म कुशल ५, विपाक ५ तथा क्रियाचित्त ५ है। अरूपावचर चित्तो मे कुशल ४, विपाक

४ तथा क्रियाचित्त ४ हैं । लोकोत्तर चित्तो मे ४ कुशल और ४ विपाक चित्तो का वर्णन है । इस प्रकार चित्तकाण्ड मे ८९ चित्तो का सविस्तर वर्णन उपलब्ध होता है ।

रूपकाण्ड मे रूपधर्मो का 'एकविध रूप सङग्रह, द्विविध रूपसङग्रह' इत्यादि मातिकाओ मे विभाजन कर सविस्तर वर्णन किया गया है ।

निक्खेपकाण्ड मे समस्त धर्मो का मूल, स्कन्ध (मूलत स्कन्धत) आदि द्वारा सङग्रह करके उनका विस्तृत व्याख्यान किया गया है ।

अन्त मे समस्त बुद्धवचनो (त्रिपिटक) का सारभूत सरणद्विकपर्यन्त अत्थुद्धार (अर्थोद्धार) काण्ड प्रतिपादित है ।

विभङ्ग—यह १८ भागो मे विभक्त है, यथा—खन्धविभङ्ग, आयतनविभङ्ग, धातुविभङ्ग, सच्चविभङ्ग, इन्द्रियविभङ्ग, पच्चयाकारविभङ्ग, सतिपट्ठानविभङ्ग, सम्मप्पधान-विभङ्ग, इद्धिपादविभङ्ग, बोज्झङ्गविभङ्ग, मग्गविभङ्ग, झानविभङ्ग, अप्पमञ्ञाविभङ्ग, सिक्खापदविभङ्ग, पटिसम्भिदाविभङ्ग, ञाणविभङ्ग, खुद्दकवत्थुविभङ्ग और धम्महदयविभङ्ग ।

खन्धविभङ्ग सुत्तन्तभाजनीय, अभिधम्मभाजनीय और पञ्हापुच्छक—इस प्रकार तीन भागो मे विभक्त है । इसी प्रकार अन्य विभङ्ग भी तीन-तीन भागो मे विभक्त हैं । इन्द्रियविभङ्ग मे सुत्तन्तभाजनीय नही है । पच्चयाकारविभङ्ग मे पञ्हापुच्छक नही है । सिक्खापदविभङ्ग मे भी सुत्तन्तभाजनीय नही है । ञाणविभङ्ग दस प्रकार से विभक्त है । इसी प्रकार खुद्दकविभङ्ग भी दस प्रकार से विभक्त है । धम्महदय-विभङ्ग तीन प्रकार से विभक्त है ।

धातुकथा—इस ग्रन्थ मे समस्त धर्मो का नयमातिका, अब्भन्तरमातिका, नयमुख मातिका, लक्खणमातिका और बाहिरमातिका—इन पञ्चविध मातिकाओ मे विभाजन कर उनका सङग्रह, असङग्रह, सम्प्रयोग, विप्रयोग—आदि १४ प्रकार से सङग्रह कर विस्तारपूर्वक व्याख्यान किया गया है ।

पुग्गलपञ्ञत्ति—पुद्गल 'आत्मा' को कहते है । इस ग्रन्थ में पुद्गल का अनेक प्रकार से वर्गीकरण किया गया है । एकविध पुद्गल-प्रज्ञप्ति से लेकर दशविध पुद्गल-प्रज्ञप्ति तक पुद्गलो का सङग्रह कर उनका सविस्तर प्रतिपादन किया गया है । स्कन्ध-प्रज्ञप्ति, आयतन-प्रज्ञप्ति, धातुप्रज्ञप्ति, सत्य-प्रज्ञप्ति, इन्द्रिय-प्रज्ञप्ति और पुद्गल-प्रज्ञप्ति—इस प्रकार प्रज्ञप्ति ६ भागो मे विभक्त है ।

कथावत्थु—तृतीय सङ्गीति के अवसर पर सम्राट् अशोक के गुरु मोग्गलिपुत्त तिस्स (तिष्य) महास्थविर ने इसका व्याख्यान किया । यह ग्रन्थ २३ अध्यायो मे विभक्त है । अशोक के समय बौद्ध धर्म १८ निकायो मे विभक्त था । उनमे से स्थविरवाद को छोडकर शेष १७ निकायो का इस ग्रन्थ मे खण्डन किया गया है तथा स्थविरवाद का मण्डन किया गया है । इसमे निकायो के नाम उल्लिखित नही है, केवल उनके सिद्धान्तो का उल्लेख है । निकायो के नामो का उल्लेख बाद मे अट्ठकथाकार बुद्धघोष ने किया है ।

यह कहा गया है कि अशोक के समय बौद्ध धर्म अनेक सम्प्रदायो मे विभक्त हो गया था । वे लोग अपने अपने मत के अनुसार बौद्ध मन्तव्यो की व्याख्या करते थे । यह समझ पाना मुश्किल हो गया था कि बुद्ध का असली मन्तव्य क्या है ? इसी उद्देश्य

को लक्ष्य करके अशोक ने तृतीय सङ्गीति का आयोजन किया था। स्थविरो ने स्थविरवाद को ही बुद्ध के मन्तव्यो का असली व्याख्याता ठहराया। सङ्गीति के अध्यक्ष मोग्गलिपुत्त तिस्स ने परवादियो के २१६ दार्शनिक सिद्धान्तो को पूर्वपक्ष मे रखकर उनका स्थविरवादी दृष्टिकोण से निराकरण किया। इस ग्रन्थ मे कुल एक सहस्र सूत्र है, जिनमे ५०० सूत्र अपने मत को तथा ५०० सूत्र परमत को प्रदर्शित करते है।

यमक – यह एक विशाल ग्रन्थ है। यमक का अर्थ 'युगल' (जुड्वाँ) है। इसमे प्रश्न जोडे के रूप मे रखे गये है। इसी शैली का आदि से अन्त तक निर्वाह किया गया है। समस्त ग्रन्थ १० यमको मे विभक्त है, यथा – मूलयमक, स्कन्धयमक, आयतनयमक, धातुयमक, सत्ययमक, सस्कारयमक, अनुशययमक, चित्तयमक, धर्मयमक और इन्द्रिययमक।

पट्ठान – इसे 'महाप्रकरण' भी कहते है। यह आकार मे अत्यधिक विशाल तथा समझने मे अत्यन्त दुरूह ग्रन्थ है। इसमे २४ प्रत्ययो का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन किया गया है, यथा – हेतु-प्रत्यय, आलम्बन-प्रत्यय, अधिपति-प्रत्यय, अनन्तर-प्रत्यय, समनन्तर-प्रत्यय, सहजात-प्रत्यय, अन्योन्य-प्रत्यय, निश्रय-प्रत्यय, उपनिश्रय-प्रत्यय, पूर्वजात-प्रत्यय, पश्चाज्जात-प्रत्यय, आसेवन-प्रत्यय, कर्म-प्रत्यय, विपाक-प्रत्यय, आहार-प्रत्यय, इन्द्रिय-प्रत्यय, ध्यान-प्रत्यय, मार्ग-प्रत्यय, सम्प्रयुक्त-प्रत्यय, विप्रयुक्त-प्रत्यय, अस्ति-प्रत्यय, नास्ति-प्रत्यय, विगत-प्रत्यय और अविगत-प्रत्यय।

इस ग्रन्थ मे प्रधानत २२ त्रिक और १०० द्विक मातृकाये है। सूत्रपिटकानुसारी ४२ मातृकाये और भी है। यह ग्रन्थ ४ प्रकार के पट्ठानो मे विभक्त है, यथा – अनुलोम-पट्ठान, पच्चनियपट्ठान, अनुलोम-पच्चनिय-पट्ठान तथा पच्चनिय-अनुलोम-पट्ठान।

अनुलोम-पट्ठान मे ६ प्रकार के पट्ठान है, यथा – (१) त्रिक मातृकाओ के आधार पर 'त्रिक-पट्ठान', (२) द्विक मातृकाओ के आधार पर 'द्विक-पट्ठान', (३) २२ त्रिको को १०० द्विको मे मिलाकर 'त्रिक-द्विक पट्ठान', (४) १०० द्विको को २२ त्रिको मे मिलाकर 'द्विक-त्रिक पट्ठान', (५) त्रिको को त्रिको मे मिला कर 'त्रिक-त्रिक पट्ठान', तया (६) द्विको को द्विको मे मिलाकर 'द्विक-द्विक' पट्ठान।

इसी प्रकार पच्चनिय, अनुलोम-पच्चनिय और पच्चनिय-अनुलोम पट्ठान मे भी भी ६–६ पट्ठान वर्णित है। इस प्रकार इसमे २४ पट्ठान है।

पिटक तीन ही

भगवान् बुद्ध की देशनाये त्रिविध है, उनका शासन त्रिविध है, कथाये तीन प्रकार की है, शिक्षा तीन है, प्रहाण भी तीन है तथा एक-एक पिटक मे ४–४ गम्भीर भाव है, अत तीन ही पिटक होते है।

त्रिविध देशना – भगवान् की देशनाये तीन है, अत पिटक भी तीन ही होते है, यथा – 'आणा' देशना 'वोहार' देशना और 'परमत्थ' देशना।

आज्ञा देने योग्य भगवान् द्वारा उपदिष्ट विनयपिटक आज्ञाबहुल होने से 'आणा' (आज्ञा) देशना है।

व्यवहार कुशल भगवान् द्वारा बहुलतया व्यवहार-कौशल्य के लिये उपदिष्ट 'वोहार' (व्यवहार) देशना है।

परमार्थकुशल भगवान् द्वारा प्रमुखत परमार्थ धर्मो के यथार्थ अवबोध के लिये उपदिष्ट अभिधर्मपिटक 'परमत्थ' (परमार्थ) देशना है ।

त्रिविध शासन – भगवान् बुद्ध का शासन तीन प्रकार का है, अत पिटक भी तीन ही होते है, यथा – यथापराध-शासन, यथानुलोम-शासन और यथाधम्म-शासन ।

विनयपिटक यथापराध-शासन है, क्योकि इसमे अधिक अपराधवाले सत्त्व शासित किये जाते है ।

सूत्रपिटक यथानुलोम-शासन है, क्योकि इसमे अनेक प्रकार के अध्याशयवाले, अनेक प्रकार के अनुशयवाले, अनेक प्रकार की चर्या एव अधिमुक्ति वाले सत्त्व अपने अपने अध्याशय, अनुशय, चर्या और अधिमुक्ति के अनुसार शासित किये जाते है ।

अभिधर्मपिटक यथाधम्म (यथाधर्म) शासन है, क्योकि इस पिटक मे चित्त, चैतसिक और रूप आदि धर्मसमूह मे, 'अहम्' और 'मम' सज्ञावाले सत्त्व धर्मो के यथार्थ स्वभाव के अनुरूप शासित होते है ।

त्रिविध कथा – कथाये तीन प्रकार की है, अत पिटक भी तीन ही होते है यथा – सवरासवर-कथा, दिट्ठिविनिवेठन-कथा और नामरूप परिच्छेद-कथा ।

विनयपिटक मे अत्याचरण के पक्षप्रतिभूत सवर (सयम=इन्द्रियगुप्ति) और असवर का कथन किया गया है, अत विनयपिटक 'सवरासवर-कथा' है ।

सूत्रपिटक मे ६२ प्रकार की मिथ्या दृष्टियो की प्रतिपक्षभूत दृष्टिविघातक कथाये उपदिष्ट है, अत सूत्रपिटक 'दृष्टिविनिवेठन-कथा' है ।

अभिधर्मपिटक मे राग–आदि क्लेशो का प्रतिपक्षभूत नामरूप-परिच्छेद कहा गया है, अत अभिधर्म पिटक 'नामरूपपरिच्छेद-कथा' है ।

अपि च – विनयपिटक करुणाप्रधान है, सूत्रपिटक करुणा और प्रज्ञा प्रधान है तथा अभिधर्मपिटक प्रज्ञाप्रधान है ।

त्रिविध शिक्षा – भगवान् की शिक्षा तीन प्रकार की है, अत उनकी दृष्टि से पिटक भी तीन है, यथा—अधिशील-शिक्षा, अधिचित्त-शिक्षा और अधिप्रज्ञ-शिक्षा । विनयपिटक मे विशेषत अधिशील-शिक्षा प्रतिपादित है। सूत्रपिटक मे प्रधानत अधि-चित्त-शिक्षा उक्त है तथा अभिधर्मपिटक मे मुख्यत अधिप्रज्ञ-शिक्षा अभिहित है ।

त्रिविध प्रहाण – तीन प्रकार के प्रहाण है, यथा – वीतिक्कम (व्यतिक्रम) प्रहाण, परियुट्ठान (पर्युत्थान) प्रहाण तथा अनुशयप्रहाण । इन त्रिविध क्लेशो के प्रहाण की दृष्टि से पिटक भी तीन ही होते है ।

उनमे से विनयपिटक मे व्यतिक्रमप्रहाण उक्त है, क्योकि इस पिटक मे प्रति-पादित शील व्यतिक्रम करनेवाले क्लेशो का प्रतिपक्ष है । सूत्रपिटक मे पर्युत्थानप्रहाण है, क्योकि इस पिटक मे प्रतिपादित समाधि पर्युत्थान क्लेशो की प्रतिपक्ष है । अभिधर्म-पिटक मे अनुशयप्रहाण है, क्योकि इस पिटक मे प्रतिपादित प्रज्ञा अनुशय-क्लेशों की प्रतिपक्ष है ।

विनयपिटक मे क्लेशो का तदङ्गप्रहाण (अस्थायी-प्रहाण) है तथा अन्य (सूत्र और अभिधर्म) पिटको मे उनका विष्कम्भण और समुच्छेद प्रहाण है। विनय पिटक

मे दुश्चरित आदि क्लेशो का प्रहाण है तथा अन्य अवशिष्ट दो पिटकों मे तृष्णा, दृष्टि आदि क्लेशों का प्रहाण है ।

चतुर्विध गाम्भीर्य – उपर्युक्त तीन पिटको मे से प्रत्येक मे चार प्रकार के गम्भीर भावो को जानना चाहिये, यथा – धर्म, अर्थ, देशना और प्रतिवेध ।

उनमे से बुद्धवचन (पालि) 'धर्म' है । उनका अर्थ ही 'अर्थ' है । उनकी देशना 'देशना' है तथा उन बुद्धवचनो का यथार्थ अवबोध 'प्रतिवेध' है ।

अथवा—धर्म 'हेतु' है । अर्थ हेतुओ का 'फल' है । देशना 'प्रज्ञप्ति' है, अर्थात् धर्मों का अनुलोम, प्रतिलोम, सक्षेप, विस्तार आदि से कथन । प्रतिवेध 'अभिसमय' है, अर्थात् उन कहे हुये धर्मो का स्वलक्षण नामक अविपरीत स्वभाव ।

इन तीनो पिटको मे जो धर्म और अर्थ कहे गये है, उन धर्मो और अर्थो का श्रोताओ को यथार्थ अवबोध कराने के लिये जो देशना की गयी है तथा जो धर्मो का अविपरीत अवबोध नामक प्रतिवेध है – ये सब जिनके कुशलसम्भार उपचित नही है – ऐसे दुष्प्रज्ञ पुद्गलों के लिये दुर्ज्ञेय है, अत इन्हे गम्भीर कहा गया है ।

"देशना-सासन-कथाभेदं तेसु यथारह ।
सिक्खा-पहान-गम्भीरभाव च परिदीपये ।।"

त्रिपिटक

- विनयपिटक
  - पाराजिक
  - पाचित्तिय
  - चुल्लवग्ग
  - महावग्ग
  - परिवार
- सूत्रपिटक
  - दीघनिकाय
  - मज्झिमनिकाय
  - सयुत्तनिकाय
  - अङ्गुत्तरनिकाय
  - खुद्दकनिकाय
    - खुद्दकपाठ
    - धम्मपद
    - उदान
    - इतिवुत्तक
    - सुत्तनिपात
    - विमानवत्थु
    - पेतवत्थु
    - थेरगाथा
    - थेरीगाथा
    - जातक
    - निद्देस
    - पटिसम्भिदामग्ग
    - अपदान
    - बुद्धवस
    - चरियापिटक
- अभिधर्मपिटक
  - धम्मसगणि
  - विभङ्ग
  - धातुकथा
  - पुग्गलपञ्ञत्ति
  - कथावत्थु
  - यमक
  - पट्ठान

२. निकाय

यह पहले कहा गया है कि सङ्गीतिकारक महास्थविरो ने बुद्धवचनो का अनेक प्रकार से वर्गीकरण किया है, यथा—पिटक, निकाय, अङ्ग आदि । उनमे से एक प्रकार का सङ्ग्रह (वर्गीकरण) 'पिटक' कह दिया गया है । अब दूसरे प्रकार का वर्गीकरण 'निकाय' कहा जा रहा है । अर्थात् समस्त बुद्धवचनो का सङ्ग्रह ५ निकायो मे भी किया जाता है, यथा—दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, सयुत्तनिकाय, अङ्गुत्तरनिकाय और खुद्दकनिकाय ।

इसमे से प्रथम ४ निकाय तो पूर्वोक्त सूत्रपिटक के वर्णनप्रसङ्ग मे कहे गये चार निकायो के सदृश ही है । पञ्चम खुद्दकनिकाय मे यहाँ पूर्वोक्त १५ ग्रन्थो के अतिरिक्त समस्त विनयपिटक और अभिधर्मपिटक का भी ग्रहण किया जाता है, जैसे कहा भी गया है—

"ठपेत्वा चतुरो पेते निकाये दीघ-आदिके ।
तदञ्ञं बुद्धवचन निकायो खुद्दको मतो ति[1] ।"

३. अङ्ग

समस्त बुद्धवचनो का ९ अङ्गो मे भी विभाजन किया जाता है, यथा—सुत्त, गेय्य, वेय्याकरण, गाथा, उदान, इतिवुत्तक, जातक, अब्भुतधम्म और वेदल्ल ।

इनमे से दीघनिकाय, सुत्तनिपात, निद्देस, खन्धक, परिवार आदि जितने बुद्ध-वचन 'सूत्र' के नाम से गद्य मे है, वे सब 'सुत्त' कहलाते है । गाथाओ से युक्त सूत्र 'गेय्य' है । विशेषत. सयुत्तनिकाय मे सम्पूर्ण सगाथक वर्ग 'गेय्य' है । 'वेय्याकरण' वस्तुत यह व्याख्यापरक साहित्य का नाम है । इसमे सम्पूर्ण अभिधर्मपिटक और वे सब सूत्र सगृहीत हो जाते है, जो अन्य ८ अङ्गो मे सगृहीत नही होते । धम्मपद, थेरगाथा थेरीगाथा आदि पद्य मे रचित अश 'गाथा' है । सौमनस्य और ज्ञान से युक्त होकर समय समय पर भगवान् बुद्ध के मुख से गाथा के रूप मे निकले हुये भावनामय प्रीति-उद्गार 'उदान' है । 'वुत्त हेत भगवता' (भगवान् ने ऐसा कहा) — इत्यादि प्रकार से प्रवृत्त ११० सूत्रान्त 'इतिवुत्तक' है । 'जातक' का अर्थ है, बुद्ध के पूर्व जन्मो की कथाये । अपण्णक आदि ५५० कथाये 'जातक' है । 'चत्तारो मे भिक्खवे ! अच्छरिया अब्भुतधम्मा आनन्दे' (भिक्षुओ ! आनन्द मे ये चार आश्चर्यजनक अद्भुत धर्म है) — इत्यादि प्रकार से प्रवृत्त अद्भुत वस्तुओ का निरूपण करनेवाले सूत्रान्त 'अब्भुतधम्म' है । 'वेदल्ल' वे उपदेश है, जो प्रश्न और उत्तर के रूप मे उपलब्ध होते है । मज्झिम-निकाय के चुल्लवेदल्ल, महावेदल्ल, सम्मादिट्ठि तथा सक्कपञ्ह आदि सूत्र इस विभाग के अन्तर्गत आते है । बुद्धवचनो का यह ९ प्रकार का सङ्ग्रह विषय की दृष्टि से है, ग्रन्थो की दृष्टि से नही ।

(४) ८४,००० धर्मस्कन्ध

बुद्धवचनो के विभाजन का यह भी एक प्रकार है । इसमे समस्त बुद्धवचन ८४,००० धर्मस्कन्धो मे विभक्त किये जाते है । स्थविरवाद को 'विभज्यवाद' भी कहते है । यह उनकी विभाजन-प्रियता का ही एक उदाहरण है । अशोक द्वारा ८४,००० स्तूपो के निर्माण का भी यही आधार है ।

---

१. अट्ठ०, पृ० २२ ।

एक अनुसन्धिवाला सूत्र एक धर्मस्कन्ध होता है । जिसमे अनेक अनुसन्धियाँ होती है, वहाँ अनुसन्धियो के अनुसार धर्मस्कन्धो की गणना की जाती है । गाथाबद्ध बुद्धवचनो मे 'प्रश्न' एक धर्मस्कन्ध होता है और उसका 'उत्तर' एक दूसरा धर्मस्कन्ध होता है । अभिधर्म मे तिकपट्ठान, दुकपट्ठान आदि पृथक् पृथक् धर्मस्कन्ध होते हैं । विनयपिटक मे वत्थु (वस्तु), मातिका, पदभाजनिय, आपत्ति, अनापत्ति, अन्तरापत्ति आदि होते हैं । ये सब विभाग पृथक् पृथक् एक-एक धर्मस्कन्ध होते हैं । इस प्रकार ८४,००० धर्म स्कन्ध होते है । इनमे ८२,००० धर्मस्कन्ध बुद्ध द्वारा उक्त है तथा २००० धर्मस्कन्ध शारिपुत्र-आदि भिक्षुओ के वचन है । यथा –

"द्वासीतिं बुद्धतो गण्हिं द्वे सहस्सानि भिक्खुतो ।
चतुरासीति सहस्सानि ये मे धम्मा पवत्तिनो ति[1] ।।"

सर्वास्तिवाद आदि अन्य निकायो मे बुद्धवचनो का ८०,००० धर्मस्कन्धो मे विभाजन उपलब्ध होता है । जैसा कि अभिधर्मकोश मे उल्लिखित है –

"धर्मस्कन्धसहस्राणि यान्यशीतिं जगौ मुनि.[2] ।"

बुद्धवचनो का उपर्युक्त पिटक, निकाय, अङ्ग और धर्मस्कन्ध – इन चारो प्रकारो मे वर्गीकरण अत्यन्त प्राचीन है । इसकी पुष्टि स्वय त्रिपिटक, अशोक के शिलालेख और मिलिन्दप्रश्न, दीपवस, महावस, गन्धवस, अट्ठकथा आदि ग्रन्थो से होती है । आचार्य बुद्धघोष के अनुसार ये चारो विभाजन प्रथमसगीति के समय ही कर दिये गये थे । उनका कहना है कि महाकाश्यपप्रमुख भिक्षुसंघ ने प्रथम संगीति के काल मे ही "यह प्रथम बुद्ध वचन है, यह मध्यम बुद्ध वचन है, यह अन्तिम बुद्ध वचन है; यह विनयपिटक है, यह सूत्रपिटक है, यह अभिधर्मपिटक है, यह दीघनिकाय है, . . यह खुद्दकनिकाय है, ये 'सुत्त' आदि नौ अङ्ग हैं, ये ८४,००० धर्मस्कन्ध है" – इस प्रकार बिभाजन करके बुद्ध वचनो को व्यवस्थापित कर दिया था[3] ।

बुद्धत्व प्राप्ति के अनन्तर बोधिवृक्ष के नीचे सात दिन तक एक आसन से बैठे हुये भगवान् बुद्ध द्वारा कथित निम्न उदान –

"यदा हवे पातुभवन्ति धम्मा आतापिनो झायतो ब्राह्मणस्स ।
अथस्स कङ्खा वपयन्ति सब्बा यतो पजानाति सहेतुधम्मं ।।
यदा हवे पातुभवन्ति धम्मा आतापिनो झायतो ब्राह्मणस्स ।
अथस्स कङ्खा वपयन्ति सब्बा यतो खयं पच्चयानं अवेदि ।।
यदा हवे पातुभवन्ति धम्मा आतापिनो झायतो ब्राह्मणस्स ।
विधूपयं तिट्ठति मारसेनं सूरो व ओभासयमन्तलिक्ख' ति[4] ।।"

---

१. अट्ठ०, पृ० २३ ।   २. अभि० को० १.२५, पृ० ३९ ।

३. "एवमेत सब्ब पि बुद्धवचन पञ्चसतिकसङ्गीतिकाले सङ्गायन्तेन महाकस्सप-पमुखेन वसीगणेन इद पठमबुद्धवचन, इद मज्झिमबुद्धवचन, इद पच्छिमबुद्धवचनं; इद विनयपिटक, इद सुत्तन्तपिटक, इद अभिधम्मपिटक, अय दीघनिकायो, . पे० . . अय खुद्दकनिकायो, इमानि सुत्तादीनि नवङ्गानि, इमानि चतुरासीति धम्मक्खन्धसहस्सानीति इम पभेद ववत्थापेत्वा व सङ्गीत ।" – अट्ठ०, पृ० २३ ।

यह प्रथम बुद्धवचन है, किन्तु धम्पदभाणक स्थविर इसे प्रथम बुद्धवचन नही मानते । उनके अनुसार –

"अनेकजातिसंसारं सन्धाविस्सं अनिब्बिसं ।
गहकारक गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुन ॥
गहकारक, दिट्ठोसि पुन गेह न काहसि ।
सब्बा ते फासुगा भग्गा गहकूट विसङ्खत ।
विसङ्खारगतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा ति[१] ॥"

यह प्रथम बुद्धवचन है । महापरिनिर्वाण के समय कुशीनगर मे दो शालवृक्षो के मध्य मे लेटे हुये भगवान् बुद्ध का भिक्षुओ के प्रति निम्न उपदेश –

"हन्द दानि भिक्खवे, आमन्तयामि वो, वयधम्मा सङ्खारा, अप्पमादेन सम्पादेथा ति[२]।"

यह अन्तिम बुद्धवचन है । इन दोनो कालो के मध्य मे पुष्पमाला गूथने के समान, रत्नावलि गूथने के समान कथित अमृतत्व का प्रकाशक सम्पूर्ण सद्धर्म मध्यम बुद्धवचन है ।

इस प्रकार सङ्गीतिकारक महास्थविरो द्वारा सङ्गृहीत समस्त बुद्धवचन पिटक की दृष्टि से तीन पिटक, निकाय की दृष्टि से पॉच निकाय, अङ्ग की दृष्टि से नौ अङ्ग तथा धर्मस्कन्धो की दृष्टि से ८४,००० धर्मस्कन्धो मे विभक्त है ।

उनमे से अभिधर्मपरक बुद्धवचन पिटक की दृष्टि से अभिधर्म पिटक, निकाय की दृष्टि से खुद्दकनिकाय, अग की दृष्टि से वेय्याकरण, धर्मस्कन्ध की दृष्टि से कुछ सहस्र धर्मस्कन्ध है ।

अभिधम्मत्थसङ्गहो

प्रस्तुत ग्रन्थ आचार्य अनुरुद्ध द्वारा पालिभाषा मे लिखित एक लघुकाय ग्रन्थ है । इसमें अभिधर्मपिटक के सारे विषय साररूप से सरल भाषा मे उपनिबद्ध है । इसका इतना अधिक महत्त्व है कि समस्त बौद्ध देशों मे अभिधर्मपिटक के अध्ययन से पूर्व इसका अनिवार्यरूप से अध्ययन किया जाता है । इसके ऊपर अनेक पालि टीकाये तो है ही, तत्तद् देशों की अपनी-अपनी भाषाओ मे भी इस पर विपुल साहित्य का निर्माण हुआ है ।

ब्रह्मदेश आजकल केवल बौद्ध धर्म का ही नही, अपितु अभिधर्म साहित्य के विशेष अध्ययन का भी प्रधान केन्द्र माना जाता है । अभिधर्म के अध्ययन की बर्मी परम्परा शताब्दियो पुरानी है । इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इस पर अनेक बार अनेक बाधाये आई, किन्तु किसी न किसी तरह यह आज तक अक्षुण्णरूप से विद्यमान है । शासन की ओर से भी अभिधर्म के अध्ययन के लिये पर्याप्त प्रोत्साहन

---

१. खु० नि०, प्र० भा० (धम्म०), पृ० ३२ ।

२. दी० नि०, द्वि० भा०, पृ० ११६ ।

दिया जाता है। जिस प्रकार भारत मे गीता और रामायण की शलाका-आदि अनेकविध परीक्षाये होती हैं, उसी प्रकार बर्मा मे भी इसकी अनेक प्रकार की परीक्षाये आयोजित की जाती हैं, जिसमे सभी स्तर के स्त्री, पुरुष सम्मिलित होते है। प्रस्तुत 'अभिधम्मत्थसगहो' का वहाँ अत्यधिक प्रचार है। वहाँ के अनेक मनीषियो ने इस पर अनेक गम्भीर टीकाये की हैं।

अपनी अनेकविध विशेषताओ के कारण 'अभिधम्मत्थसङ्गहो' अभिधर्मपिटक की 'कनिष्ठ अट्ठकथा' कहा जाता है। अभिधर्मकान्तार मे प्रवेश के लिये यह 'द्वार' की भाति है। इसके अध्ययन के विना अभिधर्मपिटक मे प्रवेश दु शक है। इसमे विषयो का क्रम और उनका निरूपण इतनी वैज्ञानिक रीति से किया गया है कि अभिधर्मपिटक मे यत्र तत्र बिखरे हुये सारे अभिधेय सक्षिप्त और सुसम्बद्धरूप मे हमे एक जगह उपलब्ध हो जाते हैं। अत यह अभिधर्मरूपी समुद्र से मथकर निकाले हुये अमृत की भाति माना जाता है। यही कारण है कि बुद्धघोष, बुद्धदत्त, धम्मपाल आदि आचार्यों की अभिधर्मपिटक पर अनेक अट्ठकथाये विद्यमान होने पर भी बौद्ध देशो मे इस ग्रन्थ का अत्यधिक महत्त्व माना जाता है।

भगवान् बुद्ध के तात्त्विक अभिप्राय के परिज्ञान के लिये अभिधर्मपिटक का अध्ययन नितान्त अपेक्षित होता है। अभिधर्मपिटक के निगूढ अर्थो के सुस्पष्ट अवबोध के लिये इस ग्रन्थ का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। यही विद्वानो की मान्यता है।

ग्रन्थ की संक्षिप्त विषयवस्तु

चित्त, चैतसिक, रूप और निर्वाण – ये चार परमार्थ धर्म ही समस्त अधिधर्म के सामान्य अभिधेय हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता आचार्य अनुरुद्ध ने भी ग्रन्थारम्भ मे इन्ही चार धर्मो के प्रतिपादन की प्रतिज्ञा की है। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार चारो परमार्थ धर्मो का निरूपण यद्यपि षष्ठ परिच्छेद तक ही पूर्ण हो जाता है, अत ग्रन्थ को यही समाप्त कर देना चाहिये था, किन्तु परमार्थ के सम्यग्ज्ञान के लिये प्रज्ञप्ति (अपरमार्थ=सवृति) का ज्ञान भी अपेक्षित होने से तथा निर्वाण के निरूपण के अनन्तर उसकी प्राप्ति का उपाय प्रदर्शित करना भी न्यायप्राप्त होने से आचार्य ने षष्ठ परिच्छेद के अन्त मे ग्रन्थ समाप्त न कर प्रज्ञप्ति और साधना के निरूपणार्थ ३ अतिरिक्त परिच्छेदो का निर्माण कर ९ परिच्छेदो मे ग्रन्थ की समाप्ति की है। अब हम यहाँ प्रत्येक परिच्छेद का साराश प्रस्तुत कर रहे हैं।

प्रथम परिच्छेद– चित्त ही प्रधानत इस परिच्छेद का प्रतिपाद्य है। 'आलम्बन चिन्तेति' (विषय को जानना) – इस विग्रह के अनुसार चित्त यद्यपि एकविध ही होता है, तथापि आचार्य ने उसका भूमि, जाति, सम्प्रयोग, वेदना और सस्कार आदि अनेक भेदों से विभाजन कर सुविशद प्रतिपादन किया है। सर्वप्रथम उसका भूमि द्वारा विभाजन किया गया है। भूमियाँ चार होती हैं, यथा – कामावचर, रूपावचर, अरूपावचर और लोकोत्तर। फलत इन भूमियो मे पाये जानेवाले चित्त भी चार प्रकार के होते हैं,

यथा – कामावचर चित्त, रूपावचर चित्त, अरूपावचर चित्त और लोकोत्तर चित्त। जो चित्त प्राय कामतृष्णा की आलम्बनभूत कामभूमि मे पाये जाते है, उन्हे 'कामावचर चित्त' कहते है। रूपतृष्णा की आलम्बनभूत रूपभूमि मे पाये जानेवाले चित्तो को 'रूपावचर चित्त' तथा अरूपतृष्णा की आलम्बनभूत अरूपभूमि मे पाये जानेवाले चित्तो को 'अरूपावचर चित्त' कहते है। ये तीन भूमियाँ लौकिक है। इनसे ऊर्ध्व अलौकिक भूमि होती है, जिसे 'लोकोत्तर भूमि' कहते है। इसमे 'भूमि' शब्द का व्यवहार औपचारिक ही है, क्योकि नीचे की तीन भूमियो की भाँति यह कोई दैशिक भूमि (स्थानविशेष) नही है, अपितु लौकिक बन्धनो (क्लेशो) से ऊर्ध्व यह चित्त की एक अवस्थामात्र है। इस भूमि (अवस्था) मे पाये जानेवाले चित्तो को 'लोकोत्तर चित्त' कहते है।

जातिभेद से भी चित्तो का विभाजन किया जाता है। चित्तो की तीन जातियाँ है, यथा – कुशल, अकुशल और अव्याकृत। उनमे कुशल और अकुशल – ये कर्म है। अव्याकृत मे विपाक और क्रिया – ये दो प्रकार के चित्त होते है। कुशल और अकुशल कर्मो के फल को 'विपाक' कहते है। जो कर्म फल नही देते, उन्हे 'क्रिया' कहते है। वे क्रियाचित्त चाहे शोभन हो या अशोभन तथा सहेतुक हो या अहेतुक, प्रायः अर्हत् की सन्तान मे ही होते है।

कामावचर चित्त भी तीन प्रकार के होते है, यथा – अकुशल, अहेतुक और कामावचर शोभन। लोभ, द्वेष और मोह नामक अकुशल हेतुओ से सम्प्रयुक्त चित्त 'अकुशल' कहलाते है। ये चित्त १२ प्रकार के होते हैं, यथा – ८ लोभमूल, २ द्वेषमूल तथा २ मोहमूल। जो चित्त कुशल या अकुशल हेतुओ से सम्प्रयुक्त नही होते, वे 'अहेतुक' कहलाते है। ये चित्त १८ प्रकार के होते है, यथा – ७ अकुशल विपाक, ८ कुशलविपाक तथा ३ क्रियाचित्त। अलोभ, अद्वेष और अमोह नामक कुशल हेतुओ से सम्प्रयुक्त चित्त 'कामावचर शोभन' कहलाते है। ये २४ प्रकार के होते है। इनका तीन भागो मे सग्रह किया गया है, यथा – ८ कुशल चित्त (इन्हे 'महाकुशल' भी कहते है), ८ विपाक चित्त (इन्हे 'महाविपाक' भी कहते है) तथा ८ क्रिया चित्त (इन्हे 'महाक्रिया' भी कहते है)। इस प्रकार 'कामावचर चित्त' सख्या मे ५४ प्रकार के होते है। इनमे से अकुशल और अहेतुक चित्त 'अशोभन' तथा शेष चित्त 'शोभन कहलाते है। इन कामावचर चित्तों का सौमनस्य, दौर्मनस्य, सुख, दुख और उपेक्षा – इन ५ वेदनाओ के भेद से, दृष्टिगतसम्प्रयुक्त, दृष्टिगतविप्रयुक्त, ज्ञानसम्प्रयुक्त, ज्ञानविप्रयुक्त – आदि सम्प्रयोग के भेद से तथा सस्कारिक और असस्कारिक – आदि सस्कार के भेद से अनेकधा भेद होते है।

जातिभेद से कामावचर ५४ चित्तो की स्थिति इस प्रकार है – ८ कुशल, १२ अकुशल, २३ विपाक तथा ११ क्रियाचित्त।

सम्प्रयोगभेद से २० सम्प्रयुक्त, १६ विप्रयुक्त तथा १८ न सम्प्रयुक्त और न विप्रयुक्त चित्त होते है।

सस्कारभेद से १७ सस्कारिक, १७ असंस्कारिक तथा २० न संस्कारिक और न असस्कारिक चित्त होते है।

वेदनाभद से १ सुखसहगत, १ दुःखसहगत, १८ सौमनस्यसहगत, २ दौर्मनस्य-सहगत तथा ३२ उपेक्षासहगत चित्त होते हैं।

रूपावचर चित्त १५ होते हैं। इनमे ५ कुशल, ५ विपाक तथा ५ क्रियाचित्त होते हैं। ध्यानाङ्गो के अतिक्रमण से ५ ध्यान होते हैं। ध्यानाङ्ग ५ होते है, यथा – वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता। प्रथम ध्यान मे ये पाँचो ध्यानाङ्ग सम्प्रयुक्त होते हैं। द्वितीय ध्यान मे वितर्क को छोडकर ४ ध्यानाङ्ग, तृतीय ध्यान में वितर्क और विचार को छोडकर ३ ध्यानाङ्ग, चतुर्थ ध्यान मे वितर्क, विचार और प्रीति को छोडकर २ ध्यानाङ्ग तथा पञ्चम ध्यान मे वितर्क, विचार, प्रीति और सुख को छोडकर (सुख के स्थान मे उपेक्षा रखकर) उपेक्षा और एकाग्रता – ये दो ध्यानाङ्ग होते हैं।

वितर्क, विचार-आदि ध्यानाङ्गो का समूह 'ध्यान' कहलाता है। ध्यान के एक-एक अवयव 'ध्यानाङ्ग' कहलाते हैं। ये ध्यानाङ्ग चित्त को विक्षिप्त करनेवाले नीवरण धर्मो का प्रहाण करते हैं। नीवरण धर्म ५ है, यथा – कामच्छन्द, व्यापाद, स्त्यान-मिद्ध, औद्धत्य-कौकृत्य और विचिकित्सा। इनमे से वितर्क ध्यानाङ्ग स्त्यान-मिद्ध नीवरण का प्रहाण करता है। विचार ध्यानाङ्ग विचिकित्सा नीवरण का, प्रीति ध्यानाङ्ग व्यापाद नीवरण का, सुख ध्यानाङ्ग औद्धत्य-कौकृत्य नीवरण का तथा एकाग्रता ध्यानाङ्ग कामच्छन्द नीवरण का प्रहाण करता है।

यहाँ पञ्चकनय और चतुष्कनय – इन दो नयो का ध्यान रखना चाहिये। ध्यानो का उपर्युक्त वर्णन पञ्चकनय के अनुसार किया गया है। चतुष्कनय के अनुसार ध्यान चार ही होते हैं। इनमे प्रथम ध्यान वितर्क, विचार-आदि पाँचो ध्यानाङ्गो से युक्त होता है। द्वितीय ध्यान वितर्क और विचार – इन दोनो ध्यानाङ्गो का अतिक्रमण कर तीन ध्यानाङ्गो से युक्त होता है। तृतीय ध्यान सुख और एकाग्रता – इन दो ध्यानाङ्गो से तथा चतुर्थ ध्यान उपेक्षा और एकाग्रता – इन दो ध्यानाङ्गो से युक्त होता है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि रूपावचर ध्यानो मे ध्यानाङ्गो के अतिक्रमण से ऊपर-ऊपर के ध्यानो की प्राप्ति होती है। यहाँ अरूपावचर ध्यानो की भाँति ध्यानो के आलम्बन का अतिक्रमण अपेक्षित नही होता।

अरूपावचर चित्त १२ होते हैं। इनमे ४ कुशल, ४ विपाक तथा ४ क्रिया चित्त होते हैं। आलम्बन के भेद से यहाँ चार ध्यान होते है, यथा – आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिञ्चन्यायतन तथा नैवसञ्ज्ञानासञ्ज्ञायतन। यहाँ नीचे-नीचे के ध्यानो के अतिक्रमण से ऊपर-ऊपर के ध्यानो की प्राप्ति का नियम है। यथा – रूपावचर पञ्चम ध्यान की आलम्बनभूत कसिणप्रज्ञप्ति का अतिक्रमण कर आकाशप्रज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाला आकाशानन्त्यायतन ध्यान उत्पन्न होता है। आकाशप्रज्ञप्ति का अतिक्रमण कर प्रथम आरूप्यविज्ञान का आलम्बन करनेवाला विज्ञानानन्त्यायतन नामक द्वितीय आरूप्य ध्यान उत्पन्न होता है। विज्ञान आलम्बन का अतिक्रमण कर 'नास्तिभाव-प्रज्ञप्ति' का आलम्बन करनेवाला आकिञ्चन्यायतन नामक तृतीय आरूप्य ध्यान उत्पन्न

होता है तथा नास्तिभावप्रज्ञप्ति का अतिक्रमण कर तृतीय आरूप्य विज्ञान का आलम्बन करनेवाला नैवसज्ञानासज्ञायतन नामक चतुर्थ आरूप्य ध्यान उत्पन्न होता है ।

इन अरूपावचर ध्यानो मे सर्वदा उपेक्षा और एकाग्रता – ये दो ध्यानाङ्ग ही सम्प्रयुक्त होते है। अत रूपावचर ध्यानो की भाँति यहाँ ध्यानाङ्गो का अतिक्रमण अपेक्षित नही होता।

इन रूपावचर (१५) और अरूपावचर (१२) चित्तो का ध्यानो की दृष्टि से भी विभाजन किया जाता है, यथा – प्रथम ध्यान चित्त ३ (कुशल-विपाक-क्रिया), द्वितीय ध्यान चित्त ३, तृतीय ध्यान चित्त ३, चतुर्थ ध्यानचित्त ३ तथा पञ्चम ध्यान चित्त १५। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि ध्यानो की दृष्टि से विभाजन करते समय समस्त १२ अरूपावचर चित्त पञ्चम ध्यान मे ही सगृहीत होते है, क्योकि जिस प्रकार रूपावचर पञ्चम ध्यान उपेक्षा और एकाग्रता – इन दो ध्यानाङ्गो से युक्त होता है, उसी प्रकार समस्त अरूपावचर ध्यान भी इन्ही दो ध्यानाङ्गो से सम्प्रयुक्त होते है।

ये रूपावचर और अरूपावचर २७ चित्त 'महग्गत चित्त' कहलाते है। तथा ५४ कामावचर चित्त और २७ महग्गत चित्त कुल ८१ चित्त 'लौकिक चित्त' कहलाते है।

लोक से उत्तीर्ण चित्त 'लोकोत्तर' है। ये ४ मार्ग और ४ फल के भेद से ८ प्रकार के होते है। ये आर्य पुद्गलो के चित्त होते है। पृथग्जन गोत्र का प्रहाण कर जिन्होने मार्ग या फल की प्राप्ति की है, वे पुद्गल 'आर्य' कहलाते है। ये आर्य पुद्गल ८ प्रकार के होते है, यथा – ४ मार्गस्थ और ४ फलस्थ। अत लोकोत्तर चित्त भी ८ प्रकार के होते है। इनमे से स्रोतापत्ति मार्ग को प्राप्त पुद्गल 'स्रोतापत्तिमार्गस्थ' तथा स्रोतापत्ति फल को प्राप्त पुद्गल 'स्रोतापत्तिफलस्थ' कहलाता है। इन दोनो को 'स्रोतापन्न पुद्गल' कहते है। वह इस ससार मे ७ से अधिक जन्म ग्रहण नही करता, इस बीच उसे अवश्य निर्वाण का लाभ हो जाता है। सकृदागामी मार्ग को प्राप्त पुद्गल 'सकृदागामि-मार्गस्थ' तथा सकृदागामी फल को प्राप्त पुद्गल 'सकृदागामि-फलस्थ' कहलाता है। इन दोनो को 'सकृदागामी पुद्गल' कहते है। उसका इस भव (ससार) मे अधिक से अधिक एक बार जन्म होता है। अनागामी मार्ग को प्राप्त पुद्गल 'अनागामिमार्गस्थ' तथा अनागामी फल को प्राप्त पुद्गल 'अनागामि-फलस्थ' कहलाता है। इन दोनो को 'अनागामी पुद्गल' कहते है। वह इस ससार मे पुन नही आता। यहाँ से च्युत होकर वह ब्रह्मलोक मे उत्पन्न होता है और वही निर्वाण का लाभ कर लेता है। अर्हत् मार्ग को प्राप्त पुद्गल 'अर्हत्-मार्गस्थ' तथा अर्हत् फल को प्राप्त पुद्गल 'अर्हत्-फलस्थ' कहलाता है। इन दोनो को 'अर्हत् पुद्गल' कहते है। यह वह पुद्गल है, जिसने इसी जन्म मे अशेष क्लेशो का प्रहाण कर निर्वाण प्राप्त कर लिया है। इन लोकोत्तर चित्तो की प्राप्ति ध्यानो की प्राप्ति से नही होती; अपितु विपश्यना द्वारा होती है। योगी विपश्यना के बल से जब 'नाम-रूपपरिच्छेद' आदि दशविध ज्ञानो को क्रमश प्राप्त करता है, तो उसे प्रथम मार्ग की प्राप्ति होती है और तदनन्तर प्रथम फल की प्राप्ति होती है। तदनन्तर पुन पुन विपश्यनाभावना करने से क्रमश. आगे

आगे के मार्गो और फलो की प्राप्ति होती है। मार्ग चित्तो की प्रवृत्ति क्षणमात्र ही होती है, अत इन लोकोत्तर चित्तो मे क्रियाचित्त नही होते।

लौकिक चित्त ८१ और लोकोत्तर चित्त ८ – इस प्रकार चित्त कुल ८९ होते है। इनका भूमि, जाति आदि भेद से विभाजन इस प्रकार है –

भूमिभेद से कामावचर चित्त ५४, रूपावचर १५, अरूपावचर १२ तथा लोकोत्तर चित्त ८ होते है।

जातिभेद से अकुशल चित्त १२, कुशल चित्त २१, विपाक चित्त ३६ तथा क्रिया चित्त २० होते है।

यद्यपि लोकोत्तर चित्त सक्षेपत ८ कहे गये है, तथापि विस्तार से वे ४० हो जाते है। यथा – स्रोतापत्ति मार्ग चित्त एक ही होता है, किन्तु प्रथम, द्वितीय-आदि ध्यानभेद से वह पाँच प्रकार का हो जाता है। इसी तरह सकृदागामी, अनागामी और अर्हत् मार्गचित्त भी ५-५ प्रकार के होते है तथा ४ फलचित्त भी ५-५ प्रकार के होते है। इस तरह ८ लोकोत्तर चित्त कुल ४० प्रकार के होते है। ऐसी स्थिति मे लौकिक चित्त ८१ और लोकोत्तर चित्त ४० मिलकर चित्तो की कुल सख्या १२१ हो जाती है। इस प्रकार आचार्य अनुरुद्ध ने प्रथम परिच्छेद मे चित्त के एक होने पर भी भूमि-आदि भेद से १२१ चित्तो का सविस्तर वर्णन प्रस्तुत किया है।

द्वितीय परिच्छेद – चैतसिक ही इस परिच्छेद के मुख्य प्रतिपाद्य है। 'चेतसि भव चेतसिक' – इस परिभाषा के अनुसार चित्त से सम्प्रयुक्त होनेवाले धर्मो को 'चैतसिक' कहते है। चित्त और चैतसिक – इन दोनो धर्मो का उत्पाद और निरोध साथ-साथ होता है तथा इन दोनो का आलम्बन और आश्रय भी समान ही होता है। इन द्विविध धर्मो मे चित्त प्रधान तथा चैतसिक अप्रधान होते है। अप्रधान होने पर भी ये (चैतसिक धर्म) चित्तो को कुशल, अकुशल-आदि नाना स्वरूपो मे परिणत करने मे समर्थ होते है। चैतसिक कुल ५२ प्रकार के होते है। आचार्य अनुरुद्ध ने इनका तीन राशियो मे वर्गीकरण किया है, यथा – अन्यसमान, अकुशल और शोभन।

जो चैतसिक अन्यविध चैतसिको के समान होते है, वे 'अन्यसमान' कहलाते है। यहाँ शोभन की अपेक्षा अशोभन 'अन्य' है तथा अशोभन की अपेक्षा शोभन 'अन्य' है। जो चैतसिक इन अन्यो (शोभन और अशोभनो) से समान होते है, वे 'अन्यसमान' कहे गये है। अर्थात् जो चैतसिक केवल अकुशल चित्तो मे ही या केवल शोभन चित्तो मे ही सम्प्रयुक्त नही होते, अपितु दोनो राशियों मे यथायोग्य सम्प्रयुक्त होते है, वे 'अन्यसमान' है।

ये अन्यसमान चैतसिक १३ है। इनमे से स्पर्श, वेदना-आदि ७ चैतसिक सभी चित्तो से सम्प्रयुक्त होने के कारण 'सर्वचित्तसाधारण चैतसिक' कहलाते है तथा वितर्क, विचार-आदि अवशिष्ट ६ चैतसिक यथासम्भव शोभन और अशोभन दोनो प्रकार के चित्तो मे यथायोग्य सम्प्रयुक्त होने के कारण 'प्रकीर्णक चैतसिक' कहलाते है।

१४ अकुशल चैतसिक यथायोग्य अकुशल चित्तो मे ही सम्प्रयुक्त होते है, वे अन्यविध चित्तो मे कदापि सम्प्रयुक्त नही होते। २५ शोभन चैतसिक सर्वथा शोभन चित्तो मे ही सम्प्रयुक्त होते है, वे कदापि अकुशल या अहेतुक चित्तो मे सम्प्रयुक्त नही होते। उपर्युक्त ५२ चैतसिको मे से ईर्ष्या, मात्सर्य, कौकृत्य, विरतित्रय, करुणा, मुदिता, मान, स्त्यान और मिद्ध – ये ११ चैतसिक 'अनियतयोगी' कहे जाते है, क्योकि ये सर्वदा पृथक् पृथक् तथा कदाचिद् उपलब्ध होते है। इनमे स्त्यान और मिद्ध सर्वथा साथ उपलब्ध होते है।

सम्प्रयोगनय और सग्रहनय – ये दो नय होते है। इनमे से सम्प्रयोगनय द्वारा चैतसिको से सम्प्रयुक्त होनेवाले चित्तो को दिखलाया गया है तथा सग्रहनय द्वारा चित्तो से सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिको को दिखलाया गया है।

तृतीय परिच्छेद – पहले दो परिच्छेदो मे चित्त और चैतसिक धर्मो का सविस्तर प्रतिपादन किया गया है। उनमे से चित्त यद्यपि भूमि, जाति-आदि भेद से अनेकविध कहे गये है, तथापि 'आलम्बनविजानन' – इस लक्षण से वह एकविध ही होता है तथा चैतसिक अपने-अपने पृथक् लक्षणो (स्वलक्षण) को धारण करने से ५२ होते है। इस परिच्छेद मे इन स्वभावभूत ५३ (चित्त १+चैतसिक ५२=५३) धर्मो का वेदना-आदि भेद से ६ प्रकार का सग्रह दिखलाया गया है, यथा – वेदनासग्रह, हेतुसंग्रह, कृत्य-सग्रह, द्वारसग्रह, आलम्बनसग्रह और वस्तुसग्रह।

आलम्बनानुभवन – इस नय के अनुसार वेदनाये तीन होती है, यथा – सुख, दु ख और उपेक्षा तथा इन्द्रियभेद नय से वे (वेदनाये) पाँच प्रकार की होती है, यथा – सुख, दु ख, सौमनस्य, दौर्मनस्य एव उपेक्षा। जिसमे इन वेदनाओ के आधार पर चित्त-चैतसिक धर्मो का विभाजन किया जाता है, उसे 'वेदनासंग्रह' कहते है। अर्थात् इस सग्रह मे यह दिखलाया गया है कि किस वेदना से कितने चित्त सम्प्रयुक्त होते है। यद्यपि इसमे वेदना से सम्प्रयुक्त चित्तमात्र प्रदर्शित किये गये है, तथापि चित्त का ज्ञान हो जाने पर वेदना से सम्प्रयुक्त चैतसिको का ज्ञान भी आसान हो जाता है।

हेतुसग्रह मे ६ प्रकार के हेतु कहे गये है, यथा – लोभ, द्वेष और मोह तथा अलोभ, अद्वेष और अमोह। इनमे लोभ, द्वेष और मोह – ये तीन अकुशल तथा अलोभ, अद्वेष और अमोह – ये तीन कुशल और अव्याकृत हेतु है। हेतु 'मूल' को कहते है। ये कुशल, अकुशल आदि चित्तो के मूल है। अर्थात् इनकी वजह से कुशल, अकुशल एव अव्याकृत चित्त उत्पन्न होते है। जिसमें इन हेतुओ के आधार पर चित्त-चैतसिक धर्मों का विभाजन किया जाता है, उसे 'हेतुसग्रह' कहते है। अर्थात् इस सग्रह मे यह प्रदर्शित किया गया है कि किस हेतु से कितने चित्त प्रवृत्त होते है तथा किस चित्त मे कितने हेतु सम्प्रयुक्त होते है।

कृत्यसग्रह मे चित्तो के १४ कृत्य दिखाये गये है, यथा – प्रतिसन्धि, भवङ्ग, दर्शन, श्रवण, घ्राण (गन्धग्रहण), आस्वादन, स्पर्शन, आवर्जन, सम्पटिच्छन, सन्तीरण, व्यवस्थापन (वोट्ठपन), जवन, तदालम्बन और च्युति।

जैसे लोक मे गमन, आगमन आदि व्यापार 'कृत्य' कहे जाते है, उसी तरह एक भव से अपर भव का प्रतिसन्धान (जोडना)-आदि करना 'प्रतिसन्धि' आदि १४ कृत्य है। ये चित्तो की क्रियाये है। इन कृत्यो के ज्ञान से चित्तो के स्वभाव का सम्यक् परिज्ञान हो जाता है। इन कृत्यो के मध्य मे १० स्थान होते है। यहाँ 'स्थान' शब्द किसी देशविशेष का वाचक नही, अपितु कालविशेष का वाचक है। जिस क्षणविशिष्ट काल मे प्रतिसन्धि-आदि चित्त प्रवृत्त होते है, उस काल को 'स्थान' कहते है। अर्थात् वीथिप्रवृत्त चित्तो के तीन वारो (चित्तप्रवृत्तियो) मे से पूर्व और पश्चिम वारो के मध्यवर्ती वार से अवच्छिन्न कालविशेष 'स्थान' कहा जाता है। जिसमे इन प्रतिसन्धि, भवङ्ग आदि १४ कृत्यो के आधार पर चित्त-चैतसिक धर्मो का विभाजन किया जाता है, उसे 'कृत्यसग्रह' कहते है।

द्वारसग्रह मे ६ द्वारो का वर्णन किया गया है, यथा—चक्षुर्द्वार, श्रोत्रद्वार, घ्राण-द्वार, जिह्वाद्वार, कायद्वार और मनोद्वार। यहाँ चक्षु प्रसाद ही चक्षुर्द्वार है। इसी प्रकार श्रोत्रप्रसाद श्रोत्रद्वार, घ्राणप्रसाद घ्राणद्वार, जिह्वाप्रसाद जिह्वाद्वार, कायप्रसाद कायद्वार तथा मनस् (भवङ्ग) ही मनोद्वार है। जैसे लोक मे मनुष्यो के निर्गम और प्रवेश के स्थान को 'द्वार' कहते है, उसी प्रकार यहाँ वीथिचित्तो का प्रवेशस्थान 'द्वार' कहा गया है। जिसमे इन ६ द्वारो के आधार पर चित्तचैतसिक धर्मो का विभाजन किया जाता है, उसे 'द्वारसग्रह' कहते है। अर्थात् इस सग्रह मे यह दिखाया गया है कि किस द्वार मे कितने वीथिचित्त प्रवृत्त होते है तथा कितने चित्त 'द्वारविमुक्त' है।

आलम्बनसग्रह मे ६ आलम्बन कहे गये है, यथा—रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य और धर्म। उपर्युक्त ६ द्वारो मे प्रवृत्त होनेवाले चित्तो के ग्राह्य (विषय) 'आलम्बन' कहे जाते है। आलम्बनो के बिना चित्तो का उत्पाद (प्रवृत्ति) असम्भव है तथा आल-म्बनों के बिना चित्तो का परिज्ञान भी अशक्य है। अत आलम्बनो का ज्ञान अत्यन्त अपेक्षित होता है। जिसमे इन ६ आलम्बनो के आधार पर चित्त-चैतसिक धर्मो का विभाजन किया जाता है, उसे 'आलम्बनसग्रह' कहते है। अर्थात् इस सग्रह मे यह प्रदर्शित किया गया है कि चक्षुर्द्वारिक आदि वीथिचित्त किन आलम्बनो मे प्रवृत्त होते है तथा द्वार-विमुक्त चित्त किन आलम्बनो मे प्रवृत्त होते है। इस सग्रह मे चित्त-चैतसिकको के सभी आलम्बन यथायोग्य दिखलाये गये है, अत इस सग्रह का परिशीलन अपेक्षित है।

वस्तुसग्रह मे ६ वस्तुये प्रतिपादित है, यथा—चक्षुर्वस्तु, श्रोत्रवस्तु, घ्राणवस्तु, जिह्वावस्तु, कायवस्तु और हृदयवस्तु। चित्त-चैतसिको के आश्रय (उत्पत्तिस्थान) को 'वस्तु' कहते है। अर्थात् चित्त इन वस्तुओ मे आश्रित होकर विषयो का ग्रहण करते है। जिसमे इन षड्विध वस्तुओ के आधार पर चित्त-चैतसिक धर्मो का विभाजन किया जाता है, उसे 'वस्तुसग्रह' कहते है। अर्थात् इस सग्रह मे यह दिखलाया गया है कि कितने चित्त किस वस्तु का आश्रय करते है तथा कौन वस्तु किस भूमि मे होती है।

इन षड्विध सग्रहो का ज्ञान अत्यन्त अपेक्षित है। इनके ज्ञान से ही चित्त-चैतसिक सम्बन्धी ज्ञान परिपूर्ण होता है। इनके अभाव मे चित्त-चैतसिको का ज्ञान

अपूर्ण ही कहा जायगा। जैसे – किस चित्त मे कौन वेदना सम्प्रयुक्त होती है, उस चित्त की प्रवृत्ति का हेतु कौन है, उसका कृत्य क्या है, वह किस द्वार से प्रवृत्त होता है, वह किस विषय का आलम्बन करता है तथा किस वस्तु (इन्द्रिय) मे आश्रित होकर आलम्बन का परिच्छेद करता है। ये सग्रह परस्पर अत्यधिक सम्बद्ध हैं। इनके बिना वीथि का ज्ञान कठिन है, अत आचार्य अनुरुद्ध ने वीथिपरिच्छेद से पूर्व इस परिच्छेद मे इनका सम्यक् प्रतिपादन किया है।

चतुर्थ परिच्छेद – इस परिच्छेद मे प्रधानत चित्तवीथियो का दिग्दर्शन कराया गया है। वीथि 'मार्ग' (रास्ते) को कहते हैं। जिस प्रकार लोक मे छोटे-बडे, टेढे मेढे अनेक रास्ते होते है, उसी प्रकार चित्त की गतियाँ भी अनेकविध होती है। मार्ग के सदृश होने से इन्हे 'वीथि' कहते है। यह परिच्छेद अभिधर्म की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमे चित्त की गतियो का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है, यहाँ तक कि एक क्षण मे होनेवाले चित्त का भी अनेक प्रकार से विभाजन किया गया है। इसके अध्ययन से स्थविरवादियो का 'विभज्यवादी' यह नाम अत्यन्त सार्थक प्रतीत होता है।

अभिधर्मशास्त्र मे चित्तो की सन्ततियाँ 'चित्तवीथि' तथा रूपधर्मो की सन्ततियाँ 'रूपवीथि' कही जाती है। इन वीथियो के सम्यग् ज्ञान के बिना पालि-अट्ठकथाओ का सम्यग् ज्ञान असम्भव है। विपश्यना कम्मट्ठान को आरब्ध करने के अभिलाषी साधको मे अनित्य-अनात्म-दु ख विषयक यथाभूत ज्ञान उत्पन्न होने के लिये इन वीथियो का परिज्ञान परमावश्यक है। एक तरह से ये वीथियाँ बौद्धदर्शन के हृदय की भाँति है।

वीथियाँ मुख्यत दो प्रकार की होती है, यथा – पञ्चद्वारवीथि और मनोद्वारवीथि। पञ्चद्वारवीथि द्वार और आलम्बन की दृष्टि से अनेक प्रकार की होती है। मनोद्वारवीथि भी कामजवनवार मनोद्वारवीथि और अर्पणाजवनवार मनोद्वारवीथि भेद से दो प्रकार की होती है। पुन इनके भी स्वप्नवीथि, मरणासन्नवीथि, ध्यानवीथि, अभिज्ञावीथि, निरोधसमापत्तिवीथि, मार्गवीथि, फलवीथि-आदि अनेक प्रकार होते है। यद्यपि आचार्य अनुरुद्ध ने प्रस्तुत प्रकरण मे कतिपय वीथियो का प्रतिपादन किया है, तथापि विषय के अत्यन्त सूक्ष्म और गम्भीर होने तथा प्रतिपादन अत्यन्त सक्षिप्त होने से उससे जिज्ञासुओ को यथेष्ट लाभ नही हो पाता। प्राचीनकाल से लेकर आज तक की ब्रह्म-देशीय आचार्यपरम्परा ने इन वीथियो को समझने और समझाने के लिये अनेक प्रकार के वीथिसमुच्चयो का प्रणयन किया है। हमने उसी आचार्यपरम्परा का अनुसरण करते हुये चित्तवीथियो के लिये 'वीथिसमुच्चय' नामक एक पृथक् परिशिष्ट चतुर्थपरिच्छेद के अन्त मे उपनिबद्ध किया है। चित्तवीथिविषयक विशेष ज्ञानार्थ उसका अवलोकन करना चाहिये।

चित्तवीथियो के प्रतिपादन के साथ-साथ किस वीथि मे कितने और कौन-कौन जवन होते है – इसके लिये 'जवननियम' का तथा किस जवन के अनन्तर कौन तदालम्बन होता है – इसके लिये 'तदालम्बन नियम' का वीथियो के अन्त मे आचार्य ने

प्रतिपादन किया है। परिच्छेद के अन्त मे कितने प्रकार के पुद्गल होते है और उनमे कौन-कौन वीथिचित्त होते है—इसके ज्ञान के लिये 'पुद्गल भेद' का तथा किस भूमि मे कौन-कौन वीथियाँ होती है और उनमे कितने चित्त होते है—इसके लिये 'भूमि विभाग' का प्रतिपादन किया गया है।

इस परिच्छेद के अध्ययन से मानवजीवन को समझने मे बडी सहायता मिलती है। ये वीथियाँ समुद्र मे तरङ्ग की भाँति मनुष्य के चित्त मे सर्वदा निरन्तर उत्पन्न होती रहती है। न केवल जाग्रत अवस्था मे ही, अपितु सुषुप्ति और मूर्च्छा आदि की अवस्था मे भी ये प्रवृत्त होती रहती है। यह कहा जा सकता है कि ये चित्तवीथियाँ ही मनुष्यजीवन है। अर्थात् जीवित मनुष्य इन वीथियो का पुञ्ज है। इनके द्वारा मनुष्य की प्रवृत्तियो का परिज्ञान होता है और इस तरह इनका मानवीय व्यवहारो से घनिष्ट सम्बन्ध परिलक्षित होता है। ये चित्तवीथियाँ इस त्रैभूमिक ससार मे अनादिकाल से प्रवृत्त होती चली आ रही है और तब तक प्रवृत्त (उत्पन्न) होती रहेगी, जब तक मनुष्य निर्वाण प्राप्त नही कर लेता। बौद्ध लोग शाश्वत आत्मा की सत्ता न मानने पर भी पुनर्जन्म, कर्मफल आदि मानते है। क्षणिकवाद मे ही ये सब कैसे उपपन्न होते है—इसका परिज्ञान इन वीथियो के सम्यक् ज्ञान से भलीभाँति हो जाता है।

पञ्चम परिच्छेद—प्रतिसन्धि, भवङ्ग और च्युति—ये वीथिबाह्य चित्त है। इस प्रकरण मे इन चित्तो का उत्पादक्रम प्रदर्शित किया गया है, अत इसे 'वीथिमुक्त-परिच्छेद' कहते है। चार भूमि, चतुर्विध प्रतिसन्धि, चार कर्म तथा चतुर्विध मरणोत्पत्ति—ये चार चतुष्क इस परिच्छेद के प्रतिपाद्य है।

भूमिचतुष्क मे चार भूमियाँ वर्णित है, यथा—अपाय भूमि, कामसुगतिभूमि, रूपावचर भूमि और अरूपावचर भूमि।

अपायभूमि चतुर्विध है, यथा—निरय (नरक), तिरश्चीन योनि, पैत्र्य विषय (पितृभूमि) और असुरकाय।

कामसुगतिभूमि सात प्रकार की होती है, यथा—मनुष्यभूमि, चातुर्महाराजिक-भूमि, त्रायस्त्रिशभूमि, यामभूमि, तुषितभूमि, निर्माणरतिभूमि और परनिर्मितवशवर्तिभूमि।

रूपावचरभूमि सोलह प्रकार की है, यथा—तीन प्रथम ध्यानभूमि, तीन द्वितीय ध्यानभूमि, तीन तृतीय ध्यानभूमि एव सात चतुर्थ ध्यानभूमि।

भूमियो के प्रतिपादन के अनन्तर प्रतिसन्धिचतुष्क मे पुद्गल किस भूमि मे किस चित्त द्वारा प्रतिसन्धि ग्रहण करता है—यह प्रदर्शित किया गया है। प्रतिसन्धि चार प्रकार की है यथा—अपाय प्रातसन्धि, कामसुगति प्रतिसन्धि, रूपावचर प्रतिसन्धि और अरूपावचर प्रतिसन्धि। इस प्रतिसन्धि चतुष्क मे ही भूमियो के अनुसार सत्त्वो का आयु परिमाण भी दिखलाया गया है।

कर्मचतुष्क मे कर्मो के चार चतुष्क प्रतिपादित है, यथा—कृत्यचतुष्क, पाकदान-पर्यायचतुष्क, पाककालचतुष्क और पाकस्थानचतुष्क।

कृत्यचष्तुक में कृत्य के भेद से ४ कर्म होते है, यथा – जनक, उपष्टम्भक, उपपीडक और उपघातक।

पाकदानपर्यायचतुष्क मे फल देने की दष्टि से ४ कर्म होते है यथा – गरुक (गुरुक) आसन्न, आचिण्ण (आचीर्ण) और कटत्ताकर्म।

पाककालचतुष्क मे फल देने के काल की दृष्टि से कर्मो के ४ विभाग प्रदर्शित है, यथा – दृष्टधर्मवेदनीय, उपपद्यवेदनीय अपरपर्यायवेदनीय और अहोसिकर्म ।

पाकस्थानचतुष्क मे फलप्राप्ति के स्थान की दृष्टि से ४ कर्म कहे गये है यथा – अकुशल, कामावचरकुशल, रूपावचरकुशल और अरूपावचरकुशल।

इस प्रकार इस कर्मचतुष्क मे कुल १६ प्रकार के कर्मो का सम्यग् विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

मरणोत्पत्तिचतुष्क मे मरण के चार प्रकार प्रदर्शित किये गये है, यथा – आयुक्षय से मरण, कर्मक्षय से मरण, उभय (आयु और कर्म) क्षय से मरण तथा उपच्छेदक हेतु से मरण। उपर्युक्त चार प्रकारो मे से ही किसी एक प्रकार से सभी प्राणियो का मरण होता है। इसी मरणोत्पत्तिचतुष्क मे मरण के आसन्नकाल मे प्रतिभासित होनेवाले कर्म, कर्मनिमित्त आदि आलम्बन, मरण की प्रक्रिया तथा नवीन भव मे होनेवाली प्रतिसन्धि का भी सयुक्ति प्रतिपादन किया गया है ।

षष्ठ परिच्छेद – इसमे रूपसमुद्देश, रूपविभाग, रूपसमुत्थान, रूपकलाप तथा रूपप्रवृत्तिक्रम – इस प्रकार ये पाँच विषयविभाग प्रतिपादित है। इनके द्वारा विभिन्न दृष्टियो से २८ रूपो का विभाजन करके उनका निरूपण किया गया है। रूपसमुद्देश मे २८ प्रकार के रूपो का नामनिर्देशमात्र किया गया है। रूपविभाग मे अहेतुक, सप्रत्यय, सास्रव, सस्कृत, लौकिक आदि भेदो से तथा आध्यात्मिक-बाह्य, वस्तुरूप-अवस्तुरूप, द्वाररूप-अद्वाररूप, इन्द्रियरूप-अनिन्द्रियरूप, औदारिकरूप-सूक्ष्मरूप, सप्रतिघरूप-अप्रतिघरूप आदि भेदो से रूपधर्मो का विभाजन करके उनका सविधि प्रतिपादन किया गया है। समुत्थान का अर्थ 'कारण' है। अत रूपसमुत्थान मे २८ प्रकार के रूपो के कर्म, चित्त, ऋतु और आहार नामक चार प्रकार के कारण प्रदर्शित किये गये है। अर्थात् इन चार कारणो द्वारा यथायोग्य सभी प्रकार के रूपधर्म उत्पन्न होते है। कर्म से उत्पन्न रूप 'कर्मज', चित्त से उत्पन्न रूप 'चित्तज', ऋतु से उत्पन्न रूप 'ऋतुज' तथा आहार से उत्पन्न रूप 'आहारज' कहलाते है। अवयवो के समूह को 'कलाप' कहते है। अत रूपकलाप मे यह दिखलाया गया है कि किस रूप मे कितने रूपकलाप उपलब्ध होते है। रूपधर्मो का अन्तिम अवयव 'कलाप' होता है, वह भी अनेक द्रव्यो का समूह होता है। रूप धर्मो की उत्पत्ति निरपेक्ष न होकर अन्यसापेक्ष ही होती है। जब रूप उत्पन्न होते है, तब वे कलापो के रूप मे ही उत्पन्न होते है। एक कलाप मे कम से कम आठ अविनिर्भोग (जिनका विभाग न हो सके) रूप अवश्य होते है। कर्मसमुत्थान कलाप ९, चित्तसमुत्थान कलाप ६, ऋतुसमुत्थान कलाप ४ तथा आहारसमुत्थान कलाप २ होते है। इस तरह कुल २१ प्रकार के कलाप होते है।

आकाशधातु और चार लक्षणरूप – ये ५ रूपधर्म कलाप मे परिगणित नही होते, क्योकि ये क्रमश कलापो के परिच्छेद तथा लक्षणमात्र होते है । अत इन्हे 'कलापाङ्ग' नही कहते । रूपप्रवृत्तिक्रम मे पुद्गल और भूमि की दृष्टि से रूपधर्मो के उत्पाद एव निरोध का क्रम प्रदर्शित किया गया है ।

यह हमने पहले कहा है कि वीथियाँ दो प्रकार की होती है, यथा – चित्तवीथि और रूपवीथि । रूपवीथियाँ भी अनेक प्रकार की होती है । अभिधर्मशास्त्र के सम्यक् परिज्ञान के लिये रूपवीथियो का ज्ञान भी अत्यन्त अपेक्षित है । ग्रन्थ मे उनका वर्णन नही के बराबर है । एतदर्थ हमने ग्रन्थ के अन्त मे 'वीथिसमुच्चय' (रूपवीथि) नामक एक पृथक् परिशिष्ट उपनिबद्ध किया है । जिज्ञासु पाठक विशेष ज्ञान के लिये उसका अवश्य अवलोकन करे ।

आचार्य ने परिच्छेद के अन्त मे सक्षेप से निर्वाण का भी निरूपण किया है । 'वान' नामक तृष्णा से निर्गत धर्म 'निर्वाण' कहा जाता है । वह (निर्वाण) लोकोत्तर मार्गज्ञान द्वारा साक्षात् करने योग्य होता है तथा मार्ग और फल चित्तो का आलम्बन भी होता है । कर्म, चित्त, ऋतु एव आहार द्वारा सस्कृत न होने से निर्वाण असस्कृत एव लोकोत्तर पद कहा जाता है । एक होने पर भी वह सोपधिशेष और निरुपधिशेष भेद से दो प्रकार का होता है तथा शून्यता, अनिमित्त और अप्रणिहित आकारो के भेद से तीन प्रकार का भी होता है ।

इस तरह उपर्युक्त ६ परिच्छेदो मे आचार्य ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार चित्त, चैतसिक, रूप और निर्वाण – इन चार परमार्थ धर्मो का स्पष्ट निरूपण कर दिया ।

सप्तम परिच्छेद – 'चित्त चेतसिक रूप निब्बानमिति सब्बथा' – अपनी इस पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार आचार्य ने उपर्युक्त ६ परिच्छेदो मे चारो परमार्थ धर्मो का सविधि प्रतिपादन कर दिया है । वे चाहते तो यहाँ ग्रन्थ समाप्त किया जा सकता था, किन्तु परमार्थ धर्मो का स्वभावानुसार समुच्चय दिखलाने के लिये उन्होने 'समुच्चयसग्रह' नामक सप्तम परिच्छेद का उपक्रम किया है । इस परिच्छेद मे चित्त १, चैतसिक ५२, निष्पन्न-रूप १८ और निर्वाण १=७२ वस्तुसत् धर्मो के विभिन्न दृष्टियो से चार प्रकार के संग्रह दिखलाये गये है, यथा – अकुशलसग्रह, मिश्रकसग्रह, बोधिपक्षीयसग्रह और सर्वसग्रह ।

अकुशल धर्मो को सगृहीत करनेवाला सग्रह 'अकुशलसग्रह' कहलाता है । इसमे आस्रव ४, ओघ ४, योग ४, ग्रन्थ ४, उपादान ४, नीवरण ६, अनुशय ७, सयोजन १० और क्लेश १० आदि द्वारा उपर्युक्त धर्मो का विभाजन किया गया है ।

कुशल, अकुशल एव अव्याकृत मिश्रित धर्मो के सग्रह को 'मिश्रकसग्रह' कहते है । इसमे अकुशलसग्रह की भाँति केवल अकुशलधर्म, बोधिपक्षीयसग्रह की भाँति केवल मार्गज्ञान से सम्बद्ध धर्म या सर्वसग्रह की भाँति सभी धर्म सगृहीत नही होते; अपितु कुछ कुशल, कुछ अकुशल एव कुछ अव्याकृत धर्म मिश्रितरूप से सगृहीत होते है । इस सग्रह मे ६ हेतु, ७ ध्यानाङ्ग, १२ मार्गाङ्ग, २२ इन्द्रियाँ, ९ बल, ४ अधिपति, ४ आहार आदि धर्मो द्वारा उपर्युक्त वस्तुसत् ७२ धर्मो का विभाजन किया गया है ।

चार आर्यसत्यो को जाननेवाला मार्गज्ञान 'बोधि' कहलाता है। उस मार्गज्ञान के पक्ष मे उत्पन्न धर्म 'बोधिपक्षीय' कहलाते है । अर्थात् मार्गज्ञान के पक्ष मे उत्पन्न होकर मार्गज्ञान के फल को धारण करनेवाले धर्म बोधिपक्षीय है । उन बोधिपक्षीय धर्मो के सग्रह को 'बोधिपक्षीयसग्रह' कहते है । बोधिपक्षीयधर्म कुल ३७ होते है, यथा – ४ स्मृतिप्रस्थान, ४ सम्यक्प्रधान, ४ ऋद्धिपाद, ५ इन्द्रिय, ५ बल, ७ बोध्यङ्ग और ८ मार्गाङ्ग । इस सग्रह मे इन ३७ धर्मो के द्वारा उपर्युक्त धर्मो का विभाजन किया गया है।

सभी धर्मो अर्थात् चित्त, चैतसिक, रूप और निर्वाण – इन चारो प्रकार के परमार्थ धर्मो को सगृहीत करनेवाला सग्रह 'सर्वसग्रह' कहलाता है। इसमे ५ स्कन्ध, ५ उपादानस्कन्ध, १२ आयतन, १८ धातु और ४ आर्यसत्य वर्णित है। इनके द्वारा उपर्युक्त सभी ७२ वस्तुसत् धर्म विभक्त किये गये है।

अष्टम परिच्छेद – उपर्युक्त स्वभावभूत धर्मो का प्रत्यय-प्रत्ययोत्पन्न सम्बन्ध एव प्रत्ययोत्पन्न (कार्य) धर्मो के उत्पाद मे प्रत्यय (कारण) धर्मो का शक्तिविशेष दिखलाने के लिये इस परिच्छेद का आरम्भ किया गया है । इस परिच्छेद मे प्रतीत्यसमुत्पाद और पट्ठान – इन दो नयो का पृथक् पृथक् निरूपण किया गया है ।

'पच्चयसामग्गि पटिच्च सम सह च पच्चयुप्पन्नधम्मे उप्पादेतीति पटिच्चसमुप्पादो' अर्थात् प्रत्ययसामग्री की अपेक्षा से प्रत्ययोत्पन्न (चित्त-चैतसिक) धर्मो को सम (न्यूनाधिक नही) और सह (युगपत्) उत्पन्न करनेवाले प्रत्ययधर्म 'प्रतीत्यसमुत्पाद' है। इस विग्रह के अनुसार अविद्या, सस्कार आदि पूर्व-पूर्व कारणधर्म ही मुख्यरूप से प्रतीत्यसमुत्पाद है, किन्तु प्रत्ययधर्म भी प्रत्ययोत्पन्न की बिना अपेक्षा के नही हो सकते, अत सस्कार, विज्ञान-आदि प्रत्ययोत्पन्न धर्म भी अविनाभावनियम से प्रतीत्यसमुत्पाद कहे जाते है ।

इस प्रतीत्यसमुपाद का तीन अध्व, बारह अङ्ग, बीस आकार, तीन सन्धि, चार सङ्क्षेप, तीन वट्ट और दो मूलो मे विभाजन कर उसका स्थविरवादी दृष्टिकोण से प्रतिपादन किया गया है।

पट्ठान शब्द मे 'प' (प्र) उपसर्ग 'प्रकार' अर्थ मे तथा ठान (स्थान) शब्द 'कारण' अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। यहॉ प्रत्ययशक्ति और प्रत्ययशक्तिवाले धर्म 'कारण' कहे गये है। 'नानप्पकारानि ठानानि एत्था ति पट्ठान' अर्थात् जिसमे नाना प्रकार की प्रत्ययशक्तियॉ और प्रत्ययशक्तिमान् धर्म प्रतिपादित होते है, उसे 'पट्ठाननय' कहते है। इसमे २४ प्रत्ययो का निरूपण किया गया है । इनमे नामधर्म नामधर्मो का ६ प्रकार की प्रत्ययशक्तियो से, नामधर्म नाम-रूप धर्मो का ५ प्रकार की प्रत्ययशक्तियो से, रूपधर्म रूपधर्मो का एक प्रकार की प्रत्ययशक्ति से, रूपधर्म नामधर्मो का एक प्रकार की प्रत्ययशक्ति से, प्रज्ञप्ति, नाम और रूप धर्म नामधर्मो का २ प्रकार की प्रत्यय-शक्ति से तथा नाम और रूपधर्म नाम और रूप धर्मो का ९ प्रकार की प्रत्ययशक्ति से उपकार करते है – यह स्पष्टरूप से प्रतिपादन किया गया है । यदि २४ प्रत्ययो का सङ्क्षेप किया जाय तो वे आलम्बन, उपनिश्रय, कर्म और अस्ति – इन चार प्रत्ययो मे भी समाविष्ट हो सकते है।

प्रत्ययो के निरूपण के अनन्तर आचार्य ने परिच्छेद के अन्त मे नाम और रूप प्रज्ञप्तियो का भी प्रतिपादन किया है। इनका विद्यमान प्रज्ञप्ति, अविद्यमान प्रज्ञ- आदि ६ भेदो द्वारा सुस्पष्ट विवेचन किया गया है ।

प्रतीत्यसमुपादनय द्वारा कार्य-कारण सम्बन्ध तथा पट्ठाननय द्वारा कार्योत्पाद मे कारण की शक्तियो का सम्यक् ज्ञान हो जाने पर इस जडचेतनात्मक ससार का कोई ईश्वर-आदि कर्ता नही है तथा पञ्चस्कन्धो से भिन्न विषयो का भोक्ता कोई आत्मा नही है—इस प्रकार की निर्मल सम्यक् दृष्टि का उत्पाद होता है। अत इन दोनो नयो का पुन पुन मनन करना चाहिये ।

समस्त अभिधर्मपिटक मे पट्ठानशास्त्र का मूर्धन्यस्थान है। इसे 'महाप्रकरण' भी कहते है। अट्ठकथाओ मे इसका बडा महत्त्व ख्यापित किया गया है। यह अत्यन्त गम्भीर और दुरवबोध है। बर्मा के पण्डितो ने इसके अध्ययन-अध्यापन के लिये अनेक सुगम शैलियो की रचना की है। उनमे से ही एक का आश्रय करके हमने ग्रन्थ के अन्त मे 'पट्ठानसमुच्चय' नामक एक परिशिष्ट का निरूपण किया है । इसमे २४ प्रत्यय सक्षेप से समझाये गये है। विशेष जिज्ञासुओ को उसका अवलोकन करना चाहिये ।

नवम परिच्छेद—उपर्युक्त ८ परिच्छेदो मे चतुर्विध परमार्थ धर्मों का तथा चित्त, चैतसिक और रूप धर्मो के परस्पर कार्य-कारण सम्बन्ध का सम्यक् निरूपण करने के अनन्तर आचार्य ने नाम-रूप धर्मो के यथार्थस्वरूप को जानने के अभिलाषी पुद्गलो के लिये इस अन्तिम परिच्छेद मे कम्मट्ठानविधि का निर्देश किया है। कम्मट्ठान द्विविध हैं, यथा—शमथ कम्मट्ठान और विपश्यना कम्मट्ठान। शमथ कम्मट्ठान मे ४० कम्मट्ठान कहे गये है, जिनकी भावना से समाधि का लाभ होता है। १० कसिण, १० अशुभ, १० अनुस्मृतियाँ, ४ ब्रह्मविहार, १ आहार मे प्रतिकूलसज्ञा, १ चतुर्धातुव्यवस्थान और ४ आरूप्य—ये ४० कम्मट्ठान (कर्मस्थान) है। इनका विस्तृत व्याख्यान परिच्छेद के प्रारम्भ मे ही किया गया है। तदनन्तर विपश्यना कम्मट्ठान का निरूपण किया गया है। इसमे ७ विशुद्धियाँ, ३ लक्षण, ३ अनुपश्यना, १० ज्ञान, ३ विमोक्ष और ३ विमोक्ष-मुख का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है। आचार्य ने इनकी पुद्गल भेद के साथ विस्तृत व्याख्या की है। विपश्यना के सामर्थ्य से ज्ञानलाभ होने पर योगी की स्रोतापन्न-आदि अवस्थाओ का परिच्छेद के अन्त मे सक्षिप्त निरूपण किया गया है। सक्षेपत यही ग्रन्थ की विषयवस्तु है।

आचार्य अनुरुद्ध

प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता आचार्य अनुरुद्ध का अट्ठकथाचार्यो मे महत्त्वपूर्ण स्थान है। बुद्धदत्त, बुद्धघोष और धम्मपाल की रचनाओ के बाद इनके 'अभिधम्मत्थसङ्गहो' का पालिसाहित्य मे विशेष स्थान है। अभिधर्मपिटक के समस्त अभिधेय इसमे सक्षिप्त और सरल रूप से उपनिबद्ध है। यही कारण है कि अभिधर्मपिटक पर बुद्धघोष जैसे आचार्यो की अट्ठकथाओ के विद्यमान रहने पर भी सभी बौद्धदेशो मे अभिधर्म का

अध्ययन प्राय इसी ग्रन्थ से प्रारम्भ किया जाता है। आचार्य अनुरुद्ध के काल के बारे मे विद्वानो मे विभिन्न मत पाये जाते है। कुछ इन्हे ८वी, कुछ १०वी तथा कुछ १२वी शताब्दी का स्वीकार करते है तथा कुछ आचार्य बुद्धघोष और आचार्य धर्मपाल के मध्य मे इनका होना स्वीकार करते है। अधिकाश साम्प्रदायिक विचारक इन्हे बुद्धवस-अट्ठकथा, विनयविनिच्छय, अभिधम्मावतार आदि ग्रन्थो के रचयिता आचार्य बुद्धदत्त का गुरुभाई स्वीकार करते है। यदि यह मत सत्य है, तो हम आचार्य अनुरुद्ध का समय आसानी से निश्चित कर सकते है, क्योकि आचार्य बुद्धदत्त का समय प्राय निश्चित है। आचार्य बुद्धदत्त और आचार्य बुद्धघोष समकालिक थे। बुद्धदत्त, आचार्य बुद्धघोष से पूर्व बुद्धवचनो का अध्ययन करने श्रीलका गये थे। बुद्धघोसुप्पत्ति के अनुसार आचार्य बुद्धदत्त अपना अध्ययन समाप्त कर जिस नाव से जम्बूद्वीप (भारत) लौट रहे थे, उसका मिलान उस नाव से हो गया, जिसमे बैठकर आचार्य बुद्धघोष पालि अट्ठकथाओ की रचना करने भारत से श्रीलका जा रहे थे। दोनो स्थविरो मे परस्पर धर्मसलाप हुआ, उन्होने एक दूसरे की कुशल-क्षेम पूछी। परस्पर परिचय प्राप्त कर लेने के बाद आचार्य बुद्धघोष ने उन्हे कहा कि 'बुद्ध उपदेश सिहली भाषा मे है, मै उनका मागधी रूपान्तर करने लका जा रहा हूँ'। यह सुनकर बुद्धदत्त ने उनसे कहा 'आवुस बुद्धघोष! मै भी इसी उद्देश्य से लका गया था, किन्तु मेरी आयु थोडी ही शेष है, मै इस कार्य को पूर्ण न कर सकूगा'। जब उन दोनो स्थविरो की इस प्रकार बातचीत चल रही थी, तभी दोनो नावे एक दूसरी को छोडकर चल दी। कुछ लोग कहते है कि जिस नाव से आचार्य बुद्धदत्त लौटे थे, उसी से आचार्य बुद्धघोष लका गये थे तथा बुद्धदत्त ने उन्हे कुछ सामान भी दिया था। कुछ भी हो, इस विवरण से दो बाते स्पष्ट होती है। एक तो यह कि बुद्धदत्त, बुद्धघोष से पहले लका गये थे और दूसरी यह कि वे आयु मे बुद्धघोष से बडे थे, क्योकि उपर्युक्त वार्तालाप के अवसर पर उन्होने बुद्धघोष को 'आवुस' कहकर सम्बोधित किया था। भिक्षुसघ मे यह नियम है कि बडे भिक्षु कम उम्र के भिक्षुओ को 'आवुस' कह कर सम्बोधित करते है। इस तरह आचार्य बुद्धदत्त और आचार्य बुद्धघोष का काल प्राय समान ही निश्चित होता है। अन्तर सिर्फ इतना है कि आचार्य बुद्धदत्त उस समय वृद्ध थे और आचार्य बुद्धघोष युवा। यह हमने पहले कहा है कि अधिकाश विचारक आचार्य अनुरुद्ध को आचार्य बुद्धदत्त का गुरुभाई मानते है और उन्हे बुद्धदत्त से छोटा मानते है। इस तरह यह निश्चित होता है कि आचार्य बुद्धघोष और आचार्य अनुरुद्ध दोनो समवयस्क थे, दोनो का काल समान था। विद्वान् लोग आचार्य बुद्धघोष का समय चौथी शताब्दी का अन्तिम भाग और पाँचवी शताब्दी का पूर्व भाग निश्चित करते है। अत यही समय आचार्य अनुरुद्ध का भी मानना चाहिये। यह धारणा इस बात से और भी पुष्ट होती है—यह ज्ञातव्य है कि अभिधर्मकोश के रचयिता आचार्य वसुबन्धु का समय भी प्राय इसी के आसपास है। उन्होने सर्वास्तिवादी अभिधर्म पिटक का सार सगृहीत करके 'अभिधर्मकोश' नामक सग्रहग्रन्थ की रचना की। आचार्य अनुरुद्ध ने भी स्थविरवादी अभिधर्म पिटक का सार सगृहीत करके 'अभिधम्मत्थसङ्गहो' नामक सग्रह-ग्रन्थ की रचना की। यह प्रतीत होता है कि

वह एक युग था जब बौद्धो मे इस प्रकार सक्षिप्त सग्रह-ग्रन्थो के प्रणयन की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई थी। क्योकि इस समय तक अभिधर्म पिटक पर टीका-टिप्पणियो के रूप मे इतना विस्तृत साहित्य निर्मित हो चुका था कि नये लोगो को उसमे प्रवेश करना कठिन प्रतीत होने लगा था, अत सभी बौद्धो की सभी शाखाओ मे नये लोगो के लिये अभिधर्मपिटक के अध्ययन से पूर्व छोटे-छोटे ग्रन्थ लिखे जाने लगे थे। अत आचार्य वसुबन्धु और आचार्य अनुरुद्ध का समय लगभग समान होना चाहिये। इस तरह आचार्य अनुरुद्ध का समय पाँचवी शताब्दी का प्रारम्भिक भाग निश्चित किया जा सकता है[1]।

ग्रन्थ रचनायें—प्रसिद्धि है कि आचार्य अनुरुद्ध ने प्रस्तुत ग्रन्थ की भाँति ९ लघु अट्ठकथाओ का भी निर्माण किया था, किन्तु इनमे से आजकल अभिधम्मत्थसङ्गह, नामरूप-परिच्छेद और परमत्थविनिच्छय—ये तीन ग्रन्थ ही उपलब्ध है, अन्य रचनाये उपलब्ध नही होती। इनमे मुख्य तो परमत्थविनिच्छय ही है, किन्तु 'अभिधम्मत्थसङ्गहो' अधिक सरल और सक्षिप्त होने से स्थविरवादी बौद्ध देशो मे अधिक प्रचलित हो गया और इसी कारण इसका अन्यत्र भी प्रसार हुआ। बर्मा मे तो इसे (अभिधम्मत्थसगहो को) 'कनिष्ठ अट्ठकथा' कहा जाता है। बर्मा मे तालपत्रों मे सुरक्षित (अप्रकाशित) अभिधम्म-गण्ठि के रचयिता कुछ विद्वानो के मतानुसार आचार्य अनुरुद्ध ही है, तथापि इस बारे मे अभी निश्चितरूप से कुछ कहा नही जा सकता।

परमत्थविनिच्छय के निगमनवाक्य को देखने से ज्ञात होता है कि आचार्य अनुरुद्ध दक्षिण भारत के काञ्ची राज्य के कावेरी नगर के रहनेवाले थे। आचार्य बुद्धदत्त भी यही के निवासी थे। आचार्य बुद्धघोष ने भी कुछ दिन यहाँ निवास किया था। इससे प्रतीत होता है कि काञ्चीपुर ४थी ५वी शताब्दी के आसपास स्थविरवादी बौद्धधर्म का प्रमुख केन्द्र था और यही से विद्वान् भिक्षु श्रीलका जाकर पालिसाहित्य का अध्ययन किया करते थे। आचार्य अनुरुद्ध भी श्रीलका गये थे और प्रस्तुत ग्रन्थ का निर्माण उन्होने वहाँ अनुराधपुर के 'मूलसोम' नामक विहार मे रहते हुये किया था।

इस विहार के नाम के बारे मे विद्वानो मे परस्पर बहुत विप्रतिपत्तियाँ है। कुछ विद्वान् इसे 'तुमूलसोम' तथा कुछ विद्वान् 'मूलसोम' कहते है। इन विप्रतिपत्तियो का कारण ग्रन्थ के अन्त मे लिखी हुई 'पुञ्ञेन तेन विपुलेन तु मूलसोम'—यह गाथा है। इसमे 'तु' के योग-विभाग से उपर्युक्त दो प्रकार की धारणाओ को जन्म मिलता है। 'तुमूलसोम' के पक्षपाती आचार्य 'तुमूल' शब्द का अर्थ 'महा' करते है और इस प्रकार वे 'तुमूलसोम' का अर्थ 'महासोम-विहार' करते है। किन्तु पालि और सस्कृत मे 'तुमूल' शब्द कही उपलब्ध नही होता, केवल 'तुमुल' शब्द उपलब्ध होता है और इसका अर्थ 'महा' न होकर 'भयानक' होता है। अधिकतर यह शब्द युद्ध आदि के प्रसङ्ग मे प्रयुक्त होता है। कही कही यह शब्द विपुल या विशाल अर्थ मे भी प्रयुक्त हुआ है, यथा—'तुमुलवाजिसेना'। किन्तु वेस्सन्तर जातक के "अवेत्थ वत्तती सद्दो,

१ द्र०—बर्मी भाषा मे लिखित 'त्रिपिटक का इतिहास' पृ० १२१ एव ब० भा० टी०।

तुमुल भेरवो महा" – इस वचन से ज्ञात होता है कि 'तुमुल' शब्द 'महा' का पर्यायवाची नही है, क्योंकि यहाँ 'तुमुल' और 'महा' का पृथक् पृथक् प्रयोग किया गया है। आचार्य अनुरुद्ध ने 'तु' शब्द का प्रयोग ग्रन्थ मे अनेक स्थलो पर 'वचनश्लेष' अर्थ मे किया है, यथा – 'ञानमेकेकमन्ते तु' तथा 'छधा नाम तु नामस्स' इत्यादि। अत 'पुञ्ञेन तेन विपुलेन तु मूलसोम' – इस गाथा मे भी 'तु' यह वचनश्लेषपरक निपात ही है। उपर्युक्त विवेचन से यही सुस्पष्ट होता है कि आचार्य अनुरुद्ध का विहार 'तुमूलसोम' न होकर 'मूलसोम' ही था[१]।

टीकायें

ग्रन्थ के महत्त्व पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। यही कारण है कि इस पर समय समय पर अनेक टीकाये लिखी जाती रही। सम्भवत. पालिसाहित्य मे इस ग्रन्थ पर लिखी गई टीकाओ की सख्या सर्वाधिक है। पालि मे तो इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाये लिखी ही गई, साथ ही बर्मा, लका, स्याम (थाईलैंड) आदि बौद्ध देशो मे तत्तद् भाषाओ मे भी इस पर प्रभूत साहित्य का निर्माण हुआ है। बर्मा, जो १५वी शताब्दी से बौद्ध धर्म के अध्ययन का विशेषत अभिधर्म के अध्ययन का प्रमुख केन्द्र हो गया है, वहाँ तब से लेकर आजतक इस ग्रन्थ के चारो ओर पालि और बर्मी भाषा मे अनेक सहायक ग्रन्थो का निर्माण हुआ है।

पालि टीकायें – पालि टीकाओ की सख्या लगभग १९ है, उनमे से उपलब्ध प्रमुख टीकाओ का नीचे उल्लेख किया जा रहा है –

१ **अभिधम्मत्थसङ्गहटीका** – इसे 'पोराणटीका' भी कहते है। अभिधम्मत्थसङ्गहो की यह एक सक्षिप्त और प्राचीन टीका है, जैसा कि इसके नाम से ही प्रकट है। इसके लेखक १२वी शताब्दी के आचार्य 'नवविमलत्थेर' है। यह बर्मी लिपि मे प्रकाशित है और वहाँ उपलब्ध है।

२ **अभिधम्मत्थ विभावनी टीका** – इसके रचयिता १२वी शताब्दी के सिहली भिक्षु सारिपुत्त के प्रमुख शिष्य सिहली भिक्षु सुमङ्गल स्वामी है। यह टीका अभिधम्मत्थसङ्गहो पर लिखी गई अन्य पालिटीकाओ मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और गम्भीर है। यद्यपि बर्मा के प्रसिद्ध विद्वान् लैदी सयाडो ने परमत्थदीपनी टीका लिखकर इस टीका का ३२५ स्थानो पर खण्डन किया है, तथापि उससे इस टीका का महत्त्व किञ्चित् भी न्यून नही हुआ, अपितु बढा ही है। यही कारण है कि परवर्ती अर्वाचीन आचार्यों ने परमत्थदीपनी के खण्डन और इस टीका के समर्थन मे अनेक टीका-ग्रन्थो की रचनाये की। विभावनी-गण्ठी के रचयिता ने लिखा है कि इस टीका मे केवल ९ स्थानो पर ही प्रमादलेख मिलता है, जबकि परमत्थदीपनीकार ने ९७ स्थानो पर प्रमादलेख होना दिखलाया है। गण्ठीकार ने सयुक्ति प्रतिपादन किया है कि परमत्थदीपनीकार ने जिन ३२५ स्थानो पर विभावनी का खण्डन किया है, उनमे २२८ स्थानो का खण्डन कथमपि युक्तिपूर्ण नही है।

---

१. विहार के इतिहास के बारे मे द्र० – लैदी पण्डित कृत 'परमत्थसंखेपटीका' बुद्धशासन कौसिल, बर्मा १९६४।

टीका के अन्त मे आचार्य ने स्वय लिखा है कि मैने इस टीका का प्रणयन २४ दिनो मे किया है। इससे उनके गम्भीर पाण्डित्य का सहज अनुमान किया जा सकता है। इस टीका की रचना उन्होने अनुटीकाओ और विसुद्धमग्ग-महाटीका के आधार पर की है, अत इसकी अभिधर्मसम्बन्धी पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या अत्यन्त प्रामाणिक है। इस टीका की इतनी प्रामाणिकता और लोकप्रियता के कारण ही यह सर्वत्र पाठ्य-ग्रन्थ के रूप मे निर्धारित है। इसका सम्पादन नागरी अक्षरो मे भदन्त रेवतधर्म ने अभी हाल मे ही जनवरी १९६५ मे किया है।

३ अभिधम्मत्थसङ्गह-संखेप टीका—इसके रचयिता सिहली भिक्षु सारिपुत्त के शिष्य भदन्त धम्मकेतु नामक छपद महास्थविर हैं। कुछ लोगो के अनुसार इसके रचयिता बर्मानिवासी भिक्षु सद्धम्मजोतिपाल स्थविर है। इनका काल १२वी शताब्दी माना जाता है। जैसा कि इसके नाम से प्रकट है, यह अभिधम्मत्थसङ्गह की सक्षिप्त टीका है। यह बर्मी लिपि मे प्रकाशित है और वहाँ उपलब्ध होती है। भारत मे नागरी अक्षरो मे अभी इसका प्रकाशन नही हुआ है।

४ परमत्थदीपनी टीका—इसके रचयिता १९वी शताब्दी के बर्मा के प्रसिद्ध विद्वान् भदन्त ञाण नामक 'लैदी सयाडो' हैं। ये आधुनिक युग के बहुत बडे पण्डित हुये हैं। इन्होने बौद्ध-धर्म के विभिन्न विषयो पर पालि और बर्मी मे छोटे बडे लगभग ५०० ग्रन्थो की रचना की है। इनके ग्रन्थ अत्यधिक प्रमाणभूत माने जाते हैं तथा बर्मा मे इनका बडे आदर से अध्ययन किया जाता है। 'लैदी' यह उनके निवासस्थान का नाम है तथा 'सयाडो' का अर्थ बर्मी भाषा मे 'महास्थविर' होता है। इनके विहार के मन्दिर की भित्ति पर इनके सारे ग्रन्थ शिलापट्ट पर अङ्कित हैं। अग्रेजो ने इन्हे सर्वप्रथम 'अग्गमहा-पण्डित' की उपाधि दी थी।

इनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर श्रीमती रायस् डेविड्स् ने इनसे 'अभिधम्मत्थ-सङ्गहो' पर पालि मे एक टीका लिखने की प्रार्थना की। तदनुसार इन्होने प्रारम्भ मे एक टीका लिखी। इस टीका मे इन्होने विषय का अत्यधिक गम्भीर और विस्तारपूर्वक विवेचन किया, किन्तु वह टीका सामान्य जनो को अत्यन्त दुरवबोध प्रतीत हुई। फलत श्रीमती रायस् डेविड्स ने इनसे इस टीका को सरल और सक्षिप्त रूप से पुन लिखने की प्रार्थना की। उनका आग्रह मान कर आचार्य ने दुबारा एक सरल टीका लिखी। ये दोनो टीकाये 'परमत्थदीपनी' ही कहलाती हैं। बर्मा मे इन दोनों का प्रकाशन हुआ है और आजकल उपलब्ध है। आचार्य ने इन टीकाओ मे विभावनी का तात्त्विक खण्डन किया है और स्थल स्थल पर विभावनीकार की भूले प्रदर्शित की है। इन्होने अपनी टीका पर बर्मी भाषा मे 'निस्सय' भी लिखा है। द्वितीय लघु परमत्थदीपनी का प्रणयन १८९८ ई० मे पूर्ण हुआ। श्रीलङ्का मे इस टीका का अत्यधिक आदर से अध्ययन-अध्यापन होता है। नागरी अक्षरो मे इसका अभी तक प्रकाशन नही हुआ है।

५ अंकुरटीका—परमत्थदीपनी के निर्माण के लगभग १५ वर्षों बाद बर्मा में अभिधम्मत्थसङ्गहो पर यह टीका लिखी गई। इसके लेखक प्रसिद्ध विद्वान् भिक्षु 'विमल

सयाडो' है। टीकाकार ने इसमे परमत्थदीपनी का खण्डन करके पुन विभावनी टीका के मतो का युक्तिपूर्वक समर्थन किया है।

६ **नवनीतटीका** – भारतीय आचार्य भिक्षु धर्मानन्द कौशाम्बी द्वारा निर्मित अभिधम्मत्थसङ्गहो की यह एक सक्षिप्त पालिटीका है। यह अत्यन्त सरलभाषा मे लिखी गई है। प्रारम्भिक जिज्ञासुओ के लिये अत्यधिक उपादेय है। इसका महाबोधि सोसाइटी, सारनाथ से १९४१ ई० मे प्रकाशन हुआ है।

इनके अतिरिक्त भदन्त नागिन्दसामी द्वारा विरचित महा-अतुलटीका तथा भदन्त दीपमाल कृत परमत्थविसोधिनी टीका आदि अनेक पालिटीकाये है, जो आजकल बर्मा मे उपलब्ध है।

बर्मी टीकाये – बर्मा मे अभिधम्मत्थसङ्गहो पर बर्मी भाषा मे पचासो टीकाये लिखी गई है। उन सबका वर्णन सम्भव न होगा, अत हम यहाँ उनमे से प्रमुख और सर्वमान्य कुछ टीकाओ का उल्लेख करते है।

१ **अभिधम्मत्थदीपक** – १९वी शताब्दी मे निर्मित अभिधम्मत्थसङ्गहो की यह एक बर्मी टीका है। इसके रचयिता प्रसिद्ध विद्वान् 'बोकुन् सयाडो' है।

२ **सगहअयको** – १९वी शताब्दी मे ही 'बाकया सयाडो' द्वारा अभिधम्मत्थसगहो पर बर्मी भाषा मे यह टीका लिखी गई।

३ **विभावनीगण्ठी** – यह टीका १९२० ई० मे प्रकाशित हुई। इसके लेखक 'मिन् खिन्' है। इससे पूर्व भी इस नाम की एक टीका विद्यमान थी, अत इसे 'नवगण्ठी' भी कहते है।

४ **परमत्थसरूपभेदनी** – लैदीसयाडो से पूर्व बर्मी भाषा मे लिखित अभिधम्मत्थ-सङ्गहो की यह एक विस्तृत टीका है।

५ **•अभिधम्मत्थगुळहत्थदीपनी** – २०वी शताब्दी मे निर्मित अभिधम्मत्थसगहो की यह एक अतिविशाल बर्मी टीका है। यह तीन खण्डो मे प्रकाशित हुई है। प्रत्येक खण्ड मे लगभग ५०० पृष्ठ है। इसके रचयिता आचार्य 'मेधावी सया साई' है।

६ **अभिधम्मत्थसङ्गह भाषा टीका** – इसके रचयिता २० वी शताब्दी के बर्मा के प्रसिद्ध मनीषी अग्गमहापण्डित जनकाभिवस महास्थविर है। इनकी टीका बर्मा मे अत्यधिक प्रमाणभूत मानी जाती है।

उपर्युक्त टीकाओ के अतिरिक्त अभिधम्मत्थसगहो पर विदेशी भाषा मे कुछ अन्य महत्त्व-पूर्ण कार्य हुये है, जिनके कारण यूरोपीय विद्वानो को इस ग्रन्थ से परिचय प्राप्त हुआ है।

इस प्रकार के कार्य का सर्वप्रथम श्रेय बर्मा के विद्वान् 'श्वे जॉ ओंग' को है, जिन्होने इस ग्रन्थ के आधार पर अग्रेजी मे 'काम्पेन्डियम आफ फिलासफी' नामक व्याख्यात्मक ग्रन्थ लिखा। इसका पालि टेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन द्वारा सन् १९१० मे प्रकाशन भी हुआ है।

पालि अभिधर्म और पालिव्याकरण के मर्मज्ञ भारतीय मनीषी भिक्षु जगदीश काश्यप ने अभिधम्मत्यसगहो के आधार पर 'अभिधम्म फिलासफी' नामक एक विचारपूर्ण ग्रन्थ का प्रणयन किया है, जो १९४२ ई० मे प्रकाशित हुआ है और उपलब्ध है।

अभिधम्मत्थसङ्गहो के अब तक दो हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हुये है। पहला अनुवाद बर्मा के भिक्षु वरसम्बोधि ने किया है, जो अपूर्ण है। इसके प्रथम भाग का प्रकाशन भी हुआ है।

दूसरा अनुवाद भारतीय प्रसिद्ध विद्वान् भदन्त आनन्द कौशल्यायन ने किया है, जिसका १९६० ई० मे बुद्ध विहार, लखनऊ द्वारा प्रकाशन हुआ है।

प्रस्तुत अभिधम्मत्थसङ्गहो

और उसकी

अभिधर्मप्रकाशिनी व्याख्या

मूलग्रन्थ–प्रस्तुत सस्करण को हमने आधुनिक दृष्टि से पूर्ण वैज्ञानिक बनाने का यथासम्भव प्रयास किया है। इसके पाठ को शुद्ध करने के लिये अभिधम्मत्थसङ्गहो के विभिन्न ६ सस्करणो से मिलान किया गया है, यथा–सिंहली, स्यामी, रोमन, नागरी और दो बर्मी सस्करण। विभिन्न देशो के इन सस्करणो को जुटाते समय हमने उन (सस्करणो) की प्राचीनता और प्रामाणिकता पर बराबर ध्यान रखा है। सिंहली सस्करण भिक्षु पञ्ञानन्द द्वारा सन् १८९८ मे सम्पादित है। स्यामी सस्करण महामकुट राजविद्यालय द्वारा २४५५ बुद्धाब्द (१९११ ई०) मे प्रकाशित है। रोमन सस्करण पालि टेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन द्वारा १८८४ ई० मे प्रकाशित है। नागरी सस्करण महाबोधि सोसाइटी, सारनाथ द्वारा १९४१ ई० म प्रकाशित है। दो बर्मी सस्करणो मे से प्रथम १९३५ ई० मे भिक्षु जनकाभिवस स्थविर द्वारा सम्पादित है, इसे हमने 'क' लिखा है तथा द्वितीय १९२७ ई० मे सुधम्मावती प्रेस द्वारा प्रकाशित हुआ है, इसे हमने 'ख' लिखा है। उपर्युक्त सस्करण तत्तद् देशो मे अत्यधिक प्रमाण माने जाते है। मिलान करते समय जो पाठ हमे समीचीन और युक्तियुक्त प्रतीत हुआ, उसे हमने मूल मे दिया है तथा अवशिष्ट पाठो का उल्लेख सस्करणनिर्देश के साथ पादटिप्पणी मे कर दिया गया है। बर्मा की एक आचार्य परम्परा के अनुसार कतिपय स्थलो पर हमने कुछ नवीन शब्दो का भी प्रयोग किया है, यथा–'आरम्मण' शब्द के स्थान पर 'आरमण' शब्द का प्रयोग तथा 'आपाथ' शब्द के स्थान पर 'आपात' शब्द का प्रयोग-आदि। इन शब्दो के औचित्य प्रदर्शन के लिये हमने वही टीका मे युक्तियाँ भी प्रदर्शित की है। इतने अधिक विभिन्न सस्करणो से मिलान करके ग्रन्थ के प्रकाशन का सम्भवत यह प्रथम प्रयास है।

अनुवाद–पाठको की सुविधा के लिये मूल पालि के ठीक नीचे हमने उसका हिन्दी अनुवाद भी दिया है। अनुवाद को पूर्ण शास्त्रीय और प्रामाणिक बनाने की चेष्टा की गई है। अनुवाद के नियम का कही भी उल्लघन नही हुआ है। भावावबोध के लिये जहाँ अतिरिक्त वाक्य का अध्याहार करना पडा है, वहाँ हमने उस पूरक वाक्य को कोष्ठक मे दे दिया है। हमारे विचार मे ऐसा पूर्ण और प्रामाणिक अनुवाद हिन्दी मे अभी तक नही हुआ है।

अभिधर्मप्रकाशिनी व्याख्या – इधर बौद्ध साहित्य के अध्ययन की ओर भारतीय शिक्षित समाज की रुचि जागृत हुई है, किन्तु अध्ययन-सामग्री का अत्यधिक अभाव है। पालि अभिधर्म के अध्ययन के लिये सर्वप्रथम अभिधम्मत्थसङ्गहो का अध्ययन नितान्त अपेक्षित है, किन्तु यह ग्रन्थ अत्यन्त सक्षिप्त है। टीका-टिप्पणियो के बिना इसका मर्म समझना अतिदुरूह है। इस पर अनेक प्राचीन पालिटीकाये है, फिर भी भारत मे इस समय वे सर्वथा दुष्प्राप्य है। प्रस्तुत ग्रन्थ प्राय सभी भारतीय शिक्षासस्थानो मे पालि-विषयक पाठ्यग्रन्थ के रूप मे निर्धारित है, किन्तु टीकाओ के अभाव मे छात्रो और अध्यापको के सम्मुख इसके सम्यग् अध्ययन-अध्यापन की बडी समस्या रही है। विद्वानों को इसकी एक ऐसी विस्तृत व्याख्या की बहुत दिनो से कमी महसूस हो रही थी, जिसमे इसकी समस्त पालि-टीकाओ का सार उपनिबद्ध हो, साथ ही जिसकी रचना मे पालि और सस्कृत मे उपलब्ध समस्त सम्बद्ध बौद्ध वाङमय का उपयोग किया गया हो।

अभिधम्मत्थसङ्गहो के अध्ययन-अध्यापन के प्रसङ्ग मे हमे भी यह कमी प्रतीत हुई। फलत हमने इस कार्य को सम्पन्न करने का शुभ सङ्कल्प किया। तदनुसार सन् १९५८ ई० मे कार्य (व्याख्या लिखना) प्रारम्भ कर दिया गया। भारत मे इस विषय से सम्बद्ध ग्रन्थो का प्राय अभाव है। हमारे सामने ग्रन्थो को जुटाने की बडी समस्या थी। हमने इसके लिये अत्यधिक परिश्रम किया। सौभाग्य से हम अपने प्रयत्न मे सफल हुये और हमे इस ग्रन्थ की प्राय सभी पालि-टीकाये, साथ ही कुछ बर्मी टीकाये भी उपलब्ध हो गई। इधर भारत मे नालन्दा से नागरी त्रिपिटक का प्रकाशन हो चुका था तथा उधर बर्मा मे बुद्धशासन-समिति द्वारा कुछ ही वर्ष पूर्व समस्त अट्ठकथा और टीका साहित्य प्रकाशित हो गया था। हम इन ग्रन्थो को भी जुटाने मे सफल हुये। सर्वास्तिवादी, विज्ञानवादी आदि इतर बौद्ध निकायो के अभिधर्मदीप, अभिधर्मामृत, अभिधर्मकोश, अभिधर्मसमुच्चय आदि अभिधर्मसम्बन्धी सस्कृतग्रन्थ भारत मे पहले ही प्रकाशित हो चुके थे, ये भी सौभाग्य से हमे उपलब्ध हो गये। उपर्युक्त इन सब सामग्रियो का इस व्याख्या के निर्माण मे हमने उपयोग करने का प्रयास किया है। उपलब्ध सामग्री का बहुत बडा सङग्रह हमारे पास एकत्र हो गया था, किन्तु अत्यधिक विस्तारभय से उसे यत्र-तत्र सक्षिप्त करना पडा, फिर भी हमने अधिक सङ्कोच नही किया, क्योकि इस व्याख्या के निर्माण के पीछे हमारा यह उद्देश्य रहा है कि अभिधर्म-सम्बन्धी समग्र सामग्री अध्येताओ को एक जगह उपलब्ध हो जाय। व्याख्या के अवसर पर हमने भाषा की अपेक्षा विषय पर अधिक ध्यान रखा है, जिससे पाठको को विषय का अभ्रान्त ज्ञान हो सके।

टिप्पणी – विषय का प्रतिपादन करते समय प्रमाण के लिये व्याख्या मे पचास से अधिक ग्रन्थो से उद्धरण दिये गये है। जहाँ जिन ग्रन्थो से उद्धरण दिये है, वहाँ उन ग्रन्थो की पृष्ठसख्या पादटिप्पणी मे दे दी गई है। जिन ग्रन्थो के आधार पर विषय का निरूपण किया गया है, उन ग्रन्थो का नामनिर्देश तथा यथासम्भव सम्बद्ध स्थल की पक्तियाँ पादटिप्पणी मे उद्धृत कर दी गई है। विषय के विस्तृत ज्ञान के लिये तथा

तुलना के लिये भी सम्बद्ध ग्रन्थो के स्थल पृष्ठाङ्क के साथ पादटिप्पणी मे निर्दिष्ट कर दिये गये है। जिन ग्रन्थो का भारत मे नागरी लिपि मे प्रकाशन हुआ है, अपने कार्य मे हमने उन्ही का उपयोग किया है। नागरी सस्करण अनुपलब्ध होने पर ही अन्य लिपि के सस्करणो का उपयोग किया गया है। अभिधर्मकोश की स्फुटार्था व्याख्या का कुछ अश यद्यपि कलकत्ता से प्रकाशित हुआ है, किन्तु सम्पूर्ण व्याख्या नागरी लिपि मे अनुपलब्ध होने से हमने जापान से प्रकाशित रोमन सस्करण का ही उपयोग किया है। अभिधर्मकोश के तृतीय कोशस्थान तक की पृष्ठसख्या हमने आचार्य नरेन्द्रदेव जी के अभिधर्मकोश से दी है तथा इससे आगे की पृष्ठसख्या महापण्डित राहुल साङ्कृत्यायन के अभिधर्मकोश से दी है।

परिशिष्ट – पूरे ग्रन्थ मे तीन परिशिष्ट दिये गये है, यथा – १ चित्तवीथि परिशिष्ट, २ रूपवीथि परिशिष्ट तथा ३ पट्ठान-समुच्चय परिशिष्ट।

यह ज्ञातव्य है कि स्थविरवादी बौद्धधर्म मे वीथियो का अत्यधिक महत्त्व है। अन्य प्रकार के बौद्धो मे इनका अभाव है। वीथियाँ दो प्रकार की होती है, यथा – चित्तवीथि तथा रूपवीथि। चित्तो की प्रवृत्ति को 'चित्तवीथि' तथा रूपो की प्रवृत्ति को 'रूपवीथि' कहते है। यद्यपि आचार्य अनुरुद्ध ने मूलग्रन्थ के चतुर्थ परिच्छेद मे चित्तवीथियो का तथा षष्ठ परिच्छेद मे रूपवीथियो का वर्णन किया है, किन्तु वह (वर्णन) अत्यन्त सक्षिप्त एव अपूर्ण है। इससे जिज्ञासुओ को वीथिसम्बन्धी यथेष्ट ज्ञान नही हो पाता। यदि इनका सम्यक् परिज्ञान न होगा तो उन्हे अट्ठकथाओ का भी यथार्थ अवबोध न हो सकेगा। एतदर्थ बर्मा की आचार्य परम्परा ने वीथियो के अनायास परिज्ञान के लिये अनेक प्रकार के वीथिसमुच्चयो का प्रणयन किया है। हमने उन्ही के आधार पर चित्तवीथियो के लिये चतुर्थ परिच्छेद के अन्त मे तथा रूपवीथियों के लिये ग्रन्थ के अन्त मे वीथिसमुच्चय के नाम से दो परिशिष्ट उपनिबद्ध किये है। इनमे ऐसी वीथियाँ भी प्रदर्शित की गयी है, जिनका मूलग्रन्थ मे सर्वथा अभाव है। साथ ही प्रारूपो और टीका-टिप्पणियो द्वारा उन्हे समझने योग्य बनाने का प्रयास किया है। इनका बार बार अभ्यास करना चाहिये। हमारा विश्वास है कि इनके अभ्यास से उभयविध वीथियो का परिज्ञान होने मे पाठको को सहायता मिलेगी।

इसी तरह ग्रन्थ के अन्त मे 'पट्ठानसमुच्चय' नामक तीसरा परिशिष्ट भी दिया गया है। यद्यपि आचार्य अनुरुद्ध ने ग्रन्थ के अष्टम परिच्छेद मे पट्ठाननय का प्रतिपादन किया है, किन्तु वहाँ केवल २४ प्रत्ययो का नाममात्र उल्लिखित है। उससे इन प्रत्ययो का यथार्थ स्वरूपावबोध नही हो पाता। क्षणिकवादी बौद्धो का कार्य-कारणभाव समझने के लिये इन प्रत्ययो का स्वरूपज्ञान अत्यन्त अपेक्षित होता है। इसके लिये प्रत्यय, प्रत्ययोत्पन्न और प्रत्यनीक – ये तीन तत्त्व अवश्य ज्ञातव्य होते है। ये ही पट्ठानशास्त्र के सामान्यत अभिधेय है। कारणधर्मो की उस शक्ति को 'प्रत्यय' कहते है, जिससे कार्य धर्म उत्पन्न होते है। इस प्रत्ययशक्ति से युक्त होने के कारण कारणधर्म भी 'प्रत्यय' कहलाते है। इन प्रत्ययों से उत्पन्न होनेवाले कार्यधर्म 'प्रत्ययोत्पन्न' कहलाते है। जिन

धर्मों का प्रत्ययधर्मों द्वारा किसी प्रकार का उपकार नही किया जाता, वे धर्म पट्ठानशास्त्र मे 'प्रत्यनीक' कहे जाते है। इन तीनो प्रकार के धर्मों का ज्ञान होने पर ही किसी प्रत्यय का सम्यक् ज्ञान हो पाता है। सम्पूर्ण अभिधर्मपिटक मे पट्ठानशास्त्र सर्वाधिक गम्भीर है। तीक्ष्णबुद्धि अध्येताओं को भी इसके अध्ययन मे कठिनाई का अनुभव होता है। बर्मा आजकल अभिधर्म के अध्ययन के लिये, विशेषत. पट्ठान के अध्ययन के लिये केन्द्र माना जाता है। वहाँ के मनीषियो ने पट्ठान को सरलता से समझाने के लिये अनेक प्रकार के छोटे-छोटे ग्रन्थो का निर्माण किया है, जिनका पट्ठान के अध्ययन से पूर्व अध्ययन कराया जाता है। हमने उन्ही के आधार पर 'पट्ठानसमुच्चय' नामक परिशिष्ट का ग्रन्थ के अन्त मे निरूपण किया है। हमे आशा है कि इसके पुन पुन मनन से प्रत्ययसम्बन्धी ज्ञान के अर्जन मे जिज्ञासुओं को अवश्य कुछ लाभ होगा।

सूत्रपिटक और विनयपिटक पर तो भारतवर्ष मे कुछ कार्य हुआ भी है, किन्तु अभिधर्मपिटक का तो अभीतक सविधि अध्ययन ही प्रारम्भ नही हो सका है। इस व्याख्या के अध्ययन से यदि अभिधर्म के प्रति रुचि जागृत हो सके और भारत मे अभिधर्म के अध्ययन की परम्परा कायम हो सके तो हम अपने को कृतार्थ समझेगे।

अभिधम्मत्थसङ्गहो की विभावनीटीका, परमत्थदीपनी टीका और बर्मी भाषा-टीका – ये तीन टीकाग्रन्थ प्रस्तुत अभिधर्मप्रकाशिनी व्याख्या के प्रमुख आधारस्तम्भ है। वैसे छिटपुट सामग्री अनेक ग्रन्थो से सङ्कलित की गयी है। विषय का क्रम पूर्णत बर्मी भाषाटीका पर आवृत है। परमत्थदीपनीकार प्राय विभावनी का खण्डन करते है। व्याख्या मे हमने जगह जगह पर दोनों ग्रन्थो के मतभेद प्रदर्शित किये है; किन्तु उनमे हमारा अपना मत प्राय परमत्थदीपनी के साथ है, अत विभावनी के मत को हमने जगह जगह पर विचारणीय लिखा है। बर्मी भाषाटीकाकार ने अनेक स्थलो पर अपना स्वतन्त्र मत स्थापित किया है तथा कुछ स्थलो पर कुछ नवीन समस्याये उठाकर उन्हे विद्वानों के समक्ष समाधान के लिये रखा है। ऐसे स्थलो का हमने पादटिप्पणी में निर्देश कर दिया है। व्याख्या की अधिकतर सामग्री प्राय किसी न किसी ग्रन्थ से ली गयी है। यदि कही असङ्गति या त्रुटि प्रतीत हो तो सहृदय विद्वज्जन उसे हमारी गलती समझकर हमे क्षमा करने की कृपा करे।

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उपकुलपति प्रोफेसर टी० आर० वी० मूर्ति के हम अत्यन्त आभारी है, जिन्होने ग्रन्थ की पाण्डुलिपि देखकर विश्वविद्यालय द्वारा उसके प्रकाशन की अनुमति देकर हमे उपकृत किया है।

वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय के वर्तमान उपकुलपति डा० सुरेन्द्रनाथ शास्त्री के हम चिर कृतज्ञ रहेगे, जिनकी कृपा और तत्परता के कारण यह ग्रन्थ हम इतने शीघ्र आपके सम्मुख उपस्थित कर सके है।

श्रद्धेय भिक्षु जगदीश काश्यप (अध्यक्ष-पालिविभाग, वा. स वि वि वाराणसी) के प्रति हम अपनी कृतज्ञता प्रकट करते है, जिन्होने उचित निर्देश द्वारा हमे सदा

प्रोत्साहित किया है तथा व्याख्या का नामकरण और मङ्गलाचरण देकर हम पर असीम कृपा की है।

परमादरणीय पण्डित श्री जगन्नाथ उपाध्याय (अध्यक्ष—बौद्धदर्शन विभाग, वा स वि विद्यालय, वाराणसी) हमारे गुरु हैं। यह ग्रन्थ उनके आशीर्वाद और प्रेरणा का फल है। हम उनके प्रति श्रद्धावनत हैं।

भूतपूर्व अनुसन्धानसञ्चालक पण्डित श्री क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय, वर्तमान अनुसन्धान-सञ्चालक आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय तथा पण्डित श्रीव्रजवल्लभ द्विवेदी (प्रकाशन—अधिकारी वा स वि वि वाराणसी) के प्रति हम आभार प्रकट करते है, जिन्होंने हमें सर्वदा हार्दिक सहयोग प्रदान किया है तथा हमारी सारी समस्याओं को सुलझाने मे पूर्ण सहायता की है।

हमारे मित्र पण्डित श्री लक्ष्मीनारायण तिवारी (अध्यापक—पालिविभाग, वा स वि वि, वाराणसी) का उपकार हम कभी भूल नही सकते, जिन्होंने समय समय पर अमूल्य सुझाव देकर तथा अपने व्यक्तिगत पुस्तकालय के उपयोग की पूर्ण सुविधा प्रदान करके हमें निश्छल सहायता प्रदान की है।

स्वामी द्वारिकादास शास्त्री और पण्डित श्री परमेश्वर पाण्डेय को हम हृदय से धन्यवाद देते है, जिन्होंने न केवल प्रेसकापी तैयार करने और प्रूफसशोधन मे ही हमारी सहायता की है, अपितु यथावसर सत्परामर्श और प्रोत्साहन देकर हमारी बहुमूल्य सहायता की है।

पण्डित श्री श्यामदेव द्विवेदी (पुस्तकालयाध्यक्ष-विधानसभा-पुस्तकालय, पटना, बिहार) के प्रति हम आभार व्यक्त करते हैं, जिन्होंने अपना पालि-त्रिपिटक उपयोग के लिये देकर हमारा उपकार किया है।

अपने छात्र श्री रमापद चक्रवर्ती को हम धन्यवाद देते है, जिन्होंने परीक्षा के समय अतिशीघ्रता के साथ इतनी लम्बी शब्दानुक्रमणिका और उद्धृत-ग्रन्थ-अनुक्रमणिका लिखकर हमारी सहायता की है।

अन्त मे हम विद्यामन्दिर प्रेस के व्यवस्थापक श्रीकृष्ण चन्द्र बेरी और प्रेस के कर्मचारियो को धन्यवाद दिये बिना नही रह सकते, जिनके सद्व्यवहार और कार्य-कुशलता ने हमें आकृष्ट किया है। पालि जैसी अपरिचित भाषा के मुद्रण मे अनेकविध कठिनाइयो के होने पर भी जिस तत्परता और सौजन्य से इन्होंने सुन्दर प्रकाशन किया है, वह सराहनीय है।

भवतु सर्वमङ्गलम्

बुद्धजयन्तीदिवस
दिनाङ्क १५ ५ ६६

भदन्त रेवतधर्म
और
रामशकर त्रिपाठी

–:★ –

सहायक ग्रन्थ-अनुक्रमणिका
और
संकेत-विवरण

अ० नि०, अ० नि० – अङ्गुत्तर निकाय, नालन्दा सस्करण
अ० नि० अ०, अ० नि० अ० – अङ्गुत्तरनिकाय-अट्ठकथा, बुद्धशासनसमिति बर्मा
अ० नि० अ० टी० – अङ्गुत्तरनिकाय-अट्ठकथा-टीका
अट्ठ० – अट्ठसालिनी (धम्मसङ्गणि – अट्ठकथा), भण्डारकर ओरियन्टल सीरीज, पूना, १९४२ ई०
अभि० स० – अभिधम्मत्थसङ्गहो (प्रस्तुत ग्रन्थ)
अभि० प० – अभिधानप्पदीपिका, बर्मी सस्करण
अभि० प० सू० – अभिधानप्पदीपिकासूची, बर्मी सस्करण
अभि० स० टी० – अभिधम्मत्थसङ्गहटीका (पोराणटीका), बर्मी सस्करण
अभि० को० (आ० न० दे०) – अभिधर्मकोश, आचार्य नरेन्द्र देव द्वारा अनूदित, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद १९५८ ई०
अभि० को० (रा० सा०) – अभिधर्मकोश, राहुल साकृत्यायन द्वारा सम्पादित, काशी विद्यापीठ, वाराणसी, १९८८ वि०
अभि० को० भाष्य – अभिधर्मकोशभाष्य (वसुबन्धुकृत)
अभि० दी० – अभिधर्मदीप, काशीप्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पटना, १९५९ ई०
अभि० मृ० – अभिधर्मामृत, विश्वभारती शान्तिनिकेतन
अभि० व० – अभिधमावतार, बुद्धशासन-समिति, बर्मा
अभि० समु० – अभिधर्मसमुच्चय, विश्वभारती शान्तिनिकेतन, १९५० ई०
अ० को० अ० वि० – अमरकोश की महेश्वरकृत अमरविवेक टीका
इति० अ० – इतिवुत्तक-अट्ठकथा, बुद्धशासन-समिति, बर्मा
उदान० अ० – उदान-अट्ठकथा, बुद्धशासनसमिति, बर्मा
क० न्या० – कच्चायन न्यास, सिंहली सस्करण
क० व० – कच्चायनवण्णना, औरियन्टल पब्लिसर्स, वाराणसी
क० सू० – कच्चायनसूत्र, कच्चायनव्याकरण, तारापब्लिकेशन, वाराणसी
कथा० – कथावत्थु, नालन्दा सस्करण
कथा० अ० – कथावत्थु-अट्ठकथा, बुद्धशामन-समिति, बर्मा
कथा० अनु० – कथावत्थु-अनुटीका, बुद्धशासन-समिति, बर्मा
कथा० मू० टी० – कथावत्थु-मूल टीका, बुद्धशासनसमिति, बर्मा
का० – कारिका
खु० नि० – खुद्दकनिकाय, नालन्दा सस्करण
खु० नि० अ० – खुद्दकनिकाय-अट्ठकथा, बुद्धशासनसमिति, बर्मा

खु० पा० – खुद्दकपाठ, नालन्दा सस्करण
खु० पा० अ० – खुद्दकपाठ-अट्ठकथा, बुद्धशासन-समिति, बर्मा
खुद्दकसिक्खा, बर्मी सस्करण
चतु० भा० – चतुर्थ भाग
च० पि० अ० – चरियापिटक-अट्ठकथा, बुद्धशासन-समिति, बर्मा
चुल्ल० – चुल्लवग्ग (विनयपिटक), नालन्दा सस्करण
जा० – जातक, नालन्दा सस्करण
जा० अ०, जातक अ० – जातक-अट्ठकथा, बुद्धशासन-समिति, बर्मा
जिना० – जिनालङ्कार, के डी जे गुणतुङ्ग द्वारा प्रकाशित, श्रीलङ्का १९१३
जिना० व० – जिनालङ्कारवण्णना, के डी जे गुणतुङ्ग द्वारा प्रकाशित, अलुतगम, बेन्तोटा, श्रीलङ्का १९१३ ई०
टि० – टिप्पणी
तत्त्व० – तत्त्वसङ्ग्रह, ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट, बडौदा
तत्त्व० प० – तत्त्वसङ्ग्रहपञ्जिका, ओरियन्टल इन्स्टीच्यूट, बडौदा
त्रि० – त्रिंशिका, सिल्वा लेवी द्वारा प्रकाशित, पेरिस १९२५ ई०
त्रि० भा० – त्रिंशिकाभाष्य, सिल्वा लेवी द्वारा प्रकाशित, पेरिस १९२५ ई०
तु० – तुलनीय
तृ० भा० – तृतीय भाग
थेरी० अप० – थेरी-अपदान, नालन्दा संस्करण
दिव्या० – दिव्यावदान, मिथिला रिसर्च इन्स्टीच्यूट, दरभगा
दी० नि० – दीघनिकाय, नालन्दा संस्करण
दी० नि० अ० – दीघनिकाय-अट्ठकथा, बुद्धशासन-समिति, बर्मा
दीप० – दीपवंस, (रोमन सस्करण) ओल्डेनबर्ग द्वारा सम्पादित
द्र० – द्रष्टव्य
द्वि० भा० – द्वितीय भाग
धम्म० – धम्मपद, नालन्दा सस्करण
ध० प० अ० ; धम्म० अ० – धम्मपद-अट्ठकथा, बुद्धशासन-समिति, बर्मा
ध० स० – धम्मसङ्गणि, नालन्दा संस्करण
ध० स० अनु० – धम्मसङ्गणि-अनुटीका, बुद्धशासन-समिति, बर्मा
ध० स० मू० टी० – धम्मसङ्गणि-मूलटीका, बुद्धशासन-समिति, बर्मा
धातु० – धातुकथा, नालन्दा सस्करण
धा० म० – धातुमञ्जूसा (कच्चायनसम्प्रदाय)
नव० टी० – नवनीतटीका (आचार्य धर्मानन्द कौशाम्बी विरचित अभिधम्मत्थसगहो की पालि-टीका) महाबोधि सोसाइटी, सारनाथ, वाराणसी १९४१ ई०
ना० – अभिधम्मत्थसङ्गहो का नागरी संस्करण, महाबोधि सोसाइटी, सारनाथ, १९४१
नाम० परि०, नाम० प० – नामरूपपरिच्छेद, पालिटेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन

नेत्ति० – नेत्तिप्पकरण, बुद्धशासन-समिति, बर्मा
पञ्च० निपा० – अङ्गुत्तरनिकाय का पञ्चक निपात,
प० – पट्ठान, नालन्दा सस्करण
पट्ठान अ० – पट्ठान-अट्ठकथा, बुद्धशासन-समिति, बर्मा
पट्ठान अनु० – पट्ठान-अनुटीका, बुद्धशासन-समिति, बर्मा
पट्ठान मू० टी० – पट्ठानमूलटीका, बुद्धशासन-समिति, बर्मा
पटि० म० – पटिसम्भिदामग्ग, नालन्दा सस्करण
पटि० म० अ० – पटिसम्भिदामग्ग-अट्ठकथा, बुद्धशासन-समिति, बर्मा
पटिसम्भिदामगटीका, बर्मी सस्करण
प० दी० – परमत्थदीपनी, बर्मी सस्करण,
परम० वि० – परमत्थविनिच्छय, स्यामी सस्करण
परमत्थसरूपभेदनी, (अभिधर्मटीका), बर्मी सस्करण
परि० – परिच्छेद
पाचि० – पाचित्तिय, नालन्दा सस्करण
पारा० – पाराजिक, नालन्दा सस्करण
पारा० अ० – पाराजिक-अट्ठकथा, बुद्धशासन-समिति, बर्मा
पा० टे० सो० डि० – पालि-इग्लिश डिक्शनरी, पालि टेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन
पु० प० – पुग्गलपञ्ञत्ति, नालन्दा सस्करण
पु० प० अ० – पुग्गलपञ्ञत्ति-अट्ठकथा, बुद्धशासन-समिति, बर्मा
पृ० – पृष्ठ
प्र० भा० – प्रथम भाग
प्र० वा० – प्रमाणवार्तिक, राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित, १९३७
प्रसन्न, प्रस० – प्रसन्नपदा (आचार्य चन्द्रकीर्ति विरचित माध्यमिक कारिका टीका), पूसे द्वारा सम्पादित, बिब्लिओथिका बुद्धिका, सेन्टपीटर्सवर्ग
बोधि० – बोधिचर्यावतार, मिथिला इन्स्टीच्यूट, दरभगा
बोधि० प० – बोधिचर्यावतारपञ्जिका, मिथिला इन्स्टीच्यूट, दरभगा
ब्रह्म० सु० – ब्रह्मजालसुत्त
ब० भा० टी० – बर्मीभाषाटीका (अभिधम्मत्थसगहो की बर्मी भाषा मे लिखित टीका)
भ० ना० – भरतनाट्यशास्त्र
म० नि० – मज्झिमनिकाय, नालन्दा सस्करण
म० नि० अ० – मज्झिमनिकाय-अट्ठकथा, बुद्धशासन-समिति, बर्मा
म० प० – मज्झिमपण्णासक
मणि० – मणिसारमञ्जूसा (विभावनी की टीका), बर्मी संस्करण
मधुटीका – (अभिधर्मपिटक की टीका), बर्मी संस्करण
म० – अभिधम्मत्थसङ्गहो का बर्मी (मरम्म) सस्करण
मनु० – मनुस्मृति

महा० सू० – महायानसूत्रालकार, सिल्वा लेवी द्वारा प्रकाशित १६०७

म० व० – महावग्ग, नालन्दा सस्करण

महा० व्यु० – महाव्युत्पत्ति, बिब्लिओथिका बुद्धिका, सेन्टपीटर्सवर्ग १६१०

माध्य० – माध्यमिक कारिका (नागार्जुन कृत), पूसे द्वारा सम्पादित, बिब्लिओथिका वुद्धिका, सेन्टपीटर्सवर्ग

मिलि० – मिलिन्दपञ्हो, बम्बई, यूनिवर्सिटी, १६४०

यमक – नालन्दा सस्करण

यमक अ० – यमक-अट्ठकथा, बुद्धशासन-समिति, बर्मा

यमक अनु० – यमक-अनुटीका, बुद्धशासन-समिति, बर्मा

यमक मू० टी० – यमक-मूलटीका, बुद्धशासन-समिति, बर्मा

यो० सू० – योगसूत्र

रो० – अभिधम्मत्थसगहो का रोमनसस्करण, जर्नल आफ पालिटेक्स्ट-सोसाइटी, १८८४

वि० पि० – विनय पिटक, नालन्दा सस्करण

वि० पि० अ० – विनयपिटक-अट्ठकथा, बुद्धशासन-समिनि, बर्मा

विभ० – विभङ्ग, नालन्दा सस्करण

विभ० अ० – विभङ्ग-अट्ठकथा, बुद्धशासन-समिति, बर्मा

विभ० अनु० – विभङ्ग-अनुटीका, बुद्धशासन-समिति, बर्मा

विभ० मू० टी० – विभङ्गमूलटीका, बुद्धशासन-समिति, बर्मा

विभा० – विभावनी (अभिधम्मत्थसङ्गहो की टीका), बर्मी सस्करण,

वि० प्र० वृ० – विभाषाप्रभावृत्ति (अभिधर्मदीप की टीका), काशीप्रसाद जायसवाल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पटना, १६५६ ई०

वि० वि० टी० – विमतिविनोदनी टीका (विनयपिटक टीका), बुद्धशासन-समिति, बर्मा

विसु० महा० – विसुद्धिमग्ग-महाटीका, बुद्धशासन-समिति, बर्मा

व्या० भा० – व्यासभाष्य (योगसूत्रभाष्य), लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

स० नि० – सयुत्तनिकाय, नालन्दा सस्करण

स० नि० अ० – सयुत्तनिकाय-अट्ठकथा, बुद्धशासन-समिति बर्मा

सङ्खेप० – सङ्खेपटीका (अभिधम्मत्थसङ्गहो की टीका) बर्मी सस्करण

सङ्गीतिसुत्तटीका, बर्मी सस्करण

सच्च० – सच्चसङ्खेप, पालिटेक्स्ट सोसाइटी, लदन

स० भे० चि० – सद्दत्थभेदचिन्ता, बर्मी सस्करण

स० नी० – सद्दनीति (पालिव्याकरण), बर्मी सस्करण

समन्त० – समन्तपासादिका, बुद्धशासन-समिति, बर्मा

स्फु० – स्फुटार्था (अभिधर्मकोशभाष्य की यशोमित्रकृतटीका) रोमन-सस्करण, टोकियो, जापान

स्या० – अभिधम्मत्थसङ्गहो का स्यामी सस्करण, महामकुट राजविद्यालय द्वारा प्रकाशित

सारत्थदीपिनी टीका – (विनयपिटकटीका), बुद्धशासनसमिति, बर्मा

साहि० – साहित्यदर्पण, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली – ६, १९६१ ई०

सीलक्खन्धनवटीका – बर्मी संस्करण

सी० – अभिधम्मत्थसङ्गहो का सिंहलीसंस्करण, भिक्षु पञ्ञानन्द द्वारा सम्पादित १८९८ ई०

सुत्त० – सुत्तनिपात, नालन्दा संस्करण

सु० नि० अ०, सुत्त० अ० – सुत्तनिपात-अट्ठकथा, बुद्धशासन-समिति, बर्मा ।

सु० बो० – सुबोधालङ्कार, बर्मी संस्करण ।

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५	२३	पाहातब्ब	पहातब्ब
५	३४	सयम्भञ्ञाणस्स	सयम्भूञ्ञाणस्स
७	२१	उपदेशोऽद्भूता	उपदेशोऽद्भुता
७	२४	शाश्वततत्वशभत्वाभ्या	शाश्वततत्वशुभत्वाभ्या
७	२५	निर्वाणमच्यते	निर्वाणमुच्यते
८	२२	प्राप्तय	प्राप्तये
१८	६	विभत	विभूत
२१	१	चतसिको	चैतसिको
२३	१५	ोते	होते
,,	२६	ठानपचारतो	ठानूपचारतो
३१	१४	सौमस्य	सौमनस्य
३१	१६	आम्बन	आलम्बन
३२	७	तर्थिक	तैर्थिक
३४	१५	पुगल्	पुद्गल
३५	१७	अकुल	अकुशल
३५	२६	लोभमल	लोभमूल
४८	११	दु खहगत	दु खसहगत
७१	७	पन्नसर	पन्नरस
११६	२८	६७	९६
१३५	६	मात्सय	मात्सय
१५२	२१	द्वष	द्वेष
१६२	११	चतसिकसमूह	चैतसिकसमूह
२०३	८	असम्पयक्त	असम्प्रयुक्त
२२१	५	हतुसग्रह	हेतुसङग्रह
२४८	६	चतसिक	चैतसिक
२५२	२५	स्थानभत	स्थानभूत
२७२	२१	अध्यात्मिक	आध्यात्मिक

अभिधम्मत्थसङ्गहो

विषयानुक्रमणिका

प्रथम भाग

विषय		पृष्ठांक
वक्तव्य		क–ख
भूमिका		१–४२
सहायक ग्रन्थ-अनुक्रमणिका और सङ्केत-विवरण	...	४३–४७
शुद्धिपत्र	...	४८
विषयानुक्रमणिका	...	४९–६२

प्रथम परिच्छेद

मङ्गलगाथा	...	...	२
अनुसन्धि	...	...	३
त्रिविध ग्रन्थारम्भ	...	...	४
चतुर्विध परमार्थ	...	...	८
हीनधर्म एव परमार्थ	...	...	११
चित्त	...	...	१२
लक्षणादिचतुष्क	...	...	१
चैतसिक	...	...	१५
चित्त को स्पार्शिक आदि नहीं कहा जा सकता	...	...	१५
रूप	...	...	१७
विकार	...	...	१८
अविपरीत एवं रुप्पण	..	...	१९
रूपभूमि का रूप	.	...	२०
निर्वाण	...	...	२०
निर्वाण के लक्षणादिचतुष्क	...	...	२१
चित्तसंग्रहविभाग	...	...	२३
कामावचर	...	...	२३
रूपावचर	...	...	२३
अरूपावचर	...	...	२३
लोकोत्तर	...	...	२३
अकुशलचित्त	...	...	२५
लोभमूलचित्त		...	२६
सौमनस्यसहगत	.	...	२६
दृष्टिगतसम्प्रयुक्त	..	.	२७

दृष्टिगतविप्रयुक्त	२७
संस्कार	२७
असस्कारिक	२७
ससस्कारिक	२८
विभावनीवाद	२८
उपेक्षासहगत	२९
सप्रीतिक आदि नही कहा जा सकता	३०
सौमनस्य की उत्पत्ति के कारण	३१
उपेक्षा की उत्पत्ति के कारण	३१
दृष्टि के कारण	३२
असस्कारिक के कारण	३२
ससंस्कारिक के कारण ...	३३
कुछ आचार्यों का मत ..	३४
सम्प्रयुक्त एव विप्रयुक्त	३४
असस्कारिक एव ससंस्कारिक	३४
लोभमूल से विशेषित करना	३५
लोभमूल चित्तो का उत्पत्तिक्रम	३५
द्वेषमूलचित्त	३७
दौर्मनस्यसहगत	३७
प्रतिघसम्प्रयुक्त	३७
दौर्मनस्य एव प्रतिघ ...	३७
दौर्मनस्य की उत्पत्ति के कारण	३८
द्वेषमूल चित्तो का उत्पत्तिक्रम	३९
मोहमूलचित्त	३९
उपेक्षासहगत	३९
औद्धत्यसम्प्रयुक्त	४०
अहेतुक चित्त	४३
अकुशलविपाक	४३
चक्षुर्विज्ञान	४३
दु·खसहगत कायविज्ञान	४४
सम्पटिच्छन	४४
सन्तीरण	४४
कर्मजरूप विपाक नही	४५
परमत्थदीपनीवाद	४५
अहेतुक कुशलविपाक	४६
सुखसहगत कायविज्ञान	४६

सन्तीरण .. ४६
चक्षुर्विज्ञानादि चार विज्ञान .. ४७
कायविज्ञान ४७
सम्पटिच्छनद्वय ४८
कुशलविपाक ४८
अहेतुकक्रियाचित्त ४९
पञ्चद्वारावर्जन ४९
मनोद्वारावर्जन ४९
हसितोत्पाद ५०
सम्प्रयुक्त एव विप्रयुक्त .. ५१
असस्कारिक एव ससस्कारिक .. ५१
शोभनचित्त .. ५३
कामावचर कुशलचित्त .. ५४
ज्ञानसम्प्रयुक्त .. ५४
ज्ञानसम्प्रयुक्त की उत्पत्ति के कारण .. ५५
आठ कामावचर महाकुशल चित्तो का उत्पत्तिक्रम .. ५५
सहेतुक कामावचर विपाकचित्त .. ५७
सहेतुक कामावचर क्रियाचित्त .. ५८
सहेतुकत्वविचार .. ६०
रूपावचर कुशल चित्त ६२
ध्यान-ध्यानाङ्ग-ध्यानचित्त ६३
प्रथमध्यान कुशलचित्त .. ६३
वितर्क आदि ध्यानाङ्ग क्यो है ? .. ६४
सस्कारविनिश्चय .. ६७
परमत्थदीपनीवाद .. ६७
विभावनीवाद .. ६८
प्रथम वाद .. ६९
द्वितीय वाद .. ६९
रूपावचर विपाकचित्त .. ७०
रूपावचर क्रियाचित्त .. ७१
अरूपावचर कुशलचित्त ७२
आकाशानन्त्यायतन कुशलचित्त ७२
विज्ञानानन्त्यायतन कुशलचित्त ७३
आकिञ्चन्यायतन कुशलचित्त ७३
नैवसंज्ञानासंज्ञायतन कुशलचित्त ७४
अरूपावचर विपाकचित्त .. ७५

अरूपावचर क्रियाचित्त	७६
ध्यान के दो भेद	७७
लोकोत्तर कुशलचित्त	७८
स्रोतापत्ति मार्गचित्त	७८
सकृदागामी मार्गचित्त	८०
अनागामी मार्गचित्त	८०
अर्हत्-मार्गचित्त	८१
लोकोत्तर विपाकचित्त	८२
स्रोतापत्ति फलचित्त	८२
विपाकचित्तो की असमानता	८२
लोकोत्तर मे क्रिया का अभाव	८३
प्रथमध्यान स्रोतापत्ति मार्गचित्त	८७
लोकोत्तर चित्तोमे प्रथमध्यान-आदि भेद	८६
पादकध्यानवाद	६१
सम्मर्शितध्यानवाद	६१
पुद्‌गलाध्याशयवाद	६२
पुद्‌गलाध्याशयवाद की विशेषता	६२

द्वितीय परिच्छेद

अनुसन्धि	६५
चैतसिको के चार लक्षण	६६
चारो लक्षणो का अभिप्राय	६७
अन्यसमान राशि	६६
सर्वचित्तसाधारण चैतसिक	६६
स्पर्श	१००
वेदना	१०१
सज्ञा	१०३
चेतना	१०४
एकाग्रता	१०६
जीवितेन्द्रिय	१०७
मनसिकार	१०६
प्रकीर्णक चैतसिक	१११
वितर्क	१११
अवितर्क धर्मों द्वारा आलम्बन का ग्रहण	११२
चेतना, मनसिकार एव वितर्क में विशेष	११३
विचार	११४

वितर्क और विचार मे भेद . ११५
अधिमोक्ष ११६
वीर्य . ११७
प्रीति ११९
प्रोति के पाँच प्रकार १२०
छन्द १२०
छन्द के दो प्रकार १२१
अकुशल चैतसिक ... १२३
मोह ... १२३
आह्रीक्य एव अनपत्राप्य १२५
औद्धत्य १२६
लोभ १२७
छन्द एवं लोभ म भद १२८
दृष्टि .. १२९
ज्ञान एव दृष्टि .. १२९
मान . १३०
त्रिविध मान १३०
द्वेष १३२
ईर्ष्या .. १३४
मात्सर्य . १३४
मात्सर्य के दो भेद . १३५
मात्सर्य के पाँच प्रकार . १३६
ईर्ष्या एव मात्सर्य . १३६
कौकृत्य .. १३७
कौकृत्य के तीन प्रकार .. १३९
स्त्यान .. १४०
मिद्ध . १४१
विचिकित्सा १४३
विचिकित्सा के दो प्रकार ... १४४
शोभन चैतसिक . १४५
श्रद्धा ... १४५
स्मृति .. १४७
ह्री एवं अपत्राप्य १४९
अलोभ . १५१
अद्वेष . १५२
तत्रमध्यस्थता १५३
ममवाहितत्व एव उपेक्षा . १५४

कायप्रश्रब्धि एवं चित्तप्रश्रब्धि .. १५५
कायलघुता एवं चित्तलघुता ... १५७
कायमृदुता एवं चित्तमृदुता १५८
कायकर्मण्यता एवं चित्तकर्मण्यता १५९
कायप्रागुण्य एवं चित्तप्रागुण्य १६१
कायऋजुकता एवं चित्तऋजुकता १६२
विरति चैतसिक १६४
सम्यग् वाक् .. १६५
सम्यक् कर्मान्त . .. १६६
सम्यग् आजीव १६७
विरति के तीन भेद १६८
समीक्षा १६९
अप्पमञ्ञा (अप्रमाण) चैतसिक १७१
करुणा १७१
मुदिता . . १७२
प्रज्ञेन्द्रिय . १७४
सम्प्रयोग नय .. १७७
अन्यसमान चैतसिक सम्प्रयोग नय १७८
सर्वचित्तसाधारण सम्प्रयोग नय १७८
अकुशल चैतसिक सम्प्रयोग नय ... १८२
शोभन चैतसिक सम्प्रयोग नय १८५
नियतानियतभेद . . १९१
नियतयोगी, अनियतयोगी .. १९१
नाना एवं कदाचित् ... १९१
सग्रहनय ... १९३
शोभनचित्त सग्रहनय . १९४
लोकोत्तरचित्त सग्रहनय .. . १९४
महग्गतचित्त संग्रहनय . १९६
कामावचर शोभनचित्त सग्रहनय १९९
अकुशलचित्त सग्रहनय ... २०४
अहेतुकचित्त सग्रहनय ... २०७
निगमन .. . २०८
तदुभयमिश्रकनय ... २१०
अन्यसमानराशि २१०
अकुशलराशि २११
शोभनराशि २१२

तृतीय परिच्छेद

प्रकीर्णकसग्रहविभाग	२१३
प्रकीर्णक शब्दार्थ	२१३
वेदनासग्रह	२१४
वेदनाभेद	२१५
आलम्बनानुभवननय	२१६
इन्द्रियभेदनय	२१७
गृहीतग्रहणनय	२१८
अगृहीतग्रहणनय	२१८
एक वेदना से सम्प्रयुक्त चैतसिक	२१८
वेदनाद्वय से सम्प्रयुक्त चैतसिक	२१८
वेदनात्रय से सम्प्रयुक्त चैतसिक	२१८
वेदनापञ्चक से सम्प्रयुक्त चैतसिक	२१८
असम्प्रयुक्त चैतसिक	२२०
हेतुसग्रह	२२०
एकहेतुसम्प्रयुक्त चैतसिक	२२३
हेतुद्वयसम्प्रयुक्त चैतसिक	२२३
हेतुत्रयसम्प्रयुक्त चैतसिक	२२३
हेतुपञ्चकसम्प्रयुक्त चैतसिक	२२३
हेतुषट्कसम्प्रयुक्त चैतसिक	२२४
कृत्यसग्रह	२२४
प्रतिसन्धिकृत्य	२२५
भवङ्गकृत्य	२२५
आवर्जनकृत्य	२२६
दर्शन-आदि पाँच कृत्य	२२६
सम्पटिच्छनकृत्य	२२६
सन्तीरणकृत्य	२२७
वोट्ठपनकृत्य	२२७
जवनकृत्य	२२८
तदालम्बनकृत्य	२२८
च्युतिकृत्य	२२८
दस स्थान	२२९
कृत्य एवं स्थान मे भेद	२२९
विभावनीवाद	२३०
परमत्थदीपनीवाद	२३०
स्थानभेद	२३१

परमत्थदीपनीवाद २३४
अगृहीतग्रहणनय २३७
द्वारसग्रह २३८
चक्षुरादि पञ्च द्वार २४०
मनोद्वार २४०
मनोद्वार के भेद २४१
अगृहीतग्रहणनय २४६
आलम्बनसग्रह ... २४७
रूप-आदि पाँच आलम्बन ... २४८
धर्मालम्बन का षड्विध सग्रह ... २४८
प्रत्युत्पन्न आदि भेद ... २५०
कालविमुक्त आलम्बन ... २५०
कर्म-कर्मनिमित्त-गतिनिमित्त आलम्बन ... २५३
आलम्बन के चार भेद २५८
कामालम्बन ... २५८
महग्गतालम्बन २५६
लोकोत्तरालम्बन २५६
प्रज्ञप्ति-आलम्बन २५६
एकान्तालम्बन चित्त २६७
अनेकान्तालम्बन चित्त २६७
कामादि चतुर्विध आलम्बनो के एकान्तालम्बन एव अनेकान्तालम्बन चित्त २६८
चैतसिक गणना २७२
वस्तु (वत्थु) सग्रह २७३
चैतसिक विभाग २८१
धातुत्रय मे विशेष २८१
मनोधातु २८१
पञ्चविज्ञानधातु २८२
मनोविज्ञानधातु २८२

चतुर्थ परिच्छेद

वीथिसंग्रहविभाग २८३
अनुसन्धि २८३
छह षट्क २८६
षड्विध विषयप्रवृत्ति २८६
चित्त की आयु २९०
रूप की आयु २९१

पञ्चद्वारवीथि २९४
'आपात' शब्द पर विचार २९५,२९७
पञ्च आलम्बन एवं पञ्च प्रसाद ... २९८
प्रसाद एक है या अनेक ... २९९
चक्खुञ्च पटिच्च रूपे च–इस पालि का अभिप्राय ३००
विभावनीवाद ३०१
अनेकविध आलम्बन होने पर भी एक का ही प्रादुर्भाव ... ३०१
चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति में आलम्बन और द्वार से अतिरिक्त अन्य कारण ... ३०२
तदालम्बनवार चक्षुर्द्वारिक अतिमहद्-आलम्बन-वीथि ... ३०४
भवङ्गचलनसम्बन्धी विचार ३०५
विभावनीवाद . .. ३०७
भवङ्गचलन एवं भवङ्गोपच्छेद ... ३०८
वोट्ठपन शब्द पर विचार ३०९
जवन की प्रवृत्ति ३०९
योनिशोमनसिकार का कारणत्व ... ३१०
योनिशोमनसिकार के हेतु ... ३१०
तदालम्बन की प्रवृत्ति ... ३११
भवङ्गपात ३१३
चित्त का प्रादुर्भाव ३१३
वीथिसन्तति की आम्रोपमता ३१४
पाँच चित्तधर्मतायें ३१५
तदालम्बनवार चक्षुर्द्वारिक अतिमहद्-आलम्बन वीथि का स्वरूप ... ३१७
जवनवार चक्षुर्द्वारिक महद्-आलम्बनवीथि ३१८
तदालम्बनाभाव . . ३१९
आलम्बन-नानात्व अनभीष्ट . ३२०
वोट्ठपनवार चक्षुर्द्वारिक परीत्त-आलम्बनवीथि . .. ३२१
मोघवार अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि . . ३२५
वोट्ठपन के अनुत्पाद से आवर्जन आदि का भी अनुत्पाद .. ३२७
मोघवार का आलम्बन .. . ३२८
छ. षट्कों का सम्बन्ध ... ३२९
गर्भस्थ शिशु की वीथि ३३०
मनोद्वार वीथि ३३२
विभूतालम्बन-अविभूतालम्बन वीथि . . ३३२
मनोद्वार ३३२
विभूत-अविभूत ३३३
विभावनीमत ३३३

परमत्थदीपनीमत ३३४
मनोद्वार मे प्रादुर्भूत हो सकने योग्य आलम्बन ३३५
आलम्बनप्रादुर्भाव के कारण ३३५
दृष्ट ३३५
श्रुत ३३५
उभयसम्बद्ध ३३६
श्रद्धा ... ३३६
रुचि ... ३३६
आकारपरिवितर्क ... ३३६
दृष्टिनिध्यानक्षान्ति ... ३३७
ऋद्धिबल ... ३३७
धातुक्षोभ ... ३३७
देवतोपसहार . ३३७
अनुबोध . ३३७
चित्त की शक्ति ३३८
अतीत भवङ्गपात का होना या न होना . ३३८
प्रत्युत्पन्न चित्त द्वारा आलम्बन का ग्रहण .. ३३९
अट्ठकथावाद ३४०
अर्पणाजवन मनोद्वारवीथि . ३४२
विभूत-अविभूत भेद का अभाव ... ३४३
तदालम्बन का अभाव .. ३४६
परिकर्म ३४६
उपचार ३४७
अनुलोम .. ३४७
गोत्रभू . .. ३४७
षष्ठ या सप्तम अर्पणाजवन नही . ३४८
तृतीय वार मे अर्पणाजवन नही .. ३४९
आदिकर्मिक ध्यानवीथि ३४९
पृथग्जन के महाकुशल के अनन्तर अर्पणाजवन .. ३५१
स्रोतापन्न के महाकुशल के अनन्तर अर्पणाजवन . ३५१
सकृदागामी के महाकुशल के अनन्तर अर्पणाजवन .. ३५२
अनागामी के महाकुशल के अनन्तर अर्पणाजवन . . ३५२
अर्हत् के महाक्रियाजवन के अनन्तर अर्पणाजवन ३५२
तदालम्बन-नियम ३५५
इष्ट एवं अनिष्ट आलम्बन ३५६
चूळाभय स्थविर का वाद ३५६

स्वभाव एव परिकल्प द्वारा विभाजन ३५८
विपाक नियत एवं जवन अनियत ३५८
इष्ट-अनिष्ट-मिश्रित आलम्बन का ग्रहण ३५९
विपाक भी नियत एव जवन भी नियत ३६०
परमत्थदीपनीवाद ३६०
परमत्थसरूपभेदनी का स्पष्टीकरण ३६१
मूलटीकावाद ३६२
अनुटीका, महाटीका एव परमत्थसरूपभेदनी का वाद ३६३
तदालम्बनपात न होनेवाले चित्तवार ३६६
उपेक्षासहगत सन्तीरण का भवङ्गकृत्य ३६७
आगन्तुकभवङ्ग ३६७
परमत्थदीपनी का वाद ३६९
आवर्जन के विना आलम्बन का ग्रहण ३६९
बीज न होने पर भी कुछ विपाको की उत्पत्ति ३७२
जवन-नियम ३७५
जवन की पाँच वार प्रवृत्ति की अवस्था ३७५
यमकप्रातिहार्य ३७७
अग्नि एवं जल की युग्म उत्पत्ति ३७८
आदिकर्मिक पुद्गल ३७९
अभिज्ञाजवन भी एक वार ही . ३७९
निरोधसमापत्ति मे दो वार जवन ३८१
पुद्गलभेद .. ३८४
द्वादशविध पुद्गल ३८४
द्विहेतुक पुद्गल ३८५
अहेतुक पुद्गल ३८५
ध्यान आदि के पाँच अन्तराय ३८५
कर्म एव क्लेश अन्तराय . ३८६
विपाक अन्तराय . ३८६
अरियूपवाद अन्तराय ... ३८७
आणावीतिक्कम अन्तराय ३८७
त्रिहेतुक पुद्गल ३८८
अर्हत् पुद्गल .. ३८९
शैक्ष्य पुद्गल ३८९
पृथग्जन पुद्गल . ३९०
भूमिविभाग ३९३
कामभूमि ३९४
रूपावचरभूमि ३९४

अरूपावचरभूमि ३९५
असञ्ज्ञी सत्त्व में चित्ताभाव ३९६
पुद्गल, भूमि एवं चित्त ३९८
रूपावचर पुद्गल में प्राप्य चित्त ३९९
अरूपावचर पुद्गल में प्राप्य चित्त ३९९

— ० —

परिशिष्ट—१

वीथिसमुच्चय

(चित्तवीथि)

वीथिसमुच्चय . ४०३
पञ्चद्वारवीथि ४०४
पञ्चद्वारवीथि एवं मनोद्वारवीथि ... ४०४
तदालम्बनवार अतिमहद्-आलम्बन चक्षुर्द्वारवीथि . ४०५
जवनवार अतिमहद्-आलम्बनवीथि ४०६
महद्-आलम्बनवीथि ४०७
आगन्तुकभवङ्गपात अतिमहद् एवं महद् आलम्बनवीथि में विशेष ४०८
परीत्त आलम्बनवीथि ४०९
अतिपरीत्त आलम्बनवीथि ४१०
शेष अतिपरीत्त आलम्बनवीथियाँ ४१०
पञ्चद्वारवीथि की संख्या ४११
चित्तस्वरूप ४११
आलम्बन ४११
वस्तु ४१२
भूमि ४१२
पुद्गल ४१३
भवङ्ग ४१३
मन्दायुक आदि विचार ४१३
कामजवनवार मनोद्वारवीथि ४१८
शुद्ध एवं तदनुवर्तक ४१८
तदालम्बनवार ४१८
द्वितीय तदालम्बनवीथि आदि ४१९
जवनवार प्रत्युत्पन्न निष्पन्न रूपालम्बन ४२०
प्रत्युत्पन्न निष्पन्न रूपों से अवशिष्ट आलम्बन ४२१

अव्याकृतवार स्वप्नवीथि	४२२
चित्तस्वरूप	४२३
आलम्बन	४२३
वस्तु	४२३
भूमि एवं पुद्गल	४२३
तदनुवर्तक मनोद्वारवीथि	४२४
श्रोत्रद्वारिक तदनुवर्तकवीथि	४२७
कायविज्ञप्तिग्रहणवीथि	४२९
वाग्विज्ञप्तिग्रहणवीथि	४३०
चित्तस्वरूप	४३०
अर्पणाजवनवार मनोद्वारवीथि	४३१
ध्यानवीथि	४३१
समापत्तिवीथि	४३२
प्रत्यवेक्षणवीथि	४३२
ध्यानवीथि के प्रभेद	४३२
प्रत्यवेक्षणवीथियो के प्रभेद	४३२
चित्तस्वरूप, आलम्बन एव वस्तु	४३३
भूमि एव पुद्गल	४३३
ऊपर ऊपर की आदिकर्मिकवीथियाँ	४३३
समीक्षा	४३४
आधुनिक आचार्यों का मत	४३५
समापत्तिवीथि	४३६
प्रत्यवेक्षणवीथि के चित्तस्वरूप आदि	४३६
मार्गवीथि	४३७
मार्गवीथि के प्रभेद	४३८
प्रत्यवेक्षणवीथि के प्रभेद	४३८
स्रोतापत्तिमार्ग वीथि के चित्तस्वरूप आदि	४३९
ऊपर ऊपर की ध्यानमार्ग वीथियाँ	४३९
फलसमापत्तिवीथि	४४०
फलसमापत्तिवीथि के प्रभेद	४४१
अनुलोम नामकरण	४४१
अनुलोम निर्वाण का आलम्बन नहीं करते	४४१
मार्गवीथियाँ	४४२
फलसमापत्ति से उठना	४४२
अभिज्ञावीथि	४४२
पादकध्यान का लाभ	४४३
अभिज्ञा के आलम्बन	४४५

इद्धिविध (ऋद्धिविध) ... ४४५
दिब्बसोत (दिव्यश्रोत्र) . . ४४६
परचित्तविजानन .. ४४६
पुब्बेनिवास ... ४४६
दिब्बचक्खु (दिव्यचक्षु) . ४४७
यथाकम्मूपगा . ४४७
अनागतस-अभिज्ञा .. ४४७
निरोधसमापत्तिवीथि . ४४९
नानाबद्ध-अविकोपन .. ५४९
सघपटिमानन . ४५०
सत्थुपक्कोसन ४५०
अद्धानपरिच्छेद . .. ४५०
कारण एव फल . ४५१
ध्यान दो बार ४५१
अनागामी एव अर्हत् . ४५१
उद्देश्य ४५२
कामभूमि में ७ दिन ४५२
सस्कृत आदि नही किन्तु निष्पन्न ४५२
मरणासन्नवीथि ४५३
पञ्चद्वार मरणासन्नवीथि ४५३
चित्तस्वरूप-आदि . ४५५
भूमि एव पुद्गल ४५७
मनोद्वार मरणासन्नवीथि ४५७
भवङ्ग मीमासा . .. ४५९
परिनिर्वाणवीथि .. ४६०
ध्यानसमनन्तरवीथि .. . ४६१
प्रत्यवेक्षणसमनन्तरवीथि ४६२
अभिज्ञासमनन्तरवीथि ४६२
जीवितसमसीसीवीथि ४६३
निगमन ४६४

अनुरुद्धाचरियप्पणीतो

अभिधम्मत्थसङ्गहो

(अभिधम्मपकासिनीव्याख्यासहितो)

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स

अभिधम्मत्थसङ्गहो

पठमो परिच्छेदो

मङ्गलगाथा

१. सम्मासम्बुद्धमतुलं ससद्धम्मगणुत्तमं ।
अभिवादिय भासिस्सं अभिधम्मत्थसङ्गहं ।।

मै (अनुरुद्धाचार्य) सद्धर्म (प्रशस्तधर्म अथवा परियत्तिधर्म, पटिपत्तिधर्म एव पटिवेधधर्म[1]) और उत्तम गण[2] (आर्यसङ्घ) के सहित अप्रतिम सम्यक्-सम्बुद्ध का अभिवादन कर के 'अभिधम्मत्थसङ्गह' नामक ग्रन्थ को कहूंगा।

अभिधर्मप्रकाशिनी

परम्पराय धम्मस्स, वन्दित्वा रतनत्तय ।
टीक नाम लिखिस्सामि, अभिधम्मप्पकासिनि ।।
अत्थसङ्गहमूलेन, भारतरट्ठभासया ।
सब्बेस सुखबोधाय, लोकस्स खेमबुद्धिया ।।

१ अनुसन्धि—नाना प्रकार के अन्तरायो से परिपूर्ण इस ससार मे उन अन्तरायो से बच कर अपने ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति के लिये आचार्य अनुरुद्ध 'सम्मासम्बुद्ध-मतुल' आदि के द्वारा मङ्गल स्तुतिवचन कहते है। अथवा ग्रन्थो का प्रणयन

---

१ बुद्ध-वचन परियत्ति, तदनुसार आचरण एव ध्यानभावना पटिपत्ति, तथा विपश्यनाभावना के द्वारा सत्य का ज्ञान पटिवेध धर्म है; यथा—"परि-यत्तीति तीणि पिटकानि, पटिवेधो ति सच्चपटिवेधो, पटिपत्तीति पटिपदा।" —विभ० अ०, पृ० ४३५।

२ चार मार्गस्थ एव चार फलस्थ—इस प्रकार आठ पुद्गलो को आर्यपुद्गल कहते है। इनका सङ्घ 'आर्यसङ्घ' कहलाता है। —तु० "यानिमानि युगळवसेन चत्तारि पुरिसयुगानि, पाटियेक्कतो अट्ठ पुरिसपुग्गला—एस भगवतो सावक-सङ्घो।"—विसु०, पृ० १४८।
"नवानामशैक्ष्याणामष्टादशानाञ्च शैक्ष्याणा शिष्याणा सन्ताने यो मार्ग. स पारमार्थिक सङ्घ इत्युच्यते। सवृत्या तु पृथग्जनकल्याणकभिक्षुसङ्घ इत्यप-दिश्यते।'—वि० प्र० वृ०, पृ० १२६।

प्रज्ञापारमिता[1] के लिए एक बहुमूल्य एव महत्वपूर्ण कार्य है, अत उस कार्य को प्रारम्भ करने के पूर्व ग्रन्थकार प्रीति एव सौमनस्य से युक्त होकर मङ्गलवचन कहते है। भगवान् बुद्ध के श्रावको के लिए बुद्ध, धर्म एव सङ्घ से सम्बद्ध विषयो को लिखना अथवा उनका उच्चारण करना "पूजा च पूजनीयान एत मङ्गलमुत्तम[2]" – इस उक्ति के अनुसार अत्यन्त मङ्गलप्रद होता है। अत ग्रन्थारम्भ मे मङ्गलकृत्य करनेवाले आचार्य अनुरुद्ध 'सम्मासम्बुद्धमतुल'-आदि वचन को प्रीति एव सौमनस्य से युक्त होकर कहते है।

त्रिविध ग्रन्थारम्भ—ग्रन्थो का आरम्भ तीन प्रकार से किया जाता है[3] : १ वस्तुपूर्वक, २ आशिष्पूर्वक एव ३ प्रणामपूर्वक। 'विसुद्धिमग्ग' के आदि मे "सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो[4]" – इस गाथा से देवता के द्वारा प्रस्तुत वस्तु (विषय) को पूर्व मे रख कर ग्रन्थारम्भ किया गया है। वस्तु को पूर्व मे रखने से यह 'वस्तुपूर्वक' ग्रन्थारम्भ है। अथवा "सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो" – यह गाथा सम्पूर्ण 'विसुद्धिमग्ग' ग्रन्थ की आधारवस्तु है, इसी गाथा का विस्तार सम्पूर्ण ग्रन्थ है। इस आधारवस्तुरूप सङ्क्षेपवचन को पूर्व मे रखने से यह ग्रन्थारम्भ 'वस्तुपूर्वक' है।

'सुबोधालङ्कार' नामक ग्रन्थ के प्रारम्भ मे "मुनिन्दवदनम्बोज[5]" आदि गाथा के द्वारा 'वाग्देवी मेरे मन को प्रसन्न करे' – ऐसी प्रार्थना की गई है। आशीर्वाद अभीष्ट होने से यह ग्रन्थारम्भ 'आशिष्पूर्वक' है।

प्रस्तुत (अभिधम्मत्थसङ्गहो) ग्रन्थ मे 'अभिवादिय भासिस्स' के द्वारा त्रिरत्न की वन्दना कर के ग्रन्थारम्भ किया गया है। इसी प्रकार 'अट्ठसालिनी' नामक ग्रन्थ मे भी "तस्स पादे नमस्सित्वा[6]" के द्वारा बुद्ध की पाद-वन्दना कर के ग्रन्थारम्भ किया गया है। इस प्रकार के ग्रन्थारम्भ 'प्रणामपूर्वक' ग्रन्थारम्भ कहे जाते है।

प्रणाम तीन प्रकार के होते है[7]—१. कायप्रणाम, २ वाक्प्रणाम एव ३. मन.-प्रणाम। हाथ जोडना, मस्तक झुकाना-आदि 'कायप्रणाम' है। 'अभिवादिय', 'वन्दामि',

---

१ "दान सीलञ्च नेक्खम्म पञ्ञावीरियपञ्चम। खन्तिसच्चमधिट्ठान मेत्तुपेक्खा तिमा दसा ति।" – अभि० स० टी०, पृ० २८६, च० पि० अ०, पृ० २७०। बोधिसत्त्व को बुद्धत्व-प्राप्ति के लिये इन दान-सील-आदि दस पारमिताओ को पूर्ण करना होता है, उनमे चतुर्थ प्रज्ञापारमिता है। अध्ययन-अध्यापन एव ग्रन्थ-प्रणयन-आदि प्रज्ञापारमिता की पूर्ति के अङ्ग है। विस्तारज्ञान के लिये द्र० – जा० अ० की निदानकथा।

२ खु० नि०, प्र० भा०, मङ्गलसुत्त, पृ० ५, ३०७।

३ "आचरियान गन्थारम्भो तिविधो – आसिसपुब्बको, वत्थुपुब्बको, पणामपुब्बको ति।" – सङ्खेप०, पृ० २१४।

४ विसु०, पृ० १। ५ सुबो०, पृ० १। ६ अट्ठ०, पृ० १।

७ "पणामो तिविधो—कायपणामो, वचीपणामो, मनोपणामो ति। तत्थ ननु कायपणामेन वा मनोपणामेन वा अन्तरायविसोसन सिया, कस्मा गन्थगरुकरो वचीपणामो विहितो ति? सिया, तेहि पन अन्तरायविसोसनप्पयोजनमेव होति, न परहितभूत परम्परापयोजन, वचीपणामेन पन तदुभय होति। तस्मा सातिसयो वचीपणामो विहितो ति।" – सङ्खेप०, पृ० २१४, २१५।

"पणामो तिविधो कायवाचाचित्तवसा भवे।
तेसु वचीपणामो व, सातिसयो ति दीपितो।" – मणि०, पृ० ४६।

'नमामि'-आदि लिख कर या कह कर प्रणाम करना 'वाक्प्रणाम' है। मन के द्वारा अपने इष्ट का ध्यान करना 'मनःप्रणाम' है। इन तीनों प्रकार के प्रणामों में 'वाक्प्रणाम' महाफल देनेवाला होता है, क्योंकि कायप्रणाम एवं मनःप्रणाम केवल अपने (कर्ता के) ही पुण्य के लिये होते हैं, परन्तु वाक्प्रणाम से अपने (कर्ता के) के साथ साथ अध्येताओं को भी पुण्य-लाभ होता है। इसलिये ग्रन्थकार ने प्रस्तुत ग्रन्थ के आरम्भ में वाक्प्रणाम किया है।

यह वाक्प्रणाम भी द्विविध होता है[1] १ केवलप्रणाम—यह 'बुद्धं वन्देमि,' 'धम्मं वन्देमि'- इत्यादि प्रकार से रत्नत्रय का निर्विशेष (विशेषणरहित) प्रणाम है। २ स्तोमप्रणाम–यह रत्नत्रय के 'अतुल'–आदि गुणों का कथन करके किया जानेवाला प्रणाम है। इनमें 'स्तोमप्रणाम' श्रद्धा, स्मृति–आदि गुणों को बढानेवाला होने से उत्तम माना गया है।

सम्मासम्बुद्ध—सम्मा+स+बुद्ध। इसमें सम्मा=अविपरीत, स=स्वयम्, बुद्ध= जिसने जान लिया, है, क्योंकि 'बुद्ध' शब्द में 'बुध्' धातु का अर्थ है अवगमन[2] (जानना)। इसलिये सम्पूर्ण शब्द का अर्थ हुआ–अविपरीत ज्ञान को जिसने स्वयं बिना किसी की सहायता से जान लिया है। यहाँ पर 'बुध' धातु का कोई विशिष्ट कर्म निर्दिष्ट नहीं है, अतः 'सब को जान सकता है'–यह अर्थ होता है। जैसे–'दीक्खितो न ददाति' इसमें 'ददाति' का कोई कर्म निर्दिष्ट न होने से 'कुछ भी नहीं देता'–ऐसा अर्थ होता है। अतः यहाँ 'सम्मा सामञ्च सब्बधम्मे बुज्झतीति सम्मासम्बुद्धो'–ऐसा विग्रह करना चाहिये।[3]

---

१. सङ्खेप०, पृ० २१५।　　　　२. धा० म०, १०८ का०।

३ "सम्मा सामञ्च सब्बधम्मानं बुद्धत्ता पन सम्मासम्बुद्धो। तथा हि एस सब्ब- धम्मे सम्मा सामञ्च बुद्धो, अभिञ्ञेय्ये धम्मे अभिञ्ञेय्यतो बुद्धो, परिञ्ञेय्ये धम्मे परिञ्ञेय्यतो, पहातब्बे धम्मे पहातब्बतो, सच्छिकातब्बे धम्मे सच्छिक- तब्बतो, भावेतब्बे धम्मे भावेतब्बतो। तेनेव चाह—

'अभिञ्ञेय्यं अभिञ्ञातं भावेतब्बञ्च भावितं।
पहातब्बं पहीनं मे, तस्मा बुद्धोस्मि ब्राह्मणा' ति॥' . .

–विसु०, पृ० १३६, "सम्मा ति अविपरीतं, सामं ति सयमेव, सम्बुद्धो ति हि एत्थ 'सं' सद्दो सयं ति एतस्स अत्थस्स बोधको दट्ठब्बो। –विसु० महा०, प्र० भा०, पृ० २२८, "सम्मदेव सयमेव सकलस्स अभिबुज्झितब्बस्स बुद्धत्ता सम्मासम्बुद्धो। सङ्खतासङ्खतसम्मुतिप्पभेदस्स सब्बस्स पि ञेय्यस्स सब्बाकारतो अविपरीतं सयमेव अनाचरियप्पटिवेधेन सयं विचितोपचितपार- मितापभावितेन सयम्भूञाणेन अभिसम्बुद्धत्ता त्यत्थो।".. अभि० स० टी०, पृ० २८३, "सम्मा सामञ्च सब्बधम्मे बुज्झतीति सम्मासम्बुद्धो भगवा, सो हि सङ्खतासङ्खतभेदं सकलम्पि धम्मजातं याथावसरसलक्खणप्पटिवेधवसेन सम्मा सयं विचितोपचितपारमितासम्भूतेन सामं बुज्झि अञ्ञासि।"–विभा०, पृ० ५४, "सम्मासद्देन सब्बञ्ञुतञाणस्स गहितत्ता पच्चेकबुद्धे निवत्तेति, 'सं' सद्देन अरहत्तमग्गभूतस्स सयम्भुञाणस्स गहितत्ता सावकादयो निवत्तेति। तस्मा 'सम्मासम्बुद्ध' ति इमिना भगवा येव विञ्ञायते।"–सङ्खेप०, पृ० २१६, "एत्थ च सम्मासद्दो अविपरीतत्थे निपातो, सो बुज्झितब्बेसु ञेय्य-

अतुल—'नत्थि तुलो यस्सा ति अतुलो' अर्थात् जिसकी किसी से तुलना (समता) नही है। भगवान् बुद्ध के जो श्रेष्ठ गुण हैं उनकी किसी अन्य व्यक्ति के गुणो से तुलना नही की जा सकती। यद्यपि पूर्णकाश्यप आदि तैर्थिक भगवान् बुद्ध के साथ गुणो मे स्पर्द्धा करते है, फिर भी शील, समाधि, प्रज्ञा-आदि गुणो मे वे उनके बराबर कथमपि नही है। इसीलिये ग्रन्थकार भगवान् बुद्ध को 'अतुल' कहते है।

अथवा 'तुला' शब्द का अर्थ तराजू होता है। 'तुला विया ति तुला'—इस प्रकार विग्रह कर के तुला के सदृश ज्ञान को भी 'तुला' कहा गया है। 'तुलाय सम्मितो तुल्यो', प्रज्ञा के द्वारा तुलित (मापित) पुद्गल तुल्य है। 'तुल्यो येव तुलो', तुल्य ही 'तुल' है। 'न तुलो अतुलो', जो तुल नही है वह 'अतुल' है। अर्थात् तराजू की तरह प्रज्ञा के द्वारा जिस का माप नही किया जा सकता वह 'अतुल' है। प्रज्ञा के द्वारा 'इनमे इतना शील, इतनी समाधि या इतनी प्रज्ञा है'—ऐसा माप नही किया जा सकता। अतएव 'अतुल'—ऐसा विशेषण दिया गया है[1]।

ससद्धम्मगणुत्तम—'सन्तो धम्मो सद्धम्मो' सत् (परमार्थ) धर्म ही सद्धर्म है। तैर्थिको के द्वारा प्रकल्पित आत्मा-आदि पदार्थ परमार्थ रूप से विद्यमान नही होते। भगवान् बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट चार आर्यसत्य, प्रतीत्यसमुत्पाद-आदि धर्म प्रकल्पित न होकर 'सत्' रूप से विद्यमान है, अतएव इन्हे ही 'सद्धर्म[2]' कहा जाता है।

धम्मेसु बुज्झनक्रियाय असेसब्यापिभाव दीपेति।"—प० दी०, पृ० ४। "अत्र बुद्धशब्दस्य प्रसिद्धि बुधेरकर्मकत्वविवक्षाया कर्तरि क्तो भवति। सर्वे वा ज्ञानार्था गत्यर्था इति कर्मकर्तरि क्तविधानम्। अभिधानलक्षणत्वाच्च कृत्तद्धित-समासानामचोदयम्। दृष्टञ्चेद 'बुद्ध' इत्यभिधान कर्तरि लोके प्रयुज्य-मानम्। तदयथा—निद्राविगमे पदार्थानुबोधेऽविद्यानिरासे च 'विबुद्ध प्रबुद्धो देवदत्त' इति। एव भगवानप्यविद्यानिद्राविगमात सर्वार्थावबोधाच्च बुद्धो विबुद्ध प्रबुद्ध इत्युच्यते। यथा वा परिपाकविशेषात् स्वयमेव बुद्ध पद्ममेव भगवानपि प्रज्ञादिगुणप्रकर्षपरिपाकात् बुद्धो विबुद्ध प्रबुद्ध इति।"—अभि० दी०, पृ० ३। तु०—क० न्या० ३, क० व० ४, स० नी०, द्वि० भा०, पृ० ४८१-८२।

१ द्र०—विभा०, पृ० ५५, प० दी०, पृ० ६, तु०—'न तुलो तुलयितु असक्कु-णेय्यो ति अतुलो अप्पमेय्यो।" अभि० स० टी०, पृ० २८३।

२ विभावनी, परमत्थदीपनी-आदि मे 'सद्धम्म' शब्द का अर्थ नव लोकोत्तरधर्म एव परियत्तिधर्म किया गया है, अर्थात् आठ लोकोत्तरचित्त, निर्वाण एव परियत्तिधर्म। "अत्तान धारेन्ते चतूसु अपायेसु वट्टदुक्खेसु च अपतमाने कत्वा धारेतीति धम्मो। चतुमग्गफलनिब्बानवसेन नवविधो, परियत्तिया सह दसविधो वा धम्मो।"—विभा०, पृ० ५६, अत्तान धारेन्ते अपायेसु च वट्टदुक्खेसु च अपतमाने धारेतीति धम्मो। सत सप्पुरिसान बुद्धादीन धम्मो, सन्तो सविज्जमानो वा सुन्दरो पसत्थो वा धम्मो स्वाक्खाततादिभावतो ति सद्धम्मो। सो चतुन्न अरियमग्गान चतुन्न च अरियफलान निब्बानस्स च वसेन

अथवा[1]—'सन्तो धम्मो सद्धम्मो' प्रशसित धर्म ही सद्धर्म है। भगवान् बुद्ध के द्वारा प्रज्ञापित धर्म, जिस प्रकार उन्होने उपदेश (वर्णन) किया है, ठीक उसी प्रकार के है। आचरण करने पर भी वे उपदेश के अनुसार ही फल देते है। अत बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट धर्म प्रशसित है। सङक्षेप से परियत्ति, पटिपत्ति एव पटिवेध को सद्धर्म कहते है[2]।

'उत्तमो गणो गणुत्तमो' उत्तम गण अर्थात् आर्य (श्रेष्ठ) सङ्घ को 'गणुत्तम' कहा गया है। 'सद्धम्मो च गणुत्तमो च सद्धम्मगणुत्तमो, सह सद्धम्मगणुत्तमेहि यो (सम्मासम्बुद्धो) वट्टतीति ससद्धम्मगणुत्तमो' अर्थात् सद्धर्म और उत्तम गण के साथ वर्तमान भगवान् बुद्ध। यह 'सम्मासम्बुद्ध' का विशेषण है[3]। इससे धर्म एव सङ्घ की भी वन्दना होती है[4]।

अभिवादिय—अभि=विशेष रूप से, वादिय=वन्दना कर के। विशेष रूप से अर्थात् श्रद्धा, प्रज्ञा, स्मृति, वीर्य एव चेतना पूर्वक वन्दना कर के। भयवन्दना, लाभ-वन्दना, कुलाचारवन्दना, आचार्यवन्दना तथा श्रद्धावन्दना--इन पञ्चविध वन्दनाओ मे यहाँ यह भगवान् बुद्ध के गुणो के प्रति श्रद्धावन्दना है[5]।

अभिधम्मत्थसङ्गह—'अतिरेको धम्मो अभिधम्मो, अभिधम्मस्स अत्था अभि-धम्मत्था', अथवा[6] 'अभिधम्मे वुत्ता अत्था अभिधम्मत्था, सङ्खिपित्वा गय्हन्ति एत्थ एताय वा ति सङ्गहो, अभिधम्मत्थान सङ्गहा अभिधम्मत्थसङ्गहो। अतिरेक या विशिष्ट

नवविधो, पाळिधम्मेन सद्धि दसविधो वा।" अभि० स० टी०, पृ० २८४।

"सद्धर्मो द्विविध शास्तुरागमाधिगमात्मक।—अभि० को० ८ ३६।

तत्र आगम—सूत्रम्, विनय, अभिधर्मश्च। स एव—

'सूत्र गेय व्याकरण गाथोदानावदानकम्।

इतिवृत्तिक निदान वैपुल्यञ्च सजातकम्॥

उपदेशोऽद्भुता धर्मा द्वादशाङ्गमिद वच॥' (अभिसमयालङ्कारालोके)

अधिगम—बोधिपाक्षिका धर्मा (६ ६७) यानत्रया (बुद्ध-प्रत्येकबद्ध-श्रावक) यैरभ्यस्ता।"—रा० सा० ८ ३६, पृ० २३५।

"शाश्वतत्वशभत्वाभ्या, सर्वानिर्थनिवृत्तित।

मुख्यकल्पनया तद्धर्मो निर्वाणमच्यते॥—अभि० दी०, १६२ का०।

'नित्याविकृतस्वलक्षणधारणात्तत्प्राप्ताना चात्यन्तधारणे निर्वाण पारमार्थिको धर्म। गुणकल्पनया तु प्रत्येकबुद्धबोधिसत्त्वसन्तानिको मार्ग। त्रीणि च पिटकानि धर्मो निर्वाणप्रापकत्वात्'।"—वि० प्र० वृ०, पृ० १२६।

१ तु०—विभा०, पृ० ५६।

२ ब० भा० टी०, प० दी०, पृ० ६।

३ तु०—विभा०, पृ० ५६, प० दी०, पृ० ८-६-१०।

४. "एतेन धम्मसङ्घान पि वन्दना कता होति।"—प० दी०, पृ० ८।

५. तु०—मणि०, प्र० भा०, पृ० ८५।

६ प० दी०, पृ० १२।

चतुब्बिधा परमत्था

२. तत्थ वुत्ताभिधम्मत्था चतुधा परमत्थतो।
चित्तं चेतसिकं रूपं निब्बानमिति सब्बथा॥

अभिधर्मपिटक मे वर्णित अभिधर्मार्थ परमार्थ रूप से सर्वथा चतुर्विध हैं। यथा—चित्त, चैतसिक, रूप एव निर्वाण।

धर्म अभिधर्म है[1]। सुत्तन्त (सूत्रान्त) पालि से अतिरेक या विशिष्ट धर्म 'अभिधर्म' कहा जाता है[2]। 'अभिधम्मपालि' के अर्थ को 'अभिधम्मत्थ' कहते हैं।

अथवा प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम 'अभिधम्मत्थसङ्गहो' इसलिये है कि इसमे 'अभिधम्मपिटक' मे वर्णित तत्त्वो का सार सङक्षिप्त रूप से सङगृहीत है[3]।

चित्त, चैतसिक, रूप एव निर्वाण 'अभिधम्मत्थ' (अभिधर्मार्थ) हैं। इनमे पञ्ञत्ति (प्रज्ञप्ति) का भी ग्रहण करना चाहिये। अभिधम्मपिटक मे भी 'पुग्गलपञ्ञत्ति' नामक एक ग्रन्थ सङगृहीत है। प्रस्तुत ग्रन्थ के अष्टम परिच्छेद के अन्त मे ग्रन्थकार स्वय भी पञ्ञत्ति का वर्णन करते हैं। अत 'अभिधम्मत्थ' शब्द से चित्त, चैतसिक, रूप, निर्वाण एव प्रज्ञप्ति का ग्रहण करना चाहिये।

विभावनीकार ने "निब्बत्तितपरमत्थभावेन अभि विसिट्ठा धम्मा एत्था ति[4]"—ऐसा विग्रह कर के अभिधर्मार्थ (अभिधम्मत्थ) मे प्रज्ञप्ति का ग्रहण नही किया है।

चतुर्विध परमार्थ

२ **परमत्थतो**—परमत्थ=परमार्थ, अर्थात् अविपरीत-स्वभाव धर्म। जैसे तिलो से तैल निकलता है, उसी प्रकार प्रज्ञप्त्यर्थो से परमार्थ सार-रूप से निकलता है। यथा—पुद्गल एक

---

१ "अभि अतिरेको अभि विसेसो च धम्मो अभिधम्मो"—प० दी०, पृ० १२।

२. अट्ठ०, पृ० २-३, प० दी०, पृ० १८;
तु०—"प्रज्ञामला सानुचराभिधर्मस्तत्प्राप्तय यापि च यच्च शास्त्रम्।"—अभि० को०, १ २, पृ० ५, "अभिमुखतोऽथाभीक्ष्ण्यादभिभवगतितोऽभिधर्मश्च।"—महा० सू०, ११ : ३।
"अभिधम्मस्स अत्थो अभिधम्मत्थो, धम्मसङ्गहादिके सत्तपकरणभेदे अभिधम्मपिटके कुसलादिवसेन च नानानयन च देसिता न नारूपधम्मा त्यत्थो।"—अभि० स० टी०, पृ० २८४, "अभि अतिरेको धम्मो अभिधम्मो। सुत्तन्त-विनयाधिका पाळीति अत्थो, सत्तपकरण। अभिधम्मे वुत्ता अत्था अभिधम्मत्था अभिधम्मत्था सङ्गय्हन्ते एतेना ति अभिधम्मो।"—सङ्खेप०, पृ० २१५।

३ विभा०, पृ० ५६।

४ विभा०, पृ० ५६।

प्रज्ञप्त्यर्थ है, उसे ज्ञान से देखने पर हमे केश, लोम-आदि ३२ अवयव (कोट्ठास[1]) ही मिलेगे। वे अवयव भी प्रज्ञप्त्यर्थ ही है। उन अवयवो का भी सूक्ष्म निरीक्षण करने पर केवल 'अष्ट-कलाप[2]' ही दृष्टिगोचर होगे, पुद्‌गल कही उपलब्ध नही होगा। अत कलाप ही परमार्थ है और एकत्वविधया जो पुद्‌गल का भान होता है, वह प्रज्ञप्ति है। पुद्‌गल इस द्रव्य मे आलम्बन को जाननेवाले, स्पर्श करनेवाले, अनुभव करनेवाले, चित्त-स्पर्श-वेदना-आदि नाम-परमार्थ भी है। इस प्रकार पुदगल नामक सत्वप्रज्ञप्ति से 'रूप एव नाम परमार्थ' को निकाला जा सकता है। अथवा – 'पुद्‌गल'. द्रव्य मे योनिश मनसिकार करने पर नाम (चित्त, चैतसिक) एव रूप के अतिरिक्त कुछ भी उपलब्ध नही होता। अत नाम एव रूप ही परमार्थ है, जो 'पुद्‌गल' इस प्रज्ञप्ति से निकलते है। इसी प्रकार सजीव, निर्जीव-आदि प्रज्ञप्त्यर्थ से परमार्थ को निकाला जा सकता है। इसी अर्थ का प्रतिपादन 'विभावनी' की टीका 'मणिमञ्जूसा' मे "'निब्बत्तितपरमत्थवसेना' ति पञ्ञत्तितो विसु उद्धटपरमत्थभावेनेव[3]" – इस व्याख्या के द्वारा किया गया है। प्रज्ञप्तिधर्म आपातत देखने पर अस्तिवत् प्रतीत होते है, किन्तु वे वस्तुत व्यावहारिक सज्ञामात्र ही होते है। ये सजीव एव निर्जीव – उभयविध सृष्टि मे प्राप्त होते है। सजीव मे – मनुष्य, पशु, देव, ब्रह्मा-आदि प्रज्ञप्तिधर्म है। निर्जीव मे – वन, पर्वत, नदी-आदि प्रज्ञप्तिधर्म है। परमार्थधर्म वह है जिसका 'योनिश मनसिकार' करने पर भी अपलाप नही होता, जो अविपरीत, यथार्थ एव वस्तुसत् होता है[4]।

प्रज्ञप्तिज्ञान एवं परमार्थज्ञान – साधारण पृथग्जन तत्त्व (परमार्थ) को नही देख पाते, क्योकि परमार्थधर्म द्रव्य-सस्थान-आदि प्रज्ञप्ति से आवृत रहते है। हम केवल प्रज्ञप्त्यर्थ को ही देख पाते है। ज्ञानवान् पृथग्जन एव अर्हत्-आदि न केवल प्रज्ञप्त्यर्थ को ही, अपितु परमार्थ (चित्त, चैतसिक, रूप एव निर्वाण) को भी देखते है। जैसे – 'मनुष्य जाता है', यहाँ वस्तुत न मनुष्य जाता है और न तो जानेवाला कोई मनुष्य ही है। जब जाने की इच्छा (छन्दचैतसिक) होती है तब वायुप्रधान चित्तज-रूप[5] उत्पन्न होते है, इनमे विज्ञप्ति-(विञ्ञत्ति) रूप[6] सारथि की तरह सन्तुलन बनाये रखने का काम करते है। वायुधातु

---

१ बत्तीस कोट्ठास ये है—"अत्थि इमस्मि काये केसा, लोमा, नखा, दन्ता, तचो, मस, न्हारु, अट्ठि, अट्ठिमिञ्ज, वक्क, हदय, यकन, किलोमक, पिहक, पप्फास, अन्त, अन्तगुण, उदरिय, करीस, मत्थुलुङ्ग, पित्त, सेम्ह, पुब्बो, लोहित, सेदो, मेदो, अस्सु, वसा, खेळो, सिङ्घाणिका, लसिका, मुत्त ति।"—खु० नि०, खु० पा०, पृ० ४।

२ द्र० – अभि० स०, षष्ठ परि०, 'रूपकलापा'।

३ द्र० – मणि०, प्र० भा०, पृ० ८९।

४ 'परमो उत्तमो अविपरीतो अत्थो परमत्थो', अथवा 'परमस्स उत्तमस्स ञाणस्स अत्थो गोचरो परमत्थो।'—विभा०, पृ० ५७।

५. द्र० – अभि० स० ६ ४४।

६. द्र० – अभि० स० ६ १३।

और विज्ञप्तिरूप के द्वारा कलापसमूह के ढकेले जाने के कारण कलापसमूह चल रहा है, इसी को 'मनुष्य जाता है' – यह कहा जाता है। यहाँ पर 'कलापसमूह चल रहा है' – यह परमार्थज्ञान है, तथा 'मनुष्य चल रहा है'–यह ज्ञान मन कल्पित होने के कारण प्रज्ञप्तिज्ञान है[१]।

"चित्तनानत्तमागम्म नानत्त होति वायुनो।
वायुनानत्ततो नाना होति कायस्स इञ्जना[२]" ॥

चित्त के नानात्व (विकृति) की अपेक्षा कर के वायुनानात्व होता है। तथा वायु के नानात्व से काय की विविध गतियाँ होती हैं।

परमार्थ—इस प्रकार परमार्थ तत्त्व को जाननेवाले ज्ञानी पुद्गल प्रज्ञप्त्यर्थ का अतिक्रमण तथा परमार्थ तत्त्व का आलम्बन कर उन्हे अपने ज्ञान का गोचर बना सकते हैं। इसलिये 'परमत्थ' शब्द का 'परमस्स (उत्तमञाणस्स) अत्थो (गोचरो) परमत्थो' – यह विग्रह करना चाहिये, अर्थात् उत्तम ज्ञान का गोचर (आलम्बन) परमार्थ है।

अथवा – 'परमो (अविपरीतो) अत्थो परमत्थो', अर्थात् परमार्थ वह है जो अविपरीत-स्वभाव है। देव, मनुष्य-आदि प्रज्ञप्त्यर्थ विपरीत-स्वभाव होते हैं। इनके मूल-स्वभाव मे विकार हो जाता है। परमार्थधर्म कभी भी अपने मूल-स्वभाव से विपरीत (विकृत) नही होते। पुद्गलनामक स्कन्धद्रव्य-प्रज्ञप्ति[३] का विभाजन (विश्लेषण) करके देखने पर वह एक विकार ठहरता है, वहाँ केश, लोम-आदि प्रज्ञप्ति ही अवशिष्ट रहती है। किन्तु उन केश, लोम-आदि के जलाने पर उनका भी भस्म के रूप मे परिणाम (विकार) हो जाता है। भस्म-प्रज्ञप्ति भी धीरे धीरे धूलि (रजस्) हो जाती है। इस तरह सभी प्रज्ञप्त्यर्थ अपने मूल-स्वभाव से विकृत हो कर परिवर्तित (विपरीत-स्वभाव) हो जाने के कारण 'परमार्थ' नही कहे जा सकते।

---

१ तु० – "बुद्ध्या यस्येक्ष्यते चिह्न, तत्सज्ञेय चतुर्विधम्।
परमार्थेन सवृत्या, द्वयेनापेक्षयापि च" ॥ – अभि० दी०, पृ० २६२।
"भेदे यदि न तद्बुद्धिरन्यापोहे धियापि च।
घटाम्बुवत् सवृतिसत्, तदन्यत् परमार्थसत् ॥"
—अभि० को० ६ ४, पृ० १६१।
"द्वे सत्ये समुपाश्रित्य, बुद्धाना धर्मदेशना।
लोकसवृतिसत्यञ्च, सत्यञ्च परमार्थत ॥" – माध्य० २४ ८।
"समन्ताद् वरण सवृत्ति। अज्ञान हि समन्तात् सर्वपदार्थतत्त्वावच्छादनात् सवृतिरित्युच्यते परमश्चासावर्थश्चेति परमार्थ। तदेव सत्य परमार्थसत्यम्।"
—प्रसन्न०, पृ० ४९२-४९४।
"सवृति परमार्थश्च, सत्यद्वयमिद मतम्।
बुद्धेरगोचरस्तत्त्व, बुद्धि सवृतिरुच्यते ॥"—बोधि० ९ २, पृ० १७०।
द्र० – त्रि० २० – २१ का०।

२ सु० नि० अ०, पृ० २३७।

३ स्कन्ध पाँच होते हैं, यथा—रूप, वेदना, सज्ञा सस्कार, विज्ञान – इन्हे द्रव्यत ग्रहण करना स्कन्धद्रव्यप्रज्ञप्ति है।

नाम एव रूप धर्मों मे से पृथ्वीधातु कक्खळ-(खक्खट[1]—खुरदरा) स्वभाव है। उपर्युक्त धूलि मे पृथ्वीधातु के अनेक अणु होते है। पृथ्वीधातु के इस अणुगत कक्खळ स्वभाव का आबन्धन-स्वभाव (अब्धातु) मे, चित्त के आलम्बन-विजानन स्वभाव का स्पार्शन-आदि स्वभाव मे, स्पर्श के स्पार्शन स्वभाव का अनुभवन-आदि स्वभाव मे परिवर्तन असम्भव है, और ऐसा परिवर्तन करने मे कोई भी सक्षम नही है। जब इन साधारण धर्मो की यह अवस्था है तब निर्वाण के उपशम-स्वभाव की अविपरीतता के सम्बन्ध मे तो कहना ही क्या है! इसी प्रकार लोभ-आदि भी अपने गार्ध्य-स्वभाव से कभी भी च्युत नही होते। ये सभी परमार्थधर्म – चाहे कुशल हो चाहे अकुशल, अपने स्वभाव से च्युत न होने के कारण प्रशसित है। इसीलिये 'परमत्थ' का 'परमो (अविपरीतो) अत्थो परमत्थो' – ऐसा विग्रह किया गया है।

विशेष – 'परमो उत्तमो अविपरीतो अत्थो परमत्थो'[2] – इस प्रकार 'परमत्थ' शब्द की टीकाकारो ने व्याख्या की है। इसमे 'परम' शब्द का अर्थ प्रधान एव उत्तम, दोनो होता है। यहाँ 'उत्तम' अर्थ के ही ग्रहण के लिए 'परमो उत्तमो' – ऐसा कहा गया है। 'उत्तम' शब्द भी यहाँ 'प्रणीत'[3] अर्थ मे प्रयुक्त नही है, अपितु मूल-स्वभाव से 'अविपरीत-स्वभाव' के अर्थ मे है। अतएव 'उत्तमो अविपरीतो' – ऐसा कहा गया है।

अथवा – 'परमो' (पधानो) अत्थो परमत्थो' अर्थात् प्रधान अर्थ परमार्थ है – इस प्रकार का विग्रह अनुटीकाकार ने किया है[4]। इसका अभिप्राय यह है कि पृथ्वी, अप्, पर्वत, नदी, वन, ब्रह्मा, देव, मनुष्य-आदि नाना प्रकार के प्रज्ञप्त्यर्थो के होने पर भी ज्ञानचक्षु से देखने पर उनमे चित्त, चैतसिक, रूप एव निर्वाण ही प्रधान होते है। इसलिए परम का अर्थ 'प्रधान' किया गया है।

हीनधर्म एव परमार्थ—एक ओर 'धम्मसङ्गणिपालि' मे अकुशल चित्त एव तत्सम्प्रयुक्त चैतसिको का हीनधर्म मे ग्रहण होता है[5], दूसरी ओर ये चित्त, चैतसिक परमार्थ (उत्तम) धर्म भी कहे जाते है। यहाँ प्रश्न होता है कि ये चित्त-चैतसिक धर्म एक साथ हीनधर्म और परमार्थ-(उत्तम) धर्म कैसे होते है?

उत्तर—यह सत्य है कि अकुशल धर्म वस्तुत स्वभाव से हीन होते है, तथापि जिन पुद्गलो मे ये लोभादि अकुशल धर्म (चित्त-चैतसिक) विद्यमान है, उन पुद्गलो मे वे लोभादि, चाहे वे पुद्गल, पशु, मनुष्य अथवा ब्रह्मा-आदि देवता ही क्यो न हो, अपने गार्ध्य-आदि स्वभाव को कभी भी नही छोडते। इसीलिये इनको 'परमार्थ' कहा गया है। यहाँ 'परम' का अर्थ हीन से विपरीत प्रणीत नही, अपितु अविपरीत है।

---

१ म० व्यु०, पृ० ३१, अभि० दी०, पृ० १२।

२ विभा०, पृ० ५७।

३ ध० स०, पृ० २३६।

४ "अविपरीतभावतो येव परमो पधानो अत्थो ति परमत्थो।"—कथा० अनु०, पृ० ६०।

५ ध० स०, पृ० २३५; अट्ठ०, पृ० ३८।

चित्त—"आरम्मण चिन्तेतीति चित्त, विजानातीति अत्थो[1]" जो आलम्बन को जानता है वह चित्त है। यह सज्ञा एव प्रज्ञा की अपेक्षा विशिष्ट (भिन्न) प्रकार से जानता है, अत 'विजानाति' – यह कहा गया है। आलम्बन को जानने के तीन प्रकार होते हैं, जैसे – सज्ञा द्वारा जानना, विज्ञान द्वारा जानना तथा प्रज्ञा द्वारा जानना[2]। चाहे मिथ्या हो, चाहे सत्य, सञ्जाननमात्र सज्ञा के द्वारा जानना है। मिथ्या न होकर सत्य को ही प्रतिवेध-(यथाभूत) ज्ञान से जानना, प्रज्ञा के द्वारा जानना है। किसी एक आलम्बन का ग्रहण करना, विज्ञान के द्वारा जानना है। 'चिन्तेति' – इस शब्द की 'विजानाति' – इस व्याख्या मे विज्ञान द्वारा जानना सज्ञा एव प्रज्ञा से अधिक जानना नही है, अपितु विशिष्ट (भिन्न) प्रकार से जानना है[3]। इसी अभिप्राय से 'विजानातीति अत्थो' – ऐसा कहा गया है।

अथवा – 'चिन्तेन्ति एतेना ति चित्त' जिस धर्म के द्वारा सम्प्रयुक्त धर्म आलम्बन को जानते हैं वह धर्म चित्त है। स्पर्श-(फस्स) आदि चैतसिक चित्त का आश्रय ले कर आलम्बन को जान सकते है, अत चित्त, स्पर्श-आदि चैतसिको के द्वारा आलम्बन के जानने मे करणभूत होता है।

अथवा – 'चिन्तन चित्त' आलम्बन को जाननामात्र चित्त है[4]।

इस प्रकार परमार्थधर्मो के द्योतक शब्दो मे कर्तृसाधन, करणसाधन एव भाव-साधन – इस तरह त्रिविध विग्रह किये जा सकते है। इनमे से कर्तृसाधन एव करण-साधन विग्रह परमार्थस्वभाव को ठीक ठीक अभिलक्षित नही करते। ये केवल सत्कायदृष्टि[5]

---

१ अट्ठ०, पृ० ५३, "विज्ञान प्रतिविज्ञप्ति।"—अभि० को० १ १६ का०, "विषय विषय प्रति उपलब्धिरेव विज्ञानस्कन्ध"—रा० सा०, पृ० ७। "जो सञ्चय करता है (चिनोति) वह चित्त है। यही मनस् है, क्योकि यह मनन करता है (मनुते)। यही विज्ञान है, क्योकि यह अपने आलम्बन को जानता है (आलम्बन विजानाति)।"—आ० न० दे०, अभि० को० २ : ३४ का०, पृ० १३६। "वस्तूपलब्धिमात्र हि चित्त" अभि० दी०, वि० प्र० वृ०, पृ० ७८। "विजाननलक्षण विज्ञानम्"—अभि० समु०, पृ० ३। "तदालम्ब मनो नाम विज्ञान मननात्मकम्।"—त्रि०, ५ का०। "तत्रार्थदृष्टिर्विज्ञानम्" –प्रस०, पृ० ६५।

२ विसु०, पृ० ३०४ – ५।

३ "विजानातीति सञ्ञापञ्ञाकिच्चविसिट्ठ विसयग्गहण।"-ध० स० मू०, पृ० ६५।

४ विस्तार के लिये द्र० – विभा०, पृ० ५७; प० दी०, पृ० १६।

५ "सक्कायदिट्ठीति विज्जमानट्ठेन सति खन्धपञ्चकसङ्खाते काये, सय वा सती तस्मि काये दिट्ठीति 'सक्कायदिट्ठि'।"—अट्ठ०, पृ० २७८।

"दिट्ठिया गहितो अत्ता न विज्जति, येसु पन विपल्लट्ठगाहो ते उपादानक्खन्धा व विज्जन्ति। तस्मा यस्मि अविज्जमाननिच्चादिविपरियासाकारगहण अत्थि, सो व उपादानक्खन्धपञ्चकसङ्खातो कायो। तत्थ निच्चादि-आकारस्स अविज्जमानता-दस्सनत्थ रुप्पनादिसभावस्सेव च विज्जमानतादस्सनत्थ अविज्जमानो कायो ति विसेसेत्वा वुत्तो। लोकुत्तरा पन न कदाचि अविज्जमानाकारेन गय्हन्तीति न इद विसेसन अरहन्ति। सक्कायदिट्ठि – सति वा काये दिट्ठि सक्कायदिट्ठि। अत्तना गहीता-कारस्स अविज्जमानताय सयमेव सती, न ताय गहीतो अत्ता अत्तनीय वा ति अत्थो।" – ध० स० मू० टी०, पृ० १६१।

से युक्त पुद्गलो के मतवाद को निरस्त करने के लिये ही पर्याय से प्रयुक्त होते है। परमार्थ-स्वभाव को यथार्थ रूप से न जाननेवाले कुछ पृथग्जन 'उन उन कर्मो को करनेवाला कारक एव उन उन फलो का अनुभव करनेवाला वेदक आत्मा स्कन्धद्रव्य मे है तथा आलम्बन के जानने मे 'जानना'-क्रिया चित्त है, और इस 'जानना'-क्रिया का उत्पादक कर्ता आत्मा ही है' – इस प्रकार उपादान (ग्रहण) करते है। इस मिथ्याधारणा का प्रहाण करने के लिये चित्त मे जाननेवाली कर्तृशक्ति के न होने पर भी, होने की तरह, तद्धर्मोपचार से उसमे 'चिन्तेन्तीति चित्त' – ऐसे कर्तृसाधन विग्रह का आरोप किया जाता है। अर्थात् 'आलम्बन के जानने मे आत्मा जानता है' – ऐसा नही, क्योकि आत्मा सर्वथा है ही नही, चित्त ही जानता है। चित्तस्वभाव के अतिरिक्त अन्य कोई जाननेवाला कर्ता (ज्ञाता) नही है।

कुछ लोग – 'स्पर्श-(फस्स) आदि धर्म आत्मा के कारण ही आलम्बन को जानते है, आत्मा ही 'जानना'-क्रिया को सिद्ध करनेवाली साधकतम शक्ति है' – ऐसा उपादान (ग्रहण) करते है। इस मिथ्याधारणा का निरास करने के लिये चित्त मे क्रियासाधक शक्ति के न होने पर भी, होने की तरह, तद्धर्मोपचार से उसमे 'चिन्तेन्ति एतेना ति चित्त'–इस प्रकार के करणसाधक विग्रह का आरोप किया गया है। अर्थात् 'स्पर्श-आदि धर्मो के द्वारा आलम्बन के जानने मे आत्मा करण है' ऐसा नही, क्योकि आत्मा सर्वथा है ही नही, चित्त ही स्पर्श-आदि धर्मो के द्वारा आलम्बन के जानने मे करण होता है।

इस प्रकार आत्मवादियो की सत्कायदृष्टि का प्रहाण करने के लिये कर्तृसाधन एव करणसाधन विग्रहो के करने पर भी चित्त मे वस्तुत कर्तृशक्ति एव करणशक्ति – दोनो नही है। ये दोनो विग्रह परमार्थस्वभाव का यथार्थ निरूपण नही करते। वस्तुत चित्त आलम्बन की 'जानना-क्रियामात्र' होने से 'चिन्तन चित्त' – यह भावसाधन-विग्रह ही उसके परमार्थ स्वरूप का यथार्थ अवबोधक होता है[1]।

लक्षणादिचतुष्क—ये परमार्थधर्म सत् रूप से विद्यमान है, तथापि अतिगम्भीर होने के कारण सामान्य ज्ञान के द्वारा दुर्ज्ञेय होते है। 'कम्मट्ठान' (कर्मस्थान) करनेवाले योगिजनो को भी यथार्थरूप से जानने के लिये लक्षण, रस, प्रत्युपस्थान (पच्चुपट्ठान) एव पदस्थान (पदट्ठान) के द्वारा उनकी पुन पुन भावना करनी पडती है। इसलिये यहाँ पर भी लक्षणादिचतुष्टय का प्रतिपादन किया जा रहा है।

"सामञ्ञ वा सभावो वा धम्मान लक्खण मत।
किच्च वा तस्स सम्पत्ति रसो ति परिदीपये॥
फल वा पच्चुपट्ठानमुपट्ठानाकारोपि वा।
आसन्नकारण य तु पदट्ठान ति त मत[2]"॥

१. विस्तार के लिये द्र० – प० दी०, पृ० १६, १७।

२ ब० भा० टी०; मणि०, प्र० भा०, पृ० २३१। तु०—"लक्खणादीसु हि तेस तेस धम्मान सभावो वा सामञ्ञ वा लक्खण नाम, किच्च वा सम्पत्ति वा रसो नाम, उपट्ठानाकारो वा फल वा पच्चुपट्ठान नाम, आसन्नकारण पदट्ठान नाम।"—अट्ठ०, पृ० ५३।

लक्खण—'सामञ्ञ वा सभावो वा धम्मान लक्खण मत' परमार्थधर्मों के सर्व-साधारण सङ्केत को 'सामान्यलक्षण' तथा केवल अपने से सम्बन्ध रखनेवाले स्वभावसङ्केत को 'स्वभावलक्षण' कहते है। जैसे—प्रत्येक पुरुष मे सभी लोगो के जानने के लिये श्वैत्य-कार्ष्ण्यं तथा कार्श्य-स्थौल्य-आदि नाना प्रकार के परिचायक सङ्केत होते है, उसी प्रकार परमार्थधर्मो मे भी योगियो के ज्ञान के लिये भिन्न भिन्न सङ्केत होते है। उन सङ्केतो को 'लक्षण' कहते है।

सम्पूर्ण धर्ममात्र से सम्बन्ध रखनेवाला लक्षण 'सामान्यलक्षण' है तथा केवल स्व (अपने) से सम्बन्ध रखनेवाला लक्षण 'स्वभावलक्षण' है। इन दोनो (सामान्य एव स्वभाव) लक्षणो मे से अनित्यता, दु खता एव अनात्मता – सभी नाम, रूप एव सस्कार धर्मो से सम्बद्ध है; अत ये उनके सामान्यलक्षण है। 'रुप्पन' (विकार) लक्षण का सभी रूपधर्मो से तथा 'नमन'[1] (प्रवृत्ति या प्रवर्त्तन) लक्षण का सभी नामधर्मों से सम्बन्ध होने के कारण ये 'रुप्पन' एव 'नमन' लक्षण, रूप एव नाम धर्मों के 'सामान्य-लक्षण' है। इस प्रकार सर्वसाधारण सङ्केत को 'सामान्यलक्षण' कहते है। तथा 'आलम्बन-विजानन' लक्षण का केवल चित्त से ही, 'फुसन' (स्पार्शन) लक्षण का केवल स्पर्श से ही तथा 'अनुभवन' लक्षण का केवल वेदना से ही सम्बन्ध होने के कारण ये 'आलम्बन-विजानन'-आदि लक्षण उन उन धर्मो के 'स्वभावलक्षण' होते है। इस प्रकार अपने असाधारण स्वभाव या सङ्केत को 'स्वभावलक्षण' कहते है।

रसो—'किच्च वा तस्स सम्पत्ति रसो ति' परमार्थधर्मो के 'कृत्य' एव 'सम्पत्ति' (कारणसामग्री से उत्पत्ति) को रस कहते है। वह रस भी – परमार्थधर्मो के कार्यनामक 'कृत्यरस' एव कारणसामग्री की सम्पन्नता से उत्पत्तिनामक 'सम्पत्तिरस' – इस प्रकार द्विविध होता है। इनमे भी कुछ धर्मो मे कृत्यरस स्पष्ट होता है तथा कुछ धर्मो मे सम्पत्तिरस स्पष्ट होता है।

पच्चुपट्ठान—'फल वा पच्चुपट्ठानमुपट्ठानाकारोपि वा' फल अथवा योगी के ज्ञान मे अवभासित आकार को पच्चुपट्ठान (प्रत्युपस्थान) कहते है। पच्चुपट्ठान भी – 'फलपच्चु-पट्ठान' एव 'उपट्ठानाकारपच्चुपट्ठान' (उपस्थानाकार-प्रत्युपस्थान) – इस प्रकार द्विविध होता है। उनमे से 'फलपच्चुपट्ठान' कृत्यरस के कारण प्राप्त फल है। जैसे – किसी कृत्य को करने पर उसका कोई एक फल प्राप्त होता है। उपट्ठानाकार-पच्चुपट्ठान आवर्जन करते समय योगिज्ञान मे अवभासित आकार है। जैसे – किसी व्यक्ति को देखने पर उसके चित्तस्वभाव का अवभास हो जाता है।

पदट्ठान—'आसन्नकारण य तु पदट्ठान ति त मत' आसन्नकारण को 'पदट्ठान' (पदस्थान) कहते है। कारण दो प्रकार के होते है—आसन्नकारण एव दूरकारण। इनमे से आसन्नकारण को 'पदट्ठान' कहते है।

---

१ "नामकरणट्ठेन च नमनट्ठेन च नामनट्ठेन च नाम। तत्थ चत्तारो ताव खन्धा नामकरणट्ठेन नाम। 'नमनट्ठेना' पि चेत्थ चत्तारो खन्धा नाम। तेहि आरम्मणाभिमुखा नमन्ति। 'नामनट्ठेन' सब्ब पि नाम। चत्तारो खन्धा आरम्मणे अञ्ञमञ्ञ नामेन्ति। निब्बाण आरम्मणाधिपतिपच्चयताय अत्तनि

चित्त के लक्षणादिचतुष्क—

"विजाननलक्खण चित्त पुब्बङ्गमरस तथा ।
सन्धानपच्चुपट्ठान नामरूपपदट्ठान[1]" ॥

चित्त विजाननलक्षण है। सम्प्रयुक्त चैतसिको का पूर्वगामी होना, उसका रस है। पूर्वगामी भी द्विविध होता है—पुरेचारिकपूर्वगामी तथा प्रधानपूर्वगामी[2]। यहाँ सम्प्रयुक्त चैतसिक धर्मो के द्वारा आलम्बन के ग्रहण मे प्रधान होने के कारण चित्त प्रधानपूर्वगामी है[3]। चित्तसन्तति को विच्छिन्न न होने देने के लिये अर्थात् उसकी निरन्तर प्रवृत्ति के लिये अनन्तर[4], समनन्तर[4]-आदि शक्तियो के द्वारा पश्चिम पश्चिम चित्तो का पूर्व पूर्व चित्तो से सन्धान करनेवाला यह धर्म है – ऐसा योगिज्ञान मे अवभासित होता है। नाम एव रूपो के न होने पर चित्तोत्पाद भी नही हो सकता, अत नाम (सम्प्रयुक्त चैतसिक) एव रूप धर्म चित्तोत्पत्ति के आसन्नकारण है।

[अरूपभूमि मे रूपधर्मो के न होने से वहाँ चित्तोत्पाद के आसन्नकारण (पदस्थान) केवल नाम (चैतसिक) ही होते है, अत आसन्नकारण मे रूप का ग्रहण यद्भूयसिक (प्रायिक) है।]

चेतसिक—'चेतसि भव तदायत्तवुत्तिताया ति चेतसिक[5]' चित्तायत्तवृत्तिता के कारण, अर्थात् चित्त से सम्बद्ध हो कर उत्पन्न होने के कारण, चित्त मे होनेवाले धर्मो को 'चैतसिक' कहते है। 'चेतसि भव चेतसिक'—यह प्रधान विग्रहवाक्य है तथा 'तदायत्तवुत्तिताय'-यह वचन 'चित्त-चैतसिक धर्मो मे परस्पर आधार-आधेयभाव है'—इस धारणा को उत्पन्न न होने देने के लिये प्रयुक्त है; क्योकि 'चेतसि भव' (चित्त मे उत्पन्न होनेवाला धर्म चैतसिक है) मात्र इतना विग्रह करने पर 'चित्त आधार है और चैतसिक उस आधार मे होनेवाले आधेय है'—ऐसी मिथ्या धारणा की सम्भावना हो सकती है। वस्तुत उस प्रकार चैतसिक चित्त मे आहित नही है। स्पर्श, वेदना-आदि चैतसिक धर्मो के द्वारा आलम्बन के स्पर्श एव अनुभवन-आदि कृत्य प्रधान-पूर्वगामी चित्त के न होने पर सम्पन्न नही हो सकते। चित्त से सम्बद्ध होने पर ही वे सम्भव है। इसीलिये 'चेतसि भव चेतसिक' कहा गया है। ("चेतसि नियुत्त चेतसिक[6]" चित्त मे सम्प्रयुक्त धर्म चैतसिक है—ऐसा विग्रह भी किया गया है।)

चित्त को स्पार्शिक (फस्सिक) आदि नही कहा जा सकता—यदि चित्त से सम्बद्ध होने के कारण स्पर्श, वेदना-आदि धर्मो को चैतसिक कहा जाता है तो प्रश्न यह होता है कि चित्त भी तो अकेले उत्पन्न नही होता ? वह भी स्पर्श, वेदना-आदि

---

१ ब० भा० टी०। तु० – अट्ठ०, पृ० ६२, विसु०, पृ० ३१५।

२ धम्मपद मे भी मनस् की पूर्वगामिता वर्णित है—
"मनोपुब्बङ्गमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया।"–खु० नि०, प्र० भा०, धम्म०, पृ० १७।

३ तुलना कीजिये—"चित्त प्रधानमेतेषा . " अभि० दी०, पृ० ७८।

४ द्र० – अष्ट० परि०, 'पट्ठाननयो'।

५ विभा०, पृ० ५७, प० दी०, पृ० १७। तु०–"तस्य धर्मा. सम्प्रयोगिणश्चैतसिका इति।"—अभि० दी०, पृ० ७६।

६ विभा०, पृ० ५७।

सर्वचित्तसाधारण चैतसिक धर्मों से सम्बद्ध हो कर ही उत्पन्न होता है; ऐसी स्थिति मे चित्त को भी 'फस्से भव फस्सिक', 'वेदनाय भव वेदनिक' - आदि विग्रह कर के फस्सिक (स्पार्शिक), वेदनिक-(वैदनिक) आदि कहना चाहिये ?

समाधान – यद्यपि चित्त स्पर्श, वेदना-आदि चैतसिक धर्मों से सम्बद्ध होकर उत्पन्न होता है, तथापि उनमे चित्त के ही प्रधान होने के कारण उसे 'फस्सिक', 'वेदनिक'-आदि नही कहा जा सकता।

उपर्युक्त समाधान के अनुसार निष्कर्ष यह हुआ कि चित्त एव चैतसिको मे चित्त प्रधान एव चैतसिक अप्रधान होते हैं, क्योकि कुछ चैतसिको के न होने पर भी आलम्बन का ग्रहण हो सकता है, किन्तु चित्त के न होने पर आलम्बन का ग्रहण कथमपि नही हो सकता। यही चित्त की प्रधानता है[1]।

और एक प्रश्न—'चित्त के न होने पर आलम्बन का ग्रहण नही होता, इसलिये चित्त प्रधान है'–यदि ऐसा कहा जाता है तो स्पर्श, वेदना-आदि सर्वचित्तसाधारण चैतसिको के भी सभी चित्तो से सर्वदा सम्प्रयुक्त रहने के कारण इनके न होने पर भी तो आलम्बन का ग्रहण नही हो सकता – ऐसी स्थिति मे इन्हे ही क्यो नही प्रधान कहा जाता है ?

उत्तर—यह सत्य है। यद्यपि स्पर्श, वेदना-आदि सर्वचित्तसाधारण चैतसिको के न होने पर आलम्बन का ग्रहण नही हो सकता, तथापि इन्हे प्रधान नही कहा जा सकता। जैसे – किसी राजा का आगमन उसके सरक्षक-आदि के बिना नही होता तो भी वे सरक्षक-आदि प्रधान नही होते। इसीलिये 'राजा आगतो'[2] – इसके द्वारा राजा के आगमन का ही प्रधानतया उल्लेख होता है। उसी प्रकार प्रधान चित्त से सम्बद्ध होने के कारण स्पर्श, वेदना-आदि को ही चैतसिक कहा जा सकता है, अप्रधान स्पर्श, वेदना-आदि से सम्बद्ध होने के कारण चित्त को 'फस्सिक', 'वेदनिक-आदि' नही कहा जा सकता।

और एक प्रश्न—ऊपर कहा गया है कि 'कुछ चैतसिको के न होने पर भी आलम्बन का ग्रहण हो सकता है, किन्तु चित्त के न होने पर आलम्बन का ग्रहण कथमपि नही हो सकता', किन्तु चित्त के द्वारा आलम्बन के ग्रहण करने मे भी सभी चित्त तो उस (आलम्बन) का एक साथ ग्रहण नही करते, जैसे—कुशल चित्तो के द्वारा आलम्बन का ग्रहण करते समय वहाँ अकुशल एव अव्याकृत चित्त नही होते, कुशलचित्तो मे भी महाकुशल प्रथम चित्त के द्वारा आलम्बन का ग्रहण करते समय अन्य कुशलचित्त नही होते, अत आलम्बन के ग्रहण करने मे जिस प्रकार कुछ चैतसिको के न होने पर भी आलम्बन का ग्रहण हो सकता है, उसी प्रकार कुछ चित्तो के न होने पर भी तो आलम्बन का ग्रहण हो ही सकता है ?

---

१. "एव च सति चित्त पि तेहि फस्सादीहि सह तथेव आयत्त पवत्ततीति त पि फस्सिक वेदनिक ति आदिना वत्तब्ब ति चे, न, चित्तस्सेव जेट्ठकत्ता, 'मनोपुब्बङ्गमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया' ति हि वुत्त।"—प० दी०, पृ० १७।

२ उपमा के लिये तु०—अट्ठ०, पृ० ५६।

उत्तर – यह प्रश्न हो ही नही सकता, क्योकि यह मूल से ही गलत है। जिस प्रकार फुसन (स्पार्शन) लक्षण के द्वारा स्पर्श एक ही होता है तथा अनुभवनलक्षण के द्वारा वेदना एक ही होती है, उसी प्रकार आलम्बनविजाननलक्षण के द्वारा चित्त भी एक ही होता है। कुशल, अकुशल एव अव्याकृत भेद से चित्त १२१ प्रकार का नही होता; अपितु सम्प्रयुक्त चैतसिको के नानाविध भेद होने के कारण उनसे सम्प्रयुक्त चित्त नानाविध (१२१ प्रकार का) होता है। वस्तुत चित्त जब अकुशल चैतसिको से सम्प्रयुक्त होता है तब भी वह विजाननलक्षण है; एव जब शोभनचैतसिको से सम्प्रयुक्त होता है तब भी वह विजाननलक्षण ही है। जैसे – अनेक सस्थाओ की अध्यक्षता करनेवाला पुद्गल जब किसी एक सस्था की सभा की अध्यक्षता कर रहा होता है तब वह केवल उसी सस्था का अध्यक्ष होता है, अन्य का नही। उस समय दूसरी सस्थाओ मे केवल सदस्यमात्र अवशिष्ट रहते है, अध्यक्ष नही। भिन्न भिन्न समयो मे भिन्न भिन्न सभाओ का अध्यक्ष रहने पर भी जैसे पुद्गल एक ही रहता है, उसी तरह चित्त जब श्रद्धा-आदि शोभनचैतसिको से सम्प्रयुक्त होता है उस समय मोह-आदि अन्य अकुशल चैतसिक चित्त के बिना ही अवशिष्ट रहते है, उनमे चित्त नही रहता। उपर्युक्त 'जिस प्रकार कुछ चैतसिको के न होने पर भी आलम्बन का ग्रहण हो सकता है, उसी प्रकार कुछ चित्तो के न होने पर भी तो आलम्बन का ग्रहण हो सकता है ?' – यह प्रश्न चित्त नामक परमार्थधर्म के एकत्वस्वभाव (चित्त एक ही है) के न जानने के कारण ही उत्पन्न होता है। अतएव कहा गया है कि यह प्रश्न मूल से गलत है।

रूप – "सीतुण्हादिविरोधिपच्चयेहि रुप्पतीति रूप[1]" शीत, उष्ण-आदि विरोधी प्रत्ययो से जो विकार को प्राप्त हो जाते है उन्हे 'रूप' कहते है। अर्थात् शीत, उष्ण-आदि विरोधी कारणो के समागम से विकार को प्राप्त हो जानेवाले धर्म 'रूप' है। 'सीतुण्हादि' मे 'आदि' शब्द के द्वारा जिघत्सा (बुभुक्षा), पिपासा, दश, मशक, वातातप, सरीसृप-आदि अन्तरायो का ग्रहण होता है।

"रुप्पतीति खो भिक्खवे, तस्मा रूप ति वुच्चति। केन रुप्पति ? सीतेनापि रुप्पति, उण्हेनापि रुप्पति, जिघच्छायापि रुप्पति, पिपासायापि रुप्पति, डसमकसवातातप-सरीसपसम्फस्सेनापि रुप्पति[2]"।

---

१ "रुप्पतीति रूप, सीतुण्हादिविरोधिपच्चयेहि विकारमापज्जति आपादीयतीति वा अत्थो।" – विभा०, पृ० ५७।

"रुप्पतीति रूप, सीतुण्हादिविरोधिपच्चयेहि विसमपवत्तीति वसेन विकार आपज्जति, तेहि वा विकार आपादीयतीति अत्थो।" – प० दी०, पृ० १८।

"रूपणलक्षण रूप" – अभि० समु०, पृ० २।

"'रूप्यते' का अर्थ 'बाध्यते' है किन्तु रूप कैसे बाधित होता है ? विपरिणाम के उत्पादन से, विक्रिया से" – आ० न० दे०, अभि० को० १ . १३, पृ० २२।

"पाण्यादिसस्पर्शैर्बाधनालक्षणाद् रूपणात्। इदमिहामुत्रेति देशनिदर्शनरूपणाच्च" अभि० को० १ २४ पर स्फु०, पृ० ५१।

२ स० नि०, द्वि० भा०, पृ० ३१२।

विकार – पूर्व रूपसन्तति से भिन्न हो कर पश्चिम रूपसन्तति के उत्पाद को ही विकार (रुप्पति) कहते है[1]। रूप का स्थितिक्षण नाम के स्थितिक्षण से दीर्घ होता है, इसीलिये स्थितिक्षण मे रूप का विरोधी प्रत्ययो से समागम हो जाता है। जैसे – उष्ण ऋतु के आधिपत्य-काल मे जब उष्णरूपसन्तति प्रवर्तमान होती है, उस समय शीत ऋतु के उत्पन्न हो जाने पर उस शीत ऋतु का उष्णरूपसन्तति के साथ स्थितिक्षण मे सर्वप्रथम सन्निपात होता है, किन्तु वह सन्निपात विभत (स्पष्ट) नही होता। द्वितीय बार, तृतीय बार भी सन्निपात होता है। इस तरह स्थितिक्षण मे जब पुन पुन शीत ऋतु से सन्निपात होता है, तब उष्णरूपसन्तति विनष्ट होकर शीतलरूपसन्तति के रूप मे विकार को प्राप्त होती है। इसी तरह शीतलरूपसन्तति के विनष्ट होने पर उसके उष्णरूपसन्तति के रूप मे होनेवाले विकार को भी जानना चाहिये। इस प्रकार पूर्व पूर्व रूपसन्तति से विसदृश पश्चिम पश्चिम रूपसन्तति की उत्पत्ति को ही विकार (रुप्पति) कहा गया है, यथा –

"विकारापत्ति च सीतादिसन्निपाते विसदिसुप्पत्ति येव[2]।"

सर्दी (जुकाम), शीत ऋतु मे त्वचा का फटना-आदि शीत से होनेवाले रूप के विकार है। शरीर का रक्तवर्ण हो जाना आदि उष्ण से होनेवाले रूप के विकार है। इसी प्रकार बुभुक्षा एव पिपासा से भी रूपो के विकार को समझना चाहिये। अकुशल-कर्मो से कुष्ठ-आदि का होना, चित्त से चित्तज रोगो का होना एव प्रतिकूल आहार से स्तम्भ-(गठिया) आदि रोगो का होना – कर्म, चित्त एव आहार से होनेवाले रूपो के विकार के निदर्शन है।

प्रश्न – यदि पूर्व रूपसन्तति से भिन्न हो कर पश्चिम रूपसन्तति के स्वरूप मे उत्पाद (रुप्पन) को 'रूप' कहा जाता है तो नामधर्मो के कुशलसन्तति से भिन्न होकर अकुशलसन्तति के स्वरूप मे उत्पाद को 'रूप' क्यो नही कहा जाता?

उत्तर – 'रुप्पतीति रूप' मे विभूततर (स्पष्टतर) रुप्पन (विकार) ही अभीष्ट है। अत नामधर्मो के अविभूत (अस्पष्ट या सूक्ष्म) विकार को रूप नही कहा जा सकता। विकार द्विविध होता है – विभूत एव अविभूत। नामधर्मो का विकार अविभूत होता है। परचित्त-विजानन-कुशल पुद्गल ही उसको जान सकते है। रूपधर्मों का विकार इतना स्पष्ट है कि उसे साधारण बालक भी सहज ही जान सकते है[3]। पदार्थों का नामकरण भी इस प्रकार किया जाना चाहिये कि जिससे व्यवहार मे उनका ज्ञान, साधारण लोगो को भी उन पदार्थो के नाम से ही आसानी से हो जाय। नामधर्मों को यदि रूप कहा जायेगा तो उनके विकार के अत्यन्त अविभूत होने से 'रूप' इस नाम (शब्द) के द्वारा व्यवहार मे उनका ज्ञान सर्वसाधारण को आसानी से नही हो सकता। पृथ्वी, अप्-आदि के विकारो के अतिविभूत होने से उनका 'रूप' यह नाम व्यवहार मे भी अपने नाम के अनुकल ही होता है। इसलिये 'सीतेनापि रुप्पति', 'उण्हेनापि रुप्पति'–

---

१ द्र० – प० दी०, पृ० १८। २ विभ० मू० टी०, पृ० ५।
३ प० दी०, पृ० १९।

आदि मे शीत, उष्ण-आदि के समागम से होनेवाले विभूततर विकार को लक्ष्य करके ही 'रूप' कहा गया है[1]।

अविपरीत एवं रुप्पन – परमार्थधर्म की व्याख्या के प्रसङ्ग मे कहा गया है कि परमार्थधर्म अविपरीतस्वभाव (अविकारशील) होते है[2], फिर यहाँ रूप (परमार्थधर्म) को रुप्पनस्वभाव (विकारशील) कहा गया है, अत आपके व्याख्यान मे पूर्वापरविरोध होता है ?

उत्तर – अपने स्वभाव की अविकृति 'अविपरीतता' है तथा सन्ततिप्रज्ञप्ति का विकार 'रुप्पन' है, अत पूर्वापरविरोध नही होता।

रूपकलापो के निरन्तर उत्पाद को सन्तति कहते है। शीतलरूपकलापो के निरन्तर उत्पाद के समय जब तक उनका उष्णरूपसन्तति के रूप मे विकार नही होता तब तक उनको एक 'शीतलरूपसन्तति' कहते है। उष्णरूपकलापो के निरन्तर उत्पाद के समय जब तक उनका शीतलरूपसन्तति के रूप मे विकार नही होता तब तक उनको एक 'उष्णरूपसन्तति' कहते है। इस प्रकार की सन्तति को एक 'सन्ततिप्रज्ञप्ति' कहा जाता है। उस एक सन्ततिप्रज्ञप्ति के अन्य सन्ततिप्रज्ञप्ति के रूप मे परिवर्तन को रुप्पन (विकार) कहते है। इस प्रकार से सन्ततिप्रज्ञप्ति के परिवर्तित होने पर भी 'रूपधर्म' अपने स्वभाव से कभी विपरीत नही होते। पृथ्वीधातु कक्खळस्वभाव (खर-स्वभाव) है। उसका यह अपना कक्खळस्वभाव कभी भी विकृत नही होता। शीतल-रूपसन्तति मे होनेवाली पृथ्वीधातु भी कक्खळस्वभाव है तथा उष्णरूपसन्तति मे होनेवाली पृथ्वीधातु भी कक्खळस्वभाव ही है। जैसे निम्बवृक्ष का, अपनी अङ्कुरसन्तति से लेकर जीर्णसन्ततिपर्यन्त, नाना अवस्थाओ मे नानाविधसन्तति के रूप मे परिवर्तन होने पर भी उसके मूलस्वभाव (तिक्तरस) मे कभी भी परिवर्तन नही होता। रूप की यही अविपरीतता है, अत यह परमार्थ है।

वादान्तर – कुछ लोग कहते है कि पूर्वोत्पन्न रूपसन्तति से उपबृहित (उपचित) होकर उत्पन्न पश्चिम रूपसन्तति मे होनेवाले एक प्रकार के उपबृहण (पुष्टि) को 'रुप्पन' कहते है। जैसे–रुग्णताजन्य क्षीणरूपसन्तति से, स्वस्थ होने से उपबृहित रूपसन्तति का उत्पन्न होना, रुप्पन (विकार) है। दूसरे लोग कहते है कि आकुञ्चित रूपसन्तति से प्रसारित रूपसन्तति का उत्पन्न होना, जैसे – उपविष्ट (बैठी हुई) रूपसन्तति से उत्थित (खडी हुई) रूपसन्तति का उत्पन्न होना आदि 'रुप्पन' है। उपर्युक्त कथनो के अनित्यतालक्षण के पोषक (परिचायक) होने से ये (कथन) समीचीन नही है।

'खन्धविभङ्ग-अट्ठकथा' मे 'रुप्पन' शब्द का अर्थ "रुप्पतीति कुप्पति, घट्टीयति, पीळियति, भिज्जति[3]" किया गया है। अर्थात् नष्ट होना, घट्टित होना, पीड़ित होना,

---

१ "सीतादिगहणसामत्थियतो विभूततरस्सेव रुप्पनस्साधिपेतत्ता" विभा०, प० ५८; तु० – प० दी०, पृ० १९।

२. पीछे पृ० ८ देखे।

३ विभ० अ०, पृ० ४।

भिन्न होना 'रुप्पन' शब्द के अर्थ है, एक रूप से दूसरे रूप मे उपबृहित (पुष्ट) होना नही है। 'सीतेनापि रुप्पति, उण्हेनापि रुप्पति' आदि पालि के द्वारा नष्ट करनेवाले विरोधी प्रत्ययो को ही दिखलाया गया है; पुष्ट करनेवाले कारणो को नही। अत उपर्यक्त वाद अमान्य है।

रूपभूमि का रूप – कुछ लोग विचित्रतापूर्वक यह प्रश्न उपस्थित करते है कि रूपभूमि मे शीत, उष्ण-आदि विरोधी प्रत्यय नही होते, ऋतु भी सब अनुकूल ही होती है; अत रूपभूमि मे पृथ्वी, अप्-आदि रूपकलापो मे विकार के न होने से रूप को 'रुप्पन-लक्षण' नही कहा जा सकता ?

निराकरण – 'रुप्पन' का अभिप्राय स्वभाव से होनेवाले विकार से नही, अपितु विरोधी प्रत्ययो के समागम से होनेवाले विकार से है। रूपभूमि मे होनेवाले रूपो का यदि विरोधी प्रत्ययो से समागम होता है तो मुख्य रूप से विकार होगा। वह (रूप) विकारस्वभाव का अतिक्रम नही कर सकता; अत 'रुप्पतीति रूप' – इस वचनार्थ के अनुसार रूपभूमि के रूप को भी 'रूप' कहा जाता है[1]।

निब्बान – 'वानतो निक्खन्त ति निब्बान' 'वान' नामक तृष्णा से निर्गत होने के कारण 'निर्वाण' कहा जाता है। लौकिक चित्त, चैतसिको की तरह जो तृष्णा का आलम्बन नही होता, वह निर्वाण है[2]।

---

१. प० दी०, पृ० १६, तु०–विभा०, पृ० ५८।

२ विस्तार के लिये द्र० – अभि० स०, 'निब्बान' ६:६५।

तु०—"नत्थि एत्थ तण्हासङ्खात वान, निग्गत वा तस्मा वाना ति निब्बान।" – अट्ठ०, पृ० ३२२।

"भवाभव विननतो ससिब्बनतो वानसङ्खाताय तण्हाय निक्खन्त, निब्बाति वा एतेन रागग्गिआदिको ति निब्बान।"–विभा०, पृ० ५८।

"वान वुच्चति तण्हा, भवससिब्बनतो वानतो निक्खन्तत्ता निब्बान, भव-निस्सरण अमत असङ्खतधातु।" – अभि० स० टी०, पृ० २८७।

"निब्बान ति एत्थ निब्बायन्ति सब्बे वट्टदुक्खसन्तापा एतस्मि ति निब्बान। निब्बायन्तीति ये किलेसा वा खन्धा वा अभावितमग्गस्स आयति उप्पज्ज-नारहपक्खे ठिता होन्ति ते येव भावितमग्गस्स अनुप्पज्जनारहपक्ख पापुणन्ती-ति अत्थो। नहि खन्धत्तय पत्वा निरुद्धा अतीता धम्मा निब्बायन्ति नाम। पच्चुप्पन्नेसु आयति अवस्स उप्पज्जमानेसु च धम्मेसु वत्तब्बमेव नत्थीति।.. निब्बायन्ति वा अरियजना एतस्मि ति निब्बान।.... निब्बायन्ती ति त त किलेसान वा खन्धान पुन अप्पटिसन्धिकभावं पापुणन्ती ति अत्थो।" – प० दी०, पृ० २०।

"प्रतिसंख्यानिरोधो यो, विसयोगः पृथक् पृथक्।
उत्पादात्यन्तविघ्नोऽन्यो, निरोधोऽप्रतिसख्यया ॥"

–अभि० को० १ ६, पृ० १०।

यहाँ पर एक प्रश्न उपस्थित होता है कि तृष्णा, लोकोत्तर चित्त एव चैतसिको को भी तो आलम्बन नही बना सकती, तब फिर लोकोत्तर चित एव चैतसिको को निर्वाण क्यो नही कहा जाता ?

उत्तर – यद्यपि तृष्णा लोकोत्तर चित्त एव चैतसिको को आलम्बन नही बना सकती, तथापि वह उन (लोकोत्तर चित्त एव चैतसिको) के आधारभूत मार्गस्थ एव फलस्थ आर्यपुद्‍गल (साधक) को आलम्बन बना सकती है; अत लोकोत्तर चित्त एव चैतसिको को निर्वाण नही कहा जा सकता । यद्यपि मार्गस्थ अथवा फलस्थ आर्य-पुद्‍गलो के चित्त मे तृष्णा नही होती, तो भी वे (आर्यपुद्‍गल) किसी कामिनी या कामुक की तृष्णा के आलम्बन हो सकते हैं । अत 'निर्वाण' शब्द तृष्णा से सदा एव सर्वथा निर्गत असस्कृत[1] धातु मे रूढ होने के कारण, लोकोत्तर चित्त एव चैतसिक 'निर्वाण' नही हो सकते ।

निर्वाण के लक्षणादिचतुष्क –

"सन्तिलक्खणमच्चुतरस निब्बानअमत ।
अनिमित्तउपट्ठान पदट्ठान न लब्भति[2] ।।"

"नित्यत्वात्कुशलत्वाच्च, निर्वाण द्रव्यमञ्जसा ।
सारद्रव्येन तेनैको, धर्माख्यो द्रव्यवान्मत· ।।"
– अभि० दी०, पृ० ३९ ।

तु०—"स एवानासवो धातुरचिन्त्य कुशलो ध्रुव ।
सुखो विमुक्तिकायोऽसौ, धर्माख्योऽय महामुने ।।
–त्रि० ३० का० ।

"किमुपादाय स निरोध पुनरमृतमित्युच्यते तृष्णात्रयविरहितामुपादाय ।।"
– अभि० समु०, पृ० ६४ ।

"प्रतिष्ठाया परावृत्तौ, विभुत्व लभ्यते परम् ।
अप्रतिष्ठितनिर्वाण, बुद्धानामचले पदे ।।"
– महा० सू० ९ ४५ ।

"विचारिते विचार्ये तु, विचारस्यास्ति नाश्रय ।
निराश्रितत्वान्नोदेति, तच्च निर्वाणमुच्यते ।।"
– बोधि० ९ : १११, पृ० २४९ ।

१ कर्म, चित्त, ऋतु एव आहार – इन हेतुप्रत्ययो से उत्पन्न धर्मों को सस्कृत कहते है, निर्वाण असस्कृत धर्म है ।
"सङ्खता वा असङ्खता वा ति सङ्गम्म समागम्म पच्चयेहि कता वा अकता वा" – विसु०, पृ० १९८; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० २१० ।

२ ब० भा० टी० । तु० – "तयिद सन्तिलक्खण, अच्चुतिरस, अस्सासकरणरस वा, अनिमित्तपच्चुपट्ठान निप्पपञ्चपच्चुपट्ठान वा ।" – विसु०, पृ० ३५५, "निब्बान परम सुख' – धम्म०, पृ० ३६ ।

जो अमृत निर्वाण है, उसका लक्षण 'शान्ति', एवं रस 'अच्युत' है। उपट्ठान (पच्चुपट्ठान=प्रत्युपस्थान) अनिमित्त (संस्थानरहित) तथा पदट्ठान (पदस्थान) कुछ नही है।

निर्वाण नामक अमृतधर्म शान्तिसुखलक्षण है। अपने इस स्वभाव से कभी च्युत न होना, उसका सम्पत्तिरस है। योगियो के ज्ञान मे उस के कोई निमित्त-(संस्थान) आदि प्रतिभासित नही होते, अत अनिमित्त उसका पच्चुपट्ठान है। उसका पदट्ठान (आसन्नकारण) उपलब्ध नही होता, अर्थात् पदट्ठान नही है।

शान्तिलक्षण – सुख दो प्रकार का होता है, यथा – शान्तिसुख एव वेदयितसुख। शान्तिसुख वेदयितसुख की तरह अनुभूतियोग्य सुख नही है। किसी एक विशेष वस्तु का अनुभव न हो कर वह उपशमसुखमात्र है[1]।

प्रत्युपस्थान एव पदस्थान – जब चित्त, चैतसिक धर्मो के निमित्त-(संस्थान) आदि भी अविभूत होते है तब उनसे भी सूक्ष्म निर्वाणधातु के निमित्त-आदि कैसे होगे! अत योगी के ज्ञान मे 'यह (निर्वाण) अनिमित्त है' – ऐसा अवभास होता है। निर्वाण के आसन्नकारण नही होते। नाम एव रूप धर्मो के निरोध को ही निर्वाण कहते है। निर्वाण की प्राप्ति के दूरकारण तो होते है, जैसे – पारमिताकुशल[2], विपश्यनाकुशल[3] तथा मार्ग एव फल-आदि।

'तत्थ वुत्ताभिधम्मत्था' आदि गाथा द्वारा परमार्थधर्मो को सङ्क्षेप से अर्थात् नामसङ्कीर्तनमात्र से कहा गया है, अत यह उद्देशगाथा है। इस गाथा के द्वारा उद्दिष्ट चित्त, चैतसिक, रूप एव निर्वाण नामक परमार्थधर्मो का सम्यक् निरूपण प्रस्तुत ग्रन्थ मे किया जायेगा[4]।

---

१ 'निर्वाण' के उपशमलक्षण-आदि के विशिष्ट ज्ञान के लिये द्र० – अभि० स० ९ ८ 'उपसमानुस्सति' की व्याख्या।

२. दस पारमिताओ को पूर्ण करना 'पारमिताकुशल' है।

३ द्र० – अभि० स० ९ ४५।
"अनिच्चादिवसेन विविधेन आकारेन पस्सतीति विपस्सना' – अट्ठ०, पृ० ४५।

४. सर्वास्तिवाद एव सौत्रान्तिकवाद-आदि मे परमार्थधर्मो का विभाजन इस प्रकार उपलब्ध होता है—

"सास्रवा नास्रवा धर्मा., संस्कृता मार्गवर्जिता·।
सास्रवा .. ॥
अनास्रवा मार्गसत्य, त्रिविध चाप्यसंस्कृतम् ॥" – अभि० को० १ : ४-५, पृ० ८,९,

"संस्कृता पञ्च, त्रयश्चासंस्कृता। एतावच्चैतत् सर्व यदुत संस्कृत चासंस्कृत चेति।"—वि० प्र० वृ०, पृ० ४।

तथा स्कन्ध, आयतन, धातु मे भी इनका विभाग किया गया है।

चित्तसङ्गहविभागो

३. तत्थ चित्तं ताव चतुब्बिधं होति—कामावचरं, रूपावचरं, अरूपावचरं, लोकुत्तरञ्चेति ।

उन चतुर्विध अभिधर्मार्थो मे सर्वप्रथम निर्दिष्ट चित्त चतुर्विध होता है। यथा—कामावचर चित्त, रूपावचर चित्त, अरूपावचर चित्त एव लोकोत्तर चित्त ।

चित्तसङग्रहविभाग

३ 'चित्त चेतसिक रूप निब्बानमिति सब्बथा' – इस उद्देश मे कथित चित्तनामक उद्देश के निर्देश को दिखलाने के लिये 'तत्थ चित्त ताव . ' आदि कहा गया है[1]। 'तत्थ चित्त ताव . ' से लेकर चित्तपरिच्छेद के अन्त तक चित्त का निर्देश है ।

कामावचरं – 'कामे अवचरतीति कामावचर[2]' प्राय कामभूमि मे होनेवाले चित्तो को 'कामावचर चित्त' कहते है । ये कामावचर चित्त लोभमूल प्रथम-असस्कारिक, चक्षु-विज्ञान-आदि नानाविध नामो से कामभूमि मे बहुलतया होते है । रूपभूमि मे घ्राण-विज्ञान-आदि नामो से कुछ चित्त नही होते । अरूपभमि मे चक्षुर्विज्ञान-आदि नामो से भी नही ोते – इस प्रकार इन चित्तो के प्राय कामभमि मे ही होने के कारण इन्हे 'कामावचर चित्त' कहते है[3]।

रूपावचरं – 'रूपस्स भवो रूप, रूपे अवचरतीति रूपावचर[4]' रूपधर्मो के प्रभव-स्थान को 'रूप' कहते है । प्राय रूपावचर भूमि मे होनेवाले चित्तो को 'रूपावचर चित्त' कहते है । रूपावचरकुशल एव क्रियाचित्त रूपभूमि के अतिरिक्त कामभूमि मे भी होते ह; किन्तु रूपविपाक केवल रूपभूमि मे ही होते है ।

अरूपावचर – 'अरूपे अवचरतीति अरूपावचर[5]' प्राय आरूप्य भूमि मे होनेवाले चित्तो को 'अरूपावचर चित्त' कहते है ।

लोकुत्तर – 'लुज्जति पलुज्जतीति लोको, उत्तरतीति उत्तर, अथवा – 'उत्तिण्ण ति उत्तर, लोकतो उत्तर लोकुत्तर[6]' जो नष्ट होता है उसे 'लोक' कहते है । वह लोक भी तीन प्रकार का होता है; यथा – सत्तलोक (सत्वलोक), सङ्खारलोक (सस्कार-लोक) एव ओकासलोक[7] (अवकाशलोक) । इन तीनो मे से यहाँ सस्कारलोक को ही

---

१ विभा०, पृ० ५८ । २ अट्ठ०, पृ० ४२, ५२ ।

३ "कामोवचरतीत्येत्थ, कामेवचरतीति वा ।
ठानपचारतो वापि, त कामावचर भवे ति" ।। – विभा०, पृ० ५८, तु० – प० दी०, पृ० २० ।

४ अट्ठ०, पृ० ४२, प० दी०, पृ० २१ । ५ अट्ठ०, पृ० ४२ ।

६ तु० – प० दी०, पृ० २३ । ७ विसु०, पृ० १३८ ।

लोक' कहा गया है । यह सस्कारलोक भी 'उपादानस्कन्ध'[1] नामक लौकिक नाम[2] एव रूप धर्म है । इस लोक को जो पार करता है, अथवा पार कर चुका है, वह 'लोकोत्तर' है । 'उत्तरतीति उत्तर' – इस वर्तमानकालिक विग्रह के द्वारा वर्तमान काल मे पार कर रहे मार्गचित्तो का ग्रहण होता है तथा 'उत्तिण्ण ति उत्तर' – इस अतीतकालिक विग्रह के द्वारा पार कर चुके फलचित्तो का ग्रहण होता है ।

'लुज्जति – पलुज्जति' इस विग्रह मे 'लुज्जति' का अर्थ 'उप्पज्जति' अर्थात् उत्पाद तथा 'पलुज्जति' का अर्थ 'विनस्सति' अर्थात् विनाश किया गया है । अथवा 'लुज्जति' का अर्थ क्षणभङ्ग के रूप मे नाश, तथा 'पलुज्जति' का अर्थ च्युतिभङ्ग के रूप मे नाश किया गया है । इस प्रकार इन शब्दो के अनेक अर्थ उपलब्ध होते है । इन शब्दो के ये अर्थ 'विसुद्धिमग्गमहाटीका' की "पलुज्जनताया ति व्याधिआदीहि पकारेहि छिज्जनतो विनस्सनतो[3]" – आदि, इस व्याख्या से विरुद्ध होने के कारण चिन्तनीय है[4] ।

अथवा – 'लोक' शब्द के द्वारा सत्त्वसमूह नामक सत्त्वलोक, सत्त्वो के आवासस्थान नामक अवकाशलोक एव नाम-रूपसस्कार नामक सस्कारलोक – इन तीनो का ग्रहण करना चाहिये । स्रोतापत्तिमार्ग, 'पृथग्जनसमूह' नामक सत्त्वलोक एव चार अपायभूमि नामक अवकाशलोक से उत्तीर्ण होता है । सकृदागामीमार्ग, 'स्रोतापन्नपुद्गलसमूह' नामक सत्त्वलोक एव कामभूमि के एकदेश नामक अवकाशलोक से उत्तीर्ण होता है । (वह कामसुगतिभूमि मे पुन पुन उत्पन्न न होकर केवल एक बार ही होता है, अत कामभूमि के एकदेश से उत्तीर्ण कहा जाता है ।) अनागामी मार्ग, 'सकृदागामीपुद्गलसमूह' नामक सत्त्वलोक एव 'कामधातु' नामक अवकाशलोक से उत्तीर्ण होता है । अर्हत्मार्ग, 'अनागामीपुद्गलसमूह' नामक सत्वलोक एव रूप-अरूपभूमिगत अवकाशलोक से उत्तीर्ण होता है । इस तरह सत्त्वलोक एव अवकाशलोक से उत्तीर्ण होने पर, मार्गधर्म इन लोको मे होनेवाले नामरूपात्मक सस्कारलोक से भी उत्तीर्ण हो जाता है । यदि मार्गधर्म उत्तीर्ण होते है तो फलधर्म भी उत्तीर्ण ही होते है ।

'तत्थ चित्त ताव चतुब्बिध होति' – आदि के द्वारा चार भूमियो मे चित्त को सङ्क्षेप से विभक्त करके दिखलाया गया है । इसलिये कामचित्त ५४, रूपचित्त १५ आदि को आगे विस्तारपूर्वक कहा जायेगा ।

---

१ उपादान-धर्मो के आलम्बनभत पञ्चस्कन्ध को उपादान-स्कन्ध कहते है । द्र० – अभि० स० ७.४०, विशेष ज्ञान के लिये द्र० – विसु०, पृ० ३३३ ।

२ वेदना, सञ्ञा, सस्कार एव विज्ञान स्कन्ध नाम-धर्म है ।

३ विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ३६५ ।

४ ब० भा० टी० ।

अकुसलचित्तानि (१२)

लोभमूलचित्तानि

४. तत्थ कतमं कामावचरं ? सोमनस्ससहगतं दिट्ठिगतसम्पयुत्तं असङ्खारिकमेकं, ससङ्खारिकमेकं, सोमनस्ससहगतं दिट्ठिगतविप्पयुत्तं असङ्खारिकमेकं, ससङ्खारिकमेकं; उपेक्खासहगतं दिट्ठिगतसम्पयुत्तं असङ्खारिकमेकं, ससङ्खारिकमेकं; उपेक्खासहगतं दिट्ठिगतविप्पयुत्तं असङ्खारिकमेकं, ससङ्खारिकमेकं ति इमानि अट्ठ पि लोभसहगतचित्तानि नाम।

उपर्युक्त चार प्रकार के चित्तो मे कामावचर चित्त कौन है ?

सौमनस्यवेदना से सहगत एव मिथ्यादृष्टि से सम्प्रयुक्त असस्कारिक एक तथा ससस्कारिक एक,

सौमनस्यवेदना से सहगत एव मिथ्यादृष्टि से विप्रयुक्त असस्कारिक एक तथा ससस्कारिक एक,

उपेक्षावेदना से सहगत एव मिथ्यादृष्टि से सम्प्रयुक्त असस्कारिक एक तथा ससस्कारिक एक,

तथा उपेक्षावेदना से सहगत एव मिथ्यादृष्टि से विप्रयुक्त असस्कारिक एक तथा ससंस्कारिक एक—

इस प्रकार ये आठों लोभसहगत चित्त है।

अकुशलचित्त

४ चित्तो का जो सर्वप्रथम चतुर्विध विभाग किया गया है, वह उद्देश है। अब उस उद्देश के अनुसार निर्देश प्रारम्भ किया जाता है।

अभिधर्मपिटक के 'धम्मसङ्गणि' नामक ग्रन्थ मे सबसे पहले कुशलधर्मों का, तदनन्तर अकुशल एव अव्याकृत धर्मो का निरूपण किया गया है[1]; किन्तु यहाँ (प्रस्तुत ग्रन्थ मे) सर्वप्रथम अकुशलधर्मो का निरूपण किया गया है, ऐसा क्यो ?

श्री अनुरुद्धाचार्य ने सम्पूर्ण चित्तो का द्विधा विभाग किया है—शोभनचित्त एव अशोभनचित्त। उनमे अशोभनचित्त कम है, अत सरलता के लिये पहले अशोभनचित्तो का वर्णन किया गया है। अशोभनचित्त अर्थात् अकुशल एव अहेतुक चित्तो मे पहले अकुशलचित्तो का ग्रहण किया गया है; क्योकि अहेतुकचित्तो के अव्याकृत होने से वे कुशल एव अकुशल चित्तो के अनुगामी होते है। अकुशलचित्तो मे भी लोभसहगतचित्तो का वर्णन पहले किया गया है, क्योकि प्रतिसन्धिकाल[2] मे पुद्गल अपनी भवतृष्णा[3]

---

१. ध० स०, पृ० ३।

२. वर्तमान भव का प्रथम क्षण।

३ तृष्णाएँ तीन होती है—कामतृष्णा, भवतृष्णा एव विभवतृष्णा; उनमे भव के प्रति आसक्ति 'भवतृष्णा' है।

के कारण अभिनन्दित होता है। इस अभिनन्दन-क्रिया मे लोभजवन[1] सर्व-प्रधान होता है तथा 'अविद्या' एव 'तृष्णा' नामक मोह एव लोभ से सम्प्रयुक्त होने के कारण यह (लोभ) भव का मूल होता है। अत लोभचित्तो का वर्णन सर्वप्रथम किया गया है। इसके बाद द्वेषमूलचित्तो का वर्णन है, क्योकि लोभ एव द्वेष चित्त द्विहेतुक होते हैं। इन (लोभ एव द्वेष) चित्तो का वर्णन करने के अनन्तर अन्त मे एकहेतुक मोमूह (मोह) चित्तो का वर्णन किया गया है[2]।

लोभमूलचित्त

सोमनस्ससहगत – 'सुन्दर मनो सुमनो, सुमनस्स भावो सोमनस्स' सुन्दर मनस् (चित्त) सुमनस् है। सुन्दर चित्त के भाव को सौमनस्य कहते हैं[3]। 'सुन्दर चित्त' मे सुन्दर शब्द विद्वानो द्वारा प्रशसित या अनाकुल अर्थ मे नही है, अपितु सात[4] (प्रसन्न या सुख) अर्थ मे है। यह मानसिक सुखावेदना का नाम है[5]। सम्पूर्ण प्राणिजगत् सौमनस्यवेदना के प्रति आकृष्ट होता है। वह अपनी सन्तान मे सौमनस्यवेदना के उत्पाद के लिये उसकी उत्पत्ति के कारणभूत आलम्बनो की गवेषणा मे सदा तत्पर रहता है। इसलिये, चाहे कुशल हो चाहे अकुशल, सौमनस्यवेदना को 'सात सुख' कहा गया है। सुख 'सात' है, क्योकि यह अनुग्रह करता है।

'सहगत' शब्द अनेक अर्थो मे प्रयुक्त हुआ है, किन्तु यहा उसका अर्थ ससृष्ट[6] है। जैसे – गङ्गा एव यमुना का जल परस्पर मिल जाने पर 'यह गङ्गा का जल है, यह यमुना का जल है' – ऐसा नही कहा जा सकता, उसी प्रकार सौमनस्यवेदना एव चित्त के सहगत हो जाने पर भी 'यह चित्त का स्वभाव है, यह सौमनस्यवेदना का स्वभाव है' – ऐसा नही कहा जा सकता। अत 'सहगत' शब्द का यहाँ ससृष्ट अर्थ ग्राह्य है। 'सोमनस्सेन सहगत सोमनस्ससहगत' अर्थात् सौमनस्यवेदना से ससृष्ट चित्त को 'सौमनस्यसहगत' कहते है।

---

१ 'जवन' के विशेष ज्ञान के लिये द्र० – अभि० स०, चतु० परि०, 'अतिमहन्तारमणवीथि', एव 'जवनवारनियमो'।

२ द्र० – प० दी०, पृ० २४।

३ प० दी०, पृ० २४, विभा०, पृ० ५६।

४ तु० – "मधुरट्ठेन सात।" – अट्ठ०, पृ० ११४।

५ सौमनस्य के विषय मे 'विभावनी' एव 'परमत्थदीपनी' मे परस्पर मतभेद है, अत द्र० – विभा०, पृ० ५६, प० दी०, पृ० २४।

६ "अय पन सहगतसद्दो तब्भावे वोकिण्णे निस्सये आरम्मणे ससट्ठे ति इमेसु अत्थेसु दिस्सति।.. सोमनस्ससंसट्ठ हि इध सोमनस्ससहगत ति वुत्त"। – अट्ठ०, पृ० ५७-५८।

"तेन सहगत एकुप्पादादिवसेन ससट्ठं तेन सह एकुप्पादादिभाव गत ति वा सोमनस्ससहगत।" – विभा०, पृ० ५६।

दिट्ठिगतसम्पयुत्त – दृष्टि का अर्थ मिथ्यादृष्टि है । 'गत' का कोई स्वतन्त्र अर्थ नही है । स्वार्थ मे ही यहाँ उसका प्रयोग हुआ है । दृष्टि ही दष्टिगत है । दृष्टि से सम्प्रयुक्त चित्त को 'दृष्टिगतसम्प्रयुक्त' समझना चाहिये[1] ।

दिट्ठिगतविप्पयुत्तं – दृष्टि का अर्थ पहले कहा जा चुका है । 'विप्पयुत्त' मे 'वि' शब्द प्रतिषेधार्थक है । 'दिट्ठिगतेन विप्पयुत्त दिट्ठिगतविप्पयुत्त' अर्थात् दृष्टि से सम्प्रयुक्त न होनेवाला चित्त 'दृष्टिगतविप्रयुक्त' है[2] ।

सङ्खार – 'असङ्खारिक' एव 'ससङ्खारिक' शब्दो मे आनेवाले 'सङ्खार' शब्द के अर्थ को पहले समझ लेना चाहिये । 'सङ्खार' शब्द अभिसस्कृत करने के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है । 'सङ्खरोतीति सङ्खारो' अभिसस्कृत करनेवाले धर्म को सस्कार कहते है । अट्ठकथाओ मे 'सस्कार' शब्द प्रयोग एव उपाय के अर्थ मे व्यवहृत हुआ है[3] । प्रयोग का अर्थ प्रेरणा है। यह चित्तो को प्रेरित करता है । उपाय का अर्थ उन उन चित्तो की उत्पत्ति का कारण है । यहाँ पर काय-प्रयोग, वाक्-प्रयोग (वचीपयोग) एव मन-प्रयोग को सस्कार कहा गया है[4] । जैसे – कोई बालक उपोसथ (व्रत) के दिन उपोसथ का ग्रहण नही करना चाहता । उस समय उसके आचार्य या माता-पिता-आदि उसे उपोसथग्रहण करने के लिये डाँटते है तथा ग्रहण न करने पर आपत्ति (दोष) और ग्रहण करने के फल का निर्देश करके उसे प्रेरित करते है । इस प्रकार से प्रेरित करने मे काय-प्रयोग एव वाक्-प्रयोग होते है । दूसरो के वे काय-प्रयोग एव वाक्-प्रयोग उपोसथ-ग्रहण-कृत्य का अभिसस्कार करते है, अतः वे सस्कार कहे जाते है । जो बालक अन्य समय मे अपने आप यह सोचता है कि यदि मै उपोसथ-ग्रहण करने नही जाऊगा तो डाँटा जाऊगा, अथवा मुझे आपत्ति होगी और इस प्रकार सोचकर वह जाता है, तो उसका यह सोचना मन प्रयोग सस्कार है ।

असङ्खारिक – 'नत्थि सङ्खारो यस्सा ति असङ्खारो'[5], असङ्खारेन उप्पन्न असङ्खारिक' जिस आलम्बन-आदि कारणसमूह का सस्कार नही होता, वह असस्कार है । इस असस्कार से उत्पन्न चित्त असस्कारिक है।

किसी एक चित्त के उत्पाद मे आलम्बन मुख्य कारण होता है । यदि आलम्बन न होगा तो किसी भी चित्त का उत्पाद असम्भव है । आलोक एव मनसिकार-आदि (कुछ चित्तो से सम्बद्ध) कारण भी होते है । उपर्युक्त सस्कार की सहायता के बिना आलम्बन, आलोक-आदि सामान्य कारणो से उत्पन्न चित्त असस्कारिक चित्त है । जैसे – यदि बालक उपोसथ के दिन बिना किसी प्रकार की प्रेरणा के अपने आप

१. "दिट्ठि येव दिट्ठिगत, सङ्खारगत थामगतन्त्यादीसु विय गतसद्दस्स तब्भाववुत्तिता ।" – विभा०, पृ० ५६ ।

२. विभा०, पृ० ६०; प० दी०, पृ० २७ ।

३. तु० – अट्ठ०. पृ० १२७, २०६, तु० – प० दी०, पृ० २५; विभा०, पृ० ५६ ।

४. तु० – विभा०, पृ० १७३; विसु०, पृ० ३६६ ।

५. प० दी०, पृ० २६ ।

धर्म-स्थान मे जाकर उपोसथ का ग्रहण करता है तो उसका इस प्रकार का चित्त असस्कारिक चित्त है ।

ससङ्खारिक – 'सह सङ्खारेन यो वट्टतीति ससङ्खारो[1], ससङ्खारेन उप्पन्न ससङ्खारिक' जो आलम्बन-आदि कारणसमूह काय-प्रयोग, वाक्-प्रयोग या मन-प्रयोग रूपी सस्कार के साथ होता है, वह ससस्कार है । इस ससस्कार के द्वारा उत्पन्न चित्त ससस्कारिक है । अस्वास्थ्य, थीन[2] (स्त्यान), मिद्ध[2] एव आलस्य नामक कौसीद्य[3] (कोसज्ज)-आदि धर्मो से प्रभावित होने के कारण जब आलम्बन-आदि सामान्य कारण उपोसथ करने के चित्त को उत्पन्न नही कर पाते, तब उपर्युक्त सस्कारो मे से किसी एक की सहायता से ही उपोसथ करने का चित्त उत्पन्न हो सकता है । इस प्रकार सस्कारो की सहायता से सम्पन्न कारणो से उत्पन्न चित्त 'ससस्कारिक चित्त' है । उपर्युक्त व्याख्यान 'धम्मसङ्गणिपालि[4]' एव 'अट्ठसालिनी[5]' के आधार पर किया गया है । यहाँ पर 'असङ्खार' एव 'ससङ्खार' शब्दो से आलम्बन-आदि कारणसमूह का ही ग्रहण होता है, चित्त का नही ।

विभावनीवाद – "सङ्खरोति चित्त तिक्खभावसङ्खातमण्डनविसेसेन सज्जेति, सङ्खरीयति वा तं एतेन यथावुत्तनयेन सज्जीयतीति सङ्खारो[6]" ।

जो पूर्वप्रयोग (काय-प्रयोग, वाक्-प्रयोग, मन प्रयोग) अनुत्साहित चित्त को तीक्ष्ण-भाव नामक मण्डनविशेष (गुणविशेष) से सज्ज करता है, वह सस्कार है । अथवा जिस पूर्वप्रयोग के द्वारा पूर्वोक्त प्रकार से चित्त को सज्ज किया जाता है, वह 'सङ्खार' है ।

पूर्वप्रयोग नामक सस्कार एव ससस्कारिक चित्त एक काल मे नही होते । पहले पूर्वप्रयोग होता है और तदनन्तर ससस्कारिक चित्त का उत्पाद होता है । 'ससस्कारिक' इस शब्द मे 'स' पद तुल्ययोगार्थक है । अत 'सस्कार' शब्द से पूर्वप्रयोग नामक सस्कार-मात्र का ग्रहण न होकर उस पूर्वप्रयोग से उत्पन्न तीक्ष्ण पश्चिम चित्त की शक्ति-विशेष का कारणोपचार से ग्रहण होगा । 'सङ्खारेन सहित ससङ्खारिक' इसमे 'स' पद तुल्ययोगार्थक है । (यहाँ 'तुल्ययोग' एव 'सहित' दोनो समानार्थक है) ।

अथवा 'सङ्खारेन सहित' यह मुख्य विग्रह नही, अपितु विग्रह करने के लिये लिये निर्देशमात्र है, 'सह सङ्खारेन य वट्टतीति ससङ्खार, ससङ्खारमेव ससङ्खारिक' – ऐसा विग्रह करना चाहिये । अर्थात् जो चित्त पूर्वप्रयोग के कारण उत्पन्न शक्तिविशेष

---

१ प० दी०, पृ० २६; विभा०, पृ० ६० ।

२. द्र० – अभि० स० २ · ४ ।

३ "कोसज्ज थिनमिद्धपधानो अकुसलचित्तुप्पादो ।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ४६१ ।

४. द्र० – ध० स०, पृ० ३६ ।

५. द्र० – अट्ठ०, पृ० १२७ ।

६ विभा०, पृ० ५६ ।

के साथ होता है, वह ससस्कार (ससङ्खार) है (यहाँ पर ससस्कार शब्द से चित्त का ग्रहण होता है) और ससंस्कार ही ससस्कारिक है ।

"पुब्बपयोगसम्भूतो विसेसो चित्तसम्भवी ।
सङ्खारो तवसेनेत्थ होत्यसङ्खारकादिता[1]" ।।

पूर्वप्रयोग से सम्भूत पश्चिम चित्त मे होनेवाला शक्तिविशेष सस्कार है । इस चित्त मे उस सस्कार के सम्बन्ध से असस्कारिकता आदि होती है अर्थात् असस्कारिक आदि नाम होता है । (यह विभावनी का प्रथम नय है ।)

अथवा – 'ससङ्खारिक' मे 'स' शब्द को तुल्यार्थक न मानकर, अपितु विद्यमानार्थक मानकर, विभावनीकार ने अपना द्वितीय नय प्रस्तुत किया है[2] । इस नय के अनुसार 'ससङ्खार' (ससस्कार अर्थात् सस्कार विद्यमान है) मे प्रयुक्त 'सङ्खार' (सस्कार), चाहे अपनी सन्तान मे हो चाहे अन्य की, उस सङ्खार से उत्पन्न चित्त ससङ्खारिक अर्थात् विद्यमानसस्कारचित्त (जिस चित्त मे सस्कार विद्यमान है, ऐसा चित्त) है । इसमे पूर्वनय की भाति सस्कार शब्द के द्वारा शक्तिविशेष का ग्रहण न होकर पूर्वप्रयोग का ही ग्रहण होता है । इसका विग्रह प्रथम नय की तरह ही है । विभावनीकार के इन वादो के अपने मे साभिप्राय होने पर भी 'धम्मसङ्गणिपालि' एव 'अट्ठसालिनी'-आदि के अनुकूल न होने से आधुनिक आचार्य इनसे सहमत नही है ।

[विभावनी, परमत्थदीपनी एव मणिसारमञ्जूसा-आदि टीकाओ मे 'सस्कार' शब्द का अतिविस्तृत एव सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है । विस्तारभय से यहाँ सङक्षेप मे इतना ही लिखकर विराम किया जाता है । जिज्ञासु पाठक उन उन ग्रन्थो का अवलोकन कर सकते है[3] ।]

उपेक्खासहगत – 'उपपत्तितो युत्तितो इक्खति अनुभवतीति उपेक्खा' युक्तिपूर्वक आलम्बन का अनुभव करना उपेक्षावेदना है[4] ।

सुखावेदना एव दुःखावेदना आलम्बन का तीक्ष्ण भाव से अनुभव करती है और उपेक्षावेदना मध्य भाव से, यही युक्तिपूर्वक (न अधिक न कम) अनुभव करना है । अतएव उपेक्षावेदना का अनुभव स्पष्टतया प्रतीत नही होता ।

अथवा – 'सुखदुक्खान उपेता युत्ता इक्खा अनुभवन उपेक्खा[5]' अर्थात् सुखा एव दुःखा वेदनाओ के अनुकूल (अविरोधी भाव से) अनुभव करना 'उपेक्षा' है । सुखा एव दुःखा वेदनाए मूलत. परस्पर विरुद्धस्वभाव है । सुख के अनन्तर दुःख एव दुःख के अनन्तर सुख नही हो सकता । उपेक्षावेदना इन दोनो से अनुकूल (अविरोधी) होती है । अतएव द्वेषजवन के अनन्तर उपेक्षा-तदालम्बन एव सौमनस्यजवन के

१. विभा०, पृ० ६०, प० दी०, पृ० २६ ।
२. विभा०, पृ० ६० ।
३. विभा०, पृ० ५९, प० दी०, पृ० २५; मणि०, प्र० भा०, पृ० ११६ ।
४. प० दी०, पृ० २७; विभा०, पृ० ६० ।
५. विभा०, पृ० ६० ।

के अनन्तर भी उपेक्षा-तदालम्बन का पात होता है। इसी तरह उपेक्षासहगत आवर्जन के अनन्तर भी सौमनस्यजवन एव द्वेषजवन अभिप्रवृत्त होते है[1]। 'उपेक्खाय सहगत उपेक्खासहगत' जो उपेक्षावेदना से सहगत होता है वह 'उपेक्षासहगत' चित्त है[2]।

विशेषण का आधार – 'सोमनस्ससहगत', 'दिट्ठिगतविप्पयुत्त' एव 'असङ्खारिक' – ये सब 'एक' के विशेषण है। लोभमूल चित्तो मे स्पर्श (फस्स)-आदि २२ चैतसिको के सम्प्रयुक्त होने पर भी क्यो स्पर्श-आदि चैतसिको के द्वारा उन्हे विशेषित न करके केवल वेदना-आदि से ही, तथा सम्प्रयुक्त चैतसिको मे भी न आनेवाले 'सङ्खार' (सस्कार) शब्द के द्वारा विशेषित किया गया है?

उत्तर – स्पर्श-आदि चैतसिको के द्वारा चित्तो का भेद न किया जा सकने के कारण ही वेदना, दृष्टि एव सस्कार से उन्हे विशेषित किया गया है[3]।

विशेषण सामान्य अर्थ का अन्य (सजातीय आदि धर्मों) से व्यवच्छेद करता है। 'फस्सचेतसिक' के द्वारा यदि चित्त को विशेषित करके उसे 'फस्ससहगत' कहेगे तो फस्सचेतसिक के सभी चित्तो से सम्प्रयुक्त होने के कारण उस (चित्त) का अन्य चित्तो से व्यवच्छेद नही हो सकेगा। इसी तरह 'सञ्ञासहगत', 'वितक्कसहगत', 'मोहसहगत' इत्यादि कहने पर भी इष्ट चित्त को प्राप्त नही किया जा सकता। इस प्रकार इष्ट चित्त की प्राप्ति न होने के कारण चित्त को 'फस्स'-आदि के द्वारा विशेषित नही किया जा सकता। वेदना के सुख, दुःख, सौमनस्य, दौर्मनस्य एव उपेक्षा – ये पाँच भेद होने के कारण, यदि 'सोमनस्ससहगत' कहते है तो दौर्मनस्यसहगत-आदि अन्य चित्तो से उसका भेद हो जाता है। पुन 'दिट्ठिगतविप्पयुत्त' कहने से उसका दृष्टिगतसम्प्रयुक्त चित्तो से व्यवच्छेद हो जाता है। उसमे भी 'असङ्खारिक' विशेषण देकर उसका अन्य ससस्कारिक चित्तो से भेद किया जाता है।

'सप्पीतिक' आदि भी नही कहा जा सकता – उपर्युक्त समाधान के अनुसार जब प्रीति, मान, थीन (स्त्यान) एव मिद्ध-आदि चैतसिक कुछ ही चित्तो मे सम्प्रयुक्त होते है[4] और कुछ चित्तो मे नही, तब चित्त के 'सप्पीतिक', 'निप्पीतिक', 'मानसम्पयुत्त', 'मानविप्पयुत्त'-आदि विशेषण क्यो नही किये गये?

उत्तर – प्रीति के कुछ विषयो मे सौमनस्य के सदृश होने के कारण यदि 'सप्पीतिक' कहते है तो कुछ युक्तियुक्त भी प्रतीत होता है, किन्तु 'निप्पीतिक' – ऐसा कहने पर चतुर्थध्यान-चित्त एव सुखसहगत-कायविज्ञान-चित्त के ही निष्प्रीतिक होने के कारण 'उपेक्खासहगत' की तरह यह विशेषण सभी विशेष्यो मे अनुगत (व्यापक) नही होता। मान, थीन एव मिद्ध-आदि कभी कभी सम्प्रयुक्त होनेवाले अनियत-

---

१. अभि० स०, चतु० परि०, 'तदारम्मणनियमो' एव 'जवननियमो'।
२. तु० – विभा०, पृ० ६०, प० दी०, पृ० २७।
३. विभा०, पृ० ६०, प० दी०, पृ० २७।
४. द्र० – अभि० स० २ : २४।

योगी चैतसिक होने के कारण इनका विशेषण के रूप मे प्रयोग नही किया जा सकता। इसलिये 'सप्पीतिक'-आदि विशेषण अनुपयुक्त है[1]।

सौमनस्य की उत्पत्ति के कारण –

१ स्वभाव-इष्टालम्बन एव परिकल्पित-इष्टालम्बन, इनमें से कोई एक।

२ सौमनस्यसहगत चित्त के द्वारा प्रतिसन्धि लेना।

३ चित्त के स्वभाव का अगम्भीर होना[2]।

मध्यस्थ पुद्गलो के इष्ट आलम्बन को स्वभाव-इष्टालम्बन कहते है। सभी लोगो के द्वारा इष्ट न होने पर भी केवल अपने आप इष्ट समझे जानेवाले अनिष्टालम्बन को परिकल्पित-इष्टालम्बन कहते हैं। जैसे – पूतिगन्ध मास-आदि के सभी लोगो के द्वारा अनिष्ट समझे जाने पर भी गृध्र, कुत्ते-आदि के लिये वह इष्ट होता है। इसे ही परिकल्पित-इष्टालम्बन कहते है। इस प्रकार के स्वभाव-इष्टालम्बन एव परिकल्पित-इष्टालम्बन के साथ समागम होने पर सौमनस्य का उत्पाद होता है। सौमनस्य से प्रतिसन्धि लेनेवाले पुद्गलो मे उनका प्रतिसन्धि-बीज सौमनस्य होने के कारण प्रवृत्तिकाल[3] मे उपेक्षा होने योग्य आलम्बन मे भी सौमनस्य होता है। जिनके चित्त का स्वभाव गम्भीर नही है, ऐसे पुद्गल किसी भी विषय मे शीघ्र सन्तुष्ट अथवा शीघ्र क्रुद्ध हो जाते हैं। अत ऐसे पुद्गलो मे सामान्य आलम्बन के मिलने पर ही सौमनस्य का उत्पाद हो जाता है। उपर्युक्त तीन कारण सौमनस्य के उत्पत्ति-कारण कहलाते हैं। इन तीन कारणो के सम्पन्न होने पर ही सौमनस्य का उत्पाद होता है – ऐसा नही समझना चाहिये, अपितु इनमे से किसी एक के भी उपस्थित होने पर सौमनस्य का उत्पाद हो सकता है। ये परमार्थस्वभाव की तरह सौमनस्य के मुख्य उत्पादक कारण नही है, अपितु प्रायिक है[4]। (आगे उपेक्षा आदि के कारणो के सम्बन्ध मे भी उनकी प्रायिकता को समझना चाहिये।)

उपेक्षा की उत्पत्ति के कारण –

१ इष्ट-मध्यस्थालम्बन, अर्थात् वह आलम्बन जो न अत्यधिक इष्ट है और न तो अनिष्ट ही है।

२ उपेक्षासहगत चित्त के द्वारा प्रतिसन्धि लेना।

३ चित्त के स्वभाव का गम्भीर होना[5]।

ऊपर के दो कारणो (स० १ एव २) का विस्तार तो उपर्युक्त सौमनस्य के प्रथम दो कारणो की तरह समझना चाहिये। अन्तिम कारण के सम्बन्ध मे यह ज्ञातव्य है कि गम्भीर चित्तवाले पुद्गल सभी विषयो मे अत्यधिक विचारशील होते

---

१ प० दी०, पृ० २७।

२. प० दी०, पृ० २८।

३ प्रतिसन्धि से लेकर च्युति के पूर्व तक के काल को 'प्रवृत्तिकाल' कहते है।

४. द्र० – प० दी०, पृ० २८।

५. द्र० – प० दी०, पृ० २८।

है । अत उनमे सभी इष्टालम्बनो मे शीघ्रतया सोमनस्य उत्पन्न नही होता, अपितु उन आलम्बनो के प्रति उपेक्षा करके उनमे उपेक्षा-सहगत चित्त ही उत्पन्न होता है ।

दृष्टि के कारण –

१ शाश्वत दृष्टि एव उच्छेद दृष्टि[1], इन दो दृष्टियो मे से किसी एक के आश्रय का होना ।

२ मिथ्यादृष्टियुक्त तीर्थिक पुद्गलो का सम्मान करना अथवा उनका सहवास करना[2] ।

ससार से विमुक्ति की अभिलाषा न करनेवाले 'वट्टनिस्सित[3]' (वर्तनिश्रित) पुद्गलो का चित्त शाश्वत दृष्टि एव उच्छेद दृष्टि मे से किसी एक का आश्रय होता है । वर्तमान समय मे किसी मिथ्यामत का ग्रहण न करने पर भी यदि उसने पूर्व-पूर्व भव मे कभी किसी एक मिथ्यामत का ग्रहण किया है तो सभी विषयो मे विचार करते समय उसे मिथ्यामत ही सत्य की तरह प्रतिभासित होते है । इसलिये कोई न कोई एक मिथ्यावाद वट्टनिस्सित पृथग्जनो का आश्रय अवश्य होता है । इस प्रकार शाश्वत दृष्टि एव मिथ्या दृष्टि मे से किसी एक का आश्रय होना, नाना प्रकार की मिथ्या-दृष्टियो के उत्पाद का कारण होता है ।

असस्कारिक के कारण –

१ असस्कारिक कर्म के फलस्वरूप असस्कारिक चित्त के द्वारा प्रतिसन्धि लेना ।

२ शरीर का स्वस्थ रहना । (स्वस्थ रहने के समय अनुत्साह न होने से सभी कृत्य असस्कारिक चित्त के द्वारा सम्पन्न होते है ।)

३ सर्दी, गर्मी, वर्षा-आदि ऋतुओ मे शैत्य औष्ण्य-आदि की परवाह न करना । (चित्त के स्वभाव से ही तीक्ष्ण होने के कारण यदि पुद्गल शैत्य, औष्ण्य की परवाह नही करता है तो उसके कर्म असस्कारिक चित्त के द्वारा ही सम्पन्न होते है ।)

४ अपने वीर्य के फल पर विश्वास करना । (पूर्वकृत कर्म के प्रति निष्ठावान् न होकर, वीर्य के फल के ही ऊपर निष्ठा रखनेवाला पुद्गल किसी कर्म को करते समय उसे असस्कारिक चित्त के द्वारा ही करता है ।)

५ अपने नित्य-कर्मो मे अभ्यास का होना । (जब किसी कर्म मे अभ्यास रहता है तो उसका वह कर्म असस्कारिक चित्त के द्वारा ही सम्पन्न होता है ।)

६. ऋतु एव भोजन का अनुकूल होना[4] । (जब अपने अनुकूल ऋतु एव

---

१ शाश्वत दृष्टि एव उच्छेद दृष्टि के कारणो को सप्तम परिच्छेद – 'अकुसल-सङ्गहो' मे देखिये ।

२. द्र० – प० दी०, पृ० २८ ।

३. ससार मे आसक्त ।

४. प० दी०, पृ० २८ ।

भोजन की प्राप्ति होती है तो अपने कृत्यो मे उत्साह होने से वे कृत्य असस्कारिक चित्त के द्वारा ही सम्पन्न होते है ।)

ससस्कारिक के कारण – असस्कारिक के जो ६ कारण दिखाये गये है, उनसे विपरीत कारण ससस्कारिक के कारण होते है[1] ।

सौमनस्य एव उपेक्षा की शक्ति मे विशेष – कामावचर के विषय मे, उपेक्षा-सहगत चित्तो की अपेक्षा सौमनस्यसहगत चित्त अधिक तीक्ष्ण होते है । महग्गत[2] एव लोकोत्तर के विषय मे, सौमनस्यसहगत चित्तो की अपेक्षा उपेक्षासहगत चित्त ही अधिक तीक्ष्ण होते है ।

कामावचर कृत्यो का सम्पादन करते समय यदि चित्त सौमनस्य से युक्त होगा तो वे कृत्य शीघ्र सिद्ध होगे । विपाक-दान की दृष्टि से भी बोधिसत्व आदि पुद्गल जब त्रिहेतुक-उत्कृष्ट-कामप्रतिसन्धि[3] ग्रहण करते है तब वे महाकुशल सौमनस्यसहगत-ज्ञानसम्प्रयुक्त-असस्कारिक चित्त के विपाकभूत प्रथम महाविपाक चित्त के द्वारा ही उसे ग्रहण करते है ।

"तत्थ सब्बे पि सब्बञ्ञुबोधिसत्ता पच्छिमपटिसन्धिगहणे पठमेन सोमनस्ससहगत-तिहेतुकअसङ्खारिकमहाविपाकचित्तेन पटिसन्धि गण्हन्ति[4] ।"

इस प्रकार कामावचर के विषय मे सौमनस्य की तीक्ष्णता के आधिक्य को समझना चाहिये ।

महग्गत एव लोकोत्तर के विषय मे, समाधि ही प्रधान होती है । सौमनस्य का उत्पन्न होना समाधि को दुर्बल करता है । उपेक्षा, समाधि के प्रति उत्साह होने के लिये बल देनेवाले मित्र की तरह होती है । अतएव नीचे के चार ध्यानो मे सुख (सौमनस्य) से सम्प्रयोग होकर ऊपर के पञ्चमध्यान मे उपेक्षा से ही सम्प्रयोग होता है । फल देने की दृष्टि से भी सौमनस्य-ध्यानो की अपेक्षा उपेक्षा-ध्यान अधिक फल देनेवाले होते है । (इस पञ्चमध्यान के उपचारसमाधि[5]-जवन एव उपेक्षा-ब्रह्मविहार[6] की भावना – इन दोनो के कामावचर के विषय होने पर भी सौमनस्य की अपेक्षा, उपेक्षा की तीक्ष्णता पर ध्यान दे ।)

इस प्रकार पञ्चमध्यान के उपचारसमाधिजवन एव उपेक्षाब्रह्मविहार के अति-रिक्त कामावचर के विषय मे, सौमनस्य की शक्ति अधिक होती हे । महग्गत एव-लोकोत्तर के विषय मे उपेक्षा की शक्ति के आधिक्य को निसङ्कोच जानना चाहिये।

---

१. "तब्बिपरीतेन ससङ्खारिककारण वेदितब्ब ।"—प० दी०, पृ० २६ ।

२ रूपावचर एव अरूपावचर चित्तो को 'महग्गत' कहते है ।

३. द्र० – अभि० स०, पञ्च० परि० 'कम्मचतुक्क' की व्याख्या ।

४ अट्ठ०, पृ० २१५ ।

५ द्र० – अभि० स० ६ २८-२९ की व्याख्या ।

६ द्र० – अभि० स० ९ ६ की व्याख्या ।

कुछ आचार्यों का मत – सौमनस्य की उत्पत्ति के कारणो मे – चित्त के स्वभाव का अगम्भीर होना, तथा उपेक्षा की उत्पत्ति के कारणो मे – चित्त के स्वभाव का गम्भीर होना, इन कारणो के होने से कामावचर के विषय मे भी अगम्भीर सौमनस्य की अपेक्षा गम्भीर उपेक्षा की शक्ति अधिक होती है । यथा –

"इमेसु अट्ठसु लोभमूलचित्तेसु सोमनस्ससहगततो उपेक्खासहगत बलवत्तर[१] ।"

गम्भीर स्वभाववाले पुद्गल उन उन आलम्बनो मे शीघ्र सन्तुष्ट न होकर उपेक्षास्वभाव से ही उनका आलम्बन करते है । चित्त के स्वभाव के गम्भीर होने के के कारण उनकी उपेक्षा, सौमनस्य से उत्तम होती है । इस प्रकार कुछ आचार्य कामावचर के विषय मे भी उपेक्षा की शक्ति को अधिक मानते है ।

उपर्युक्त आचार्यो का यह मत समीचीन नही है, क्योकि गम्भीर स्वभाववाले पुद्गल (समाधिबलवान् पुद्गल) अपने सन्तुष्ट होने योग्य आलम्बनो को सम्प्राप्त न करने के कारण ही उनमे उपेक्षा कर सकते है । जब उनका अत्यन्त इष्ट आलम्बन से समागम होता है तब उन आलम्बनो मे उपेक्षामात्र न होकर, इनमे सौमनस्य-जवनरूपी तरङ्गो का उद्गमन भी होता है । कुशल के विषय मे भी यदि अतिइष्ट आलम्बन, भगवान् बुद्ध का दर्शन, होता है तो ऐसी अवस्था मे समाधिबलवान् पुद्गल भी कैसे उपेक्षा कर सकेंगे ? अवश्य ही उनमे प्रीति एव सौमनस्य का उत्पाद होगा । अतएव उपर्युक्त आचार्यो का मत समीचीन नही है ।

[स्वभाव (परमार्थ) धर्मो की शक्तियो की परस्पर तुलना करते समय पुद्गलो की तुलना नही करनी चाहिये । एक पुद्गल मे भी कभी सौमनस्य एव कभी उपेक्षा होती है । अत उस एक पुद्गल के सौमनस्य एव उपेक्षाओ की शक्ति की ही तुलना करनी चाहिये ।]

सम्प्रयुक्त एव विप्रयुक्त—विप्रयुक्त की अपेक्षा सम्प्रयुक्त की शक्ति बलवत्तर होती है । दृष्टिगत सम्प्रयुक्त चित्त, दृष्टिगतविप्रयुक्त चित्त से बलवान् होता है । इसी तरह ज्ञानसम्प्रयुक्त चित्त, ज्ञानविप्रयुक्त चित्त से बलवान् होता है ।

असस्कारिक एवं ससस्कारिक— सस्कारिक चित्त की अपेक्षा असस्कारिक चित्त तीक्ष्णतर होता है । पुद्गल जब लोभमूल चित्त से परसम्पत्ति को चुराता है तो कभी कभी असस्कारिक (स्वप्रेरित) चित्त से चुराता है, और कभी कभी चोरी करने का छन्द (इच्छा) न होने पर भी अपने अभिभावक व्यक्तियो द्वारा प्रेरित किये जाने पर ससस्कारिक चित्त से चुराता है ।

"यहाँ पर यह अवधातव्य है कि दूसरो के द्वारा प्रेरित होने मात्र से चित्त ससस्कारिक नही कहा जा सकता, वस्तुत चित्त के स्वभावत अनुत्साहित होने के समय दूसरो के द्वारा प्रेरित किया जाकर जबरदस्ती कर्म कराते समय वह ससस्कारिक कहा जाता है । अपने आप 'मै ऐसा करूँगा' – ऐसा सङ्कल्प होने पर, दूसरो के द्वारा

१ द्र० – मणि०, प्र० भा०, पृ० १२५ ।

प्रेरित किये जाने पर भी स्वभावत सोत्साह होने के कारण चित्त ससस्कारिक नही कहा जा सकता । अपिच, दूसरो के द्वारा प्रेरित होकर यदि पुद्गल कार्य प्रारम्भ करता है तो प्रारम्भ मे तो दूसरो के द्वारा जबरदस्ती कर्म कराये जाने के कारण वह चित्त ससस्कारिक होता है, किन्तु प्रारब्ध कार्य को सम्पन्न करते समय उस कार्य के फल को जानकर जब वही पुद्गल अपनी स्वभावतीक्ष्णता से उत्साहपूर्वक उस कार्य को सम्पन्न करने लगता है तब उसका वह चित्त असस्कारिक हो जाता है । कुशल के विषय मे भी इसी प्रकार जानना चाहिये[१] ।"

प्रश्न—पहले कहा गया है कि दृष्टिगतविप्रयुक्त चित्त की अपेक्षा दृष्टिगत-सम्प्रयुक्त चित्त की शक्ति तीक्ष्ण होती है । मिथ्यादष्टियुक्त पुद्गल 'इस कर्म मे कोई आपत्ति (दोष) नही है'—ऐसा विश्वास करके अकुशल कर्म करते है । सम्यग्दृष्टियुक्त पुद्गल कर्मो मे आपत्ति को जान कर भी जानबूझकर अकुशल कर्म करते है । इन दोनो प्रकार के पुद्गलो मे क्या प्रथम की अपेक्षा द्वितीय का फल अधिक होगा ?

उत्तर—नही ! आपत्ति के होने पर भी 'आपत्ति नही है'—यह जानना मिथ्यादृष्टि है । इस मिथ्यादृष्टि को आधार करके जब अकुशल कर्म किये जाते है तो वे अत्यधिक उत्साह के साथ निर्भयतापूर्वक किये जाते है । इसलिये मिथ्यादृष्टि-युक्त पुद्गलो की सन्तान मे अकुशल की शक्ति बलवती होती है । आपत्ति को जानकर अकुशल कर्म करनेवाले पुद्गलो मे 'ये कर्म अकुशल है'—ऐसा ज्ञान होने के कारण उन कर्मो को करते समय भी उत्साह नही होता । इसलिये इन पुद्गलो का अकुशल, दृष्टिसम्प्रयुक्त पुद्गलो की तरह बलवान् नही होता । जैसे—तप्त लौहपिण्ड को सुवर्ण-पिण्ड समझकर पकडनेवाले पुद्गल को, उस (तप्त) लौहपिण्ड को लौहपिण्ड ही समझ कर पकड़नेवाले पुद्गल की अपेक्षा अधिक दाह होता है[२] ।

लोभमूल से विशेषित करना—इन लोभमूल चित्तो मे लोभमूल के अतिरिक्त मोहमूल से भी सम्प्रयोग होता है, फिर क्यो 'मोहसहगतचित्तानि नाम'—ऐसा न कह कर, 'लोभसहगतचित्तानि नाम'—ऐसा ही कहा गया है ?

उत्तर—मोहमूल केवल लोभमूल चित्तो से नही, अपितु द्वेषमूल एव मोहमूल चित्तो से भी सम्प्रयुक्त होता है । यदि 'मोहसहगतचित्तानि' ऐसा कहते है तो द्वेषमूल एव मोहमूल चित्तो का भी ग्रहण हो जायेगा । अत 'लोभसहगतचित्तानि'—ऐसा कहा गया है ।

लोभमूल चित्तों का उत्पत्तिक्रम—

१ जब कोई पुद्गल इस प्रकार का मत रखता हो कि कामभोगो के भोगने मे कोई आदीनव (बुरा फल) नही है, अथवा दृष्टमङ्गल या श्रुतमङ्गल—आदि विधानो मे सार देखता हो और ऐसी मिथ्यादृष्टि होने के कारण आनन्दित मन से काम भोगता

---

१. ब० भा० टी० ।

२ तु०—'जानन्ताजानन्तानं पापकरणपञ्हा'—मिलि०, पृ० ८७ ।

हो, अथवा अन्य वैसे कर्म करता हो तथा ऐसा करने मे किसी दूसरे की प्रेरणा कारण न हो तो उस प्रकार के मनुष्य का वैसा चित्त प्रथम अकुशलचित्त (सौमनस्यसहगत-दृष्टिगतसम्प्रयुक्त-असस्कारिकचित्त) कहलाता है ।

२ जब कोई पुद्गल अन्य वैसे कर्म करता हो तथा ऐसा करने मे किसी दूसरे की प्रेरणा कारण हो तो उस प्रकार के मनुष्य का वैसा चित्त द्वितीय अकुशलचित्त (सौमनस्यसहगत-दृष्टिगतसम्प्रयुक्त-ससस्कारिकचित्त) कहलाता है ।

३ जब कोई पुद्गल मतविशेष या दृष्टिविशेष के कारण नही, अपितु अपनी स्वभावगत तीक्ष्णता से प्रसन्नचित्त हो कर मैथुन का आचरण करता हो, परसम्पत्ति चाहता हो, अथवा परधन का अपहरण-आदि करता हो, और ऐसा करने मे किसी दूसरे की प्रेरणा कारण न हो तो उस प्रकार के मनुष्य का वैसा चित्त तृतीय अकुशल-चित्त (सौमनस्यसहगत-दृष्टिगतविप्रयुक्त-असस्कारिकचित्त) कहलाता है ।

४ जब कोई पुद्गल मतविशेष या दृष्टिविशेष के कारण नही और ऐसा करने मे किसी दूसरे की प्रेरणा कारण हो तो उस प्रकार के मनुष्य का वैसा चित्त चतुर्थ अकुशलचित्त (सौमनस्यसहगत-दृष्टिगतविप्रयुक्त-असस्कारिकचित्त) कहलाता है ।

५ जब कोई पुद्गल मतविशेष या दृष्टिविशेष के कारण, किन्तु कामभोगो मे असम्पत्ति को देखकर सौमनस्यरहित (उपेक्षायुक्त) चित्त से काम भोगता है या दूसरो के धन का अपहरण-आदि करता है और ऐसा करने मे किसी दूसरे की प्रेरणा कारण नही होती तो उस प्रकार के मनुष्य का वैसा चित्त पञ्चम अकुशलचित्त (उपेक्षा सहगत-दृष्टिगतसम्प्रयुक्त-असस्कारिकचित्त) कहलाता है ।

६ जब कोई पुद्गल मतविशेष या दृष्टिविशेष के कारण, किन्तु कामभोगो मे असम्पत्ति को देखकर सौमनस्यरहित (उपेक्षायुक्त) चित्त से काम भोगता है, अथवा दूसरो के धन का अपहरण-आदि करता है और ऐसा करने मे किसी दूसरे की प्रेरणा कारण होती है तो उस प्रकार के मनुष्य का वैसा चित्त षष्ठ अकुशलचित्त (उपेक्षासहगत-दृष्टिगतसम्प्रयुक्त-ससस्कारिकचित्त) कहलाता है ।

७ जब कोई पुद्गल मतविशेष या दृष्टिविशेष के कारण नही, अपितु अपनी स्व-भावगत तीक्ष्णता से आनन्दरहित होकर मैथुन का आचरण करता हो, परसम्पत्ति को चाहता हो, अथवा परधन का अपहरण-आदि करता हो और ऐसा करने मे किसी दूसरे की प्रेरणा कारण न होती हो तो उस प्रकार के मनुष्य का वैसा चित्त सप्तम अकुशलचित्त (उपेक्षासहगत-दृष्टिगतविप्रयुक्त-असस्कारिकचित्त) कहलाता है ।

८ जब कोई पुद्गल मतविशेष या दृष्टिविशेष के कारण नही . करता हो और ऐसा करने मे किसी दूसरे की प्रेरणा कारण होती हो तो इस प्रकार के मनुष्य का वैसा चित्त अष्टम अकुशलचित्त (उपेक्षासहगत-दृष्टिगतविप्रयुक्त-ससस्कारिकचित्त) कहलाता है ।

यथा – "'यदा हि नत्थि कामेसु आदीनवो' त्यादिना नयेन मिच्छादिट्ठि पुरेक्खित्वा हट्ठतुट्ठो कामे वा परिभुञ्जति, दिट्ठमङ्गलादीनि वा सारतो पच्चेति, सभावतिक्खेनेव

दोसमूलचित्तानि

५ दोमनस्ससहगतं पटिघसम्पयुत्तं असङ्खारिकमेकं, ससङ्खारिकमेकं ति इमानि द्वे पि पटिघसम्पयुत्तचित्तानि* नाम ।

दौर्मनस्यवेदनासहगत एव प्रतिघ से सम्प्रयुक्त असंस्कारिक एक तथा ससंस्कारिक एक – इस प्रकार ये दोनो प्रतिघसम्प्रयुक्त चित्त है ।

अनुस्साहितेन चित्तेन तदा पठम अकुसल चित्त उप्पज्जति, यदा पन मन्देन समुस्साहितेन चित्तेन तदा दुतिय, यदा पन मिच्छादिट्ठि अपुरेक्खित्वा केवल हट्ठतुट्ठो मेथुन वा सेवति, परसम्पत्ति वा अभिज्झायति, परभण्ड वा हरति, सभावतिक्खेनेव अनुस्साहितेन चित्तेन तदा ततिय, यदा पन मन्देन समुस्साहितेन चित्तेन तदा चतुत्थ, यदा पन कामान वा असम्पत्ति आगम्म, अञ्ञेस वा सोमनस्सहेतून अभावेन चतूसु पि विकप्पेसु सोमनस्स-रहिता होन्ति तदा सेसानि चत्तारि उपेक्खासहगतानि उप्पज्जन्ती ति[1] ।"

द्वेषमूलचित्त

५ **दोमनस्ससहगतं**—'दुट्ठु मनो दुमनो, दुमनस्स भावो दोमनस्स[2]' दुष्ट मनस् दुर्मनस् है और उस दुष्ट मनस् के भाव को दौर्मनस्य कहते हैं । इस चित्त मे दुःखावेदना रहती है । 'दोमनस्सेन सहगत दोमनस्ससहगत' अर्थात् दौर्मनस्यवेदना से सहगत चित्त को दौर्मनस्यसहगत कहते है । 'सहगत' शब्द का यहाँ 'ससृष्ट' अर्थ है । अत दौर्मनस्य-वेदना से ससृष्ट चित्त दौर्मनस्यसहगत कहलाता है[3] ।

पटिघसम्पयुत्तं—'पटिहञ्ञतीति पटिघो[4]' प्रतिघात करनेवाले द्वेष चैतसिक को 'प्रतिघ' कहते हैं । जैसे – दुष्ट व्यक्तियो से सङ्गति करनेवाला पुद्गल उन दुष्ट व्यक्तियो के वश मे होकर नाश को प्राप्त होता है, उसी प्रकार द्वेष से सम्प्रयुक्त धर्म नाश को प्राप्त होते है । अतएव द्वेष चैतसिक, सम्प्रयुक्त धर्मो का प्रतिघात (नाश) करता है – ऐसा कहा गया है । 'पटिघेन सम्पयुत्त पटिघसम्पयुत्त' अर्थात् प्रतिघ से सम्प्रयुक्त चित्त प्रतिघसम्प्रयुक्त कहलाता है[5] ।

दौर्मनस्य एवं प्रतिघ—अनिष्ट आलम्बन का अनुभव करनेवाला चैतसिक दौर्मनस्य है । उसका वेदना-स्कन्ध मे ग्रहण होता है । प्रतिघ चण्ड-स्वभाव होता है और यह सस्कारस्कन्ध मे गृहीत होता है ।

---

* पटिघचित्तानि – स्या०, ना० ।

१ विभा०, पृ० ६१, तु० – विसु०, पृ० ३१७ ।

२ विभा०, पृ० ६१, तु० – प० दी०, पृ० २९ ।

३ अट्ठ०, पृ० २०७ ।

४ "आरम्मणे पटिहञ्ञतीति पटिघो दोसो ।" – विभा०, पृ० ६१, प० दी० पृ० २९ ।

५ अट्ठ०, पृ० २०७ ।

इन दोनो द्वेषमूलक चित्तो मे वेदना-भेद न होने पर भी, दौर्मनस्यवेदना इनका असाधारण धर्म होने के कारण, इन्हे दौर्मनस्यवेदना के द्वारा विशेषित किया गया है । तथा जब दौर्मनस्य होता है तब प्रतिघ नामक द्वेष भी सदा होता है, अर्थात् दौर्मनस्यवेदना के साथ द्वेष चैतसिक नित्य सम्प्रयुक्त होता है । इसी बात को द्योतित करने के लिये 'पटिघसम्पयुत्त' ऐसा कहा गया है ।

"दोमनस्ससहगतस्स वेदनावसेन अभेदे पि असाधारणधम्मवसेन चित्तस्स उपलक्खणत्थ दोमनस्ससहगत । पटिघसम्पयुत्तभावो पन उभिन्न एकन्तसहचारितादस्सनत्थ वुत्तो ति दट्ठब्बो[1] ।"

विशेष—"यदि दौर्मनस्यवेदना के द्वारा इन चित्तो को विशेषित न किया जायेगा तो इन चित्तो मे सौमनस्य एव उपेक्षा वेदना के होने का सन्देह हो सकता है । इस सन्देह की निवृत्ति के लिये इन्हे 'दोमनस्ससहगत' कहा गया है । जैसे – कोई न्यायाधीश किसी अपराधी को विधानत प्राणदण्ड की सजा सुना रहा है और किसी कारणवश मुस्करा रहा है तो प्रेक्षको को यह भ्रम हो सकता है कि इसका चित्त सौमनस्य से युक्त है । इसी तरह कोई बालक अपने लक्ष्यानुसन्धान के अभ्यास के सिलसिले मे किसी पक्षी का प्राण-हरण कर लेता है और अपनी सफलता समझकर पक्षी के मृत होने पर प्रसन्नता का अनुभव करता है तो यहाँ भी उसका चित्त आपातत सौमनस्य से युक्त प्रतीत होता है, किन्तु उपर्युक्त दोनो उदाहरणो मे दौर्मनस्यवेदना ही ससृष्ट होती है । सौमनस्य की प्रतीति भ्रममात्र है । इसी तरह प्राणातिपात के समय कभी उपेक्षा का भी भ्रम हो सकता है। वस्तुत प्राणातिपात कर्म मे केवल दौर्मनस्यवेदना ही ससृष्ट होती है ।

इसी प्रकार 'प्राणिहिसा मे पाप नही होता' अथवा 'याज्ञिकी हिसा हिसा नही होती'-आदि विचारो से युक्त पुद्गलो मे इन द्वेषमूल चित्तो के साथ 'मिथ्यादृष्टि सम्प्रयुक्त है' – ऐसा साधारणतया भ्रम हो सकता है, और इसी भ्रम के निवारणार्थ 'पटिघसम्पयुत्त' – ऐसा विशेषण दिया गया है, क्योकि इन चित्तो मे कभी भी मिथ्यादृष्टि सम्प्रयुक्त नही होती[2] ।"

दौर्मनस्य की उत्पत्ति के कारण—दौर्मनस्य एव प्रतिघ के अविनाभावी होने के कारण उनके उत्पत्ति-कारण भी समान ही होते है ।

१. द्वेष अध्याशय का होना ।

२ चित्तस्वभाव का अगम्भीर होना ।

३ अल्पश्रुत होना ।

४ अनिष्ट आलम्बन से समागम होना ।

इन चार कारणो मे अन्तिम कारण दौर्मनस्य एव प्रतिघ की उत्पत्ति मे प्रमुख कारण है[3] ।

---

१. विभा०, पृ० ६१ ।
२ तु० – प० दी०, पृ० २९ ।
३. प० दी०, पृ० ३० ।

मोहमूलचित्तानि

६. उपेक्खासहगतं विचिकिच्छासम्पयुत्तमेकं, उपेक्खासहगत उद्धच्च-सम्पयुत्तमेकं ति इमानि द्वे पि मोमूहचित्तानि नाम।

उपेक्षासहगत एव विचिकित्सा से सम्प्रयुक्त एक, तथा उपेक्षा-सहगत एवं औद्धत्य से सम्प्रयुक्त एक – इस प्रकार ये दोनो मोमूहचित्त है।

द्वेषमूल चित्तो का उत्पत्तिक्रम –

१. जब कोई पुद्गल द्वेषमूल चित्त से प्राणातिपात-(आत्महिसा या परहिसा) आदि कर्म करता है और ऐसा करने मे किसी दूसरे की प्रेरणा कारण नही होती तो उस प्रकार के मनुष्य का वैसा चित्त प्रथम द्वेषमूल चित्त (दौर्मनस्यसहगत-प्रतिघसम्प्रयुक्त-असस्कारिकचित्त) कहलाता है।

२. जब कोई पुद्गल... कर्म करता है और ऐसा करने मे किसी दूसरे की प्रेरणा कारण होती है तो उस प्रकार के मनुष्य का वैसा चित्त द्वितीय द्वेषमूल चित्त (दौर्मनस्यसहगत-प्रतिघसम्प्रयुत्त-ससस्कारिकचित्त) कहलाता है।

मोहमूलचित्त

६ उपेक्खासहगत – यह मोहमूल चित्त, लोभ एव द्वेष नामक अन्य मूलो से सम्प्रयुक्त नही होता, केवल एक मोहमूल से ही सम्प्रयुक्त होता है। इस प्रकार मोहमूल चित्त मे सम्प्रयुक्त होनेवाला एकमात्र यह मोह (चैतसिक), जैसे लोभमूल चित्त मे सम्प्रयुक्त होते समय लोभस्वभाव की ओर अनुगमन करता है, एव द्वेषमूल चित्त मे सम्प्रयुक्त होते समय द्वेषस्वभाव की ओर अनुगमन करता है, वैसे यहाँ किसी अन्य स्वभाव की ओर अनुगमन न करके अपने स्वभाव के अनुसार ही स्वतन्त्रतापूर्वक चित्त को समूढ करता है। इस मोह से सम्प्रयुक्त होकर समूढ होनेवाला यह मोहमूल चित्त, इष्टालम्बन को प्राप्त करके भी इष्ट रस की अनुभति के लिये आलम्बन का अनुभव नही कर सकता। अतएव यह (चित्त) सौमनस्यवेदना से सम्प्रयुक्त नही हो सकता। इसी प्रकार अनिष्टालम्बन को प्राप्त करके अनिष्ट रस की अनुभूति के लिये भी आलम्बन का अनुभव नही कर सकता, इसलिये यह दौर्मनस्यवेदना से भी सम्प्रयुक्त नही हो सकता। अत यह चित्त न तो इष्टालम्बन के प्रति आसक्त होता है और न अनिष्टालम्बन के प्रति अनासक्त ही होता है, अपितु मध्यम अनुभूति करनेवाली उपेक्षावेदना से ही सम्प्रयुक्त होता है। जैसे – मद्य पीकर नशे मे चूर किसी व्यक्ति को मधुर वचन से न तो सुख होता है और न कटुवचन से कोई दुख ही होता है, इसी प्रकार मोह से समूढ व्यक्ति सौमनस्य एव दौर्मनस्य – दोनो से विरक्त होता है।

अथवा – यह मोहमूल चित्त आलम्बन मे ससर्पण (सन्देह) करनेवाली विचि-कित्सा एव अनुपशम-(विक्षेप) लक्षण औद्धत्य से सम्प्रयुक्त होने के कारण चञ्चल होने से आलम्बन को स्पष्टतया अनुभव नही कर सकता। इसलिये उपेक्षावेदना से ही सम्प्रयुक्त होता है, कहा भी है, यथा –

"मूलन्तरविरहेन चिकिच्छुद्धच्चयोगतो।
सम्मूळ्ह चञ्चल 'तेन सोपेक्ख एकहेतुक'[1] ।।"

अपि च –

"मूलत्ता चेव ससप्पविक्खेपा चेकहेतुक ।
सोपेक्ख सब्बदानो च भिन्न सङ्खारभेदतो[2] ।।"

उद्धच्चसम्पयुत्तं – उद्धच्च (औद्धत्य) चैतसिक के सभी अकुशल चित्तो से सम्प्रयुक्त होने पर भी क्यो केवल अन्तिम अकुशल चित्त को ही 'उद्धच्चसम्पयुत्त' कहा गया है ?

उत्तर – यद्यपि उद्धच्च सभी अकुशल चित्तो मे सम्प्रयुक्त होता है तथापि पूर्व पूर्व अकुशल चित्तो मे उसकी शक्ति विभूत (स्पष्ट) नही होती । यह उनमे अप्रधान रूप से ही सम्प्रयुक्त होता है । इस अन्तिम अकुशल चित्त मे इसकी शक्ति विभूत होती है और यह इसमे प्रधान रूप से सम्प्रयुक्त होता है । अतएव इस चित्त को 'उद्धच्चसम्पयुत्त' कहा गया है ।

यद्यपि लोभमूल-आदि चित्तो मे भी उद्धच्च सम्प्रयुक्त होता है तथापि, उन चित्तो मे होनेवाले लोभ, दृष्टि, मान-आदि विभूततर धर्मो की शक्ति के द्वारा इसके अभिभूत हो जाने के कारण वहाँ इसकी शक्ति अभिभूत ही रहती है । अन्तिम अकुशल चित्त मे लोभ, दृष्टि, मान-आदि चैतसिक धर्मो के सम्प्रयुक्त न होने के कारण इसकी शक्ति यहाँ प्रधान होती है । यथा –

"सब्बाकुसलयुत्त पि उद्धच्च अन्तमानसे ।
बलव इति त येव वुत्तमुद्धच्चयोगतो[3] ।।"

संस्कारविनिश्चय – कुछ आचार्य इस मोमूहचित्त को असस्कारिक तथा कुछ आचार्य इसे ससस्कारिक कहते है । वस्तुत यह न तो असस्कारिक ही है और न ससस्कारिक ही, अपितु उपेक्षासहगत-विचिकित्सासम्प्रयुक्त, एव उपेक्षासहगत-उद्धच्च-सम्प्रयुक्त है[4] ।

'धम्मसङ्गणिपालि'[5] मे लोभमूल, द्वेषमूल एव कामशोभन चित्तो मे पश्चिम पश्चिम चित्तो को 'ससङ्खारेन' कहा गया है, अत अट्ठकथाचार्य पूर्व पूर्व चित्तो की 'असंस्कारिक' नाम से, तथा पश्चिम पश्चिम चित्तो की 'ससस्कारिक' नाम से व्याख्या करते है[6] । वहाँ पर लोभमूल एव द्वेषमूल चित्तो मे असस्कारिक तथा ससस्कारिक की

१ ब० भा० टी० ।
२ विभा०, पृ० ६२ ।
३. विभा०, पृ० ६२ ।
४. विस्तृत ज्ञान के लिये द्र०–प० दी०, पृ० ३१ ।
५ द्र०–ध० स०, पृ० ३६, ६७, १०३ ।
. द्र० –अट्ठ०, पृ० १२७, २०६ ।

इच्चेवं सब्बथा पि द्वादसाकुसलचित्तानि समत्तानि।

इस तरह सर्वथा बारह अकुशलचित्त समाप्त।

शक्ति की तुलना की गई है और इन व्याख्याओ (अट्ठकथाओ) के अनुसार असस्कारिक चित्त, ससस्कारिक चित्त से बलवान् होते है । किन्तु उपर्युक्त मोमूहचित्त के विषय मे तो, उस 'धम्मसङ्गणिपालि' मे 'इसमे सस्कार है या नही' – इस सम्बन्ध मे लेशमात्र भी नही कहा गया है। आचार्य अनरुद्ध भी 'चैतसिक-परिच्छेद' के 'अकुसलसङग्रहनय' मे पूर्व के दस अकुशल चित्तो का 'असङ्खारिकपञ्चक, ससङ्खारिकपञ्चक' – इस प्रकार विभाग दिखाते है, किन्तु मोमूहचित्त मे 'सङ्खार' के विषय मे कुछ भी नही कहते, केवल 'विचिकिच्छासहगत, उद्धच्चसहगत' मात्र उल्लेख करते है।

मोमूहचित्त के स्वभाव पर विचार करने से ज्ञात होता है कि चाहे दूसरो के द्वारा प्रेरणा की गई हो अथवा न की गई हो, उसके स्वभाव मे तीक्ष्णता या मन्दता-आदि भेद नही होते । बुद्ध-आदि के प्रति सन्देह होना, विचिकित्सासम्प्रयुक्त चित्त है । यह सन्देह अन्यमतावलम्बी धर्म-कथको के द्वारा बुद्ध-आदि के सम्बन्ध मे मिथ्या-प्रचार करने से भी उत्पन्न हो सकता है और स्वय अपने आप जगत्कर्तृत्व-आदि के विषय मे मीमासा करने से भी उत्पन्न हो सकता है, जैसे – जब बुद्ध सृष्टि का निर्माण नही कर सकते तो वे भगवान् कैसे हो सकते है? अथवा जब वे जन्ममरणधर्मा है तो उन्हे भगवान् कैसे कहा जा सकता है? इत्यादि—इस प्रकार अपने अपने धर्म की मान्यता के अनुसार विचार करने से सन्देह का उत्पाद हो सकता है । उस सन्देह के, दूसरो के द्वारा प्रेरित होने से अथवा अपने आप विचार करने से, उत्पन्न होने पर भी उस (विचिकित्सा) के स्वभाव मे तीक्ष्णता या मन्दता का भेद नही होता ।

"असस्कारिक एव ससस्कारिक – यह नामकरण, केवल 'सङ्खार' के होने या न होने मात्र से नही किया जाता, अपितु एक ही चित्त मे तीक्ष्णता एव मन्दता – इन दो भेदो के होने से ही होता है; क्योकि तीक्ष्णता एव मन्दता, ये भेद, इस विचिकित्सासम्प्रयुक्त चित्त मे नही होते, अत यह असस्कारिक या ससस्कारिक नही होता । इसी प्रकार औद्धत्यसम्प्रयुक्त चित्त मे भी सस्कार-भेद को समझना चाहिये[1]।"

विसुद्धिमग्ग-महाटीकाकार ने भी ऐसा ही आशय व्यक्त किया है, यथा –

"आरम्मणे हि ससप्पनवसेन, विक्खिपनवसेन च पवत्तमानस्स चित्तद्वयस्स कीदिसे किच्चे सभावतिक्खताय उस्साहेतब्बताय वा भवितब्ब, तस्मा न तत्थ सङ्खारभेदो अत्थि[2]।"

अर्थात् आलम्बन मे ससर्पणवश (सन्देहवश) अथवा विक्षेपणवश (औद्धत्यवश) प्रवर्तमान मोहमूल दोनो चित्तो को किसी भी प्रकार के कृत्य मे स्वभावतीक्ष्णता से अथवा स्वभावमन्दता (उत्साहनीयता) से प्रवृत्त होना चाहिये, किन्तु ऐसा नही होता, अत: इन (मोहमूल) दोनो चित्तो मे सस्कारभेद नही होता ।

---

१. ब० भा० टी०।

२ विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १२१।

७. अट्ठधा लोभमूलानि दोसमूलानि च द्विधा ।
मोहमूलानि च द्वे ति द्वादसाकुसला सियुं ॥

आठ प्रकार के लोभमूल चित्त, दो प्रकार के द्वेषमूल चित्त तथा दो प्रकार के मोहमूल चित्त – इस प्रकार कुल बारह अकुशल चित्त होते हैं ।

---

७ **अकुसला** – 'न कुसला अकुसला' अर्थात् जो कुशल नहीं है वे 'अकुशल' कहलाते हैं । यहाँ पर 'न' ('नञ्') शब्द सामान्यप्रतिषेधार्थक नहीं है, अपितु यह प्रतिपक्ष अर्थ का द्योतक है । कुशलधर्म प्रहायकधर्म एवं अकुशलधर्म प्रहातव्यधर्म होते हैं । इस तरह ये परस्पर एक दूसरे के प्रतिपक्ष होते हैं । अतः जो धर्म कुशल के प्रतिपक्ष (विरुद्ध) हैं, वे अकुशल कहलाते हैं ।

अकुशल चित्त

- लोभमूल
  - सौमनस्य
    - दृष्टिगतसम्प्रयुक्त
      - असस्कारिक
      - ससस्कारिक
    - दृष्टिगतविप्रयुक्त
      - असस्कारिक
      - ससस्कारिक
  - उपेक्षा
    - दृष्टिगतसम्प्रयुक्त
      - असस्कारिक
      - ससस्कारिक
    - दृष्टिगतविप्रयुक्त
      - असस्कारिक
      - ससस्कारिक
- द्वेषमूल
  - दौर्मनस्य
    - प्रतिघसम्प्रयुक्त
      - असस्कारिक
      - ससस्कारिक
- मोहमूल
  - उपेक्षा
    - विचिकित्सासम्प्रयुक्त
    - औद्धत्यसम्प्रयुक्त

अकुशल चित्त समाप्त ।

अहेतुकचित्तानि (१८)

अकुसलविपाकानि

८. उपेक्खासहगतं चक्खुविञ्ञाणं, तथा सोतविञ्ञाणं, घानविञ्ञाणं*, जिव्हाविञ्ञाणं, दुक्खसहगतं कायविञ्ञाणं, उपेक्खासहगतं सम्पटिच्छनचित्तं† उपेक्खासहगतं सन्तीरणचित्तञ्चेति† इमानि सत्त पि अकुसलविपाकचित्तानि नाम।

उपेक्षा-सहगत चक्षुर्विज्ञान, उसी प्रकार श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान, दु.ख-सहगत काय-विज्ञान, उपेक्षा-सहगत सम्पटिच्छन (सम्प्रत्येषण) चित्त एव उपेक्षा-सहगत सन्तीरण चित्त – इस प्रकार ये सात चित्त अकुशल-विपाक चित्त है

अहेतुक चित्त

अकुशलविपाक

८ **अहेतुक** – अहेतुक चित्त वे हैं जिनके साथ हेतुचैतसिक सम्प्रयुक्त नही होते। पालि-अभिधर्म के अनुसार हेतु छ होते है, जिनमे तीन अकुशल हेतु एव तीन कुशल अथवा अव्याकृत हेतु होते हैं। अकुशल हेतु – लोभ, द्वेष एव मोह। कुशल अथवा अव्याकृत हेतु – अलोभ, अद्वेष एव अमोह[1]।

ग्रन्थकार ने प्रारम्भ मे तीन अकुशलमूलो के द्वारा अकुशल चित्तो का त्रिविध विभाग करके तथा सम्प्रयोग-आदि के द्वारा बारह प्रकार का विभाग करके वर्णन किया है। अहेतुक चित्तो मे अकुशलविपाक, कुशलविपाक एव क्रिया—इस तरह तीन प्रकार के चित्त होते हैं, क्योकि चित्तपरिच्छेद मे सर्वप्रथम अकुशल चित्तो का वर्णन है, अतएव अहेतुक चित्तो मे भी सर्वप्रथम अकुशलविपाक का वर्णन करना न्यायसङ्गत है[2]।

चक्खुविञ्ञाणं – 'चक्खुस्मि निस्सित विञ्ञाण चक्खुविञ्ञाण[3]' अर्थात् चक्षु-

---

* घाण० – सी० (सर्वत्र)।

†-† सम्पटिच्छन्न तथा सन्तीरणञ्चेति – स्या०, सम्पतिच्छन० – म० (क) ('ति' सर्वत्र)।

१ द्र० – अभि० स० ३ : १६।

२ द्र० – विभा०, पृ० ६३, तु० – प० दी०, पृ० ३३।

३ "विजानाती ति विञ्ञाण। यथाह – 'विजानाति विजानातीति खो भिक्खवे, तस्मा विञ्ञाण ति वुच्चती' ति। चक्खु निस्सितं विञ्ञाण चक्खुविञ्ञाण चक्खुना वा पच्चयभूतेन जनित विञ्ञाण चक्खुविञ्ञाण, कम्मेन वा चक्खुस्स उपनीत विञ्ञाण चक्खुविञ्ञाण, चक्खुतो वा जात विञ्ञाण चक्खुविञ्ञाण, चक्खुस्स वा इन्द्रियभावेन सामिभूतस्स विञ्ञाण चक्खुविञ्ञाण, चक्खुस्मि वा उपपन्न विञ्ञाण चक्खुविञ्ञाण।" – प० दी०, पृ० ३३-३४; तु० – विभा०, पृ० ६३।

प्रसाद मे आश्रित विज्ञान को 'चक्षुर्विज्ञान' कहते है। इसी तरह श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान एव कायविज्ञान को भी जानना चाहिये[1]।

उपेक्खासहगत – चक्षुर्विज्ञान-आदि चार विज्ञानो के द्वारा रूप-आदि विषयो का केवल आलम्बनमात्र किया जाता है। उनका वेदना के रूप मे स्पष्टतया अनुभव नही होता। अत उपर्युक्त चित्त उपेक्षा से ही सम्प्रयुक्त होते है[2]।

दुक्खसहगतं कायविञ्ञाण – दु ख दो प्रकार के होते है, यथा – कायिक दु ख एव चैतसिक दु ख। यहाँ पर केवल कायिक दु ख का ग्रहण करना चाहिये। कायेन्द्रिय से स्पर्श के कारण जो प्रतिकूल अनुभव होता है, वह कायिक दु ख है। अकुशलविपाक के कारण जो काय-विज्ञान उत्पन्न होता है, वह सर्वदा दु खसहगत ही होता है, अतएव 'दुक्खसहगत कायविञ्ञाण' कहा गया है। 'कुच्छित हुत्वा खनतीति दुक्ख' कुत्सित होकर जो धर्म सुख का उत्खनन करता है, वह दु ख है। 'दुक्ख' शब्द का 'दु' कुत्सित अर्थ मे प्रयुक्त है। अतएव विभावनीकार ने 'दु = कुच्छित हुत्वा खनति कायिकसुख' – ऐसी व्याख्या की है[3]। 'परमत्थदीपनी' मे 'दुक्खयतीति दुक्ख, सम्पयुत्तधम्मे तसमङ्गिपुग्गल वा बाधति हिसतीति अत्थो, दुट्ठु वा खनति कायिकसुख ति दुक्ख' – ऐसी व्याख्या की गई है[4]।

सम्पटिच्छनं – चक्षुर्विज्ञान-आदि पॉच विज्ञानो को पञ्चविज्ञान कहा जाता है। इन पॉच विज्ञानो द्वारा गृहीत आलम्बन का जो सम्यग् ग्रहण करता है, वह 'सम्पटिच्छन' (सम्प्रत्येषण) है, यथा – 'पञ्चविञ्ञाणग्गहित रूपादिआरम्मण सम्पटिच्छति तदाकारप्पवत्तिया ति सम्पटिच्छन[3]'।

सन्तीरणं – सम्पटिच्छन के द्वारा जिस आलम्बन का ग्रहण किया गया है, उस पर मीमासा करना सन्तीरण है, यथा – "सम्मा तीरेति यथासम्पटिच्छित रूपादिआरम्मण वीमसतीति सन्तीरण[3]"। विभावनीकार ने 'सन्तीरण' की व्याख्या मे 'तीरेति' शब्द की व्याख्या 'वीमसति' की है; किन्तु 'पोराणटीका' (सङ्गहटीका) में 'निट्ठापेति' की गई है[5], जिसका अर्थ केवल मीमांसा करना नही, अपितु निर्णय पर पहुँचना है।

इन अहेतुक चित्तो मे कोई मूल सम्प्रयुक्त नही होता। ये कुशल या अकुशल के विपाकस्वरूप चित्तसन्तति मे अपने आप उत्पन्न होनेवाले धर्म है। यथा – प्रतिसन्धि के अनन्तर पञ्चविज्ञान, तदनन्तर सम्पटिच्छन, सन्तीरण-आदि चित्तसन्तति मे विपाक के रूप मे अपने आप उत्पन्न होते है। विपाक होने के कारण इन मे लोभ-आदि हेतुओ का होना आवश्यक नही, अतएव ये अहेतुक कहे जाते है[6]।

---

१ चक्षु-आदि के वचनार्थ, स्वरूप एव उत्पत्ति-आदि के व्याख्यान के लिए द्र० – अभि० स० ३ ३४-३५; ६ ५।

२ "वत्थालम्बसभावान, भूतिकानम्हि घट्टन।
दुब्बल इति चक्खादि, चतुचित्तमुपेक्खक।" – विभा०, पृ० ६५।
विस्तार के लिए द्र० – प० दी०, पृ० ३८।

३. विभा०, पृ० ६४।

४. प० दी०, पृ० ३४।

५. अभि० स० टी० (पोराणटीका), पृ० २८९।

६. विभा०, पृ० ६५।

अकुशलविपाक – अन्योन्यविरुद्ध कुशल एव अकुशल धर्मों के पाक को विपाक कहते है। अथवा[1] परस्पर विशिष्ट कुशल, अकुशल धर्मो के पाक को विपाक कहा जाता है। "पहायक-पहातब्बभावेन विरुद्धान पाका ति विपाका[2]"। अकुशल चित्तो के विपाक को यहाँ अकुशल विपाक कहा गया है।

कर्मज रूप विपाक नही है – कुशल, अकुशल धर्मों के पाक को यदि विपाक कहते ह तो इन धर्मो से उत्पन्न कर्मज रूपो को क्यो विपाक नही कहा जाता ?

उत्तर – अभिधर्म मे प्रयुक्त विपाक शब्द, कारणभूत कुशल-अकुशल धर्मो के समान होनेवाले नामधर्मो, आलम्बन को ग्रहण करनेवाले सालम्बन धर्मो और उसी प्रकार कृष्ण (अकुशल) एव शुक्ल (कुशल) धर्मो के समान होनेवाले नाम-विपाक धर्मों को ही कहनेवाला शब्द है। अतएव कारणकर्मों (कुशल-अकुशल) अर्थात् अरूपी नामधर्मो से असमान होनेवाले कर्मज रूपो को विपाक नही कहा जा सकता, यथा—

"विपाकभावमापन्नान अरूपधम्मानमेत अधिवचन[3]।"

जैसे पृथ्वी मे बोये हुए बीज से उससे असदृश अङ्कुर, शाखा, पत्र-आदि के उत्पन्न होने पर भी उन्हे विपक्व नही कहा जाता और उसके सदृश फल के उत्पन्न होने पर उसे विपक्व कहा जाता है, उसी तरह कारणभूत कुशल, अकुशल कर्मो से असदृश कर्मज रूपो के उत्पन्न होने पर भी उन्हे विपाक नही कहा जाता और उनके सदृश नाम-धर्मो के उनसे उत्पन्न होने पर उन्हे विपाक कहा जाता है[4]। (यहाँ पर बीज, कुशल-अकुशल कर्म है, अङ्कुर, पत्र-आदि कर्मज रूप है तथा फल, चित्त-चैतसिक विपाक है।)

परमत्थदीपनीवाद – परमत्थदीपनीकार का कहना है कि चेतना-समङ्गिता, कम्म-समङ्गिता, उपट्ठान-समङ्गिता एव विपाक-समङ्गिता – इस प्रकार चार समङ्गिताये होती है। (आण-विभङ्ग-अट्ठकथा मे आयूहन-समङ्गिता के साथ पाँच समङ्गिताओ को कहा गया है[5]।) इनमे से कर्म को आरब्ध करते समय चेतना का क्षण-त्रय से सम्पन्न होना 'चेतना-समङ्गिता' है। उस चेतना के उत्पाद-स्थिति-भङ्गात्मक अवस्था-क्रम को पूर्ण करके निरुद्ध हो जाने पर भी अनागत मे विपाक के रूप मे उत्पन्न होने के लिये वह अपने सभी आकारो से परिपूर्ण क्रियाविशेष को चित्त-सन्तति मे निक्षिप्त करके ही निरुद्ध होती है। निरुद्ध चेतना का यह क्रिया-विशेष जब तक फल देने का अवकाश प्राप्त नही करता, तब तक सहस्रो कल्पो तक उस सन्तान मे अनुगत ही होता है। वह एक परमार्थ-धर्म नही कहा जा सकता, अपितु अनुशय-धातु की तरह होता है, सन्तान मे अनुगत यह क्रिया-विशेष ही 'कम्म-समङ्गिता' है। जब वह (क्रिया-विशेष) अपने अनुरूप उपकार को प्राप्त करता है, तब कर्म, कर्म-निमित्त एवं गति-निमित्त मे से किसी एक आलम्बन को प्रतिभासित कराता है। उस प्रतिभासित आलम्बन का

१ "अञ्ञमञ्ञ विसिट्ठान कुसलाकुसलान पाका ति विपाका" – अट्ठ०, पृ० ३६।
२ अट्ठ०, पृ० ३६, विभा०, पृ० ६४।
३ विभा०, पृ० ६४, प० दी०, पृ० ३६।
४ प० दी०, पृ० ३५।
५ विभ० अ०, पृ० ४४२।

अहेतुककुसलविपाकानि

६. उपेक्खासहगतं कुसलविपाकं* चक्खुविञ्ञाणं तथा सोतविञ्ञाणं, घानविञ्ञाणं, जिव्हाविञ्ञाणं, सुखसहगतं कायविञ्ञाणं, उपेक्खासहगतं सम्पटिच्छनचित्तं†, सोमनस्ससहगतं सन्तीरणचित्तं‡, उपेक्खासहगतं सन्तीरणचित्तञ्चेति इमानि अट्ठ पि कुसलविपाकाहेतुकचित्तानि नाम।

उपेक्षा-सहगत कुशल-विपाक चक्षुर्विज्ञान, उसी प्रकार श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान, जिह्वा-विज्ञान, सुख-सहगत काय-विज्ञान, उपेक्षा-सहगत सम्पटिच्छन चित्त, सौमनस्यसहगत सन्तीरणचित्त एवं उपेक्षा-सहगत सन्तीरण-चित्त—इस तरह ये अ ठ अकुशल-विपाक अहेतुकचित्त है।

त्याग न करके यदि च्युति होती है तो उसे फल देने का अवसर प्राप्त होता है। इसे ही 'उपट्ठान-समङ्गिता' कहा गया है। उस अवभासित आलम्बन का त्याग न करके च्युति को प्राप्त पुद्गलो की सन्तान मे वह पूर्वनिक्षिप्त क्रिया-विशेष च्युति के अनन्तर सम्प्रयुक्त धर्मो के साथ परमार्थधर्म-राशि के रूप मे स्पष्टतया उद्भूत होकर एक-भव मे जीवनपर्यन्त विपक्व भाव को प्राप्त होता है। इसे ही 'विपाक-समङ्गिता' कहते है। इन चार समङ्गिताओ मे से प्रथम तीन समङ्गिताओ की अवस्था अपरिपक्वा-वस्था है। अन्तिम विपाक-समङ्गिता की अवस्था परिपक्वावस्था है। भाव यह है कि अपरिपक्व कर्म जब अनुकूल अवसर को प्राप्त करके परिपक्व हो जाते है, तो उन्हे विपाक कहा जाता है।

"परमत्थदीपनीकार का यह उपर्युक्त नय (मत) लोकोत्तर धर्मों मे एव प्रवृत्ति-विपाकमात्र होनेवाले धर्मों मे, उसी प्रकार (कहे अनुसार) नही घट पाता, अत विचारणीय है[1]।"

अहेतुक कुशल-विपाक

६ **सुखसहगतं कायविञ्ञाणं** – 'कायचित्ताबाध खनतीति सुख'[2] काय एव चित्त की बाधा का जो धर्म उत्खनन करता है, वह सुख है। वह सुख भी दो प्रकार का होता है; यथा – कायिक सुख एव चैतसिक सुख। इनमे से यहाँ केवल कायिक सुख का ही ग्रहण किया गया है। कुशल कर्मों के विपाक-स्वरूप जो काय-विज्ञान उत्पन्न होता है, वह सुखसहगत ही होता है।

सन्तीरण – अकुशल-विपाक मे केवल एक ही उपेक्षासहगत सन्तीरण कहा गया है, किन्तु यहाँ दो सन्तीरण कहे गये है, यथा – सौमनस्यसहगत सन्तीरण एव उपेक्षा-सहगत सन्तीरण। इसमे क्या हेतु है?

उत्तर – अकुशल-विपाक मे केवल एक अनिष्ट आलम्बन ही होता है, अतः

---

* स्या० मे नही। † सम्पटिच्छन्न – स्या० (सर्वत्र)।

‡ सन्तीरण – स्या० (सर्वत्र)।

१. ब० भा० टी०। २ विभा०, पृ० ६४, प० दी०, पृ० ३६।

एक उपेक्षा-सहगत सन्तीरण ही कहा गया है। कुशल-विपाक मे आलम्बन दो प्रकार के होते है – इष्ट-आलम्बन एव इष्ट-मध्यस्थालम्बन। इष्ट-मध्यस्थालम्बन वह होता है, है, जो न अति इष्ट होता है न अनिष्ट ही। जब आलम्बन इष्ट होता है तब सौमनस्य-सहगत सन्तीरण तथा जब आलम्बन इष्ट-मध्यस्थ होता है तो उपेक्षासहगत सन्तीरण का उत्पाद होता है[1]।

पुनश्च – जैसे कुशल-विपाक मे दो प्रकार के आलम्बन होते है और उनके कारण दो प्रकार के सन्तीरण उत्पन्न होते है, उसी प्रकार अकुशल-विपाक मे भी अनिष्ट-आलम्बन एव अनिष्ट-मध्यस्थ आलम्बन, इस प्रकार द्विविध आलम्बन क्यो नही होते ? और उनके कारण दौर्मनस्यसहगत सन्तीरण एव उपेक्षासहगत सन्तीरण – इस प्रकार द्विविध सन्तीरण क्यो नही होते ?

समाधान – यह ठीक है कि आलम्बन के अनिष्ट होने पर दौर्मनस्यसहगत सन्तीरण होना चाहिये, किन्तु यह ज्ञातव्य है कि दौमनस्य बिना प्रतिघ के नही होता और प्रतिघ-चित्त के सर्वथा अकुशल-स्वभाव होने से भिन्नजातीय होने के कारण इन अव्याकृत-चित्तो (विपाक चित्त एव क्रियाचित्त) मे उसका होना सर्वथा असम्भव है[2]।

चक्षुर्विज्ञानादि चार विज्ञान—चक्षुर्विज्ञान श्रोत्र-विज्ञान, घ्राण-विज्ञान एव जिह्वा-विज्ञान – ये चारो विज्ञान, चाहे अकुशल-विपाक हो चाहे कुशल-विपाक, सर्वदा उपेक्षा-सहगत ही क्यो होते है ?

उत्तर – चाहे अकुशल-विपाक मे अनिष्ट आलम्बन हो चाहे कुशल-विपाक मे इष्टालम्बन, किन्तु इन दोनो विज्ञानो की उत्पत्ति मे वस्तु (प्रसाद) और आलम्बन का घट्टन (सस्पर्श) इतना दुर्बल होता है कि तज्जन्य विज्ञान उपेक्षा-वेदना-सहगत ही होता है। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण एव जिह्वा – ये चारो वस्तु (प्रसाद) उपादाय-रूप है तथा उनके आलम्बन – रूप, शब्द, गन्ध एव रस भी उपादाय-रूप है। उपादाय-रूपो का उपादाय-रूपो से घट्टन भी अतिदुर्बल ही होता है। जैसे – एक पिचु (रूई)-पिण्ड का दूसरे पिचु-पिण्ड से घट्टन (घर्षण) अतिदुर्बल होता है[3]।

काय-विज्ञान – प्रश्न है कि जब चक्षुर्विज्ञान-आदि चारो विज्ञान उपेक्षासहगत होते है तब काय-विज्ञान दु खसहगत अथवा सुखसहगत क्यो होता है ?

समाधान – काय-विज्ञान, काय-प्रसाद और स्प्रष्टव्य-आलम्बन के घट्टन से उत्पन्न होता है। इनमे कायवस्तु (काय-प्रसाद) उपादाय-रूप है और स्प्रष्टव्य-विषय पृथ्वी-धातु, तेजोधातु एवं वायुधातु है। ये तीनो महाभूत है। पहले कहा जा चुका है कि काय-प्रसाद उपादाय-रूप है और उपादाय-रूप बिना महाभूतो के नही होता। इसका

---

१ अभि० स० ४ · २८ – ३२।

२ विभा०, पृ० ६४; प० दी०, पृ० ३६।

३ प० दी०, पृ० ३८, विभा०, पृ० ६५।

अर्थ यह हुआ कि काय-प्रसाद महाभूतो मे अनुप्रविष्ट होता है। जब काय-प्रसाद मे उसका स्प्रष्टव्य-आलम्बन उपस्थित होता है तब स्प्रष्टव्य रूप नामक महाभूत, काय-प्रसाद (उपादाय-रूप) का अतिक्रमण (भेदन) करके उस काय-प्रसाद के आधारभूत महाभूतो से जाकर टकराते है। महाभूतो का महाभूतो के साथ घट्टन अतिबलवान् होता है। इन द्विविध (आलम्बनगत एव काय-प्रसादगत) महाभूतो के मध्यवर्ती काय-प्रसाद का अतिपीडन होता है; जैसे – निहाई (अधिकरणी) पर पिचु-पिण्ड को रखकर घन (बडे हथौडे) के द्वारा पीटने के समय घन पिचु-पिण्ड का भेदन (अतिक्रमण) करके निहाई से जाकर टकराता है, उसी प्रकार यहाँ पर काय-प्रसाद के आधारभूत महाभूतो को निहाई, स्प्रष्टव्य आलम्बन को घन तथा काय-प्रसाद को पिचु-पिण्ड समझना चाहिये। इस प्रकार वस्तु और आलम्बन के घट्टन के अतिबलवान् होने से अकुशल विपाक मे आलम्बन के अनिष्ट होने के कारण काय-विज्ञान दुःखसहगत तथा कुशल-विपाक मे आलम्बन के इष्ट होने से काय-विज्ञान सुखसहगत होता है[1]।

सम्पटिच्छनद्वय – अकुशल-विपाक एव कुशल-विपाक मे होनेवाले दोनो सम्पटिच्छन चित्त उपेक्षासहगत इसलिये होते है, क्योकि ये अपने से असमान निश्रय (आधार) वाले चक्षुर्विज्ञान-आदि के अनन्तर उत्पन्न होते है। समान निश्रय (आश्रय) वाले धर्मो से अनन्तर-प्रत्यय-शक्ति के द्वारा उपकार न मिलने के कारण ये विषय के रस का सर्वथा अनुभव नही कर सकते, अतः उपेक्षा-सहगत ही होते है[2]। (चक्षु-विज्ञान-आदि पाँचो विज्ञान चक्षुर्वस्तु-आदि को निश्रय करते है और सम्पटिछन हृदय-वस्तु को निश्रय करते है, अतः इनके निश्रय परस्पर असमान होते है।)

कुशल-विपाक – कुशल-विपाक अहेतुकचित्तो मे 'उपेक्खासहगत कुसलविपाक' इस स्थल पर जो 'कुसल-विपाक' शब्द प्रयुक्त हुआ है वह 'चक्खु-विञ्ञाण' का गुण-वाची विशेषण है तथा अन्त मे 'कुसल-विपाकाहेतुकचित्तानि नाम इस स्थल पर 'अकुसल-विपाक' शब्द प्रयुक्त हुआ है वह सज्ञावाची है।

कुशल-विपाक एव क्रिया-चित्तो को उपनिबद्ध करके ग्रन्थकार ने अन्त मे उन्हे 'अहेतुक' शब्द के द्वारा विशेषित किया है, किन्तु अकुशल-विपाक चित्तो को उपनिबद्ध कर उन्हे अन्त मे 'अहेतुक' शब्द के द्वारा विशेषित नही किया, ऐसा क्यो ? इसलिये कि अकुशल-चित्तो का विपाक केवल एक अहेतुक ही होता है, अन्य नही; कुशल-विपाक एव क्रियाचित्त केवल अहेतुक ही नही, अपितु सहेतुक भी होते है। अतएव यहाँ उन सहेतुक

---

१ अट्ठ०, पृ० २१३; विभा०, पृ० ६५, प० दी०, पृ० ३८।

२. "सम्पटिच्छनयुगळ पन अत्तना असमाननिस्सयान चक्खुविञ्ञाणादीनमनन्तर उप्पज्जतीति समाननिस्सयतो अलद्धानन्तरपच्चयताय सभागूपत्थम्भरहितो विय पुरिसो नातिबलव सब्बथापि विसयरसमनुभवितु न सक्कोतीति सब्बत्थापि उपेक्खासहगतमेव।" – विभा०, पृ० ६५, "सम्पटिच्छनचित्त पन सब्बदुब्बलान पञ्चविञ्ञाणान अनन्तर उपज्जतीति निच्च दुब्बल हुत्वा सब्बत्थ उपेक्खा-सहगतमेवा ति।" – प० दी०, पृ० ३८।

अहेतुकक्रियाचित्तानि

१०. उपेक्खासहगतं पञ्चद्वारावज्जनचित्तं*, तथा मनोद्वारावज्जनचित्तं†, सोमनस्ससहगतं हसितुप्पादचित्तञ्चेति इमानि तीणि पि अहेतुकक्रियाचित्तानि‡ नाम।

उपेक्षासहगत पञ्चद्वारावर्जनचित्त, उसी प्रकार मनोद्वारावर्जनचित्त एवं सौमनस्यसहगत हसितोत्पादचित्त—इस प्रकार ये तीनो अहेतुक क्रिया-चित्त है।

विपाक एव क्रियाचित्तो को पृथक् करने के लिये इनमे 'अहेतुक'—यह विशेषण दिया गया है।

अहेतुकक्रियाचित्त

१० पञ्चद्वारावज्जन – चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा एव काय – ये पञ्चद्वार कहलाते है। इनमे घट्टित आलम्बन का जो आवर्जन करता है, अथवा उस आलम्बन मे जो आभोग करता है वह 'पञ्चद्वारावर्जनचित्त' है[1]।

अथवा – जो, चित्त-सन्तति को भवङ्ग के रूप मे प्रवर्तित होने का अवकाश न देकर उसे वीथि-चित्त होने के लिये परिणमित करता है, वह 'पञ्चद्वारावर्जनचित्त' है[2]।

उपेक्खासहगत – पञ्चद्वारावर्जनचित्त किसी अन्य चित्त के द्वारा अगृहीत आलम्बन का पहले-पहल और केवल एक बार ग्रहण करता है, अत दुर्बल होने के कारण उपेक्षासहगत ही होता है[3]।

मनोद्वारावज्जन – मनोद्वारावर्जनचित्त का अनन्तरप्रत्ययभूत भवङ्गचित्त (भवङ्गोपच्छेद-चित्त) वीथि-चित्तो की प्रवृत्ति का द्वारभूत होने से 'मनोद्वार' कहलाता है। इस (मनोद्वार) मे दृष्ट, श्रुत, आबद्ध-आदि के वश से अभिनिपतित आलम्बन का जो आवर्जन करता है, उसे 'मनोद्वारावर्जनचित्त' कहते है।

अथवा – उपर्युक्त नय के अनसार जो, चित्त-सन्तति को भवङ्ग के रूप मे प्रवर्तित होने का अवकाश न देकर उसे वीथि-चित्त होने के लिये परिणमित करता है, वह मनोद्वारावर्जनचित्त है। यह मनोद्वारावर्जनचित्त ही पञ्चद्वार मे सन्तीरण के द्वारा मीमासित आलम्बन का व्यवस्थापन (वोट्ठपन)-कृत्य करता है, अत इसे 'वोट्ठपन' भी कहते है[4]।

---

* पञ्चद्वारावज्जन – स्या०।

† मनोद्वारावज्जन – स्या०।

‡ ० क्रियचित्तानि – म० (क०, ख०) ('क्रिय' सर्वत्र)।

१. विभा०, पृ० ६६, प० दी०, पृ० ३७।

२ विभा०, पृ० ६६।

३. विभा०, पृ० ६५, प० दी०, पृ० ३९।

४ इस सम्बन्ध मे प० दी० के विशिष्ट मत के लिये द्र० – प० दी०, पृ० ३७।

यह चित्त भी किसी अन्य चित्त के द्वारा अगृहीत (नवीन) आलम्बन का पहले-पहल ग्रहण करता है, तथा अपने से असदृश जवन-सन्तति की प्रवृत्ति के लिये उपकार करता है। अपिच, परित्तालम्बन-वीथि मे यह चित्त पञ्चद्वार मे वोट्ठपन (व्यवस्थापन)-कृत्य करता है और उस समय अपने से असदृश भवङ्ग-सन्तति का प्रवर्तन करता है। इस तरह अत्यधिक व्यापारबहुल होने के कारण इसे आलम्बन के अनुभव का भली-भाँति अवकाश नही मिलता। इसलिये यह उपेक्षासहगत होता है[1]।

हसितुप्पादचित्त – 'हसितमेव उप्पादेतीति हसितुप्पाद[2]' अर्थात् ईषद् हास्य को ही जो उत्पन्न करता है, वह हसितोत्पादचित्त है। ईषद् हास्य के अतिरिक्त यह चित्त और कोई कृत्य नही करता। यद्यपि लोभमूल एव कामावचर शोभनचित्त भी जो सौमनस्य-सहगत होते है, हास्य का उत्पाद करते है, तथापि वे हसितोत्पादचित्त नही कहलाते, क्योकि वे हास्य के अतिरिक्त अन्य कायकर्म, वाक्कर्म एव मनकर्मो का भी उत्पाद करते है।

अलङ्कारशास्त्र के अनुसार हास्य छ प्रकार का होता है। यथा—

"सितमिह विकासिनयन किञ्चालक्खियदिज तु त हसित।
मधुरस्सर　विहसित　असंसिरोकम्पमुपहसित॥
अपहसित सजलक्खि विक्खित्ताङ्ग भवत्यतिहसित।
द्वे द्वे कथिता चेस जेट्ठे मज्झेधमे कमसो[3]"॥

१ स्मित – केवल नयनमात्र विकसित होते है।
२ हसित – इसमे कुछ कुछ दाँत भी दिखाई पडते है।
३ विहसित – इसमे हँसी के साथ मधुर स्वर भी होता है।
४ उपहसित – इसमे स्कन्ध (कन्धे) और सिर का कम्प भी होता है।
५ अपहसित – इसमे आँखो मे पानी आ जाता है।
६ अतिहसित – इसमे सम्पूर्ण अङ्गो का विक्षेप होता है।

इनमे दो दो हास्य क्रमश ज्येष्ठ, मध्यम एव अधम होते है।

उपर्युक्त हसितोत्पादचित्त केवल भगवान् बुद्ध एव अर्हत् जनो की चित्त-सन्तान मे ही उत्पन्न होता है, अत यहाँ पर 'हसित' शब्द के द्वारा शिष्टजनोचित केवल ज्येष्ठ हास्य अर्थात् स्मित एव हसित का ही ग्रहण किया जाता है।

कुछ लोग "सित पात्वाकासि[4]" इस पालि के आधार पर 'हसित' शब्द के द्वारा केवल स्मित हास्य का ही ग्रहण करते है। किन्तु यह पक्ष समुचित नही है; क्योकि उक्त वचन की अट्ठकथा मे "'सित पात्वाकासी' ति अग्गदन्ते दस्सेन्तो सित पातु अकासि,"

---

१. तु० – विभा०, पृ० ६५, प० दी०, पृ० ३६।
२. विभा०, पृ० ६७, प० दी०, पृ० ३७।
३. तु० – साहि० ३.२१७ – २१६, पृ० ११५, म० ना० ६.५२ – ५६।
४. म० नि० (म० प०), पृ० ३००।

(अर्थात् दन्ताग्र को दिखाते हुए स्मित किया) यह व्याख्या की गई है[1]। इसमे दन्ताग्र का दिखलाई पडना 'हसित' का लक्षण है। ऐसी स्थिति मे 'हसित' के द्वारा स्मित एव हसित दोनो का ग्रहण करना युक्तियुक्त है।

सम्प्रयुक्त एव विप्रयुक्त – सम्प्रयुक्तता को उपलक्षित करनेवाले दृष्टि, प्रतिघ, विचिकित्सा, औद्धत्य एव ज्ञान नामक चैतसिको से सम्प्रयुक्त न होने के कारण इन अठारह अहेतुक चित्तो को कुछ विद्वान् 'विप्रयुक्त' ही कहते है; परन्तु दो मोहमूल चित्तो को छोडकर (क्योकि ये सर्वदा सम्प्रयुक्त ही होते है) अन्य चित्तो मे व्यवहृत होनेवाला 'सम्प्रयुक्त' एव 'विप्रयुक्त' यह नाम परस्पर की सापेक्षता से उपलब्ध नाम ही है। अर्थात् जब कुछ चित्त 'सम्प्रयुक्त' होते है तो उनकी अपेक्षा से अन्य चित्तो को 'विप्रयुक्त' कहा जाता है। सम्प्रयुक्त या विप्रयुक्त होना, यह चित्तगत धर्म नही है। जैसे – 'ृष्टि' चैतसिक कुछ (चार) लोभमूल चित्तो मे सम्प्रयुक्त होता है, तथा कुछ (चार) लोभमूल चित्तो मे सम्प्रयुक्त नही होता। दृष्टि के इस सम्प्रयोग को लक्ष्य करके दृष्टिसम्प्रयुक्त चित्तो को 'सम्प्रयुक्त' तथा इन 'सम्प्रयुक्त' चित्तो की अपेक्षा से सम्प्रयुक्त न होनेवाले चित्तो को 'विप्रयुक्त' कहा जाता है। इन लोभमूल चित्तो की तरह अहेतुक चित्तो मे अन्योन्यसापेक्षता नही है, अत उन्हे 'सम्प्रयुक्त' या 'विप्रयुक्त' नही कहा जा सकता। अपिच – किसी धर्म का कोई नामकरण कुछ स्थलो पर व्यवहार के लिये होता है। इन अहेतुक चित्तो का 'विप्रयुक्त' – इस नाम से व्यवहार कही पर भी उपलब्ध नही होता, ऐसी स्थिति मे इन्हे 'सम्प्रयुक्त' कहना अथवा 'विप्रयुक्त' कहना अनावश्यक है।

असंस्कारिक एव ससस्कारिक – ये चक्षुर्विज्ञान-आदि अठारह अहेतुकचित्त कारण-सम्पत्ति के समुपस्थित होने पर स्वत (अपने आप) उत्पन्न हो जाते है। इनके उत्पाद के लिये किसी अन्य की प्रेरणा अपेक्षित नही है। अत प्राचीन विद्वान् इन्हें असस्कारिक कहते है, किन्तु परवर्ती विद्वान् इन्हे असस्कारिक तथा ससस्कारिक दोनो मानते है[2], क्योकि – मान लीजिये रूप, रस, गन्ध-आदि आलम्बनो मे से कोई आलम्बन सम्मुख उपस्थित है हम उन्हे ग्रहण करना नही चाहते, किन्तु किसी अन्य पुरुष के द्वारा प्रेरित किये जाने पर ग्रहण कर लेते है तो ऐसी स्थिति मे ये चित्त ससस्कारिक हो जाते है। यदि हम किसी अन्य के द्वारा प्रेरित न होकर अपने आप ग्रहण करते है तो इस अवस्था मे ये चित्त असस्कारिक होते है। इसीलिये परवर्ती आचार्य इन्हें असस्कारिक एव ससस्कारिक दोनो मानते है।

उपर्युक्त दोनो वाद समीक्षा करने से समुचित प्रतीत नही होते, क्योंकि – (क) चाहे हम किसी अन्य के द्वारा प्रेरित होकर आलम्बन का ग्रहण करे अथवा अपने आप ग्रहण करे, हमारे प्रेरित होने या न होने से जो चक्षुर्विज्ञान-आदि उत्पन्न होते है उनकी शक्ति मे किसी प्रकार का वैशिष्ट्य (अन्तर) नही आता। (ख) असस्कारिक अथवा ससस्कारिक होना, चित्त के स्वभाव की तीक्ष्णता एव मन्दता पर

---

१. म० नि० अ०, पृ० २१३। २. प० दी०, पृ० ३६।

इच्चेवं सब्बथा पि अट्ठारसाहेतुकचित्तानि समत्तानि ।

११ सत्ताकुसलपाकानि पुञ्ञापाकानि अट्ठधा ।
क्रियाचित्तानि तीणीति* अट्ठारस अहेतुका ॥

इस तरह सर्वथा अठारह अहेतुकचित्त समाप्त ।

अकुशलविपाक सात, कुशलविपाक आठ, क्रियाचित्त तीन—इस प्रकार अहेतुकचित्त कुल अठारह हैं ।

निर्भर करता है । इन अहेतुक चित्तो का स्वभाव न तीक्ष्ण होता है और न मन्द ही । (ग) भगवान् बुद्ध अथवा अट्ठकथाचार्यो ने इन अहेतुक चित्तो का असस्कारिक एव ससंस्कारिक भेद से कही पर भी विभाग नही किया है । प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता अनुरुद्धाचार्य ने भी स्वय 'वीथिमुत्तपरिच्छेद' (पञ्चम) मे 'असङ्खार ससङ्खार विपाकानि न पच्चति'-के द्वारा अहेतुक-विपाक-चित्तो मे असस्कारिक एव ससस्कारिक भेद के अभाव को प्रदर्शित किया है, अत पर्यालोचन से इस निश्चय पर पहुँचना सम्यक् प्रतीत होता है कि ये अहेतुकचित्त असस्कारिक अथवा ससस्कारिक नही होते[1] ।

११ **विशेष**—अकुशल चित्त बारह, अहेतुक चित्त अठारह—इस प्रकार इन तीस चित्तो को 'अशोभन' भी कहा जाता है ।

[इनका 'अशोभन' यह नाम आगे शोभनचित्तो की व्याख्या के प्रसङ्ग मे स्पष्ट किया जायेगा ।]

विशेष—इन अठारह अहेतुक चित्तो मे दो सौमनस्य, एक दु ख तथा चौदह उपेक्षावेदना होती है । इनमे सम्प्रयुक्त-विप्रयुक्त एव असस्कारिक-ससस्कारिक भेद नही है ।

अहेतुकचित्त

अकुशल विपाक	कुशल विपाक	क्रिया
१. उपेक्षासहगत चक्षुर्विज्ञान	१ उपेक्षासहगत चक्षुर्विज्ञान	१ उपेक्षासहगत—पञ्चद्वारावर्जन
२. उपेक्षासहगत श्रोत्रविज्ञान	२ उपेक्षासहगत श्रोत्रविज्ञान	
३. उपेक्षासहगत घ्राणविज्ञान	३ उपेक्षासहगत घ्राणविज्ञान	२ उपेक्षासहगत—मनोद्वारावर्जन
४. उपेक्षासहगत जिह्वाविज्ञान	४ उपेक्षासहगत जिह्वाविज्ञान	
५ दु खसहगत कायविज्ञान	५ सुखसहगत कायविज्ञान	३ सौमनस्यसहगत—हसितोत्पाद
६ उपेक्षासहगत सम्पटिच्छन	६ उपेक्षासहगत सम्पटिच्छन	
७ उपेक्षासहगत सन्तीरण	७ सौमनस्यसहगत सन्तीरण	
	८ उपेक्षासहगत सन्तीरण	

अहेतुक चित्त समाप्त ।

---

* तीनीति—रो० ।

१. "मूलटीकाय पन विपाकुद्धारे अहेतुकविपाकान अपरिब्यत्तिकिच्चत्ता ससङ्खारिककम्मविरुद्धो असङ्खारिकभावो पि नत्थि, असङ्खारिककम्मविरुद्धो ससङ्खारिकभावो पि नत्थि ।"—प० दी०, पृ० ३९ । तु०—ध० स० मू० टी०, पृ० १३४ ।

सोभनचित्तानि (५९)

१२. पापाहेतुकमुत्तानि सोभनानीति* वुच्चरे।
एकूनसट्ठि चित्तानि अथेकनवुती पि वा॥

अकुशल चित्तों (१२) तथा अहेतुक चित्तो (१८) को वर्जित कर अवशिष्ट ५९ चित्त 'शोभनचित्त' कहलाते है। ये ९१ भी होते हैं।

शोभनचित्त

१२. **शोभनचित्त** – 'सोभन्तीति सोभनानि' क्लेशादि धर्मो से विशुद्ध होने के कारण जो शोभित होते है वे चित्त 'शोभन' कहलाते है[1]। 'शोभन' यह नाम चित्त का नही, अपितु चैतसिक का है, क्योकि चित्त का लक्षण तो केवल 'आलम्बन को जानना'-मात्र है। अत उसे 'शोभन' अथवा 'अशोभन' नही कहा जा सकता। यदि वह श्रद्धा-आदि चैतसिको से सम्प्रयुक्त होता है तो 'शोभन' और यदि क्लेश (लोभ)-आदि चैतसिक धर्मो से सम्प्रयुक्त होता है तो 'अशोभन' (अकुशल) होता है। इस प्रकार चित्त का 'शोभन होना' अथवा 'अशोभन होना' सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिक धर्मो पर निर्भर है। अतएव 'शोभन' यह नाम चैतसिक का है, चित्त का नही – ऐसा कहा गया है[2]।

'मनोपुब्बङ्गमा धम्मा' आदि वचनो के अनुसार सभी धर्मों मे चित्त की प्रधानता को देखकर कुछ आचार्य 'शोभन' यह नाम चित्त का ही है – ऐसा प्रतिपादित करते है, किन्तु चित्त की प्रधानता उसके 'शोभन' नाम होने मे नही है। जिसका स्व (अपना) भाव (लक्षण) शोभन होता है वही शोभन होता है। चित्त का स्वभाव (स्वलक्षण) शोभन नही है। अत. आचार्यों का यह मत विचारणीय है।

शोभनचित्तो से भिन्न चित्तो को 'अशोभन' कहते है। बारह अकुशल एव अठारह अहेतुक, इस प्रकार तीस चित्त 'अशोभन' कहे जाते है[3]। इनमे से बारह अकुशल-

---

*सोभणानीति – स्या०, रो०, म० (ख), (सर्वत्र)।

१ "सोभणेहि सद्धादिगुणधम्मेहि युत्तिया ततो येव च सयम्पि सोभग्गप्पत्तिया सोभणानी ति।" – प० दी०, पृ० ४१।

२ तु० – "पृथिव्यादि यथा द्रव्य, नीलादिगुणयोगत।
तैस्तैर्विशेष्यते शब्दैश्चैत्तयोगान्मनस्तथा॥
यथा सम्बन्धिसम्बन्धाद्, विकारोऽम्भसि लक्ष्यते।
तथा ससर्गिससर्गाच्चेतोविकृतिरीक्ष्यताम्॥"
– अभि० दी० ११६, ११८ का०, पृ० ७७।

३. प० दी०, पृ० ४०, "द्वादसहि पापचित्तेहि अट्ठारसहि अहेतुकेहि चा ति समतिसचित्तेहि विमुत्तानि चतुवीसति कामावचरानि पञ्चतिस महग्गत-लोकुत्तरचित्तानि चा ति एकूनसट्ठि चित्तानि अनवज्जत्ता सहेतुकत्ता च सोभणानीति वुच्चन्ति।" – अभि० स० टी०, पृ० २९०।

कामावचरसोभनचित्तानि (२४)

कामावचरकुसलचित्तानि

१३. सोमनस्ससहगतं ञाणसम्पयुत्तं असङ्खारिकमेकं, ससङ्खारिकमेकं; सोमनस्ससहगतं ञाणविप्पयुत्तं असङ्खारिकमेकं, ससङ्खारिकमेकं; उपेक्खासहगतं ञाणसम्पयुत्तं असङ्खारिकमेकं, ससङ्खारिकमेकं; उपेक्खासहगतं ञाणविप्पयुत्तं असङ्खारिकमेकं, ससङ्खारिकमेकं ति इमानि अट्ठ पि कामावचरकुसलचित्तानि* नाम।

सौमनस्यवेदना से सहगत एवं ज्ञान से सम्प्रयुक्त असस्कारिक एक तथा ससंस्कारिक एक,

सौमनस्यवेदना से सहगत एव ज्ञान से विप्रयुक्त असस्कारिक एक तथा ससस्कारिक एक,

उपेक्षावेदना से सहगत एव ज्ञान से सम्प्रयुक्त असस्कारिक एक तथा ससस्कारिक एक

तथा उपेक्षावेदना से सहगत एव ज्ञान से विप्रयुक्त असस्कारिक एक तथा ससंस्कारिक एक–

इस प्रकार ये आठो कामावचर कुशलचित्त है।

चित्तो को अशोभन कहना तो समझ मे आता है, इनके 'अशोभन' होने के सम्बन्ध मे कोई विवाद नही हो सकता। इसी तरह अहेतुकचित्तो मे परिगणित सात अकुशलविपाक भी 'अशोभन' ही है। तथा आठ कुशलविपाक भी अनिष्ट आलम्बन होने पर 'अशोभन' कहे जा सकते है, किन्तु आठ कुशलविपाक इष्टालम्बन होने पर कैसे 'अशोभन' है ? यह समझ मे नही आता। अपिच – इन्ही अठारह अहेतुकचित्तो में एक हसितोत्पादचित्त भी है, जो केवल भगवान् बुद्ध एव अर्हतो मे ही होता है, वह भी कैसे 'अशोभन' हो सकता है ? इस तरह इष्टालम्बन होने पर आठ कुशलविपाको को तथा हसितोत्पादचित्त को 'अशोभन' कहना, विद्वानो के द्वारा एक विचारणीय प्रश्न है।

कामावचरकुशल-चित्त

१३. **ञाणसम्पयुत्त** – 'जानाति यथासभाव पटिविज्झतीति ञाण, ञाणेन सम्पयुत्त ञाणसम्पयुत्त'[1] जो जानता है, अर्थात् जो वस्तु का यथास्वभाव प्रतिवेध करता है, वह ज्ञान है। ज्ञान से सम्प्रयुक्त को ज्ञानसम्प्रयुक्त कहते है। यहाँ ज्ञान से, चैतसिको मे होनेवाले प्रज्ञा-चैतसिक से तात्पर्य है।

---

* सहेतुककामा० – स्या०।

१. विभा०, पृ० ६७; तु० – प० दी०, पृ० ४१।

ज्ञानसम्प्रयुक्त की उत्पत्ति के कारण –

१ पूर्वजन्म मे किसी कुशल कर्म को करते समय 'इस कुशल कर्म से अनागत भव मे प्रज्ञा की तीक्ष्णता हो' – ऐसी प्रार्थना करके यदि कुशल कर्म किया जाता है तो वह कर्म जिस भव मे फल देता है, उस भव में पुद्गल तीक्ष्णज्ञानसम्पन्न होता है और उसमे प्राय ज्ञानसम्प्रयुक्त चित्त ही उत्पन्न होते हैं। (पूर्वोक्त प्रकार से किये गये कुशल कर्मो को 'पञ्ञासवत्तनिक' कर्म कहते हैं, इसी तरह किसी विद्यास्थान के लिये दान देना, नि शुल्क अध्यापन करना आदि 'पञ्ञासवत्तनिक' कर्म हैं।)

२ अब्यापज्जलोकुपपत्ति – द्वेष एव व्यापाद से रहित लोक (ब्रह्मलोक) मे उत्पन्न होना। रूपभूमि मे ऋतु की अनुकूलता, लौकिक-आलम्बन कामभूमि से विरह एव द्वेष, व्यापाद-आदि से विसयोग-आदि होते है, अत इन ज्ञान-प्रतिबन्धक कारणो के न होने से रूपभूमि में चित्त प्राय ज्ञानसम्प्रयुक्त ही होते है। (द्वेष एव व्यापाद से रहित रूपभूमि की प्राप्ति को ही 'अब्यापज्जलोकुपपत्ति' कहते है।)

३ इन्द्रिय-परिपाक – इन्द्रिय-परिपाक से तात्पर्य प्रज्ञेन्द्रिय के परिपाक से है। अल्पवयस्कता की अवस्था मे चित्त के चञ्चल (अस्थिर) होने तथा काम-विषयो की ओर अत्यधिक प्रवण होने के कारण उक्त अवस्था मे समाधि (एकाग्रता) की दुर्बलता होती है। वयस् (उम्र) की अधिकता होने पर चञ्चलता के कम हो जाने एव ज्ञान के पुष्ट हो जाने से उक्त अवस्था में मानसिक स्थिति समाधि के ज्यादा अनुकूल होती है, अत इस अवस्था मे चित्त प्राय ज्ञानसम्प्रयुक्त ही होते है।

४ क्लेश-धर्मो से दूरीभाव – अल्पवयस्कता के होने पर भी यदि पुद्गल 'कम्मट्ठान' (कर्मस्थान) की भावना करते है, अथवा उनका विद्या के प्रति अनुराग होता है तो ऐसे पुद्गलो में ज्ञान की तीक्ष्णता होने से उनके चित्त प्राय ज्ञानसम्प्रयुक्त ही होते है।

५ तिहेतुकपटिसन्धिकता – अर्थात् तीन उक्कट्ठ (उत्कृष्ट) हेतुओ (अलोभ, अद्वेष एव अमोह) से प्रतिसन्धि लेना। इन उत्कृष्ट हेतुओ से प्रतिसन्धि लेनेवाले पुद्गलो का चित्त प्राय ज्ञानसम्प्रयुक्त ही होता है, क्योकि उनके प्रतिसन्धि-बीज मे ज्ञानधातु का सम्प्रयोग होता है।

ये पाँच कारण ज्ञानसम्प्रयुक्त चित्तो की उत्पत्ति के कारण कहे जाते है[1]।

आठ कामावचर महाकुशलचित्तो का उत्पत्ति-क्रम –

१ जब कोई पुद्गल देय वस्तु को ग्रहण करनेवाले योग्य पात्र को अथवा किसी अन्य सौमनस्य के हेतु को प्राप्त करके 'मैने दान किया' – इस प्रकार सम्यग्दृष्टि को आगे करके कष्ट का अनुभव न करते हुए तथा इस दान-कर्म के लिये किसी अन्य के द्वारा प्रेरणा (प्रोत्साहन) न प्राप्त कर अपने आप दान-आदि पुण्य-कर्मो को करता

---

१ पञ्ञासवत्तनिककम्मुपनिस्सयता, अब्यापज्जलोकुपपत्तिता, इन्द्रियपरिपाकता, किलेसदूरता च ञाणुप्पत्तिया कारण।" – प० दी०, पृ० ४१।

है, तो उस प्रकार के मनुष्य का वैसा चित्त प्रथम कामावचरकुशल-चित्त (सौमनस्य-सहगत ज्ञान-सम्प्रयुक्त असस्कारिकचित्त) कहलाता है ।

२. जब कोई पुद्गल उपर्युक्त प्रकार से प्रसन्न होता होता हुआ सम्यग्दृष्टि को आगे करके भी दान की गई वस्तु के प्रति आसक्ति रखते हुए दुःखी होता है, अथवा किसी अन्य के द्वारा प्रेरणा पाकर दान करता है, तो उस प्रकार के मनुष्य का वैसा चित्त द्वितीय कामावचरकुशल-चित्त (सौमनस्यसहगत ज्ञानसम्प्रयुक्त ससस्कारिकचित्त) कहलाता है ।

३ जब जाति-बन्धु अथवा अपने पूर्व-पुरुषो की परम्परा से परिचित बालक भिक्षुओ को देखकर सौमनस्य से युक्त होता हुआ सहसा हस्तगत वस्तु का दान कर देता है, अथवा प्रणाम, वन्दना-आदि के द्वारा सत्कार करता है तो इस प्रकार के पुद्गल का वैसा चित्त तृतीय कामावचरकुशल-चित्त (सौमनस्यसहगत ज्ञानविप्रयुक्त असस्कारिकचित्त) कहलाता है ।

४ किन्तु जब कोई बालक 'दान दो', 'वन्दना करो' -- आदि प्रकार से जाति-बन्धु अथवा वृद्ध-पुरुषो से प्रेरणा पाकर दान, प्रणाम - आदि कृत्यो मे प्रतिपन्न होता है, तो इस प्रकार के पुद्गल का वैसा चित्त चतुर्थ कामावचरकुशल-चित्त (सौमनस्य-सहगत ज्ञानविप्रयुक्त ससस्कारिकचित्त) कहलाता है ।

५ ६ ७ ८ जब कोई पुद्गल देय वस्तु का दान करने के लिये किसी योग्य पात्र को अथवा सौमनस्य के किसी हेतु को प्राप्त करके कर्म के उपर्युक्त चार प्रकारो मे सौमनस्य से रहित होकर दान-आदि कुशल-कर्मो का सम्पादन करते है, तो उक्त प्रकार के पुद्गलो मे वैसे चित्त क्रमश पञ्चम कामावचरकुशल-चित्त (उपेक्षासहगत ज्ञानसम्प्रयुक्त असस्कारिकचित्त), षष्ठ कामावचरकुशल-चित्त (उपेक्षासहगत ज्ञान-सम्प्रयुक्त ससस्कारिकचित्त), सप्तम कामावचरकुशल-चित्त (उपेक्षासहगत ज्ञान-विप्रयुक्त असस्कारिकचित्त) एव अष्टम कामावचरकुशल-चित्त (उपेक्षासहगत ज्ञान-विप्रयुक्तस सस्कारिकचित्त) कहलाते है[1] ।

इमानि अट्ठ पि – इसमे 'अपि' शब्द अवयव-समुच्चय-बोधक है, किन्तु विभावनी-कार इसका 'सम्पिण्डन' अर्थ करके कुशलचित्तो का विस्तार दिखलाते है, यथा – आठ कुशलचित्तो मे प्रत्येक के साथ दस पुण्य-वस्तु[2] है, अत इनकी सङ्ख्या ८×१०=८० हुई । इनमे भी प्रत्येक के साथ छ गोचर-वस्तु[3] है, अत. ८०×६=४८० सङ्ख्या हुई । इन ४८० मे २४० सम्प्रयुक्त तथा २४० विप्रयुक्त है । २४० विप्रयुक्त मे

---

१. तु० – विभा०, पृ० ६७, विसु०, पृ० ३१६ ।

२ "दान-सील-भावना-अपचायन-वेय्यावच्च-पत्तिदान-पत्तानुमोदन-धम्मसवन-धम्मदेसना-दिट्ठिज्जुकम्मवसेन दसविध होति ।" – अभि० स० ५ ५६ ।

३. रूपालम्बन, शब्दालम्बन, गन्धालम्बन, रसालम्बन, स्प्रष्टव्यालम्बन एव धर्मालम्बन ।

सहेतुककामावचरविपाकचित्तानि

१४. सोमनस्ससहगतं ञाणसम्पयुत्तमसङ्खारिकमेकं, ससङ्खारिकमेकं; सोमनस्ससहगतं ञाणविप्पयुत्तं असङ्खारिकमेकं, ससङ्खारिकमेकं; उपेक्खासहगतं ञाणसम्पयुत्तं असङ्खारिकमेकं, ससङ्खारिकमेकं; उपेक्खासहगतं ञाणविप्पयुत्तं असङ्खारिकमेकं, ससङ्खारिकमेकं ति इमानि अट्ठ पि सहेतुककामावचरविपाकचित्तानि नाम।

सौमनस्यवेदना से सहगत एव ज्ञान से सम्प्रयुक्त असंस्कारिक एक तथा ससस्कारिक एक,

सौमनस्यवेदना से सहगत एव ज्ञान से विप्रयुक्त असंस्कारिक एक तथा ससस्कारिक एक,

उपेक्षावेदना से सहगत एवं ज्ञान से सम्प्रयुक्त असंस्कारिक एक तथा ससस्कारिक एक

तथा उपेक्षावेदना से सहगत एवं ज्ञान से विप्रयुक्त असस्कारिक एक तथा ससंस्कारिक एक—

इस प्रकार ये आठो सहेतुक कामावचर विपाकचित्त है।

प्रत्येक के साथ 'मीमासा'-अधिपति को छोड़कर 'छन्द'-अधिपति, 'वीर्य'-अधिपति तथा 'चित्त'-अधिपति – इस तरह तीन अधिपति होते है। अत विप्रयुक्तो की सङ्ख्या २४०×३=७२० हुई। २४० सम्प्रयुक्तचित्तो मे प्रत्येक चित्त के साथ चारो अधिपति होते है, अत इनकी सङ्ख्या २४०×४=९६० है। अब विप्रयुक्त एवं सम्प्रयुक्त – दोनो की सम्मिलित सङ्ख्या १६८० हुई। इनमे प्रत्येक के साथ तीन कर्म[1] होते है, अत ये १६८०×३=५०४० हुए। इनमे भी प्रत्येक के हीन, मध्यम एव प्रणीत भेद करने पर ये ५०४०×३=१५१२० होते है। इन्हे भी यदि अतीत-आदि भेद से भिन्न करके देखा जाय तो ये असङ्ख्य धर्म हो जाते है। इसलिये विभावनीकार कहते है कि 'अपि' शब्द 'सम्पिण्डन' अर्थ का द्योतक है।

"कम्मेन पुञ्ञवत्थूहि गोचराधिपतीहि च।
कम्महीनादितो चेव गणेय्य नयकोविदो[2]॥"

कुसलचित्तानि – 'कुच्छिते पापके धम्मे सलयन्ति, चलयन्ति, कम्पेन्ति, विद्धसेन्तीति कुसला[3]' कुत्सित पापधर्मो का जो नाश (ध्वस) करते है, वे चित्त 'कुशलचित्त' कहलाते है[4]।

सहेतुक कामावचर विपाकचित्त

१४. विपाक – 'विपाक' शब्द की व्याख्या अहेतुकचित्तो के वर्णन के प्रसङ्ग मे की

---

१ कायकर्म, वाक्कर्म, मन कर्म। २ विभा०, पृ० ६८।

३ अट्ठ०, पृ० ३३-३४, विभा०, पृ० ६८; प० दी०, पृ० ४३।

४. विस्तार के लिये द्र० – विसु० महा०, खन्धनिद्देस।

सहेतुककामावचरक्रियाचित्तानि

१५. सोमनस्ससहगतं ञाणसम्पयुत्तं असङ्खारिकमेकं, ससङ्खारिकमेकं; सोमनस्ससहगतं ञाणविप्पयुत्तं असङ्खारिकमेकं, ससङ्खारिकमेकं; उपेक्खासहगतं ञाणसम्पयुत्तं असङ्खारिकमेकं, ससङ्खारिकमेकं; उपेक्खासहगतं ञाणविप्पयुत्तं असङ्खारिकमेकं, ससङ्खारिकमेकं ति इमानि अट्ठ पि सहेतुककामावचरक्रियाचित्तानि नाम।

सौमनस्यवेदना से सहगत एव ज्ञान से सम्प्रयुक्त असस्कारिक एक तथा ससस्कारिक एक,

सौमनस्यवेदना से सहगत एव ज्ञान से विप्रयुक्त असस्कारिक एक तथा ससस्कारिक एक,

उपेक्षावेदना से सहगत एव ज्ञान से सम्प्रयुक्त असस्कारिक एक तथा ससस्कारिक एक

तथा उपेक्षावेदना से सहगत एव ज्ञान से विप्रयुक्त असंस्कारिक एक तथा ससस्कारिक एक–

इस प्रकार ये आठो सहेतुक कामावचर क्रियाचित्त है।

जा चुकी है, अत यहाँ पुनरुक्ति निरर्थक होगी। ये सहेतुक कामावचर विपाकचित्त, आठ कामावचर कुशलचित्तो के विपाक है–अत इनकी सङ्ख्या भी आठ है। अहेतुक चित्तो मे भी आठ कुशल-विपाक होते है, अत. उनसे भेद दिखाने के लिये इन चित्तो मे 'सहेतुक'–यह विशेषण दिया गया है।

सहेतुक कामावचर क्रियाचित्त

१५ **क्रियाचित्तानि**–'करण करणमत्त किरिय' कुशलचित्तो की तरह इन चित्तो का विपाक नही होता, केवल 'करना'-मात्र ही होता है, अत इन्हे क्रियाचित्त कहा जाता है।

पृथग्जन एव शैक्ष्य पुद्गलो की तरह यद्यपि अर्हत् भी दान, शील, भावना-आदि कर्म करते है और इन कर्मो को करते समय उनके चित्त भी सौमनस्यसहगत ज्ञानसम्प्रयुक्त असस्कारिक-आदि ही होते है, तथापि अविद्या, तृष्णा-आदि अनुशय-धातु से बद्ध पृथग्जन एव शैक्ष्य पुद्गलो की भवसन्तति का, उन अविद्या, तृष्णा-आदि अनुशयो द्वारा उस (भवसन्तति) के निरवच्छिन्न प्रवाह के लिये अर्थात् भव-विच्छेद न होने देने के लिये, बन्धन कर दिया जाता है, अत पृथग्जन एव शैक्ष्य पुद्गलो की सन्तान मे दान-आदि कुशल-कर्मो को करते समय उत्पन्न 'सौमनस्यसहगत ज्ञानसम्प्रयुक्त असस्कारिक' आदि चित्त अनागत भव मे अपने से सम्बद्ध फल का अवश्य उत्पाद करते है। अर्हतो की सन्तान मे बन्धनकारक अविद्या, तृष्णा-आदि अनुशयो के न होने से दान, शील-आदि कर्म करते समय उत्पन्न उनके 'सौमनस्यसहगत

इच्चेवं सब्बथा पि चतुवीसति सहेतुककामावचरकुसलविपाकक्रिया-चित्तानि समत्तानि ।

इस तरह सर्वथा चौबीस – सहेतुक कामावचर कुशल, सहेतुक कामावचर विपाक, सहेतुक कामावचर क्रियाचित्त समाप्त ।

ज्ञानसम्प्रयुक्त असस्कारिक' आदि चित्त फलोत्पादक नही होते, वे केवल 'करना'-मात्र होते है, अत उन्हे क्रियाचित्त कहा जाता है। इसीलिये कुशलचित्त एव क्रियाचित्त स्वभाव मे और सङ्ख्या मे भी समान ही होते है।

कुशल, अकुशल एवं क्रिया – इन शब्दो की व्याख्या परमत्थविनिच्छयकार निम्न प्रकार से करते है, यथा –

'रज्जनादिवसेनेत्थ जवनाकुसल भवे ।
कुसल पन सम्भोति सद्धापञ्ञादिसम्भवे ।।
तदेव वीतरागान क्रिया नाम पवुच्चति ।
अविपाकतमापन्न वट्टमूलपरिक्खया[1]" ।।

अर्थात् राग, द्वेष, मोह-आदि के वश से उत्पन्न जवनचित्त अकुशल है। श्रद्धा, प्रज्ञा-आदि के वश से उत्पन्न जवनचित्त कुशल होते है। ये कुशलचित्त ही जब अर्हत् की सन्तान मे उत्पन्न होते है, तो अविद्या, तृष्णा-आदि ससार के मूल हेतुओ के क्षीण (नष्ट) हुए रहने से, फल देने मे असमर्थ होने के कारण 'क्रियाचित्त' कहे जाते है।

इन कामावचर कुशल-विपाक-क्रियाचित्तो को महाकुशल, महाविपाक एव महा-क्रिया कहा जाता है। इनमे 'महा' विशेषण देने मे क्या हेतु है? इस सम्बन्ध मे टीकाकारो का अभिमन्तव्य यह है कि रूपचित्त, अरूपचित्त एव लोकोत्तरचित्तो की तरह ये महाकुशलचित्त निश्चित (सीमित) विपाक नही देते, अपितु सात काम-सुगति-भूमियो[2] मे नौ कामसुगति-प्रतिसन्धिफल[3] को यथासम्भव देते है तथा प्रवृत्ति-काल मे भी अनेकविध लौकिक सम्पत्तिरूप, जैसे – चक्रवर्तित्व, प्रदेशाधिपतित्व, लक्ष्मी-पतित्व, ऐश्वर्य-आदि – फल देनेवाले होते है। इनके फल देने की सीमा के अत्यन्त विस्तृत होने के कारण इनमे 'महा' विशेषण प्रयुक्त किया गया है, अतएव इनके विपाक को भी 'महाविपाक' कहा जाता है। क्रियाचित्त अर्हत् की सन्तान मे होते है, अत. वे विपाक (फल) नही देते, किन्तु यदि वे विपाकोन्मुख हो तो कुशलचित्तो की तरह उनका विपाक असीमित ही होगा। अत इन्हे 'महाक्रिया' कहा जाता है।

अथवा – कुछ आचार्यो का कथन है कि भगवान् बुद्ध इन चित्तो के द्वारा

---

१. परम० वि० १०८-१०९ का०, पृ० १३ ।
२. द्र० – अभि० स० ५:५ ।
३. द्र० – अभि० स० ५ : १६-१७ ।

१६. वेदनाञ्ञाणसङ्खारभेदेन चतुवीसति ।
सहेतुकामावचरपुञ्ञपाकक्रिया मता ॥

वेदना, ज्ञान एव सस्कार भेद से सहेतुक कामावचर कुशल-विपाक-क्रियाचित्त २४ माने गये है ।

प्रतिसन्धि ग्रहण करते है । उनके प्रतिसन्धिचित्त होने के कारण ये पूजार्ह है, अत: उनमे 'महा' विशेषण दिया गया है[1] ।

[इन टीकाकारो एव आचार्यो के उपर्युक्त मत कहाँ तक युक्तियुक्त है, विद्वान् पाठक स्वय विचार करे ।]

"रूपावचर, अरूपावचर एव लोकोत्तर नामक कुशलचित्तो से तुलना करके देखने पर इन महाकुशलचित्तो की सङ्ख्या अधिक होती है, अत सङ्ख्यागत महत्त्व को अभिलक्षित करके इनमे 'महा' इस विशेषण का प्रयोग किया गया है[2] ।"

सहेतुकविचार – यद्यपि 'सहेतुक' यह विशेषण कुशल, विपाक एव क्रिया – इन तीनो के लिये समान रूप से प्रयुक्त हुआ है, तथापि जहाँ तक विपाक एव क्रिया का सम्बन्ध है यह विशेषण सार्थक प्रतीत होता है, क्योकि अहेतुक चित्तो मे भी विपाक एव क्रियाचित्त होते है, अत इनसे भेद दिखाने के लिये 'सहेतुक' यह विशेषण आवश्यक है। किन्तु कामावचर कुशलचित्तो के साथ यह विशेषण अनावश्यक प्रतीत होता है, क्योकि कुशलचित्त तो सर्वदा सहेतुक ही होते है और उनका किन्ही अन्य चित्तो से पार्थक्य दिखाना अभीष्ट नही है। अत कुशलचित्तो में उपर्युक्त विशेषण निष्प्रयोजन है।

१६ वेदनाञ्ञाणसङ्खारभेदेन – इन कामावचर कुशल, विपाक एव क्रिया चित्तो मे प्रत्येक मे दो दो अर्थात् सौमनस्य एव उपेक्षा वेदनाए होती है – इस तरह वेदना-भेद से ये ३×२=६ होते है । फिर ये ६ चित्त भी प्रत्येक ज्ञानसम्प्रयुक्त एवं ज्ञान-विप्रयुक्त भेद से द्विविध होते है – इस तरह ये ६×२=१२ हो जाते है । ये बारह चित्त भी प्रत्येक 'सङ्खार' एव 'असङ्खार' भेद से द्विविध होते है – इस तरह इनकी सङ्ख्या कुल चौबीस हो जाती है ।

कामावचर कुशल-विपाक-क्रिया-चित्त समाप्त ।

---

१. बर्मी परम्परा मे इन चित्तो के लिये 'महा' – इस विशेषण का प्रयोग किया जाता है; अत· परमत्थदीपनीकार अपने ग्रन्थ मे 'महाकुशल', 'महा-विपाक' एव 'महाक्रिया' शब्दो का प्रयोग करते है।

२. विभा०, पृ० ६६ ।

१७. **कामे तेवीस पाकानि पुञ्ञापुञ्ञानि वीसति ।**
एकादस क्रिया चेति चतुपञ्ञास सब्बथा ।।

एकादश कामभूमि में[1] विपाकचित्त २३, कुशल (८) एवं अकुशल (१२) चित्त २०, तथा क्रियाचित्त ११ होते हैं। इस तरह (कामभूमि मे) सर्वथा कुल ५४ चित्त है।

---

१७. **कामचित्त** – उपर्युक्त गाथा सम्पूर्ण कामावचर चित्तो का सङक्षेप मे निष्कर्ष है। ये सभी चित्त प्राय कामभूमि में ही उपलब्ध होते है, अत इन्हे 'कामावचर' कहते है – 'कामे अवचरन्तीति कामावचरा'। अकुशलचित्तो से लेकर यहाँ तक जितने चित्तो का वर्णन किया गया है उन सब चित्तो को 'कामचित्त' कहते है। यथा—

अकुशल	१२
अहेतुक	१८
कामावचर शोभन	२४
कुल	५४

इन ५४ कामावचर चित्तो मे विपाक २३, कुशल (पुण्य), अकुशल (अपुण्य) २०, तथा क्रियाचित्त ११ होते है। यथा—

विपाक			कुशल-अकुशल			क्रिया		
अकुशल विपाक	७	=२३	अकुशल	१२	=२०	अहेतुक क्रियाचित्त	३	=११
अहेतुक कुशलविपाक	८		महाकुशल	८		महाक्रियाचित्त	८	
महाविपाक	८							
								=५४

विशेष – (क) कामावचर शोभनचित्तो की २४ सङ्ख्या को पालि के अनुसार जानना चाहिये।

(ख) इन ५४ कामचित्तो की वेदना-भेद से स्थिति इस प्रकार है – सौमनस्य १८, उपेक्षा ३२, दौर्मनस्य २, सुख १, एव दुःख १ = ५४।

(ग) इनमे सम्प्रयुक्त २० तथा विप्रयुक्त १६ होते है, शेष अहेतुक चित्त १८, न सम्प्रयुक्त है न विप्रयुक्त = ५४।

(घ) इनमें असस्कार १७ तथा ससस्कार १७ होते है, शेष अहेतुक १८ एव मोहमूल २, न असस्कार है न ससस्कार = ५४।

कामचित्त समाप्त।

---

१. द्र० – अभि० स० ५ : ६।

रूपावचरसोभनचित्तानि (१५)

कुसलचित्तानि

१८ वितक्कविचारपीतिसुखेकग्गतासहितं पठमज्झानकुसलचित्तं*, विचार-पीतिसुखेकग्गतासहितं दुतियज्झानकुसलचित्तं, पीतिसुखेकग्गतासहितं ततिय-ज्झानकुसलचित्तं, सुखेकग्गतासहितं चतुत्थज्झानकुसलचित्तं, उपेक्खेकग्गतासहितं पञ्चमज्झानकुसलचित्तञ्चेति इमानि पञ्च पि रूपावचरकुसलचित्तानि नाम ।

वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एव एकाग्रता नामक पाँच ध्यानाङ्ग-सहित प्रथमध्यान कुशलचित्त,

विचार, प्रीति, सुख एव एकाग्रता नामक चार ध्यानाङ्गसहित द्वितीयध्यान कुशलचित्त,

प्रीति, सुख, एव एकाग्रता नामक तीन ध्यानाङ्गसहित तृतीयध्यान कुशलचित्त,

सुख एवं एकाग्रता नामक दो ध्यानाङ्गसहित चतुर्थध्यान कुशलचित्त,

तथा उपेक्षा एव एकाग्रता नामक दो ध्यानाङ्गसहित पञ्चमध्यान कुशलचित्त—

इस तरह ये पाँचो रूपावचर कुशलचित्त है[1] ।

रूपावचर कुशलचित्त

१८ इस ग्रन्थ के प्रारम्भ मे ही यह प्रतिज्ञा की गयी है कि चित्त चार प्रकार के होते है, यथा—कामावचर, रूपावचर, अरूपावचर एव लोकोत्तर । कामावचरचित्तो का विस्तारपूर्वक वर्णन करने के अनन्तर अब यहाँ रूपावचरचित्तो का प्रतिपादन करने की इच्छा से अनुरुद्धाचार्य 'वितक्कविचारपीति' आदि कहते है[2] ।

मूल मे प्रयुक्त 'सहित' यह पद 'सहगत' का पर्यायवाची है । यही अर्थ अनुरुद्धाचार्य ने अपने 'नाम-रूपपरिच्छेद' नामक ग्रन्थ मे—"सोमनस्ससहगत उपेक्खासहित तथा[3]"—इत्यादि वचनो द्वारा 'सहगत' एव 'सहित' को एक अर्थ मे प्रयुक्त करके प्रकाशित किया है । इसी प्रकार 'सहित' एव 'सहगत' 'सम्प्रयुक्त' के भी पर्यायवाची है; अतएव आचार्य ने प्रस्तुत ग्रन्थ मे 'विचिकिच्छासम्पयुत्त, उद्धच्चसम्पयुत्त'—

---

*पठम-ज्ञान ० — रो० (चतु० परि० पर्यन्त सन्धि सर्वत्र नही), म० (ख) (सन्धि सर्वत्र नही)

१. सर्वास्तिवाद, सौत्रान्तिकवाद-आदि मे रूपावचर ध्यान चार है यथा—"चत्तारि ध्यानानि (रूपधातौ)—प्रथमध्यान द्वितीयध्यान तृतीयध्यान चतुर्थध्यान च"—अभि० मृ०, पृ० ६४, "द्विधा चत्वारि ध्यानानि ।"—अभि को० ८ : १, पृ० २२१ ।

२ प० दी०, पृ० ४६, विभा०, पृ० ७० ।

३. नाम० प०, पृ० ५ ।

आदि कह कर इसी अर्थ को 'नामरूपपरिच्छेद' मे "विचिकिच्छासहगत उद्धच्चसहितं ति च[1]" इन शब्दो के द्वारा प्रकाशित किया है ।

ध्यानाङ्ग, ध्यान एवं ध्यानचित्त – वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एव एकाग्रता नामक ये पॉच चैतसिक पृथक् पृथक् ध्यानाङ्ग है । इन पॉचो का समुच्चय ध्यान कहा जाता है और इस ध्यान से सम्प्रयुक्त चित्त 'ध्यानचित्त' कहलाता है[2] । यहाँ चतुर्थध्यान मे सुख एव एकाग्रता नामक दो ध्यानाङ्ग तथा पञ्चमध्यान मे उपेक्षा एव एकाग्रता नामक दो ध्यानाङ्ग वर्णित है, इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि प्रथमध्यान से लेकर चतुर्थध्यान-पर्यन्त सुखावेदना तथा पञ्चमध्यान मे उपेक्षावेदना होती है। इस वेदना-भेद को दिखाने के लिये ही 'सुखेकग्गतासहित' तथा 'उपेक्खेकग्गता-सहित' – ऐसा कहा गया है ।

[वितर्क, विचार-आदि पॉच ध्यानाङ्गो के लक्षण-आदि द्वितीय परिच्छेद (चैतसिकसङ्ग्रह) मे विस्तार से कहेगे ।]

पठमज्झानकुसलचित्त – ध्यान-भावना करनेवाले योगी को यह चित्त सर्वप्रथम प्राप्त होता है; भगवान् बुद्ध ने इसका उपदेश सर्वप्रथम किया है तथा गणना करने पर इसकी सर्वप्रथम गणना होती है – इस प्रकार प्रतिलाभ, देशना, एव सङ्ख्या-क्रम से सर्वप्रथम होने के कारण इसे प्रथमध्यान कहा जाता है । इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय-आदि ध्यानो को भी जानना चाहिये[3] ।

---

१ नाम० प०, पृ० ६ । २ प० दी०, पृ० ४७ ।

३ सर्वास्तिवाद सौत्रान्तिकवाद-आदि मे कथित चतुर्विध ध्यान के लक्षण एव स्वरूप इस प्रकार है—

प्रथम ध्यान—

"विविच्यकामैर्विविच्याकुशलधर्मै सविचार सवितर्क कामविवेकज प्रीतिसुख प्राप्नोतीत्युच्यते प्रथम ध्यानम्"—अभि० मृ०, पृ० ९४ ।

"प्रथम ध्यान पञ्चाङ्गम् । पञ्चाङ्गानि – वितर्को विचार. प्रीति. सुख चित्तैकाग्रता च"—अभि० समु०, पृ० ६८ ।

"(आद्य पच तर्क) चार-प्रीति-सुख-समाधय ।" – अभि० को० ८ ७, पृ० २२३ ।

"अङ्गान्याद्ये शुभे पञ्च, वितर्कश्चित्तसूक्ष्मता ।
प्रीति सुख समाधान, क्लिष्ट सुखविवर्जितम् ।।" – अभि० दी० ५४२ का०, पृ० ४०७ ।

द्वितीय ध्यान—

"वितर्कविचारोपशमात् अध्यात्मसम्प्रसादन एकाग्रसमाहित अवितर्कोऽविचारस्समाधिरुपजायते प्रीतिसुखसम्प्रयुक्त । इति द्वितीय ध्यानम्" – अभि० मृ०, पृ० ९५ ।

द्वितीय ध्यान चतुरङ्गम् । चत्वार्यङ्गानि–अध्यात्मसम्प्रसाद प्रीति सुख चित्तैकाग्रता च" । – अभि० समु०, पृ० ६८ ।

"प्रीत्यादय प्रसादश्च, द्वितीयेऽङ्गचतुष्टयम् ।" अभि० को० ८ ७, पृ० २२३ ।

"साध्यात्मसप्रसादास्तु, सुखप्रीतिसमाधयः ।
द्वितीयेऽङ्गानि चत्वारि, क्लिष्टे श्रद्धासुखादृते ।।" – अभि० दी० ५४३ का० ।

"पठम पटिलद्धत्ता देसितत्ताय वुच्चते ।
सङ्खयातो पठम झान तथापि दुतियादिनि[1] ।।"

वितर्क आदि ध्यानाङ्ग क्यों है ? – इन रूपावचर चित्तो मे स्पर्श (फस्स)-आदि चैतसिक भी तो सम्प्रयुक्त होते है, फिर केवल वितर्क-आदि पाँच चैतसिको को ही क्यो ध्यान कहा जाता है ?

समाधान – यह ठीक है कि इनमे स्पर्श-आदि चैतसिक भी सम्प्रयुक्त होते है, किन्तु यहाँ वितर्क-आदि पाँच चैतसिक ही आलम्बन मे 'उपनिध्यान'-कृत्य करते है तथा प्रतिपक्षी नीवरण-धर्मो[2] का 'दहन'-कृत्य करते है, अतएव इन्हे ही ध्यान कहते है ।

"उपनिज्झानकिच्चत्ता कामादिपटिपक्खतो ।
सन्तेस्वपि च अञ्ञेसु पञ्चेव झानसञ्ञिता[3] ।।"

अर्थात् उपनिध्यानकृत्य करने से तथा कामच्छन्द-आदि नीवरण-धर्मो के प्रतिपक्षभूत होने से, अन्य स्पर्श-आदि धर्मो के होने पर भी ये पाँच ही ध्यानसज्ञक है ।

उपर्युक्त अर्थ के अनुरोध से ही "कसिणादिआरम्मण झायति उपनिज्झायतीति

तृतीय ध्यान—

"प्रीत्या विरागाद् उपेक्षको विहरति प्रतिसवेदयति कायेन सुख भवत्यनास्रव पुद्गल स उच्यते उपेक्षक स्मृतिमान् सुखविहारी तृतीय ध्यानमवतीर्ण । .."– अभि० मू०, पृ० ६५ ।

"तृतीय ध्यान पञ्चाङ्गम् । पञ्चाङ्गानि – उपेक्षा स्मृति सम्प्रजन्य सुख चित्तैकाग्रता च ।" – अभि० समु०, पृ० ६८ ।

"तृतीये पञ्च तूपेक्षा, स्मृतिर्ज्ञान सुख स्थिति ।" – अभि० को० ८ ८, पृ० २२३ ।

"तृतीये पञ्चमे प्रज्ञा, स्मृत्युपेक्षा सुख स्थिति ।
क्लिष्टे त्वङ्गद्वय ज्ञेय, समाधिर्वेदना सुखम् ।।" – अभि० दी० ५४४ का०, पृ० ४०८

चतुर्थ ध्यान—

"सुखस्य प्रहाणात् पूर्वमेव दु खस्य प्रहाणात् सौमनस्यदौर्मनस्ययोरस्तङ्गमादुपेक्षास्मृतिपरिशुद्धमुपसम्पादयति चतुर्थ ध्यानम् ।" – अभि० मू०, पृ० ६६ ।

"चतुर्थ ध्यान चतुरङ्गम् । चत्वार्यङ्गानि उपेक्षापरिशुद्धि स्मृतिपरिशुद्धि अदु खासुखा वेदना चित्तैकाग्रता च ।" – अभि० समु०, पृ० ६८ ।

"चत्वार्यन्ते स्मृत्युपेक्षाऽसुखादु खसमाधय ।" – अभि० को० ८ : ८, पृ० २२३ ।

"अन्त्ये चत्वार्युपेक्षे द्वे, समाधि स्मृतिरेव च ।
क्लिष्टे ध्याने चतुर्थे तु, द्वे अङ्गे वेदना स्थिति ।।"
–अभि० दी० ५४५ का०, पृ० ४०८ ।

१. ब० भा० टी० ।

२. कामच्छन्द, व्यापाद, स्त्यान-मिद्ध, औद्धत्य-कौकृत्य एवं विचिकित्सा – ये नीवरण-धर्म है । द्र० – अभि० स० ७ . ८ ।

३. विभा०, पृ० ७२ ।

झान[1]" तथा 'पच्चनीकधम्मे झापेतीति झान[1]" (जो प्रत्यनीक अर्थात् विरोधी नीवरण-धर्मो का दहन करता है, वह ध्यान है) – ऐसा विग्रह किया जाता है ।

विशेष – (क) उपनिध्यानकृत्य का तात्पर्य है – 'कसिण-आदि आलम्बन का धैर्यपूर्वक ध्यान करना' । इस कृत्य का 'एकाग्रता' नामक ध्यानाङ्ग से सम्बन्ध है । यह एकाग्रता का पर्याय है, अत यह एकाग्रता पाँचो ध्यानो मे सङ्गृहीत है। एकाग्रता भी अकेले उपनिध्यानकृत्य मे समर्थ नही है, वह वितर्क, विचार-आदि अङ्गो से सम्प्रयुक्त होकर ही उपर्युक्त कृत्य का सम्पादन करने मे समर्थ होती है । वितर्क आलम्बन पर सम्प्रयुक्त धर्मो को आरोपित (प्रतिष्ठित) करता है । विचार उसी आलम्बन का 'अनुमज्जन' (पुन पुन विमर्श) करता है । प्रीति चित्त का प्रसाद है । सुख चित्त के द्वारा सुखावेदना का अनुभव है । इन चार ध्यानाङ्गो के अभिनिरोपण, अनुमज्जन-आदि कृत्यो के सहयोग से ही एकाग्रता उपनिध्यानकृत्य मे समर्थ हो पाती है[2] ।

[मणिमञ्जूसाकार वितर्क, विचार-आदि ध्यानाङ्गो के अभिनिरोपण, अनुमज्जन-आदि कृत्यो को भी उपनिध्यानकृत्य कहते है[3], यह विचारणीय है ।]

(ख) वितर्कध्यानाङ्ग – यह स्त्यान (थीन) एव मिद्ध नामक प्रत्यनीकभूत नीवरण-धर्मो का दहन (प्रहाण) करता है । स्त्यान एव मिद्ध का स्वभाव आलस्य है । इसके विपरीत वितर्क का स्वभाव सर्वदा अभिनिरोपण करना है, अत विरुद्धस्वभाव होने से वितर्कध्यानाङ्ग स्त्यान एव मिद्ध नामक नीवरण-धर्मो को अपनी सन्तान म नही आने देने के लिये उनका दहन (प्रहाण) करता है तथा सम्प्रयुक्त-धर्मो (चित्त-चैतसिको) को आलम्बन मे अभिनिरोपित करता है ।

विचारध्यानाङ्ग – यह विचिकित्सा नामक नीवरण-धर्म का दहन करता है । वितर्क ने जिन सम्प्रयुक्त धर्मो का आलम्बन मे अभिनिरोपण किया था, विचिकित्सा उसमे सशय उत्पन्न कर सकती है, अत विचार अभिनिरोपित धर्मो को प्राप्त-आलम्बन से हटने न देने के लिये आलम्बन का पुन पुन अनुमज्जन (विचार-विमर्श) करता है । अत विचार, विचिकित्सा से विपरीतस्वभाव होने के कारण, विचिकित्सा का दहन करता है एव कसिण-आदि आलम्बन का अनुमज्जन करता है ।

प्रीतिध्यानाङ्ग – यह व्यापाद नामक नीवरण-धर्म का दहन करता है । व्यापाद द्वेष ही है । वह चण्डलक्षण है, अत आलम्बन के प्रति अप्रीति स्वभाववाला है। विचार के द्वारा पुन पुन अनुमज्जन करने पर भी यदि व्यापाद उसमे विघ्न उपस्थित करता है तो विचार आलम्बन का भली भाँति विमर्श नही कर सकता । प्रीति आलम्बन के प्रति प्रिय स्वभाववाली है । व्यापाद एव प्रीति दोनो परस्पर विरुद्धस्वभाव होने के कारण, प्रीतिध्यानाङ्ग व्यापाद-नीवरण को चित्तसन्तति मे न आने देने के लिये उसका

---

१ तु० – विसु०, पृ० १०० । २. तु० – विभा०, पृ० ७०, प० दी०, पृ० ४७ ।

३ "कसिणादीनि आरम्मणानि उपगन्त्वा निज्झान ओलोकन चिन्तन वा उपनिज्झान; कि त ? अभिनिरोपणानु-पबन्धन-पीणन-उपब्यूहन-समाधानानि । तमेव किच्च उपनिज्झानकिच्च ।" – मणि०, प्र० भा०, पृ० १८२।

दहन करता है तथा वितर्क के द्वारा गृहीत एव विचार के द्वारा पुन पुन अनुमज्जित आलम्बन मे अत्यन्त प्रीति उत्पन्न करता है।

सुखध्यानाङ्ग – यह औद्धत्य (उद्धच्च) एव कौकृत्य (कुक्कुच्च) नामक नीवरण-धर्मों का प्रहाण करता है । औद्धत्य का स्वभाव अनुपशम तथा कौकृत्य का स्वभाव अनुताप है । कसिण-आदि आलम्बनो मे चित्तसन्तति के प्रीतियुक्त होने पर भी औद्धत्य एव कौकृत्य के कारण, यदि आलम्बन मे अनुभव करने के लिये कोई रस नही है तो वह उसमे शान्तिपूर्वक स्थित नही रह सकती । औद्धत्य एव कौकृत्य के द्वारा विघ्न किये जाने से अनुपशम एव अनुताप होने से वह तुरन्त आलम्बन से हट जायेगी । सुख, आलम्बन के रस का अनुभव करता है और वह उपशमलक्षण है। अत औद्धत्य एव कौकृत्य से विपरीतस्वभाव होने के कारण सुखध्यानाङ्ग औद्धत्य एव कौकृत्य नामक नीवरण-धर्मो को चित्तसन्तति मे न आने देने के लिये उनका दहन करता है तथा वितर्क, विचार एव प्रीति के कृत्यो से प्रतिष्ठापित आलम्बन के रस का अनुभव करता है, साथ ही चित्तधातु को पुष्ट करता है ।

एकाग्रताध्यानाङ्ग – यह कामच्छन्द नामक नीवरण-धर्म का दहन (प्रहाण) करता है । कामविषयो मे राग (आसक्ति) उत्पन्न करनेवाले लोभ एव तृष्णा को 'कामच्छन्द' कहते हैं। कामविषयानुगामी होने के कारण यह चित्तधातु को विकीर्ण करता है अथवा विकम्पित करता है । यदि यह कामच्छन्द नामक नीवरण चित्तधातु मे उपस्थित होता है तो वितर्क, विचार, प्रीति एव सुख अपने कसिण-आलम्बन मे स्थिर नही रह सकते, ये आलम्बन से अपगत हो सकते है । चित्त का आलम्बन से विचलित न होना अर्थात् आलम्बन मे ही स्थिर रहना 'एकाग्रता-ध्यानाङ्ग' (समाधि) है, अत कामच्छन्द से विपरीत-स्वभाव होने के कारण, यह कामच्छन्द को चित्तसन्तति मे आने न देकर उसका दहन करता है तथा चित्त को आलम्बन मे स्थिर (दृढ) करता है। एकाग्रता को ही 'समाधि कहते हैं।

अतएव 'पच्चनीके धम्मे झापेति' – इस विग्रह के अनुसार वितर्क, विचार-आदि पाँच चैतसिक ही ध्यानाङ्ग कहे जाते हैं ।

[अविद्या नामक नीवरण-धर्म ध्यान-धर्मो का आवरण (आबाधन) नही करता, वह केवल मार्ग एव फल धर्मो का ही आवरण करता है, अत ध्यानाङ्गो के द्वारा प्रहातव्य नीवरणो मे उसका समावेश नही है ।]

"वितक्को थीनमिद्धस्स विचिकिच्छाय विचारो ।
पीति चापि ब्यापादस्स सुख उद्धच्चकुक्कुच्च ।
समाधि कामच्छन्दस्स पटिपक्खो ति पेटके[1]" ॥

अर्थात् वितर्क स्त्यान एव मिद्ध का, विचार विचिकित्सा का, प्रीति व्यापाद

---

१ ब० भा० टी० । "समाधि कामच्छन्दस्स पटिपक्खो, पीति ब्यापादस्स, वितक्को थीनमिद्धस्स, सुख उद्धच्चकुक्कुच्चस्स, विचारो विचिकिच्छाया ति पेटके वुत्त ।" – अट्ठ०, पृ० १३५ । विसु० ४ . ८६, पृ० ६५ ।

का, सुख औद्धत्य एव कौकृत्य का तथा समाधि (एकाग्रता) कामच्छन्द का प्रतिपक्ष है–इस प्रकार 'पेटकोपदेस' मे वर्णित है।

उपेक्षा भी एक ध्यानाङ्ग है और ध्यानाङ्ग का सामान्य लक्षण है – 'नीवरण-धर्मों का दहन करना', तब प्रश्न होता है कि उपेक्षा किस नीवरण-धर्म का दहन करती है?

समाधान – उपेक्षाध्यानाङ्ग भी सुखध्यानाङ्ग की ही तरह उपशमस्वभाव है, अत यह भी सुख की तरह औद्धत्य एव कौकृत्य का ही प्रतिपक्ष है। यथा–

"उपेक्खा पन सन्तत्ता सुखमिच्चेव भासिता[1]।"

शान्तस्वभाव होने के कारण उपेक्षा भी 'सुख ही है' – ऐसा कहा गया है।

संस्कार-विनिश्चय – 'सङ्खार' शब्द का अर्थ उसकी व्याख्या एव विग्रह-आदि का वर्णन हम 'लोभमूलचित्त' प्रकरण मे कर चुके है, अत यहाँ पुनरुक्ति-भय से उसे छोडते है।

प्रश्न – महग्गत एव लोकोत्तर चित्तो मे असस्कारिक-ससस्कारिक भेद क्यो नहीं किया गया ?

उत्तर – महग्गत एव लोकोत्तर चित्तो की प्राप्ति के लिये भावना करते समय भी यदि दूसरो से प्रेरणा प्राप्त करना अपेक्षित ही होगा तो स्वत उत्साहमन्दता (अनुत्साह) होने के कारण इन धर्मों की प्राप्ति तो दूर की बात होगी, उनके निमित्त-मात्र का अवभास भी असम्भव है। अत (प्रेरणा के अभाव से) महग्गत एव लोकोत्तर चित्तो को ससस्कारिक नही कह सकते। उन्हे असस्कारिक भी नही कहा जा सकता; क्योकि ससस्कारिक एव असस्कारिक परस्पर सापेक्ष होते है। कुछ चित्तो के ससस्कारिक होने पर अवशिष्ट चित्तो को असस्कारिक कहते है। यहाँ जब ससस्कारिक होते ही नही तो वे असस्कारिक भी नही कहे जा सकते।

'नेत्तिप्पकरण' मे यद्यपि असस्कार-समाधि तथा ससस्कार-समाधि – इस तरह समाधि के दो भेद किये गये है, तथापि वहाँ के 'सङ्खार' शब्द का अर्थ यहाँ के 'सङ्खार' शब्द के अर्थ से भिन्न है। वहाँ 'दुक्खा पटिपदा' (दुखा प्रतिपदा) से प्राप्त समाधि को 'ससस्कार-समाधि' तथा 'सुखा पटिपदा' से प्राप्त समाधि को 'असस्कार-समाधि' कहा गया है[2]। उपचार-भावना तक पहुँचने के पूर्व यदि नीवरण-आदि क्लेश-धर्मों के प्रहाणार्थ अत्यधिक प्रयत्न या दुष्कर चर्या करनी पडे तो उसे 'दुक्खा पटिपदा' कहते है, तथा यदि नीवरण-आदि क्लेश-धर्मों का प्रहाण अनायास ही सिद्ध हो जाये तो उसे 'सुखा पटिपदा' कहते है। इस प्रकार 'नेत्तिप्पकरण' की दोनो प्रतिपदाएँ 'अभिधम्मत्थसङ्गहो' के 'सङ्खार' से भिन्न है।

परमत्थदीपनीवाद[3] – परमत्थदीपनीकार का मत है कि महग्गत एव लोकोत्तर ध्यान-चित्तो मे भी असंस्कारिक-ससस्कारिक दोनो होने चाहिये। इन दोनो के होने पर

१ विभा०, पृ० ७२।
२. नेत्ति०, पृ० ६५।
३ तु० – प० दी०, पृ० ४६।

भी ध्यान-धर्मो को इनके द्वारा विशेषित नही किया गया है, क्योकि पूर्व-प्रयोग नामक 'सङ्खार' (जिसके द्वारा चित्त ससस्कारिक होते है और ससस्कारिक की अपेक्षा से असस्कारिक होते है) का सम्बन्ध केवल ध्यान-धर्मो से ही नही होता, अपितु उसका सम्बन्ध अकुशल-धर्मो से भी होता है । 'दुक्खा पटिपदा' का सम्बन्ध केवल 'पटिपत्ति' नामक ध्यान-धर्मो से ही होता है, अत इस ध्यान-खण्ड (महग्गत-लोकोत्तर चित्तो) को सर्व (कुशल-अकुशल) –साधारण 'सङ्खार' से विशेषित न करके सर्व-असाधारण 'पटिपदा' से ही विशेषित करके 'पठमज्झान उपसम्पज्ज विहरति दुक्खपटिपद दन्धाभिञ्ञ ' आदि कहा गया है । इस तरह सुखाप्रतिपदा-ध्यान और असस्कारिक ध्यान तथा दु खाप्रतिपदा-ध्यान और ससस्कारिक ध्यान एकार्थक है ।

निराकरण – यद्यपि दु खाप्रतिपदा-ध्यान को ससस्कारिक तथा सुखाप्रतिपदा-ध्यान को असस्कारिक कहा जा सकता है, तथापि प्रस्तुत ग्रन्थ मे 'सङ्खार' शब्द का जैसा अर्थ है – उस अर्थ मे नही । प्रस्तुत ग्रन्थ मे 'ससस्कारिक एव असस्कारिक' – यह भेद शक्ति-भेद (मन्द, तीक्ष्ण) से होता है, किन्तु यहाँ दु खा प्रतिपदा होने पर शक्ति की मन्दता या सुखा प्रतिपदा होने पर शक्ति की तीक्ष्णता नही होती । पुनश्च – ध्यान-चित्तो के वर्णन के अवसरो पर 'पटिपदा' शब्द सर्वदा उनके साथ प्रयुक्त भी नही होता । इसीलिये 'धम्मसङ्गणिपालि' मे बिना 'पटिपदा' शब्द के ही चित्त का केवल स्वरूपमात्र द्योतित करने के लिये 'पठम झान उपसम्पज्ज विहरति ' आदि शुद्ध नवक को सर्वप्रथम कह कर तदनन्तर आलम्बन एव प्रतिपदा के द्वारा उसका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है । इस प्रकार चित्त का स्वरूपमात्र बिना 'पटिपदा' शब्द के ही दिखाया गया है । तथाच – 'सङ्खार' शब्द के स्थान मे यदि 'पटिपदा' शब्द का प्रयोग किया जायेगा तो रूपावचर चित्त पन्द्रह ही न होकर तीस तक भी हो सकते है । अत 'परमत्थदीपनी' का उपर्युक्त मत विचारणीय है[1] ।

विभावनीवाद[2] – विभावनीकार के मत मे रूपावचर चित्तो के 'असस्कारिक-ससस्कारिक' भेद के विषय मे दो वाद है १ इन्हे असस्कारिक एव ससस्कारिक दोनो ही नही कहा जा सकता, २ ये केवल ससस्कारिक ही हो सकते है । ये दोनो वाद अधिकार एव पूर्वाभिसस्कार के आधार पर स्थित है । पूर्व जन्म मे चाहे ध्यान की प्राप्ति हुई हो अथवा न हुई हो, किन्तु उसकी प्राप्ति के लिये यदि पर्याप्त प्रयत्न किया गया था तो इस जन्म मे उसे ही 'अधिकार' कहते है । इस जन्म मे ध्यान की प्राप्ति के पूर्व 'पठवी, पठवी' आदि कह कर जो भावना की जाती है उसे 'पूर्वाभिसस्कार' कहते है । पूर्वाभिसस्कार न करके यदि केवल अधिकारमात्र से ध्यान की प्राप्ति होती है तो पूर्वाभिसस्कार न होने के कारण उस ध्यान को असस्कारिक-ध्यान कहा जा सकता है; किन्तु पूर्वाभिसस्कार के बिना केवल अधिकारमात्र से ध्यान की प्राप्ति असम्भव है, अत ध्यान-चित्तो को असस्कारिक नही कहा जा सकता । अधिकार के बिना केवल

---

१. ब० भा० टी० ।

२. तु० – विभा०, पृ० ७२ ।

पूर्वाभिसस्कारमात्र से यदि ध्यान की प्राप्ति होती है तो अधिकार के न होने के कारण उस ध्यान को ससस्कारिक-ध्यान कहा जा सकता है, किन्तु अधिकार के न होने पर केवल पूर्वाभिसस्कारमात्र से ध्यान की प्राप्ति असम्भव है, अत ध्यान-चित्तो को ससस्कारिक भी नही कहा जा सकता।

इस प्रकार विभावनीकार पहले जिस दृष्टिकोण को रखते है, आगे चलकर उसी का खण्डन करके असस्कारिक-ससस्कारिक के विषय मे एक अस्पष्ट एव उलझा हुआ दृष्टिकोण प्रस्तुत करते है।

प्रथमवाद – विभावनीकार का अभिप्राय यह है कि अधिकार एव पूर्वाभिसस्कार, दोनो के होने पर ही ध्यान की प्राप्ति हो सकती है, किन्तु उनका यह वाद – 'अधिकार के बिना ध्यान की प्राप्ति असम्भव है' – समीचीन नही है। अधिकार के बिना यद्यपि ध्यान-प्राप्ति दुरधिगम है, तथापि 'असम्भव है' – ऐसा नही कहा जा सकता। लोकोत्तर-धर्मों की तरह लौकिक-धर्म पूर्वकृत पारमियो के होने पर ही प्राप्त हो सकते है – ऐसा नही है, त्रिहेतुक पुद्गल यदि उत्साह करे तो लौकिक ध्यानो की प्राप्ति असम्भव नही है। इसीलिये रूपावचर चित्तो की व्याख्या के प्रसङ्ग मे 'अट्ठसालिनी' मे भी "यो च समथे अकताधिकारो तस्स दुक्खा पटिपदा होति"[1] – ऐसा लिखा है। अर्थात् शमथ मे जिस साधक का अधिकार नही है, उसकी प्रतिपदा दुखा होती है। 'पूर्वाभिसस्कार के बिना ध्यान की प्राप्ति असम्भव है' – यह मत भी युक्तियुक्त नही है। ध्यान-धर्मों मे असस्कारिक एव ससस्कारिक का विचार करते समय उस (विचार-काल) मे सामान्य रूप से (ध्यान-प्राप्ति से पूर्व) आरब्धकर्म नामक पूर्वाभिसस्कार को नही जोडना चाहिये। ध्यान-प्राप्ति के लिये 'पठवी, पठवी' की भावना से आरब्ध कर्म (पूर्वाभिसस्कार) ध्यान-प्राप्ति के सामान्य कारण है। ये 'स्वप्रयोग' या 'पर-प्रयोग' नामक 'सङ्खार' नही है। इस प्रकार के सामान्य पूर्वाभिसस्कार को भी यदि 'सङ्खार' कहा जाता है तो सभी कुशल एव अकुशल कर्म पूर्वाभिसस्कार के बिना नही हो सकेंगे और मानसिक कर्म के अतिरिक्त कोई भी कुशल या अकुशल कर्म असस्कारिक न हो सकेंगे, अत असस्कारिक एव ससस्कारिक के विषय मे विचार करते समय पूर्वाभिसस्कार का विचार नही करना चाहिये। जैसे – कोई दायक स्वत. (अपने मन से) किसी भिक्षु को दान देना चाहता है। इस प्रक्रिया मे उसे ओदन पकाने से प्रारम्भ करके पक्वान्न को भिक्षापात्र मे डालने तक अनेकविध उपक्रम करने पड़ते है। ये सम्पूर्ण उपक्रम दान के ही अङ्ग है। यदि इन्हे (पूर्वाभिसस्कार को) भी 'सङ्खार' कह कर दान को भी 'ससङ्खारिक' कहा जाता है तो समग्र कुशल एव अकुशल कर्म ससस्कारिक ही हो जायेंगे, केवल एक मानसिक कर्म ही असस्कारिक होगा; अत· पूर्वाभिसस्कार के आधार पर 'असस्कारिक-ससस्कारिक भेद करना युक्ति-सङ्गत नही है[2]।

१. अट्ठ०, पृ० १५०।
२ ब० भा० टी०।

रूपावचरविपाकचित्तानि

१६. वितक्कविचारपीतिसुखेकग्गतासहितं पठमज्झानविपाकचित्तं, विचार-पीतिसुखेकग्गतासहितं दुतियज्झानविपाकचित्तं, पीतिसुखेकग्गतासहितं ततिय-ज्झानविपाकचित्तं, सुखेकग्गतासहितं चतुत्थज्झानविपाकचित्तं, उपेक्खेकग्गता-सहितं पञ्चमज्झानविपाकचित्तञ्चेति इमानि पञ्च पि रूपावचरविपाक-चित्तानि नाम ।

वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एव एकाग्रता नामक पाँच ध्यानाङ्गसहित प्रथमध्यान विपाकचित्त,

विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता नामक चार ध्यानाङ्गसहित द्वितीयध्यान विपाकचित्त,

प्रीति, सुख एवं एकाग्रता नामक तीन ध्यानाङ्गसहित तृतीयध्यान विपाकचित्त,

सुख एव एकाग्रता नामक दो ध्यानाङ्गसहित चतुर्थध्यान विपाकचित्त

तथा उपेक्षा एव एकाग्रता नामक दो ध्यानाङ्गसहित पञ्चमध्यान विपाकचित्त –

इस प्रकार ये पाँचो रूपावचर विपाकचित्त है ।

द्वितीयवाद – "पूर्वाभिसस्कार के होने पर ही ध्यान-धर्मों की उत्पत्ति सम्भव है, अत ये कभी भी असस्कारिक नही हो सकते, केवल ससस्कारिक ही हो सकते है । इस प्रकार ध्यान-धर्मों मे असस्कारिक के न होने से 'यह असस्कारिक है, या यह ससस्कारिक है' – ऐसा सन्देह भी आवश्यक नही है, क्योकि वे केवल ससस्कारिक ही होते है । इस प्रकार ध्यान-धर्मों मे ससस्कारिकमात्र होने से उन्हे 'सङ्खार' शब्द के द्वारा ('ससङ्खारिक' ऐसा) विशेषित नही किया गया है" – विभावनीकार के इस मत को 'अभिधम्म' शास्त्र मे निष्णात बर्मा के कई प्रसिद्ध विद्वान् स्वीकार करते हैं; "किन्तु पूर्वाभिसस्कार को 'सङ्खार' नही कहा जा सकता और इसके आधार पर चित्तो को 'ससङ्खारिक' नही कह सकते । अत. विभावनीकार का द्वितीय वाद भी युक्तियुक्त नही है[१] ।"

---

१. ब० भा० टी० ।

रूपावचरक्रियाचित्तानि

२० वितक्कविचारपीतिसुखेकग्गतासहितं पठमज्झानक्रियाचित्तं, विचारपीतिसुखेकग्गतासहितं दुतियज्झानक्रियाचित्तं, पीतिसुखेकग्गतासहितं ततियज्झानक्रियाचित्तं, सुखेकग्गतासहितं चतुत्थज्झानक्रियाचित्तं, उपेक्खेकग्गतासहितं पञ्चमज्झानक्रियाचित्तञ्चेति इमानि पञ्च पि रूपावचरक्रियाचित्तानि नाम।

इच्चेवं सब्बथापि पन्नरस* रूपावचरकुसल-विपाक-क्रियाचित्तानि समत्तानि।

२१ पञ्चधा झानभेदेन रूपावचरमानसं।
पुञ्ञपाकक्रियाभेदा तं पञ्चदसधा भवे॥

वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता नामक पाँच ध्यानाङ्गसहित प्रथमध्यान क्रियाचित्त,

विचार, प्रीति, सुख एव एकाग्रता नामक चार ध्यानाङ्गसहित द्वितीयध्यान क्रियाचित्त,

प्रीति, सुख, एव एकाग्रता नामक तीन ध्यानाङ्गसहित तृतीयध्यान क्रियाचित्त,

सुख एव एकाग्रता नामक दो ध्यानाङ्गसहित चतुर्थध्यान क्रियाचित्त

तथा उपेक्षा एव एकाग्रता नामक दो ध्यानाङ्गसहित पञ्चमध्यान क्रियाचित्त – इस प्रकार ये पाँचो रूपावचर क्रियाचित्त है।

इस तरह सर्वथा पन्द्रह रूपावचर कुशल, विपाक एव क्रियाचित्त समाप्त।

रूपावचर चित्त ध्यान-भेद से पाँच प्रकार के है। वे ही कुशल, विपाक एवं क्रिया-भेद से पन्द्रह प्रकार के हो जाते है।

रूपावचरक्रियाचित्त

२० **ज्ञान-सम्प्रयुक्तता** – ये पन्द्रह रूपावचर चित्त प्रज्ञा चैतसिक से सम्प्रयुक्त होने के कारण ज्ञान-सम्प्रयुक्त ही होते है[1]।

२१ **विशेष**—इन पन्द्रह रूपावचर चित्तो मे प्रथमध्यान से चतुर्थध्यानपर्यन्त बारह चित्त सौमनस्यवेदना से सम्प्रयुक्त होते है। शेष (पञ्चमध्यान के) तीन चित्त उपेक्षावेदना से सम्प्रयुक्त होते है।

रूपावचरचित्त समाप्त।

---

* पण्णरस – स्या० ('ण्ण' सर्वत्र)।

१ द्र० – अभि० स० २ : ३१।

अरूपावचरसोभनचित्तानि (१२)

कुसलचित्तानि

२२ आकासानञ्चायतनकुसलचित्तं, विञ्ञाणञ्चायतनकुसलचित्तं, आकिञ्चञ्ञायतनकुसलचित्तं, नेवसञ्ञानासञ्ञायतनकुसलचित्तञ्चेति इमानि चत्तारि पि अरूपावचरकुसलचित्तानि नाम।

आकाशानन्त्यायतन कुशलचित्त, विज्ञानानन्त्यायतन कुशलचित्त, आकिञ्चन्यायतन कुशलचित्त एव नैवसञ्ज्ञानासञ्ज्ञायतन कुशलचित्त— इस प्रकार ये चारो अरूपावचर कुशलचित्त है[1]।

अरूपावचरकुसलचित्त

२२ आकासानञ्चायतनकुसलचित्तं – (आकास+आनञ्च+आयतन) नौ 'कसिण' (कृत्स्न)-धर्मो मे से किसी एक को उद्घाटित करने पर प्राप्त होनेवाली आकाशप्रज्ञप्ति ही 'आकाश' है[2]।

(आकाश के भेद 'रूपसङ्गहविभागो' नामक षष्ठ परिच्छेद मे तथा 'कसिण' धर्मो का स्वभाव 'कम्मट्ठानसङ्गहविभागो' नामक नवम परिच्छेद मे कहेंगे।)

आकाशप्रज्ञप्ति परमार्थ-धर्मो की तरह द्रव्यस्वभाव नही है। अत उसका 'उत्पाद' एव 'भङ्ग' से परिच्छेद नही होता। 'अनन्तो आकासो – अनन्ताकासो' (उत्पाद एव भङ्ग से अपरिच्छिन्न आकाश) – ऐसा विग्रह करने पर विशेषण के पूर्व मे रहने से 'अनन्ताकासो' यह रूप होना चाहिये। किन्तु 'अनन्त' इस विशेषण को पीछे (विशेषणोत्तरपदसमास) करने से व्याकरण के नियमानुसार 'आकासानन्त' – ऐसा रूप निष्पन्न होता है। 'आकासानन्तमेव आकासानञ्च' अनन्त आकाश ही आकाशानन्त्य है। 'आयतन' शब्द का अर्थ आधार है। उपर्युक्त आकाशप्रज्ञप्ति ही आलम्बन करनेवाले ध्यान-चित्त की आधार होने के कारण 'आयतन' होती है। अत 'आकासानञ्च च त आयतन चाति आकासानञ्चायतन' अर्थात् जो आकाशानन्त्य 'आयतन' भी है, उसे 'आकाशानन्त्यायतन' कहते है। इस प्रकार उपर्युक्त शब्द की निष्पत्ति होती है।

उपर्युक्त कथन के अनुसार 'आकाशानन्त्यायतन' शब्द के द्वारा आकाशप्रज्ञप्ति का ही ग्रहण होता है, ध्यान एव सम्प्रयुक्त धर्मो का नही। स्थानोपचार एव कारणोपचार

१- "चत्वार्यारूप्यध्यानानि।" – अभि० मृ०, पृ० ६४।
"विज्ञानानन्त्यमाकाशानन्त्यमाकिञ्चनाह्वयम्।
तथा प्रयोगान्मान्द्यात्तु, न सज्ञा नाप्यसज्ञकम्॥"–अभि० को० ८. ४, पृ० २२२।

२. तु० – विभा०, पृ० ७३, प० दी०, पृ० ५२, "रूपसज्ञाना समतिक्रमात् पश्यन्त्यनन्तमवकाशमित्याकाशानन्त्यायतनसमापत्तिमवतरति, आकाशानन्त्यायतनसुप्रतिष्ठित. साक्षात्कुर्वन्निम मार्गमुपसम्पादयति आकाशानन्त्यायतनसमाधिम्।"– अभि० मृ०, पृ० ६०।

से उपर्युक्त शब्द द्वारा सम्प्रयुक्त ध्यानों का ग्रहण किया जाता है। कारण (स्थान) – भूत आलम्बन के 'आकाशानन्त्यायतन' – इस नाम का आलम्बन करनेवाले (आलम्बनक) कार्यरूप (स्थानी) ससम्प्रयुक्त ध्यान में उपचार करके ससम्प्रयुक्त ध्यान को भी 'आकाशानन्त्यायतन' कहा जाता है।

अथवा 'आकासानञ्च आयतन यस्सा ति आकासानञ्चायतन' – इस प्रकार बहुव्रीहि समास करना चाहिये। अर्थात् जिस ससम्प्रयुक्त ध्यान का आकाशप्रज्ञप्ति आधार है, वह 'आकाशानन्त्यायतन' है।

'आकासानञ्चायतने पवत्त कुसलचित्त आकासानञ्चायतनकुसलचित्त' आकाशानन्त्यायतन में प्रवृत्त कुशलचित्त को 'आकाशानन्त्यायतन कुशलचित्त' कहते हैं[१]।

तात्पर्य यह है कि आकाशानन्त्यायतनचित्त आकाशप्रज्ञप्ति का आलम्बन करता है।

विञ्ञाणञ्चायतनकुसलचित्तं – (विञ्ञाण+आनञ्च+आयतन) आकाशानन्त्यायतन चित्त ही 'विज्ञान' है। इस चित्त को ही प्रथम आरूप्य-विज्ञान कहते हैं। यह प्रथम आरूप्य-विज्ञान अनन्त आकाशप्रज्ञप्ति का आलम्बन करता है। अत आलम्बन के 'अनन्त' इस नाम का विज्ञान में उपचार करके स्थानोपचार एव कारणोपचार से प्रथम आरूप्य-विज्ञान को भी 'अनन्त' कहते हैं।

योगी के द्वारा 'अनन्त विञ्ञाण, अनन्त विञ्ञाण' – इस प्रकार भावना करने से उस भावना के अनुसार पूर्वोक्त विज्ञान को 'अनन्त विञ्ञाण' कहा जाता है। यहाँ पर भी विशेषणोत्तरपदसमास करके 'अनन्त' इस विशेषण को पीछे रखने से 'विञ्ञाणानन्त' – यह शब्द निष्पन्न होता है। 'विञ्ञाणानन्तमेव विञ्ञाणानञ्च' अर्थात् अनन्त विज्ञान ही 'विज्ञानानन्त्य' है। यहाँ इस शब्द में मूर्धज णकार-उत्तरवर्त्ती 'आकार' को ह्रस्व करने तथा उसके अव्यवहित-उत्तरवर्त्ती 'नकार' का लोप करने से 'विञ्ञाणञ्च' – ऐसा रूप सिद्ध होता है। 'विञ्ञाणञ्च च त आयतन चा ति विञ्ञाणञ्चायतन, विञ्ञाणञ्चायतने पवत्त कुसलचित्त विञ्ञाणञ्चायतनकुसलचित्त' जो विज्ञानानन्त्य 'आयतन' भी है, उसे 'विज्ञानानन्त्यायतन' कहते है, विज्ञानानन्त्यायतन में प्रवृत्त कुशलचित्त 'विज्ञानानन्त्यायतन कुशलचित्त' है[२]।

उपर्युक्त व्याख्यान के अनुसार विज्ञानानन्त्यायतनचित्त प्रथम आरूप्य-विज्ञान का आलम्बन करता है – ऐसा जानना चाहिये।

आकिञ्चञ्ञायतनकुसलचित्तं – (आकिञ्चञ्ञ + आयतनं) 'नत्थि किञ्चन यस्सा ति अकिञ्चन' जिस प्रथम आरूप्य-विज्ञान का किञ्चित् (भङ्गमात्र) भी अवशिष्ट

१. तु० – विभा०, पृ० ७३; प० दी०, पृ० ५३; अट्ठ०, पृ० १६७।
२. द्र० – विभा०, पृ० ७३; प० दी०, पृ० ५३, अट्ठ०, पृ० १६७, तु० – "अनन्त विज्ञानमिति भावयन् विज्ञानानन्त्यायतनमवतीर्य पश्यन्नाकाशानन्त्यायतनदोष विज्ञानानन्त्यायतनसुप्रतिष्ठित. साक्षात्कुर्वन्निम मार्गमुपसम्पादयति विज्ञानानन्त्यायतनसमाधिम्।" – अभि० मृ०, पृ० ९६।

नहीं है, वह प्रथम आरूप्य-विज्ञान 'अकिञ्चन' है। 'अकिञ्चनस्स भावो आकिञ्चञ्ञं' अकिञ्चन के भाव को 'आकिञ्चन्य' कहते हैं।

यद्यपि यह चित्त उत्पाद-भङ्गात्मक है तथापि उत्पाद से लेकर भङ्गपर्यन्त स्वरूपतः यह किञ्चित् (कुछ) भी नहीं होता, अतएव इसे 'नत्थिभावपञ्ञत्ति' (नास्तिभावप्रज्ञप्ति) कहते हैं। यह 'नत्थिभाव' परमार्थ-धर्म न होकर 'अभाव-प्रज्ञप्ति-मात्र' होता है, अत इसे 'नत्थिभावपञ्ञत्ति' कहते हैं। उपर्युक्त विवेचन के अनुसार 'आकिञ्चन्य' शब्द से 'नास्तिभावप्रज्ञप्ति' का ही ग्रहण होता है। 'आकिञ्चञ्ञायतने पवत्त कुसलचित्त आकिञ्चञ्ञायतनकुसलचित्त' आकिञ्चन्यायतन में प्रवृत्त कुशलचित्त 'आकिञ्चन्यायतन कुशलचित्त' है। इस चित्त के द्वारा 'नास्तिभावप्रज्ञप्ति' (नत्थिभावपञ्ञत्ति) का आलम्बन किया जाता है—ऐसा समझना चाहिये[1]।

नेवसञ्ञानासञ्ञायतनकुसलचित्तं – (नेव+सञ्ञा+न+असञ्ञा+आयतन) 'नेव सञ्ञा च सा न असञ्ञा चा ति नेवसञ्ञानासञ्ञा' जो सज्ञा नहीं है और वह असज्ञा भी नहीं है (फिर भी कुछ है) उसे 'नैवसज्ञानासज्ञा' कहते हैं। यहाँ पर 'नैवसंज्ञानासज्ञा' के द्वारा 'सज्ञा'–चैतसिक का ग्रहण होता है। इस चतुर्थ आरूप्य-विज्ञान चित्त में होनेवाले सज्ञा-चैतसिक के अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण उसका अनित्य, अनात्म एव दु.ख लक्षणों से सम्मर्शन (विमर्श) नहीं किया जा सकता, और ऐसा करने पर भी उसके अनित्य-आदि स्वभाव ज्ञान में अवभासित नहीं हो पाते[2]। इस प्रकार अनित्य-आदि स्वभावों के भी अवभासित न होने से अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण 'नैवसज्ञा' कहा जाता है। उसके अत्यन्त सूक्ष्म होने पर भी परमार्थ रूप से सत्स्वभाव होने के कारण उसकी सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता, अत. 'न असज्ञा'—ऐसा कहा गया है; क्योंकि वह 'कुछ' तो है ही। जैसे—कोई भिक्षु अपने शिष्य के साथ किसी मार्ग से होकर जा रहा है। शिष्य आगे है, अत वह सामने पानी देखकर 'गुरु के उपानह (जूते) खराब न हो जायें'—इस बुद्धि से गुरु से कहता है कि 'आगे पानी है'। उसके इस वचन को सुनकर गुरु उससे स्नान करने के लिये वस्त्र मागते हैं। तब शिष्य कहता है कि 'पानी नहीं है'। शिष्य का दुबारा यह कहना कि 'पानी नहीं है' पानी की असत्ता का सूचक नहीं है। उसका आशय केवल इतना ही है कि स्नान करने योग्य पानी नहीं है, क्योंकि कुछ पानी तो अवश्य है ही[3]। इसी तरह दार्ष्टान्त में में भी, अनित्य-आदि लक्षण तक के भी अवभासित न होने से उस चित्त को 'नेवसञ्ञा'

---

१. द्र० – विभा०, पृ० ७३; प० दी०, पृ० ५३; अट्ठ०, पृ० १६८, तु०– "विज्ञानानन्त्यायतनगतिर्दु.खेति भावयति आकिञ्चन्यायतनगतिमवतरत्याकिञ्चन्यायतनसमापत्ति पश्यन् विज्ञानानन्त्यायतनदोषमाकिञ्चन्यायतनसुप्रतिष्ठित. साक्षात्कुर्वन्निम मार्गमुपसम्पादयत्याकिञ्चन्यायतनसमाधिम्।" – अभि० मू०, पृ० ६६।

२. अट्ठ०, पृ० १६६, विभा०, पृ० ७४; प० दी०, पृ० ५४।

३. उपमा के लिये द्र० – अट्ठ०, पृ० १७०।

अरूपावचरविपाकचित्तानि

२३. आकासानञ्चायतनविपाकचित्तं, विञ्ञाणञ्चायतनविपाकचित्तं, आकिञ्चञ्ञायतनविपाकचित्तं, नेवसञ्ञानासञ्ञायतनविपाकचित्तञ्चेति इमानि चत्तारि पि अरूपावचरविपाकचित्तानि नाम ।

आकाशानन्त्यायतन विपाकचित्त, विज्ञानानन्त्यायतन विपाकचित्त, आकिञ्चन्यायतन विपाकचित्त एवं नैवसञ्ज्ञानासंज्ञायतन विपाकचित्त – इस प्रकार ये चारों अरूपावचर विपाकचित्त हैं ।

(नैवसंज्ञा) कहा गया; किन्तु वह कुछ तो अवश्य है, अतः सर्वथा निःस्वभाव न होने के कारण उसे 'नासञ्ञा' (नासज्ञा) भी कहा गया है ।

इस चतुर्थ आरूप्य-विज्ञान मे न केवल 'सज्ञा'-चैतसिक ही अत्यन्त सूक्ष्म रूप से विद्यमान है; अपितु स्पर्श, वेदना-आदि चैतसिक भी अत्यन्त सूक्ष्म रूप में सम्प्रयुक्त हैं, अतः इसे 'नेवफस्सनाफस्स' (नैवस्पर्शनास्पर्श) या 'नेववेदनानावेदनाचित्त' (नैव-वेदनानावेदनाचित्त) आदि भी कहा जा सकता है, तथापि उपलक्षण से यहाँ केवल 'संज्ञा'-चैतसिक ही कहा गया है[1] । इसमे 'आयतन' शब्द का प्रयोग पहले के आयतन शब्दो की तरह आधार अर्थ मे नही है, अपितु निस्सयपच्चय[2] (निश्रय-प्रत्यय) से सम्प्रयुक्त धर्मों के निश्रय (आधार) अर्थ मे है । अतएव 'नेव सञ्ञा नासञ्ञा च सा आयतनञ्चा ति नेवसञ्ञानासञ्ञायतन, नेवसञ्ञानासञ्ञायतनेन सम्पयुत्त कुसलचित्त नेवसञ्ञा-नासञ्ञायतनकुसलचित्त' – ऐसा विग्रह किया गया है । अर्थात् जो न 'संज्ञा' है, न 'असज्ञा' है और सम्प्रयुक्त धर्मों का आधार है, वह 'नैवसज्ञानासज्ञायतन' है; उससे सम्प्रयुक्त कुशलचित्त 'नैवसज्ञानासज्ञायतन- कुशलचित्त' है[3] । उपर्युक्त शब्दार्थ के अनुसार नैवसज्ञानासज्ञायतनचित्त के द्वारा 'तृतीय आरूप्य-विज्ञान का आलम्बन किया जाना' सुस्पष्ट नही हो पाया है । यह स्पष्टीकरण नवम परिच्छेद[4] में किया जायेगा ।

---

१. प० दी०, पृ० ५४ ।

२. द्र० – अभि० स०, अट्ठ० परि०, 'पट्ठाननयो' ।

३. तु० – विभा०, पृ० ७४; प० दी०, पृ० ५४; अट्ठ०, पृ० १६६ । "संज्ञायतनं रोग इति असज्ञायतन मोह इत्येव भावयन् नैवसज्ञानासज्ञायतनसमापत्तिमवतीर्य पश्यन्ना-किञ्चन्यायतनदोष नैवसज्ञानासज्ञायतनसुप्रतिष्ठित साक्षात्कुर्वन्निमं मार्गमुप-सम्पादयति नैवसज्ञानासज्ञायतनसमाधिमिति नैवसज्ञानासज्ञायतनध्यानम् ।"– अभि० मृ०, पृ० ६६ ।

४. द्र० – अभि० स० ६ : २९ ।

अरूपावचरक्रियाचित्तानि

२४. आकासानञ्चायतनक्रियाचित्तं, विञ्ञाणञ्चायतनक्रियाचित्तं, आकिञ्चञ्ञायतनक्रियाचित्तं, नेवसञ्ञानासञ्ञायतनक्रियाचित्तञ्चेति इमानि चत्तारि पि अरूपावचरक्रियाचित्तानि नाम।

इच्चेवं सब्बथा पि द्वादस अरूपावचरकुसल-विपाक-क्रियाचित्तानि समत्तानि।

२५. आलम्बनप्पभेदेन* चतुधारुप्पमानसं।
पुञ्ञपाकक्रियाभेदा पुन द्वादसधा ठितं॥

आकाशानन्त्यायतन क्रियाचित्त, विज्ञानानन्त्यायतन क्रियाचित्त, आकिञ्चन्यायतन क्रियाचित्त एव नैवसञ्ज्ञानासञ्ज्ञायतन क्रियाचित्त – इस प्रकार चारों अरूपावचर क्रियाचित्त है।

इस तरह सर्वथा बारह अरूपावचर कुशल, विपाक एवं क्रियाचित्त समाप्त।

अरूपावचर चित्त आलम्बन के भेद से चार प्रकार के होते हैं। वे ही कुशल, विपाक एवं क्रिया के भेद से बारह प्रकार से (विभक्त होकर) स्थित है।

---

२५ **आलम्बनप्पभेदेन** – आलम्बन दो प्रकार के होते हैं: १ आलम्बितव्य, २. अतिक्रमितव्य। आकाशानन्त्यायतन-आदि अरूपावचर चित्तो मे इन द्विविध आलम्बनो के क्रम निम्न प्रकार से है –

चित्त	आलम्बितव्य	अतिक्रमितव्य
१. आकाशानन्त्यायतन	आकाशप्रज्ञप्ति	'कसिण'-प्रज्ञप्ति
२. विज्ञानानन्त्यायतन	प्रथम आरूप्य-विज्ञान	आकाशप्रज्ञप्ति
३. आकिञ्चन्यायतन	नास्तिभावप्रज्ञप्ति	प्रथम आरूप्य-विज्ञान
४. नैवसंज्ञानासज्ञायतन	तृतीय आरूप्य-विज्ञान	नास्तिभावप्रज्ञप्ति

आलम्बन की अल्पता – रूपावचर ध्यानचित्तो मे प्रत्येक के दस 'कसिण'[1] एवं दस 'कोट्ठास'[1] आदि अनेक आलम्बन होते हैं, किन्तु अरूपावचर ध्यानचित्तों में ऐसा नहीं है। इनमे एक ध्यान का एक ही आलम्बन होता है।

प्रश्न – ऐसा क्यो होता है?

उत्तर – रूपावचरध्यान अङ्गातिक्रमणध्यान होते है तथा अरूपावचरध्यान आलम्बनातिक्रमणध्यान होते है; अत. रूपावचरध्यानो मे अनेक आलम्बनो के होने पर

---

* ०पभेदेन – म० (क) (सन्धि सर्वत्र नही); आलम्बण० – रो०, म० (ख) (सर्वत्र)।

१. द्र० – अभि० स० ९ : ६; ९ : ८।

भी अरूपावचर ध्यानो मे प्रत्येक का एक एक आलम्बन ही होता है। रूपावचर ध्यानो मे नीचे नीचे के ध्यानाङ्गो का प्रहाण करने पर ही ऊपर ऊपर के ध्यानो की प्राप्ति होती है, इसलिये प्रथम ध्यान मे पाँच अङ्ग, द्वितीय ध्यान मे चार अङ्ग – इस प्रकार ध्यानाङ्ग कम होते जाते हैं। अङ्गो का इस प्रकार अतिक्रमण होते रहने से रूपावचर ध्यानो को 'अङ्गातिक्रमणध्यान' कहा जाता है। रूपावचर ध्यानो मे अङ्गो का इस प्रकार अतिक्रमण होता रहता है, अत उनमे आलम्बनो की अधिकता होने पर भी कोई बाधा नही होती।

सब अरूपावचर ध्यानो मे उपेक्षा एव एकाग्रता – ये दो ध्यानाङ्ग ही सर्वदा होते हैं; अत उनका प्रहाण आवश्यक नही होता। तथा नीचे नीचे के ध्यानों के आलम्बनो का अतिक्रमण करने से ही ऊपर ऊपर के ध्यानो की प्राप्ति होती है। इसलिये रूपावचर पञ्चम ध्यान की आलम्बनभूत कसिण-प्रज्ञप्ति का आलम्बन न करके उसका अतिक्रमण करने से आकाशानन्त्यायतन ध्यान की प्राप्ति होती है। इसी तरह आकाशानान्त्यायतन ध्यान की आलम्बनभूत आकाशप्रज्ञप्ति का अतिक्रमण करने से विज्ञानानन्त्यायतन ध्यान की प्राप्ति होती है। इसी तरह अन्य अरूप-ध्यानचित्तो को भी समझना चाहिये। आलम्बनो का इस तरह अतिक्रमण होते रहने से अरूपावचर ध्यानो को 'आलम्बनातिक्रमणध्यान' कहा जाता है। इन अरूपसमापत्तियो मे नीचे नीचे के ध्यानो के आलम्बन का अतिक्रमण करने से ऊपर ऊपर के ध्यानो की प्राप्ति होती है।

"आलम्बनातिक्कमतो चतस्सो पि भवन्तिमा।
अङ्गातिक्कममेतास न इच्छन्ति विभाविनो[1]"॥

ध्यान के दो भेद – ये रूपावचर एव अरूपावचर ध्यान दो प्रकार के होते हैं[2]: १. शमथानुयोगप्रतिलब्ध ध्यान एव २. मार्गसिद्ध ध्यान। इनमे से 'कम्मट्ठान[3]' की भावना करने से प्राप्त होनेवाले ध्यानो को 'शमथानुयोगप्रतिलब्ध ध्यान' कहते है, तथा जिस पुद्गल ने अपने पूर्व भव मे यह प्रार्थना की है कि 'मै आगामी (अनागत) भव मे आठ समापत्तियो का लाभी होऊँ' और उस पुद्गल को यदि अपने वर्तमान भव (जन्म) मे मार्गज्ञान होता है तो ऐसे पुद्गल को ये रूपावचर एव अरूपावचर ध्यान बिना भावना के ही अपने आप प्राप्त हो जाते हैं। मार्ग के द्वारा प्राप्त इस प्रकार के ध्यानों को 'मार्गसिद्ध' ध्यान कहते है।

कुछ विद्वानो का कहना है कि 'उपपत्तिसिद्ध ध्यान' नामक एक तीसरा प्रकार और होता है। जैसे – किसी पुद्गल ने काम-भूमि मे किसी ध्यान की प्राप्ति की और इस ध्यान की प्राप्ति के अनन्तर उसकी च्युति (मरण) हो गयी तो उसका उपलब्ध ध्यान अन्तर्हित हो जाता है, किन्तु उस ध्यान के अन्तर्हित हो जाने पर भी जब उसकी ब्रह्मलोक (रूप-अरूप लोक) मे पुन प्रतिसन्धि (जन्म-ग्रहण) होती है तब उसे

---

१. अट्ठ०, पृ० १७१, विभा०, पृ० ७४। २. विभा०, पृ० ७२; प० दी०, पृ० ४९।
३. 'कम्मट्ठान' ४० होते हैं। द्र० – नव० परि० 'कम्मट्ठानसमुद्देसो'।

लोकुत्तरसोभनचित्तानि (८)

कुसलचित्तानि

२६ सोतापत्तिमग्गचित्तं, सकदागामिमग्गचित्तं, अनागामिमग्गचित्तं, अरहत्तमग्गचित्तञ्चेति इमानि चत्तारि पि लोकुत्तरकुसलचित्तानि नाम ।

स्रोतापत्ति मार्गचित्त, सकृदागामी मार्गचित्त, अनागामी मार्गचित्त एवं अर्हत् मार्गचित्त – इस प्रकार ये चारो लोकोत्तर कुशलचित्त है ।

अन्तर्हित ध्यान की पुन प्राप्ति हो सकती है । ब्रह्मलोक मे इस तरह बिना भावना के पुन. प्राप्त ध्यान को 'उपपत्तिसिद्ध ध्यान' कहते है[1] ।

इन अरूपावचर ध्यानो मे कौन वेदना सम्प्रयुक्त होती है – इसका यद्यपि सुस्पष्ट उल्लेख नही किया गया है, तथापि ये अरूपावचर ध्यान, क्योकि पञ्चमध्यान में सङ्गृहीत होते है, अत', रूपावचर पञ्चम ध्यान की तरह इनमे भी उपेक्षावेदना ही होती है – ऐसा समझना चाहिये । इनके सम्प्रयुक्त-विप्रयुक्त-नय एव संसस्कारिक-असंस्कारिक-नय का स्पष्ट उल्लेख न होने से रूपावचर ध्यान की तरह ही जानना चाहिये ।

महग्गत चित्त – रूपावचर १५ एव अरूपावचर १२, कुल २७ चित्त 'महग्गत चित्त' भी कहे जाते है[2] ।

लौकिक चित्त – कामचित्त ५४ एव महग्गत २७, कुल ८१ चित्त 'लौकिक चित्त' भी कहे जाते है ।

जाति-भेद से इन ८१ लौकिक चित्तो मे अकुशल १२, कुशल, १७, विपाक १२ तथा क्रिया चित्त २० होते है ।

[इन लौकिक चित्तो मे सौमनस्य, उपेक्षा, दौर्मनस्य, सुख, दु'ख, असस्कारिक, ससंस्कारिक, सम्प्रयुक्त, विप्रयुक्त-आदि को सङ्ख्या के साथ जानने का प्रयास करना चाहिये ।]

अरूपावचर चित्त समाप्त ।

लोकोत्तर कुशलचित्त

२६. **सोतापत्तिमग्गचित्तं** – (सोत+आपत्ति+मग्ग+चित्त) 'सवति सन्दतीति सोतो' जो स्यन्दित (प्रस्रवित) होता है, वह स्रोतस् है । 'सोतो वियाति सोतो' गङ्गा-आदि के

---

१. तु० – प० दी०, पृ० ४६ ।

२. "विनीवरणादिताय महत्त गतानि महन्तेहि वा झायीहि गतानि पत्तानीति महग्गतानि ।" – विभा०, पृ० ८६ ।

प्रवाह (धारा) को 'स्रोतस्' कहते हैं। उस प्रवाह के समान होने से 'आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग' को भी 'स्रोतस्' कहा जाता है[1]। जैसे – गङ्गा-आदि महानदियों की धारा हिमालय से उद्भूत होकर मार्ग में बिना रुके वेग से समुद्र की ही ओर अग्रेसर होती हुई अन्त में समुद्र में ही मिल जाती है, उसी तरह 'सम्यग्दृष्टि'-आदि आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग अपने प्रथम उत्पाद-क्षण से लेकर अप्रतिहत गति से वेगपूर्वक अग्रेसर होते हुए अन्त में निर्वाणरूपी समुद्र तक पहुँच जाते हैं।

यद्यपि साधारण पृथग्जनों की सन्तान में भी कभी-कभी लौकिक कुशल-धर्मों से सम्प्रयुक्त मार्गाङ्ग उत्पन्न हो जाते हैं, तथापि ये मार्गाङ्ग-धर्म क्लेश-धर्मों का अशेष प्रहाण नहीं कर पाते, अतः ये सर्वदा मुख्य रूप से अग्रेसर होते ही रहेंगे – ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस भव में अथवा इस क्षण में मार्गाङ्ग-धर्मों के उत्पन्न होने पर यद्यपि चित्त शीलवान् (चारित्र्ययुक्त) हो सकता है तथापि अपर-भव (द्वितीय जन्म) में अथवा दूसरे क्षणों में वह दुःशील (दुश्चरित्र) भी हो सकता है। प्रायः यह देखने में भी आता है कि कोई व्यक्ति वर्तमान भव के बाल्यकाल में कुशल मार्गाङ्ग-धर्मों के उत्पादवश सुन्दर शीलयुक्त होता है फिर भी वह बाद के जीवन में किन्हीं कारणों से कुशल मार्गाङ्गों के नष्ट हो जाने से दुःशील हो जाता है। लोकोत्तर मार्गाङ्ग-धर्म ऐसे नहीं होते। वे एक बार उत्पन्न हो जाने पर निर्वाण को बिना प्राप्त किये बीच में स्वभाव से च्युत नहीं होते, क्योंकि ये अपने उत्पाद के प्रथम क्षण में ही क्लेश-धर्मों का अशेष प्रहाण कर देते हैं। अतः निर्वाण की ओर अग्रेसर होते रहने की इनकी गति में कोई बाधा उपस्थित नहीं हो पाती[2]। यथा –

"सेय्यथापि भिक्खवे! गङ्गा नदी समुद्दनिन्ना समुद्दपोणा समुद्दपब्भारा .. एवमेव खो भिक्खवे! भिक्खु अरिय अट्ठङ्गिक मग्ग भावेन्तो अरिय अट्ठङ्गिक मग्ग बहुलीकरोन्तो निब्बाननिन्नो होति निब्बानपोणो निब्बानपब्भारो[3]।"

'आदितो पज्जन आपत्ति' प्रथम प्राप्ति 'आपत्ति' है। यहाँ पर 'आ' शब्द 'आदि' के अर्थ में प्रयुक्त है। सकृदागामी मार्ग आदि मार्गों से इस (स्रोतापत्ति) मार्ग की प्राप्ति पहले (प्रथम) होती है। 'सोतस्स आपत्ति सोतापत्ति' अर्थात् स्रोतस् की प्रथम प्राप्ति। 'सोतापत्तिया अधिगतो मग्गो सोतापत्तिमग्गो' स्रोतापत्ति से अधिगत मार्ग 'स्रोतापत्ति मार्ग' है। 'सोतापत्तिमग्गेन सम्पयुत्त चित्त सोतापत्तिमग्गचित्त' स्रोतापत्ति मार्ग से सम्प्रयुक्त चित्त 'स्रोतापत्ति मार्गचित्त' है। इस तरह स्रोतापत्ति मार्गचित्त का अर्थ हुआ – 'स्रोतस्' की तरह आर्य अष्टाङ्गों की प्रथम प्राप्ति से अधिगत मार्ग से सम्प्रयुक्त चित्त'।

---

१. प० दी०, पृ० ५५, तु० – विभा०, पृ० ७५।
२. प० दी०, पृ० ५५।
३. स० नि०, चतु० भा०, पृ० ३४।

यहाँ पर 'स्रोतस्' एव 'मार्ग' दोनो का अर्थ 'आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग' ही है, तथापि अभेद मे भेदोपचार करके 'स्रोतापत्ति मार्ग' – ऐसा कहा जाता है[1]।

सकदागामिमग्गचित्त – 'सकि आगामी सकदागामी, इम लोक सकि आगच्छति सीलेना ति सकदागामी' इस लोक अर्थात् काम-भूमि मे अभ्यासवश (बार बार उत्पन्न होते रहने से आदत पड जाने के कारण) जो एक बार आता है उसे 'सकृदागामी' कहते है। इस काम-भूमि मे एक बार आने से तात्पर्य ब्रह्मलोक-आदि लोको से आना नही, अपितु काम-भूमि से ही एक बार पुन काम-भूमि मे प्रतिसन्धि लेने से है। 'परमत्थदीपनी' मे ब्रह्मलोक से भी पुन एक बार आने के सम्बन्ध मे विस्तारपूर्वक लिखा हुआ है[2]।

'सकदागामिनो मग्गो सकदागामिमग्गो, तेन सम्पयुत्त चित्त सकदागामिमग्गचित्त' सकृदागामी पुद्गल के मार्ग को 'सकृदागामी मार्ग' कहते है, उससे सम्प्रयुक्त चित्त 'सकृदागामी मार्गचित्त' है[3]।

अनागामिमग्गचित्त – 'इम लोक न आगच्छतीति अनागामी' इस काम-भूमि मे पुन· प्रतिसन्धि न लेनेवाले पुद्गल को 'अनागामी' कहते है। अनागामी पुद्गल का कामराग-अनुशय एव भवराग-अनुशय सर्वथा प्रहीण हो चुका रहता है, अत वह काम-भूमि मे पुन प्रतिसन्धि नही लेता। काम-भूमि से च्युत होने के अनन्तर यदि वह 'अर्हत्' नही होता है तो ब्रह्मलोक मे प्रतिसन्धि लेता है।

---

१ द्र० – प० दी०, पृ० ५५, विभा०, पृ० ७५।
तु० – "अष्टाशीतिसयोजनप्रहाणे पुद्गल अनास्रवशीलकुशलमूलसिद्ध इत्युच्यते स्रोतआपन्न। अष्टाङ्गिकमार्गजलस्रोतसि निर्वाणाभिमुखे मध्यचारीति स्रोतआपन्न।" – अभि० मृ०, पृ० ८५।
"स्रोतापत्तिफलप्रतिपन्नक कतम ? निर्वेधभागीयेषु पञ्चदशसु दर्शनमार्गचित्त-क्षणेषु य पुद्गल। स्रोतआपन्न कतम ? षोडशे दर्शनमार्गचित्तक्षणे य पुद्गल.।" – अभि० सम्०, पृ० ८८।
"अक्षीणभावनाहेय, फलस्थ सप्तकृत्पर।
प्रकार-त्रि-चतुर्मुक्तो, द्वित्रिजन्मा कुलङ्कुल॥" – अभि०को० ६ ३४, पृ० १७३।

२. द्र० – प० दी०, पृ० ५६।

३. प० दी०, पृ० ५६, विभा०, पृ० ७५।
तु० – "प्रहीणषड्विधसयोजन उच्यते सकृदागामी। कामदेवलोकाद् मनुष्येषूपपद्य तत परिनिर्वातीत्युच्यते एकवीचिश्च सकृदागामी च।" – अभि० मृ०, पृ० ८५।
"सकृदागामिफलप्रतिपन्नक कतम ? भावनामार्गे कामावचराणा पञ्चप्रकाराणा क्लेशाना प्रहाणमार्गे य पुद्गल। सकृदागामी कतम ? भावनामार्गे कामावचरस्य षष्ठस्य क्लेशप्रकारस्य प्रहाणमार्गे य पुद्गल।" – अभि० सम्०, पृ० ८९।
"यावत्पञ्चप्रकारघ्नो, द्वितीये प्रतिपन्नक।
क्षीणषष्ठप्रकारस्तु, सकृदागाम्यसौ भवेत्॥" – अभि० को० ६ : ३५, पृ० १७४।

'अनागामिनो मग्गो अनागामिमग्गो, तेन सम्पयुत्त चित्त अनागामिमग्गचित्त' अनागामी पुद्गल के मार्ग को 'अनागामी मार्ग' कहते है, उससे सम्प्रयुक्त चित्त 'अनागामी मार्गचित्त' है[1]।

अरहत्तमग्गचित्तं – 'अरहतो भावो अरहत्त' अर्हत् के भाव को 'अर्हत्व' कहते है। यह अर्हत्-फलचित्त है। 'अरहत्तस्स मग्गो अरहत्तमग्गो' अर्थात उस अर्हत्-फलचित्त का मार्ग[2]। यहाँ कार्य से कारण को विशेषित किया गया है। 'कार्य' है अर्हत्-फलचित्त, तथा कारण है 'अर्हत्-मार्गचित्त। लोक मे, जैसे – 'कार्य' पुत्र के द्वारा 'कारण' माता को विशेषित करके 'तिष्य की माता' – ऐसा कहा जाता है।

---

१. तु० – प० दी०, पृ० ५६–५७, विभा०, पृ० ७५।

"रूपारूप्यधातुदु खप्रहाणात् (तत एव) लभते परिनिर्वाणं न चोपपद्यतेऽधोलोके इत्युच्यतेऽनागामी।" – अभि० मृ०, पृ० ८६।

"अनागामिफलप्रतिपन्नक. कतम ? भावनामार्गे कामावचराणा सप्तमाष्टमाना क्लेशप्रकाराणा प्रहाणमार्गे य पुद्गल। अनागामी पुद्गल कतम ? भावनामार्गे कामावचरस्य नवमस्य क्लेशप्रकारस्य प्रहाणमार्गे य पुद्गल।" – अभि० समु०, पृ० ८९।

"क्षीण-सप्ताष्टदोषाश एकजन्मैकवीचिक।
प्रतिपन्नकस्तृतीये सोऽनागामी नवक्षयात्॥"
–अभि० को० ६ ३६, पृ० १७४।

२. प० दी०, पृ० ५९, तु० – विभा०, पृ० ७५।

"एतस्मिन् काले अर्हत्फल भवत्यनुत्तरम्। अपि सर्वैराग्यानन्तर्यमार्गं पश्चिमशैक्षचित्तम्। इति वज्रोपमसमाधिक्रमेण प्रथममशैक्षस्य क्षयज्ञान जायते – 'प्रहीणा मे जाति, प्राप्त मयार्हत्त्वम्, क्षीणा मे सर्वसयोजनक्लेशोपक्लेशा' – इत्युच्यते अर्हन्। सर्वदेवमनुष्येषु पूजार्ह इत्युच्यते अर्हन्।" – अभि० मृ०, पृ० ८६।

"अर्हत्त्वफलप्रतिपन्नक कतम ? यावद्भावाग्रिकाणामष्टप्रकाराणा क्लेशानां प्रहाणमार्गे य पुद्गल। अर्हन् कतम ? भावाग्रिकस्य नवमस्य क्लेशप्रकारस्य प्रहाणमार्गे य पुद्गल।" – अभि० समु०, पृ० ८९-९०।

"आभवाग्राष्टभागक्षिद्, अर्हत्त्वे प्रतिपन्नक॥
आनन्तर्येऽपि नवमे, स तु वज्रोपम सह।
तत्क्षयाप्त्या क्षयज्ञान, अशैक्षोऽर्हन्नसौ तदा॥"
–अभि० को० ६ ४४–४५, पृ० १७७।

"भवाग्राष्टाशहा यावदर्हत्त्वप्रतिपन्नक॥
यश्चानन्तर्यमार्गेऽन्त्ये, वज्रौपम्याह्वये स्थित।
तत्फलार्थं क्षयज्ञान, तदेकालम्बन न वा॥
तदवाप्तेरशैक्षोऽसावर्हस्त्रैलोक्यसत्कृत.।
सर्वक्लेशविसयुक्त, शिक्षात्रितयपारग॥'
–अभि० दी० ४३२-३४ का०, पृ० ३४९-५०।

लोकुत्तरविपाकचित्तानि

२७ सोतापत्तिफलचित्तं, सकदागामिफलचित्तं, अनागामिफलचित्तं, अरहत्तफलचित्तञ्चेति इमानि चत्तारि पि लोकुत्तरविपाकचित्तानि नाम।

इच्चेवं सब्बथा पि अट्ठ लोकुत्तरकुसलविपाकचित्तानि समत्तानि।

स्रोतापत्ति फलचित्त, सकृदागामी फलचित्त, अनागामी फलचित्त, एव अर्हत्-फलचित्त—इस प्रकार ये चारो लोकोत्तर विपाकचित्त हैं।

इस तरह सर्वथा आठ लोकोत्तर-कुशल एव लोकोत्तर-विपाक चित्त समाप्त।

'अरहत्तमग्गेन सम्पयुत्त चित्त अरहत्तमग्गचित्त' अर्हत् पुद्गल के मार्ग से सम्प्रयुक्त चित्त अर्हत्-मार्गचित्त है।[1]

लोकोत्तर विपाकचित्त

२७ **सोतापत्तिफलचित्तं** – यहाँ पर 'फल' शब्द से विपाकपर्यापन्न अष्टाङ्गिक मार्ग का ग्रहण होता है[2], अत 'सोतापत्तिया अधिगत फल सोतापत्तिफल, तेन सम्पयुत्त चित्त सोतापत्तिफलचित्त' – ऐसा विग्रह होता है।

सकृदागामी फल-आदि फलचित्तो का विग्रह भी ऐसे ही समझना चाहिये[3]।

विपाकचित्तों की असमानता – रूपावचर, अरूपावचर एव लोकोत्तर कुशलचित्त अपने समान ही फल देते हैं। अत कुशलचित्तो एव विपाकचित्तो की सङ्ख्या समान होती है। कामावचर कुशलचित्त 'अहेतुक कुशलविपाक' नामक असदृश एव 'सहेतुक महाविपाक' नामक सदृश फल देते हैं।

प्रश्न – जब रूपावचर, अरूपावचर एव लोकोत्तर कुशलचित्त समान फल देते हैं, तो क्यो कामावचर कुशलचित्त समान एव असमान फल देते हैं?

उत्तर – यदि कोई अन्तराय उपस्थित नही होता है तो रूपावचर एव अरूपावचर चित्तो का फल अनन्तर भव मे नियत होता है, अत वे सदृश फल देते हैं। लोकोत्तर कुशलचित्त भी अपने उत्पाद के अव्यवहित समनन्तर (द्वितीय क्षण मे ही) नियत फल देते हैं, अत. इनका विपाक भी सदृश होता है। कामावचर कुशलचित्तो मे ऐसा नही होता। वे प्रत्युत्पन्न भव मे दृष्टधर्म-फल[4] तथा अनन्तर भव मे उपपद्यवेदनीय[4], अपरपर्यायवेदनीय[4]-आदि नानाविध फल देते हैं, अत वे समान एव असमान विपाक देनेवाले होते हैं। 'सङ्खेपवण्णना' मे भी कहा गया है, यथा–

---

१ विस्तार के लिये द्र० – प० दी० 'लोकोत्तरचित्त' पृ० ५९, तु० – विभा०, पृ० ७५।
२ "फल ति विपाकभूतो अट्ठङ्गिकमग्गो।" – प० दी०, पृ० ६०।
३. विभा०, पृ० ७६, प० दी०, पृ० ५९–६०।
४. द्र० – अभि० स० ५.४३।

२८ चतुमग्गप्पभेदेन चतुधा कुसलं तथा।
पाकं तस्स फलत्ता ति अट्ठधानुत्तरं मतं ॥

चार मार्गों के भेद से चतुर्विध कुशल तथा उनके (मार्गों के) फलों के भेद से चतुर्विध विपाक – इस प्रकार अनुत्तर[1] (लोकोत्तर) चित्त आठ प्रकार के माने गये हैं।

"रूपावचरादिकुसल पन अनन्तराये सति अनन्तरभवे विपाककालनियतत्ता सदिसविपाकमेव देति, लोकुत्तरकुसल पन अत्तनो अनन्तरं विपाकदानकालनियतत्ता सदिसविपाकमेव देति, अथवा कामावचरकुसलस्स नानारम्मणत्ता विपाक पि कम्म-निमित्तादिवसेन नानारम्मण होति। तस्मा सदिसासदिस विपाक देति[2]।"

२८ **चतुमग्गप्पभेदेन** – आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग के अन्तर्गत परिगणित सम्यग्दृष्टि, सम्यग्व्यायाम, सम्यक्स्मृति एव सम्यक्समाधि – ये चार क्रमश प्रज्ञेन्द्रिय, वीर्येन्द्रिय, स्मृतीन्द्रिय एव समाधीन्द्रिय हैं। ये इन्द्रियाँ स्रोतापत्ति मार्ग के क्षण मे मन्द, सकृदागामी मार्ग के क्षण मे तीक्ष्ण, अनागामी मार्ग के क्षण मे तीक्ष्णतर तथा अर्हत् मार्ग के क्षण मे तीक्ष्णतम होती हैं। अत मार्ग के एक होने पर भी इन्द्रियों के मन्द, तीक्ष्ण-आदि तर-तम भेद से वह चतुर्विध होता है[3]।

कुशल मार्गचित्त के चतुर्विध होने से उनके विपाक फलचित्त भी चतुर्विध होते हैं।

लोकोत्तर मे क्रिया का अभाव—

प्रश्न – लोकोत्तर चित्तो मे क्रियाचित्त क्यो नही होते ?

उत्तर – मार्गचित्तो का स्वभाव से एक 'वार'[4] (एकचित्तक्षणमात्र) होने से लोकोत्तर चित्तो मे क्रियाचित्त नही होते।

प्रश्न – मार्गचित्तो का क्यो एक 'वार' (एकचित्तक्षणिकभाव) ही होता है ?

उत्तर – मार्गचित्त अपने एक 'वार' (उत्पादक्षणमात्र) से ही सम्बद्ध क्लेश-धर्मों का प्रहाणकृत्य सम्पन्न कर देते है, अत. इनका एक 'वार' ही होता है।

प्रश्न – मार्गचित्तो का एक 'वार' होने से क्रियाचित्तो के न होने का क्या सम्बन्ध है ?

---

१ "नत्थि अत्तनो उत्तरं अधिक एतस्सा ति अनुत्तर।" – प० दी०, पृ० ६१।
"अनुत्तरं अत्तनो उत्तरिताभावेन अनुत्तरसङ्खात लोकुत्तरं चित्त अट्ठधा मतं ति योजना।" – विभा०, पृ० ७६।

२ सङ्खेप०, पृ० २२३।

३. तु० – प० दी०, पृ० ६१; विभा०, पृ० ७६।

४ 'Turn' द्र० – पा० टे० सो० डि०, पृ० ६०६।

उत्तर – पूर्वकथित कामावचर, रूपावचर एव अरूपावचर चित्तो मे से पृथग्जन[1] एव शैक्ष्य[2] पुद्गलो की सन्तान मे होनेवाले कुशल-चित्त ही जब अर्हत् की सन्तान मे होते है तो 'क्रियाचित्त' कहलाते है। इन लोकोत्तर चित्तो मे से मार्ग कुशलचित्त यदि अर्हत् की सन्तान मे पुन उत्पन्न होते तो क्रियाचित्त कहलाते, किन्तु मार्गचित्तो का एक 'वार' मात्र होने के कारण अर्हत् की सन्तान मे इनका पुन उत्पाद नही होता, अत इनका 'क्रिया' नाम नही होता। यही मार्गचित्तो का एक 'वार' होने से क्रियाचित्तो के न होने का सम्बन्ध है[3]।

सर्वप्रथम महाक्रिया एव महग्गत क्रियाचित्तो के कृत्य पर विचार करना चाहिये।

पृथग्जन एव शैक्ष्य पुद्गल जिस तरह दान (जलदान, पुष्पदान-आदि), शील, भावना-आदि कर्म करते है उसी तरह अर्हत् जन भी करते है। ध्यानलाभी पृथग्-जन एव शैक्ष्य पुद्गल जिस तरह ध्यानसमापत्ति का आवर्जन करते है उसी तरह अर्हत् जन भी करते है। दान, शील, भावना, ध्यानसमापत्ति-आदि कृत्यो को सम्पन्न करनेवाले चित्त जब पृथग्जन एव शैक्ष्य पुद्गलो की सन्तान मे उत्पन्न होते है तब वे 'महाकुशल' एव 'महग्गतकुशल' कहलाते है, क्योकि इन कुशलचित्तो का कालान्तर मे विपाक अवश्यमेव होता है। उपर्युक्त कृत्यो का ही सम्पादन करनेवाले ये (महाकुशल एव महग्गत) चित्त जब अर्हत् की सन्तान मे उत्पन्न होते है तो महाक्रिया एव महग्गत-क्रिया कहलाते है, क्योकि इनका विपाक कदापि नही होता। उनके ये चित्त केवल क्रियामात्र होते है, अत 'क्रियाचित्त' कहलाते है।

मार्गो का कृत्य यद्यपि एक ही है; यथा – 'क्लेश-धर्मों का अशेष प्रहाण करना' तथापि ये (मार्ग-धर्म) क्लेश-धर्मो का चतुर्धा विभाग करके उनका प्रहाण करते है। जैसे – इन्द्र का वज्र पाषाणमय पर्वतो का सकृत्पात (एक बार के अभिनिपात) मे ही भेदन करता है उसी तरह मार्ग-धर्म भी क्लेश-धर्मो का एक क्षण (उत्पाद-क्षण) मे ही समूलघात कर देते है। अत उनके पुन प्रहाण के लिये मार्गचित्तो के पुनः उत्पाद की अपेक्षा नही होती और इसीलिये आर्यपुद्गल जिस तरह ध्यान-समापत्तियो का आवर्जन करते है, उस तरह मार्गचित्तो का आवर्जन नही करते, वे केवल फल-समापत्ति का ही आवर्जन करते है। यदि क्लेश-धर्मो के प्रहाणार्थ अथवा समापत्ति के आवर्जनार्थ मार्गचित्तो का पुन उत्पाद होगा तो उन्हे 'क्रियाचित्त' कह सकते है, किन्तु उक्त दोनो कृत्यो के सम्पादन के लिये मार्गचित्तो का पुन. उत्पाद नही होता, अत. लोकोत्तर चित्तो मे क्रियाचित्त नही होते[4]।

लोकोत्तर चित्तो मे सौमनस्य एव उपेक्षा – ये दो वेदनाये होती है। लोकोत्तर मार्गचित्तों एवं फलचित्तो मे से प्रत्येक मे पाँच पाँच ध्यान होते हैं। जब ये चित्त

---

१ जिस पुद्गल को अभी तक मार्ग की प्राप्ति नही हुई है वह 'पृथग्जन' है।

२. आठ आर्य पुद्गलो मे जिन्हे अभी अर्हत्त्व की प्राप्ति नही हुई है वे 'शैक्ष्य' है।

३. उपर्युक्त प्रश्नोत्तरो के लिये तु० – विभा०, पृ० ७६, प० दी०, पृ० ६१।

४. प० दी०, पृ० ६१।

२९ द्वादसाकुसलानेवं* कुसलानेकवीसति ।
छत्तिंसेव† विपाकानि क्रियाचित्तानि वीसति ।।

इस तरह (सम्पूर्ण चित्तों मे) अकुशल – १२, कुशल – २१, विपाक – ३६ एवं क्रियाचित्त २० है ।

प्रथम चार ध्यानो से सम्प्रयुक्त होते है तो सौमनस्यवेदना होती है तथा पञ्चमध्यान से सम्प्रयुक्त होने पर उपेक्षावेदना होती है । अतएव लोकोत्तर चित्तो मे उपर्युक्त दो ही वेदनाएँ होती हैं ।

जिस तरह हमने कहा है कि रूपावचर चित्तो मे सम्प्रयुक्त-विप्रयुक्त एवं असस्कारिक-ससस्कारिक भेद नही हो सकते, वैसे ही लोकोत्तर चित्तो मे भी ये भेद नही हो सकते ।

२९ **'द्वादसाकुसलानेवं...'**–इस गाथा के द्वारा चित्तो का जाति-भेद से वर्गीकरण दिखलाया गया है । जाति त्रिविध है, यथा – अकुशलजाति, कुशलजाति एव अव्याकृत जाति । बारह अकुशलचित्त अकुशलजाति के है, इक्कीस कुशलचित्त कुशलजाति के हैं तथा विपाकचित्त छत्तीस एव क्रियाचित्त बीस = छप्पन चित्त अव्याकृतजाति के हैं । तीनो जातियो के कुल चित्तो की सङ्ख्या नवासी (८९) है ।

जाति-भेद से चित्तों की गणना

अकुशल			१२
कुशल	कामावचर	८	= २१
	रूपावचर	५	
	अरूपावचर	४	
	लोकोत्तर	४	
अव्याकृत	**विपाक**		
	अकुशल विपाक	७	= ३६
	अहेतुक कामावचर कुशलविपाक	८	
	सहेतुक कामावचर कुशलविपाक	८	
	रूपावचर विपाक	५	
	अरूपावचर विपाक	४	
	लोकोत्तर विपाक	४	
	क्रिया		
	अहेतुक	३	= २०
	कामावचर	८	
	रूपावचर	५	
	अरूपावचर	४	
		कुल योग	८९

---

* नेव – स्या० । † छत्तिंसेव – रो० ।

३०. चतुपञ्ञासधा कामे रूपे पन्नरसीरये* ।
चित्तानि द्वादसारूपे† अट्ठधानुत्तरे तथा ।।

काम-भूमि मे ५४, रूपावचर-भूमि में १५, अरूप-भूमि में १२, एवं ानुत्तर (लोकोत्तर)-भूमि मे ८ प्रकार के चित्त है ।

---

३० 'चतुपञ्ञासधा कामे...' – इस गाथा के द्वारा भूमि-भेद से चित्तो का विभाग दखाया गया है। भूमि दो प्रकार की होती है–१ स्थान-भूमि एव २ अवस्था-भूमि ।

१ जिनका आधार 'भूमि' होती है, उन्हे स्थान-भूमि कहते है, यथा – अपाय-भूमि, ानुष्य-भूमि, देव-भूमि तथा ब्रह्म-भूमि ।

२ त्रिविध तृष्णाओं से उपलक्षित धर्मसमूह को अवस्था-भूमि कहते है। जैसे –

(क) कामतृष्णा के आलम्बनक्षेत्र, यथा – कामतृष्णा से परिच्छिन्न कामचित्त, चैतसिक एवं रूप कामावस्था-भूमि है ।

(ख) रूपतृष्णा के आलम्बनक्षेत्र, यथा – रूपतृष्णा से परिच्छिन्न रूपचित्त एव चैतसिक रूपावस्था-भूमि है ।

(ग) अरूपतृष्णा के आलम्बनक्षेत्र, यथा – अरूपतृष्णा से परिच्छिन्न अरूप-चित्त एव चैतसिक अरूपावस्था-भूमि हैं ।

(घ) इन त्रिविध तृष्णाओ के द्वारा आलम्बन न किये जा सकनेवाले क्षेत्र; यथा – तीनो तृष्णाओ का अनालम्बनभूत निर्वाण, लोकोत्तरचित्त एव चैतसिक लोकोत्तरावस्था-भूमि है[1] ।

इस तरह चार अवस्था-भूमि होती है। इस प्रकार काम-भूमि, रूप-भूमि एव अरूप-भूमि – ये तीन भूमियाँ स्थान-भूमि एव अवस्था-भूमि दोनो कही जा सकती है। लोकोत्तर-भूमि केवल अवस्था-भूमि है, स्थान-भूमि नही; यथा –

"भूमिभेदतो ति – भवन्ति एत्था ति भूमि; ठान अवत्था च.. लोकिया वा ठानावत्थावसेन, लोकुत्तरा अवत्थावसेनेव[2] ।"

इन चारो भूमियो मे भूमि-भेद से चित्तो की सङ्ख्या इस प्रकार है–

भूमि	चित्त
काम-भूमि	५४
रूप-भूमि	१५
अरूप-भूमि	१२
लोकोत्तर-भूमि	८
कुल योग	८९

---

* पण्णरसीरिये – स्या० । † द्वादसारुप्पे – ना०, म० (ख) ।

१. विशेष ज्ञान के लिये द्र० – प० दी०, पृ० ६२ ।

२. विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ११४ ।

३१ इत्थमेकूननवुतिप्पभेदं* पन मानसं ।
एकवीससतं वाथ विभजन्ति विचक्खणा ॥

३२. कथमेकूननवुतिविधं चित्तं एकवीससतं होति ? वितक्कविचार-पीतिसुखेकग्गतासहितं पठमज्झानसोतापत्तिमग्गचित्तं, विचारपीतिसुखेक-ग्गतासहितं दुतियज्झानसोतापत्तिमग्गचित्तं, पीतिसुखेकग्गतासहितं ततिय-ज्झानसोतापत्तिमग्गचित्तं, सुखेकग्गतासहितं† चतुत्थज्झानसोतापत्तिमग्गचित्तं†,

इस प्रकार (पूर्वोक्त गाथा के अनुसार) सम्पूर्ण चित्तों के ८९ प्रभेद हैं। विद्वान् इनके १२१ विभाग भी करते हैं।

किस तरह ८९ प्रकार के चित्त १२१ हो जाते है ?

वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता नामक पाँच ध्यानाङ्ग-सहित प्रथमध्यान स्रोतापत्ति मार्गचित्त,

विचार, प्रीति, सुख, एवं एकाग्रता नामक चार ध्यानाङ्गसहित द्वितीयध्यान स्रोतापत्ति मार्गचित्त,

प्रीति, सुख, एवं एकाग्रता नामक तीन ध्यानाङ्गसहित तृतीयध्यान स्रोतापत्ति मार्गचित्त,

सुख एवं एकाग्रता नामक दो ध्यानाङ्गसहित चतुर्थध्यान स्रोता-पत्ति मार्गचित्त

---

३१ 'इत्थमेकूननवुति...' – यह गाथा निगमन एव निदान दोनों को दिखलाने-वाली गाथा है। 'आलम्बनविजानन' इस लक्षण से चित्त एक ही प्रकार का है। उस एक प्रकार के चित्त का ही—वेदना-भेद से, योग-भेद से, एव सस्कार-भेद से, कुशल-अकुशल-अव्याकृत – इस प्रकार जाति-भेद से, काम-रूप-अरूप-लोकोत्तर – इस प्रकार भूमि-भेद से, तथा ध्यान-भेद से, आलम्बन-भेद से एव मार्ग-भेद से ८९ प्रकार का विभाजन किया गया है। गाथा के पूर्वार्ध से चित्तो का सङक्षेप मे निगमन होता है, अत पूर्वार्ध निगमन-गाथा है, तथा उत्तरार्ध से ८९ चित्त किस तरह १२१ प्रकार के हो जाते हैं – इसका सङ्केत किया गया है, अत. उत्तरार्ध निदानगाथा है।

३२ पठमज्झानसोतापत्तिमग्गचित्तं[१] – ध्यान दो प्रकार के होते हैं, यथा–१ आलम्बनो-पनिध्यान (आरम्मणूपनिज्झान) एव २ लक्षणोपनिध्यान (लक्खणूपनिज्झान)। इनमे से महग्गत ध्यान-समापत्तियाँ 'पृथ्वी' आदि कसिण-आलम्बनो का उपनिध्यान करती हैं, अत उन्हे 'आलम्बनोपनिध्यान' कहते हैं। 'आरम्मण उपनिज्झायतीति आरम्मणू-पनिज्झान'।

---

* ०पभेद – म० (ख)।　　　　†-† म० (ख) मे नही।

१ "तत्थ पथमज्झानसोतापत्तिमग्गचित्त ति एत्थ पञ्चङ्गिकेन पथमज्झानेन युत्तो सोतापत्तिमग्गो पथमज्झानसोतापत्तिमग्गो तेन सम्पयुत्त चित्त ति समासो। टीकासु पन पथमज्झानञ्च त सोतापत्तिमग्गचित्तञ्चा ति योजेन्ति, त न युत्त, नहि झान चित्त होति, न च चित्त झान, अञ्ञ हि झान, अञ्ञ चित्तं ति।" – प० दी०, पृ० ६३।

उपेक्खेकग्गतासहितं पञ्चमज्झानसोतापत्तिमग्गचित्तञ्चेति इमानि पञ्च पि सोतापत्तिमग्गचित्तानि नाम। तथा सकदागामिमग्ग-अनागामिमग्ग-अरहत्तमग्गचित्तञ्चेति* समवीसति मग्गचित्तानि†, तथा फलचित्तानि चेति समचत्तालीस‡ लोकुत्तरचित्तानि भवन्तीति§।

एवं उपेक्षा तथा एकाग्रता नामक दो ध्यानाङ्गसहित पञ्चमध्यान स्रोतापत्ति मार्गचित्त –

इस प्रकार ये पाँचो (ध्यान-भेद से) स्रोतापत्ति मार्गचित्त है।

उसी प्रकार सकृदागामी मार्गचित्त, अनागामी मार्गचित्त एव अर्हत्-मार्गचित्त भी (५-५ प्रकार के) है – इस प्रकार मार्गचित्त २० होते है। तथा फल चित्त भी (उसी प्रकार) २० होते है, और इस तरह लोकोत्तर-चित्त कुल ४० होते है।

कामावचरविपश्यना, मार्ग एव फल – ये लक्षणोपनिध्यान होते है, क्योकि कामावचरविपश्यना अनित्य-अनात्म-दुःख लक्षणो का उपनिध्यान करती है। विपश्यना का यह उपनिध्यानकृत्य मार्गचित्तो के उत्पाद-क्षण मे समाप्त हो जाता है, अतः 'मार्गचित्त भी उन लक्षण-धर्मो का उपनिध्यान करते हैं' – ऐसा कहा जाता है। फल-चित्त निरोध-सत्य नामक निर्वाण के तथतालक्षण का उपनिध्यान करते है, अत विपश्यना, मार्ग एव फल ये तीनो लक्षणोपनिध्यान है। 'लक्खण उपनिज्झायतीति लक्खणूपनिज्झान'।

"झान ति दुविध झान – आरम्मणूपनिज्झान, लक्खणूपनिज्झान ति, तत्थ अट्ठ समापत्तियो पठवीकसिणादिआरम्मण उपनिज्झायन्तीति आरम्मणूपनिज्झान ति सङ्ख्य गता। विपस्सनामग्गफलानि पन लक्खणूपनिज्झान नाम[1]।"

सब लोकोत्तर ध्यान लक्षणोपनिध्यान होते है। अत स्रोतापत्तिमार्ग-चित्त-आदि मे सम्प्रयुक्त होनेवाले वितर्क-आदि ध्यानाङ्गों को मुख्य रूप से ध्यान कहा जाता है।

कुछ विद्वान् लौकिक ध्यानो को ही 'मुख्य ध्यान' कहते है तथा लोकोत्तर ध्यानो

---

* सकदागामि-अनागामि-अरहत्तमग्गचित्तानि चेति – स्या०।

† ०चित्तानि नाम – स्या०।

‡ ०चत्ताळीस – सी०, स्या० (सर्वत्र)।

§ भवन्ति – स्या०।

१. अट्ठ०, पृ० १३७।

को 'गौण ध्यान' कहते है; किन्तु उनका यह मत 'अट्ठसालिनी' के उपर्युक्त वचन से विपरीत होने के कारण अनुपादेय है।

लोकोत्तर चित्त मे प्रथमध्यान-आदि भेद – पहले कहा गया है कि मार्गचित्तो का एक 'वार' (एकचित्तक्षणप्रवृत्ति) होता है। ऐसी स्थिति मे एक ही पुद्गल मे ये पॉचो स्रोतापत्तिमार्ग-ध्यान नही हो सकते, अत. प्रश्न होता है कि किस पुद्गल मे प्रथमध्यान स्रोतापत्तिमार्ग तथा किस पुद्गल मे द्वितीयध्यान स्रोतापत्तिमार्ग-आदि होते हैं ?

उत्तर – मार्ग की भावना करनेवाले उत्साही योगी की सन्तान में जब मार्ग-चित्त का उत्पाद आसन्न होता है तब उसमे 'व्युत्थानगामिनी'[1] नामक विपश्यनाज्ञान उत्पन्न होता है। इस विपश्यनाज्ञान की शक्ति के अनुसार किसी योगी मे प्रथम-ध्यान स्रोतापत्तिमार्ग तथा किसी मे द्वितीयध्यान स्रोतापत्तिमार्ग-आदि उत्पन्न होते हैं।

मार्गचित्त की उत्पत्ति के आसन्नकाल मे उत्पन्न होनेवाले 'सस्कारोपेक्षाज्ञान'[1] तथा मार्ग-वीथि मे उत्पन्न होनेवाले 'अनुलोमज्ञान'[1] को 'व्युत्थानगामिनी विपश्यना' कहते हैं।

जब किसी योगी की सन्तान मे उत्पन्न व्युत्थानगामिनी विपश्यना के द्वारा, पॉच ध्यानाङ्गो से युक्त प्रथमध्यान मार्गचित्त के किसी ध्यानाङ्ग के प्रति घृणा या औदासीन्य उत्पन्न नही होता तो उसे प्रथमध्यान मार्गचित्त उत्पन्न होता है। यदि उसे इस विपश्यनाज्ञान के द्वारा वितर्क ध्यानाङ्ग के प्रति घृणा या अनुत्साह उत्पन्न हो जाता है तो चार ध्यानाङ्गो से युक्त द्वितीयध्यान मार्गचित्त उत्पन्न होता है। इसी तरह अन्य ध्यानो के सम्बन्ध मे भी समझना चाहिये। इसी प्रकार नानाविध पुद्गलो के मार्ग के नानाविध ध्यानाङ्गो से सम्प्रयुक्त होने मे व्युत्थानगामिनी विपश्यना प्रधान होती है[2]।

मार्गाभिलाषी पुद्गल भी द्विविध होते है: १. शुष्कविपश्यक पुद्गल तथा २. ध्यानलाभी पुद्गल। लौकिक ध्यानो को प्राप्त न होकर केवल विपश्यना करनेवाले पुद्गल को 'शुष्क-विपश्यक' कहते है तथा लौकिक ध्यानो को प्राप्त पुद्गल 'ध्यानलाभी' कहा जाता है। इनमे से शुष्कविपश्यक पुद्गल ध्यानो को अप्राप्त होने से जब विपश्यना करता है तब काम-धर्मो की ही विपश्यना करता है; अत उसे वितर्क-आदि पाँच ध्यानाङ्गो मे से किसी भी ध्यानाङ्ग के प्रति घृणा नही होती। ध्यानलाभी पुद्गल भी जब किसी ध्यान का समावर्जन न करके काम-धर्मो की ही अनित्य-अनात्म-दु खलक्षणों से विपश्यना करता है, अथवा प्रथमध्यान का ही समावर्जन करता है, अथवा प्रथम-ध्यान का ही सम्मर्शन करता है, अथवा प्रथमध्यान का ही समावर्जन एव सम्मर्शन –

---

१ द्र० – अभि० स० ६ : ५८ ।

२ "सङ्खारुपेक्खाञाणमेव हि अरियमग्गस्स बोज्झङ्ग-मग्गङ्ग-झानङ्ग-विसेस नियमेति।" – अट्ठ०, पृ० १८५।

३३. झानङ्गयोगभेदेन* कत्वेकेकं तु पञ्चधा ।
वुच्चतानुत्तरं चित्तं चत्तालीसविधं ति च ।

ध्यानाङ्गों के योग के भेद से लोकोत्तर चित्तो के एक एक चित्तो को पाँच पाँच प्रकार का करके लोकोत्तर चित्तों को चालीस प्रकार का कहा जाता है ।

दोनो करता है तो उसे किसी भी ध्यानाङ्ग के प्रति घृणा उत्पन्न नही होती । अत 'शुष्कविपश्यक' एव ध्यान का समावर्जन न करके कामधर्मों का ही सम्मर्शन करनेवाले 'ध्यानलाभी' मे, प्रथमध्यान का समावर्जन करनेवाले 'ध्यानलाभी' मे, किसी भी ध्यान का समावर्जन न करके केवल प्रथमध्यान का ही सम्मर्शन करनेवाले 'ध्यानलाभी' मे एव प्रथमध्यान का ही समावर्जन एव सम्मर्शन-दोनो करनेवाले ध्यानलाभी मे – इस प्रकार चार प्रकार के पुद्गलो मे प्रथम-ध्यान से सम्प्रयुक्त मार्ग ही उत्पन्न होते है[1] ।

इन पुद्गलों के मार्ग मे सदा सौमनस्य ही होता है – इन योगियो की व्युत्थानगामिनी विपश्यना यदि उपेक्षा से सम्प्रयुक्त होती है, तो "उपेक्खासहगतजवनानन्तर उपेक्खासहगता व[2]" (उपेक्षासहगत जवन के अनन्तर चित्त उपेक्षासहगत ही होता है) – इस वचन के अनुसार मार्गचित्त उपेक्षावेदना से सम्प्रयुक्त होने से उन्हे पञ्चमध्यान मार्गचित्त ही उत्पन्न होगा, किन्तु मार्गचित्त के उत्पाद से अव्यवहितपूर्व विपश्यनाचित्त मे पर्याय-क्रम से कभी सौमनस्य एव कभी उपेक्षा उत्पन्न होती है । उपेक्षाध्यान का सम्मर्शन करने से सुख के प्रति आदीनव देखनेवाले योगी के अतिरिक्त अन्य योगियो की सन्तान मे मार्गचित्त के उत्पाद के आसन्न पूर्वकाल मे उत्पन्न होनेवाली व्युत्थानगामिनी विपश्यना सदा प्रीति-सौमनस्य से सम्प्रयुक्त होती है, अत इस प्रकार के योगियो की सन्तान मे पञ्चमध्यान मार्गचित्त का उत्पाद कथमपि नही हो सकती ।

३३ **'झानङ्गयोगभेदेन** ' – यह गाथा लोकोत्तर चित्तो के विस्तार का सङ्ग्रह करती है । कुछ मार्ग एव फलचित्त पाँच ध्यानाङ्गो से, कुछ चार ध्यानाङ्गो से, कुछ तीन, कुछ दो, पुन कुछ दो ध्यानाङ्गो से सम्प्रयुक्त होते है, अत ध्यानाङ्गो का सम्प्रयोग पञ्चविध होने से प्रत्येक मार्गचित्त एव फलचित्त पाँच प्रकार का होता है – इस प्रकार लोकोत्तर चित्त कुल चालीस प्रकार के होते है । प्रत्येक चित्त के पाँच प्रकारो मे प्रथम चार सुखावेदना से सम्प्रयुक्त होते है तथा अन्तिम (पञ्चम) उपेक्षावेदना से सम्प्रयुक्त होता है । अत चालीस लोकोत्तर चित्तो मे से बत्तीस चित्त सुखावेदना से तथा आठ चित्त उपेक्षावेदना से सम्प्रयुक्त होते हैं ।

द्वितीयध्यानमार्ग-आदि मार्गो के उत्पाद मे तीन वाद होते है[3]; यथा – १. पादकध्यानवाद, २ सम्मर्शितध्यानवाद, तथा ३ पुद्गलाध्याशयवाद ।

---

* ठानङ्ग० – रो० ।

१. तु० – प० दी०, पृ० ६४, विभा०, पृ० ७७ । २. अभि० स० ४ २४ ।

३ तीनो वादो के विस्तार के लिये तु० – अट्ठ०, पृ० १८६–१८७, प० दी०, पृ० ६५ ६६ ।

१. पादकध्यानवाद – मार्ग की भावना करनेवाले ध्यानलाभी कुछ योगी एकाग्रता के साथ विपश्यना को आरब्ध करने के लिये अपने द्वारा उपलब्ध किसी एक ध्यान का 'पादक' (आधार) रूप मे समावर्जन करते है। यह समावर्जित ध्यान विपश्यना का आधार होने से 'पादकध्यान' कहा जाता है। इस पादकध्यान का समावर्जन करने के अनन्तर इस (पादक) से अतिरिक्त किसी एक लौकिक सस्कार-धर्म की विपश्यना करते समय यदि व्युत्थानगामिनी विपश्यना तक पहुँचकर मार्ग की प्राप्ति होती है तो इस स्थिति मे यदि पूर्व का पादकध्यान प्रथमध्यान होता है तो प्राप्त होनेवाला मार्ग भी प्रथमध्यान-मार्ग ही होता है। पादकध्यान यदि वितर्क से घृणा करनेवाला द्वितीयध्यान होता है तो विपश्यनाचित्तसन्तति मे पादकध्यान से सङ्क्रमित होकर वितर्क के प्रति घृणा करनेवाला एक शक्तिविशेष उत्पन्न होता है और इस शक्ति-विशेष के कारण विपश्यना-क्रम से उपलब्ध मार्ग भी विपश्यना के अनुसार वितर्क से रहित द्वितीयध्यान से ही सम्प्रयुक्त होता है। अर्थात् वितर्क से घृणा करनेवाले शक्ति-विशेष से युक्त विपश्यना से द्वितीयध्यान-मार्ग ही प्राप्त होता है। यदि तृतीयध्यान को 'पादक' किया जाता है, तो तृतीयध्यान-मार्ग, यदि चतुर्थध्यान को 'पादक' किया जाता है, तो चतुर्थध्यान-मार्ग तथा पञ्चमध्यान को 'पादक' किया जाता है तो पञ्चम-ध्यानमार्ग-चित्त उत्पन्न होता है। इस वाद मे योगी पादकध्यान से अतिरिक्त अन्य सस्कार-धर्मों का सम्मर्शन करते समय ध्यान का भी सम्मर्शन करने का अवसर प्राप्त करता है, किन्तु सम्मर्शन करना इसमे प्रधान नही है। अत इस वाद के अनुसार पादक-ध्यान के ही समान मार्ग मे ध्यानाङ्ग सम्प्रयुक्त होने चाहिये।

२. सम्मर्शितध्यानवाद – कतिपय ध्यानलाभी योगी मार्ग की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते समय स्वोपलब्ध किसी लौकिक ध्यान का अनित्य-अनात्म-दु खलक्षण से सम्मर्शन करते है। सम्मर्शन किया जाने से उस ध्यान को 'सम्मर्शितध्यान' कहते है। यदि यह सम्मर्शित ध्यान प्रथमध्यान होता है तो प्राप्त होनेवाला मार्ग भी प्रथमध्यान-मार्ग ही होता है। सम्मर्शित ध्यान यदि वितर्क से घृणा करने वाला द्वितीयध्यान होता है तो विपश्यना-चित्तसन्तति मे सम्मर्शित ध्यान से सङ्क्रमित होकर वितर्क के प्रति घृणा करनेवाला एक शक्तिविशेष उत्पन्न होता है और इस शक्तिविशेष के कारण विपश्यना-क्रम से व्युत्थानगामिनी विपश्यना तक पहुँच कर प्राप्त होनेवाला मार्ग भी विपश्यना के अनुसार वितर्क से रहित द्वितीयध्यान से ही सम्प्रयुक्त होता है। इसी तरह यदि तृतीयध्यान सम्मर्शित किया जाता है तो तृतीयध्यान-मार्ग, यदि चतुर्थ-ध्यान सम्मर्शित किया जाता है तो चतुर्थध्यान-मार्ग तथा पञ्चमध्यान सम्मर्शित किया जाता है तो पञ्चमध्यान मार्गचित्त उत्पन्न होता है। इस वाद मे 'पादकध्यान' का 'होना' या 'न होना' प्रधान नही है। अत इस वाद के अनुसार सम्मर्शित ध्यान के ही समान मार्ग मे ध्यानाङ्ग सम्प्रयुक्त होने चाहिये।

[कुछ लोग कहते है कि 'पादकध्यानवाद' मे ध्यान का सम्मर्शन नही करना चाहिये; यदि किया जाता है तो 'सम्मर्शितध्यानवाद' के लक्षण से संम्मिश्रण हो

जायेगा। तथा 'सम्मर्शितध्यानवाद' मे ध्यान को 'पादक' नही करना चाहिये; यदि किया जाता है तो 'पादकवाद' का लक्षण इससे सम्मिश्रित हो जायगा। इस मत का 'अट्ठसालिनी'[1] की 'मूलटीका' के "पकिण्णकसङ्खारे' ति – पादकज्झानतो अञ्ञसङ्खारे, तेन पादकज्झानसङ्खारेसु सम्मिस्सितेसु वत्तब्बमेव नत्थीति दस्सेति[2]" – इस वचन से तुलना करके परीक्षण करना चाहिये।]

३. पुद्गलाध्याशयवाद – योगी पुद्गल के अध्याशय को 'पुदगलाध्याशय' कहते है। 'यदि चार ध्यानाङ्गोवाला मार्ग प्राप्त होगा तो अच्छा होगा' अथवा 'तीन ध्यानाङ्गोवाला मार्ग प्राप्त होगा तो अच्छा होगा' – योगी के ऐसे अभिलाष को 'पुद्गलाध्याशय' कहते हैं। यहाँ पर 'अध्याशय' का अर्थ 'कुशल से सम्प्रयुक्त छन्द चैतसिक' है। इस प्रकार के अध्याशय से भावना करने पर व्युत्थानगामिनी विपश्यना तक पहुँच कर यदि मार्ग प्राप्त होते है तो वे अध्याशय के अनुसार ही द्वितीयध्यान-मार्ग, तृतीयध्यान-मार्ग-आदि ही होते है, किन्तु यह ध्यान मे रखना चाहिये कि केवल अध्याशयमात्र से ध्यानाङ्गो की प्राप्ति नही होती, अपितु अध्याशय के अनुसार लौकिक ध्यानो का समावर्जन अथवा सम्मर्शन अथवा दोनो करने होते हैं। यदि योगी द्वितीयध्यान-मार्ग प्राप्त करना चाहता है तो उसे लौकिक द्वितीयध्यान का समावर्जन, सम्मर्शन अथवा दोनो करना होता है। यही प्रकार तृतीय, चतुर्थ-आदि मार्गो के सम्बन्ध मे भी जानना चाहिये। इस वाद मे योगी के अध्याशय के अनुसार मार्ग मे ध्यानाङ्ग सम्प्रयुक्त होने चाहिये। इस तरह के वाद को 'पुद्गलाध्याशयवाद' कहते है।

उपर्युक्त कथन के अनुसार 'पुद्गलाध्याशयवाद' पूर्वोक्त दोनो वादो मे गतार्थ हो जाता है। जैसे – यदि अपने अभिलषित मार्ग के तुल्य ध्यानाङ्गोवाले लौकिक ध्यान को 'पादक' करके उसका समावर्जन किया जाता है तो इसका 'पादकध्यानवाद' में अन्तर्भाव हो जाता है। यदि पादक न कर के केवल सम्मर्शन किया जाता है तो यह 'सम्मर्शितध्यानवाद' के अन्तर्गत आ जाता है।

पुद्गलाध्याशयवाद की विशेषता – अधोनिर्दिष्ट दृष्टि से विचार करने पर 'पुद्गलाध्याशयवाद' उक्त दोनो वादो मे गतार्थ न होकर स्वतन्त्र एव मौलिक रूप मे स्थित रहता है। जैसे – यदि कोई योगी द्वितीयध्यान को 'पादक' करके तृतीयध्यान का सम्मर्शन करता है तो 'पादक' के अनुसार उसे द्वितीयध्यान-मार्ग प्राप्त होना चाहिये। और 'सम्मर्शितवाद' के अनुसार उसे तृतीयध्यान-मार्ग प्राप्त होना चाहिये। इस प्रकर दोनो वादो का सम्मिश्रण हो जाने से "इज्झतावुसो ! सीलवतो चेतोपणिधि विसुद्धता[3]" (भिक्षुओ ! शीलवान् भिक्षु की चित्त-प्रणिधि विशुद्ध होने से सिद्ध होती है।) इस वचन के अनुसार अध्याशय के अनुसार ही योगी को अपने इष्ट मार्ग की प्राप्ति होती है। यही 'पुद्गलाध्याशयवाद' की विशेषता है। उपर्युक्त प्रकार से पादकध्यान एक प्रकार का, तथा

---

१. अट्ठ०, पृ० १८६।
२. ध० स० मू० टी०, पृ० ११६।
३. दी० नि० तृ० भा०, पृ० १९९।

३४. यथा च रूपावचरं गय्हतानुत्तरं तथा ।
पठमादिज्झानभेदे* आरुप्पञ्चापि पञ्चमे ॥
एकादसविधं तस्मा पठमादिकमीरितं ।
झानमेकेकमन्ते तु तेवीसतिविधं भवे ॥

जैसे रूपावचर चित्त 'प्रथम' आदि ध्यान-भेदों में गृहीत होते है, उसी प्रकार लोकोत्तर चित्त भी 'प्रथम' आदि ध्यान-भेदों में गृहीत होते है; तथा आरूप्य ध्यान पञ्चमध्यान में गृहीत होते है ।

अत. प्रथमध्यान-आदि प्रत्येक ध्यान ग्यारह प्रकार का कहा गया है तथा अन्तिम पञ्चमध्यान तेईस प्रकार का होता है ।

सम्मर्शितध्यान दूसरे प्रकार का होने से दोनो मे वैषम्य हो जाने पर यदि अध्याशय किसी एक के प्रति विशेष रूप से नही होता है तो ऊपर के ध्यान के प्रति ही स्वभावतः चित्त का झुकाव होने से ऊपर के ध्यान के सदृश मार्ग उत्पन्न होता है। अर्थात् यदि 'पादकध्यान' द्वितीय और 'सम्मर्शित ध्यान' तृतीय होता है तो तृतीयध्यान-मार्ग ही प्राप्त होगा। यदि 'पादकध्यान' पञ्चम और सम्मर्शित ध्यान चतुर्थ होता है तो पञ्चम ध्यान-मार्ग ही उत्पन्न होगा ।

कुछ विद्वान् पुद्गलाध्याशय को 'पुद्गलाध्याशय ध्यान' कहते हैं, किन्तु यह ध्यान नहीं है, अपितु यह पुद्गल का अध्याशय अर्थात् अभिलाष या छन्दमात्र है। इस छन्द के कारण ध्यान की प्राप्ति नही, अपितु ध्यानसम्प्रयुक्त मार्ग की प्राप्ति ही होती है। अत पुद्गलाध्याशय को ध्यान नही कहा जा सकता। ध्यान न कहने पर इस पुद्गलाध्याशय के कारण मार्ग की प्राप्ति होने से कारणभूत इस पुद्गलाध्याशय का कार्यभूत मार्ग मे उपचार करके कारणोपचार से इसे 'पुद्गलाध्याशय मार्ग' कहा जा सकता है।

३४ **'यथा च रूपावचरं...'** – जैसे रूपावचर चित्त पाँच ध्यानो से समन्वागत होते है, उसी प्रकार लोकोत्तर चित्तो मे भी प्रत्येक चित्त पाँच-पाँच ध्यानो से समन्वागत होता है। इस तरह आठ लोकोत्तर चित्तो मे आठ प्रथमध्यान-चित्त, आठ द्वितीय-ध्यान-चित्त, इसी प्रकार अन्य चित्त भी आठ आठ प्रकार के होते हैं। यदि लौकिक प्रथमध्यान-चित्त – तीन (कुशल-विपाक-क्रिया) और लोकोत्तर प्रथमध्यान-चित्त – आठ, दोनो की सम्मिलित गणना की जाती है तो प्रथमध्यान ग्यारह प्रकार का हो जाता है। इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय एव चतुर्थ ध्यान भी ग्यारह ग्यारह प्रकार के होते हैं। आरूप्यचित्तो का पञ्चमध्यान मे ग्रहण होता है, अत रूपावचर पञ्चमध्यान – तीन, अरूपावचर – बारह (इस तरह लौकिक पञ्चमध्यान-चित्त – पन्द्रह) और लोकोत्तर पञ्चमध्यान-चित्त – आठ, तीनो की सम्मिलित गणना की जाती है तो पञ्चमध्यान तेईस प्रकार का हो जाता है।

---

* पठमादिझानभेदेन – रो० ।

३५ सत्ततिसविधं* पुञ्ञं द्विपञ्ञासविधं तथा ।
पाकमिच्चाहु चित्तानि एकवीससतं बुधा† ॥

इति अभिधम्मत्थसङ्गहे चित्तसङ्गहविभागो नाम
पठमो परिच्छेदो ।

कुशलचित्त ३७ प्रकार के और विपाकचित्त ५२ प्रकार के – इस प्रकार कुल चित्त १२१ प्रकार के होते हैं – ऐसा विद्वज्जन कहते हैं।

इस प्रकार 'अभिधम्मत्थसङ्गह' में 'चित्तसङ्ग्रहविभाग' नामक
प्रथम परिच्छेद समाप्त ।

---

३५ 'सत्ततिसविधं पुञ्ञं ...' – यह गाथा कुशल एवं विपाकचित्तों के सङ्ख्यागत विस्तार का सङ्क्षेप से कथन करनेवाली गाथा है।

८९ चित्तों का विस्तार १२१ चित्तों में करने पर भी क्रियाचित्तों की सङ्ख्या में कोई परिवर्तन नहीं होता, क्योंकि लोकोत्तरचित्तों में (जो विस्तार के आधार हैं) क्रियाचित्त नहीं होते। अतएव इस गाथा में क्रियाचित्तों का कोई उल्लेख नहीं किया किया गया है।

कुल १२१ प्रकार के चित्तों में कुशलचित्त – ३७, अकुशलचित्त – १२, विपाकचित्त – ५२ एवं क्रियाचित्त – २० होते हैं।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में जो यह प्रतिज्ञा की गयी थी कि प्रस्तुत ग्रन्थ में चित्त, चैतसिक, रूप एवं निर्वाण का प्रतिपादन किया जायेगा उनमें से चित्त का वर्णन यहाँ समाप्त होता है, अतः आचार्य 'इति अभिधम्मत्थसङ्गहे' .. इत्यादि पद के द्वारा निगमन करते हैं।

अभिधर्मप्रकाशिनी व्याख्या में चित्तसङ्ग्रहविभाग नामक
प्रथम परिच्छेद समाप्त।

❋

---

* सत्तत्तिस० – म० (क)।

† बुधा ति – सी०, स्या०।

दुतियो परिच्छेदो

चेतसिकसङ्गहविभागो

१ एकुप्पादनिरोधा च एकालम्बनवत्थुका ।
चेतोयुत्ता द्विपञ्ञास धम्मा चेतसिका मता ।।

जिनकी एक ही साथ उत्पत्ति एव निरोध होता है, जिनका एक ही आलम्बन[1] एव वस्तु[2] होती है तथा जो चित्त के साथ सदा सयुक्त रहते हैं, ऐसे ५२ धर्म चैतसिक कहलाते हैं[3] ।

चैतसिकसङ्ग्रह विभाग

१. अनुसन्धि – 'चित्त चेतसिक रूप निब्बानमिति ' के अनुसार 'चित्त' – इस उद्देश का निर्देश कर देने के अनन्तर 'चेतसिक' – इस उद्देश का निर्देश करने लिये आचार्य अनुरुद्ध अब यहाँ 'एकुप्पादनिरोधा च'. – यह गाथा प्रारम्भ करते हैं ।

भूमि, जाति, सम्प्रयोग, सस्कार, ध्यान, आलम्बन एव मार्ग भेद से चित्त का विभाजन दिखा कर, अब चैतसिको का विभाजन प्रसङ्ग प्राप्त होने के कारण, आचार्य सर्वप्रथम 'एकोत्पाद' 'एकनिरोध' आदि लक्षणो को स्थापित करके उनके चतुर्विध सम्प्रयोग-लक्षण को दिखलाने के लिये तथा सम्पूर्ण चैतसिको का 'अन्यसमान' अकुशल' एव 'शोभन' – इन तीन राशियो मे विभाग करके[4] उनका सोलह आकारो

---

१ द्र० – अभि० स० तृ० परि० 'आलम्बनसङ्गहो' ।

२ अभि० स० तृ० परि० 'वत्थुसङ्गहो' ।

३ तु० – "चित्तचैत्ता सहावश्य, सर्व सस्कृतलक्षणै ।"
—अभि० को०, २ २३, पृ० ११८ ।

"चित्त चैतसिकै सार्ध, सस्कृत तु स्वलक्षणै ।"
—अभि० दी० १११ का०, पृ० ६७ ।

४ स्वविरवाद (थेरवाद) मे चैतसिको का त्रिविध विभाग किया गया है, यथा – अन्यसमान, अकुशल एव शोभन । वैभाषिक, सौत्रान्तिक-आदि इनका पाँच प्रकार से विभाजन करते है, जैसे – महाभूमिक, कुशल-महाभूमिक, क्लेशमहाभूमिक, अकुशलमहाभूमिक एव परित्तक्लेशभूमिक । जो चैतसिक सर्वचित्तसहगत है वे 'महाभूमिक', जो सर्वकुशलचित्तसहगत है वे 'कुशलमहाभूमिक', जो सर्वक्लिष्टचित्तसहगत है वे 'क्लेशमहाभूमिक', जो सर्वअकुशलचित्तसहगत है वे 'अकुशलमहाभूमिक' तथा जिनकी भूमि परित्त-क्लेश है वे 'परित्तक्लेशभूमिक' होते हैं ।

से सम्प्रयोग तथा तैंतीस प्रकार से सङग्रह दिखलाने के लिये 'एकुप्पादनिरोधा च ...'—इस गाथा को प्रारम्भ करते हैं[१]।

"चित्तेन सह एकतो उप्पादो च निरोधो च येस ते एकुप्पादनिरोधा, एक आलम्बणञ्च वत्थु च येस ते एकालम्बणवत्थुका[१]।"

"एको उप्पादो एतेस ति एकुप्पादा, एको निरोधो एतेस ति एकनिरोधा, एकुप्पादा च ते एकनिरोधा चा ति एकुप्पादनिरोधा, एक आलम्बन एतेस ति एकालम्बना, एक वत्थु एतेस ति एकवत्थुका, एकालम्बना च ते एकवत्थुका चा ति एकालम्बनवत्थुका[२]।'

गाथा मे 'एकुप्पादनिरोधा च एकालम्बनवत्थुका' के द्वारा चैतसिको के चार प्रकार के सम्प्रयोग-लक्षणो को दिखलाया गया है। 'चेतोयुत्ता'—इसके द्वारा उनके स्वभाव को द्योतित किया गया है, अर्थात् चित्त के साथ सम्प्रयुक्त होनेवाले धर्म 'चैतसिक' है। 'द्विपञ्ञास' शब्द उनकी सङ्ख्या का द्योतक है।

'परमत्थदीपनी' मे 'चेतोयुत्ता' इस पद का 'चेतसि युत्ता', 'चेतसा वा युत्ता'—यह विग्रह किया गया है तथा लिखा है कि 'द्विपञ्ञास' शब्द के द्वारा चैतसिको के स्वरूप को दिखलाया गया है[२]। परमत्थदीपनीकार के द्वारा विहित इन शब्दो का यह अर्थ विद्वानो के द्वारा विचारणीय है।

पुनश्च—वे कहते है कि चैतसिको के उपर्युक्त चार लक्षणो मे प्रयुक्त 'एक' शब्द सङ्ख्या का द्योतक है और वह उत्पाद-आदि का विशेषण है। इसका अभिप्राय यह है कि सभी लोगो से सम्बद्ध किसी 'एक' वस्तु की तरह सभी चित्त चैतसिको का 'एक' उत्पाद होना चाहिये। उन्होने अपने इस अर्थ की पुष्टि के लिये प्रमाणरूप मे मूल-टीका का "एककलापपरियापन्नान रूपान सहेव उप्पादादिप्पवत्तितो एकस्स कलापस्स उप्पादादयो एकेका व होन्ति[३]" एक कलाप (समूह) मे पर्यापन्न रूपो की साथ ही उत्पाद-आदि प्रवृत्ति होने से एक कलाप के उत्पाद आदि एक ही होते है—यह वचन उद्धृत किया है।

किन्तु परमत्थदीपनीकार के उपर्युक्त मत को बहुत से आचार्य पसन्द नही करते। मूलटीका मे भी 'वेदना-तिक' की व्याख्या के प्रसङ्ग मे—"एको समानो उप्पादो एतेस ति एकुप्पादा, समानपच्चयेहि सहुप्पत्तिका ति अत्थो[४]" जिन धर्मो का समान उत्पाद है उन्हे 'एकोत्पाद' कहते है, अर्थात् आलम्बन-प्रत्यय-आदि समान प्रत्ययो से सह-उत्पन्न चित्त-चैतसिक धर्म 'एकोत्पाद' (एकुप्पादा) है—यह कहा गया है। सहोत्पन्न चित्त एव चैतसिक धर्मो का अपना अपना (स्वकीय) स्वतन्त्र उत्पाद होता है।

१. विभा०, पृ० ८०।
२. प० दी०, पृ० ७१।
३. ध० स० मू० टी०, पृ० १५७।
४. ध० स० मू० टी०, पृ० ३७।

चित्त का अपना पृथक् उत्पाद होता है और स्पर्श-आदि चैतसिको का अपना पृथक् उत्पाद होता है । अत 'एक' शब्द यहाँ सङ्ख्या-अर्थ मे न होकर 'समान' (तुल्य)–अर्थ मे प्रयुक्त है ।

चित्त के साथ जिन धर्मो का समान काल मे ही उत्पाद एव निरोध होता है, उन्हे 'एकुप्पादनिरोधा' कहते है । तथा चित्त के आलम्बन एव चित्त की वस्तु (चक्षुर्वस्तु-आदि आधार) के समान जिन धर्मो के आलम्बन एव वस्तु होते है, उन्हे 'एकालम्बनवत्थुका' कहते है, अर्थात् जो आलम्बन एव वस्तु चित्त के होते है, वही आलम्बन एव वस्तु इन (चैतसिक धर्मो) के भी होते है ।

'एकुप्पाद' (एकोत्पाद), 'एकनिरोध', 'एकालम्बन' एव 'एकवत्थुक' (एकवस्तुक) होना – ये चार चैतसिको के लक्षण है । अतएव 'परमत्थदीपनी' मे "एकुप्पादनिरोधा च एकालम्बनवत्थुका च (हुत्वा ये धम्मा) चेतोयुत्ता (ते) द्विपञ्ञास धम्मा चेतसिका मता ति[1]" – ऐसा अन्वय किया गया है ।

[चैतसिको के इन चारो लक्षणो के सम्बन्ध मे परमत्थदीपनी मे अतिविस्तृत विवेचन उपलब्ध है, विस्तार-भय से हम छोड रहे है । जिज्ञासुओ को सम्बद्ध स्थल अवश्य देखना चाहिये ।]

चारों लक्षणों का अभिप्राय

(क) **एकनिरोध** – जिन धर्मो का समान (एक) आलम्बन-आदि प्रत्ययो से चित्त के साथ (सह) उत्पाद होता है, वे 'चेतोयुत्त' (चेतोयुक्त) है, इस प्रकार केवल 'एकुप्पादा' कहने मात्र से चेतोयुक्तता सिद्ध हो सकती थी तब चैतसिको के लक्षण मे 'एकनिरोधा' (जो चित्त के साथ निरुद्ध होते है) – इस विशेषण के निवेश की क्या आवश्यता थी ?

समाधान – केवल 'एकुप्पादा' कहने से चित्त के साथ (सह) उत्पन्न होनेवाले चित्तज एव कर्मज रूपो के भी 'चेतोयुक्त' हो जाने का सन्देह होने लगेगा और इस तरह लक्षण अतिव्याप्त हो जायेगा, अत इस दोष की निवृत्ति के लिये लक्षणो मे 'एकनिरोधा' इस विशेषण का सन्निवेश किया गया है; क्योकि चित्तज एव कर्मज रूप यद्यपि चित्त के साथ (सह) उत्पन्न होते है, तथापि उनका चित्त के साथ निरोध नही होता, अपितु चित्तवीथि के सत्रहवे क्षण मे निरोध होता है[2] । अत चित्तज एव कर्मज रूप सहोत्पन्न होने से 'एकुप्पादा' तो है, किन्तु 'एकनिरोधा' नही है । इस प्रकार 'एकनिरोधा' – इस लक्षण के द्वारा चित्तज एव कर्मज रूपो का निषेध किया गया है ।

(ख) **एकालम्बन** – जिन धर्मो का चित्त के साथ (सह) उत्पाद एव चित्त के साथ (सह) निरोध होता है, वे 'चेतोयुक्त' होते है – ऐसा स्थिर हो जाने पर, चैतसिको के लक्षणो मे 'एकालम्बन' – इस विशेषण के निवेश की क्या आवश्यकता थी ?

समाधान – यद्यपि 'एकुप्पादा' एव 'एकनिरोधा' – इतने लक्षणमात्र से भी चेतोयुक्तता सिद्ध हो सकती है तथापि यदि 'एकालम्बन' – इस विशेषण का सन्निवेश नहीं

---

१ प० दी०, पृ० ७१ ।

२ द्र० – अभि० स० ४.६ ।

किया जाता है तो चित्तानुपरिवर्ती[1] धर्मो के भी 'चेतोयुक्त' हो जाने का सन्देह होने लगेगा और इस तरह लक्षण अतिव्याप्त ही रह जायेगा, क्योकि चित्तानुपरिवर्ती धर्मो का चित्त के साथ (सह) ही उत्पाद और चित्त के साथ (सह) ही निरोध होता है। अपि च – पूर्व (प्रथम) चित्त के साथ उत्पन्न चित्तज एव कर्मज रूप भी सत्रहवे क्षण मे तत्कालीन चित्त के साथ निरुद्ध होते ही है, अत 'एकुप्पादा', 'एकनिरोधा' – एतन्मात्र लक्षण करने से इनके भी 'चेतोयुक्त' हो जाने का सन्देह होने लगेगा और इस तरह भी लक्षण अपर्याप्त ही रह जायेगा। इन सब दोपो के परिहार के लिये लक्षणो मे 'एकालम्बन' – इस विशेषण का निवेश किया जाता है। इतना हो जाने पर निर्गलितार्थ यह होता है कि जिनका चित्त के साथ एकोत्पाद एव एकनिरोध होता है वे ही धर्म 'चेतोयुक्त' नही है अपितु चित्त का जो आलम्बन है, यदि वही उनका आलम्बन भी है, तो वे धर्म 'चेतोयुक्त' है। ऐसी स्थिति मे चित्तज एव कर्मज रूप, जो अनालम्बनस्वभाव है[2], वे कथमपि 'चेतोयुक्त' नही हो सकते और विज्ञप्तिद्वय (चित्तानुपरिवर्ती धर्म) भी, जिनका चित्तज रूपो मे ग्रहण होता है, 'चेतोयुक्त' नही हो सकते, क्योकि विज्ञप्ति-द्वय के चित्तज रूप होने के कारण चित्तज रूपो की तरह वे भी अनालम्बन-स्वभाव ही होते है। अत 'एकालम्बन' – इस विशेषण का सन्निवेश करने से उपर्युक्त सभी दोषो का निराकरण हो जाता है।

(ग) एकवस्तुक – जिन धर्मो का चित्त के साथ एकोत्पाद, एकनिरोध एव एकालम्बन होता है, वे चेतोयुक्त (चैतसिक) होते है – इतना स्थिर हो जाने पर किस कमी की पूर्ति के लिये अथवा क्या दिखाने के लिये आचार्य ने लक्षणो मे 'एकवत्थुका' इस विशेषण का निवेश किया है ?

समाधान – इन तीनो लक्षणो से सम्पन्न धर्म अवश्य चेतोयुक्त होते है – इसमे सन्देह नही; फिर भी यह दिखलाने के लिये कि इन तीनो लक्षणो से सम्पन्न धर्म पञ्चवोकारभूमि[3] मे चित्त के साथ 'एकवस्तुक' (एकवत्थुका) भी होते है, लक्षणो मे इस विशेषण का सन्निवेश किया गया है।

---

१. विज्ञप्तिद्वय चित्तानुपरिवर्ती धर्म है। द्र० – "कतम त रूप चित्तानुपरिवत्ति ? कायविञ्ञत्ति, वचीविञ्ञत्ति– इद त रूप चित्तानुपरिवत्ति।" – ध० स०, पृ० १७९।
तु० – "चैत्ता द्वौ सवरौ तेषा, चेतसो लक्षणानि च।
चित्तानुवर्तिन. कालफलादिशुभतादिभि. ।।"
– अभि० को० २ . ५१, पृ० १९३।

२ रूप होने से ये आलम्बन का ग्रहण नही कर सकते – अत. इन्हे 'अनालम्बन-स्वभाव' कहा गया है।

३ जिस भूमि मे पाँचो स्कन्ध होते है उसे 'पञ्चवोकारभूमि' कहते है; यथा – काम-भूमि एव रूप-भूमि। जिसमे चार ही स्कन्ध होते है उसे 'चतुवोकार-भूमि' कहते है, यथा – अरूप-भूमि। जिसमे एक ही स्कन्ध होता है उसे 'एकवोकारभूमि' कहते है, यथा – असञ्ञिभूमि। तु० – "तत्थ पञ्चन्न खन्धान वोकारो वित्थारो एत्था ति पञ्चवोकारो। अथवा यथापच्चय पवत्तमानेहि पञ्चहि खन्धेहि वोकरीयतीति पञ्चवोकारो।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० २९६।

अञ्ञसमानचेतसिका

२. कथं ? फस्सो, वेदना, सञ्ञा, चेतना, एकग्गता, जीवितिन्द्रियं, मनसिकारो चेति सत्तिमे चेतसिका सब्बचित्तसाधारणा नाम ।

(ये चैतसिक) किस प्रकार (५२) होते है ?

स्पर्श, वेदना, सज्ञा, चेतना, एकाग्रता, जीवितेन्द्रिय एवं मनसिकार – इस प्रकार ये सात चैतसिक 'सर्वचित्तसाधारण' है ।

चैतसिको के उपर्युक्त चतुर्विध लक्षण एव उनके क्रम-आदि के सम्बन्ध मे प्रतिपादित यह व्याख्यान 'विभावनी' का अतिप्रसिद्ध व्याख्यान होने से हमने उसी के आधार पर इसका निरूपण किया है[1]; किन्तु आचार्य अनुरुद्ध का भी 'यही अभिप्राय था'– इसमे सन्देह है । परमत्थदीपनीकार 'विभावनी' के उपर्युक्त व्याख्यान के सम्बन्ध मे "सब्ब त निरत्थकमेव" – कह कर इसकी व्यर्थता उद्घोषित करते है[2] । 'कथावत्थुपालि' मे भी विभावनीकार के द्वारा प्रतिपादित क्रम के विपरीत 'एकुप्पादा', 'एकनिरोधा', 'एकवत्थुका', एकालम्बना' – इस प्रकार का क्रम प्रदर्शित किया गया है[3] । ऐसा प्रतीत होता है कि 'चतुवोकारभूमि' मे चैतसिको मे 'एकवत्थुका' इस लक्षण के सङ्घटित न हो सकने के कारण प्रस्तुत ग्रन्थ मे आचार्य ने इसे अन्त मे स्थान दिया है ।

['मूलटीका' मे 'कथावत्थुपालि' का युक्तिपूर्वक एव सविस्तर वर्णन किया गया है, उसे अवश्य देखना चाहिये[4] ।]

अन्यसमान राशि

२ सर्वप्रथम सम्पूर्ण चैतसिको का त्रिविध विभाग दिखाने के लिये ग्रन्थकार स्वय 'कथ' (चैतसिक धर्म ५२ किस तरह होते है ?) – ऐसा प्रश्न उपस्थित करते है । इस प्रकार के प्रश्न अर्थात् उत्तर देने के लिये ग्रन्थकार के द्वारा अपने आप उठाये गये प्रश्न 'कथयितुकाम्यता' कहे जाते है ।

सर्वचित्तसाधारण चैतसिक – सभी चित्तो के साथ सम्प्रयुक्त होनेवाले ये सात चैतसिक 'सर्वचित्तसाधारण' कहे जाते है[5] । क्रम दो प्रकार का होता है, यथा–

---

१ द्र० – विभा०, पृ० ८० ।

२ प० दी०, पृ० ७३ । जिज्ञासुओ को प० दी० का यह स्थल अवश्य देखना चाहिये ।

३ द्र० – कथा०, पृ० ३०० । ४. ध० स० मू० टी०, पृ० ३७ ।

५ तु० – "वेदना चेतना सज्ञा, छन्द स्पर्शो मति स्मृति ।
मनस्कारोऽधिमोक्षश्च, समाधि सर्वचेतसि ।।"
– अभि० को० २ २४, पृ० १२१ ।

"दश धर्मा· महाभौमा:, वित्सज्ञा चेतना स्मृतिः ।
छन्द. स्पर्शो ऽधिमोक्षश्च, धी· समाधिर्मन.स्थितिः ।।
– अभि० दी० ११२ का०, पृ० ६८ ।

"सदा स्पर्शमनस्कारवित्सज्ञाचेतनान्वितम् ।" – त्रिं० ३ का० ।

१ देशना-क्रम एव २ उत्पत्ति-क्रम । उनमे से 'फस्सो, वेदना, सञ्ञा ' इस रूप मे दिखाया गया 'सर्वचित्त-साधारण' चैतसिको का उपर्युक्त क्रम 'देशना-क्रम' है, क्योकि 'धम्मसङ्गणिपालि' मे इन चैतसिको का यही क्रम उपदिष्ट है[1] । प्रतीत होता है, अनुरुद्धाचार्य ने वही से यह क्रम लिया है । यह 'उत्पत्ति-क्रम' नही हो सकता, क्यो कि ऐसा नही होता कि स्पर्श के अनन्तर वेदना और वेदना के अनन्तर सञ्ज्ञा-आदि का का उत्पाद होता हो, अपितु जब कोई चित्त उत्पन्न होता है तब उस चित्त के साथ ही इन सातो चैतसिको का भी सहोत्पाद होता है ।

१ स्पर्श (फस्स) चैतसिक :

"आलम्ब फुसति फस्सो, स्वाय फुसनलक्खणो,
सङ्घट्टनरसो सन्निपातपच्चुपट्ठानको ।
आपातगतविसयपदट्ठानो ति सञ्ञितो[2] ॥"

वचनार्थ – 'आलम्ब फुसतीति फस्सो' जो धर्म आलम्बन का स्पर्शन करता है वह 'स्पर्श' है। अथवा – 'फुसन्ति सम्पयुत्तधम्मा एतेना ति फस्सो' जिसके द्वारा सम्प्रयुक्त धर्म (चित्त-चैतसिक) आलम्बन का स्पर्श करते है, वह 'स्पर्श' है । अथवा 'फुसन फस्सो' छूनामात्र 'स्पर्श' है ।

लक्षण – 'स्वाय फुसनलक्खणो' 'वह' यह (स्पर्श) आलम्बन का स्पर्श करने लक्षणवाला है । जिस प्रकार दो रूपी धर्मो का परस्पर स्पर्श होता है, यह स्पर्श उस प्रकार का नही है । यह किसी एक आलम्बन मे उसके स्वभाव का सस्पर्श या सङ्घट्टनरूप है[3] । यह सूक्ष्म एव कठोर – दोनो रूप मे होता है । नीबू या किसी अन्य अम्ल पदार्थ को खानेवाले व्यक्ति को देखकर स्वय के न खाने पर भी आलम्बन मे स्पर्श के सङ्घट्टनवश मुखस्राव का क्षरित हो जाना, किसी ऊँचे वृक्ष पर आरूढ व्यक्ति को देखकर नीचे खडे हुए व्यक्ति के पैरो का कॉपना या दो प्रियजनो के पारस्परिक आलिङ्गन-आदि प्रीतिभावो को देखकर देखनेवाले के चित्त मे विकार का उत्पन्न हो जाना आदि – ये सब स्पर्श के उदाहरण है[4] । वस्तुत. यह आलम्बन के रस के अनुरूप चित्त के विकार का होना है[5] ।

१ द्र० – ध० स०, पृ० १८ ।

२ ब० भा० टी० । तु० – विसु०, पृ० ३२३, अट्ठ०, पृ० ८९ ।

३ ध० स० अनु०, पृ० ९३ ।

४ "फस्सो हि चित्तस्स आरम्मणे फुसनाकारेनेव पवत्तितो तस्स आरम्मणे सन्निपतितप्पवत्तिया पच्चयो ति च वुच्चति । सा चस्स फुसनाकारप्पवत्ति साखग्गे ठित दिस्वा भूमिसण्ठितस्स अवीरकपुरिसस्स जङ्घाचलन, अम्बिल-अम्बपक्कादि खादन्त दिस्वा मुखे खेळुप्पत्ति, दयालुकस्स पर हञ्ञमान दिस्वा सरीरकम्पन ति एवमादीसु परिब्यत्ता होति ।" – ध० स० अनु०, पृ० ९३ ।

५. तु० – प० दी०, पृ० ७३, विभा०, पृ० ८०, विसु० महा, द्वि० भा०, पृ० १४०, ध० स० मू० टी०, पृ० ९४ ।

रस – 'सङ्घट्टनरसो' – सङ्घट्टन इसका 'रस' (कृत्य) है । आलम्बन एव चित्त का सयोग इसका तात्पर्य है । चित्त जब आलम्बन का ग्रहण करना चाहता है तब वह स्पर्श की सहायता से ही उसका ग्रहण करने मे समर्थ हो पाता है । स्पर्श की सहायता के बिना चित्त आलम्बन के ग्रहण मे असमर्थ होता है । ताली बजाने के समय जैसे दोनो हाथ मिलते हैं, उसी प्रकार चित्त एव आलम्बन के मिलन को 'स्पर्श' कहते है । अन्य शब्दो मे यह वह धर्म है जिसके योग से इन्द्रिय, विषय एव विज्ञान अन्योन्य का मानो स्पर्श करते है[1] ।

प्रत्युपस्थान (पच्चुपट्ठान) – 'सन्निपातपच्चुपट्ठानको' इन्द्रिय, विषय एव विज्ञान का सन्निपात ही इसका 'प्रत्युपस्थान' (जानने का आकार) है। "चक्खु च पटिच्च रूपे च उप्पज्जति चक्खुविञ्ञाण, तिण्ण सङ्गति फस्सो[2]" चक्षुर्वस्तु, रूपालम्बन और चक्षुर्विज्ञान – इन तीनो के सन्निपात (त्रिक-सन्निपात) से उत्पन्न होनेवाला यह धर्म है – ऐसा योगी के ज्ञान मे अवभासित होता है[3] । इन्द्रिय, विषय एव विज्ञान के सन्निपात से सञ्जात स्पृष्टि ही 'स्पर्श' है[4] ।

पदस्थान (पदट्ठान) – 'आपातगतविसयपदट्ठानो' अभिनिपतित आलम्बन ही इसका 'पदट्ठान' अर्थात् आसन्नकारण है । कारण-सामग्री की पूर्णता होने पर रूप-आदि आलम्बनो का यदि अवभास होता है तो मुख्य रूप से (अवश्य) स्पर्श उत्पन्न होता है, अत अवभासित आलम्बन ही इसके आसन्नकारण हैं ।

२. वेदना चैतसिक

"या वेदेतीति वेदना, सा वेदयितलक्खणा,
अनुभवरसा, चेतसिकस्सादुपट्ठानका ।
पस्सद्धिपदट्ठाना ति कुसलम्हि पकासिता[5]" ।।

वचनार्थ, लक्षण एव रस – 'या वेदेति सा वेदना', 'सा वेदयितलक्खणा' 'अनुभवरसा' जो धर्म आलम्न के रस का वेदन (अनुभव) करता है वह 'वेदना' है । वेदयित (अनुभूति इसका लक्षण है । आलम्बन के रस का अनुभव करना – इसका कृत्य है।

आलम्बन मे इष्टाकार, अनिष्टाकार अथवा मध्यस्थाकार – इन तीन आकारो मे से कोई एक आकार अवश्य होता है । यह आकार ही आलम्बन का रस है । इस रस का अनुभव करना वेदना का लक्षण एव कृत्य है।

[आलम्बन एव उसका रस अभिन्न है । आलम्बन ही रस है, अत स्पर्श आदि के द्वारा जब आलम्बन का ग्रहण किया जाता है तब वेदना भी उस 'आलम्बन'

---

१ तु० – "यद्योगादिन्द्रियविषयविज्ञानान्यन्योन्य स्पृशन्तीव स्पर्श ।" – अभि० को० २ २४ पर स्फु०, पृ० १२७ ।

२ म० नि०, तृ० भा०, पृ० ३८६ ।

३. विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४० ।

४. तु० – वि० प्र० वृ०, पृ० ६६ ।

५ ब० भा० टी० । तु० – विसु०, पृ० ३२१-३२२; अट्ठ०, पृ० ९०-९१ ।

नामक रस का अनुभव करती है, इसीलिये स्पर्श-आदि के साथ वेदना 'एकालम्बन' होती है।]

'जब आलम्बन एव रस अभिन्न है तो स्पर्श-आदि धर्मो द्वारा आलम्बन का ग्रहण करते समय स्वभावत उनके द्वारा आलम्बन के इष्ट-आदि रस का भी स्पर्श किया जाने से वे (स्पर्श-आदि धर्म) भी आलम्बन के रस का अनुभव करते है'–ऐसा कहा जा सकता है कि नही ?

उत्तर—'स्पर्श-आदि धर्म भी आलम्बन के रस का अनुभव करते है'–ऐसा कहा जा सकता है, किन्तु वे आलम्बन के रस का वेदना की तरह अति-उत्कट भाव से ग्रहण नही करते। वे 'आलम्बन का स्पर्श करना' आदि स्वभाव से आलम्बन के एकदेशमात्र का ही अनुभव करते है[1]। वेदना तो स्वामी की तरह आलम्बन के सर्वांश का अनुभव करती है और शेष धर्म उसके एकदेश का ही अनुभव कर सकते है। जैसे कोई सूदकार (रसोइया) अपने स्वामी राजा के लिये विविध प्रकार के भोज्यान्नो का निर्माण करके राजा के समीप लाता है और राजा के विष-सन्देह की निवृत्ति के लिये उनके सम्मुख उस भोज्य-सामग्री मे से प्रत्येक पदार्थ का थोडा थोडा अश चखता भी है, किन्तु राजा ही उस भोज्य-सामग्री का सम्यक् प्रकार से ग्रहण करता है। उसी तरह स्पर्श-आदि धर्म आलम्बन के रस के एकदेशमात्र का अनुभव करते है और वेदना ही उसके रस का सम्यक् उपभोग करती है। इस उपमा मे सूदकार का प्रत्येक पदार्थ के एकदेश (अल्पाश) का चखना स्पर्श-स्थानीय है, राजा का सर्वांश मे उपभोग करना वेदना-स्थानीय है। इसीलिये 'वेदना स्वामी की तरह आलम्बन का ग्रहण करती है और स्पर्श-आदि धर्म सूदकार की तरह आलम्बन के एकदेश का ही ग्रहण करते है'–ऐसा कहा गया है[2]।

प्रत्युपस्थान – 'चेतसिक-अस्साद-उपट्ठानका' यह धर्म चित्त का आश्रय करके आस्वाद करने के स्वभाववाला है–ऐसा योगी के ज्ञान मे अवभासित होता है।

[कुशल-सौमनस्यवेदना को दिखलानेवाले 'अट्ठसालिनी' नामक ग्रन्थ का आधार मानकर कहने के कारण 'चेतसिक अस्साद'–ऐसा कहा गया है। कायिक सुख, दुःख, दौर्मनस्य एव उपेक्षा वेदना के लक्षण-आदि पृथक् पृथक् है, उन्हे 'विसुद्धिमग्ग' मे देखना चाहिये[3]।]

पदस्थान – 'पस्सद्धिपदट्ठाना ति कुसलम्हि पकासिता' कुशल सौमनस्यवेदना मे 'कायप्रश्रब्धि' एव 'चित्तप्रश्रब्धि', ये दोनो प्रश्रब्धिया आसन्नकारण होती है–ऐसा प्रकाशित किया गया है। "पस्सद्धकायो सुख वेदेति[4]" प्रश्रब्ध (उपशान्त) नामकाय एव रूपकाय से सम्पन्न पुद्गल सुख का अनुभव करता है–इस वचन के अनुसार

---

१ विभा०, पृ० ८०।

२. प० दी०, पृ० ७३।

३ द्र०–विसु०, पृ० ३२२, तु०–अट्ठ०, पृ० ९०।

४ म० नि०, प्र० भा०, पृ० ५०।

क्लेशाग्नि से उपशान्त नामकाय (नामसमूह) एव रूपकाय (रूपसमूह) से सम्पन्न पुद्गल को सुख होता है, अतएव दोनो प्रश्रब्धियाँ सुखावेदना के उत्पाद मे आसन्नकारण है—ऐसा कहा गया है[1]।

३. संज्ञा चैतसिक

"आलम्ब सञ्जानातीति सञ्ञा, नीलादिभेदतो,
सञ्जाननलक्खणा चेसा पच्चाभिञ्ञाणरसका।
यथागय्हनिमित्ताभिनिवेसकरणुपट्ठाना।
यथोपट्ठितविसयपदट्ठाना ति सञ्ञिता॥"

वचनार्थ एव लक्षण—'आलम्ब सञ्जानातीति सञ्ञा, नीलादिभेदतो' जो धर्म आलम्बनो का उसके नील, पीत-आदि भेद से परिज्ञान (सज्ञान) करता है, वह 'सज्ञा' है। 'सञ्जाननलक्खणा चेसा' सञ्जानन (जानना)-मात्र इसका लक्षण है। अर्थात् यह आलम्बनो के नीलत्व, पीतत्व-आदि स्वभावो का परिच्छेद करती है। ('आदि' शब्द से दीर्घत्व, ह्रस्वत्व, पुरुषत्व, स्त्रीत्व, सातत्व, असातत्व, मनोज्ञत्व, अमनोज्ञत्व-आदि का भी ग्रहण करना चाहिये।) शिशु के नील-ज्ञान, पीत-ज्ञान-आदि की तरह 'जाननामात्र' इसका लक्षण है। यह आलम्बन को प्रतिवेध-ज्ञान से नही जानती और न तो उनकी अनुभूति ही करती है[2]।

रस—'पच्चाभिञ्ञाणरसका' प्रत्यभिज्ञान करना—इसका कृत्य है। पहले की हुई सज्ञा (अभिज्ञान) से उस वस्तु को पुन जानना (प्रत्यभिज्ञान) इसका रस है, अर्थात् 'यह वस्तु वही है'—इस प्रकार पूर्वकृत सङ्केत से यह 'सज्ञा' वस्तु का पुन ज्ञान करती है। 'सज्ञा' के इन लक्षण एव कृत्यो को देखने से यह अर्थ स्पष्ट होता है कि यह वस्तु को पुन पुन जानने के लिये उनका सज्ञान (अभिज्ञान) करती है तथा अपने पूर्वकृत सज्ञान से ही उन्हे पुन जानती है और इस प्रकार पुन जानने के लिये भविष्य मे और अधिक सज्ञान करती है। इस प्रकार सज्ञान करके जानने मे यदि सज्ञा के द्वारा कही एक बार मिथ्या अभिनिवेश हो जाता है तो वह दृढ ही होता जाता है और फिर उस मिथ्याभिनिविष्ट पुद्गल के मिथ्याभिनिवेश को हटा कर उसे सम्यग् बोध कराने मे सर्वज्ञ बुद्ध-आदि को भी कठिनाई होती है। कहा भी गया है—"मिच्छाभिनिवेससञ्ञाभाव पत्वा च इमे सत्ते सब्बञ्ञुबुद्धेहि पि बोधेतु असक्कुणेय्ये करोति[3]।" सक्षेपत, ज्ञान चाहे पहले से ही वर्तमान हो अथवा पीछे किया गया हो,

---

१ ब० भा० टी०। तु०—विसु०, पृ० ३२२, अट्ठ०, पृ० ६१।

२ तु०—"सज्ञा निमित्तोद्ग्रहणात्मिका।"—अभि० को० १ १४, पृ० २४।
"निमित्तनामार्थैक्यज्ञा सज्ञा वितर्कयोनि।"—वि० प्र० वृ०, पृ० ६६।
"सज्ञा विषयनिमित्तोद्ग्रहणम्; विषय आलम्बनम्, निमित्त तद्विशेषो नील-पीताद्यालम्बनव्यवस्थाकारणम्, तस्योद्ग्रहण निरूपण नीलमेत न पीतमिति।"—त्रि० भा०, पृ० २१।

३. प० दी०, पृ० ७४।

'जाननामात्र' सज्ञा का स्वभाव है। अतएव 'चाहे मिथ्या हो चाहे सत्य, सञ्जानन-मात्र सज्ञा के द्वारा जानना है' – ऐसा कहा गया है[1]। सज्ञा के प्रत्यभिज्ञान-स्वभाव के स्पष्टीकरण के लिये बढई (वड्ढकी), भाण्डागारिक-आदि के उदाहरण दिये जाते है। जैसे – बढई दरवाजा-आदि बनाते समय उसके विभिन्न भागो को बना बना कर उनमे अभिज्ञान (सज्ञान=चिह्न) कर करके रखता जाता है और अन्त मे पुन उन अभिज्ञानो के आधार पर दरवाजा-आदि को खडा कर देता है इत्यादि[2]।

प्रत्युपस्थान – 'यथागय्हनिमित्ताभिनिवेसकरणपट्ठाना' यह यथागृहीत आलम्बन के निमित्त (अवस्थाविशेष) का अभिनिवेश करनेवाला धर्म है – ऐसा योगी के ज्ञान मे अवभासित होता है। अपने द्वारा की गयी सज्ञा के अनुसार, चाहे वह सत्य हो अथवा मिथ्या, अभिनिवेश करना इसका प्रत्युपस्थान है।

पदस्थान – 'यथोपट्ठितविसयपदट्ठाना ति सञ्ञाता' यथोपस्थित (जिस किसी भी रूप मे आगत) विषय (आलम्बन) इसके आसन्नकारण है। जैसे – तृणपुरुष (तृण-निर्मित पुरुष) मे मृगशावको को 'यह पुरुष है' – ऐसी सज्ञा होती है अथवा अन्धो को हाथी मे 'यह दीवाल है', यह स्तम्भ है' – इत्यादि सज्ञा होती है। इन सज्ञाओ मे जिस रूप मे वह विषय उपस्थित है उसी रूप मे वह सज्ञा (चाहे मिथ्या हो चाहे सत्य) का निमित्तकारण होता है।

४. चेतना चैतसिक

"या चेतेतीति चेतना सा चेतयितलक्खणा,
आयूहनरसा, सविधानपच्चुपट्ठानका[3]।
सेसखन्धपदट्ठाना यथा थावरियादयो[4]॥"

वचनार्थ एव लक्षण – 'या चेतेती ति चेतना' जो धर्म अपना तथा अपने साथ सम्प्रयुक्त धर्मो का आलम्बन मे अभिसन्धान (योग) करता है वह चेतना है[5]। चेतना स्वय को तथा सम्प्रयुक्त धर्मो को आलम्बन मे जुटाती है, अर्थात् प्रवृत्त करती है, आलम्बन के साथ युक्त होने के लिये सम्प्रयुक्त धर्मो को उत्साहित करती है। 'सा चेतयितलक्खणा' चेतनात्व इसका लक्षण है।

---

१ द्र० – पीछे पृ० १२।

२ द्र० – अट्ठ०, पृ० ९१, विसु०, पृ० ३२२।

३ सविदहन० – विसु०, पृ० ३२३, अट्ठ०, पृ० ९२।

४. ब० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ३२३, अट्ठ०, पृ० ९२; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४१, ध० स० मू० टी०, पृ० ८७।

५ "चेतयतीति चेतना, अभिसन्दहती ति अत्थो।" – विसु०, पृ० ३२३।
"अभिसन्दहति पबन्धति पवत्तति।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४१; ध० स० मू० टी०, पृ० ८७।
"सद्धि अत्तना सम्पयुत्तधम्मे आरम्मणे अभिसन्दहती ति अत्थो।" – अट्ठ०, पृ० ९१।

अथवा – चेतना वह है जो चित्त का अभिसस्कार, चित्त का प्रस्यन्द करती है[1]। यह मन की चेष्टा है, जिसके होने पर अयस्कान्त मणि की ओर अयस् की तरह चित्त का आलम्बन की ओर प्रस्यन्द होता है[2]।

रस – 'आयूहनरसा' उत्साहित करना – इसका कृत्य है। कुशल-अकुशल कर्मों मे यह स्वय सक्रिय होकर शेष (अपने से अतिरिक्त) सम्प्रयुक्त धर्मों को दुगुने उत्साह से प्रवृत्त करती है। जैसे – कोई मालिक अपने अधीन काम करनेवाले श्रमिको का स्वयं भी काम मे लग कर उत्साह बढाता है – उसी प्रकार यह भी अत्यधिक (जरूरी) कर्मों के अनुसरण-आदि मे सम्प्रयुक्त धर्मो को प्रोत्साहित एव प्रेरित करती हुई प्रकट होती है।

प्रत्युपस्थान – 'सविधानपच्चुपट्ठानका' – यह सम्प्रयुक्त धर्मों को नियोजित करनेवाला धर्म है – ऐसा योगी के ज्ञान मे अवभासित होता है। चेतना, सम्प्रयुक्त धर्मो को आलम्बन मे युक्त करती हुई उपस्थित होती है। यह ज्येष्ठ शिष्य एव प्रधान बढई की तरह अपने और दूसरे के कृत्यो को सिद्ध करती है[3]। जैसे – ज्येष्ठ शिष्य दूर से उपाध्याय को आता हुआ देखकर स्वय अध्ययन-कर्म मे प्रवृत्त होते हुए, दूसरे शिष्यो को भी उस कर्म मे प्रवृत्त करता है। उसके द्वारा अध्ययन आरब्ध करने पर, उसका अनुसरण करते हुए, अन्य शिष्य भी अध्ययन आरम्भ कर देते है। तथा जैसे – प्रधान बढ़ई के तक्षणकृत्य मे प्रवृत्त होने पर उसके अधीनस्थ अन्य छोटे बढई भी अपने तक्षणकृत्य मे प्रवृत्त हो जाते है, इसी तरह यह चेतना भी अपने कृत्य से आलम्बन मे प्रवृत्त होती हुई अन्य सम्प्रयुक्त धर्मो को भी अपने अपने कृत्य मे प्रवृत्त करती है। चेतना द्वारा अपना कृत्य आरब्ध कर देने पर उससे सम्प्रयुक्त अन्य धर्म भी अपने अपने कृत्यो को आरम्भ कर देते है। चेतना के इन लक्षण, रस, प्रत्युपस्थान-आदि के देखने से आलम्बन के ग्रहण मे अन्य सम्प्रयुक्त धर्मो की अपेक्षा चेतना का ही व्यापार अधिक स्पष्ट होता है। कुशल अथवा अकुशल कायकर्म, वाक्कर्म एव मन कर्म के उत्पाद मे चेतना ही प्रधान कारण होती है, इसीलिये "चेतनाह भिक्खवे! कम्म वदामि, चेतयित्वा कम्म करोति कायेन वाचाय मनसा[4]" अर्थात् भिक्षुओ! मै चेतना को ही कर्म कहता हू, 'मै यह करूँगा' – ऐसा सोच कर ही पुद्गल कायद्वार से वाग्द्वार से अथवा मनोद्वार से कर्म करता है – ऐसा कहा गया है।

---

१. तु० – "चित्ताभिसस्कारश्चेतना।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ६९। द्र० – अभि० को० २.२४, पृ० १२२, स्फु०, पृ० १२७।

२. "चेतना चित्ताभिसस्कारो मनसश्चेष्टा, यस्या सत्यामालम्बनं प्रति चेतसः प्रस्यन्द इव भवति अयस्कान्तवशादय प्रस्यन्दवत्।" – त्रि० भा०, पृ० २१।

३ "सकिच्चपरकिच्चसाधिका, जेट्ठसिस्स-महावड्ढकि-आदयो विय।" अट्ठ०, पृ० ९२।

४. अ० नि०, तु० भा०, पृ० १२०; अट्ठ०, पृ० ७३।
तु० – "कर्मज लोकवैचित्र्य, चेतना तत्कृत च तत्।
चेतना मानस कर्म, तज्जे वाक्कायकर्मणि॥"
– अभि० को० ४:१, पृ० ८५।

पदस्थान – 'सेसखन्धपदट्ठाना' अवशिष्ट (वेदनास्कन्ध, सञ्ज्ञास्कन्ध एव विज्ञान-स्कन्ध नामक) तीन नामस्कन्ध इसके आसन्नकारण है। 'यथा थावरियादयो' यह चेतना क्षेत्रस्वामी के स्वभाव के आकारवाली होती है। 'थावरिय' क्षेत्र-स्वामी को कहते है[1]। जैसे – कोई क्षेत्रस्वामी कुछ बलवान् पुरुषो को लेकर, 'मै उसे (काष्ठ-खण्ड, प्रस्तर-खण्ड-आदि को) अवश्य लाऊँगा' – ऐसा सोच कर, खेत के निश्चित स्थान की ओर जाता है। उस समय उसमे अत्यन्त उत्साह एव अत्यन्त प्रयत्न दृष्टिगोचर होते है। वह निरन्तर 'पकडो', 'खीचो', 'उठाओ' – आदि शब्दो का प्रयोग करता है और बलवान् पुरुषो को उत्साहित करता है, चेतना के स्वभाव को भी इसी तरह समझना चाहिये। यहाँ पर क्षेत्र-स्वामी की तरह चेतना है, बलवान् पुरुषो की तरह सम्प्रयुक्त धर्म है, क्षेत्रस्वामी के प्रोत्साहन एव प्रयत्न करने की तरह कुशल-अकुशल कर्मो मे चेतना का प्रोत्साहन एव प्रयत्न होता है। इस प्रकार इसकी 'आयूहनरसता' को जानना चाहिये।

५. एकाग्रता चैतसिक

"एकग्गभावो समाधि सो अविसारलक्खणो,
सम्पिण्डनरसो उपसमपच्चुपट्ठानको।
सुखपदट्ठानो ठिति निवाते इच्चिन विय[2]॥"

वचनार्थ एव लक्षण – 'एकग्गभावो समाधि' एकालम्बनतारूपी एकाग्रता ही समाधि है। "एक अग्ग (आरम्मण) यस्सा ति एकग्ग, एकग्गस्स भावो एकग्गता[3]" अर्थात् जिसका एक ही आलम्बन होता है उसे 'एकाग्र' कहते है, उसका भाव एकाग्रता है। यह आलम्बन मे चित्त का सम या सम्यक् आधान करती है[4]। सभी कुशल-धर्म समाधि-चित्त के द्वारा ही सिद्ध होने कारण उन सब कुशल-धर्मो मे समाधि प्रमुख होती है[5]। यह वह धर्म है जिसके योग से चित्त प्रबन्धेन आलम्बन मे एकत्र वर्तमान होता है[6]। समाधि चित्त की आलम्बन मे स्थिति है[7]। 'सो अविसारलक्खणो' 'अविसार' अर्थात् अव्यग्रता या स्थिरता – इस का लक्षण है[8]। विचिकित्सा (आलम्बन मे सन्देह या निश्चयाभाव) एव औद्धत्य (आलम्बन मे चाञ्चल्य या अस्थैर्य) इन दोनो धर्मो को

१. "तेनाहु पोराणा – 'थावरियसभावसण्ठिता च पनेसा चेतना' ति। थावरियो ति खेत्तसामी वुच्चति।" – अट्ठ०, पृ० ९२।

२ ब० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ३२४; अट्ठ०, पृ० ९७।

३. प० दी०, पृ० ७५।

४. विसु०, पृ० ३२४।

५ अट्ठ०, पृ० ९७।

६. "समाधिश्चित्तस्यैकाग्रतेति। अग्रमालम्बनमित्येकोऽर्थ.। यद्योगाच्चित्त प्रबन्धेनैकत्रालम्बने वर्तते स समाधि।" – अभि० को० २.२४ पर स्फु०, पृ० १२८। तु० – "समापत्ति शुभैकाग्र्यम्।" – अभि० को० ८:१, पृ० २२१।

७ "चित्तस्यैकाग्रता समाधि. चित्तस्थितिलक्षण.।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ७०; विसु०, पृ० ३२४।

८. ध० स० मू० टी०, पृ० ९५।

'विसार' कहते हैं। इसके विपरीत 'अविसार' है, अर्थात् स्थैर्य एव अव्यग्रता – यही समाधि है। अथवा 'अविक्षेप' इसका लक्षण हैं[१]।

रस – 'सम्पिण्डनरसो' सम्प्रयुक्त धर्मो को आलम्बन मे एकत्रित करना – इसका कृत्य है। जैसे स्नानीय चूर्ण का उदक के द्वारा पिण्डीभाव किया जाता है, उसी तरह इसके स्वभाव को जानना चाहिये।

प्रत्युपस्थान – 'उपसमपच्चुपट्ठानको, ठिति निवाते इच्चिनं विय' यह उपशम स्वभाववाला धर्म है – ऐसा योगी के ज्ञान मे अवभासित होता है। इसके कारण निवात प्रदेश मे रखे हुए दीपक की लौ (अर्चि) की स्थिति की तरह आलम्बन मे चित्त की स्थिति होती है। जैसे – दीपक की स्थिति निवात प्रदेश मे अचञ्चल (उपशान्त) होती है, उसी प्रकार चित्त की स्थिति को जानना चाहिये। इस प्रकार एकाग्रता के बल से एक आलम्बन मे चित्त की स्थिति एकक्षणमात्र नही होती। एक ही आलम्बन मे निरन्तर पुन पुन आलम्बन का किया जाना ही 'एकाग्रता' है। इसीलिये "दीपच्चि-दस्सनेन सन्तानठितिभाव समाधिस्स दस्सेति[२]" – ऐसा कहा गया है।

अथवा – ज्ञान इसका प्रत्युपस्थान है। इसीलिये "समाहितो यथाभूत पजानाति पस्सति[३]" – ऐसा कहा गया है।

पदस्थान – 'सुखपदट्ठानो' सुख ही इसका आसन्नकारण है। सुखी पुरुष की समाधि बलवती होती है।

६. जीवितेन्द्रिय चैतसिक

"जीवितमेव इन्द्रिय अनुपालनलक्खण,
पवत्तनरस सहजान थपनुपट्ठान।
यापेतब्बपदट्ठान दकं धाति नियामको[४]।।"

वचनार्थ – 'जीवितमेव इन्द्रिय' जीवित ही इन्द्रिय है। अथवा – "जीवन्ति तेना ति जीवित, जीवितमेव इन्द्रिय जीवितिन्द्रिय[५]", जिससे सहजात धर्म जीवित रहते हैं उसे 'जीवित' कहते है। उस जीवित का ही सहजात धर्मो के जीवन-धारण मे आधिपत्य होने के कारण वह इन्द्रिय भी है, अत उसे ही 'जीवितेन्द्रिय' कहते हैं। "मेरे विना तुम्हारा जीवन नही है, अत अपने जीवन कृत्य मे मुझे स्वामी (अधिपति) बनाओ' – इस प्रकार कहते हुए की तरह यह सहजात धर्मो को अभिभूत करती हुई प्रवृत्त होती

---

१ विसु०, पृ० ३२४।
२ ध० स० मू० टी०, पृ० ८८।
३ तु० – अ० नि०, द्वि० भा०, (पञ्च० निपा०) पृ० २८४, दी० नि०, प्र० भा०, पृ० ४१।
४. ब० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ३२३-३२४, अट्ठ०, पृ० १०१-१०२।
५. प० दी०, पृ० ७५।

है[1] । त्रैधातुक आयु ही जीवितेन्द्रिय है, यह ऊष्म और विज्ञान का आधार है[2] । जब आयु, ऊष्म और विज्ञान काय का परित्याग करते है तो अपविद्ध काय अचेतन काष्ठ की तरह शयन करता है[3] । यह जीवितेन्द्रिय दो प्रकार की होती है; यथा – नामजीवितेन्द्रिय, एव रूपजीवितेन्द्रिय । नामजीवितेन्द्रिय अपने सम्प्रयुक्त धर्मों के अनुपालनकृत्य मे तथा रूपजीवितेन्द्रिय अपने साथ उत्पन्न कर्मज एव चित्तज रूपो के अनुपालनकृत्य मे आधिपत्य करती है ।

लक्षण – 'अनुपालनलक्खण, दक धाति नियामको' सहोत्पन्न नाम एव रूप धर्मों का अनुपालन करना – इसका लक्षण है। इसके द्वारा किये जानेवाले अनुपालनकृत्य के कारण ही यह देह मृत देह से भिन्न होता है । प्राणियो का जीवन इस द्विविध जीवितेन्द्रिय पर ही निर्भर है । उदक, धात्री एव नाविक से इसकी उपमा दी जाती है । जैसे – उदक 'जब तक कमल हैं' अर्थात् अस्तिक्षण मे उनका अनुपालन करता है, उसी प्रकार जब तक सहजात धर्मो का निरोध नही होता, जीवितेन्द्रिय उनका अनुपालन करती है, क्योकि यह उनके निरोध का प्रतिषेध करने मे असमर्थ है । जैसे – धात्री दूसरो से उत्पन्न शिशु का अनुपालन करती है, उसी प्रकार यह (जीवितेन्द्रिय) भी आलम्बनप्रत्यय, कर्मप्रत्यय-आदि हेतु-प्रत्ययो से उत्पन्न नाम एव रूप धर्मो का अनुपालन करती है। सहजात-धर्मो के उत्पाद मे इसका कुछ भी सामर्थ्य नही है।

प्रश्न – जिस प्रकार जीवितेन्द्रिय सहजात धर्मो के जीवित रहने मे उनका अनुपालन करती है, उस प्रकार स्वय जीवितेन्द्रिय के जीवित रहने मे उसका कौन अनुपालन करता है ?

उत्तर – नाविक जैसे नावारूढ व्यक्तियो को नदी के पार करता है, वैसे वह स्वय अपने को भी नदी के पार करता है – इसी तरह जीवितेन्द्रिय भी जैसे सहजात

---

१. प० दी०, पृ० ७५ ।

२. "आयुर्जीवितमाधार., उष्मविज्ञानयोर्हि यः ।"

– अभि० को २ . ४५, पृ० १६७ ।

"आयुर्जीवितमित्यनर्थान्तरम् ।"—वि० प्र० वृ०, पृ० ६७ ।

तु० – "कतम तस्मि समये जीवितिन्द्रिय होति ? या अरूपीन धम्मान आयु, ठिति, यपना, यापना, इरियना, वत्तना, पालना, जीवित, जीवतिन्द्रिय – इद तस्मि समये जीवितिन्द्रिय होति ।" – ध० स०, पृ० ३२१ ।

३. "आयु उस्मा च विञ्ञाण, यदा काय जहन्तिम ।
अपविद्धो तदा सेति, परभत्त अचेतन ।"

– स० नि०, तृ० भा०, पृ० ३६० ।

"यदा खो आवुसो ! इम कायं तयो धम्मा जहन्ति – आयु उस्मा च विञ्ञाण, अथाय कायो उज्झितो अवक्खित्तो सेति, यथा – कट्ठ अचेतन ति ।" – म० नि०, प्र० भा०, पृ० ३६५ ।

धर्मों का अनुपालन करती है, उसी तरह वह अपना भी अनुपालन करती है। इसके अनुपालनार्थ यदि अन्य जीवितेन्द्रिय की अपेक्षा होगी तो फिर इस परम्परा का कभी अन्त ही न होगा और इस तरह अनवस्था हो जायेगी।

रस – 'सहजान पवत्तनरस' सहजात धर्मों का, उनके उत्पाद से लेकर भङ्गपर्यन्त, प्रवर्तन करना – इसका कृत्य है।

प्रत्युपस्थान – 'सहजान थपनुपट्ठान' सहजात धर्मों को उनके उत्पाद से लेकर भङ्गपर्यन्त अवस्थित रखनेवाला यह धर्म है – ऐसा योगी के ज्ञान में अवभासित होता है। सहजात धर्मों के भङ्ग-क्षण में ही इसका अपना भी भङ्ग हो जाने के कारण यह उन्हें, उनके भङ्ग-क्षण में या उससे ऊर्ध्व, अवस्थित नहीं रख सकती। सम्प्रयुक्त धर्मों के भङ्ग के साथ ही इसका (नाम जीवित का) भी भङ्ग हो जाता है, अत. यह अपने भङ्ग के अनन्तर अवस्थित रहनेवाले निरोधाभिमुख चित्तज एवं कर्मज रूपों का अनुपालन नहीं कर सकती, उस काल में उन रूप-धर्मों का रूप-जीवितेन्द्रिय ही अनुपालन कृत्य करती है।

पदस्थान – 'यापेतब्बपदट्ठान' उत्पाद से लेकर भङ्गपर्यन्त यापनीय सहजात धर्म ही इसके आसन्नकारण हैं।

यह जीवितेन्द्रिय न केवल सहजात धर्मों का उनके भङ्ग-क्षण तक अनुपालन ही करती है, अपितु अपने निरोध के अनन्तर भी अपने साथ होनेवाले नाम एव रूप धर्मों की निरन्तर प्रवृत्ति (सन्तति) के लिये उनका, अनन्तर प्रत्यय की तरह, उपकार भी करती है। इस प्रकार निरन्तर उपकार करने से, जब तक कर्म अवशिष्ट होते हैं तब तक, अर्थात् च्युतिपर्यन्त अथवा परिनिर्वाणपर्यन्त, सम्प्रयुक्त धर्म निरन्तर पुनः पुनः उत्पन्न होते रहते हैं। इसीलिये ये दोनो नामजीवितेन्द्रिय एव रूपजीवितेन्द्रिय नाम-स्कन्ध-सन्तति एव रूप-स्कन्ध-सन्तति में प्रधान होती हैं।

७. मनसिकार चैतसिक:

"विसय मनसिकारो एसो सारणलक्खणो;
सम्पयोजनरसो लम्बाभिमुखीभावुपट्ठानो।
आलम्बनपदट्ठानो यथाजानीयसारथि[1]॥"

वचनार्थ – 'विसय मनसिकारो' जो धर्म विषय (आलम्बन) को मन में आवर्जित करता है वह 'मनसिकार' है। यह चित्त में सम्प्रयुक्त होनेवाला एक धर्म है, अतः यह चित्त को ही आलम्बन तक पहुँचा सकता है; किन्तु यह जब चित्त को आलम्बन तक पहुँचाता (आवर्जित करता) है तब आलम्बन को भी चित्त में पहुँचाता है। अतएव "किरिया कारो, मनस्मिकारो, मनसिकारो[2]" – इस प्रकार का विग्रह किया गया

---

१. ब० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ३२५; अट्ठ०, पृ० १०९; ध० स० मू० टी०, पृ० ५७, प० दी०, पृ० ७५।

२. विसु०, पृ० ३२५; अट्ठ०, पृ० १०९।

है । मनसिकार चित्त का आभोग है । दूसरे शब्दों में यह आलम्बन में चित्त का आवर्जन अवधारण है[1] ।

अथवा – "पुरिममनतो विसदिसं मनं करोतीति पि मनसिकारो[2]" अर्थात् जो पूर्व मन से विसदृश, मन को कर देता है वह भी मनसिकार है ।

लक्षणादि – 'एसो सारणलक्खणो, यथाजानीयसारथि' यह सम्प्रयुक्त धर्मों को आलम्बन की ओर अभिमुख (ऋजु) करता है, जैसे सारथि आजानेय (उत्तम जाति के) अश्वों को गन्तव्याभिमुख (ऋजु) करता है । 'सम्पयोजनरसो' सम्प्रयुक्त धर्मों को आलम्बन में युक्त करना – इसका कृत्य है । 'आलम्बाभिमुखीभावुपट्ठानो' यह सम्प्रयुक्त धर्मों को आलम्बन में अभिमुख करनेवाला धर्म है – ऐसा योगी के ज्ञान में अवभासित होता है । 'आलम्बनपदट्ठानो' आलम्बन ही मनसिकार के आसन्नकारण है ।

पहले कहा है कि उत्तम जाति के अश्वों को जिस प्रकार सारथि गन्तव्य लक्ष्य की ओर ऋजु करता है, उसी प्रकार मनसिकार भी सम्प्रयुक्त धर्मों को आलम्बन की ओर ऋजु करता है, मनसिकार के इसी स्वाभाविक बल के कारण सम्प्रयुक्त धर्म कभी भी बिना आलम्बन के (निरालम्बन) नहीं रह पाते, उनका सर्वदा कोई न कोई आलम्बन अवश्य रहता है । इस उपमा में सारथि को मनसिकार, आजानेय अश्वों को सम्प्रयुक्त धर्म तथा गन्तव्य स्थल को आलम्बन समझना चाहिये ।

त्रिविध मनसिकार – मनसिकार तीन प्रकार का होता है, यथा – (क) वीथिप्रतिपादक मनसिकार, (ख) जवनप्रतिपादक मनसिकार एवं (ग) आलम्बनप्रतिपादक मनसिकार ।

(क) इनमें से वीथिचित्त की सन्तति को आलम्बन में उत्पन्न करनेवाला मनसिकार 'वीथिप्रतिपादक मनसिकार' है। यह पञ्चद्वारावर्जनचित्त ही है। पञ्चद्वारावर्जन अपने अनन्तर चक्षुर्विज्ञान, सम्पटिच्छन (सम्प्रत्येषण) आदि वीथिचित्तों का उत्पाद करता है ।

(ख) जवनचित्त-सन्तति को आलम्बन में उत्पन्न करनेवाले मनसिकार को 'जवनप्रतिपादक मनसिकार' कहते हैं । यह मनोद्वारावर्जनचित्त ही है । मनोद्वारावर्जन अपने अनन्तर जवनचित्त-सन्तति का उत्पाद करता है । पालिग्रन्थों में ये ही दोनों 'योनिसोमनसिकार' एवं 'अयोनिसोमनसिकार' शब्दों से बहुश व्यवहृत हुए हैं । इस मनसिकार के कारण ही कुशल अथवा अकुशल कर्म उत्पन्न होते हैं । इसीलिये 'पुरिममनतो विसदिसं मनं करोतीति मनसिकारो' – ऐसा भी निर्वचन किया गया है । अर्थात् यह (पुरिममनतो) पूर्वावस्थित भवङ्गचित्त-सन्तति से विसदृश, (मनं) वीथिचित्त-सन्तति एवं जवनचित्त-सन्तति को उत्पन्न करता है ।

---

१ तु० – "चित्तस्याभोगो मनस्कारः पूर्वानुभूतादिसमन्वाहारस्वरूपः ।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ७० ।

द्र० – "मनस्कारश्चेतस आभोग इति आलम्बने चेतस आवर्जनम्, अवधारणमित्यर्थः । मनसः कारो मनस्कारः, मनो वा करोति, आवर्जयतीति मनस्कारः ।" – अभि० को० २ . २४ पर स्फु०, पृ० १२७-१२८ ।

२. विसु०, पृ० ३२५; अट्ठ०, पृ० १०६ ।

बन्धु-आदि की सहायता से प्रवेश कर पाता है, उसी प्रकार सम्प्रयुक्त धर्म वितर्क का आश्रय ग्रहण करके ही आलम्बन मे आरोहण करते है। इसीलिये वितर्क को 'आरोपण-लक्षण' कहा गया है[1]। इस उदाहरण मे सम्प्रयुक्त धर्म ग्रामीण-स्थानीय, वितर्क राज-वल्लभ-स्थानीय एव आलम्बन राजप्रासाद-स्थानीय है। जिस पुरुष मे वितर्क बलवान् होता है वह रात्रि मे भली प्रकार शयन भी नही कर पाता, क्योकि वितर्क के द्वारा नये नये आलम्बनो मे सम्प्रयुक्त धर्मो का आरोपण करते रहने से उसके चित्त मे नाना प्रकार के विकल्प उत्पन्न होते रहते है।

रस – 'आहनप्परियाहनरसो' आहन (प्रथम बार खटखटाना) एव पर्याहन (पुन: पुन खटखटाना) – इसका कृत्य है। भावना करते समय योगी का 'पृथ्वी, पृथ्वी' आदि कहते हुये या सोचते हुये आलम्बन का ग्रहण करना, उस (आलम्बन) के पुन. पुन· खटखटाने की तरह (पर्याहन) होता है। इसीलिये "तेन योगावचरो आरम्मण वितक्काहत वितक्कपरियाहत करोति[2]" – ऐसा कहा गया है। अर्थात् योगी आलम्बन को वितर्क से आहत करता है, वितर्क से पर्याहत करता है। उसी प्रकार लौकिक आलम्बन काम-गुणो का पुन पुन ऊहन करना – वितर्क का कृत्य है।

प्रत्युपस्थान – 'आनयुपट्ठानो' आलम्बन तक पहुँचाने के लिये चित्त को धारण करनेवाला यह धर्म है – ऐसा योगी के ज्ञान मे अवभासित होता है।

[इसका 'पदस्थान' अट्ठकथाओ मे वर्णित नही है, तथापि आलम्बन ही इसके पदस्थान है – ऐसा कहा जा सकता है।]

जिस प्रकार 'वितर्क' सम्प्रयुक्त धर्मों का आलम्बन मे आरोपण करता है, उसी प्रकार सम्प्रयुक्त धर्म भी इसे आलम्बन मे आरोपित करते है[3]।

अवितर्क धर्मों के द्वारा आलम्बन का ग्रहण –

प्रश्न – यदि वितर्क के द्वारा आरोपण करने से ही सम्प्रयुक्त धर्म आलम्बन मे पहुँचते (आरोपित होते) है तो जिनका वितर्क से सम्प्रयोग नही होता ऐसे द्विपञ्चविज्ञान एव द्वितीय-ध्यान-चित्त-आदि (वितर्क से असम्प्रयुक्त=अवितर्क) धर्म आलम्बन मे कैसे आरूढ होते है ?

उत्तर – रूपालम्बन-आदि पाँच आलम्बनो के चक्षुर्वस्तु (चक्षु प्रसाद) आदि पाँच वस्तुओ मे होनेवाले सङ्घट्टन के बल से तथा उपचार-भावना के बल से वितर्क से सम्प्रयुक्त नही होनेवाले चित्त भी आलम्बन मे आरोहण कर सकते है।

अवितर्क चित्तो[4] (६६) मे से द्विपञ्चविज्ञान आरोपण करनेवाले वितर्क से सम्प्रयुक्त न होने पर भी चक्षुर्वस्तु-आदि मे रूपालम्बन-आदि (पाँच) आलम्बनो के सङ्घट्टन के

---

१. अट्ठ०, पृ० ९४।
२. विसु०, पृ० ९५, अट्ठ०, पृ० ९४।
३. प० दी०, पृ० ७६।
४. द्र० – अभि० स० २ : १२।

अतिविभूत होने के कारण वितर्क के बिना भी आलम्बन मे आरोहण कर सकते हैं। अर्थात् अत्यन्त विभूत आलम्बनो मे वितर्क के द्वारा आरोपण अनावश्यक है।

द्वितीयध्यान-आदि ध्यानो के उत्पाद से पहले उत्पन्न होनेवाले कामावचर भावना-चित्त को 'उपचार भावना' कहते हैं। इस उपचार-भावना के द्वारा 'पठवी-कसिण' आदि आलम्बनो का अच्छी तरह ग्रहण कर लेने के अनन्तर ही ध्यान-धर्म उत्पन्न होते हैं। अत वितर्क के साथ युक्त उपचार-भावना के परिकर्म, उपचार, अनुलोम एवं गोत्रभू कृत्यो द्वारा अच्छी तरह गृहीत आलम्बन का ही, अनायास पुन ग्रहण करनेवाले द्वितीय, तृतीय-आदि ध्यान, वितर्क के बिना भी आलम्बन का ग्रहण कर सकते हैं[1]।

अथवा – चित्त स्वय भी आलम्बन मे आरोहण कर सकते है। उसमे उनका नित्य सहायक मनसिकार होता है। जिस प्रकार कैवर्त (नाविक) – रहित नाव जिस किसी भी घाट पर लग सकती है, इस प्रकार मनसिकार के न होने पर चित्त भी जिस किसी आलम्बन मे प्रवृत्त होगे। मनसिकार की सहायता से उनकी इष्ट आलम्बन मे प्रवृत्ति हो सकती है, अत· द्विपञ्चविज्ञान (अवितर्कचित्त) मनसिकार की सहायता से अपनी 'आलम्बन-विजानन' शक्ति के वश से ही आलम्बन मे आरोहण करते है। द्वितीय-आदि ध्यानचित्त भी मनसिकार, वीर्य एव स्मृति-आदि के बल से आलम्बन मे आरोहण करते है।

वितर्क तो उस उस प्रकार से सङ्कल्प करके अपने साथ सम्प्रयुक्त धर्मों को, जो आलम्बन का ग्रहण करनेवाले हैं, बल-प्रदान करता है और इस कृत्य मे उसके दूसरे धर्मो से अधिक (विशेष) व्यापारवान् होने के कारण 'वितर्क' कहा जाता है[1]।

चेतना, मनसिकार एव वितर्क मे विशेष –

चेतना, सम्प्रयुक्त धर्मो का आलम्बन मे योग (अभिसन्धान) करने रूप लक्षण-वाली है। मनसिकार, सम्प्रयुक्त धर्मो का आलम्बन मे सयोजन करने रूप कृत्यवाला है। तथा वितर्क, सम्प्रयुक्त धर्मों का आलम्बन मे आरोहण करने रूप लक्षणवाला है – ऐसी स्थिति होने से इन तीनो धर्मो मे साम्य प्रतीत होता है, अत इनके विशेष (भेद) को कैसे जानना चाहिये ?

वितर्क का 'सम्प्रयुक्त धर्मो का आलम्बन मे आरोहण कराना' – यह स्वभाव होने के कारण (अभिनिरोपणसभावतो) वह सम्प्रयुक्त धर्मों का आलम्बन मे प्रक्षेपण करनेवाले की तरह होता है।

स्वय भी अपने आलम्बन का ग्रहण करने के कारण 'चेतना' यथारूढ सम्प्रयुक्त धर्मो को उस उस आलम्बन मे नियुक्त करती हुई, सेनापति की तरह, होती है।

सम्प्रयुक्त धर्मो को आलम्बन के अभिमुख ऋजु करने के कारण 'मनसिकार' उत्तम जाति के (आजानेय) अश्वो को ऋजु करनेवाले सारथि की तरह है[2]।

१. प० दी०, पृ० ७६।

२. विभा०, पृ० ८१।

अथवा – वितर्क, सम्प्रयुक्त धर्मों का आलम्बन मे आरोपण करनेवाला है। चेतना, वितर्क द्वारा आरूढ धर्मों का आलम्बन मे सयोग करती है। मनसिकार, सम्प्रयुक्त धर्मो को आलम्बन की ओर ऋजु करता है।

इन तीनो धर्मो के स्वभाव-वैशिष्टच को समझाने के लिये नौकाओ की एक क्रीडा का उदाहरण दिया जाता है। नौकाओ की इस क्रीडा मे, किसी नदी की चौडाई के रुख मे एक आडा डण्डा या बाँस रख दिया जाता है। एक निश्चित दूरी से कुछ नौकाएँ उस डण्डे को छूने के लिये दौडती हैं। जो नौका उस डण्डे का सर्वप्रथम स्पर्श करती है, उसकी विजय समझी जाती है। इस प्रकार की प्रतिस्पर्द्धा मे, प्रतिनौका मे तीन प्रकार के पुरुष कार्यरत होते हैं। एक पुरुष नौका मे उसके सबसे आगे के भाग मे बैठता है, जो नाव के डण्डे के समीप पहुँचने पर उस डण्डे को उठा लेता है। दूसरा पुरुष नौका के मध्य भाग मे स्थित होता है जो अपनी नौका को सर्वप्रथम करने के लिये अथक परिश्रम करता है, यही प्रधान एव नौका का चालक होता है। तीसरा पुरुष नौका के अन्तिम भाग मे बैठता है जो पतवार के सहारे गन्तव्य स्थल की ओर नौका की दिशा का नियमन करता रहता है। यह उदाहरण चेतना, वितर्क एव मनसिकार के कृत्यो को पृथक् पृथक् समझाने के लिये है। इस उदाहरण मे लक्ष्य-स्थान पर रखा हुआ डण्डा आलम्बन है। नौकाएँ सम्प्रयुक्त धर्म हैं। नाव के सबसे आगे के भाग मे बैठा हुआ पुरुष चेतना-स्थानीय है, जो नौका के समीप पहुँचने पर डण्डे का ग्रहण करता है। नौका के मध्यभाग मे बैठा हुआ चालक पुरुष वितर्क की तरह है तथा नौका के अन्तिम भाग मे स्थित नौका की दिशा का नियामक पुरुष मनसिकार की तरह है।

२ विचार चैतसिक

"विचरण विचारो सो अनुमज्जनलक्खणो ।
सहजातानुयोजनरसोनुपबन्धुपट्ठानो[1] ॥"

वचनार्थ एव लक्षण – 'विचरण विचारो' आलम्बन मे पुन पुन विचरण करना 'विचार' है। 'अनुसञ्चरण' इस का अर्थ है। अर्थात् इस धर्म के कारण चित्त आलम्बन मे विचरण करता है। 'सो अनुमज्जनलक्खणो' आलम्बन का चारो ओर स्पर्शन (अनुमर्शन) इसका लक्षण है। [वितर्क के द्वारा आरूढ सम्प्रयुक्त धर्मो को आलम्बन से हटने न देकर आलम्बन के आस पास घूमते रहना, उसी के चारो ओर चक्कर लगाना – अनुमज्जन है।]

रस एव प्रत्युपस्थान – 'सहजातानुयोजनरसो' सहोत्पन्न सम्प्रयुक्त धर्मो का आलम्बन मे पुन· पुन योग करना – इसका कृत्य है। 'अनुपबन्धुपट्ठानो' गृहीत आलम्बन मे चित्त-सन्तति का विच्छेद न होने देने के लिये प्रबन्ध करने (उसी आलम्बन मे चित्त को लगाये रखने) – वाला यह धर्म है – ऐसा योगी के ज्ञान मे अवभासित होता है। अर्थात् अपने साथ ही सम्प्रयुक्त धर्मो को भी आलम्बन मे पुन पुन युक्त करने के स्वभाववाला

---

१. ब० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ९५, अट्ठ० पृ० ९४।

होने के कारण जब एक बार आलम्बन का ग्रहण हो जाता है तो यह (विचार) उसे छोडना न चाहकर उससे चित्त-सन्तति के निरन्तर अविच्छेद के लिये प्रबन्ध (अनुबन्धन) करता है।

वितर्क एव विचार मे भेद – वितर्क, विचार की अपेक्षा औदारिक (स्थूल) होने के कारण तथा विचार से पूर्व होने के कारण घण्टी के प्रथम अभिघात की तरह आलम्बन मे चित्त का प्रथम अभिनिपात है। तथा विचार, सूक्ष्म होने एव अनुसञ्चरण-स्वभाव होने के कारण घण्टी के अनुरव (अनुरणन) की तरह आलम्बन मे 'अनुसञ्चरण' लक्षणवाला है[1]। आकाश मे उडने की इच्छावाले पक्षी के पङ्ख-विक्षेप की तरह तथा गन्धलोलुप भ्रमर के पद्म की ओर अभिनिपात की तरह 'वितर्क' होता है। उत्पतित (उड चुके) पक्षी के पङ्ख-प्रसारण की तरह (इच्छानुसार उड चुकने पर पक्षी जैसे अपने पङ्ख फैला देता है अर्थात् पङ्ख-चालनरूप उड्डयन-क्रिया से निवृत्त हो जाता है, उसी तरह) एवं पद्म की ओर अभिनिपतित भ्रमर के पद्म के ऊर्ध्व भाग मे मडराने की तरह 'विचार' होता है। विस्फरण (फडफडना) स्वभाववाला 'वितर्क' प्रथम उत्पत्तिकाल मे चित्त का परिस्पन्द है, तथा शान्त वृत्तिवाला 'विचार' चित्त का अधिक परिस्पन्द नही है।

अपि च – मैल पकडे हुए काँसे के बर्तन को एक हाथ से दृढतापूर्वक पकडकर दूसरे हाथ से कूची लेकर रगडते हुए व्यक्ति के दृढतापूर्वक पकडनेवाले हाथ की तरह 'वितर्क' है तथा रगडनेवाले हाथ की तरह 'विचार' है। कुम्भकार के दण्ड के दृढ प्रहार से चक्र को घुमाकर बर्त्तन बनाते समय मिट्टी के पिण्ड को दबानेवाले हाथ की तरह 'वितर्क' है और इधर-उधर घुमानेवाले हाथ की तरह 'विचार' है। परकाल से गोला बनानेवाले पुद्गल के हाथ मे स्थित गडे हुए काँटे के समान आरोपणस्वभाव 'वितर्क' है तथा बाहर घमनेवाले काँटे के समान अनुमज्जनलक्षण 'विचार' है[2]।

"वितर्क पर्येषक मनोजल्प है, जो अनभ्यूहावस्था एव अभ्यूहावस्था मे यथाक्रम चेतना और प्रज्ञा का निश्रय लेता है – यह चित्त की औदारिकता है। विचार प्रत्यवेक्षक मनोजल्प है, जो अनभ्यूहावस्था और अभ्यूहावस्था मे यथाक्रम चेतना और प्रज्ञा का निश्रय लेता है – यह चित्त की सूक्ष्मता है। वितर्क एव विचार मे भेद यह है कि एक पर्येषणाकार है तथा दूसरा प्रत्यवेक्षणाकार। जैसे – बहुत से घटो के अवस्थित होने पर यह जानने के लिये कि कौन दृढ है, कौन जर्जर, मुष्टि के अभिघात से ऊह करते है –

---

१ तु० – "वितर्कविचारौ औदार्यसूक्ष्मते।" – अभि० को० १ ३३, पृ० १३६।
"वितर्को नाम चित्तौदार्यलक्षण सङ्कल्पद्वितीयनामा, विषयनिमित्तप्रकारविकल्पी सञ्ज्ञापवनोद्धतवृत्ति., औदारिकपञ्चविज्ञानकायप्रवृत्तिहेतु। विचारस्तु चित्त-सौक्ष्म्यलक्षणो मनोविज्ञानप्रवृत्त्यनुकूल।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ८१।
२. द्र० – विसु०, पृ० ९५-९६; अट्ठ०, पृ० ९४–९५।

यह ऊह 'वितर्क' है। अन्त में वह जानता है कि इतने दृढ है, इतने जर्जर – यह 'विचार' है[1]।"

'वितर्क' चित्त का आलम्बन मे स्थूल आभोग है तथा सूक्ष्म 'विचार' है।

३. अधिमोक्ष चैतसिक

"अधिमुच्चन अधिमोक्खो सो सन्निट्ठानलक्खणो,
असंसप्पनरसो विनिच्छयपच्चुपट्ठानको।
सन्निट्ठेय्यपदट्ठानो इन्दखिलो व निच्चलो[2]॥"

वचनार्थ एव लक्षण – 'अधिमुच्चन अधिमोक्खो' आलम्बन मे प्रवेश करके उसका निश्चय करना 'अधिमोक्ष' है। 'सो सन्निट्ठानलक्खणो' दृढ निश्चय करना या निश्चय पर पहुँचना इसका लक्षण है। आलम्बन, चाहे यथार्थ हो चाहे मिथ्या, उसपर दृढतापूर्वक निश्चित (निष्ठावान्) रहना अधिमोक्ष का स्वभाव है। इस अधिमोक्ष के कारण ही प्राणातिपात-आदि दुश्चरित तथा प्राणातिपातविरति-आदि सुचरित कर्म होते हैं।

रस एवं प्रत्युपस्थान – 'असंसप्पनरसो' असंसर्पण अर्थात् आगा पीछा न करना – इसका कृत्य है। चाञ्चल्य एव सशय लक्षणवाली विचिकित्सा से विरोधी इसका स्वभाव

---

१. "अत्र पूर्वाचार्या आहु – 'वितर्क. कतम. ? चेतना वा निश्रित्य प्रज्ञा वा पर्येषको मनोजल्पोऽनभ्यूहाभ्यूहावस्थयोर्यथाक्रम सा च चित्तस्यौदारिकता। विचार कतम ? चेतना वा निश्रित्य प्रज्ञा वा प्रत्यवेक्षको मनोजल्पोऽनभ्यूहाभ्यूहावस्थयोर्यथाक्रम सा च चित्तसूक्ष्मतेति। अस्मिन् पक्षे वितर्कविचारावेकस्वभावौ समुदायरूपौ पर्यायवर्तिनौ पर्येषणप्रत्यवेक्षणाकारमात्रेण भिन्नाविष्येते। तत्रोदाहरण केचिदाचक्षते, तद्यथा – बहुषु घटेष्ववस्थितेषु कोऽत्र दृढ को जर्जर इति मुष्टिनाभिघनतो य ऊह स वितर्क, इयन्तो जर्जरा दृढा वेति यदन्ते ग्रहण स विचार इति।" स्फु०, पृ० १४०।

तु० – "वितर्क पर्येषको मनोजल्प प्रज्ञाचेतनाविशेष.। पर्येषक किमेतदिति निरूपणाकारप्रवृत्त.। मनसो जल्पो मनोजल्प.। जल्प इव जल्प, जल्पोऽर्थकथनम्। चेतनाप्रज्ञाविशेष इति, चेतनाया चित्तपरिस्पन्दात्मकत्वात्, प्रज्ञायाश्च गुणदोषविवेकाकारत्वात् तद्वशेन चित्तप्रवृत्ते। कदाचिच्चित्तचेतनयोर्वितर्कप्रज्ञप्ति, कदाचित्प्रज्ञाचेतसोर्यथाक्रममनभ्यूहाभ्यूहावस्थयो। अथवा – चेतनाप्रज्ञयोरेव वितर्कप्रज्ञप्ति, तद्वशेन चित्तस्य तथाप्रवृत्तत्वात्। स एव चित्तस्यौदारिकता। औदारिकतेति स्थूलता, वस्तुमात्रपर्येषणाकारत्वात्। एष च नयो विचारेऽपि द्रष्टव्य। विचारोऽपि हि चेतनाप्रज्ञाविशेषात्मकः प्रत्यवेक्षको मनोजल्प एव, इदं तदिति पूर्वाधिगतनिरूपणात्। अत एव च चित्तसूक्ष्मतेत्युच्यते।" त्रि० भा०, पृ० ३२। तु० – "वितर्कश्चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोग, सूक्ष्मो विचारः।" – यो० सू० १.१७ पर व्या० भा०, पृ० ३२।

२. ब० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ३२५, अट्ठ, पृ० १०६।

है। 'विनिच्छयपच्चुपट्ठानको' यह विनिश्चय करनेवाला धर्म है – ऐसा योगी के ज्ञान मे अवभासित होता है। विचिकित्सा का स्वभाव है – आलम्बन मे सन्देह करना तथा अधिमोक्ष का स्वभाव है – आलम्बन मे निश्चय करना, अत इन दोनो का स्वभाव परस्पर विरोधी होने के कारण अधिमोक्ष चैतसिक विचिकित्सासहगत चित्त मे सम्प्रयुक्त नही होता।

पदस्थान – 'सन्निट्ठेय्यपदट्ठानो इन्दखिलो व निच्चलो' निश्चित किये जानेवाले धर्म ही इसके आसन्नकारण है। जैसे – 'इन्द्रकील' अत्यन्त दृढ होने के कारण निश्चल होता है, उसी प्रकार यह अधिमोक्ष भी आलम्बन मे दृढ होने के कारण निश्चलस्वभाव होता है।

'अधिमुक्ति' आलम्बन के गुणो का अवधारण है, दूसरो के अनुसार यह रुचि है। योगाचारो के अनुसार यह यथानिश्चय आलम्बन की धारणा है[१]।

४ वीर्य चैतसिक

"वीरस्स भावो वीरिय एत उस्साहलक्खण,
उपत्थम्भनरसाससीद्यपच्चुपट्ठानक ।
सवेगपदट्ठान वा वीरियारम्भवत्थु वा[२] ॥"

वचनार्थ एवं लक्षण – 'वीरस्स भावो वीरिय' वीर के भाव को 'वीर्य' कहते है। अथवा – वीर का कर्म 'वीर्य' है। 'एत उस्साहलक्खण' उत्साह इसका लक्षण है। वीर्य चित्त का अभ्युत्साह है[३], यह सब कुशल-चित्तो से सम्प्रयुत्त होता है। वीर्यवान् पुद्गल प्रत्येक कार्य करने मे पराक्रमी होता है। उसके पराक्रमी होने मे वीर्य ही कारणभूत होता है।

पुनश्च – वीर्यवान् पुद्गल अपने द्वारा किये गये किसी भी कार्य के परिणामस्वरूप उत्पन्न दुःख को निर्भयतापूर्वक सहन करता है। ['उ (दुक्खलाभे) सहन उस्साहो' दुःख के प्राप्त होने पर उसे सहन करना 'उत्साह' है।]

रस – 'उपत्थम्भनरस' सम्प्रयुक्त धर्मों का उपस्तम्भ करना अर्थात् उन्हे सहारा देना, इसका कृत्य है। जैसे – गिरते हुए जीर्ण गृह को किसी स्थूणा (बल्ली) के द्वारा

---

१ "चित्तस्य विषयेऽधिमुक्तिरधिमोक्षो रुचिद्वितीयनामा चित्तस्य विषयाप्रतिसङ्कोचलक्षण ।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ७० ।
"अधिमुक्तिस्तदालम्बनस्य गुणतोऽवधारणम्, रुचिरित्यन्ये। यथानिश्चय धारणेति योगाचारचित्ता. ।" – अभि० को० २ : २४ पर स्फु०, पृ० १२८ ।

२. ब० भा० टी० । तु० – विसु०, पृ० ३२३, अट्ठ०, पृ० ६६ ।
"विधिना ईरेतब्ब वा पवत्तेतब्ब वा वीरिय, उस्साहो ततकिच्चसमारम्भो -परक्कमो वा, उपट्ठम्भन सम्पयुत्तधम्मान कोसज्जपक्खे पतितु अदत्वा धारण अनुबलप्पदान सम्पग्गण्हन ।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४१ ।

३ "कुशलक्रियाया यच्चेतसोऽभ्युत्साहस्तद्वीर्यम् ।" – अभि० को० १ : २५ पर स्फु०, पृ० १३० ।

सहारा देकर गिरने से रोका जाता है और बल्ली का सहारा पा कर वह गृह गिरता नहीं है, उसी प्रकार सहारा देने रूप लक्षणवाला यह वीर्य है। इस वीर्यरूपी स्तम्भ का सहारा पाकर सम्प्रयुक्त धर्म कुशल-धर्मों से च्युत नहीं होते[1]। अथवा – किसी छोटी सेना का किसी बडी सेना के साथ युद्ध प्रारम्भ हो जाने पर छोटी सेना अवसाद को प्राप्त होती है। राजा यह जानकर छोटी सेना को बल देने के लिये बलवती सेना प्रेषित करता है और उस बलवती सेना से बल पाकर छोटी सेना बडी सेना को पराजित कर देती है, उसी प्रकार यह वीर्य भी सम्प्रयुक्त धर्मों को अवसन्न होने से बचाता है, उन्हे थामता है। इसीलिये 'पग्गहनलक्खण विरिय'[2] कहा गया है।

प्रत्युपस्थान – 'असंसीदनपच्चुपट्ठानक' यह कुशल कर्मों मे अनुत्साह या सङ्कोच से विपरीत स्वभाववाला धर्म है[3] – ऐसा योगी के ज्ञान मे अवभासित होता है। स्त्यान-मिद्ध (मानसिक एव शारीरिक आलस्य) – प्रधान अकुशल चित्तोत्पाद को 'कौसीद्य' कहते है[4]। यह (वीर्य) कौसीद्य का प्रतिपक्षी धर्म है। यह कुशल-धर्मों के उत्पाद एव अकुशल धर्मो के निरोध मे चित्त का उत्साह है। अकुशल-धर्मों के प्रति उत्साह तो कुत्सित होने के कारण कौसीद्य ही है[5]। कौसीद्य का अभिभव करनेवाला धर्म होने के कारण यह समय पडने पर अनुत्साह दिखानेवाला धर्म नही है – ऐसा आकार योगी के ज्ञान मे अवभासित होता है।

पदस्थान – सवेगपदट्ठान' सवेग इसका आसन्नकारण है। जाति, जरा, व्याधि, मरण, अपायगति-आदि का विचार करने से उत्पन्न भय नामक 'ओत्तप्प[6] (उद्वेग)-प्रधान' ज्ञान को 'सवेग' कहते है[7]। सविग्न पुरुष का कुशल कर्मों मे उत्साह होता है।

---

१ "यथा महाराज! पुरिसो गेहे पतन्ते अञ्ञेन दारुना उपत्थम्भेय्य, उपत्थम्भित सन्त एव त गेह न पतेय्य; एवमेव खो महाराज! उपत्थम्भनलक्खण विरिय, विरियुपत्थम्भिता सब्बे कुसला धम्मा न परिहायन्तीति।" – मिलि०, पृ० ३८।

२ अट्ठ०, पृ० ९९।

३ तु० – "सिलोकमच्छरियादिवसेन पुञ्ञकिरियाय ससीद सङ्कोच अनापज्जन्तो, तेन मुत्तचागतादि दस्सेति।" – विसु० महा, द्वि० भा०, पृ० ११७।

४ "कोसज्ज थीनमिद्धपधानो अकुसलचित्तुप्पादो।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ४९१।

"कौसीद्य चित्तस्यानभ्युत्साह।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ७४।

५ "वीर्य कौशीद्यप्रतिपक्ष, कुशले चेतसोऽभ्युत्साह:, न तु क्लिष्टे। क्लिष्टे तूत्साह: कुत्सितत्वात् कौशीद्यमेव।" – त्रि० भा०, पृ० २७।

"वीर्यं कुशलाकुशलधर्मोत्पादनिरोधाभ्युत्साह ससारनिमग्नस्य चेतसोऽभ्युन्नतिरित्यर्थ.।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ७३।

६. "ओत्तप्पतीति ओत्तप्प, पापतो उब्बेगस्सेत अधिवचन।" – विसु०, पृ० ३२४।

७. सवेग आठ प्रकार का होता है। द्र० – अ० नि०अ०, १-४०१; इति० अ०, पृ० १०६।

कहा भी है – "सविग्गो योनिसो पदहति[1]" । अत वीर्य होने के लिये इसका आसन्न कारण सवेग ही होता है । (यह पदस्थान केवल कुशलवीर्य मे ही होता है ।)

अथवा – 'वीरियारम्भवत्थु वा' 'वीर्यारम्भवस्तु' इसका आसन्नकारण है। जिन कारणो से वीर्य (उत्साह) का आरम्भ होता है, उन कारणो को 'वीर्यारम्भवस्तु' कहते है । इसके आठ प्रकार होते है[2] ।

५ प्रीति चैतसिक

> "पिणेति इति पीति सा सम्पियायनलक्खणा,
> कायचित्तपीणनरसा ओदग्यपच्चुपट्ठाना ।
> खुद्दिकाखणिकोक्कन्तिकुब्बेगाफरणा ति च[3] ।।"

वचनार्थ एवं लक्षण – 'पिणेति इति पीति' जो धर्म काय एव चित्त का तर्पण करता है, उन्हे बढाता है वह 'प्रीति' है । 'सा सम्पियायनलक्खणा' वह आलम्बन मे अनुरक्त करने के स्वभाववाली है । यह 'व्यापाद'[4] नामक नीवरण धर्म का प्रतिपक्ष है ।

रस – 'कायचित्तपीणनरसा' काय एव चित्तो को तृप्त करना अर्थात् बढाना – इसका कृत्य है । जब प्रीति उत्पन्न होती है तब चित्तधातु विकसित कमल की भाँति प्रफुल्ल हो जाती है । इस प्रफुल्ल चित्त से उत्पन्न प्रणीत चित्तज रूपो के सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त हो जाने से सम्पूर्ण शरीर तृप्त एव बृहित (बढा हुआ) प्रतीत होता है[5] ।

जैसे – मरुस्थल का कोई प्यासा और थका हुआ पथिक दूर से आते हुए किसी दूसरे पथिक से जल के विषय मे पूछता है और उससे यह जान कर कि, थोडी ही दूर पर स्वच्छ एव मधर जल से परिपूर्ण एक महाह्रद है, अपने चित्त मे प्रसाद एवं

---

१ अ० नि०, द्वि० भा०, पृ० १२१ ।

२. "मग्गो गन्तब्बो होति, मग्गो गतो, कम्म कातब्ब, कम्म कत, अप्पमत्तको आबाधो उप्पन्नो, गिलाना वुट्ठितो होति, अचिरवुट्ठितो गेलञ्ञा, गाम वा निगम वा पिण्डाय विचरन्तो न लभति लूखस्स वा पणीतस्स वा भोजनस्स यावदत्थ पारिपूरिं, लभति पारिपूरि ति – एव वुत्तानि एतानि अनुरूपपच्चवेक्खणासहितानि अट्ठ वीरियारम्भवत्थूनि, तम्मूलकानि वा पच्चवेक्खणानि ।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४१ ।

३. ब० भा० टी० । तु० – विसु०, पृ० ९७, अट्ठ०, पृ० ९५ ।

४ "हितसुख व्यापादयतीति व्यापादो, सो परविनासाय मनोपदोसलक्खणो ।" – अट्ठ०, पृ० ८३ ।

५. "पीति च चित्त व्यापादवसेन उक्कण्ठितु अदत्वा आरम्मणे परितुट्ठमेव करोति, आरम्मणसम्पियायनलक्खणा हि पीति व्यापादनीवरणस्स उजुपटिपक्खा ति ।" – प० दी०, पृ० ४७ ।

स्फूर्ति का अनुभव करता है । तदनन्तर महाह्रद की दिशा मे थोडा चलने पर जब वह जल लेकर आते हुए एक दूसरे व्यक्ति को देखता है तो अपने चित्त मे और अधिक तृप्ति, प्रसन्नता एव स्फूर्ति का अनभव करता है, कुछ कुछ इसी तरह के भाव आलम्बन मे प्रीति उत्पन्न हो जाने पर साधक अपने चित्त मे अनुभव करता है । ये तृप्ति, प्रसाद एव स्फूर्ति-आदि भाव इस प्रीति के लक्षण अथवा कृत्य है ।

अथवा – 'फरणरसा वा' – सम्पूर्ण काय एव चित्त मे व्याप्त हो जाना – इस का कृत्य है[१] ।

प्रत्युपस्थान – 'ओदग्यपच्चुपट्ठाना' उदग्र (उन्नत) का भाव 'औदग्य' (ओदग्य) है । यह चित्त की अभ्युन्नति के आकार मे योगी के ज्ञान मे अवभासित होता है । आलम्बन मे प्रीति के अधिक मात्रा मे उत्पन्न होने पर इसका 'औदग्य' (चित्त का अभ्युन्नत होना या गद्गद होना) प्रकट होता है ।

प्रीति के पाँच प्रकार –

"खुद्दिकाखणिकोक्कन्तिकुब्बेगाफरणा ति च[२] ।"

प्रीति पाँच प्रकार की होती है, यथा – १ क्षुद्रिका प्रीति, २ क्षणिका प्रीति, ३ अवक्रान्तिका प्रीति, ४ उद्वेगा प्रीति एव ५ स्फरणा प्रीति ।

इनमे से क्षुद्रिका प्रीति – शरीर मे लोमहर्षणमात्र ही कर सकती है । क्षणिका प्रीति – क्षण क्षण पर विद्युत्पात के समान होती है । अवक्रान्तिका प्रीति – समुद्रतट की तरङ्ग के समान शरीर मे फैल फैल कर समाप्त हो जाती है । 'उद्वेगा प्रीति' बलवती होती है – यह अपने वेग से शरीर को ऊपर की ओर उछालती हुई सी प्रतीत होती है । तथा स्फरणा प्रीति – यह सम्पूर्ण शरीर मे फैल जाने की तरह प्रतीत होती है । इससे ऐसा अनुभव होता है मानो प्रसन्नता एव स्फूर्ति सारे शरीर मे व्याप्त हो गयी हो । इन पाँचो प्रीतियो मे पूर्व पूर्व की अपेक्षा पश्चिम पश्चिम प्रीतियाँ अधिक बलवती होती है ।

६ छन्द चैतसिक

"छन्देति इति छन्दो सो कत्तुकम्यतालक्खणो,
आलम्बनपरियेसनरसो अत्थिक्युपट्ठानो ।
आलम्बनपदट्ठानो चेतोहत्थप्पसारण[३] ।।"

वचनार्थ एवं लक्षण – "छन्देति इति छन्दो' आलम्बन की इच्छा (अभिलाष), प्रार्थना (पत्थना) अथवा अभिसन्धि – 'छन्द' है । 'सो कत्तुकम्यतालक्खणो' आलम्बन

---

१ "फरणरसा ति पणीतरूपेहि कायस्स ब्यापनरसा ।" – ध० स० मू० टी०, पृ० ८८ ।

२. प० दी०, पृ० ७८ ।

३. ब० भा० टी० । तु० – विसु०, पृ० ३२५; अट्ठ०, पृ० १०६ ।

एवमेते* तेरस चेतसिका अञ्ञसमाना ति वेदितब्बा।

इस प्रकार ये तेरह चैतसिक अन्यसमान चैतसिक हैं – ऐसा जानना चाहिये।

हैं, उनमें उसकी तृष्णा (अपने पास रखने की इच्छा) नहीं होती, इसी तरह यदि कोई पुरुष दान करने के लिये ही धन-सङ्ग्रह करता है तो उसकी धन के प्रति आसक्ति-मूलिका तृष्णा न होने से उसमें लोभचैतसिक न होकर छन्दचैतसिक ही होगा[1]।

प्रत्युपस्थान एवं पदस्थान – 'अत्थिक्युपट्ठानो' यह आलम्बन की इच्छा (प्रार्थना) करनेवाला धर्म है – ऐसा योगी के ज्ञान में अवभासित होता है। 'आलम्बनपदट्ठानो' आलम्बन ही इसके आसन्नकारण है। 'चेतोहत्थप्पसारण' आलम्बन को ग्रहण करने में यह (छन्द) चित्त के हाथ पसारने की तरह होता है। चित्त के यद्यपि हाथ नहीं होते तथापि उपचार से अर्थ का ग्रहण करना चाहिये। जिस प्रकार कोई व्यक्ति किसी वस्तु को ग्रहण करने के लिये हाथ फैलाता है, उसी तरह चित्त के द्वारा आलम्बन का ग्रहण करते समय यह चित्त के हाथ फैलाने की तरह है[2]।

अञ्ञसमाना – 'अञ्ञेस समाना अञ्ञसमाना' जो चैतसिक अन्य चैतसिकों के समान होते हैं उन्हें 'अन्यसमान' कहते हैं। औद्धत्य-आदि चैतसिक केवल 'अकुशल-स्वभाव' ही होते हैं, अर्थात् वे केवल अकुशलचित्तों में ही सम्प्रयुक्त होते हैं। श्रद्धा-आदि चैतसिक केवल 'शोभन-स्वभाव' ही होते हैं, अर्थात् ये केवल शोभनचित्तों में ही सम्प्रयुक्त होते हैं। ये औद्धत्य, श्रद्धा-आदि चैतसिक, अन्य धर्मों के स्वभाव के समान कथमपि नहीं हो सकते, अर्थात् यदि ये अकुशल हैं तो अकुशल ही रहेंगे, यदि कुशल हैं तो कुशल ही रहेंगे। उपर्युक्त स्पर्श, वेदना-आदि तेरह अन्यसमान चैतसिक औद्धत्य, श्रद्धा-आदि की भाँति केवल एकस्वभाव ही नहीं हैं, अर्थात् वे अकुशल स्वभाववाले धर्मों के साथ सम्प्रयुक्त होने पर 'अकुशल' तथा कुशल स्वभाववाले धर्मों के साथ सम्प्रयुक्त होने पर 'कुशल' हो सकते हैं।

शोभन की अपेक्षा अशोभन 'अन्य' है, तथा अशोभन की अपेक्षा से शोभन 'अन्य' है। इस अन्य के समान जो होते हैं, उन्हें 'अन्यसमान' कहते हैं[3]।

अन्यसमानराशि समाप्त।

---

* एवमिमे – स्या०।

१ "दानवत्थुविस्सज्जनवसेन पवत्तकाले पि चेस विस्सज्जितब्बेन तेन अत्थिको व, खिपितब्बउस्सून गहणे अत्थिको इस्सासो विय।" – विभा०, पृ० ८२।

२ "छन्दन छन्दो आरम्मणेन अत्थिकता, सो कत्तुकामतालक्खणो। तथा हेस आरम्मणगहणे चेतसो हत्थपसारण विया ति वुच्चति।" –विभा०, पृ० ८२।

३. "सोभणापेक्खाय इतरे, इतरापेक्खाय सोभणा च अञ्ञे नाम। न उद्धच्च-सद्धादयो विय अकुसलादिसभावा येवा ति अञ्ञसमाना।" – विभा०, पृ० ८२।

अकुसलचेतसिका

४. मोहो, अहिरीकं*, अनोत्तप्पं, उद्धच्चं, लोभो, दिट्ठि, मानो, दोसो, इस्सा, मच्छरियं, कुक्कुच्चं, थीनं†, मिद्धं†, विचिकिच्छा चेति चुद्दसिमे चेतसिका अकुसला नाम ।

मोह, आह्रीक्य, अनपत्राप्य (अनपत्रपा) औद्धत्य, लोभ, दृष्टि, मान, द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य, कौकृत्य, स्त्यान, मिद्ध एव विचिकित्सा – इस प्रकार ये चौदह चैतसिक अकुशल हैं[1] ।

अकुशल चैतसिक

४. १ मोह चैतसिक ·

"मुय्हतीति मोहो नाम एसो अञ्ञाणलक्खणो,
आलम्बसभावच्छादरसोन्धकारुपट्ठानो ।
अयोनिसोमनसिकारपदट्ठानो ति सञ्ञितो[2] ॥"

---

* अहिरिक – सी०, स्या०, रो०, ना०, म० (क) ।

†-† थीनमिद्धं – सी०; थिन० – म० (क, ख) (सर्वत्र) ।

१ तु० – ६ क्लेशमहाभूमिक, २ अकुशलमहाभूमिक, १० परित्तक्लेशभूमिक चैतसिक । यथा––

"मोह. प्रमादः कौसीद्यमाश्रद्ध्यं स्त्यानमुद्धव. ।
क्लिष्टे,
सदैवाकुशले, त्वाह्रीक्यमनपत्रपा ॥
क्रोधोपनाहशाठ्येर्ष्याप्रदासम्रक्षमत्सरा· ।
मायामदविहिंसाश्च, परीत्तक्लेशभूमिका· ॥"

– अभि० को० २ · २६, २७ का० ।

"स्त्यान प्रमत्तिराश्रद्ध्यमालस्य मृद्धिरुद्धति ।
क्लिष्टे षट्,
अशुभे तु द्वे, आह्रीक्यमनपत्रपा ॥" –अभि० दी० ११४ का० ।

"मायाशाठ्यमदक्रोधविहिंसेर्ष्याप्रदष्टय ।
सूक्ष्मोपनाहमात्सर्याण्यल्पक्लेशभुवो दश ॥" –अभि० दी० ११५ का० ।

" . .....क्लेशा रागप्रतिघमूढय. ॥
मानदृग्विचिकित्साश्च,
क्रोधोपनहने पुनः ।
म्रक्ष प्रदाश ईर्ष्याथ, मात्सर्यं सह मायया ॥
शाठ्यं मदो विहिंसाह्रीरत्रपा स्त्यानमृद्धव ।
आश्रद्ध्यमथ कौशीद्य प्रमादो मुषितास्मृति ॥
विक्षेपोऽसम्प्रजन्य च . ... ।" –त्रि० ११–१४ का० ।

२. ब० भा० टी० । तु० – अट्ठ०, पृ० २०१, विसु०, पृ० ३२७ ।

वचनार्थ एवं लक्षण – मुय्हतीति मोहो नाम, एसो अञ्ञाणलक्खणो' आलम्बन मे जो स्वय मुग्ध (मोह को प्राप्त) होता है, अथवा – जिसके द्वारा प्राणी मोह को प्राप्त होते हैं। अथवा – विचित्ततामात्र मोह है[1]। विद्या का विपक्ष अर्थात् अज्ञान – इसका लक्षण है[2]। आलम्बन मे मोह को प्राप्त होने का तात्पर्य विचिकित्सा की तरह अनिश्चित होकर मोह को प्राप्त होना नही है, अपितु आलम्बन के सत्य स्वभाव का अज्ञान है। अतएव टीकाकारो ने 'मुय्हति' का अर्थ 'न बुज्झति[3]' – ऐसा किया है। अपि च – 'भवङ्ग' (भवाङ्ग) की अवस्था मे या सुषुप्तिकाल मे जैसे किसी प्रकार का ज्ञान उत्पन्न नही होता[4], उस प्रकार का भी ज्ञानाभाव इसका लक्षण नही है, अपितु ज्ञान का विपक्ष इसका अर्थ है। अर्थात् ज्ञान के द्वारा जैसे आलम्बन के स्वभाव का यथाभूत ज्ञान होता है, ठीक इसके विपरीत, मोह के द्वारा वस्तु के अयथाभूत स्वभाव का अवधारण (विपर्ययाध्यास) होता है। अत ज्ञान का विरोधी होना इसका लक्षण है।

अथवा – चित्त को अन्धा करना इसका लक्षण है।

रस एवं प्रत्युपस्थान – 'आलम्बसभावच्छादरसो' आलम्बन के यथार्थ स्वभाव का आवरण करना (अथवा जानने मे असमर्थ होना) – इसका कृत्य है। 'अन्धकारुपट्ठानो' यह प्रज्ञाचक्षु को अन्धकारावृत करनेवाला धर्म है – ऐसा योगी के ज्ञान मे अवभासित होता है।

'आलम्बन के यथाभूत स्वभाव' से तात्पर्य – दुश्चरित (पाप कहे जानेवाले) धर्मो के दुष्ठु (अशोभन) स्वभाव, सुचरित धर्मो के सुष्ठु (शोभन) स्वभाव, दु ख-सत्य-आदि सत्यो के सत्स्वभाव, अतीतभव एव अनागतभव के अस्तिस्वभाव एव प्रतीत्य-समुत्पादस्वभाव-आदि स्वभावो से है। उपर्युक्त स्वभावो का ज्ञान न होने देने के लिये आवरण करना – इसका कृत्य है। मोहजनित आवरण के कारण दुश्चरित धर्मो के दुश्चरित स्वभाव को, दुश्चरित के रूप मे जाननेवाले विद्वान् पुरुष भी जब मोह को प्राप्त होते है तब वे उनमे किसी भी प्रकार की आपत्ति (दोष) न देखकर उन कर्मो (पाप) को करने मे प्रवृत्त हो जाते है। अत. यह मोह प्रज्ञाचक्षु को अन्धा करनेवाला धर्म है – ऐसा योगी के ज्ञान मे अवभासित होता है। असम्यक् प्रतिपत्ति या अन्धकार का होना इसका प्रत्युपस्थान (जानने का आकार) है।

पदस्थान – 'अयोनिसोमनसिकारपदट्ठानो ति सञ्ञितो' अयोनिशोमनसिकार इसका आसन्नकारण है। अयोनिशोमनसिकार के होने पर अनुत्पन्न अकुशल धर्म भी उत्पन्न

---

१. "मुय्हन्ति तेन, सय वा मुय्हन्ति, मुय्हनमत्तमेव वा त ति मोहो।"–अट्ठ०, पृ० २०१।

२ "अविद्यालक्षणो मोह।"–स्फु०, पृ० ३०१।
"मूढिरविद्यानुकारा असम्प्रख्यानरूपा।"–वि० प्र० वृ०, पृ० ७४।
"मोहोऽपायेषु सुगतौ निर्वाणे तत्प्रतिष्ठापकेषु हेतुषु तेषा चाविपरीते हेतुफल-सम्बन्धे यदज्ञानम्।" – त्रि० भा०, पृ० २८।

३. विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ४६।

४. द्र० – अभि० स० ४.१६।

हो जाते है, अत यह मोह का आसन्नकारण है[1]। इसे सब अकुशलो का मूल जानना चाहिये।

[अकुशल चैतसिको के निरूपण मे जहाँ पदस्थान का निर्देश न किया गया हो वहाँ उनका पदस्थान (आसन्नकारण) 'अयोनिशोमनसिकार' है – ऐसा समझना चाहिये।]

२ आह्रीक्य एवं ३ अनपत्राप्य चैतसिक

"उभो इमे अजिगुच्छ-अनुत्तासनलक्खणा,
पापान करणरसा असङ्कोचनुपट्ठाना।
अत्तपर-अगारवपदट्ठाना ति सञ्ञिता[2]॥"

लक्षणादि – कायदुश्चरित-आदि से जुगुप्सा न करना 'आह्रीक्य' का लक्षण है। निर्लज्जता इसका अर्थ है। उन्ही कायदुश्चरित-आदि से त्रस्त अर्थात् भयभीत न होना 'अनपत्राप्य' का लक्षण है। अर्थात् पाप से उद्विग्न न होना इसका अर्थ है। अकुशल कर्मो को करना – इन दोनो का कृत्य है। ये अकुशल कर्म मे सङ्कोच करनेवाले धर्म नही हैं – ऐसा योगी के ज्ञान मे अवभासित होता है। आत्मगौरव और परगौरव का अभाव इनके आसन्नकारण हैं।

अथवा – आह्रीक्य 'ह्री' (शोभन चैतसिक) का विपक्षभूत तथा अनपत्राप्य 'अपत्रपा' (शोभन चैतसिक) का विपक्षभूत धर्म है। कुकर्म करते समय अपने से ही लज्जा का न होना—'आह्रीक्य' तथा दूसरो से लज्जा का न होना 'अनपत्राप्य' है। अपनी सन्तान मे होनेवाले गुणो के प्रति या परसन्तान मे होनेवाले गुणो के प्रति अथवा गुणवान् पुद्गलो के प्रति गौरव न होना 'आह्रीक्य' है तथा 'अनपत्राप्य' वह धर्म है जिसके योग से पुद्गल सत्पुरुषो से गर्हित अवद्य (अकुशल कर्म) का अनिष्ट फल नही देखता, अर्थात् अनिष्ट फल मे भय नही करता[3]।

---

१ तु० – "तत्थ कतमो अयोनिसोमनसिकारो? 'अनिच्चे निच्च' ति अयोनिसो मनसिकारो, 'दुक्खे सुख' ति अयोनिसोमनसिकारो, 'अनत्तनि अत्ता' ति अयोनिसोमनसिकारो, 'असुभे सुभ' ति अयोनिसो मनसिकारो, सच्चविप्पटिकूलेन वा चित्तस्स आवट्टना अनावट्टना आभोगो समन्नाहारो मनसिकारो – अय वुच्चति अयोनिसोमनसिकारो।" – विभ०, पृ० ४४७।

२ ब० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ३२६, अट्ठ०, पृ० २०१।

३ "तत्राह्रीक्य ह्रीविपक्षभूतो धर्म, अनपत्राप्यमत्राप्यस्येति। अकार्य कुर्वाणस्यालज्जा स्वात्मनोऽह्री., परेभ्योऽलज्जा अनपत्राप्यमित्यपरे।"–वि० प्र० वृ०, पृ० ७५। अह्रीरगुरुतावद्ये, भयादर्शितमत्रपा।"–अभि० को० २ ३२, पृ० १३४। "आह्रीक्यम् – स्वयमवद्येनालज्जा। तस्मिन् कर्मण्यात्मानमयोग्य मन्यमानस्यापि यावद्येनालज्जा साह्रीक्य ह्रीविपक्षभूतम्। अनपत्राप्यम् – परतोऽवद्येनालज्जा 'लोकशास्त्रविरुद्धमेतन्मया क्रियते' – इत्येवमवगच्छतोऽपि या तया पापक्रिययालज्जा साऽपत्राप्यविपक्षभूतमनपत्राप्यम्।" – त्रि० भा०, पृ० ३१।

(क) आह्रीक्य – 'न हिरीयतीति अहिरीको' जो कायदुश्चरित-आदि से लज्जा नहीं करता वह 'अह्रीक' है। इस शब्द से 'पुद्गल' एवं 'सम्प्रयुक्त धर्मसमूह' – दोनों का ग्रहण होता है। 'अहिरीकस्स भावो अहिरीकं' अह्रीक के भाव को 'आह्रीक्य' कहते हैं[1]। विष्ठा से ग्रामशूकर की भांति कायदुश्चरित-आदि से जुगुप्सा न करना – इसका कृत्य है।

(ख) अनपत्राप्य – 'न उत्तप्पतीति अनोत्तप्पं' जिस धर्म के कारण पाप-कर्मों के करने में अपत्रपा (व्यग्रता या सङ्कोच) उत्पन्न नहीं होती वह 'अनपत्राप्य' है। अग्नि से शलभ की भांति कायदुश्चरित-आदि से अनुत्त्रास (निर्भयता) इसका स्वभाव है।

"जिगुच्छति नाहिरीको, पापा गूथा व सूकरो।
न भायति अनोत्तप्पी, सलभो विय पावका" ति[2]॥

[आह्रीक्य एवं अनपत्राप्य के रस, प्रत्युपस्थान एवं पदस्थान 'ह्री' एवं अपत्रपा' के विपरीत हैं, अतः इन्हें शोभन चैतसिकों में होनेवाले इनके वर्णन से जानना चाहिये।]

४ औद्धत्य चैतसिक :

"उद्धतभावो उद्धच्चं अवूपसमलक्खणं।
अनवट्ठानरसं भन्तभावपच्चुपट्ठानकं[3]।"

वचनार्थ एवं लक्षण – 'उद्ध उद्ध हनतीति उद्धतं, उद्धतस्स भावो उद्धच्चं' उद्धत का भाव 'औद्धत्य' है। 'तं अवूपसमलक्खणं' उपशम का अभाव इसका लक्षण है। औद्धत्य से सम्प्रयुक्त चित्त आलम्बन में स्थिर नहीं रह पाता, अपितु वह वायु के अभिघात से चञ्चल जल की भाँति आलम्बन में अनवस्थित रहता है[4]।

रस एवं प्रत्युपस्थान – 'अनवट्ठानरसं', 'भन्तभावपच्चुपट्ठानकं' आलम्बन में अनवस्थिति (अस्थिरता) – इसका कृत्य है। यह धर्म सर्वदा प्रकम्पित होते रहने के स्वभाव-वाला है – ऐसा योगी के ज्ञान में अवभासित होता है। जैसे – वायु के अभिघात से

---

१ द्र० – विसु०, पृ० ३२६, अट्ठ०, पृ० २०१।
२ विभा०, पृ० ८२, तु० – प० दी०, पृ० ८०।
३ ब० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ३२७; अट्ठ०, पृ० २०३।
४ द्र० – "उद्धरतीति उद्धटं, पासाणपिट्ठे वट्टित्वा विस्सट्ठगेण्डुको विय नानारम्मणेसु विक्खित्तं चित्तं, उद्धटस्स पन चित्तस्स उद्धरणाकारपवत्तिया पच्चयभूतो धम्मो उद्धच्चं, तं पन वातेरितं जलं विय धजपताका विय च दट्ठब्बं।" – प० दी०, पृ० ८०।
तु० – ध० स०, पृ० १०५, २५६, २७२, विभा०, पृ० ८२।
"औद्धत्यं चित्तस्याव्युपशमः।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ७४।
"चित्ताव्युपशान्तिरौद्धत्यम्।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ३०६।
"औद्धत्यं चित्तस्याव्युपशमः, व्युपशमो हि शमथस्तद्विरुद्धोऽव्युपशमः, स पुनरेष रागानुकूलपूर्वहसितरसितक्रीडिताद्यनुस्मरतश्चेतसोऽव्युपशमहेतुः शमथ-परिपन्थ-कर्मकः।" – त्रि० भा०, पृ० ३१।

ध्वज, पताका-आदि स्थिर नही रह पाते, अपितु कम्पयुक्त (चञ्चल) होते है, उसी तरह औद्धत्य से सम्प्रयुक्त चित्त भी एक ही आलम्बन मे स्थिर (निष्कम्प) नही रह पाता; अपितु अनवस्थित (भ्रान्त) रहता है[1]। औद्धत्य के इस अनवस्थानकृत्य के कारण तत्सम्प्रयुक्त धर्म एक ही आलम्बन का दृढतापूर्वक ग्रहण नही कर पाते, यहाँ तक कि 'एकाग्रता' नामक समाधि भी जब औद्धत्य से सम्प्रयुक्त होती है तो वह आलम्बन का केवल ग्रहणमात्र ही कर पाती है। दूसरे चित्तो से सम्प्रयुक्त होने पर जैसे वह (समाधि) दृढ होती है, वैसे औद्धत्य से सम्प्रयुक्त होने पर नही हो पाती। इसीलिये पाषाण के अभिघात से समुद्धत भस्म की तरह स्वभाववाला यह धर्म है—ऐसा कहा गया है। भस्म-राशि मे पाषाण के प्रक्षिप्त होने पर जैसे वह भस्म-राशि अनवस्थित होकर ऊपर उठती है, उसी तरह इसके आकार को जानना चाहिये। यह (औद्धत्य) चित्त का विक्षेप है।

[उपर्युक्त चार चैतसिक सर्वअकुशल-साधारण होते है। अत इनका वर्णन सर्वप्रथम किया गया है।]

५ लोभ चैतसिक

"लुब्भतीति लोभो एसो आलम्बग्गाहलक्खणो,
अभिसङ्गरसो अपरिच्चागपच्चुपट्ठानको।
सयोजनीयधम्मेसु अस्सादिक्खपदट्ठानो[2]।"

वचनार्थ एव लक्षण—'लुब्भतीति लोभो' जो आलम्बन के प्रति आसक्त होता है, अथवा जिसके कारण सम्प्रयुक्त धर्म आसक्त होते है, अथवा आसक्तिमात्र लोभ है[3]। 'एसो आलम्बग्गाहलक्खणो' आलम्बन को ग्रहण करना इसका लक्षण है। आलम्बन

---

१ तु०—"भन्तत्त चित्तस्सा ति—चित्तस्स भन्तभावो, भन्तयान-भन्तगोणादीन विय। इमिना एकारम्मणस्मि येव विप्फन्दन कथित। उद्धच्च हि एकारम्मणे विप्फन्दति, विचिकिच्छा नानारम्मणे।"—अट्ठ०, पृ० २१०।

२ ब० भा० टी०। तु०—विसु०, पृ० ३२७, अट्ठ०, पृ० २०१। प० दी०, पृ० ८०; विभा०, पृ० ८२, अभि० दी०, पृ० २२०। "कामेऽकुशलमूलानि रागप्रतिघमूढय.।" —अभि० को० ५.२०, पृ० १३६।
"लोभो नाम भवे भवोपकरणेषु यासक्ति प्रार्थना च।"—त्रि० भा०, पृ० २७। अपिच "तत्र रागो भवभोगयोरध्यवसान प्रार्थना च।"—त्रि० भा०, पृ० २८।

३. तु०—"लुब्भतीति लोभो, लुब्भन्ति सम्पयुत्ता धम्मा एतेना ति लोभो, लुब्भनमत्तमेव वा एत ति लोभो। एत्थ च लुब्भन नाम आरम्मणाभिसज्जन दट्ठब्ब। सो पन आरम्मणे लगनट्ठेन मक्कटालेपो विय, अभिकङ्खट्ठेन तत्तकपाले खित्तमसपेसि विय, अपरिचागट्ठेन तेलञ्जनरागो विय, तण्हानदिभावेन वड्ढित्वा सत्तान अपायावहट्ठेन सब्बानि सुक्खकट्ठसाखापलासतिणकसटानि महासमुद्द वहन्ती सीघसोता नदी विय दट्ठब्बो।"—प० दी०, पृ० ८०।

का ग्रहणमात्र इसका अर्थ नही है, अपितु उत्कट लगनपूर्वक आलम्बन का ग्रहण है। अतएव कहा गया है कि लोभ के द्वारा आलम्बन का ग्रहण बन्दर के द्वारा मर्कटालेप (गोद की तरह का कोई द्रव्य) के ग्रहण की भाति होता है। मर्कट (बन्दर) के अतिशय लोभी एव चञ्चल होने के कारण जब वह मर्कटालेप[1] का ग्रहण करने के लिये उसे अपने एक हाथ से पकडता है तो उसका वह हाथ उसी मे चिपक जाता है तब वह दूसरे हाथ से भी उसे ग्रहण करता है और उसका दूसरा हाथ भी उसी में चिपक जाता है। तदनन्तर वह दोनो पैर और सिर भी उसमे लगा देता है और उसका सम्पूर्ण शरीर पूरी तरह उसमे सट जाता है। इसी तरह लोभ भी छह आलम्बनो मे से किसी को भी न छोड कर सब का एक साथ ग्रहण करना चाहता है। इस उपमा मे मर्कटालेप (गोद या किसी वृक्ष का निर्यास) को लोभ तथा मर्कट के अङ्गो को आलम्बन समझना चाहिये।

रस एव प्रत्युपस्थान – 'अभिसङ्गरसो' आलम्बन मे अभिष्वङ्ग (आसक्ति)– इसका कृत्य है। जैसे गर्म कडाही मे प्रक्षिप्त (फेंकी हुई) मासपेशी उसी मे चिपक जाती है उसी तरह आलम्बन मे आसक्त हो जाना इसका कृत्य है। 'अपरिच्चाग-पच्चुपट्ठानको' यह त्याग न करने के स्वभाववाला धर्म है – ऐसा योगी के ज्ञान मे अवभासित होता है। जैसे – तैलाक्त अञ्जन-द्रव्य किसी वस्त्र-आदि पर लग जाने पर, उसका आसानी से त्याग नही करता, उसी प्रकार लोभ भी जब किसी आलम्बन मे लग जाता है तो उसका वहाँ से हटना अतिदुष्कर हो जाता है।

पदस्थान – 'सयोजनीयधम्मेसु अस्सादिक्खपदट्ठानो' सयोजन-धर्मो[2] के आलम्बन-भूत धर्मो मे आस्वाद-दर्शन इसका आसन्नकारण है। अशुभ को शुभ देखने से ही लोभ (तृष्णा) का उत्पाद होता है। अत आस्वाद-दर्शन ही इसके उत्पन्द मे आसन्नकारण होता है।

छन्द एव लोभ मे भेद– चित्त की आलम्बन को ग्रहण करने की कामनामात्र छन्द है, यह आसक्तिस्वभाव नही है। आलम्बन का लालच अर्थात् आसक्तिपूर्वक आलम्बन की चाह लोभ है[3]। छन्द, आलम्बन की ग्रहीतुकामता मात्र होने से, लोभ की अपेक्षा दुर्बल होता है – ऐसा नही समझना चाहिये, अपितु कुछ स्थलो पर, जहाँ छन्द अधिपतिप्रत्यय होता है वहाँ, यह लोभ से भी बलवत्तर होता है।

---

१. विभा०, पृ० ८२। बन्दर पकडनेवाले लोग एक ऐसे आलेप का प्रयोग करते है जिसका स्पर्श करने पर बन्दर उसी मे सट (चिपक) जाते है, उससे छूट नही सकते।

२ द्र० – अभि० स०, सप्त० परि०, 'दस सयोजनानि'।

३ "चित्तस्स आलम्बितुकामतामत्त छन्दो, लोभो तत्थ अभिगिज्झन ति – अयमेतेस विसेसो।" – विभा०, पृ० ८२।

६. दृष्टि चैतसिक :

"मिच्छा पस्सतीति दिट्ठि अभिनिवेसलक्खणा;
परामासरसा मिच्छाभिनिवेस-पच्चुपट्ठाना।
अरियानं अदस्सनकामतादिपदट्ठाना ॥"

शब्दार्थ – 'मिच्छा पस्सतीति दिट्ठि' जो धर्म आलम्बन को मिथ्या (अयथार्थ रूप से) देखता है, अथवा जिसके द्वारा सम्प्रयुक्त धर्म मिथ्या देखते हैं, अथवा मिथ्या देखनामात्र 'मिथ्यादृष्टि' है। 'पस्सतीति दिट्ठि' इस विग्रह के अनुसार जो धर्म देखता है वह 'दृष्टि' है – ऐसा अर्थ होना चाहिये; किन्तु अकुशल धर्मों के अन्तर्गत सन्निविष्ट होने के कारण इसका 'मिथ्या' – यह विशेषण उपलक्षित है। अयथार्थ का ग्रहण करने के कारण यह वितथ एवं अयथाभूत दृष्टि है। सभी अनर्थों को लानेवाली होने से यह पण्डितों के द्वारा जुगुप्सित है, इसलिये 'मिथ्यादृष्टि' कही जाती है।

लक्षण, रस एवं प्रत्युपस्थान – 'अभिनिवेसलक्खणा' मिथ्याभिनिवेश (अयोनिशोमनस्कार) इसका लक्षण है। 'परामासरसा' आलम्बन का विपरीत परामर्श (अवधारण) – इसका कृत्य है। 'मिच्छाभिनिवेसपच्चुपट्ठाना' यह धर्म मिथ्याभिनिवेश के रूप में योगी के ज्ञान में अवभासित होता है। अनित्य को नित्य तथा जगत् को सकर्तृक (ईश्वरकर्तृक आदि) मानना आदि मिथ्याभिनिवेश हैं। यह दृष्टि परम अवद्य है।

पदस्थान – 'अरियानं अदस्सनकामतादिपदट्ठाना' अर्थात् आर्य पुद्गलों को न देखने की इच्छा इसका आसन्नकारण है। आर्यों के दर्शनमात्र से सम्यग् दृष्टि का उत्पाद हो जाता है, अतः दृष्टिसम्प्रयुक्त पुद्गल उनके दर्शन अर्थात् उनके सम्पर्क से भी दूर रहना चाहता है, और यह अदर्शनकामता ही इसका आसन्नकारण भी है।

ज्ञान एवं दृष्टि – ज्ञान, आलम्बन को उसके स्वभाव (अनित्यादि) के अनुसार

---

१. द० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ३२७; अट्ठ०, पृ० २०१।

२. तु० – "नास्ति दृष्टिरेव मिथ्यादृष्टिः।" – अभि० को० ५:७, पृ० १३२।
"फलहेत्वपवादो यः, सा मिथ्यादृष्टिरुच्यते।" – अभि० दी० २७० का०, पृ० २३०।
"मिथ्यादृष्टिः – यया मिथ्यादृष्टया हेतुं वाऽपवदति फलं क्रियां वा सद्वा वस्तु नाशयति सा सर्वदर्शनपातित्वान्मिथ्यादृष्टिरित्युच्यते।" – त्रि० भा०, पृ० २९।

३. "अयोनिसो अभिनिवेसो अनुपायाभिनिवेसो उप्पथाभिनिवेसो।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४९।

४. "धम्मसभावमतिक्कम्म परतो आमसन्तीति परामासा।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १५०, ४९५।
"धम्मानं यथारूपं अनिच्चादि-आकारं अतिक्कमित्वा 'निच्चं' ति आदिवसेन पवत्तमाना परतो आमसन्तीति परामासा।" – अट्ठ०, पृ० ४२।

जानता है। तथा दृष्टि, उसके यथार्थ (सत्य) स्वभाव का त्याग करके अयथार्थ (विपरीत) स्वभाव का ही ग्रहण करती है – यही दोनो मे विशेष है[1] ।

७ मान चैतसिक

"अहकारो मञ्ञतीति मानो उन्नतिलक्खणो,
सम्पग्गहरसो केतुकम्यतापच्चुपट्ठानको ।
दिट्ठिविप्पयुत्तलोभपदट्ठानो ति सञ्ञितो[2] ।।"

वचनार्थ एवं लक्षण – 'अहकारो मञ्ञतीति मानो, उन्नतिलक्खणो' जिस धर्मके द्वारा पुद्गल अपने को गुण-आदि मे दूसरो से अधिक (सेय्यो अस्मि) मानता है, वह 'मान' है। श्रैष्ठ्य-आदि के वश से चित्त का उन्नमन 'उन्नति' है और 'उन्नति' इसका लक्षण है[3] ।

लोक मे श्रेष्ठपुद्गल, सदृशपुद्गल एव हीनपुद्गल – इस प्रकार त्रिविध पुद्गल होते है। इनमे से प्रत्येक को 'सेय्यमान' 'सदिसमान' एव 'हीनमान' – इस तरह त्रिविध मान होते है।

(क) सेय्यमान – गुण, श्री, धन, प्रज्ञा एव रूप-आदि के द्वारा अपने को दूसरो से श्रेष्ठ मानना 'सेय्यमान' है।

(ख) सदिसमान – उपर्युक्त गुण, श्री-आदि के द्वारा अपने को दूसरो के सदृश समझना 'सदिसमान' है।

(ग) हीनमान – उपर्युक्त गुणो से अपने हीन होने पर भी 'यद्यपि मैं दूसरो से गुण-आदि मे हीन हूँ, किन्तु इससे क्या ? मै क्यो उनकी परवाह करूँ !' – इस तरह मानना 'हीनमान' है।

इन त्रिविध मानो मे से श्रेष्ठ पुद्गल का जो सेय्यमान है, वह 'याथावमान' (यथार्थ=अविपरीत मान) है, तथा उसके अवशिष्ट दो मान 'अयाथावमान' (अयथार्थ मान)

---

१ "ञाण हि आरम्मण यथासभावतो जानाति, दिट्ठि यथासभाव विजहित्वा अयाथावतो गण्हातीति – अयमेतेस विसेसो ।" – विभा०, पृ० ८३ ।

२. ब० भा० टी० । तु० – विसु०, पृ० ३२७, अट्ठ०, पृ० २०७ ।

३ "सेय्यादिवसेन उच्चतो नमन उन्नति ।" विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १५१, "सो पन जाति-कुल-धन-भोग-यस-इस्सरियादीहि चेव सील-सुत-लाभ-सक्कारादीहि च गुणेहि उपत्थम्भितो अतिरेकतर वड्ढित्वा अत्तान जनमज्झे केतु विय अच्चुग्गत मञ्ञति, तस्मा सो उन्नतिलक्खणो ति च ।" – प० दी०, पृ० ८१ ।
तु० – "मानो हि नाम सर्व एव सत्कायदृष्टिसमाश्रयेण प्रवर्तते, स पुनश्चित्तस्योन्नतिलक्षण । तथा ह्यात्मात्मीयभाव स्कन्धेष्वध्यारोप्यायमहमिद ममेत्यात्मान तेन तेन विशेषेणोन्नमयति, अन्येभ्योऽधिक मन्यते ।" – त्रि० भा०, पृ० २८ ।
"ऊर्ध्ववृत्तिरुन्नतिलक्षणो मान ।" – वि० प्र० वृ०, पृ० २४७,
अपि च – "मानोऽप्यप्रशान्तत्वादुन्नतिलक्षण ।" – वि० प्र० वृ०, पृ० २४२ ।

होते हैं । इसी तरह सदृशपुद्गल का 'सदिसमान' तथा हीनपुद्गल का 'हीनमान' – 'याथावमान'[1] है तथा उनके अवशिष्ट दो दो मान 'अयाथावमान' होते हैं ।

'याथावमान' का प्रहाण 'अर्हत् मार्ग' से तथा 'अयाथावमान' का प्रहाण स्रोतापत्तिमार्ग' से होता है ।

रस एवं प्रत्युपस्थान – 'सम्पग्गहरसो, केतुकम्यतापच्चुपट्ठानको' सम्प्रयुक्त धर्मो को अवलम्बन देना (अनुग्रह करना) – इसका कृत्य है[2] । मान से युक्त पुद्गल अन्य जनो के मध्य अपने को केतु (पताका) की तरह अत्युद्गत (ऊपर उठा हुआ) अर्थात् श्रेष्ठ समझना चाहता है – ऐसा योगी के ज्ञान मे अवभासित होता है[3] । स्वय उन्नत होने के कारण यह सम्प्रयुक्त धर्मो को भी उन्नत करने की तरह होता है ।

पदस्थान—"दिट्ठिविप्पयुत्तलोभपदट्ठानो ति सञ्ञितो' दृष्टि से विप्रयुक्त लोभ इसका आसन्नकारण है । दृष्टि के द्वारा ही 'पञ्चस्कन्धो मे आत्मा है'– ऐसा उपादान होता है, तथा मान के द्वारा इन पञ्चस्कन्धो मे ही 'मै हूँ' – ऐसा माना जाता है । इस प्रकार दृष्टि एव मान मे भेद होने पर भी दोनो का विषय एक ही है । 'मै हूँ' – इस भावना के वश से प्रवृत्त होने के कारण, दृष्टि एव मान, दोनो सदृश ही प्रवृत्त होते हैं । अत

---

१ "सेय्योहमस्मीति मानो ति – उत्तमट्ठेन 'अह सेय्यो' ति एव उप्पन्नमानो । सदिसोहमस्मीति मानो ति – समसमट्ठेन 'अह सदिसो' ति एव उप्पन्नमानो । हीनोहमस्मीति मानो ति – लामकट्ठेन 'अह हीनो' ति एव उप्पन्नमानो । एव सेय्यमानो, सदिसमानो, हीनमानो ति इमे तयो माना तिण्ण जनान उप्पज्जन्ति । सेय्यस्सापि हि 'अह सेय्यो, सदिसो हीनो' ति तयो माना उप्पज्जन्ति, सदिसस्सापि, हीनस्सापि । तत्थ सेय्यस्स सेय्यमानो व याथावमानो, इतरे द्वे अयाथावमाना । सदिसस्स सदिसमानो व हीनस्स हीनमानो व याथावमानो, इतरे द्वे अयाथावमाना ।" – अट्ठ०, पृ० २६६, ध० स० मू० टी०, पृ० १७१ ।

तु० – "सप्त मानविधास्त्रिभ्यो नवमानविधास्त्रिधा ।
त्रिधाऽत्युन्नमनादिभ्य, स्वोत्कर्षाद्यस्ति नास्तिता ।"
– अभि० दी० २७५ का०, पृ० २३६ ।

"माना सप्त, नवविधास्त्रय, दृग्भावनाक्षय ।"
– अभि० को० ५ १०, पृ० १३३ ।

"स च पुनश्चित्तोन्नतिस्वरूपाभेदेऽपि चित्तोन्नतिनिमित्तभेदात् सप्तधा भिद्यते – मानोऽतिमान इत्येवमादि ।" – त्रि० भा०, पृ० २६ ।

२ "उन्नमनवसेनेव सम्पग्गहरसो ।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १५१, ध० स० मू० टी०, पृ० १२१ ।

३ "केतु वुच्चति अच्चुग्गतधजो, इध पन केतु वियाति केतु उळारतमादिभावो । त केतुसङ्खात केतु कामेतीति केतुकम्य चित्त, यस्स धम्मस्स वसेन केतुकम्य सा केतुकम्यता ।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १५१ ।

यह (मान) दृष्टि के साथ एक चित्तोत्पाद में प्रवृत्त नहीं होता[1]। आत्मस्नेह इसका आश्रय होता है; अतएव दृष्टिविप्रयुक्त लोभ इसका आसन्नकारण है[2]। इसे उन्माद की तरह समझना चाहिये।

[लोभ सभी लोभमूलचित्तों से, दृष्टि लोभमूलसम्प्रयुक्त ४ चित्तों से, तथा मान दृष्टिगत-विप्रयुक्त ४ चित्तों से सम्प्रयुक्त होता है। सम्प्रयुक्त चित्तों में प्रथम होने के कारण ये तीन चैतसिक द्वेष-आदि चैतसिकों से पूर्व रखे गये हैं।]

८. द्वेष चैतसिक :

"चण्डिक्कलक्खणो दोसो निस्सयदाहरसको।
दुस्सनपच्चुपट्ठानो आघातवत्थुपदट्ठानो[3] ॥"

लक्षणार्थ – 'चण्डिक्कलक्खणो दोसो' चण्डिकत्व द्वेष का लक्षण है। जैसे – कृष्ण सर्प आहत होने पर अपना चण्ड स्वभाव प्रदर्शित करता है, ठीक उसी प्रकार चित्त-चैतसिक धर्मों का जब किसी अनिष्ट (अप्रिय) आलम्बन से समागम होता है तब इसका चण्डत्व लक्षण प्रकट होता है। 'दुस्सतीति दोसो' काय एवं चित्त को जो दूषित करता है अर्थात् विकृत करता है या नष्ट करता है, वह द्वेष है – ऐसा विग्रह होता है। अथवा – जिसके द्वारा काय एवं चित्त दूषित होते हैं वह द्वेष है अथवा – दूषित होना मात्र द्वेष है[4]।

रस – 'निस्सयदाहरसको' अपने निश्रय (आश्रय = काय एवं चित्त) का दाह करना – इसका कृत्य है। जैसे – अग्नि अपने आश्रय का दहन करती है, उसी तरह जब द्वेष उत्पन्न होता है तब सम्प्रयुक्त धर्मों का दहन होने लगता है। सम्प्रयुक्त धर्मों के दग्ध होने से उन सम्प्रयुक्त धर्मों से उत्पन्न चित्तज रूपों का भी इसी द्वेष के कारण दाह होने लगता है तथा उस दहनधातु का सङ्क्रमण होने से उन चित्तज रूपों के समीपस्थ कर्मज, ऋतुज एवं आहारज रूपों का भी दहन होने लगता है और इस तरह सम्पूर्ण काय (नाम-रूप स्कन्ध) जलने लगता है। अतएव द्वेषोत्पत्तिकाल में सम्पूर्ण शरीर रक्त-वर्ण होकर काँपने लगता है। द्वेष का वेग यदि बलवान् होता है, तो मनःप्रदोष[5] से

---

१. "मानो पि अहम्मानवसेन पवत्तनतो दिट्ठिसदिसो व पवत्ततीति दिट्ठिया सह एकचित्तुप्पादे न पवत्तति।" – विभा०, पृ० ८७।

२. "अहं ति पवत्तनतो मानस्स दिट्ठिसदिसी पवत्तीति सो दिट्ठिया सद्धिं एकचित्तुप्पादे न पवत्तति, अत्तसिनेहसन्निस्सयो चा ति आह – 'दिट्ठिविप्पयुत्तलोभपदट्ठानो' ति।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १५१।

३. ब० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ३२८; अट्ठ०, पृ० २०८।

४. द्र० – विसु०, पृ० ३२८, अट्ठ०, पृ० २०८।
तु० – "द्वेषो हि सत्त्वेषु दुःखे दुःखस्थानीयेषु च धर्मेष्वाघातः।" – त्रि० भा०, पृ० २७।
पुनश्च – "प्रतिघः सत्त्वेष्वाघातः सत्त्वेषु रूक्षचित्तता येनाविष्टः सत्त्वानां वधबन्धनादिकमनर्थं चिन्तयति।" – त्रि० भा०, पृ० २८।
अभि० को० ५:२०, पृ० १३६; अभि० दी०, पृ० २२०।

५. "मनं पदूसयमानो उप्पज्जतीति मनोपदोसो।" – अट्ठ०, पृ० २९२।

मन:प्रदोषक (मनोपदोसिका देवता) देवों की भांति जीवन-सन्तति का उच्छेद तक हो जाता है।[1] अथवा – विष चढ़ने के समान फैलने के कृत्यवाला यह धर्म है।

प्रत्युपस्थान एवं पदस्थान—'दुस्सनपच्चुपट्ठानो, आघातवत्थुपदट्ठानो' अवसर पाये हुए वैरी के समान यह काय एवं चित्त को नष्ट (आहत) करनेवाला धर्म है – ऐसा योगी के ज्ञान में अवभासित होता है। आघातवस्तु (द्वेष्यवस्तु) इसका आसन्नकारण है। आघातवस्तु दस हैं – मेरा अहित (अनर्थ) किया, मेरा अहित करता है, मेरा अहित करेगा; मेरे आत्मीय प्रियजनों का अहित किया है, करता है, करेगा; तथा मेरे अप्रिय अनिष्ट जनों (शत्रुओं) का हित साधन किया है, करता है, करेगा – इस प्रकार आघात-वस्तु नौ होती हैं तथा एक अस्थानकोप – ये दस आघात वस्तु हैं[2]। अस्थानकोप 'अकारणकोप' को कहते हैं। यह अत्यधिक वर्षण, अवर्षण, वायु के अधिक बहने न बहने, सूर्य के अधिक तपने न तपने – आदि से उत्पन्न होनेवाला कोप है[3]। इस तरह ये दस आघातवस्तु इसके आसन्नकारण हैं।

इस द्वेष को विषमिश्रित सड़े मूत्र के समान समझना चाहिये[4]।

---

१. मनोपदोसिका देवताओं की कथा के लिये द्र० – दी० नि० अ०, (ब्रह्म० सु०) अन्योन्य द्वेष के कारण इन देवताओं के विमान, वर्ण आदि का ह्रास होते होते अन्त में जीवन-सन्तति का भी उच्छेद हो जाता है और वे अपने लोक से च्युत हो जाते हैं।

२. "अनत्थं मे अचरीति आघातो जायति, अनत्थं मे चरतीति आघातो जायति, अनत्थं मे चरिस्सतीति आघातो जायति; पियस्स मे मनापस्स अनत्थं अचरि ...पे०... अनत्थं चरति...पे०...अनत्थं चरिस्सतीति आघातो जायति; अप्पियस्स मे अमनापस्स अत्थं अचरि...पे०... अत्थं चरति...पे०... अत्थं चरिस्सतीति आघातो जायति; अट्ठाने पन आघातो जायति।" – ध० स०, पृ० २४१।

विस्तार के लिये द्र० – ध० स० मू० टी०, पृ० १६८-१६९; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १५१।

३. "अट्ठाने पन आघातो ति अकारणे कोपो। एकच्चो हि 'देवो अतिवस्सती' ति कुप्पति, 'न वस्सती' ति कुप्पति; 'सुरियो तप्पती' ति कुप्पति, 'न तप्पती' ति कुप्पति, वाते वायन्ते पि कुप्पति, अवायन्ते पि कुप्पति; सम्मज्जितुं असक्कोन्तो बोधिपण्णानं कुप्पति, चीवरं पारुपितुं असक्कोन्तो वातस्स कुप्पति, उपक्खलित्वा खाणुकस्स कुप्पतीति इदं सन्धाय वुत्तं – 'अट्ठाने पन आघातो जायती' ति।" – अट्ठ०, पृ० २९२।

४. विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १५२। तु० – "द्वेषस्तु [illegible] कोद्रवोदनभक्षणवत्।" – वि० प्र० वृ०, पृ० २४४।

९ ईर्ष्या चैतसिक

"इस्सतीति इस्सा अञ्ञासम्पत्युस्सूयलक्खणा,
तथा परसम्पत्तियानभिरतिरसा, ततो।
विमुखपच्चुपट्ठाना परसम्पत्तिपदट्ठाना[1] ॥"

वचनार्थ एवं लक्षण—'इस्सतीति इस्सा, अञ्ञासम्पत्युस्सूयलक्खणा' जिस धर्म के द्वारा डाह (जलन) होता है वह ईर्ष्या है। दूसरो की सम्पत्ति अर्थात् उत्कर्ष को देखकर असूया (अमर्ष=असहिष्णुता) होना—इसका लक्षण है[2]।

रस, प्रत्युपस्थान एवं पदस्थान—'तथा परसम्पत्तियानभिरतिरसा' परसम्पत्ति (परोत्कर्ष) मे अनभिरति—इसका कृत्य है। 'ततो विमुखपच्चुपट्ठाना' यह धर्म परसम्पत्ति से विमुख (अन्यमनस्क वा विरुद्ध) है—ऐसा योगी के ज्ञान मे अवभासित होता है। 'परसम्पत्तिपदट्ठाना' परसम्पत्ति ही इसका (इसके उत्पाद का) आसन्नकारण है।

मुदिता से युक्त पुद्गल के हृदय मे दूसरे के उत्कर्ष, गुण, भोगविलास, ऐश्वर्य एव सम्पत्ति-आदि देखकर अथवा सुनकर सौमनस्य एव प्रीति का उत्पाद होता है, इसके विपरीत ईर्ष्यालु पुद्गल के हृदय मे डाह (जलन) उत्पन्न होता है। अत ईर्ष्या का आलम्बन सदा बाह्य होता है[3]। इसे सयोजन समझना चाहिये।

१० मात्सर्य चैतसिक

"मच्छरभावो मच्छरिय सम्पत्तिगूहलक्खण,
साधारणक्खमरस सङ्कोचनुपट्ठानक।
कटुकञ्चुकभावो पि ससम्पत्तिपदट्ठान[4] ॥"

---

१. ब० भा० टी०। तु०—विसु०, पृ० ३२८, अट्ठ०, पृ० २०८, विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १५२, प० दी०, पृ० ८१।

२ "सा हि परेस पकतिया लद्धसम्पत्ति दिस्वा वा सुत्वा वा न सहति, तस्सा सम्पत्तिया विपत्ति इच्छति, आकङ्खति; 'असुको इद नाम लभिस्सती' ति सुत्वा पि न सहति, तस्स अलाभ इच्छति, आकङ्खति। तस्मा 'सा परसम्पत्तीन उस्सूयनलक्खणा' ति वुत्त।"—प० दी०, पृ० ८१।
तु०—अभि० को० ५ ४७, पृ० १४७; "क्रोधेर्ष्ये प्रतिघोद्भवे।"—अभि० को०, पृ० १४८, "परसम्पत्यमर्षणमीर्ष्या।"—वि० प्र० वृ०, पृ० ३०६, "ईर्ष्या—परसम्पत्तौ चेतसो व्यारोषो लाभसत्काराध्यवसितस्य लाभसत्कारकुलशीलश्रुतादीन् गुणविशेषान् परस्योपलभ्य द्वेषांशिकोऽमर्षकृतश्चेतसो व्यारोष ईर्ष्या।"—त्रि० भा०, पृ० ३०।

३ "तत्थ कतमा इस्सा ? या परलाभ-सक्कार-गरुकार-मानन-वन्दन-पूजनासु इस्सा इस्सायना इस्सायितत्त, उसूया उसूयना उसूयितत्त—अय वुच्चति 'इस्सा'।"—विभ०, पृ० ४२६।

४. ब० भा० टी०। तु०—विसु०, पृ० ३२८; अट्ठ०, पृ० २०८, प० दी०, पृ० ८१।

वचनार्थ एवं लक्षण – 'मच्छरभावो मच्छरिय' मत्सर (कजूस) का भाव (कजूसी) मात्सर्य है। 'मुझमे ही यह गुण हो, मेरे पास ही यह वस्तु हो, अन्य के पास नही' –इस प्रकार अपने ही उत्कर्षहेतु से प्रवृत्त चित्त मत्सर है और उसके भाव को 'मात्सर्य' कहते है[1]। 'सम्पत्तिगूहलक्खण' पायी हुई (लब्ध) या पायी जानेवाली (लब्धव्य) अपनी सम्पत्ति का गूहन (छिपाना) इसका लक्षण है। यह धर्म, दान के विरोधी चित्त का आग्रह है। इसमे धन के अपरित्याग की इच्छा प्रधान होती है[2]।

यह मात्सर्य भी, लब्ध-सम्पत्ति तथा लब्धव्य-सम्पत्ति के वश से, दो प्रकार का का होता है।

लब्ध-सम्पत्ति के वश से – मात्सय स्वभाव के कारण, 'यह सम्पत्ति अन्य-साधारण है' (जो सम्पत्ति मेरे पास है, वह अन्य के पास भी हो सकती है) अथवा किसी भी कारण से 'यह मेरे पास से हटकर भविष्य मे दूसरो के पास जानेवाली है'– इस प्रकार देखकर, सुनकर अथवा सोचकर भी जो दुख होता है, दौर्मनस्य होता है, वह लब्ध-सम्पत्ति के वश से 'मात्सर्य' है।

लब्धव्य-सम्पत्ति के वश से – 'अमुक देश मे, अमुक काल मे यह सम्पत्ति मुझे प्राप्त होगी' – यह सुन कर या सोचकर उसे स्वय ही प्राप्त करना चाहता है, साथ ही यह नही चाहता कि दूसरा भी इसे प्राप्त कर ले। तथा 'दूसरे लोग इसे प्राप्त कर लेगे' – यह सुनकर या सोचकर वह दुखी एव दुर्मना होता है, यह लब्धव्य सम्पत्ति के वश से 'मात्सर्य' है[3]।

रस एव प्रत्युपस्थान – 'साधारण-अक्खमरस' अपनी सम्पत्ति को अन्यसाधारण होते देखने मे अक्षमता – इसका कृत्य है। 'सङ्कोचनुपट्ठानक' यह धर्म सङ्कुचित करनेवाला है – ऐसा योगी के ज्ञान मे अवभासित होता है। 'कटुकञ्चुकभावो पि'

---

१ "'मम एव इद गुणजात वा वत्थु वा होतु, मा अञ्ञस्सा' ति एव अत्तनो सम्पत्तिहेतु अविप्फारिकतावसेन चरति पवत्ततीति मच्छर, तथा पवत्त चित्त, मच्छरस्स भावो मच्छरिय।' – प० दी०, पृ० ८१, "मच्छरयोगे मच्छरीति पवत्तमान मच्छरिसद्द गहेत्वा आह – 'मच्छरभावो मच्छरिय' ति, निरुत्ति-नयेन पन 'मा इद अच्छरिय अञ्ञेस होतु, मय्हमेव होतू' ति मच्छरिय ति पोराणा।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १५२।

२ तु० – अभि० को० ५ ४७, पृ० १४७, "स्ववस्तुन्याग्रहो मात्सर्यम्, मत्तो म। सरेदिति निरुक्ति।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ३०६, "मात्सर्य दानविरोधी चेतस आग्रह। उपात्त वस्तु धर्मामिषकौशलात्मकम्। यन पूजानुग्रहकाम्यया-र्थिनेऽनर्थिने वा दीयते तद् दानम्, तस्मिन् सति दानाभावात् तद्विरोधी-त्युच्यते। लाभसत्काराध्यवसितस्य जीवितोपकरणेषु रागाशिकश्चेतस आग्रहो-ऽपरित्यागेच्छा मात्सर्यम्।' त्रि० भा०, पृ० ३०।

३ प० दी०, पृ० ८१–८२।

कटुक रस की भाँति यह सङ्कुचित करनेवाला धर्म है। दान करने में एवं अपनी सम्पत्ति को सर्वसाधारण करने में सङ्कोच करनेवाला यह धर्म है। जैसे–कटुक रस, खानेवालों में सङ्कोच (हिचक) उत्पन्न करता है, उसी तरह यह याचकों को देखने पर, चित्त एवं काय (शरीर), दोनों का सङ्कोच करता है[1]।

पदस्थान – 'ससम्पत्तिपदट्ठानो' स्वसम्पत्ति इसका आसन्नकारण है।

मात्सर्य पाँच प्रकार के होते हैं – १. आवासमात्सर्य २. कुलमात्सर्य, ३. लाभमात्सर्य, ४. वर्णमात्सर्य एवं ५. धर्ममात्सर्य।

मात्सर्य इन आवास, कुल-आदि को आलम्बन करता है, अतः इसके वर्ण-आदि आध्यात्मिक एवं आवास-आदि बाह्य दोनों प्रकार के आलम्बन होते हैं।

ईर्ष्या एवं मात्सर्य – लब्ध-सम्पत्ति के विषय में – ईर्ष्या का स्वभाव दूसरों की प्राप्त सम्पत्ति, गुण एवं श्री-आदि को देखकर जलने का है; तथा मात्सर्य का स्वभाव अपनी प्राप्त सम्पत्ति का त्याग न करने तथा अपने समान गुण, श्री एवं सम्पत्ति-आदि को दूसरों के पास न चाहने का है।

लब्धव्य-सम्पत्ति के विषय में – [illegible] चाहता कि यह सम्पत्ति उसे प्राप्त हो, 'वही पुरुष उस सम्पत्ति को प्राप्त [illegible] करेगा' – यह देखकर, सुनकर या सोचकर जो चित्तविघात होता है वह 'ईर्ष्या' है। [illegible] प्राप्त करना चाहता है उसे प्राप्त न हो [illegible] देखकर जो चित्तविघात होता है वह 'मात्सर्य' है।

ये दोनों, ईर्ष्या एवं मात्सर्य, एक साथ उत्पन्न नहीं होते।

इसे (मात्सर्य को) चित्त की विरूपता जानना चाहिये।

[विशेष – आधुनिक आचार्य 'मात्सर्य धातु को आलम्बन नहीं करता' – ऐसा मान कर 'धम्मसङ्गणि' के ''बहिद्धारम्मणा'' – इस मातिकापद में मात्सर्य का वर्जन करते हैं। वे आचार्य अपनी सभी (आवास-आदि) सम्पत्ति को 'अज्झत्त' (अध्यात्म) ही स्वीकार करते हैं। किन्तु यह ठीक नहीं है; क्योंकि अभिधर्म के नियम के अनुसार स्वस्कन्धान्तर्गत द्रव्य ही 'अज्झत्त' है। स्कन्ध से बाहर होनेवाले 'द्रव्य

---

1. द्र० – अट्ठ०, पृ० २९९।
2. ध० स०, पृ० २५१; "तत्थ कतमं मच्छरियं? पञ्च मच्छरियानि – आवासमच्छरियं, कुलमच्छरियं, लाभमच्छरियं, वण्णमच्छरियं, धम्ममच्छरियं। यं एवरूपं मच्छेरं मच्छरायना मच्छरायितत्तं वेविच्छं कदरियं कटुकञ्चुकता अग्गहितत्तं चित्तस्स – इदं वुच्चति मच्छरियं।" – विभ०, पृ० ४२७। द्र० – अट्ठ०, पृ० २९८–२९९।
3. प० दी०, पृ० ८२।
4. ध० स०, पृ० ५।

बहिद्धा' कहे जाते है । इसके प्रमाण के लिये 'अट्ठसालिनी' मे की गई 'अज्झत्तिक' तिक (त्रिक) की व्याख्या देखी जा सकती है[1] ।]

११. कौकृत्य चैतसिक

"कुकतभावो कुक्कुच्च कुच्छितकिरियाथ वा,
पच्छानुतापलक्खणं अनुसोचनरसक ।
विप्पटिसारुपट्ठान कताकतपदट्ठान[2] ।।"

वचनार्थ – 'कुकतभावो कुक्कुच्च, कुच्छितकिरियाथ वा' कुकृत चित्त का भाव 'कौकृत्य' है । अथवा – कुत्सित क्रिया को 'कौकृत्य' कहते है । इसका अर्थ कृत दुश्चरित एव अकृत सुचरित है; किन्तु यहाँ दुश्चरित एव सुचरित को आलम्बन करनेवाले चित्त को कारणोपचार से 'कुकृत' कहा जाता है । अतएव 'कुकृत चित्त का भाव कौकृत्य है' – ऐसा कहा गया है ।

"कुच्छित कत कुकत[3]" कुत्सित क्रिया को 'कुकृत' कहते है । दुश्चरित कर्म करने के अनन्तर उसके अकुशल विपाक का विचार करके या उसके अकुशल विपाक का अनुभव करके 'अहो ! मैने दुश्चरित (कर्म) किया है' – इस प्रकार चित्त की जो क्रिया होती है तथा अपनी पूर्वकालिक समृद्धि के विनष्ट हो जाने पर 'अहो ! मैने अपने समृद्धिकाल मे कोई सुकृत (कर्म) नही किया' – ऐसी जो चित्त की क्रिया होती है यह क्रिया – जिस समय बुरा (कुत्सित) कर्म किया जा रहा था उस समय उसके न किये जाने मे तथा उस समय नही किये गये सुकृत के उस समय किये जाने मे – अब असमर्थ होती है । यह क्रिया इस समय कुत्सित क्रियामात्र है, अत इसे 'कुकृत' कहते है[4] ।

इस क्रिया के उत्पन्न होने पर चित्त मे जो एक प्रकार का सन्ताप उत्पन्न होता है, उसे पश्चात्ताप (अनुताप) कहते है, और यही 'कुकृत' है[5] ।

लक्षण, रस एवं प्रत्युपस्थान – 'पच्छानुतापलक्खण' पश्चात्ताप इसका लक्षण है[6] ।

---

१. अट्ठ०, पृ० ३६।

२ ब० भा० टी० । तु० – विसु०, पृ० ३२८, अट्ठ०, पृ० २०८।

३. अट्ठ०, पृ० २०८ । ४ अट्ठ०, पृ० ३०५ ।

५. द्र० – प० दी०, पृ० ८२–८४।

६. तु० – अभि० को०, आ० न० दे०, २ २८ की व्याख्या, पृ० १३१ ।

"कुकृतभाव कौकृत्यम् ।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ३०६ ।

"कौकृत्य चेतसो विप्रतिसार । कुत्सितं कृतमिति कुकृतम्, तद्भाव कौकृत्यम् । इह तु कुकृतविषयश्चेतसो विलेख कौकृत्यम्, चैतसिकाधिकारात् । एतच्च चित्तस्थितिपरिपन्थिकर्मकम् ।" – त्रि० भा०, पृ० ३२ ।

"तत्थ कतम कुक्कुच्च ? अकप्पिये कप्पियसञ्ञिता, कप्पिये अकप्पियसञ्ञिता, अवज्जे वज्जसञ्ञिता, वज्जे अवज्जसञ्ञिता – य एवरूप कुक्कुच्च कुक्कुच्चायना कुक्कुच्चायितत्त चेतसो विप्पटिसारो मनोविलेखो – इद वुच्चति कुक्कुच्च ।" – ध० स०, पृ० २५६, अट्ठ०, पृ० ३०४ ।

'अनुसोचनरसक' कृत दुश्चरित एव अकृत सुचरित के लिये अनुशोच (शोक करना) – इसका कृत्य है । 'विप्पटिसारुपट्ठान' चित्त के विप्रतिसार (पछतावा) के रूप मे यह योगी के ज्ञान मे अवभासित होता है ।

परमत्थदीपनीकार का कथन है कि यहाँ 'विप्रतिसार ही कौकृत्य है'। कौकृत्य के कुत्सित होने के कारण उससे सम्प्रयुक्त चित्तोत्पाद भी कुत्सित ही होता है । जिस कारण कौकृत्य कुत्सित होता है उसी कारण उससे सम्प्रयुक्त चित्तोत्पाद भी कुत्सित होता है। इस प्रकार यह चित्तोत्पाद ही 'कुकृत' पद से ग्रहण करने के योग्य है । 'सुदिन्नकण्ड' की अट्ठकथा (पाराजिककण्ड) मे भी यह अर्थ स्पष्ट रूप से उल्लिखित है, यथा –

"विञ्ञूहि अकत्तब्बताय कुच्छितकिरियाभावतो कुक्कुच्च ति[1] ।"

अर्थात् विद्वानो के द्वारा अकर्तव्य होने के कारण कुत्सित क्रिया होने से यह 'कौकृत्य' कहलाता है । विभावनीकार ने इस अर्थ का अनुसन्धान न करके कुकृत शब्द की "कुच्छित कत कुकत, कताकतदुच्चरितसुचरित ति[2]" – ऐसी व्याख्या कर "कारणोपचार से 'कुकृत' शब्द दुश्चरित एव सुचरित को आलम्बन करनेवाले चित्त का द्योतक है, और उसका भाव कौकृत्य है" – जो ऐसा कहा है, यह युक्ति एवं प्रमाण सङ्गत नही है[3] ।

पदस्थान – 'कताकतपदट्ठान' किया हुआ दुश्चरित (बुरा काम) एव न किया हुआ सुचरित (अच्छा काम) – ये दोनो इसके आसन्नकारण है । 'कृत' शब्द से यहाँ 'दुश्चरित' तथा 'अकृत' शब्द से 'सुचरित' का ग्रहण करना चाहिये ।

सुचरित को दुश्चरित तथा दुश्चरित को सुचरित समझ कर उसको करने के अनन्तर, जब पुद्गल पुन यथार्थ रूप मे दुश्चरित को दुश्चरित समझता है तब भी कौकृत्य हो सकता है, यथा –

"यस्मा पनेत – 'अकत वत मे कल्याण, अकत कुसल, अकत भीरुत्ताण; कत पाप, कत लुद्ध, कत किब्बिस[4]' ति – एव अनवज्जे वज्जसञ्ञिताय पि कते वीतिक्कमे उप्पज्जति[5]" ।

अर्थात् मैने अपना कल्याण नही किया, कुशल नहीं किया, भीरु का त्राण नही किया, पाप किया, लोभ किया, किल्विष किया – इस प्रकार अनवद्य (कुशल) को अवद्य (अकुशल) सज्ञा से भी करने पर तथा इसका व्यतिक्रम होने पर अर्थात् अवद्य (अकुशल) को अनवद्य सज्ञा से भी करने पर 'कौकृत्य' उत्पन्न होता है। यहाँ पर 'कृत' शब्द से दुश्चरित का तथा 'अकृत' शब्द से सुचरित का ग्रहण होता है[5] ।

---

१ पारा० अ० (सुदिन्नकण्ड), पृ० १८२ ।

२ द्र० – विभा०, पृ० ८३ ।

३. प० दी०, पृ० ८२ ।

४ अ० नि०, द्वि भा०, पृ० १८५ ।

५ अट्ठ०, पृ० ३०४ ।

कुछ लोग यहाँ 'कृत' शब्द से कृत दुश्चरित एव सुचरित, तथा 'अकृत' शब्द से अकृत दुश्चरित एव सुचरित – इस प्रकार दोनो अर्थों का ग्रहण करते है। यहाँ पर यह प्रश्न स्वाभाविक ही उत्पन्न हो सकता है कि दुश्चरित के करने पर तो कौकृत्य हो सकता है, किन्तु सुकृत करने पर कौकृत्य कैसे हो सकता है ? इसका समाधान वे इस प्रकार करते है – मान लीजिये, किसी सम्पन्न पुरुष ने अपने समृद्धिकाल मे अत्यधिक दान किया, और दान करते करते ही वह दरिद्र हो गया – ऐसी स्थिति मे अब दरिद्र हो जाने पर वह पश्चात्ताप करता है कि मैने इतना अधिक दान क्यो किया ? तो ऐसे पुद्गल मे यह कृत सुचरित से 'कौकृत्य' कहलाता है।

सिद्धान्तपक्ष – उपर्युक्त वर्णन का यह अभिप्राय है कि सुकृत को आलम्बन करके कौकृत्य उत्पन्न होता है। इस पर हमारा मन्तव्य यह है कि सुचरित करने पर जो पश्चात्ताप होता है वह 'कौकृत्य' नही है, अपितु 'दौर्मनस्य' है।

पुन यह प्रश्न होता है कि सुकृत के न करने पर तो कौकृत्य का होना स्वाभाविक है, किन्तु दुश्चरित के न करने पर कौकृत्य कैसे हो सकता है ? (जैसा कि अभी पहले कहा गया है।)

इसका समाधान भी वे आचार्य इस प्रकार करते है – मान लीजिये, किसी पुद्गल ने काले सर्प को देख कर भी उसका वध नही किया और उसी सर्प ने थोड़ी देर बाद आगे जाकर उसके किसी प्रिय बन्धुजन को डँस लिया – तो ऐसी परिस्थिति मे उसे अपने न किये हुए वधरूप दुश्चरित पर कौकृत्य हो सकता है।

सिद्धान्तपक्ष – उपर्युक्त तर्क का आशय यह है कि अकृत दुश्चरित का आलम्बन करके कौकृत्य उत्पन्न होता है। इसपर हमारा अभिमत यह है कि अकृत दुश्चरित का आलम्बन करके जो पश्चात्ताप होता है वह 'कौकृत्य' नही है, अपितु 'द्वेष' है।

अतएव कुछ लोगो का उपर्युक्त वाद "अकत कल्याण, कत पाप " – इस अट्ठकथा से विपरीत होने के कारण अनुपादेय है[1]।

कौकृत्य तीन प्रकार का होता है, यथा– १ नीवरणकौकृत्य, २ विनयकौकृत्य एवं ३ असयतकौकृत्य[2]।

१ नीवरणकौकृत्य – पाँच नीवरण-धर्मो मे परिगृहित कौकृत्य 'नीवरण-कौकृत्य' है।

२ विनयकौकृत्य – किसी भिक्षु के द्वारा किसी कर्म का सम्पादन करते समय या उससे पूर्व 'यह कर्म विनय के अनुसार करणीय है कि नही' – इस प्रकार का विचार 'विनय-कौकृत्य' कहलाता है। इस प्रकार का कौकृत्य पृथग्जन, शैक्ष्य एव अर्हत् पुद्गलो की सन्तान मे उत्पन्न होता है। यह कौकृत्य कुशल एव क्रिया चित्तोत्पाद है।

---

१. द्र० – प० दी०, पृ० ८४।

२ अट्ठ०, पृ० ३०५, प० दी०, पृ० ८३।

३ असयतकौकृत्य – ध्यानभावना-आदि करते समय अथवा किसी महापुरुष के सन्निधान मे इन्द्रिय के असयम का हो जाना – 'असयत-कौकृत्य' है । यह मोहप्रधान अकुशल चित्तोत्पाद है ।

[द्वेष-आदि चार चैतसिक द्वेषमूल चित्त मे सम्प्रयुक्त होते हैं, अत इन्हे 'मान' के अनन्तर तथा 'स्त्यान' के पूर्व रखा गया है । उपर्युक्त चार चैतसिको मे द्वेष चैतसिक नियतयोगी है, अत उसे सर्वप्रथम रखा गया है ।]

१२. स्त्यान चैतसिक :

"थियतीति थिन नाम अनुस्साहनलक्खण,
वीरियावनोदनरस ससीदपच्चुपट्ठान[१] ।।"

वचनार्थ एवं लक्षण – "थियतीति थिन नाम, अनुस्साहनलक्खण" जो धर्म चित्त को मन्द करता है वह 'स्त्यान' है[२] । अनुत्साहित करना – इसका लक्षण है[३] । यह धर्म वीर्य के स्वभाव से विपरीत स्वभाववाला है, इसलिये इससे सम्प्रयुक्त होनेवाले धर्म उत्साह से हीन होते है ।

रस एवं प्रत्युपस्थान – 'वीरियावनोदनरस' वीर्य को दूर करना – इसका कृत्य है। 'ससीदपच्चुपट्ठान' यह ससीदन अर्थात् अवसाद या अनुत्साह के रूप मे योगी के ज्ञान मे अवभासित होता है[४] ।

पदस्थान – 'अरतितन्दिविजम्भिकादीसु अयोनिसोमनसिकारपदट्ठान' अरति, तन्द्रा एव जम्हाई-आदि मे अयोनिशोमनसिकार – इसका आसन्नकारण है ।

---

१. ब० भा० टी० । तु० – विसु०, पृ० ३२७, अट्ठ०, पृ० २०६, ३०० ।

२. "थियति चित्त मन्द मन्द कत्वा अज्झोत्थरतीति थिन ।" – प० दी०, पृ० ८४ ।

३. तु० – अभि० को० २ २६, पृ० १२७, ५ ४७–४८, पृ० १४७,१४८ ।
"स्त्यान कायचित्ताकर्मण्यता ।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ७४ ।
"कायाकर्मण्यता स्त्यान तन्द्रीपर्यायवचनम् ।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ३०९ ।
"स्त्यान चित्तस्याकर्मण्यता स्तैमित्यम् । स्तिमितस्य भाव स्तैमित्यम्, यद्योगाच्चित्त जडीभवति स्तिमित भवति नालम्बन प्रतिपत्तु समुत्सहते ।" – त्रि० भा०, पृ० ३१ ।
"स्त्यान कतमत् ? मोहाशिका चित्ताकर्मण्यता सर्वक्लेशोपक्लेशसाहाय्यकर्मकम् ।" – अभि० समु०, पृ० ९ ।
"तत्थ कतम थिन ? या चित्तस्स अकल्यता, अकम्मञ्ञता . थीयितत्त चित्तस्स, इद वुच्चति थिन ।" – ध० स०, पृ० २५९ ।

४. "अनुस्साहनावसीदनभावेन सहतभावो थिन ।" – ध० स० मू० टी०, पृ० १२०; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १५० ।

१३. मिद्ध चैतसिक -

"मेधेतीति मिद्ध नाम अकम्मञ्ञत्तलक्खण ।
ओनय्हरस लीनत्तोपट्ठान पि पचलायिता[1] ।।"

वचनार्थ एवं लक्षण – 'मेधेतीति मिद्ध' जो धर्म चित्त, चैतसिक धर्मों को अकर्मण्य करके नष्ट करता है वह 'मिद्ध' है[2] । 'अकम्मञ्ञत्तलक्खण' अकर्मण्यता इसका लक्षण है[3] ।

'स्त्यान' चित्त की अकर्मण्यता है तथा 'मिद्ध' वेदनादि स्कन्धत्रय की अकर्मण्यता है – यही इन दोनो मे वैशिष्टच है[4] । त्रिपिटक मे चित्त की अकल्यता (अस्वस्थता) एव अकर्मण्यता को 'स्त्यान' एव काय की अकल्यता एव अकर्मण्यता को 'मिद्ध' कहा गया है[5] ।

प्रश्न – काय की अकर्मण्यता कहने से रूपकाय (रूपस्कन्ध) की अकर्मण्यता प्राप्त होती है और इस प्रकार मिद्ध का रूपभाव प्राप्त होता है, क्या मिद्ध 'रूप' है ?

उत्तर – मिद्ध का रूपभाव प्राप्त नही होता, क्योकि इसे कामच्छन्द-आदि नीवरण-धर्मों के समान प्रहातव्य-धर्मो मे गिना गया है । रूप को दर्शनादि

---

१ ब० भा० टी० । तु० – विसु०, पृ० ३२७, अट्ठ०, पृ० २०६, ३००-३०१ ।

२. "मेधति चेतसिके धम्मे अकम्मञ्ञभूते कत्वा विहिसतीति मिद्धं ।" – प० दी०, पृ० ८४ ।

३ "कायचित्ताकर्मण्यता मिद्ध चित्ताभिसङक्षेप स्वप्नाख्य, स तु क्लिष्ट एव पर्यवस्थानम् ।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ३०९ ।
द्र० – अभि० को० २ ३०, पृ० १३३, ५ ४७, पृ० १४७ ।
"मिद्धमस्वतन्त्रवृत्तिचेतसोऽभिसक्षेप । वृत्तिरालम्बने प्रवृत्ति, सास्वतन्त्रा चेतसो यतो भवति तन्मिद्धम् । कायचित्तसन्धारणासमर्था वा वृत्तिश्चेतसोऽस्वतन्त्रा सा यतो भवति तन्मिद्धम् । अभिसङक्षेपश्चेतसश्चक्षुरादीन्द्रिय-द्वारेणाप्रवृत्ति । एतच्च मोहाशे प्रज्ञपनान्मोहाशिक कृत्यातिपत्तिसन्निश्रयदान-कर्मकञ्च ।" – त्रि० भा०, पृ० ३२ ।
"मिद्ध कतमत् ? मिद्धनिमित्तमागम्य मोहाशिकश्चेतसोऽभिसङक्षेप कुशल अकुशल अव्याकृत-, काले वा अकाले वा, युक्तो वा अयुक्तो वा । कृत्या-विपत्तिसन्निश्रयदानकर्मकम् ।" – अभि० समु०, पृ० १० ।
"तत्थ कतम मिद्ध ? या कायस्स अकल्यता अकम्मञ्ञता.. इद वुच्चति मिद्ध ।" – ध० स०, पृ० २५९ ।

४. विभा०, पृ० ८३ ।

५. ध० स०, पृ० २५९ ।

के द्वारा प्रहातव्य धर्मों मे नही गिना गया है, अत मिद्ध का रूपभाव प्राप्त नही होता[1] ।

रस – 'ओनय्हरस' विज्ञान एव द्वारो को अवरुद्ध (बन्द) करना – इसका कृत्य है[2] । अर्थात् इसके कारण चित्त, चक्षु-आदि द्वारो मे प्रवृत्त नही हो पाता । जब मिद्ध का उत्पाद होता है तब इसके स्वभावत मन्द होने से चित्त किसी भी आलम्बन का अच्छी तरह ग्रहण करने मे उत्साहहीन होता है, अत इसकी वजह से भवङ्गपात ही अधिकतर होता है । वीथि-चित्तो का उत्पाद बहुत कम होता है । इसलिये चक्षुर्द्वार एव चक्षुर्विज्ञान-आदि के उत्पन्न होने मे अवरोध होता है ।

[इसके लक्षण, रस-आदि की भाति ही 'स्त्यान' के लक्षण, रस-आदि को भी समझना चाहिये ।]

प्रत्युपस्थान – 'लीनत्तोपट्ठान पि पचलायिता' यह आलम्बन का ग्रहण करने मे सङ्कोच करने के स्वभाववाला धर्म है – ऐसा योगी के ज्ञान मे अवभासित होता है[3] । अथवा – निद्रा, तन्द्रा-आदि इसके जानने के आकार है ।

पृथग्जन एव शैक्ष्य पुद्गलो मे निद्रा से पूर्व तथा जागरण के अनन्तर प्राय· स्त्यान एव मिद्ध होते है । गाढ निद्रा-काल मे स्त्यान, मिद्ध न होकर केवल भवङ्ग-सन्तति (विपाक-चित्त) ही होती है ।

अर्हत् की सन्तान मे निद्रा से पूर्व या जागरण के पश्चात् कभी भी स्त्यान एव मिद्ध नही होते, तथा न तो उनका शरीर शिथिल होता है, और न उनकी मुखकान्ति ही म्लान होती है । उन्हे तो आलम्बन मे सङ्कोच होकर भवङ्गसन्ततिमात्र होती है । सासारिक पुद्गलो का शयन दो कारणो से होता है । प्रथम – कार्य की बहुलता से श्रान्त एव क्लान्त होने के कारण, तथा द्वितीय – स्त्यान एव मिद्ध से प्रभावित होने के कारण ।

अर्हत् मे केवल प्रथम कारण से ही शयन होता है, द्वितीय कारण से नही । पृथग्जन एव शैक्ष्य पुद्गलो मे दोनो कारणो से यथायोग्य शयन होता है ।

'स्त्यान' चित्त का आलस्य, एव 'मिद्ध' चैतसिक का आलस्य है – यह कहा

---

१. "केचि मिद्ध पि रूप ति, वदन्तेत न युज्जति ।
पहातब्बेसु वुत्तत्ता, कामच्छन्दादयो विय ॥
पहातब्बेसु अक्खातमेत नीवरणेसु हि ।
रूप तु न पहातब्बमक्खात दस्सनादिना ॥
न तुम्ह भिक्खवे रूप, पजहेथाति पाठतो ।
पहेय्य भावलेसो पि, यत्थ रूपस्स दिस्सति ॥" – विभा०, पृ० ८३ ।
विस्तार के लिये द्र० – अट्ठ०, पृ० ३०१ ।

२ "ओनहन विञ्ञाणद्वारान पिदहन ।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १५० ।

३. "लीनता लीनाकारो आरम्मणग्गहणे सङ्कोचो ।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १५० ।

जा चुका है । जिस प्रकार चित्त एव चैतसिको की अवस्थिति कदापि पृथक् पृथक् नही होती, उसी प्रकार त्य.न एव मिद्ध कभी भी पृथक् स्थित न होकर सर्वदा परस्पर सम्प्रयुक्त ही रहते ह ।

[स्त्यान एव मिद्ध लोभमूल एव द्वेषमूल चित्तो से सम्बद्ध होते हैं, अत इन्हे विचिकित्सा से पूर्व रखा गया है । तथा विचिकित्सा केवल मोहमूल चित्त से ही सम्बद्ध होती है, अत उसे अन्त मे रखा गया है।]

१४ विचिकित्सा चैतसिक

"ससयलक्खणा विचिकिच्छा कम्पनरसका,
अनिच्छय-उपट्ठाना अनेकसगाहो पि वा[1] ।।"

वचनार्थ – "सभाव विचिनन्तो किच्छति किलमति एताया ति विचिकिच्छा[2]" पदार्थो के स्वभाव का विवेचन करते हुए पुद्गल जिस धर्म की वजह से क्लेश को या क्लम को प्राप्त होता है, वह 'विचिकित्सा' है[3] । यह धर्म बुद्ध-आदि की सत्ता के विषय मे, अथवा पदार्थो के अनित्य-आदि स्वभावो के विषय मे विवेचन (विश्लेषण) करते समय किसी निश्चय पर नही पहुँच सकने के कारण दु ख का अनुभव करता है ।

अथवा – "चिकिच्छन चिकिच्छा, विगता चिकिच्छा विचिकिच्छा" ज्ञानरूपी प्रज्ञा से चिकित्सा करना 'चिकित्सा' है और चिकित्सा का अभाव 'विचिकित्सा' । बुद्ध-आदि के विषय मे सन्देह होने पर ज्ञानरूपी प्रज्ञा से उसकी चिकित्सा दुष्कर है, क्योकि उसका (पुद्गल का) सशय समूल उच्छिन्न नही होता, बिलकुल चिकित्सा नही हो सकती – ऐसा कही[4] ।

लक्षण एवं रस – 'ससयलक्खणा विचिकिच्छा, कम्पनरसका' सशय इसका लक्षण

---

१ ब० भा० टी० । तु० – विसु०, पृ० ३२८, अट्ठ०, पृ० २०६ ।
२ विभा०, पृ० ६१ ।
३ तु०–"द्वैधोर्ध्ववृत्तित ।" – अभि० को० ५ १, पृ० १३०, ५ २१, पृ० १३६, ५ ३२, पृ० १४१ ।
"चला हि विचिकित्सा ।" – वि० प्र० वृ०, पृ० २४७, "सम्यग्दृष्टयादिमार्ग-प्रतिपत्तिप्रतिबन्धभूता च विचिकित्सा ।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ३०३ ।
"विचिकित्सा कर्म-फल-सत्य-रत्नेषु विमति । विविधा मतिर्विमति – स्यान्न स्यादिति ।" – त्रि० भा०, पृ० ३० ।
४ "विगता चिकिच्छा ति चिकिच्छितु दुक्करताय वुत्त, न सब्बथा विचि-किच्छाय, चिकिच्छाभावतो ति तदत्थमत्त दस्सेति ।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १५३ ।

है तथा कम्पन अर्थात् आलम्बन मे चित्त का दोलायमान होना (निश्चय पर पहुँचने मे असमर्थता) – इसका कृत्य है[1] ।

प्रत्युपस्थान – 'अनिच्छय-पच्चुपट्ठाना' यह निश्चय कराने मे समर्थ धर्म नही है – ऐसा योगी के ज्ञान मे अवभासित होता है ।

अथवा – 'अनेकसगाहो पि वा' अनेकाशग्रह अर्थात् अनेककोटिक ग्रहण इसका प्रत्युपस्थान (जानने का आकार) है[2] ।

विचिकित्सा दो प्रकार की होती है – (क) नीवरण-विचिकित्सा एव (ख) प्रतिरूपिका विचिकित्सा ।

(क) नीवरण-विचिकित्सा – इस विचिकित्सा का, कुशल-धर्मो का निषेध करनेवाले नीवरण-धर्मो मे अन्तर्भाव होने के कारण मुख्य रूप से यह बुद्ध, धर्म, सङ्घ, शिक्षापद, स्कन्ध, आयतन, धातु एव प्रतीत्यसमुत्पाद-आदि वस्तुओ मे विमति (विविध मति) करानेवाली विचिकित्सा है ।

(ख) प्रतिरूपिका विचिकित्सा – उन उन कृत्यो के विषय मे या शास्ता-आदि के सम्बन्ध मे निश्चय न कर सकना – मुख्य रूप से विचिकित्सा नही है, अपितु यह प्रतिरूपिका (कृत्रिम) विचिकित्सा है[3] ।

यह प्रतिरूपिका विचिकित्सा पृथग्जन, शैक्ष्य या अर्हत् – तीनो पुद्गलो मे यथा-योग्य, अकुशल कुशल या क्रिया चित्तोत्पाद है ।

इस विचिकित्सा चैतसिक को प्रतिपत्ति-धर्म (ध्यान-धर्म) मे अन्तराय (विघ्न) करनेवाला समझना चाहिये ।

अकुशलराशि समाप्त ।

---

१ "'निच्च नु खो इद, अनिच्च नु खो' ति आदिप्पवत्तिया एकस्मि आकारे सण्ठातु असमत्थताय समन्ततो सेतीति ससयो ।" – अट्ठ०, पृ० २१० ।
"'एव नु खो, न नु खो' ति आदिना ससप्पनवसेन सेतीति ससयो । कम्पनरसा ति नानारम्मणे चित्तस्स कम्पनकिच्चा ।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १५३ ।

२. "एकस गहेतु असमत्थताय न एकसगाहो ति अनेकसगाहो ।" – अट्ठ०, पृ० २१० ।

३ प० दी०, पृ० ८५ ।

करनामात्र श्रद्धा है[1]। 'सद्दहनलक्खणा' विश्वास उत्पन्न करना – इसका लक्षण है। बुद्धोत्पाद-आदि श्रद्धेय वस्तुओ मे सन्देह न होकर उनकी सत्यता मे विश्वास होना श्रद्धा है[2]।

अथवा – 'ओकप्पनलक्खणा' बुद्धादि-आलम्बन का भेदन कर उसमे अनुप्रवेश करने के लक्षणवाली श्रद्धा है[3]।

रस – 'पसादनरसा' चित्त की परिशुद्धि – इसका कृत्य है। जैसे – उदकप्रसादक मणि (कतक फल-आदि) के आविल (अस्वच्छ) जल मे छोड देने पर उस जल का सम्पूर्ण मल (पङ्क-शैवल आदि) तत्काल ही नीचे बैठ जाता है और उस जल मे चन्द्र-सूर्य-आदि का प्रतिबिम्ब स्पष्ट रूप से अवभासित होने लगता है, उसी तरह चित्त-सन्तान मे श्रद्धा के सम्प्रयुक्त होने पर चित्त नीवरण-धर्मो से रहित होकर परिशुद्ध एव प्रसन्न हो जाता है तथा वह (चित्त) बुद्ध-आदि के गुणो को अपने मे अच्छी तरह धारण करने मे समर्थ हो जाता है[4]।

अथवा – 'पक्खन्दनरसा' ओघ (बाढ) को पार करने की तरह लाँघने या उसमे निर्भय प्रवेश करने के लक्षणवाली श्रद्धा है। यह दान देना, शील की रक्षा करना, उपोसथ करना एव भावना का आरम्भ करना-आदि कर्म मे पूर्वगामी होती है।

---

१ विसु०, पृ० ३२४।

२ "सद्दहन्ति एताया ति सद्दहनकिरियाय पवत्तमानान धम्मान तत्थ आधिपच्चभावेन सद्धाय पच्चयत दसेति। तस्सा हि धम्मान तथापच्चयभावे सति 'पुग्गलो सद्दहती' ति वोहारो होति। सद्दहन सद्धेय्यवत्थुनो पत्तियायन, त लक्खण एतिस्सा ति सद्दहनलक्खणा।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४२।

तु० – ध० स० मू० टी०, पृ० ८८, अभि० को० ६ : ७३, पृ० १८६, ६ : ७५, पृ० १६०।

"तत्र श्रद्धा चेतस प्रसाद। सत्य-रत्न-कर्म-फलाभिसम्प्रत्यय इत्यपरे।" – अभि० को० २ २५ पर भाष्य।

"श्रद्धा कतमा ? अस्तित्व-गुणवत्त्व-शक्तत्वेष्वभिसम्प्रत्यय प्रसादोऽभिलाष.।" – अभि० समु०, पृ० ६।

"तत्र श्रद्धा चेतस प्रसादो गुणि-गुणार्थित्वाभिसम्प्रत्ययाकार चित्तकालुष्यापनायी। तद्यथ दकप्रसादको मणि. सरसि प्रक्षिप्त सर्व कालुष्यमपनीयाच्छतामुत्पादयति, तद्वच्चित्तसरसि जात. श्रद्धामणिरिति।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ७१।

"तत्र श्रद्धा कर्म-फल-सत्य-रत्नेष्वभिसम्प्रत्यय प्रसादश्चेतसोऽभिलाष.। श्रद्धा हि त्रिधा प्रवर्तते – सति वस्तुनि गुणवत्यगुणवति वा सम्प्रत्ययाकारा, सति गुणवति च प्रसादाकारा, सति गुणवति च प्राप्तुमुत्पादयितु वा शक्येऽभिलाषाकारा। चेतस प्रसाद इति – श्रद्धा हि चित्तकालुष्यवैरोधिकीत्यतस्तत्सम्प्रयोगे क्लेशोपक्लेशमलकालुष्यविगमाच्चित्त श्रद्धामागम्य प्रसीदतीति चेतस प्रसाद उच्यते।" – त्रि० भा०, पृ० २६।

३. "बुद्धादिगुणे ओगाहति भिन्दित्वा विय अनुपविसतीति ओकप्पना।" – अट्ठ० पृ० ११८।

४. तु० – अट्ठ०, पृ० ६८, मिलि०, पृ० ३७-३८, प० दी०, पृ० ८५।

[लक्षण एव रस, दोनो का योग श्रद्धा का समग्र रूप होता है ।]

प्रत्युपस्थान एवं पदस्थान – 'अकालुस्सियुपट्ठाना' चित्त के कालुष्य का अपनोदन करनेवाले धर्म के रूप मे यह योगी के ज्ञान मे अवभासित होती है । चित्त की स्वच्छता इसके जानने का आकार है[1] । अथवा – अधिमुक्ति (दृढ भक्ति) इसका प्रत्युपस्थान है ।

'सद्धेय्यवत्थुपदट्ठाना' श्रद्धेयवस्तुएँ इसका आसन्न कारण है । त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म, सङ्घ), कर्म, कर्मफल, इहलोक, परलोक-आदि श्रद्धेय वस्तुएँ है[2] । विभिन्न प्रकार के वृक्ष, नदी, पशु-आदि के प्रति (इन्हे देव मानकर) तथा अन्य अवरकोटि के देवी-देवताओ के प्रति होनेवाली श्रद्धा यथार्थ श्रद्धा न होकर प्रतिरूपिका (कृत्रिम) श्रद्धा है। इसे श्रद्धा न कहकर मिथ्याधिमोक्ष कहना चाहिये । यह प्रतिरूपिका श्रद्धा मोह एव दृष्टि प्रधान अकुशल चित्तोत्पाद है ।

अथवा – श्रद्धा चैतसिक सद्धर्म-श्रवण-आदि स्रोतापत्ति के अङ्गो के पदस्थानवाला है । इसे हाथ, धन एव बीज के समान जानना चाहिये[3] ।

२ स्मृति चैतसिक

"अपिलापनलक्खणा असम्मोसरसा सति,
आरक्खपच्चुपट्ठाना थिरसञ्ञापदट्ठाना[4] ।।"

वचनार्थ एवं लक्षण – 'सरतीति सति' जो धर्म स्मरण करता है, अथवा जिसके कारण स्मरण किया जाता है, अथवा स्मरणमात्र स्मृति है । 'अपिलापनलक्खणा' जैसे – अलाबू (तुम्बिका) जल मे अस्थिर भाव से तैरती रहती है, उसमे प्रवेश नही करती, वैसे स्मृति नही है । स्मृति तो आलम्बन मे प्रवेश करने के लक्षणवाली है, यह आलम्बन को निश्चल रूप मे स्थापित करती है[5] ।

---

१. "अकलुसभावो अकालुसिय अनाविलभावो ति अत्थो ।" – ध० स० मू० टी०, पृ० ८९ ।

२ ध० स० अनु०, पृ० ९५-९६ ।

३. पुण्यकर्मों के करने मे हाथ के समान, सर्वविध सम्पत्तियों के देने मे धन के समान, तथा अमृतरूपी फल के फलने मे बीज के समान है।

४ ब० भा० टी० । तु० – विसु०, पृ० ३२४; अट्ठ०, पृ० ९९-१०० ।

५ "उदके अलाबू विय आरम्मण पिलवित्वा गन्तु अदत्वा पासाणस्स विय निच्चलस्स आरम्मणस्स ठपन सारण असम्मुट्ठताकरण अपिलापन ।" – ध० स० मू० टी०, पृ० ८९ । तु० – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४३, अट्ठ०, पृ० १२० ।

"स्मृतिरालम्बनासम्प्रमोष इति । यद्योगादालम्बन न मनो विस्मरति, तच्चाभिलषतीव, सा स्मृति ।" – अभि० को० २ २४ पर स्फु०, पृ० १२७ ।

"चित्तव्यापाररूपा स्मृति चित्तस्यार्थाभिलपना कृतकर्तव्यक्रियमाणकर्मान्ताविप्रमोषलक्षणा ।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ६९ ।

अथवा – पुन पुन स्मरण कराना इसका लक्षण है । जैसे – राजा का भाण्डागारिक दशविध रत्नो की रक्षा करते हुए सायम्प्रात राजा को उसकी ऐश्वर्य-आदि सम्पत्ति का स्मरण कराता है, यथा – 'आपके पास इतने हाथी है, घोडे है, सुवर्ण है' – आदि आदि, उसी प्रकार स्मृति भी कुशल धर्मों का स्मरण कराती है । यथा – 'चार स्मृतिप्रस्थान है, चार सम्यग्प्रधान है' – इत्यादि[1] ।

अथवा – हित, अहित धर्मो की गति का अन्वेषण करके अहित का त्याग एव हित का उपादान करनेवाली स्मृति है[2] ।

रस – 'असम्मोसरसा' विस्मरण न करना – इसका कृत्य है[3] ।

प्रत्युपस्थान– 'आरक्खपच्चुपट्ठाना' आलम्बन का सरक्षण करना अथवा विषय की ओर बना (अभिमुख) रहना – इस का प्रत्युपस्थान (जानने का आकार) है । जैसे – अलाबू (लौकी) पानी मे नीचे न बैठकर उसकी सतह पर ही सन्तरण करती रहती है, उसी प्रकार स्मृति से सम्प्रयुक्त चित्त का आलम्बन व्यपगत नही होता, अपितु चित्त मे ही स्थित (तैरता) रहता है; अत सम्प्रयुक्त धर्मो को आलम्बन मे स्थिर करना – स्मृति का लक्षण है । आलम्बन को अन्तर्हित न होने देकर सर्वदा उसीकी ओर बने रहना – इसका कृत्य है । अत यह आलम्बन (को अन्तर्हित न होने देकर उस) की रक्षा करनेवाला धर्म है – ऐसा योगी के ज्ञान मे अवभासित होता है ।

पदस्थान – 'थिरसञ्ञापदट्ठाना' स्थिर सज्ञा इस का आसन्नकारण है ।

स्मृति के द्वारा आलम्बन की अविस्मृतिमे तथा उसके सरक्षण कर्म मे, दृढ सज्ञा अत्यधिक सहायक होती है । सज्ञा का सञ्जाननकृत्य जितना बलवान् होगा, स्मृति भी उतनी ही दृढ होगी । कुशल-आदि कर्मो को करने का निरन्तर अभ्यास करते रहने से वे कुशल-आदि कर्म स्वभाव बन जाते है और उनमे सज्ञा दृढ हो जाती है । अतएव च्युति के पूर्व वे कर्म पुन ज्ञान मे उपस्थित होते है । तथा पुद्गल के अनागत भव

"चित्तसस्कारे चैतसिकधर्मसन्तानस्य सततमविच्छिन्न चिन्तन नाम स्मृति ।" – अभि० मू०, पृ० १२३ ।

"स्मृति सस्तुते वस्तुन्यप्रमोषश्चेतसोऽभिलपनता । सस्तुत वस्तु पूर्वानुभूतम् । आलम्बनग्रहणाविप्रणाशकारणत्वादसम्प्रमोष । पूर्वगृहीतस्य वस्तुन. पुन. पुनरालम्बनाकारस्मरणमभिलपनता । अभिलपनमेवाभिलपनता । सा पुन-रविक्षेपकर्मिका । आलम्बनाभिलपने सति चित्तस्यालम्बनान्तरे आकारान्तरे वा विक्षेपाभावादविक्षेपकर्मिका ।" – त्रि० भा०, पृ० २५-२६ ।

१. मिलि०, पृ० ३६, अट्ठ०, पृ० ६६ ।

२. मिलि०, पृ० ३६–४०, अट्ठ०, पृ० ६६–१०० ।

३. "सम्मोसपच्चनीक किच्च असम्मोसो ।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४३, ध० स० मू० टी०, पृ० ८६ ।

"चिरकतचिरभासितान न सम्मुस्सनभावतो असम्मुस्सनता ।" – अट्ठ०, पृ० १२० ।

के निर्माण मे न केवल पूर्व भव के वे कर्म ही, अपितु उनकी दृढसज्ञाजन्य स्मृति भी सहायक (घटक) होती है ।

स्मृति दो प्रकार की होती है बुद्ध-आदि आलम्बनो का स्मरण करनेवाली स्मृति 'सम्यक् स्मृति' है, तथा लोभ एव मोह-आदि के आलम्बनो का सदा स्मरण करने वाली स्मृति 'प्रतिरूपिका स्मृति' है । सूत्रो मे इसे 'मिथ्या स्मृति' कहा गया है । यह (प्रतिरूपिका स्मृति) दृढसज्ञाप्रधान अकुशल चित्तोत्पाद है[1] ।

आलम्बन मे दृढतापूर्वक प्रतिष्ठित होने के कारण इसे (स्मृति चैतसिक को) इन्द्रकील के समान तथा चक्षुर्द्वार-आदि की रक्षा करने के कारण इसे द्वारपाल के समान समझना चाहिये ।

३ ह्री एव ४ अपत्राप्य

> "उभो पापान जेगुच्छ-उत्तासलक्खणा कमा,
> तेस अकरणरसा ततो सङ्कोचुपट्ठाना ।
> अत्तप्परसगारवपदट्ठाना ति सञ्ञिता[2] ।"

वचनार्थ – 'हिरियतीति हिरी' काय-दुश्चरित-आदि कर्मो से जुगुप्सा करना 'ह्री' है, लज्जा का यह नाम है । 'ओत्तप्पती ति ओत्तप्प' उन्ही कर्मो (दुश्चरितो) से भय-भीत होना 'अपत्राप्य' है, उद्वेग का यह नाम है[3] ।

---

१ प० दी०, पृ० ८५ ।

२ ब० भा० टी० । तु० – विसु०, पृ० ३२४, अट्ठ०, पृ० १०२, विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४३ ।

३ "हिरीयतीति हिरी । कायदुच्चरितादीहि लज्जति जिगुच्छति ओक्कण्ठतीति अत्थो, तेहि येव ओत्तप्पतीति ओत्तप्प, उब्बिज्जतीति अत्थो ।" – प० दी०, पृ० ८६, विभा०, पृ० ८४ ।

"अज्झत्तसमुट्ठाना हिरि नाम, बहिद्धासमुट्ठान ओत्तप्प नाम । अत्ताधिपति हिरि नाम, लोकाधिपति ओत्तप्प नाम । लज्जासभावसण्ठिता हिरि नाम; भयसभावसण्ठित ओत्तप्प नाम । . तत्रिद ओपम्म – यथा द्वीसु अयोगुळेसु एको सीतलो भवेय्य गूथमक्खितो, एको उण्हो आदित्तो; तत्थ पण्डितो सीतल गथमक्खितत्ता जिगुच्छन्तो न गण्हाति, इतर दाहभयेन । तत्थ सीतलस्स गूथमक्खितत्ता जिगुच्छाय अगण्हन विय अज्झत्त लज्जिधम्म ओक्कमित्वा पापस्स अकरण; उण्हस्स दाहभयेन अगण्हन विय अपायभयेन पापस्स अकरण वेदितब्ब ।" – अट्ठ०, पृ० १०२-१०४ ।

"प्रेम श्रद्धा गुरुत्व ह्री ।" – अभि० को० २ . ३२, पृ० १३४ ।

"ह्री. स्वात्मापेक्षा अकार्यकरणे लज्जा, अपत्राप्य तु परापेक्षा ।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ७३ ।

"ह्रीरात्मान धर्मं वाधिपतिं कृत्वावद्येन लज्जा... अपत्राप्य लोकमधिपतिं कृत्वावद्येन लज्जा ।" – त्रि० भा०, पृ० २६-२७ ।

लक्षण रस एवं प्रत्युपस्थान – 'उभो पापान जेगुच्छ-उत्तासलक्खणा कमा' पाप कर्म से जुगुप्सा एव उत्त्रास, क्रम से इन दोनो का लक्षण है। 'तेस अकरणरसा' पापकर्म न करना – इनका कृत्य है। 'ततो सङ्कोचुपट्ठाना' पापकर्म से सङ्कोच (हिचक) करनेवाले ये धर्म है – ऐसा योगी के ज्ञान मे अवभासित होता है।

पदस्थान – 'अत्तप्परसगारवपदट्ठाना ति सञ्ञिता' आत्मगौरव ह्री का, तथा परगौरव अपत्राप्य का आसन्नकारण है। ह्री की उपमा कुलीन कन्या से तथा अपत्राप्य की वेश्या से दी जाती है[1]। जैसे – कुलीन कन्या अपने कुल की मर्यादा (सम्मान) तथा स्वकीय गुणो के प्रति गौरव के कारण पापकर्म (परससर्ग-आदि) से जुगुप्सा करती है, उसी प्रकार ह्रीमान् पुद्गल अपने ज्ञान, कुल-आदि के गौरव के कारण पापकर्म से जुगुप्सा करता है।

तथा जैसे – वेश्या को यह होता है, 'यदि मै गर्भवती हो जाऊँगी तो लोग मुझसे घृणा करेगे, मेरा अपमान करेगे, व्यङ्ग्य (ताना) करेगे' और इस लोकापवाद को विचार कर उसे त्रास होता है तथा वह ऐसी परिस्थिति न आने देने के लिये प्रयत्न करती है, इसी प्रकार जिस पुरुष मे 'अपत्राप्य' होता है वह आत्मगौरव से नही, अपितु लोक-भय ('लोग मुझे क्या कहेगे ?' – इस भय) से या परगौरव से पापकर्म से विरत होता है। उसे यह भय होता है कि मै जो पापकर्म करूँगा, उसे यदि कही कुलीन (बडे) लोग या देवता-आदि जान लेगे तो मेरा असम्मान करेगे या दण्ड देगे और इस भय से वह पाप-कर्म से अपने को मुक्त रखता है।

भगवान् का पूजन, उपोसथ-कर्म, धर्म-श्रवण एव धर्म-देशना-आदि कर्मो मे जो सङ्कोच, जुगुप्सा या त्रास होता है वह ह्री एव अपत्राप्य नही है, अपितु प्रतिरूपिका (कृत्रिम) ह्री या प्रतिरूपक अपत्राप्य है। यह प्रतिरूपिका ह्री एव अपत्राप्य तृष्णाप्रधान अकुशल चित्तोत्पाद है[2]।

अकुशल कर्म करने के अनन्तर, उसके दूसरो के द्वारा जान लिये जाने पर जो लज्जा या उत्त्रास (भय) होता है वह दौर्मनस्यप्रधान अकुशल चित्तोत्पाद है।

इन दोनो धर्मो के कारण लोक का धारण होता है। इनके अभाव मे लोक पशुवत् आचरण करने मे प्रवृत्त हो सकता है, अत त्रिपिटक मे इन्हे 'लोकपाल' एव 'शुक्ल धर्म' कहा गया है[3]।

---

१. द्र० – विसु०, पृ० ३२४, विभा०, पृ० ८४।
तु० – "ह्रीरपि वैशारद्यसपत्नभूता नववधूरिवाप्रगल्भा।" – अभि० दी०, पृ० ५१।

२ "लज्जितब्बे न लज्जन्ति, अलज्जियेसु लज्जरे ति च।
भायितब्बे न भायन्ति, अभये भयदस्सिनो ति च॥" – प० दी०, पृ० ८६।

३. "द्वेमे भिक्खवे ! सुक्का धम्मा लोक पालेन्ति। कतमे द्वे ? हिरि च ओत्तप्प च। इमे चे भिक्खवे ! सुक्का द्वे धम्मा लोक न पालेय्यु, न इध पञ्ञायेथ– माता ति वा, मातुच्छा ति वा, मातुलानीति वा, आचरियभरिया ति वा,

५ अलोभ चैतसिक

"न लुब्भतीति अलोभो अलग्गभावलक्खणो,
अपरिग्गहरसो अल्लीनभावुपट्ठानको[1] ॥"

वचनार्थ एवं लक्षण – 'न लुब्भतीति अलोभो, अलग्गभावलक्खणो' आलम्बन की आकाङक्षा न करनेवाला या उनके प्रति आसक्त न होनेवाला धर्म अलोभ है। जल मे कमल की भाँति इष्ट आलम्बन मे लगाव का न होना अर्थात् अनासक्ति इसका लक्षण है[2]। रूप, शब्द-आदि कामगुणो के प्रति आसक्तिलक्षण लोभ है, इसका प्रतिपक्ष अलोभ है[3]। किसी भी धर्म (वस्तु) की आकाङक्षा न करना अलोभ नही है, क्योकि अकुशल कर्म की आकाङक्षा न करना तो अलोभ हो सकता है, किन्तु कुशल-धर्मो को न चाहना तो कभी भी अलोभ नही हो सकता। अत कुशल-धर्मो की आकाङक्षा का न होना 'अलोभ' न होकर सम्यक्-छन्द एव सम्यग्वीर्य की दुर्बलता से जनित 'कौसीद्य' है, अथवा चित्त-चैतसिक-धर्मो की हीनता है।

रस – 'अपरिग्गहरसो' अपरिग्रह – इसका कृत्य है। अर्हत् पुद्गल जैसे किसी भी धर्म (वस्तु) मे 'यह मेरा है' – ऐसा ममत्व (परिग्रह) नही करता, उसी प्रकार अलोभी पुद्गल भी लोभनीय आलम्बन कामगुणो मे 'यह मेरा है' – ऐसा

गरून दारा ति वा, सम्भेद लोको अगमिस्स – यथा अजेळका, कुक्कुट-सूकरा, सोणसिङ्गाला। यस्मा च खो भिक्खवे ! इमे द्वे सुक्का धम्मा लोक पालेन्ति, तस्मा पञ्ञायति – माता ति वा, मातुच्छा ति वा, मातुलानीति वा, आचरियभरिया ति वा, गरून दारा ति वा ति।" – अ० नि०, प्र० भा०, पृ० ४६, खु० नि०, प्र० भा०, पृ० २०६।

"हिरि ओत्तप्पसम्पन्ना, सुक्कधम्मसमाहिता।
सन्तो सप्पुरिसा लोके, देवधम्मा ति वुच्चरे' ति॥"
– खु० नि०, तृ० भा०, (जा०, प्र० भा०), पृ० ४।

१ ब० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ३२४, अट्ठ०, पृ० १०४।

२. "अलग्गभावो अनासत्तता।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४३।
"अलग्गभावलक्खणो वा कमलदले जलबिन्दु विय।" – विसु०, पृ० ३२४, अट्ठ०, पृ० १०४।

३. "लोभपटिपक्खो अलोभो।" – प० दी०, पृ० ८६, विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४३। "न लुब्भन्ति एते, सय वा न लुब्भति, अलुब्भनमत्तमेव वा त ति अलोभो।" – विसु०, पृ० ३२४, अट्ठ०, पृ० १०४।
"कतमो अलोभ ? स्वपरकायसम्पत्तावरागोऽस्वार्थश्च।" – अभि० मृ०, पृ० ६८।
"अलोभो लोभप्रतिपक्ष। लोभो नाम भवे भवोपकरणेषु च यासक्ति. प्रार्थना च, तत्प्रतिपक्षोऽलोभो भवे भवोपकरणेषु चानासक्तिर्वैमुख्य च।" – त्रि० भा०, पृ० २७।
"द्वे तु कुशलमूले अलोभाद्वेषौ।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ७३।
अभि० को० २ २५, पृ० १२४, ६.७, पृ० १६२।

ममत्व नही करता[1]। इसीलिये कहा गया है – 'मुक्त भिक्षु की तरह इस का कृत्य है[2]।

यदि अपरिग्रह (अममत्व)-मात्र अलोभ होगा तो अपनी सम्पत्ति का, परिणाम की परवाह किये बिना, दुरुपयोग भी अलोभ हो सकता है, किन्तु ऐसा नही, वह अलोभ नही है। वह तो स्मृति एव सम्प्रजन्य[3] से रहित मोह नामक धर्म है। दान न करना, भोग न करना – यह लोभ का कृत्य है, इसके विपरीत दान करना तथा स्मृति एव सम्प्रजन्य से युक्त होकर कुशल परिणाम की अपेक्षा से उपभोग करना, अलोभ का कृत्य है।

प्रत्युपस्थान – 'अल्लीनभावुपट्ठानको' अनुरागयुक्त न होना इसका स्वभाव है – ऐसा योगी के ज्ञान मे अवभासित होता है। जैसे – अशुचि-कुण्ड मे पतित पुरुष अपने शरीर मे अशुचि के लग जाने पर भी उस अशुचि के प्रति रागवान् नही होता अर्थात् उसे अपने मन से नही चाहता, उसी तरह अलोभ-युक्त पुद्गल लोभ के आलम्बनभूत कामगुणो से परिवृत रहने पर भी उन आलम्बनो के प्रति भीतर से अनुरागहीन होता है[4]।

६ अद्वेष चैतसिक

"न दुस्सतीति अदोसो अचण्डिकत्तलक्खणो।
आघातविनयरसो, सोम्मभावुपट्ठानको[5]॥"

वचनार्थ एवं लक्षण – 'न दुस्सतीति अदोसो, अचण्डिकत्तलक्खणो' जिस धर्म के कारण पुद्गल किसी से द्वेष नही करता अर्थात् सबसे प्रीति करता है, वह अद्वेष है। अचण्डिकत्व[6] (अनुग्रता) – इसका लक्षण है।

अथवा – अनुकल मित्र की भाँति अविरोध – इसका लक्षण है। यह धर्म द्वेष का विरोधी है। यहाँ 'नञ्' विरुद्धार्थक है। यह शील का हेतु है[7]।

---

१. "अपरिग्गहो कस्सचि वत्थुनो ममत्तवसेन असङ्गहो।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४३।

२. "अपरिग्गहरसो मुत्तभिक्खु विय।" – विसु०, पृ० ३२४, अट्ठ०, पृ० १०४।

३ "सम्पजानाती ति सम्पजञ्ञा, समन्ततो पकारेहि जानातीति अत्थो।" – अट्ठ०, पृ० १०७।

४ विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० – अट्ठ०, पृ० १०४-१०६।

५ ब० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ३२४, अट्ठ०, पृ० १०४।

६. "चण्डिको वुच्चति चण्डो, थद्धपुग्गलो, तस्स भावो चण्डिक्क।" – अट्ठ०, पृ० २०८।

७. प० दी०, पृ० ८६, विभा०, पृ० ८४।
तु० – "कतमोऽद्वेष ? सत्त्वपक्षासत्त्वपक्षयोरव्यापादचित्तोत्पाद ।" – अभि० मृ०, पृ० ६८। अभि० को० २.२५, पृ० १२४।

रस एवं प्रत्युपस्थान – 'आघातविनयरसो, सोम्मभावुपट्ठानको' आघात (द्वेष) को दूर (अपनीत) करना – इसका कृत्य है। अथवा – चन्दनरस की भाँति परिदाह का उपशमन करना – इसका कृत्य है। पूर्ण चन्द्र की भाँति सौम्य रूप मे यह योगी के ज्ञान मे अवभासित होता है।

इस अद्वेष के आलम्बन के रूप मे सत्त्वप्रज्ञप्ति होने पर जब सौम्यभाव का उत्पाद होता है तो उसे ही 'मैत्रीब्रह्मविहार' कहते है[1], अतएव सर्वमैत्री ही अद्वेष है। फिर भी सर्वमैत्री को अद्वेष नही कहा जा सकता, क्योकि जब अद्वेष सत्त्वप्रज्ञप्ति का आलम्बन नही करता, अपितु उसके आलम्बन बुद्धपूजा, धर्मदेशना – आदि अन्य कुशल धर्म होते है तब उसे 'मैत्री' नही कहा जा सकता, बल्कि तब उसे 'अद्वेष' ही कहा जायेगा[2]। (प्रतिरूपक अद्वेष का वर्णन नवमपरिच्छेद मे किया जायेगा।)

[त्रिपिटक मे अद्वेष के अनन्तर अमोह का वर्णन उपलब्ध होता है[3], फिर भी यहाँ (प्रस्तुत ग्रन्थ मे) अद्वेष के अनन्तर अमोह का वर्णन नही किया गया है; क्योकि अमोह का अर्थ है प्रज्ञा और यह प्रज्ञा ज्ञान-विप्रयुक्त शोभन चित्तो मे सम्प्रयुक्त नही होती। इस प्रकार सभी शोभनचित्तो मे सम्प्रयुक्त न होने के कारण सर्व-शोभनसाधारण चैतसिको के इस प्रसङ्ग मे उसका उल्लेख नही किया गया है। सब चैतसिको के वर्णन के अनन्तर अन्त मे 'प्रज्ञेन्द्रिय' नाम से उसका पृथक् वर्णन किया गया है[4]।]

७. तत्रमध्यस्थता चैतसिक .

"तत्रमज्झत्तता नाम समवाहितलक्खणा।
ऊनाधिकवारणरसा, मज्झत्तभावुपट्ठाना[5]॥"

वचनार्थ – "मज्झे ठितो अत्ता यस्सा ति मज्झत्तो, तस्स भावो मज्झत्तता[6]" जिस सम्प्रयुक्त धर्म-समुदाय का आत्मा (स्वभाव) मध्य मे स्थित है, वह मध्यस्थ है, और उसका भाव 'मध्यस्थता' है। स्पर्शन, अनुभवन-आदि कृत्यो मे जो धर्म न्यूनता

"द्वे तु कुशलमूले अलोभाद्वेषौ।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ७३।
"अद्वेषो द्वेषप्रतिपक्षो मैत्री। द्वेषो हि सत्त्वेषु दु खे दु खस्थानीयेषु च धर्मेष्वाघात, अद्वेषो द्वेषप्रतिपक्षत्वात् सत्त्वेषु दु खे दु खस्थानीयेषु च धर्मेष्वनाघात।" – त्रि० भा०, पृ० २७।
विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० – अट्ठ०, पृ० १०४-१०६।

१ प० दी०, पृ० ८६।
२ द्र० – अभि० स० ९ ६ की व्याख्या।
३ द्र० – ध० स०, पृ० १८, २३, ३४, ३५।
४ द्र० – अभि० स० २ ७, पृ० १७१।
५ ब० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ३२५, अट्ठ०, पृ० १०९।
६ प० दी०, पृ० ८६।

एव आधिक्य का वर्जन करके सम्प्रयुक्त धर्मों के मध्य स्थित रहता है उसका भाव मध्यस्थता है। 'उपेक्षा' इसका भावार्थ है। 'तत्र' शब्द का सम्बन्ध यहाँ सम्प्रयुक्त चैतसिक धर्मो से है। यह सम्प्रयुक्त धर्मों मे उपेक्षा करनेवाला धर्म है[1]।

लक्षण एवं रस – 'तत्रमज्झत्तता नाम समवाहितलक्खणा' सम्प्रयुक्त धर्मो का समवहन करना – इसका लक्षण है। अर्थात् यह वह धर्म है जिसके योग से सम्प्रयुक्त धर्म न्यूनता एव आधिक्य का वर्जन करते हुए सम अर्थात् मध्य मे स्थित रहते है। इसीलिये इसे 'समवाहितलक्खणा' कहा गया है। 'ऊनाधिकवारणरसा' न्यूनता एव आधिक्य का वारण (वर्जन) करना – इसका कृत्य है। अथवा – पक्षपात को मिटाना – इसका कृत्य है।

जैसे – आजानेय (उत्तम अश्व) युक्त रथ का सारथि कुछ न करके केवल बैठा रहता है, क्योकि उत्तम अश्व स्वय समान गति से चलते रहते है। वहाँ सारथि का कृत्य इतना ही होता है कि वह उनमे से किसी की भी गति को कम या अधिक न होने देते हुए, जैसे वे चल रहे है उन्हे वैसे ही चलने दे, ठीक उसी प्रकार सम-प्रवृत्त चैतसिको को न्यूनाधिक व्यापार से वर्जित करते हुए उन्हे समप्रवृत्त ही रहने देना – तत्रमध्यस्थता का कृत्य है। इसी कृत्य को 'उपेक्षा' कहते है, न कि अनवधानता को[2]।

समवाहितत्व एवं उपेक्षा – ऊपर जो दृष्टान्त दिया गया है, उससे स्पष्ट होता है कि जब दोनो आजानेय समान गति से चल रहे हो तब सारथि का कोई व्यापार नही होता, वह केवल उपेक्षामात्र ही करता है, फिर भी यह ध्यातव्य है कि वे आजानेय, जो समान गति से चल रहे है, सारथि की वजह से ही चलते है, यदि सारथि

---

१. तु० – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४७, प० दी०, पृ० ८६।
अभिधर्मकोश-आदि ग्रन्थो मे 'तत्रमज्झत्तता' चैतसिक नही है वहाँ इसका 'उपेक्षा' नाम से वर्णन किया गया है। यथा –
"उपेक्षा चित्तसमता चित्तानाभोगता। कथमिदानीमेतद् योक्ष्यते ? तत्रैव चित्ते आभोगात्मको मनस्कारो अनाभोगात्मिका चोपेक्षा इति।" – अभि० को० २ २५ पर भाष्य।
"उपेक्षा चित्तसमतेति। यद्योगाच्चित्त सममनाभोगे वर्तते, सोपेक्षा सस्कारो-पेक्षा नाम। त्रिविधा हि उपेक्षा – वेदनोपेक्षा, सस्कारोपेक्षा, अप्रमाणोपेक्षा चेति।" – स्फु०, पृ० १२९।
"उपेक्षा चित्तसमता चित्तानाभोग सस्कारनिमित्ताभोगमध्युपेक्षानिमित्त-प्रवणता।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ७२।
"कतमा उपेक्षा ? सर्वधर्मेष्वप्रतिष्ठा।" – अभि० मृ०, पृ० ६८।
"उपेक्षा चित्तसमता चित्तप्रशठता चित्तानाभोगता। एभिस्त्रिभि पदैरुपेक्षाया आदिमध्यावसानावस्था द्योतिता।" – त्रि० भा०, पृ० २७।
२ प० दी०, पृ० ८६।

न रहे तो कदाचित् यह सम्भव न हो । यही सारथि का समवाहितत्व है और इसीलिये तत्रमध्यस्थता का भावार्थ उपेक्षा भी होता है तथा उसका लक्षण समवाहितत्व भी है[1] ।

नवम (कम्मट्ठान) परिच्छेद मे आनेवाला उपेक्षा-ब्रह्मविहार भी 'तत्रमध्यस्थता' (तत्रमज्झत्तता) ही है[2], किन्तु सभी तत्रमध्यस्थता उपेक्षा-ब्रह्मविहार नही है। सत्त्व-प्रज्ञप्ति का आलम्बन करके जब उपेक्षा होती है तभी वह उपेक्षा-ब्रह्मविहार कहलाती है । बुद्धार्चन, धर्मदेशना-आदि मे जो तत्रमध्यस्थता होती है वह उपेक्षा-ब्रह्मविहार नही है ।

८ कायप्रश्रब्धि एवं ९ चित्तप्रश्रब्धि

"पस्सद्धियो कायचित्तदरथोपसमलक्खणा,
तस्स निद्दमनरसा सन्तसीत्युपट्ठानका ।
कायचित्तपदट्ठाना उद्धच्चादिपच्चनिका[3] ।।"

वचनार्थ – यहाँ 'काय' शब्द स्कन्ध अर्थ मे प्रयुक्त है, तथा 'स्कन्ध' शब्द से वेदनादि स्कन्धत्रय का ग्रहण करना चाहिये[4]। 'पस्सम्भन पस्सद्धि, कायस्स पस्सद्धि काय-पस्सद्धि' प्रश्रम्भण (उपशम) प्रश्रब्धि है, काय की प्रश्रब्धि को 'कायप्रश्रब्धि' कहते हैं । इसी तरह 'चित्तस्स पस्सद्धि चित्तपस्सद्धि' अर्थात् चित्त की प्रश्रब्धि 'चित्तप्रश्रब्धि' है[5] ।

---

१. द्र० – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४७ ।

२. द्र० – अभि० स० ९ : ९ ।

३ ब० भा० टी० । विसु०, पृ० ३२४, अट्ठ०, पृ० १०७ ।

४. "कायसद्दो समूहवाची, सो च खो वेदनादिक्खन्धत्तयवसेना ति आह – 'कायो ति चेत्थ वेदनादयो तयो खन्धा' ति ।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४३ ।

५ "ननु च सूत्रे कायप्रश्रब्धिरप्युक्ता ? न खलु नोक्ता, सा तु यथा कायिकी वेदना तथा वेदयितव्या । कथ सा बोध्यङ्गेषु योक्ष्यते ? तत्र तर्हि काय-कर्मण्यतैव कायिकी प्रश्रब्धिर्वेदितव्या । कथ सा बोध्यङ्गमित्युच्यते ? बोध्यङ्गानुकूल्यात् ।" – अभि० को० २ . २५ पर भाष्य ।

"चित्तकर्मण्यतेति – यद्योगाच्चित्त कर्मण्य भवति सा चित्तकर्मण्यता, चित्तलाघव-मित्यर्थ । ननु च सूत्रे कायप्रश्रब्धिरप्युक्तेति – कश्च पर्यायो यत् प्रश्रब्धि-सम्बोध्यङ्गद्वय भवति अस्ति कायप्रश्रब्धिरस्ति चित्तप्रश्रब्धि ? तत्र यापि कायप्रश्रब्धि, तदपि प्रश्रब्धिसम्बोध्यङ्गमभिज्ञायै सम्बोधये निर्वाणाय सवर्तते, यापि चित्तप्रश्रब्धि, तदपि प्रश्रब्धिसम्बोध्यङ्गमभिज्ञायै सम्बोधये निर्वाणाय सवर्तत इति ।" – स्फु०, पृ० १२८ ।

"प्रश्रब्धि. चित्तकर्मण्यता, कायप्रश्रब्धिरप्यस्ति । सा तु तदानुकूल्यात् बोध्य-ङ्गशब्द लभते, तद्यथा प्रीति. । प्रीतिस्थानीयाश्च धर्मा. प्रीतिबोध्यङ्ग-मुक्त भगवता । सम्यग्दृष्टिसङ्कल्पव्यायामाश्च प्रज्ञानुकूल्यात् प्रज्ञास्कन्ध इत्युक्ता । तद्वत् कायकर्मण्यता चित्तकर्मण्यता बोध्यङ्गावाहकत्वात् तच्छब्दे-नोक्ता ।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ७२ ।

लक्षण एवं रस – 'पस्सद्धियो कायचित्तदरथोपसमलक्खणा' काय एव चित्त के परिदाह को उपशान्त करना – इन दोनो प्रश्रब्धियो का लक्षण है। 'तस्स निद्दमनरसा' काय एव चित्त के परिदाह का दमन करना – इनका कृत्य है।

पहले कहा गया है कि 'औद्धत्य' काय एव चित्त को अशान्त करनेवाला धर्म है, अत औद्धत्यप्रधान क्लेश-धर्म (अकुशल चित्तोत्पाद) अनुपशमलक्षण होने के कारण चित्त-चैतसिक-धर्मो का दहन करते है। ये शोभनधर्म (प्रश्रब्धियाँ) औद्धत्य-प्रधान क्लेश-धर्मो से विरहित होते है, अत उपशमयुक्त होते है। इस प्रकार उपशम होने मे चैतसिकसमूह का उपशम होना 'कायप्रश्रब्धि' तथा चित्त का उपशम होना 'चित्तप्रश्रब्धि' है[1]। चैतसिक-स्कन्ध के परिदाह का निर्दमन कायप्रश्रब्धि का तथा चित्त के परिदाह का निर्दमन चित्तप्रश्रब्धि का कृत्य है[2]।

प्रत्युपस्थान एवं पदस्थान – 'सन्तसीत्युपट्ठानका' शान्त एव शीतीभूत धर्म के रूप मे ये योगी के ज्ञान मे अवभासित होती है। 'कायचित्तपदट्ठाना' काय (चैतसिकसमूह) एव चित्त, इनके आसन्नकारण है।

'उद्धच्चपच्चनिका' ये प्रश्रब्धियाँ औद्धत्यप्रधान क्लेश-धर्मो की प्रतिपक्ष है।

जब श्रद्धा-आदि चैतसिको का पृथक् पृथक् अयुग्म रूप से वर्णन उपलब्ध होता है, तब क्यो प्रश्रब्धि, कर्मण्यता-आदि चैतसिको का वर्णन उसी प्रकार न करके युग्म रूप मे किया गया है ?

समाधान – चित्तप्रश्रब्धि-आदि से चित्त-धर्मो का ही उपशम-आदि होता है, चैतसिक-धर्मो का नही, तथा कायप्रश्रब्धि-आदि से चैतसिक-समूह नामक नामकाय

"प्रश्रब्धि कतमा ? कायचित्तदौष्ठुल्याना प्रतिप्रश्रब्धे कायचित्तकर्मण्यता। सर्वावरणनिष्कर्षणकर्मिका।" – अभि० समु०, पृ० ६।

"कतमा प्रश्रब्धि ? चित्तकुशलता दौष्ठुल्य (= गुरुत्व = स्त्यान-मिद्ध) परित्यागेन (चित्तस्य) लघुभूतता शीतीभूतता।" – अभि० मू०, पृ० ६८।

"प्रश्रब्धिर्दौष्ठुल्यप्रतिपक्ष कायचित्तकर्मण्यता। दौष्ठुल्य कायचित्तयोरकर्मण्यता, साङ्क्लेशिकधर्मबीजानि च, तदपगमे प्रश्रब्धिसद्भावात्। तत्र कायकर्मण्यता – कायस्य स्वकार्येषु लघुसमुत्थानता यतो भवति। चित्तकर्मण्यता – सम्यङ्मनसिकारसम्प्रयुक्तचित्तस्याह्लादलाघवनिमित्त यच्चैतसिक धर्मान्तर यद्योगाच्चित्तमालम्बने प्रवर्त्ततेऽतस्तच्चित्तकर्मण्यतेत्युच्यते। कायस्य पुन स्प्रष्टव्यविशेष एव प्रीत्याहृते कायप्रश्रब्धिर्वेदितव्या। प्रीतमनस काय प्रश्रभ्यत इति सूत्रे वचनात्। इय तद्वशेनाश्रयपरावृत्तितोऽशेषक्लेशावरणनिष्कर्षणकर्मिका।" – त्रि० भा०, पृ० २७।

१ विभा०, पृ० ८४, प० दी०, पृ० ८७।

२ तु० – "ह्लाद प्रश्रब्धि। रागजादिपरिदाहप्रतप्तचित्तशरीरस्य ग्रीष्मार्कप्रतप्तस्येव शीतोदकह्रदावगाहनादनास्रवज्ञानसम्मुखीभावाद् यत् कायचित्तप्रह्लाद. स धर्म प्रश्रब्धि।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ३६१।

एव रूपकाय, दोनो का उपशम-आदि होता है, अतएव प्रश्रब्धि-आदि चैतसिको का युग्म रूप मे वर्णन उपलब्ध होता है ।

"एत्थ च चित्तपस्सद्धि-आदीहि चित्तमेव पस्सद्ध, लहु, मुदु, कम्मञ्ञ, पगुण, उजु च होति, कायपस्सद्धि-आदीहि पन रूपकायो पि। तेनेवेत्थ भगवता धम्मान दुविधता वुत्ता[1] ।"

['फस्स' (स्पर्श), वेदना-आदि की तरह उपशम स्वभाववाली प्रश्रब्धि को भी एक ही होना चाहिये, दो नही, क्योकि चित्त का उपशम एक प्रकार का और चैतसिको का उपशम दूसरे प्रकार का होता है – ऐसा नही । हाँ, 'फस्स', 'वेदना' आदि की अपेक्षा इसके उपशम स्वभाव का कुछ वैशिष्ट्य है । वह यह कि यह उपशम चित्त-चैतसिको तक ही सीमित नही रहता, अपितु उपशमित चैतसिको से उत्पन्न चित्तज रूपो का भी इसके द्वारा उपशम होता है और चित्तज रूपो से सङ्क्रमित होकर यह उपशमधातु सम्पूर्ण शरीर को शान्त एव शीतल करती है । चित्त एव शरीर (काय) – दोनो को शान्त करने से यह, चित्तप्रश्रब्धि एव कायप्रश्रब्धि के नाम से, दो प्रकार की कही गयी है, वस्तुत स्वभाव से एक ही है। इसीलिये सप्तम परिच्छेद के 'बोधिपक्षीयसङ्ग्रह' मे 'सङ्कप्पपस्सद्धि च पीतुपेक्खा[2]' कहकर आचार्य ने प्रश्रब्धि का द्विविध भेद न करके केवल एक प्रकार के प्रश्रब्धि-चैतसिक का ही उल्लेख किया है । 'लघुता', 'मृदुता' आदि को भी इसी प्रकार जानना चाहिये[3] ।]

१० कायलघुता एव ११. चित्तलघुता

"लहुतायो कायचित्तगरुतासमलक्खणा,
तस्सा निद्दमनरसा अदन्धता-उपट्ठाना ।
कायचित्तपदट्ठाना थिनमिद्धपच्चनिका[4] ।।"

वचनार्थ– 'लहुनो भावो लहुता, कायस्स लहुता कायलहुता' लघु का भाव लघुता है, काय (वेदनादि स्कन्धत्रय) की लघुता 'कायलघुता' है । इसी तरह 'चित्तस्स लहुता चित्तलहुता' चित्त की लघुता को 'चित्तलघुता' कहते है ।

लक्षण एवं रस – 'लहुतायो कायचित्तगरुतासमलक्खणा' काय (चैतसिकसमूह) एव चित्त की गुरुता (भारीपन) का उपशम करना – दोनो लघुताओ का लक्षण है । 'तस्सा निद्दमनरसा' उस गुरुता का दमन करना – इनका कृत्य है । अकुशल-धर्म स्त्यान एव मिद्ध के द्वारा अभिभूत होने के कारण गुरु होते है । गुरु होने का तात्पर्य यह है कि – वीथिचित्त-सन्तति के अन्तराल मे भवङ्गपात अनेक बार होता है, तथा वीथिचित्त शीघ्रता से न होकर मन्द गति से या कम होते है। शोभन-धर्म स्त्यान एव मिद्ध नामक अकुशल धर्मो से विरहित होने के कारण लघु होते है । कायलघुता

१ विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४६ ।
२ द्र० – अभि० स० ७ : ३७ ।
३ ब० भा० टी० ।
४. ब० भा० टी० । तु० – विसु०, पृ० ३२५, अट्ठ०, पृ० १०७ ।

चैतसिकस्कन्ध की गुरुता का दमन करती है; अतः चैतसिकस्कन्ध का लघु होना, 'कायलघुता' है। चित्तलघुता चित्त की गुरुता का दमन करती है, अतः चित्त का लघु होना 'चित्तलघुता' है।

लघुता – कुशल कर्म करने में, तथा अनित्य-आदि 'कम्मट्ठानों' (कर्मस्थानों) का मनसिकार करने में, कुशल एवं क्रिया जवन-वीथियों के अन्तराल में भवङ्ग को अधिक बार न होने देकर भवङ्ग-सन्तति से जवन-वीथियों को निरन्तर एवं जल्दी जल्दी उठाकर प्रवृत्त करने के सामर्थ्य को 'लघुता' कहते हैं[1]।

इस कथन से यह नहीं समझना चाहिये कि शोभनधर्मों के उत्पाद-स्थिति-भङ्ग अशोभनधर्मों के उत्पाद-स्थिति-भङ्ग की अपेक्षा शीघ्र होते हैं, वस्तुतः 'उत्पाद-स्थिति-भङ्ग' नामक क्षणत्रय तो शोभन एवं अशोभन, दोनों के समान ही होते हैं।

प्रत्युपस्थान एवं पदस्थान – 'अदन्धता-उपट्ठाना' अदन्धता = अगुरुता (हल्कापन) इनका प्रत्युपस्थान है[2]। अर्थात् ये धर्म गुरुता के विरोधी हैं – ऐसा योगी के ज्ञान में अवभासित होता है। 'कायचित्तपदट्ठाना' काय (चैतसिकसमूह) एवं चित्त इनके आसन्नकारण हैं।

'थिनमिद्धपच्चनिका' ये लघुतायें स्त्यान एवं मिद्ध प्रधान अकुशल धर्मों की प्रतिपक्ष हैं।

जिन पुद्गलों में ये लघुताएँ दुर्बल होती हैं, उनका चित्त पाषाण पर प्रक्षिप्त पद्मपुष्प की भाँति कुशलकर्मों में विकसित नहीं हो पाता, अपितु सङ्कुचित होता है। जिनमें ये (लघुताएँ) बलवती होती हैं, उनका चित्त उदक में प्रक्षिप्त पद्मपुष्प की तरह कुशल कर्मों में विकसित होता है, सङ्कुचित नहीं होता[3]।

इस लघुता के बल से रूपकाय भी लघु होता है। जब कुशल धर्म बलवान् होते हैं, तो रूपकाय (शरीर) भी लघु होता है और कहीं 'उब्बेगा पीति[4]' (ऊर्ध्व-वेगा प्रीति) की सहायता प्राप्त हो जाये तो शरीर आकाश में भी उड़ सकता है।

१२. कायमृदुता एवं १३. चित्तमृदुता

"मुदुतायो कायचित्तथद्धतासमलक्खणा,
तस्सा निद्दमनरसा अप्पटिघातुपट्ठानका।
कायचित्तपदट्ठाना दिट्ठिमानपच्चनिका[5] ॥"

---

१ "थिनमिद्धादिपटिपक्खभावेन कुसलधम्मे अनिच्चादिमनसिकारे च सीघ सीघं परिवत्तनसमत्थता लहुपरिणामता। . सा हि पवत्तमाना सीघं भवङ्ग-वुट्ठानस्स पच्चयो होति।" – ध० स० मू० टी०, पृ० ६७।

२ "अगुरुता अदन्धता ति अत्थो।" – प० दी०, पृ० ८७।
"अदन्धनताति गरुभावपटिक्खेपवचनमेत, अभारियताति अत्थो।" – अट्ठ०, पृ० १२३।

३. द्र० – प० दी०, पृ० ८७।

४. द्र० – पीछे पृ० ११६-१२०।

५. ब० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ३२५, अट्ठ०, पृ० १०७।

वचनार्थ – 'मुदुनो भावो मुदुता कायस्स मुदुता कायमुदुता' मृदु का भाव मृदुता है और काय की मृदुता को 'कायमृदुता' कहते हैं। 'चित्तस्स मुदुता चित्तमुदुता' चित्त की मृदुता 'चित्तमृदुता' है।

लक्षण एवं रस – 'मुदुतायो कायचित्तथद्धतासमलक्खणा' काय एव चित्त की कठोरता का उपशम करना – इन मृदुताओ का लक्षण है। 'तस्सा निद्दमनरसा' उस कठोरता का दमन करना – इनका कृत्य है।

दृष्टि एव मान प्रधान अकुशल चित्तोत्पाद आत्माभिनिवेश, अस्मिमान-आदि से युक्त होने के कारण किसी की भी परवाह नही करते, जैसे – कोई सेनापति शत्रुओ के मध्य मे जाकर भी उनकी परवाह नही करता, इसी प्रकार किसी की भी परवाह न करने से ये (दृष्टि-मानप्रधान अकुशल चित्तोत्पाद) अत्यन्त कठोर (थद्ध) होते हैं[1]। शोभन-धर्म इन दृष्टि, मान-आदि अकुशल-धर्मो से सम्प्रयुक्त नही होते, अत मृदु होते हैं।

कायमृदुता चैतसिकस्कन्ध की कठोरता का दमन करती है, अत चैतसिकस्कन्ध का मृदु होना 'कायमृदुता' है। चित्तमृदुता चित्त की कठोरता का दमन करती है, अत चित्त का मृदु होना 'चित्तमृदुता' है।

जिन पुद्गलो मे ये मृदुताये दुर्बल होती है, उनका चित्त शत्रु-सेना के मध्य गये हुए सेनापति की भाँति कुशल-कर्मों के प्रति अत्यन्त कठोर (उपेक्षायुक्त) होता है। जिनमे ये बलवती होती हैं उनका चित्त, अपने जाति-बन्धु के मध्य आये हुए सेनापति की भाँति कुशल-कर्मों के प्रति अतिमृदु (प्रीतियुक्त) होता है। अत दृष्टि एव मान का प्रहाण कर चित्तसन्तति को कुशल-कर्मो के प्रति प्रवण करना – इनका कृत्य है[2]।

प्रत्युपस्थान एवं पदस्थान – 'अप्पटिघातुपट्ठानका' शोभन आलम्बनो मे अप्रतिघात (अब धन=अनुलोम) – स्वभाववाले ये धर्म हैं – ऐसा योगी के ज्ञान मे अवभासित होता है[3]। 'कायचित्तपदट्ठाना' काय (चैतसिकसमूह) एव चित्त इनके आसन्नकारण हैं।

'दिट्ठिमानपच्चनिका' ये मृदुताए दृष्टि एव मान-प्रधान क्लेश-धर्मो की प्रतिपक्ष हैं।

इन मृदुताओ के बल से रूपकाय (शरीर) भी मृदु होता है, जैसे – शान्त एव निरभिमानी बलवान् पुद्गलो की आकृति मृदु होती है।

१४ कायकर्मण्यता एव १५ चित्तकर्मण्यता :

"कम्मञ्ञता कायचित्त-अकम्मञ्ञतासमलक्खणा,
तस्सा निद्दमनरसा सम्पत्तिपच्चुपट्ठाना।
कायचित्तपदट्ठाना कामच्छन्दपच्चनिका[4] ॥"

---

१ "थद्धभावो थम्भो, दिट्ठिमानाधिकान तप्पधानान वा चतुन्न खन्धानमेत नाम।" – विसु० महा, द्वि० भा०, पृ० १४५।

२ द्र० – प० दी०, पृ० ८७।

३ "अप्पटिघातो अविलोमनं।" – ध० स० अनु०, पृ० १०५।

४ ब० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ३२५; अट्ठ०, पृ० १०७।

वचनार्थ – "कम्मनि साधु कम्मञ्ञ, कम्मञ्ञस्स भावो कम्मञ्ञता, कायस्स कम्मञ्ञता कायकम्मञ्ञता"[1] दानादि कुशल कर्मो मे साधु (प्रवीण) को 'कर्मण्य' कहते है। कर्मण्य का भाव 'कर्मण्यता' है। 'चित्तस्स कम्मञ्ञता चित्तकम्मञ्ञता' चित्त की कर्मण्यता 'चित्तकर्मण्यता' है[2]।

लक्षण एवं रस – 'कम्मञ्ञता कायचित्त-अकम्मञ्ञतासमलक्खणा' काय (वेदनादि स्कन्धत्रय) एव चित्त की अकर्मण्यता का उपशम करना – इन कर्मण्यताओ का लक्षण है।

'तस्सा निद्दमनरसा' काय एव चित्त की अकर्मण्यता का दमन करना – इनका कृत्य है।

पूर्वकथित स्त्यान, मिद्ध एव औद्धत्य से अतिरिक्त कामच्छन्द आदि नीवरण-धर्मो से सम्प्रयुक्त अकुशल चित्तोत्पाद दान-शील-आदि कुशल-कर्मो मे असाधु (अकर्मण्य) होते है। शोभनधर्म इन कामच्छन्द-आदि नीवरण-धर्मो से असम्प्रयुक्त (रहित) होने के कारण कुशल-कर्मो मे साधु (कर्मण्य) होते है। कायकर्मण्यता चैतसिकसमूह की अकर्मण्यता का दमन करती है, अत चैतसिकसमूह का कर्मण्य होना 'कायकर्मण्यता' है। चित्तकर्मण्यता चित्त की अकर्मण्यता का दमन करती है, अत चित्त का कर्मण्य होना 'चित्तकर्मण्यता' है।

जिन पुद्गलो मे ये कर्मण्यताएँ दुर्बल होती है, उनका चित्त पुण्य-कर्मो मे यथेच्छ प्रवृत्त होने मे असमर्थ होता है। जैसे – विपरीत वेग से बहनेवाली वायु के प्रवाह मे प्रक्षिप्त तुषराशि (भूसे का ढेर) स्थित न रहकर विकीर्ण हो जाती है, उसी तरह चित्त भी कुशल-कर्मो मे यथेच्छ स्थित नही रह पाता। तथा जिन मे ये बलवती होती है वे अपनी चित्तसन्तति को कुशल-कर्मो मे यथेच्छ स्थापित करने मे समर्थ होते है। जैसे – प्रतिवात (उलटे बहनेवाली हवा) मे प्रक्षिप्त स्वर्ण-खण्ड विकीर्ण न होकर स्थित रहता है, उसी तरह उनका चित्त भी कुशल-कर्मो मे यथेच्छ स्थित रहता है[3]।

प्रत्युपस्थान एवं पदस्थान – 'सम्पत्तिपच्चुपट्ठाना' काय एव चित्त की आलम्बन-करणरूप सम्पत्ति, इनका प्रत्युपस्थान (जानने का आकार) है[4]। इनकी वजह से चित्त आलम्बन को परिपूर्ण रूप से ग्रहण करने मे सक्षम होता है। आलम्बन का ग्रहण करने मे साधुता (कुशलता) होने के कारण ये धर्म आलम्बन का सम्यग् ग्रहण करते है – ऐसा योगी के ज्ञान मे अवभासित होता है।

---

१ विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४५, विभा०, पृ० ८४, प० दी०, पृ० ८७।

२ "कम्मञ्ञता ति कम्मनि साधुता, कुसलकिरियाय विनियोगक्खमता ति अत्थो।" – अट्ठ०, पृ० १२३।

३. द्र० – प० दी०, पृ० ८७। तु० – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४५। विशेष व्याख्यान के लिये द्र० – ध० स० मू० टी०, पृ० ६७।

४ "कम्मञ्ञभावेनेव सम्पन्नाकारेन आरम्मणस्स गहण आरम्मणकरणसम्पत्ति।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४५।

'कामच्छन्दपच्चनिका' ये कर्मण्यताएँ अवशिष्ट कामच्छन्द-आदि नीवरण-धर्मों की प्रतिपक्ष है ।

ये प्रसादनीय वस्तुओ मे प्रसाद (प्रसन्नता) को करनेवाली तथा हितकर क्रियाओ मे विनियोग की क्षमता को उत्पन्न करनेवाली है ।

इन कर्मण्यताओ के कारण रूपकाय (शरीर) भी कुशल कर्मों मे कर्मण्य होता है ।

१६ कायपागुञ्ञ एव १७ चित्तपागुञ्ञ ·

"पागुञ्ञता कायचित्तगेलञ्ञसमलक्खणा,
तस्स निद्दमनरसा निरादीनवुपट्ठानका ।
कायचित्तपदट्ठाना असद्धियपच्चनिका[1] ॥"

वचनार्थ – "पकट्ठो गुणो यस्सा ति पगुणो, पगुणस्स भावो पागुञ्ञं, पागुञ्ञमेव पागुञ्ञता, कायस्स पागुञ्ञता कायपागुञ्ञता[2]" प्रकृष्ट (श्रेष्ठ) गुणवाले को प्रगुण कहते है, प्रगुण का भाव प्रागुण्य है और प्रागुण्य ही प्रागुण्यता है तथा काय की प्रागुण्यता को 'कायप्रागुण्यता' कहते है । 'चित्तस्स पागुञ्ञता चित्तपागुञ्ञता' चित्त की प्रागुण्यता को 'चित्तप्रागुण्यता' कहते हैं ।

लक्षण एवं रस – 'पागुञ्ञता कायचित्तगेलञ्ञसमलक्खणा' काय (वेदनादि स्कन्ध-त्रय) एव चित्त (विज्ञान स्कन्ध) की आतुरता (रोगीपन) का उपशम करना – इनका लक्षण है । 'तस्स निद्दमनरसा' काय एव चित्त की रुग्णता का दमन करना – इनका कृत्य है[3] ।

आश्रद्धच[4] प्रधान (असद्धियपधान) अकुशल चित्तोत्पाद[5] आलम्बन के ग्रहण मे रोगी की तरह होते है । शोभन-धर्म इन आश्रद्धचप्रधान अकुशल-धर्मो से असम्प्रयुक्त होते है, अत ये स्वय कुशल कर्मो मे नीरोग की तरह होते है, तथा सम्प्रयुक्त

१. ब० भा० टी० । तु० – विसु०, पृ० ३२५, अट्ठ०, पृ० १०७ ।
२. प० दी० पृ० ८७, विभा०, पृ० ८४ ।
३. "पगुणता ति पगुणभावो अनातुरता, निग्गिलानता ति अत्थो ।" – अट्ठ०, पृ० १२३ ।
४ "आश्रद्धच चित्ताप्रसाद, चित्तकालुष्यमित्यर्थ । गुणेषु गुणवत्सु चासम्प्रत्ययोऽनर्थित्वञ्च ।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ७४ ।
द्र० – आ० न० दे०, अभि० को २ : २६, पृ० १२७ ।
"आश्रद्धच कर्म-फल-सत्य-रत्नेष्वनभिसम्प्रत्यय श्रद्धाविपक्ष. । श्रद्धा ह्यस्तित्वगुणवत्त्वशक्यत्वेष्वभिसम्प्रत्यय प्रसादोऽभिलाषश्च यथाक्रमम् । अश्रद्धा तद्विपर्ययेणास्तित्वगुणवत्त्वशक्यत्वेष्वनभिसम्प्रत्ययोऽप्रसादोऽनभिलाषश्च । कौसीद्यसन्निश्रयदानकर्मकम् ।" – त्रि० भा०, पृ० ३१ ।
५ श्रद्धा के अनुत्पाद मे कारणभूत अकुशल चित्तोत्पाद ।

चित्त-चैतसिक-धर्मो के रोगीपन का दमन भी करते है । 'कायप्रागुण्यता' चैतसिक-समूह की रुग्णता का दमन करती है अत चैतसिकसमूह का आरोग्य 'कायप्रागुण्यता' है । 'चित्तप्रागुण्यता' चित्त की रुग्णता का दमन करती है, अत चित्त का आरोग्य 'चित्तप्रागुण्यता' है ।

जिन पुद्गलो मे ये प्रागुण्यताएँ दुर्बल होती हैं उनका चित्त गम्भीर उदक मे प्रक्षिप्त वानर की भाति कुशल कर्मो मे परिस्पन्दयुक्त होता है तथा जिनमे ये बलवती होती हैं उनका चित्त गम्भीर उदक मे प्रक्षिप्त मकर की भाति कुशल कर्मो मे विकम्पित नही होता[1] ।

प्रत्युपस्थान एवं पदस्थान – 'निरादीनवुपट्ठानका' ये क्लेशरूप आदीनव (दोष) के अभाव (निर्दोष) के रूप मे योगी के ज्ञान मे अवभासित होती है[2] ।

'कायचित्तपदट्ठाना' काय (चतसिकसमूह) एव चित्त इनके आसन्नकारण है ।

'असद्धियपच्चनिका' ये आश्रद्धयप्रधान क्लेश-धर्मो की प्रतिपक्ष है ।

इन प्रागुण्यताओ के कारण रूपकाय (शरीर) भी कुशल कर्मो मे नीरोग की तरह होता है ।

१८. काय-ऋजुकता एव १९ चित्त-ऋजुकता

'उजुकता उभो कायचित्त-अज्जवलक्खणा,
कोटिल्लनिद्दमनरसा अजिम्हता-उपट्ठाना ।
कायचित्तपदट्ठाना मायासाथेय्यपच्चनिका[3] ।"

वचनार्थ – "उजु एव उजुक, उजुकस्स भावो उजुकता, कायस्स उजुकता कायुजुकता[4]" ऋजु को ही 'ऋजुक' कहते है । यहाँ स्वार्थ मे 'क' प्रत्यय है । ऋजुक का भाव ऋजुकता है । काय की ऋजुकता को 'काय-ऋजुकता' कहा जाता है । 'चित्तस्स उजुकता चित्तुजुकता' चित्त की ऋजुकता को 'चित्त-ऋजुकता' कहते है ।

लक्षण एवं रस – 'उजुकता उभो कायचित्त-अज्जवलक्खणा' काय एव चित्त का आर्जव (सीधापन) – दोनो ऋजुकताओ का लक्षण है ।

---

१ प० दी०, पृ० ८७ ।

२ "यथावुत्तगेलञ्ञनिम्मद्दनेनेव नत्थि एतास आदीनवो दोसो, न वा एता आदीन कपण वन्ति पवत्तन्तीति निरादीनवा, तेनाकारेन पच्चुपतिट्ठन्ति, त वा सम्पयुत्तेसु पच्चुपतिट्ठपेन्तीति निरादीनवपच्चुपट्ठाना ।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४५ ।

३. ब० भा० टी० । तु० – विसु०, पृ० ३२५, अट्ठ०, पृ० १०७ ।

४. प० दी०, पृ० ८७, विभा०, पृ० ८५ । "उजुकता ति उजुकभावो, उजुकेनाकारेन पवत्तनता ति अत्थो । उजुकस्स खन्धत्तयस्स विञ्ञाणक्खन्धस्स च भावो उजुकता ।" – अट्ठ०, पृ० १२३ ।

'कोटिल्लनिद्दमनरसा' कुटिलता (टेढापन) का दमन करना – इनका कृत्य है[1]।

माया अपने दोषो का निगूहन (आच्छादन=छिपाना) तथा शठना अपने असद्भूत गुणो का मिथ्याप्रदर्शन है[2]। ये दोनो तृष्णाप्रधान अकुशल चित्तोत्पाद है। शोभन चित्तोत्पाद तृष्णा से असम्प्रयुक्त होते है, अत वे कुशल कर्मो मे ऋजु होते है तथा सम्प्रयुक्त-धर्मो के कौटिल्य का दमन भी करते है।

जिन पुद्गलो मे ये ऋजुताएँ दुर्बल होती है, उनका चित्त सुरा के मद से मत्त पुरुष की गति की भाति पुण्य-कर्मो मे विषम गतिवाला होता है तथा कदाचित् सङ्कुचित, कदाचित् उद्धत, कदाचित् अवनत, कदाचित् उन्नत होता है। जिनमे ये बलवती होती है उनका चित्त उपर्युक्त प्रकार से विषम गतिवाला न होकर ऋजु होता है[3]।

प्रत्युपस्थान एवं पदस्थान – 'अजिम्हता-उपट्ठाना' ये धर्म जिह्मता अर्थात् वङ्कता (कुटिलता) के विरोधी है – ऐसा योगी के ज्ञान मे अवभासित होता है[4]। 'कायचित्तपदट्ठाना' काय (चैतसिकसमूह) एव चित्त इनके आसन्नकारण है।

'माया[5]साथेय्य[6]पच्चनिका' ये ऋजुताएँ माया एव शाठ्य प्रधान अकुशल-धर्मो की प्रतिपक्ष है।

---

१ "अकुटिलता ति नङ्गलकोटिवङ्कभावपटिक्खेपो।" – अट्ठ०, पृ० १२३।

२ "सन्तदोसपटिच्छादनलक्खणा माया, असन्तगुणसम्भावनलक्खण साठेय्य ति।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४५।

३ प० दी०, पृ० ८७।

४ "अजिम्हता ति गोमुत्तवङ्कभावपटिक्खेपो, अवङ्कता ति चन्दलेखावङ्कभावपटिक्खेपो, अकुटिलता ति नङ्गलकोटिवङ्कभावपटिक्खेपो। यो हि पाप कत्वा व 'न करोमी' ति भासति सो गन्त्वा पच्चोसक्कनताय 'गोमुत्तवङ्को' नाम होति। यो पाप करोन्तो व 'भायामह पापस्सा' ति भासति सो येभुय्येन कुटिलताय 'चन्दलेखावङ्को' नाम होति। यो पाप करोन्तो व 'को पापस्स न भायेय्या' ति भासति सो नातिकुटिलताय 'नङ्गलकोटिवङ्को' नाम होति।" – अट्ठ०, पृ० १२३।

५ "तत्थ कतमा माया ? इधेकच्चो कायेन वाचाय . मनसा दुच्चरित चरित्वा तस्स पटिच्छादनहेतु पापिक इच्छ पणिदहति या एवरूपा माया . वोच्छादना पापकिरिया – अय वुच्चति माया।" – विभ०, पृ० ४२७।

"परवञ्चना माया।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ३०७।

"माया परवञ्चना।" – रा० सा०, अभि० को० ५ ४६, पृ० १४८।

"माया परवञ्चना याऽभूतार्थसन्दर्शनता। लाभसत्काराध्यवसितस्य परवञ्चनाभिप्रायेणान्यथावस्थितस्य शीलादेरर्थस्यान्यथाप्रकाशना। इय च सहिताभ्या रागमोहाभ्यामभूतान्गुणान्प्रकाशयतस्तयोस्समुदितयो प्रज्ञप्यत इति क्रोधादिवत्प्रज्ञप्तित एव न द्रव्यत इति मिथ्याजीवसन्निश्रयदानकर्मिका।" – त्रि० भा०, पृ० ३०-३१।

६. "तत्थ कतम साठेय्य ? इधेकच्चो सठो होति परिसठो, य तत्थ सठ सठता

विरतियो

६ **सम्मावाचा, सम्माकम्मन्तो, सम्माआजीवो चेति तिस्सो विरतियो नाम।**

सम्यग्-वाक्, सम्यक्-कर्मान्त, एवं सम्यग्-आजीव – इस प्रकार ये तीन विरतियाँ हैं[1]।

इन ऋजुताओं के सामर्थ्य से रूपकाय (शरीर) भी ऋजु होता है।

शोभनसाधारण चैतसिक समाप्त।

विरति चैतसिक

६. विरति – 'विरमण विरति' विरत होने को 'विरति' कहते है। 'दुश्चरित एवं दुराजीव कर्म करने का क्षण उपस्थित होने पर उन से विरत होना' अर्थात् उन्हे न करना विरति है; न कि 'इस प्रकार का अवसर उपस्थित न होने से इन दुश्चरितादि कर्मों को न करना' विरति है। दुश्चरित भी कायदुश्चरित एव वाग्दुश्चरित भेद से द्विविध है। ये दोनो दुश्चरित जब जीविका के लिये किये जाते है, तब इन्हे ही 'दुराजीव' कहा जाता है।

धीवर (मछुए), वधक-आदि पुद्गलो द्वारा अपनी जीविका के लिये मत्स्यग्रहण, प्राणिवध-आदि किया जाना अथवा – अपनी जीविका के लिये दूसरो को धोखा देना, ठगना,

---

. . कक्करता . परिक्खत्तता इद वुच्चति साठेय्य।" – विभ०, पृ० ४२७।

"तत्र चित्तकौटिल्य शाठ्यम्, चित्तस्यानृजुता वक्रीभाव।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ३०७।

"चित्तकौटिल्य शाठ्यं येन यथाभूत नाविष्करोति विक्षिपत्यपरिस्फुट वा प्रतिपद्यते।" – अभि० को० ५ ४९ पर भाष्य।

"शाठ्य स्वदोषप्रच्छादनोपायसङगृहीत चेतस कौटिल्यम्। स्वदोषप्रच्छादनोपाय परव्यामोहनम्। तत्पुनरन्येनान्यत्प्रतिसरन् विक्षिपति, अपरिस्फुट वा प्रतिपद्यते।" – त्रि० भा०, पृ० ३१।

१. इन विरतियो की शील नामक बोधिपाक्षिक धर्म से तुलना करनी चाहिये, यथा –

"श्रद्धा वीर्य स्मृति शान्ति, प्रज्ञा प्रीतिरुपेक्षणम्।
प्रश्रब्धि शीलसङ्कल्पौ . . . . . ॥" – अभि० को० ६ ६८।

"शीलाङ्गम् – सम्यग्वाक्, सम्यक्कर्मान्तम्, सम्यगाजीव।" – रा० सा०, अभि० को०, पृ० १८८।

"सङ्कल्पादेश्चतुष्कस्य, पथो ज्ञेयानुकूल्यत. ॥" – अभि० दी० ४४८ का०।

"अङ्गतेति वर्तते। सम्यक्सङ्कल्पसम्यग्वाक्कर्मान्ताजीवाना सम्यग्दृष्टिसम्यग्व्यायामसम्यक्स्मृतिसम्यक्समाधीनामिव मार्गानुकूल्यादङ्गत्वम्।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ३८२।

झूठ बोलना-आदि सभी कर्म दुराजीव है। इसी तरह भिक्षुओ के द्वारा धर्म के अनुसार चार प्रत्ययो[1] का ग्रहण न करके कुल-दूषण-आदि अधर्म के द्वारा इन (चार प्रत्ययो) का ग्रहण किया जाना 'दुराजीव' है। उपर्युक्त सभी प्रकार के कर्म-आदि जीविका के लिये नही किये जाते है तो ये 'दुराजीव' न होकर दुश्चरितमात्र होते है[2]।

१. **सम्यग्-वाक्**[3] – यह तीन प्रकार की होती है, यथा – (क) कथा, (ख) चेतना, (ग) विरति।

(क) कथा – कार्य-कारणनियम से परिशुद्ध एव ठीक ठीक कहने योग्य वाणी को 'कथा' कहते है। इसका विग्रह है – 'सम्मा वचितब्बा ति सम्मावाचा।'

(ख) चेतना – उपर्युक्त 'कथा' नामक वाणी की समुत्थापिका वोट्ठपन, अभिज्ञा, महाकुशल अथवा महाक्रिया से सम्प्रयुक्त चेतना ही 'चेतना' नामक सम्यग्वाक् है। इसका विग्रह है – 'सम्मा वुच्चते एताया ति सम्मावाचा।' अर्थात् जिसके द्वारा सम्यक् कहा जाता है वह 'चेतना' नामक सम्यग्वाक् है।

(ग) विरति – "मुसावादा वेरमणी सिक्खापद समादियामि[4]" – इत्यादि शिक्षापदो को ग्रहण करनेवाले पुद्गल का, अथवा इन शिक्षापदो का अधिष्ठान करनेवाले पुद्गल का, अथवा 'सम्प्राप्त वस्तु[5]' सम्बन्धी व्यतिक्रम न करनेवाले पुद्गल का चित्त जब वाग्-दुश्चरित-आदि पापकर्म से विरत होता हुआ प्रवृत्त होता है तो उसका यह विरत होना ही 'विरति' नामक सम्यग्-वाक् है[6]।

उपर्युक्त त्रिविध (कथा-चेतना-विरति) सम्यग्-वाक् मे से यहाँ 'विरति' नामक सम्यग्-वाक् ही 'तिस्सो विरतियो नाम' – इस प्रसङ्ग मे अभीष्ट है।

पहले कहा है कि विरत होने को 'विरति' कहते है। वे विरतियाँ तीन हैं। उनमे से सम्यग्-वाक् विरति को स्पष्टतया ऐसे समझना चाहिये

सम्यग्-वाक्, उस समय 'विरति' कहलाती है जब मृषावाद (झूठ बोलना)-आदि वाग्-दुश्चरित करने का क्षण उपस्थित हो और उसी समय कोई पुद्गल उस

---

१ चीवर, पिण्डपात, शयनासन, एव भैषज्य – ये चार प्रत्यय है।

२ विशेष ज्ञान के लिये द्र० – विभा०, पृ० ८५, प० दी०, पृ० ८८।

३ "सुन्दरा पसत्था वा वाचा सम्मावाचा। वचीदुच्चरितसमुग्घातिकाय मिच्छावाचाविरतिया एत अधिवचन। सा परिग्गहलक्खणा विरमणरसा मिच्छावाचापहानपच्चुपट्ठाना।" – अट्ठ०, पृ० १७७।
तु० – विसु०, पृ० ३५६, विभ०, पृ० १३३, विभ० अ०, पृ० १२०।

४ खु० नि०, प्र० भा०, पृ० ३, विभ०, पृ० ३४२।

५ वाग्दुश्चरित (झूठ बोलना-आदि) के वे आलम्बन (आधार), जिनके कारण वाग्दुश्चरित होता है, जब प्राप्त (उपस्थित) होते है तो वे ही 'सम्प्राप्त वस्तु' कहलाते है।

६. विभा० पृ० ८५, प० दी०, पृ० ८८।

(वाग्-दुश्चरित) से विरत होता है । जिस पुद्गल ने पहले से ही 'मै मृषावाद न करूँगा' – ऐसा व्रत (सङ्कल्प) ले रखा है, या ले रहा है, उसका 'मृषावाद न करना' विरति नही है, तथा जो पुद्गल कभी असत्य-भाषण करता ही नही, उसका 'मृषावाद न करना' भी विरति नही है ।

इसके अतिरिक्त दूसरी शर्त यह है कि जिस वाग्-दुश्चरित से पुद्गल विरत हो रहा है, उस वाग्-दुश्चरित का उसकी जीविका के साथ कोई सम्बन्ध नही होना चाहिये । अर्थात् जीविका के लिये किये जानेवाले वाग्-दुश्चरितो से भिन्न वाग्-दुश्चरितो से विरत होकर ठीक ठीक वाणी का प्रयोग ही 'सम्यग्-वाग्-विरति' है । जिन वाग्-दुश्चरितो का सम्बन्ध पुद्गल की जीविका के साथ होता है, उनसे विरति तो 'सम्यग्-आजीव' के अन्तर्गत आती है ।

२. **सम्यक्-कर्मान्त**[१] – यह भी तीन प्रकार का होता है, यथा – (क) क्रिया, (ख) चेतना एव (ग) विरति ।

(क) क्रिया – किसी अनवद्य (कुशल) कर्म को करनेवाले पुद्गल की कायिक क्रिया 'क्रिया-कर्मान्त' है । इसका विग्रह है 'करीयते ति कम्म, कम्ममेव कम्मन्त, सम्मा कम्मन्त सम्माकम्मन्त' अर्थात् जो किया जाता है वह कर्म है, कर्म ही कर्मान्त है, तथा सम्यक् कर्मान्त को 'सम्यक्-कर्मान्त' कहते है ।

(ख) चेतना – उपर्युक्त 'क्रिया-कर्मान्त' की समुत्थापिका चेतना 'चेतना-कर्मान्त' है । इसका विग्रह है – 'सम्मा करीयते एताया ति सम्माकम्मा, सम्मा कम्मा येव सम्माकम्मन्ता' अर्थात् जिस चेतना से सम्यक् कर्म किये जाते है वही चेतना 'सम्यक्-कर्मान्त' है ।

(ग) विरति – "पाणातिपाता वेरमणी सिक्खापद समादियामि[२]" – इत्यादि शिक्षापदो को ग्रहण करनेवाले पुद्गल का, अथवा इन शिक्षापदो का अधिष्ठान करनेवाले पुद्गल का, अथवा 'सम्प्राप्त वस्तु' (काय-दुश्चरित के उपस्थित आलम्बन)-सम्बन्धी व्यतिक्रम न करनेवाले पुद्गल का चित्त जब काय-दुश्चरित-आदि पाप-कर्मो से विरत होता हुआ प्रवृत्त होता है तो उसका यह विरत होना ही 'विरति' नामक सम्यक्-कर्मान्त है[३] ।

उपर्युक्त त्रिविध (क्रिया-चेतना-विरति) सम्यक्-कर्मान्त मे से यहाँ 'विरति' नामक सम्यक्-कर्मान्त ही अभीष्ट है ।

सम्यक्-कर्मान्त उस समय 'विरति' कहलाता है जब प्राणातिपात-आदि काय-

---

१ "सुन्दरो पसत्थो वा कम्मन्तो सम्माकम्मन्तो । मिच्छाकम्मन्तसमुच्छेदिकाय पाणातिपातादिविरतिया एत नाम । सो समुट्ठानलक्खणो विरमणरसो मिच्छाकम्मन्तप्पहानपच्चुपट्ठानो ।" – अट्ठ०, पृ० १७७ ।

तु० – विसु०, पृ० ३५६, विभ०, पृ० १३३, विभ० अ०, पृ० १२० ।

२ ख० नि०, प्र० भा०, पृ० ३, विभ०, पृ० ३४२ ।

३. तु० – प० दी०, पृ० ८८-८६, विभा०, पृ० ८५ ।

दुश्चरितो के करने का क्षण उपस्थित हो और उसी समय कोई पुद्गल उस (काय-दुश्चरित) से विरत होता है। जिस पुद्गल ने पहले से ही 'मैं प्राणातिपात नही करूँगा' – ऐसा व्रत ले रखा है, या ले रहा है, उसका 'प्राणातिपात-आदि न करना' विरति नही है तथा जो पुद्गल प्रारम्भ से ही स्वभाववश प्राणातिपात-आदि नही करता, उसका 'प्राणातिपात न करना' भी विरति नही है।

इसके अतिरिक्त दूसरी शर्त यह है कि जिस काय-दुश्चरित से पुद्गल विरत हो रहा है उसका सम्बन्ध उसकी जीविका के साथ नही होना चाहिये, क्योकि जीविका से सम्बद्ध काय-दुश्चरितो से विरति का अन्तर्भाव तो 'सम्यगाजीव' मे होता है।

३. **सम्यग्-आजीव**[1] – यह भी वीर्य एव विरति भेद से द्विविध होता है।

(क) वीर्य – प्रकृति (स्वभाव) से अनवद्य (कुशल), परम्परागत कृषि या व्यापार एव (भिक्षुओ द्वारा) भिक्षाचरण-आदि कर्म करके जीवन-निर्वाह करनेवाले पुद्गलो का सम्यग्-व्यायाम (सम्यग्-उत्साह) 'वीर्य' नामक सम्यग्-आजीव है। इसका विग्रह है – 'सम्मा आजीवन्ति एतेना ति सम्माआजीवो' जिस वीर्य के द्वारा ठीक प्रकार से जीवन-निर्वाह किया जाता है वह 'सम्यग्-आजीव' है।

(ख) विरति – आजीविका-शुद्धि की अपेक्षा करके अपने आजीव-शील को दूषित करनेवाले काय-दुश्चरित एव वाग्-दुश्चरित-आदि कारणो का परित्याग करनेवाले पुद्गलो का चित्त जब इन पापो से विरत होता हुआ प्रवृत्त होता है तो चित्त का पाप-कर्म से यह विरत होना ही 'विरति' नामक सम्यग्-आजीव कहा जाता है।

उपर्युक्त द्विविध (वीर्य एव विरति) सम्यग्-आजीव मे से यहाँ 'वीर्य' नामक सम्यग्-आजीव ही अभीष्ट है[2]।

यहाँ जिन काय-दुश्चरित एव वाग्दुश्चरित कर्मो से विरति होती है, उन (काय-दुश्चरित एव वाग्दुश्चरित) कर्मो का सम्बन्ध पुद्गल की जीविका से होना आवश्यक है, तथा सम्यग्-आजीव उसी समय 'विरति' कहलाता है जब काय-दुश्चरित एव वाग्-दुश्चरित का अवसर उपस्थित होता है और पुद्गल उसी समय उनसे विरत होता है।

लक्षणादिचतुष्क –

> "विरतियो दुच्चरित-अवीतिक्कमलक्खणा,
> ततो सङ्कोचनरसा अकिरियापच्चुपट्ठाना।
> सद्धाहिरोत्तप्पप्पिच्छतादिगुणपदट्ठाना[3] ॥"

---

१ "सुन्दरो पसत्थो वा आजीवो सम्माआजीवो। मिच्छाजीवविरतिया एत अधिवचन। सो वोदानलक्खणो ञाय्याजीवप्पवत्तिरसो मिच्छाजीवप्पहान-पच्चुपट्ठानो।" – अट्ठ०, पृ० १७७। तु० – विसु०, पृ० ३५७, विभ०, पृ० १३४; विभ० अ०, पृ० १२०।

२ द्र० – प० दी०, पृ० ८६।

३ ब० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ३२६।

विरति – जिसके कारण पुद्गल प्राणातिपात-आदि अकुशल कर्मों से विरत होते हैं, अथवा – जो स्वय विरत होती है, अथवा – विरत होना मात्र 'विरति' है[1]। काय-दुश्चरित एव वाग्-दुश्चरित कर्मो की आधारवस्तु (दूसरो के प्राण एव पर-धन-आदि) के सम्बन्ध मे व्यतिक्रम (उल्लङ्घन=धर्मविरुद्ध आचरण) न करना – इनका लक्षण है, जैसे – प्राणातिपात एक काय-दुश्चरित है, इस प्राणातिपातरूप व्यतिक्रम को न करना – विरति का लक्षण है। दुश्चरित कहे जानेवाले कर्मो से सङ्कोच करना – इनका कृत्य है। 'दुश्चरित कर्म अकरणीय है' अथवा 'विरत होने योग्य (विरमितव्य) है' – इस रूप मे विरतियाँ योगी के ज्ञान मे अवभासित होती है। श्रद्धा, ह्री, अपत्राप्य (भय) एव अल्पेच्छता-आदि धर्म इनके आसन्नकारण है।

विरति-भेद – विरतियो के तीन भेद है, यथा – (क) समुच्छेद-विरति, (ख) सम्प्राप्त-विरति तथा (ग) समादान-विरति[2]।

(क) समुच्छेद-विरति – दुश्चरित, दुराजीव-आदि पाप-धर्मो का समूल उच्छेद करने से उत्पन्न विरति 'समुच्छेदविरति' है। यह दुश्चरित एव दुराजीव की आधारभूत अनुशयधातु के अशेष समुच्छेद से उत्पन्न लोकोत्तर विरति है। यह विरति काल-विमुक्त निर्वाण का आलम्बन करती है।

(ख) सम्प्राप्त-विरति – दुश्चरित दुराजीव-आदि के आलम्बनो के उपस्थित (सम्प्राप्त) होने पर इन दुश्चरित-आदि को करने के क्षण मे इन (दुश्चरित-आदि) से विरत होना – 'सम्प्राप्त-विरति' है। जिन पुद्गलो ने 'पाणातिपाता वेरमणी, मुसावादा वेरमणी'-आदि शिक्षापदो का समादान (ग्रहण) नही किया है, किन्तु अपनी जाति, वयस्, बहुश्रुतता-आदि का खयाल करके 'हमे ऐसा करना युक्त नही है' – ऐसा सोचकर 'सम्प्राप्त वस्तु' (परसत्त्व-परसम्पत्ति) के सम्बन्ध मे व्यतिक्रम (अधर्माचरण) नही करते तथा दुश्चरित-आदि को करने के क्षण मे उनसे विरत होते है, उनकी यह विरति 'सम्प्राप्त-विरति' है। यह विरति प्रत्युत्पन्न वस्तु का आलम्बन करती है।

(ग) समादान-विरति – जो पुद्गल शिक्षापदो का समादान कर रहा है, अथवा उनका अधिष्ठान कर रहा है उसका – 'मैंने जिस प्रकार शिक्षापदो का ग्रहण किया है या उन्हे देखा है, उसी प्रकार उन शिक्षापदों का आजीवन पालन करूँगा, उनकी रक्षा करूँगा' – इस भावना के बल से, शिक्षापदो के समादानकाल मे तथा समादान के पश्चात् भी प्राणो की बाजी लगाकर दुश्चरित, दुराजीव-आदि से विरत होना – 'समादान-विरति' है। यह प्रत्युत्पन्न 'विषय एव अनागत विषय – दोनो को आलम्बन करती है[3]।

---

१ "पाणातिपातादीहि एताय विरमन्ति, सय वा विरमति, विरमणमत्तमेव वा एत ति विरति।" – अट्ठ०, पृ० ८५।

२ "सा पभेदतो तिविधा होति – सम्पत्तविरति, समादानविरति, समुच्छेदविरतीति।" – अट्ठ०, पृ० ८५, प० दी०, पृ० ८६।

३ इन त्रिविध विरतियो के विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० – अट्ठ०, पृ० ८५-८६; प० दी०, पृ० ८६।

समीक्षा – अनेक आचार्य मानते है कि समादान-विरति प्रत्युत्पन्न एव अनागत – दोनो विषयो का आलम्बन करती है। उनके इस प्रकार मानने मे आधारभूत पालि यह है :

"समादिन्नसिक्खापदान पन सिक्खापदसमादाने च ततुत्तरिञ्च अत्तनो जीवित परिच्चजित्वा वत्थु अवीतिक्कमन्तान उप्पज्जमाना विरति 'समादानविरती' ति वेदितब्बा[१]।"

—अट्ठकथा के इस 'सिक्खापदसमादाने' पद का 'जिस समय शिक्षापद का समादान किया जाता है उस समय समादान-विरति होती है' – ऐसा अर्थ होता है ऐसा अर्थ होने पर शिक्षापद का समादान करते समय यदि विरत होने के लिये कोई आधारवस्तु उपस्थित नही है तो अनागत काल मे होनेवाली वस्तु का लक्ष्य करके, अर्थात् अनागत विषय का आलम्बन करके, शिक्षापद का समादान करते समय ही 'समादान-विरति' होती है।

उपर्युक्त आचार्य केवल 'सिक्खापदसमादाने' – इस पद को ही देखते है। इस पद से सम्बद्ध 'वत्थु अवीतिक्कमन्तान उप्पज्जमाना' – इस पद पर ध्यान नही देते। इस 'सिक्खापदसमादाने' पद से सम्बद्ध पदो का सङग्रह करके देखा जाये तो अर्थ यह होता है कि – 'शिक्षापद का समादान करते समय वस्तु-सम्बन्धी व्यतिक्रम न करनेवाले पुद्गलो की उत्पद्यमान विरति'। अर्थात् जैसे – कोई गो-घातक कसाई वध करने के लिये पशु को लाकर और वध की सम्पूर्ण तैयारी हो जाने पर उस (वध) मे पाप के फल का विचार करके 'मै इसका वध नही करूँगा' – ऐसा सोचकर उससे विरत होते हुए और उस पशु को छोडते हुए 'पाणातिपाता वेरमणी सिक्खापद समादियामि' अर्थात् मै प्राणातिपात से विरत होने के शिक्षापद का समादान करता हूँ – इस शिक्षापद का समादान करता है, तो इस प्रकार शिक्षापद का समादान करते समय उत्पन्न विरति 'समादान-विरति' होती है।

व्यतिक्रम करने योग्य आलम्बनो के न होने पर केवल 'पाणातिपाता वेरमणी सिक्खापद समादियामि' – आदि शिक्षापदो का समादान करता है तो वह (समादान) समादान-विरति न होकर समादान-चेतनाशीलमात्र होता है।

इस निरूपण के अनुसार समादान-विरति, चाहे शिक्षापद का समादान करते समय हो चाहे उसके पश्चात्, प्रत्युत्पन्न वस्तु का ही आलम्बन कर सकती है। जैसे – कोई वधक किसी पशु को 'कल मारूँगा' – ऐसा सोचकर वध के लिये लाये और फिर कुछ सोचकर 'नही मारूँगा' – ऐसा निश्चय करता है तो यहाँ पर भी विरति का आलम्बन अनागत न होकर उस पशु की प्रत्युत्पन्न जीवितेन्द्रिय ही होती है। तथा इसी प्रकार व्यतिक्रम करने योग्य वस्तु के उपस्थित न होने पर आलम्बन की कल्पना करके उस आलम्बन के वध का विचार करता है तो वह मनोदुश्चरित ही होता है; तथा उससे विरत होना 'विरति' नही है, अपितु मनोदुश्चरित से विरत होना मात्र है। अत सम्प्राप्त एव समादान – दोनो विरतियाँ सर्वदा प्रत्युत्पन्न का ही आलम्बन करती है। इसीलिये 'सिक्खापद-

---

१. अट्ठ०, पृ० ८५।

विभङ्ग' पालि के "पञ्च सिक्खापदानि पे० पच्चुप्पन्नारम्मणा[1]" – इस पाठ की अट्ठकथाचार्य ने "यस्मा च सब्बानि पि एतानि सम्पत्तविरतिवसेनेव निद्दिट्ठानि, तस्मा – 'परित्तारम्मणा ति च पच्चुप्पन्नारम्मणा ति च' वुत्त[2]" – इस प्रकार व्याख्या की है। मूलटीकाचार्य ने भी "सम्पत्तविरतिवसेना ति – सम्पत्ते पच्चुप्पन्ने आरम्मणे यथा-विरमितब्बतो विरतिवसेना ति अत्थो[3]" – इस प्रकार व्याख्या की है।

अट्ठकथा के 'सम्पत्तविरतिवसेनेव' – पद के द्वारा 'केवल सम्प्राप्त-विरति का ही ग्रहण तथा 'एव' शब्द से समादान-विरति का परिहार (निषेध) होता है' – ऐसा नही समझना चाहिये। इसीलिये टीकाकार ने 'सम्पत्ते पच्चुप्पन्ने' – आदि कहा है। अर्थात् प्रत्युत्पन्न आलम्बन से समागम होने पर उससे विरति करने के कारण 'सम्पत्तविरति-वसेन' – ऐसा कहा गया है। 'एव' शब्द के द्वारा आलम्बन के सम्मुख उपस्थित न होने पर विरति नही की जा सकती – इस प्रकार विरति का निषेध (परिहार) किया गया है।

वस्तुत यह कहना कि 'सिक्खापदविभङ्गपालि' मूलभूत समादानविरति को न कहकर केवल सम्प्राप्त-विरति का ही कथन करती है – अट्ठकथाकार के अभिप्राय के अनुरूप नही है।

[इन विरतियो के स्वरूप के सम्बन्ध मे अट्ठकथा, टीका-आदि ग्रन्थो मे परस्पर बहुत मतभेद है, अत जानकारी के लिये उन उन ग्रन्थो के सम्बद्ध स्थल देखना चाहिये।]

व्यतिक्रमितव्य (वीतिक्कमितब्ब) = दूसरो के प्राण, सम्पत्ति आदि व्यतिक्रमितव्य (जिनमे व्यतिक्रम हो सकता है) है[4]।

व्यतिक्रम (वीतिक्कम) = काय-दुश्चरित एव वाग्-दुश्चरित।

विरमितव्य (विरमितब्ब) = विरति के योग्य उपर्युक्त दुश्चरित।

विरति = विरत होने के स्वभाववाला धर्म।

इन चारो को ध्यान मे रखकर "सब्बा पि एता वीतिक्कमितब्बवत्थु आरम्मण कत्वा वेरचेतनाहि येव विरमन्ति[5]" इस 'सिक्खापदविभङ्गट्ठकथा' के अनुसार विरतिधर्म (सम्यग्वाक्-आदि) व्यतिक्रमितव्य अथच प्रत्युत्पन्न किसी एक आलम्बन का आलम्बन करके विरमितव्य दुश्चरितो से विरत होते है – इस प्रकार समझना चाहिये।

'सच्चविभङ्ग-मूलटीका' के "सम्मावाचादीन अङ्गान ततविरमितब्बादिआरम्म-णत्ता[6]" – इस पाठ मे व्यतिक्रमितव्य वस्तु को ही 'विरमितब्ब' (विरमितव्य) कहा गया है, अत आधुनिक आचार्य 'तीनो विरतियाँ, विरमितव्य नामक कामभूमिगत नामरूप-धर्मो का आलम्बन करती है' – इस प्रकार कहते है।

विरति चैतसिक समाप्त।

---

१ विभ०, पृ० ३४८।
२. विभ० अ०, पृ० ३८८।
३. विभ० मू० टी०, पृ० १६०।
४ विस्तार के लिये द्र० – अट्ठ०, पृ० ८६।
५ विभ० अ०, पृ० ३८७।
६. विभ० मू० टी०, पृ० ७४।

अप्पमञ्ञादयो

७. करुणा-मुदिता अप्पमञ्ञायो* नामा ति सब्बथा पि पञ्ञिन्द्रियेन सद्धिं पञ्चवीसतिमे चेतसिका सोभना ति वेदितब्बा†।

करुणा एवं मुदिता अप्रामाण्या नामक चैतसिक हैं – इस प्रकार प्रज्ञेन्द्रिय के साथ ये २५ चैतसिक सर्वथा 'शोभन चैतसिक' हैं – ऐसा जानना चाहिये।

अप्रामाण्या आदि चैतसिक

७. **अप्पमञ्ञा** – 'नत्थि पमाणं एतस्सा ति अप्पमाणो, अप्पमाणे भवा अप्पमञ्ञा[1]' जिसका प्रमाण नहीं है उसे अप्रमाण कहते हैं, तथा अप्रमाण में उत्पन्न (भवा) 'अप्रामाण्या' है।

ये चैतसिक सत्त्व-प्रज्ञप्ति का आलम्बन करते हैं, और सत्त्व-प्रज्ञप्ति की कोई सीमा (सङ्ख्या) नहीं होती अपितु समस्त सत्त्व (प्राणी) इनके आलम्बन होते हैं। यही आलम्बन का अप्रमाणत्व है। इस अप्रमाणसत्त्व-प्रज्ञप्ति के वश से उत्पन्न होने के कारण इन्हें अप्रामाण्या (अप्पमञ्ञा) कहते हैं[2]।

१. करुणा :

"करुणा परदुक्खस्स अपनयनलक्खणा,
तस्स असहनरसा अविहिंसा-उपट्ठाना।
दुक्खभूतानमनाथभावदस्सनपदट्ठाना[3]॥"

वचनार्थ – 'परदुक्खे सति साधून हृदयकम्पनं करोतीति करुणा' दूसरों को दुःख होने पर जो, साधु पुरुषों के हृदय में कम्पन उत्पन्न कर देती है, वह 'करुणा' है। अथवा – परदुःख का जो विनाश करती है, वह 'करुणा' है। अथवा – जो दुःखित सत्त्वों में प्रसृत होती (फैलती) है, वह 'करुणा' है[4]।

---

* पन अप्पमञ्ञा – स्या०, पन अप्पमञ्ञायो – ना०।

† वेदितब्बा ति – म० (क)।

१. प० दी०, पृ० ९०।

२. इनके विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० – अट्ठ० 'ब्रह्मविहारकथा', पृ० १५६-१६१।

३. ब० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० २१३-१४, अट्ठ०, पृ० १५७।

४. "परदुक्खे सति साधून हृदयकम्पनं करोतीति करुणा, किणाति वा परदुक्खं हिंसति विनासेतीति करुणा, किरियति वा दुक्खितेसु करणवसेन पसारियतीति करुणा।" – अट्ठ०, पृ० १५७। "परदुक्खे सति कारुणिकानं हृदयखेदं करोतीति करुणा, किरति वा परदुक्खं विक्खिपति, किणाति वा परदुक्खं हिंसतीति करुणा, किरीयति दुक्खितेसु पसारीयतीति वा करुणा।" – प० दी०, पृ० ८९। तु० – विभा०, पृ० ८५।
"मैत्र्यद्वेषः करुणा च।" – अभि० को० ८ : २९, पृ० २३१।

लक्षण एवं रस – 'करुणा परदुक्खस्स अपनयनलक्खणा' दूसरे के दुखो को दूर करना – करुणा का लक्षण है।

'तस्स असहनरसा' दूसरो के दुख को सह न सकना – इसका कृत्य है। दुखित सत्त्वो को देखकर उनके दुख का प्रहाण कर उन्हे दुख से त्राण देने का स्वभाव साधुजनो के हृदय को कम्पित करता है। अत करुणा दूसरो के दुखो का प्रहाण करने के लक्षणवाली है। तथा दूसरो के दुखो को देख या सुन कर उन्हे सह न सकने के कृत्यवाली है।

प्रत्युपस्थान एवं पदस्थान – 'अविहिंसा-उपट्ठाना' यह विहिंसा के प्रतिपक्ष के रूप मे योगी के ज्ञान मे अवभासित होती है। विहिंसा द्वेष है। द्वेष दूसरे सत्त्वो का वध, बन्धन, ताडन, पीडन-आदि चाहता है। इसके विपरीत करुणा अन्य सत्त्वो को इन कष्टो से बचाना चाहती है – यही करुणा का विहिंसा से प्रतिपक्षत्व है।

'दुक्खभतानमनाथभावदस्सनपदट्ठाना' दुखी सत्त्वो के अनाथभाव को देखनेवाला योनिशोमनसिकार इसका आसन्नकारण है।

अपने किसी सम्बन्धी परिजन को दुखी देखकर जो एक करुणा-सदृश भाव (हृदय के द्रवीभाव) की उत्पत्ति होती है, वह वास्तविक करुणा नही है, अपितु प्रतिरूपिका करुणा है। अर्थात् यह 'शोक' नामक दौर्मनस्यवेदना है। दु.खी सत्त्वो को देखकर करुणा के उत्पाद-काल मे चित्त क्लेशयुक्त (दुखी) नही होता, अपितु प्रसादयुक्त होता है, क्योकि करुणा एक कुशल-धर्म है।

२ मुदिता ·

"पमोदनलक्खणा एसा अनिस्सायनरसका।
अरतिविघातुपट्ठाना लक्खीदस्सनपदट्ठाना[1] ।।"

"मैत्र्यद्वेषस्तथा कृपा।" – अभि० दी० ५८८ का०, पृ० ४२७।

"अद्वेषस्वभावा मैत्री, तथा करुणा अद्वेषस्वभावा। कस्तर्ह्येतयोरप्रमाणयोर्विशेष ? उभयोरद्वेषात्मकत्वेऽपि मैत्री सत्त्वापरित्यागवर्तिनो द्वेषस्य प्रतिपक्षो हर्षाकारप्रवृत्ता च, करुणा ताडनपीडनाभिप्रायवर्तिनो द्वेषस्य प्रतिपक्षो दैन्याकारप्रवृत्ता च, इत्यस्ति विशेष।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ४२७।

"अविहिंसा विहिंसाप्रतिपक्ष। वधबन्धनादिभि. सत्त्वानामविहेठनमविहिंसा सत्त्वेषु करुणा। क रुणद्धीति करुणा। कमिति सुखस्याख्या। सुख रुणद्धीत्यर्थ। कारुणिको हि परदुखदुखी भवतीति।" – त्रि० भा०, पृ० २८।

"समाहितो भावयति 'त्रिधातुसत्त्वा विविधकायचित्तदुखभाज' इति (तान्) उद्धर्तुकाम एव भावयन् (तेषाम्) बाह्यक्लेशान् व्यपनेतु प्रतिबलो भवतीति करुणा नामाप्रमाण वेदनासज्ञासस्कारविज्ञानसम्प्रयुक्त सम्यग्वाच सम्यक्कर्मान्तिस्योत्थापकमपि न सर्वसस्कारसम्प्रयुक्तमिति करुणाप्रमाणम्।" – अभि० मृ०, पृ० ६६।

"अविहिंसा कतमा ? अद्वेषांशिका करुणता।" – अभि० मृ०, पृ० ६।

१. ब० भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० २१४-१५; अट्ठ०, पृ० १५७।

वचनार्थ – 'तसमङ्गिनो मोदन्ति ताया ति मुदिता' मुदितायुक्त पुद्गल, उस मुदिता के कारण हर्षित होता है, इस हर्षित होने का कारणभूत धर्म 'मुदिता' है। अथवा – जो धर्म स्वय मुदित होता है वह 'मुदिता' है। अथवा मोदनमात्र 'मुदिता' है[१]।

लक्षण एवं रस – 'पमोदनलक्खणा एसा' सुखी सत्त्वो को देखकर प्रमुदित होना – इसका लक्षण है। 'अनिस्सायनरसका' ईर्ष्या न करना – इसका कृत्य है।

धन, सम्पत्ति एव गुण-सम्पत्ति से सम्पन्न सुखित सत्त्वो को देखकर सज्जन पुरुष प्रमोदयुक्त होते है। वे ईर्ष्यालुओ की तरह उनकी सम्पत्ति से ईर्ष्या नही करते – यही मुदिता का कृत्य है।

प्रत्युपस्थान एवं पदस्थान – 'अरतिविघातुपट्ठाना' दूसरे की सम्पत्ति मे अरति करनेवाला यह धर्म नही है – ऐसा योगी के ज्ञान मे अवभासित होता है।

'लक्खीभावपदट्ठाना' परसम्पत्ति का दर्शन इसका आसन्नकारण है।

अन्य सत्त्वो को गुण, श्री-आदि से सम्पन्न देखकर उनके प्रति ईर्ष्या के भाव को उत्पन्न न होने देनेवाला यह धर्म है।

अपने परिजनो को सम्पन्न देखकर उत्पन्न होनेवाला प्रमोद 'मुदिता' न होकर प्रतिरूपिका मुदिता' है। यह प्रीति के बल से उत्पन्न सौमनस्यसहगत लोभमूलचित्त है।

परिजनो की सम्पत्ति को देखकर उत्पन्न होनेवाले प्रमोद का आलम्बन उनकी सम्पत्ति होती है तथा उनकी विपत्ति को देखकर उत्पन्न होनेवाले दयाभाव का आलम्बन उनकी विपत्ति होती है। करुणा एव मुदिता का आलम्बन कभी भी किसी की सम्पत्ति

---

१. "मोदन्ति ताय तसमङ्गिनो, सय वा मोदति, मोदनमत्तमेव वा त ति मुदिता।" – अट्ठ०, पृ० १५७।

"मोदन्ति एताया ति मुदिता, सा परसम्पत्ति-अनुमोदनलक्खणा।" – विभा०, पृ० ८५।

"परसम्पत्ति दिस्वा मोदन्ति एताया ति मुदिता।" – प० दी०, पृ० ६०।

"मुदिता सुमनस्कता।" – अभि० को० ८ २९, पृ० २३१।

"मुदिता प्रीतिरेकेषाम्।" – अभि० दी० ५८८ का०, पृ० ४२७।

"सौमनस्यस्वभावा मुदिता इति पौराणा.।. अरतिप्रहाणाय मुदिता (सवर्तते)। 'मोदन्ता वत सत्त्वा' इति मुदिताम् (समापद्यते)।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ४२७-२८।

"समाहितो भावयति ('अहो) मुदितास्त्रिधातुसत्त्वा' इति प्राप्तसुखसौमनस्यो दु खदौर्मनस्यापनयनप्रतिबलो भवतीति मुदिता नामाप्रमाण वेदनासज्ञासस्कार-विज्ञानसम्प्रयुक्त सम्यग्वाच सम्यक्कर्मान्तिस्योत्थापकमपि न सर्वसस्कार-सम्प्रयुक्तमिति मुदिताप्रमाणम्।" – अभि० मृ०, पृ० १००।

"मुदिता कतमा ? ध्यान निश्रित्य 'सत्त्वाः सुखेन न वियुज्येरन' इति विहार-समृद्धौ समाधि प्रज्ञा (तत्सम्प्रयुक्ताश्च चित्तचैतसिका धर्मा)।" – अभि० समु०, पृ० ९४-९५।

या विपत्ति नही होती, अपितु पञ्चस्कन्धात्मक सत्त्व-प्रज्ञप्ति ही उनका सदा आलम्बन होती है। अत परिजनो की सम्पत्ति को देखकर उत्पन्न हर्ष या उनकी विपत्ति को देखकर उत्पन्न दयाभाव कभी भी 'मुदिता' या 'करुणा' नही हो सकते।

अप्रामाण्याद्वय – नवम परिच्छेद मे मैत्री, करुणा, मुदिता एव उपेक्षा नामक चार अप्रामाण्याओ (अप्पमञ्ञाओ) का वर्णन है, किन्तु यहाँ केवल करुणा एव मुदिता का ही उल्लेख किया गया है, क्योकि चैतसिको के वर्णन के प्रसङ्ग मे 'मैत्री' का वर्णन 'अद्वेष'-चैतसिक के नाम से कर दिया गया है, इसी प्रकार 'उपेक्षा' का वर्णन 'तत्रमध्य-स्थता' चैतसिक के नाम से कर दिया गया है। अतएव यहाँ पर केवल अवशिष्ट दो अप्रामाण्याओ का ही वर्णन किया गया है।

"अदोसेनेव मेत्तापि तत्रमज्झत्तताय च।
उपेक्खा गहिता यस्मा तस्मा न गहिता उभो[1] ॥"

३ प्रज्ञेन्द्रिय·

"पटिवेधलक्खणा पञ्ञा विसयोभासनरसा।
असम्मोह-उपट्ठाना मनसिकारपदट्ठाना[2] ॥"

वचनार्थ – 'पकारेन जानाती ति पञ्ञा, पञ्ञा व इन्द्रिय पञ्ञिन्द्रिय' उस उस अनित्य-आदि प्रकारो से धर्मो को जाननेवाला धर्म 'प्रज्ञा' है। अविद्या के अभिभव मे आधिपत्य होने के कारण यह 'इन्द्रिय' भी है, अत इसे ही 'प्रज्ञेन्द्रिय' भी कहते हैं। 'अनित्य-आदि' – इस वाक्य मे प्रयुक्त 'आदि' शब्द से अनित्य, अनात्म, दुःख, दुःखसमुदय, निरोध, मार्ग, कुशल-अकुशल तथा कर्म, कर्म-फल आदि प्रकारो को जानना अभिप्रेत है। इसे (इस प्रकार जानने को) ही 'अमोह' 'ज्ञान' एव 'प्रज्ञा' आदि नामो से भी यथायोग्य कहा जाता है[3]।

---

१ ब० भा० टी०। तु० –
"अब्यापादेन मेत्ता हि, तत्रमज्झत्तताय च।
उपेक्खा गहिता यस्मा, तस्मा न गहिता उभो ति ॥" – विभा०, पृ० ८६।

२ ब भा० टी०। तु० – विसु०, पृ० ३२४, अट्ठ०, पृ० १०१।

३ "तेन तेन वा अनिच्चादिना पकारेन धम्मे जानातीति पञ्ञा चतुसच्च-धम्मे विचिनातीति धम्मविचयो।" – अट्ठ०, पृ० १२०, अपि च – "सा च अविज्जाय अभिभवनतो अधिपतियट्ठेन इन्द्रिय पञ्ञा व इन्द्रिय पञ्ञिन्द्रिय।" – अट्ठ०, पृ० १००। "पजानाति पजानातीति खो आवुसो! तस्मा 'पञ्ञा' ति वुच्चति।" – म० नि०, प्र० भा०, पृ० ३६०। "यथा महाराज! पुरिसो अन्धकारे गेहे पदीप पवेसेय्य, पविट्ठो पदीपो अन्धकार विधमति – ओभास जनेति, आलोक विदसेति, रूपानि पाकटीकरोति, एवमेव खो महाराज! पञ्ञा उप्पज्जमाना अविज्जन्धकार विधमति, विज्जो-भास जनेति, ञाणालोक विदसेति, अरियसच्चानि पाकटीकरोति ..एव खो महाराज! ओभासनलक्खणा पञ्ञा ति।" – मिलि०, पृ० ४१। "पकारेन

लक्षणादिचतुष्क – 'पटिवेधलक्खणा पञ्ञा' प्रतिवेध अर्थात् धर्मो का यथाभूत अवबोध 'प्रज्ञा' का लक्षण है[1]।

'विसयोभासनरसा' विषयो का अवभास – इसका कृत्य है।

अविद्या विषयो का अवभास न होने देने के लिये अन्धकार की तरह होती है। प्रज्ञा उस अन्धकार का अभिभव कर के आलम्बन के स्वभाव का यथार्थ अवभास कराने के लिये प्रकाश की तरह होती है।

'असम्मोह-उपट्ठाना' यह आलम्बन मे असम्मोह के रूप मे योगी के ज्ञान मे अवभासित होती है।

'मनसिकारपदट्ठाना' योनिशोमनसिकार इसका आसन्नकारण है।

प्रज्ञा एक कुशल-धर्म है, अत अनवद्य कर्मो से ही इसका सम्बन्ध होना चाहिये। वञ्चक पुरुषो का परवञ्चना मे जो चातुर्य होता है, वह अकुशल होने के कारण 'प्रज्ञा' नही है, अपितु 'प्रतिरूपिका प्रज्ञा' है।

कुण्डलकेशी नामक एक श्रेष्ठि-कन्या के आभषणो का अपहरण करने के लोभ से एक चोर उसके प्रति मिथ्याप्रेम प्रदर्शित कर उसे अपने प्रेमजाल मे फँसा लेता

जानाति अनिच्चादिवसेन अवबुज्झतीति पञ्ञा, सा एव यथासभावावबोधने आधिपच्चयोगतो इन्द्रिय ति पञ्ञिन्द्रिय।" – विभा०, पृ० ८६।
तु० – "धी प्रज्ञा धर्मसङ्ग्रहाद्युपलक्षणस्वभावा।" – वि० प्र० वृ०, पृ० ७०। अभि० को २ २४, पृ० १२१।

"धर्मप्रविचय इति – प्रविचिनोतीति प्रविचय, प्रविचीयन्ते वा अनेन इति प्रविचय, येन सङ्कीर्णा इव धर्मा पुष्पाणीव प्रविचीयन्ते उच्चीयन्त इत्यर्थ। 'इमे सास्रवा इमेऽनास्रवा', 'इमे रूपिण इमेऽरूपिण' इति धर्माणा प्रविचयो धर्मप्रविचय। प्रतीतत्वात् प्रज्ञेति वक्तव्ये श्लोकबन्धानुगुण्येन मतिरिति कारिकायामुक्तम्।" – स्फु०, पृ० १२७।

"धर्मविवेक प्रज्ञा।" – अभि० मृ०, पृ० ६६।

"प्रज्ञा कतमा? उपपरीक्ष्य एव वस्तुनि धर्माणा प्रविचय, सशयव्यावर्त्तनकर्मिका।" – अभि० समु०, पृ० ६।

"धी प्रज्ञा, साऽप्युपपरीक्ष्य एव वस्तुनि प्रविचयो योगायोगविहितोऽन्यथा वेति। प्रविचिनोतीति प्रविचय, य सम्यङ्मिथ्या वा सङ्कीर्णस्वसामान्यलक्षणेष्विव धर्मेषु विवेकावबोध।" – त्रि० भा०, पृ० २६।

'प्रज्ञा यथावस्थितप्रतीत्यसमुत्पन्नवस्तुतत्त्वप्रविचयलक्षणा।" – बोधि० प०, पृ० १६८।

१ "पटिवेधो ति तन्तिया तन्ति-अत्थस्स च यथाभूतावबोधो। पटिवेधो ति अभिसमयो, सो च लोकियलोकुत्तरो। विसयतो असम्मोहतो च अत्थानुरूप धम्मेसु, धम्मानुरूप अत्थेसु, पञ्ञत्तिपथानुरूप पञ्ञत्तीसु अवबोधो। तेस तेस वा तत्थ तत्थ वुत्तधम्मान पटिविज्झितब्बो सलक्खणसङ्खातो अविपरीतसभावो।" – अट्ठ०, पृ० १६।

है तथा एकान्त-मिलन के बहाने उसे पर्वत-शिखर पर ले जाता है। शिखर तट पर उस कन्या को खडा करके अपने सब आभूषणो को देने के लिये कहता है। अन्यथा पर्वत-शिखर से नीचे ढकेलकर प्राणापहरण की धमकी देता है। ऐसी विपन्नावस्था मे उस श्रेष्ठि-कन्या को एक बुद्धि सूझती है। वह कहती है कि – तुम मेरे प्रियतम हो, अत अन्तिम अवस्था मे तुम्हारे चरण-स्पर्श करना चाहती हूँ। चोर ने उसे वैसा करने की अनुमति दे दी। चरण-स्पर्श के बहाने श्रेष्ठि-कन्या ने उस चोर को पर्वत से नीचे ढकेल दिया। इस दृश्य को देखकर वहाँ उपस्थित वनदेवता ने एक गाथा कही –

"न हि सब्बेसु ठानेसु पुरिसो होति पण्डितो।
इत्थी पि पण्डिता होति तत्थ तत्थ विचक्खणा[1] ॥"

अर्थात् सर्वत्र पुरुष ही पण्डित नही होता, अपितु विशेष विशेष स्थल पर स्त्री भी पण्डित होती है। इस आख्यायिका से यह सिद्ध हुआ कि स्त्री प्रज्ञावती होती है, किन्तु यहाँ जिस प्रज्ञा का वर्णन किया गया है वह शुद्ध प्रज्ञा न होकर 'प्रतिरूपिका प्रज्ञा' है, क्योकि प्रज्ञा होगी तो चित्तसन्तति भी कुशल होगी, किन्तु कुण्डलकेशी की चित्तसन्तति कुशल नही हो सकती, क्योकि उसने प्राणातिपात किया है। यद्यपि चोर प्राणापहरण करने का भय दिखलाता है, किन्तु जिस समय कुण्डलकेशी उससे उसके चरण-स्पर्श की अनुमति माँगती है, उस समय उसका वितर्क वञ्चना से युक्त होता है, अत उसकी प्रज्ञा वञ्चनायुक्त होती है। अत यह प्रज्ञा न होकर तृष्णा-लोभप्रधान अकुशल-चित्तोत्पाद है। जब वञ्चना करके कुण्डलकेशी चरण-स्पर्श की अनुमति प्राप्त कर लेती है तो पति (चोर) को अपने वश मे आया जानकर प्रसन्न होती है। उस समय उसका यह 'प्रसन्न होना' सौमनस्यसहगत लोभमूलचित्त है। जब पर्वत-शिखर से वह अपने पति को नीचे ढकेलती है तब उसे द्वेषमूल चित्तोत्पाद होता है। इसी तरह जो मिथ्या-दृष्टियुक्त पुद्‌गल साधारण जनो को प्रलोभन देकर अपने मत की ओर आकृष्ट करते है – यह भी वञ्चनासहगत प्रज्ञा है। 'अट्ठसालिनी' मे भी लिखा है

"किं दिट्ठिगतिकान वञ्चना पञ्ञा नत्थी ति? अत्थि, न पनेसा पञ्ञा, माया नामेसा होति, अत्थतो तण्हा व[2]।"

अर्थात् क्या मिथ्यादृष्टिवालो की वञ्चना 'प्रज्ञा' नही होती? होती है, किन्तु यह 'प्रज्ञा' नही होती, इसका नाम 'माया' है। वस्तुत यह तृष्णा ही है। इसी तरह वैज्ञानिको के सहारकशस्त्रसम्बन्धी आविष्कार भी कुशल चित्तोत्पाद नही है, क्योकि ऐसे शस्त्रो के निर्माण के समय उनकी चित्तसन्तति अकुशल होती है, अत तत्सम्बन्धी ज्ञान 'प्रज्ञा' नही कहा जा सकता, अपितु यह अकुशल वितर्क है। परन्तु जब मानवजाति के प्रति करुणा एव मैत्री से प्रभावित होकर, उसकी सुरक्षा की दृष्टि से, वैज्ञानिक किसी आयुधविशेष का आविष्कार करता है तो उस क्षण मे उसकी चित्तसन्तति कुशल होती है, अत कुशल होने से उसका यह ज्ञान 'प्रज्ञा' कहा जा सकता है।

शोभनराशि समाप्त।

---

१ खु० नि०, षष्ठ भा०, (थेरी-अप०), पृ० २३७, खु० नि०, तृ० भा० (जा०, प्र० भा०), पृ० १७०। २. अट्ठ०, पृ० २०२।

सङ्गहगाथा

८. एत्तावता च* –

तेरसञ्ञसमाना च चुद्दसाकुसला तथा ।
सोभना पञ्चवीसा ति द्विपञ्ञास पवुच्चरे ।।

उपर्युक्त क्रम के अनुसार अन्यसमान चैतसिक १३, अकुशल चैतसिक १४ तथा शोभन चैतसिक २५ – इस प्रकार कुल ५२ चैतसिक कहे जाते है ।

सम्पयोगनयो

९. तेसं चित्ताावियुत्तानं यथायोगमितो परं ।
चित्तुप्पादेसु पच्चेकं सम्पयोगो† पवुच्चति ।।

१०. सत्त सब्बत्थ युज्जन्ति यथायोगं पकिण्णका ।
चुद्दसाकुसलेस्वेव सोभनेस्वेव सोभना ।।

इसके अनन्तर चित्तो से अवियुक्त उन चैतसिको का चित्तोत्पादो (चित्तों) में पृथक् पृथक् यथायोग सम्प्रयोगनय कहा जाता है ।

सर्वचित्तसाधारण (७) चैतसिक सर्वत्र (सभी चित्तो मे) सम्प्रयुक्त होते है । प्रकीर्णक (६) चैतसिक सभी चित्तो मे यथायोग सम्प्रयुक्त होते है । अकुशल १४ चैतसिक अकुशल चित्तो मे ही तथा (२५) शोभन चैतसिक शोभनचित्तो में ही यथायोग्य सम्प्रयुक्त होते है ।

सङ्ग्रहगाथा

८. पूर्वोक्त व्याख्या द्वारा ५२ चैतसिको का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है। अब उन चैतसिको के विस्तार को सङ्क्षेप से कहने के लिये 'एत्तावता च' के द्वारा इस गाथा को प्रस्तुत किया गया है। यह गाथा पूर्ववर्णित चैतसिको के सङ्ग्रह को, साथ ही उनके निगमन को भी दिखलानेवाली गाथा है।

'तेरसञ्ञसमाना' के द्वारा अन्यसमान चैतसिको का, 'चुद्दसाकुसला' के द्वारा अकुशल चैतसिको का, 'सोभना पञ्चवीस' के द्वारा शोभन चैतसिको का सङ्ग्रह दिखलाया गया है। तथा 'एत्तावता इति द्विपञ्ञास पवुच्चरे' के द्वारा ५२ चैतसिको का निगमन दिखलाया गया है।

बावन चैतसिकों का वर्णन समाप्त ।

सम्प्रयोगनय

९. 'तेस चित्ताावियुत्तान. .' – इस गाथा द्वारा चैतसिको के सम्प्रयोगनय को दिखलाने का उपक्रम किया गया है। 'चित्तोत्पाद' शब्द से कुछ स्थानो मे 'चित्त'

---

* स्या० मे नही ।

† सञ्बयोगो – रो० ।

अञ्ञसमानचेतसिक-सम्पयोगनयो

सब्बचित्तसाधारण-सम्पयोगनयो

११. कथं ? सब्बचित्तसाधारणा ताव सत्तिमे* चेतसिका सब्बेसु पि एकूननवुतिचित्तुप्पादेसु लब्भन्ति ।

कैसे ? सर्वचित्तसाधारण ये ७ चैतसिक सभी ८९ चित्तो मे उपलब्ध (सम्प्रयुक्त) होते हैं ।

पकिण्णक-सम्पयोगनयो

१२ पकिण्णकेसु पन वितक्को ताव द्विपञ्चविञ्ञाणवज्जितकामावचरचित्तेसु चेव एकादससु पठमज्झानचित्तेसु चेति पञ्चपञ्ञासचित्तेसु उप्पज्जति ।

प्रकीर्णक चैतसिको (६) मे से (प्रथम चैतसिक) 'वितर्क' – (१०) द्विपञ्चविज्ञान से वर्जित कामावचर (४४) चित्तो मे एव ११ प्रथमध्यान चित्तो में – इस प्रकार कुल ५५ चित्तो मे सम्प्रयुक्त होता है ।

एव 'चैतसिक' – दोनो का ग्रहण होता है तथा कुछ स्थलो पर केवल चित्त का ही ग्रहण होता है। यहाँ केवल 'चित्त' का ही ग्रहण करना चाहिये[1]। अमुक चैतसिक इतने चित्तो से सम्प्रयुक्त होता है, इतने से नही – इस प्रकार प्रत्येक चैतसिक का चित्तो के साथ सम्प्रयोग दिखलानेवाला यह सम्प्रयोगनय है ।

१०. यह (गाथा) सम्प्रयोगनय के सङक्षेप को दिखलानेवाली उद्देश-गाथा है। आगे चलकर इसी उद्देश के अनसार विस्तारपूर्वक निर्देश दिखलाया जायेगा ।

अन्यसमानचैतसिक-सम्प्रयोगनय

सर्वचित्तसाधारण-सम्प्रयोगनय

११. ये ७ सर्वचित्तसाधारण चैतसिक सभी ८९ या १२१ चित्तो मे सम्प्रयुक्त होते है। ऐसा कोई चित्त नही है, जिसमे ये चैतसिक सम्प्रयुक्त न होते हो ।

प्रकीर्णक-सम्प्रयोगनय

१२. द्विपञ्चविज्ञान (१०) चित्तो मे वितर्क स्वभाव से उत्पन्न नही होता, क्योकि अपने उत्पाद के लिये इन्हे वितर्क के आरोपण-कृत्य की अपेक्षा ही नही होती ।

---

* सत्त – ना० ।

१. "चित्तुप्पादेसू ति – चित्तेसु इच्चेव अत्थो, उप्पज्जन्ति चेतसिका एतेसू ति उप्पादा, चित्तानि एव उप्पादा ति कत्वा ।" – प० दी०, पृ० ९० । तु० – विभा०, पृ० ८६ ।

१३. विचारो पन तेसु चेव एकादससु दुतियज्झानचित्तेसु चा ति छसट्ठिचित्तेसु* ।

१४. अधिमोक्खो द्विपञ्चविञ्ञाण-विचिकिच्छासहगतवज्जितचित्तेसु† ।

विचार – उन्ही वितर्कसम्प्रयुक्त (५५) चित्तों में तथा ११ द्वितीयध्यान चित्तों में – इस प्रकार कुल ६६ चित्तों मे सम्प्रयुक्त होता है ।

अधिमोक्ष – द्विपञ्चविज्ञान (१०) एव विचिकित्सासहगत (१) से वर्जित (७८) चित्तो मे सम्प्रयुक्त होता है ।

आलम्बन को चित्त मे आरोपित करना वितर्क का कृत्य है। द्विपञ्चविज्ञान चित्तो की आधारभूत चक्षुर्वस्तु-आदि पाँच वस्तुओ मे, आलम्बन का सङ्घट्टन स्वत (वितर्क के आरोपण की सहायता के बिना ही) अत्यन्त स्पष्ट (विभूततर) होता है। अत द्विपञ्च-विज्ञानचित्त वितर्कनिरपेक्ष होने के कारण वितर्कवर्जित होते है।

द्विपञ्चविज्ञानचित्तो की ही भाति द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ एव पञ्चम ध्यानों मे भी वितर्क, सम्प्रयुक्त नही होता, क्योकि इन ध्यानो के द्वारा भावना के बल से वितर्क का प्रहाण कर दिया जाता है, अत वितर्क केवल (११) प्रथमध्यान चित्तो मे ही सम्प्रयुक्त होता है[1]।

१३. विचार एव वितर्क प्राय सहप्रवृत्त ही होते हैं। अर्थात् जहाँ वितर्क होता है वहाँ विचार अवश्य होता है, किन्तु जहाँ विचार होता है वहाँ सर्वत्र वितर्क सम्प्रयुक्त नही होता। जैसे – द्वितीयध्यान मे विचार तो होता है, किन्तु वितर्क नही होता। तृतीयध्यान मे भावना के बल से विचार का भी प्रहाण कर दिया जाता है, अत विचार केवल द्वितीयध्यानपर्यन्त ही सम्प्रयुक्त होता है।

१४. अधिमोक्ष का स्वभाव आलम्बन का निश्चय करना है। द्विपञ्चविज्ञान का कृत्य आलम्बन का निश्चय करना नही, अपितु उसका ग्रहण करना मात्र है। अत अधिमोक्ष द्विपञ्चविज्ञान मे सम्प्रयुक्त नही होता।

विचिकित्सा सन्देहस्वभाव तथा अधिमोक्ष निश्चयस्वभाव धर्म है। इस प्रकार दोनो के स्वभाव मे वैपरीत्य होने के कारण अधिमोक्ष, विचिकित्सासहगत चित्त मे सम्प्र-युक्त नही हो सकता। अत. यह, कुल ८९ चित्तो मे से द्विपञ्चविज्ञान (१०) एव विचिकित्सासहगत (१) – इस प्रकार ग्यारह (११) चित्तो को छोड कर शेष अठहत्तर

---

* ०जायति – ना० ।

† ०विचिकिच्छावज्जितचित्तेसु – सी०, स्या०, ना० ।

१ "द्विपञ्चविञ्ञाणान सब्बदुब्बलत्ता तेसु छ पकिण्णका नुप्पज्जन्ति, भावनाबलेन पहीनत्ता वितक्को दुतियज्झानिकादीसु, विचारो ततियज्झानिकादीसु, पीति चतुत्थज्झानिकादीसु नुप्पज्जति।" – प० दी०, पृ० ९० । तु० – विभा०, पृ० ८६ ।

१५. वीरियं* पञ्चद्वारावज्जन-द्विपञ्चविञ्ञाण-सम्पटिच्छन-सन्तीरण-वज्जितचित्तेसु ।

१६. पीति दोमनस्सुपेक्खासहगत-कायविञ्ञाण-चतुत्थज्झानवज्जितचित्तेसु ।

१७. छन्दो अहेतुक-मोमूहवज्जितचित्तेसु† ति† ।

वीर्य – पञ्चद्वारावर्जन (१), द्विपञ्चविज्ञान (१०), सम्पटिच्छन (२) एवं सन्तीरण (३) से वर्जित (७३) चित्तो मे सम्प्रयुक्त होता है ।

प्रीति – दौर्मनस्य (२), उपेक्षासहगत (५५), कायविज्ञान (२) तथा चतुर्थध्यान चित्त (११) से वर्जित (५१) चित्तो मे सम्प्रयुक्त होती है ।

छन्द–अहेतुक चित्त (१८) एव मोमूहचित्त (२) – इस प्रकार (२०) चित्तवर्जित (६९) चित्तो में सम्प्रयुक्त होता है ।

---

(७८) चित्तों मे ही सम्प्रयुक्त होता है[१] ।

१५. पञ्चद्वारावर्जन, द्विपञ्चविज्ञान, सम्पटिच्छन एव सन्तीरण–आदि चित्त आलम्बन के ग्रहण मे अत्यन्त दुर्बल होते हैं, इसके विपरीत वीर्य आलम्बन का अत्यन्त उत्साह से ग्रहण करता है; अत विपरीतधर्मा होने के कारण वीर्य उपर्युक्त चित्तो मे सम्प्रयुक्त नही होता[२] ।

१६. प्रीति का स्वभाव हर्षोत्पाद है। दौर्मनस्य वैमनस्यस्वभाव धर्म है, उपेक्षा मध्यस्थस्वभाव (न प्रीति, न द्वेष) धर्म है, अत प्रीति का दौर्मनस्य से सम्बन्ध नही हो सकता। इसी तरह प्रीति, उपेक्षा से भी सम्प्रयुक्त नही हो सकती। प्रीति, प्रसन्नता स्वभाववाले सुख चैतसिक से ही सम्प्रयुक्त होती है, अत यह कायिक सुख से भी सम्प्रयुक्त नही होती। चतुर्थध्यान मे भावना के बल से प्रीति का प्रहाण कर दिया जाने से यह चतुर्थध्यान चित्त (११) मे भी सम्प्रयुक्त नही होती। इस प्रकार प्रीति दौर्मनस्यवेदना, उपेक्षावेदना, सुखसहगत कायविज्ञान (दु खसहगत कायविज्ञान दौर्मनस्यवेदना के अन्तर्गत परिगणित है) एव चतुर्थध्यान से सम्प्रयुक्त नही होती[३] ।

१७. छन्द इच्छास्वभाव है। अत यह इच्छारहित अहेतुक चित्तो मे तथा

---

* विरिय पन – स्या० ।

†-† ०चित्तेसु – स्या०; चित्तेसु लब्भति – ना० ।

१ "सन्निट्ठानसभावत्ता अधिमोक्खो असन्निट्ठानसभावे विचिकिच्छाचित्ते नुप्पज्जति।" – प० दी०, पृ० ९० ।

२ "वीरिय बलनायकत्ता दुब्बलेसु पञ्चद्वारावज्जनादीसु सोळस चित्तेसु नुप्पज्जति।" – प० दी०, पृ० ९१ ।

३ "पीति सम्पियायनसभावत्ता दोमनस्सुपेक्खासहगतेसु नुप्पज्जति।" – प० दी०, पृ० ९१ ।

१८ ते पन चित्तुप्पादा यथाक्कमं–

छसट्ठि पञ्चपञ्ञास एकादस च सोळस।
सत्तति वीसति चेव पकिण्णकविवज्जिता॥
पञ्चपञ्ञास छसट्ठिट्ठसत्तति* तिसत्तति।
एकपञ्ञास चेकूनसत्तति† सपकिण्णका† ॥

वे चित्तोत्पाद (चित्त) यथाक्रम इस प्रकार होते है–

प्रकीर्णक चैतसिको से विवर्जित (विप्रयुक्त) चित्त इस प्रकार है, यथा – (वितर्कविवर्जित) ६६, (विचारविवर्जित) ५५; (अधिमोक्षविवर्जित) ११, (वीर्यविवर्जित) १६, (प्रीतिविवर्जित) ७० तथा (छन्दविवर्जित) २० चित्त हैं।

प्रकीर्णक चैतसिको से सम्प्रयुक्त चित्त इस प्रकार है, यथा – (वितर्कसम्प्रयुक्त) ५५, (विचारसम्प्रयुक्त) ६६, (अधिमोक्षसम्प्रयुक्त) ७८, (वीर्यसम्प्रयुक्त) ७३, (प्रीतिसम्प्रयुक्त) ५१ तथा (छन्दसम्प्रयुक्त) ६९ चित्त हैं।

सम्मोहग्रस्त मोमूहचित्तो मे स्वभाव-वैपरीत्य के कारण सम्प्रयुक्त नही होता[1]।

१८. उपर्युक्त दोनो गाथाओ के अनुसार प्रकीर्णक चैतसिको से सम्प्रयुक्त एव विप्रयुक्त चित्तो की सङ्ख्या इस प्रकार है—

चैतसिक	विप्रयुक्तचित्त	सम्प्रयुक्तचित्त
१. वितर्क	६६	५५
२. विचार	५५	६६
३ अधिमोक्ष	११	७८
४ वीर्य	१६	७३
५ प्रीति	७०	५१
६ छन्द	२०	६९

ऊपर निर्दिष्ट सङ्ख्या के अनुसार सङ्ख्येय धर्मो का परिज्ञान मूलपालि देखकर करना चाहिये।

ज्ञातव्य है कि चित्तो की गणना के दो प्रकार होते है। प्रथम प्रकार मे सम्पूर्ण चित्तो की सङ्ख्या ८९ होती है तथा द्वितीय प्रकार में कुल चित्त १२१ होते हैं। यहाँ पर जो चैतसिक ध्यानाङ्ग मे परिगृहीत हैं, उनके सम्प्रयोग एव विप्रयोग नय को

---

* छसट्ठ्यट्ठसत्तति – स्या०।

†-† सत्ततिस पकिण्णका – स्या०।

१ "छन्दो इच्छासभावत्ता इच्छारहितेसु अहेतुकमोमूहचित्तेसु च नुप्पज्जति।" – प० दी०, पृ० ९१।

अकुसलचेतसिक-सम्पयोगनयो

१६ अकुसलेसु पन मोहो, अहिरीकं, अनोत्तप्पं, उद्धच्चञ्चा* ति* चत्तारोमे चेतसिका सब्बाकुसलसाधारणा नाम, सब्बेसु पि द्वादसाकुसलेसु लब्भन्ति।

अकुशल चित्तो मे मोह, आह्रीक्य, अनपत्राप्य एव औद्धत्य –इस प्रकार प्रकार ये चार चैतसिक सर्व-अकुशलचित्तसाधारण है । ये सभी १२ अकुशल चित्तों में उपलब्ध होते है ।

दिखलाने मे द्वितीय प्रकार (१२१ गणनावाला) का आश्रयण किया गया है, यथा– वितर्क, विचार एव प्रीति के प्रसङ्ग मे। इसका कारण यह है कि ८६ चित्त, ध्यानो के विस्तार के आधार पर ही, १२१ होते हैं।

जो चैतसिक ध्यानाङ्ग नही है, उनके सम्प्रयोग एव विप्रयोग नय को दिखलाने मे प्रथम प्रकार को आधार बनाया गया है, यथा–अधिमोक्ष, वीर्य एव छन्द के प्रसङ्ग मे।

अन्यसमानचैतसिक-सम्प्रयोगनय समाप्त।

अकुशलचैतसिक-सम्प्रयोगनय

१६. कोई भी अकुशल कर्म इन चार चैतसिको के बिना नही हो सकता, अत ये चारो सभी अकुशल चित्तो मे सम्प्रयुक्त होते है, यथा–यदि कोई प्राणातिपात करता है तो वह मोह के कारण उसमे आदीनव (दोष) न देखने से, आह्रीक्य के कारण अकुशल कर्म मे लज्जा या जुगुप्सा न करने से, अनपत्राप्य के कारण अकुशल कर्मो मे भय या परगौरव न होने से तथा औद्धत्य के कारण उपशम (मानसिक शान्ति) न होने से ही करता है; अत ये चारो चैतसिक सम्पूर्ण अकुशल चित्तो से सम्प्रयुक्त होते है[1]।

- चेति–ना०।

१ "यस्मा पन अकुसलचित्तानि इमेहि चतूहि विना नुप्पज्जन्ति, न हि तानि पापेसु आदीनव पस्सित्वा ठितान उप्पज्जन्ति, न च तेहि लज्जाय वा भयेन वा उक्कण्ठितान, नापि कुसलेसु धम्मेसु समाहितान ति, तस्मा ते सब्बेसु तेसु लब्भन्तीति।"–प० दी०, पृ० ६१।

"यो हि कोचि पाणातिपातादीसु पटिपज्जति, सो सब्बो पि मोहेन तत्थ आदीनवदस्सावी, अहिरिकेन ततो अजिगुच्छन्तो, अनोत्तप्पेन अनोत्तप्पन्तो, उद्धच्चेन अवूपसन्तो च होति, तस्मा ते सब्बाकुसलेसु उपलब्भन्ति।"–विभा०, पृ० ८७।

तु०–"क्लिष्टे सदैवाकुशले, त्वाह्रीक्यमनपत्रपा।"–अभि० को० २ २६, पृ० १२७।

"अशुभे तु द्वे आह्रीक्यमनपत्रपा।"–अभि० दी० ११४ का०, पृ० ७५।

२०. लोभो अट्ठसु लोभसहगतचित्तेस्वेव* लब्भति।
२१. दिट्ठि चतूसु दिट्ठिगतसम्पयुत्तेसु।
२२. मानो चतूसु दिट्ठिगतविप्पयुत्तेसु।

लोभ चैतसिक—लोभसहगत ८ चित्तो मे ही उपलब्ध होता है।

दृष्टि चैतसिक—दृष्टिगतसम्प्रयुक्त ४ चित्तो मे सम्प्रयुक्त होता है।

मान चैतसिक—दृष्टिगतविप्रयुक्त ४ चित्तो मे सम्प्रयुक्त होता है।

---

२१. २२. सत्काय-आदि मे अभिनिविष्ट पुद्गल का उस सत्काय मे ममत्व उत्पन्न हो जाने के कारण 'दृष्टि' लोभसहगत चित्तो मे ही प्राप्त होती है। 'मान' पञ्च-स्कन्ध मे अस्मिमानवश प्रवृत्त होने के कारण दृष्टि के समान ही प्रवृत्त होता है, अत दोनो की प्रवृत्ति सदृश होने से, उसकी दृष्टि के साथ एकचित्तोत्पाद मे सहप्रवृत्ति नही होती, जैसे–केशरी सिह अपने सदृश दूसरे सिह के साथ एक गुहा मे नही रहता।

मान द्वेषमूलचित्तो मे भी उत्पन्न नही होता, क्योकि मान का आधार आत्म-स्नेह होता है।

लोभ ही एकान्त रूप से इसका कारण होने से यह (मान) दृष्टिगतविप्रयुक्त चित्तो मे ही प्राप्त होता है[1]।

दृष्टि एव मान दोनो पञ्चस्कन्ध मे आस्वाद का परित्याग न करते हुए उसका अपने अपने ढङ्ग से आमर्शन (ग्रहण या स्पर्श) करके प्रवृत्त होते है, अत ये दोनो लोभमूलचित्तो मे ही उत्पन्न होते है।

इस प्रकार उत्पन्न होनेवाले इन दोनो धर्मो मे से 'दृष्टि' पञ्चस्कन्ध मे आत्मग्रह का दृढतापूर्वक ग्रहण करके तथा उस गृहीत आत्मा का नित्यता-आदि मिथ्यास्वभावो से परामर्श (ग्रहण) करती हुई प्रवृत्त होती है।

मान तो पञ्चस्कन्ध मे 'अहमस्मि' (मै हूँ)–इस अस्मिमान का दृढतापूर्वक ग्रहण करते हुए तथा इस गृहीत आकार का श्रेष्ठता-आदि भाव से परामर्श करते हुए अर्थात् 'मै हूँ' तथा 'मै श्रेष्ठ हूँ'–इस प्रकार ग्रहण करते हुए, प्रवृत्त होता है।

अत ये दृष्टि एव मान, दोनो अपने अपने आमर्शन करने के आकारवश असदृश-वृत्ति ही होते है। यही कारण है कि ये दोनो एकचित्तोत्पाद मे उत्पन्न नही होते।

जो मिथ्यादृष्टियुक्त पुद्गल दृष्टि से गृहीत आत्मा का ही 'अहमस्मि' (मै हूँ)–इस भाव से ग्रहण करते है उनमे भी दृष्टि एव मान–दोनो अपने अपने आमर्शन (ग्रहण) करने के आकारवश असदृशवृत्ति ही होते है। मान की भाँति दृष्टि का अस्मिमान मे कोई व्यापार नही होता और न तो मान का ही दृष्टि की भाँति वस्तु के अयथार्थ पक्ष की कल्पना मे कोई व्यापार होता है। यही कारण है कि जिन्होने दृष्टि का

---

* लोभगतचित्तेस्वेव–रो०।

१. द्र०–विभा०, पृ० ८७-८८। तु०–प० दी०, पृ० ६१।

२३. **दोसो, इस्सा, मच्छरियं, कुक्कुच्चञ्चा* ति* , द्वीसु† पटिघसम्पयुत्तचित्तेसु‡ ।**

द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य एव कौकृत्य – इस प्रकार ये चार चैतसिक, दोनों प्रतिघसम्प्रयुक्त चित्तो मे सम्प्रयुक्त होते है ।

प्रहाण कर दिया है – ऐसे अनागामी पुद्गलो मे भी अस्मिमान उत्पन्न होता है। आत्मग्रहरूपी दृष्टि तो केवल पृथग्जनो मे ही उत्पन्न होती है[1] ।

'विभावनी' का यह कथन कि 'मान पञ्चस्कन्ध मे अस्मिमानवश प्रवृत्त होने के कारण दृष्टि के समान ही प्रवृत्त होता है, अत दोनो की प्रवृत्ति सदृश होने से उसकी दृष्टि के साथ एकचित्तोत्पाद मे सहप्रवृत्ति नही होती, जैसे – केशरी सिह अपने सदृश दूसरे सिह के साथ एक गुहा मे नही रहता" – सुन्दर नही है, क्योकि सदृशप्रवृत्ति सहप्रवृत्ति का कारण होती है । जब सदृशप्रवृत्ति होती है तो सहप्रवृत्ति भी अवश्य होनी चाहिये । एक स्थान पर सदृशप्रवृत्ति कहना और दूसरे स्थान पर सहप्रवृत्ति का निषेध करना युक्तिसङ्गत प्रतीत नही होता[2] ।

२३. द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य एव कौकृत्य – ये चारो चैतसिक दो द्वेषमूलचित्तो मे ही सम्प्रयुक्त होते हैं, क्योकि परसम्पत्ति से जलनेवालो के चित्तो मे, अपनी सम्पत्ति का अन्यसाधारणत्व न सह सकनेवालो के चित्तो मे, कृत दुश्चरित एव अकृत सुचरित के विषय मे अनुताप करनेवालो के चित्तो मे (उन उन स्थानो मे), प्रतिघातवश प्रवृत्त होने के कारण उपर्युक्त चारो चैतसिक प्रतिघ (द्वेष) – चित्तो मे ही सम्प्रयुक्त होते है ।

प्रश्न – अपनी सम्पत्ति मे कृपणता स्वभाववाले मात्सर्य को तो लोभमूलचित्तो मे ही सम्प्रयुक्त होना चाहिये, क्यो वह द्वेषमूलचित्तो मे सम्प्रयुक्त होता है ?

उत्तर – दूसरो को न देने की इच्छावाला मात्सर्य यद्यपि लोभप्रधान होता है, तथापि अपनी सम्पत्ति का दूसरो के साथ साधारणभाव न चाहनेवाला स्वभाव तथा उस साधारण भाव को न सह सकनेवाला स्वभाव – ये दोनो (स्वभाव) मात्सर्य के ही स्वभाव होते है, और इस प्रकार की यह असहिष्णुता द्वेष एव दौर्मनस्य ही है । अत मात्सर्य के उत्पाद-क्षण मे उसके मूलभूत लोभ का निरोध हो जाने के कारण, यह (मात्सर्य) लोभमूल से सम्प्रयुक्त न होकर द्वेष और दौर्मनस्य से ही सम्प्रयुक्त होता है[3] ।

- ०चेति – ना०, चाति चत्तारोमे चेतसिका – रो० ।

† द्विसु – म० (क) ।

‡ पटिघचित्तेसु – स्या०, ना० ।

१. द्र० – प० दी०, पृ० ६१ ।

२. द्र० – प० दी०, पृ० ६१ ।

३ "मच्छरियं पन अत्तसम्पत्तीसु लगनलोभसमुट्ठितं पि तास परेहि साधारणभाव असहनाकारेन पवत्तता एकन्तेन पटिघसम्पयुत्तमेव होती ति वुत्त ।" – प० दी०, पृ० ६१-६२ ।

२४. थीनमिद्धं* पञ्चसु ससङ्खारिकचित्तेसु।
२५. विचिकिच्छा विचिकिच्छासहगतचित्ते येवा† ति† ।

२६. सब्बापुञ्ञेसु चत्तारो लोभमूले तयो गता।
दोसमूलेसु चत्तारो ससङ्खारे द्वयं तथा॥

२७. विचिकिच्छा विचिकिच्छाचित्ते चा ति चतुद्दस।
द्वादसाकुसलेस्वेव सम्पयुज्जन्ति पञ्चधा॥

स्त्यान एव मिद्ध – पाँच ससस्कारिक चित्तो मे सम्प्रयुक्त होते है ।

विचिकित्सा – विचिकित्सासहगत चित्तो मे ही सम्प्रयुक्त होती है ।

सर्व अकुशल चित्तो मे चार (मोह, आह्रीक्य, अनपत्राप्य एवं औद्धत्य), लोभमूलचित्तो मे तीन (लोभ, दृष्टि एव मान), द्वेषमूलचित्तो में चार (द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य एव कौकृत्य), ससस्कारिक पाँच चित्तो मे दो (स्त्यान एव मिद्ध),

तथा विचिकित्साचित्त मे (एक) विचिकित्सा चैतसिक सम्प्रयुक्त होता है। इस प्रकार १४ अकुशल चैतसिक १२ अकुशल चित्तो मे पाँच प्रकार से सम्प्रयुक्त होते है।

सोभनचेतसिक-सम्पयोगनयो

२८ सोभनेसु पन सोभनसाधारणा ताव, एकूनवीसतिमे‡ चेतसिका सब्बेसु पि एकूनसट्ठिसोभनचित्तेसु संविज्जन्ति§ ।

शोभन चैतसिको मे से ये सर्वशोभनसाधारण १९ चैतसिक सभी ५९ शोभनचित्तो मे सम्प्रयुक्त होते है ।

---

२४. आलस्य स्वभाववाले स्त्यान एव मिद्ध चैतसिको का तीक्ष्ण स्वभाववाले असस्कारिक चित्तो से योग करना असम्भव है, अत ये दोनो ससस्कारिक चित्तो मे ही सम्प्रयुक्त होते है[1] ।

अकुशलचैतसिक-सम्प्रयोगनय समाप्त।

शोभनचैतसिक-सम्प्रयोगनय

२८. श्रद्धा, स्मृति-आदि शोभनसाधारण १९ चैतसिक सभी शोभनचित्तो मे उपलब्ध होते है।

---

* थीन मिद्ध – ना० ।

†-† येव लब्भतीति – स्या०, ना० ।

‡ एकूनवीसति – स्या०, ना० ।

§ सम्पयुज्जन्ति – स्या० ।

१ द्र० – विभा०, पृ० ८८ ।

२६ विरतियो पन तिस्सो पि* लोकुत्तरचित्तेसु सब्बथा पि नियता एकतो व लब्भन्ति, लोकियेसु पन कामावचरकुसलेस्वेव कदाचि सन्दिस्सन्ति विसुं विसुं ।

तीनो विरतियाँ – लोकोत्तर चित्तो में सर्वथा नियतरूप से एक साथ ही सम्प्रयुक्त होती है । लौकिक चित्तो में से तो कामावचर कुशलचित्तो मे ही कदाचित् (कभी कभी) तथा पृथक् पृथक् दिखाई देती (सम्प्रयुक्त होती) है ।

---

२६. लोकोत्तर चित्तो (८) मे कभी भी विरति चैतसिको का अभाव नही होता, क्योकि लोकोत्तरमार्ग की प्राप्ति काय-वाग्-दुश्चरितो के समूल समुच्छेद के बिना नही होती तथा उपर्युक्त तीनो प्रकार के दुश्चरितो का समुच्छेद युगपत् (एक साथ) ही होता है, अत मार्गचित्तो मे तीनो विरतियाँ सर्वथा युगपत् ही उपलब्ध होती है। मार्गचित्तो की ही भाति लोकोत्तर फलचित्त भी होते है, अत उनमे भी ये विरतियाँ सर्वथा एव सर्वदा युगपत् सम्प्रयुक्त रहती है ।

लौकिक चित्तो मे जिस प्रकार ये (विरतियाँ) दुश्चरित, दुराजीव-आदि के एकदेश के प्रहाण से प्राप्त होती है, उस प्रकार लोकोत्तर चित्तो मे प्राप्त नही होती । लोकोत्तर चित्तो मे तो ये (विरतियाँ) दुश्चरित, दुराजीव-आदि के अनवशेष प्रहाण से उत्पन्न होती है । लौकिक चित्तो मे एक बार उत्पन्न सम्यग्वाग् विरति, विरमितव्य चारो प्रकार के वाग्-दुश्चरितो[1] का युगपत् प्रहाण करने मे असमर्थ है, यथा – मृषावाद-विरति मृषावाद के ही प्रहाण मे सक्षम है, अन्य पिशुना वाग्-आदि के प्रहाण मे नही, उसी प्रकार पिशुनावाग्-विरति पिशुना वाक् का ही प्रहाण कर सकती है, अन्य परुषा वाक्-आदि का नही । इसी प्रकार अन्य विरतियो के सम्बन्ध मे भी जानना चाहिये।

लोकोत्तर चित्तो मे एक बार उत्पन्न सम्यग्वाग्-विरति तो विरमितव्य सभी चारो प्रकार के वाग्-दुश्चरितो का समूल एव सानुशय समुच्छेद कर देती है । सम्यक्कर्मान्त (विरति) भी अपने एक बार के उत्पाद से ही अशेष (सम्पूर्ण) काय-दुश्चरितो का समूल एव सानुशय प्रहाण कर देता है । इसी तरह एक बार उत्पन्न सम्यगाजीव (विरति) भी सम्पूर्ण आजीवहेतुक काय-वाग्-दुश्चरितो का समूल एव सानुशय प्रहाण कर देता है । अतएव ये तीनो विरतियाँ लोकोत्तर चित्तो मे 'सर्वथा' होती है ।

जिस प्रकार लौकिक चित्तो मे ये विरतियाँ उन उन काय-वाग्-दुश्चरितो के प्रहाण से पृथक् पृथक् उपलब्ध होती है उस प्रकार लोकोत्तर चित्तो मे ये पृथक् पृथक् न होकर एक साथ ही प्राप्त होती है, क्योकि लोकोत्तर चित्तो मे आलम्बन भिन्न भिन्न

---

* पि अट्ठसु – स्या० ।

१ तु० – "चत्तारो अनरियवोहारा – मुसावादो, पिसुणावाचा, फरुसावाचा, सम्फप्पलापो ।" – दी० नि०, तृ० भा०, पृ० १८० ।

"पैशुन्यम्, पारुष्यम्, मृषावाद सम्भिन्नप्रलापश्चेति चत्वारि वाग्दुश्चरितानि नाम ।" – अभि० मृ०, पृ० २६ ।

३० अप्पमञ्ञायो पन द्वादससु पञ्चमज्झानवज्जितमहग्गतचित्तेसु चेव कामावचरकुसलेसु च सहेतुककामावचरक्रियाचित्तेसु चा* ति* अट्ठवीसतिचित्तेस्वेव कदाचि नाना हुत्वा जायन्ति ।

उपेक्खासहगतेसु पनेत्थ करुणामुदिता न सन्तीति केचि वदन्ति ।

अप्रामाण्या (अप्पमञ्ञा=करुणा, मुदिता) चैतसिक – पञ्चमध्यानवर्जित १२ महग्गतचित्त, (८) कामावचर कुशलचित्त तथा (८) सहेतुक कामावचर क्रियाचित्त – इस प्रकार कुल २८ चित्तो मे कदाचित् तथा पृथक् पृथक् उत्पन्न होते है ।

इन (२८ चित्तो) मे भी (८) उपेक्षासहगत चित्तों (=४ कुशल, ४ क्रिया) मे करुणा एव मुदिता नही होती – ऐसा कुछ आचार्य कहते है ।

न होकर एक ही होता है। लौकिक चित्तो मे जिस प्रकार काय-वाग्-दुश्चरित, दुराजीव-आदि के नाना आलम्बन होते है और उन उन दुश्चरितो के प्रहाण से विरतियाॅ पृथक्-पृथक् उत्पन्न होती है, उस प्रकार लोकोत्तर चित्तो मे आलम्बन का नानात्व नही होता, अपितु समस्त लोकोत्तर चित्तो का आलम्बन एकमात्र निर्वाण ही होता है। अत आलम्बन के अनेकत्व से लौकिक चित्तो मे विरतियो का उत्पाद पृथक् पृथक् तथा आलम्बन के एकत्व के कारण लोकोत्तर चित्तो मे इनका उत्पाद युगपत् होता है।

विरतियाॅ लोकोत्तर एव कामावचर कुशलचित्तो मे ही होती है। कामावचर विपाक, कामावचर क्रिया तथा महग्गत (रूपावचर-अरूपावचर) चित्तो मे ये नही होती। कामावचर चित्तो मे भी ये केवल कामभूमि मे ही उत्पन्न होती है, रूपभूमि एव अरूपभूमि मे नही। कामावचर चित्त न केवल कामभूमि मे ही, अपितु रूपावचर एव अरूपावचर भूमि मे भी होते है, किन्तु इन भूमियो मे इन विरतियो का उत्पाद नही होता।

रूपभूमि एव अरूपभूमि मे इनके अनुत्पाद का कारण यह है – क्योकि इन भूमियो मे स्थित ब्रह्मा-आदि देवो मे 'काय-दुश्चरित', 'वाग्दुश्चरित' नामक 'विरमितव्य वस्तु' ही नही होती – अत उनमे ये विरतियाँ उत्पन्न नही होती। लौकिक विरतियाँ विरमितव्यवस्तु-वर्जित पुद्गलो मे नही होती और ब्रह्मा-आदि देव विरमितव्य वस्तु से विवर्जित पुद्गल है, अत इन देवो मे इन विरतियो का उत्पाद असम्भव है।

कुछ आचार्यो के मत मे कामावचर भूमि के चातुर्महाराजिक-आदि ६ देवो मे भी इन विरतियो का उत्पाद नही होता। इन आचार्यो का यह मत विद्वानो द्वारा विचारणीय है[1]।

३०. करुणा एव मुदिता (अप्रामाण्या चैतसिक) पञ्चमध्यानवर्जित महग्गतचित्त (१२), कामावचर कुशलचित्त (८) तथा सहेतुक क्रियाचित्त (८) – इस

- चेति – ना०।

१ विरति-सम्बन्धी इस व्याख्यान के लिये तथा एतत्सम्बन्धी विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० – प० दी०, पृ० ९२-९३। तु० – विभा०, पृ० ८८।

प्रकार कुल २८ चित्तो मे सम्प्रयुक्त होती हैं और इस प्रकार सम्प्रयुक्त होने पर भी, वे कदाचित् एव पृथक् पृथक् ही सम्प्रयुक्त होती हैं, क्योकि पुद्गल जब सत्त्व-प्रज्ञप्ति का आलम्बन करके भावना करते हैं, तभी ध्यान-प्राप्ति के काल मे करुणा एव मुदिता सम्प्रयुक्त होती हैं। पुद्गल जब सत्त्व-प्रज्ञप्ति का आलम्बन न करके पठवी-कसिण (पृथ्वी-कात्स्न्यं) एवं बुद्धानुस्मृति-आदि 'कम्मट्ठान' का आलम्बन करके भावना करते हैं, तब ध्यान-प्राप्ति-काल मे करुणा एव मुदिता सम्प्रयुक्त नही होती। अतएव कहा गया है कि ये 'कदाचित्' सम्प्रयुक्त होती हैं। सत्त्व-प्रज्ञप्ति का आलम्बन करने पर भी जब दु खितसत्त्व-प्रज्ञप्ति का आलम्बन किया जाता है, तभी करुणा का उत्पाद होता है, तथा जब सुखितसत्त्व-प्रज्ञप्ति का आलम्बन किया जाता है तब मुदिता का उत्पाद होता है—इस प्रकार आलम्बन-भेद होने के कारण दोनो अप्पमञ्ञाएँ युगपत् नही होती, अतएव कहा गया है कि ये 'पृथक् पृथक्' होती हैं[1]।

यहाँ 'कदाचित्' शब्द से करुणा एव मुदिता का सर्वदा होना (शाश्वतिकत्व) निषिद्ध किया गया है तथा 'नाना' शब्द से दोनो का युगपद्भाव प्रतिषिद्ध किया गया है—ऐसा समझना चाहिये।

'अभिधम्मत्थसङ्गह' की इस (उपर्युक्त) मूलपालि के द्वारा 'मेत्ता' (मैत्री) एव 'उपेक्खा' (उपेक्षा) नामक अप्पमञ्ञाओ के साथ सम्प्रयुक्त चित्तो का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता, अत उन्हे इस प्रकार जानना चाहिये

'मेत्ता' (मैत्री) के साथ सम्प्रयुक्त होनेवाले चित्त, करुणा एव मुदिता के समान २८ चित्त ही होते हैं, किन्तु उपेक्षा नीचे के चार ध्यानो मे सम्प्रयुक्त नही होती, अपितु पञ्चमध्यान (१५) मे ही सम्प्रयुक्त होती है[2]। अत 'उपेक्षा' नामक अप्पमञ्ञा के साथ सम्प्रयुक्त होनेवाले चित्त महाकुशल ८, महाक्रिया ८ एव पञ्चमध्यान १५—इस प्रकार ३१ होते हैं।

[जब उपेक्षा-ब्रह्मविहार होता है तब उसमे करुणा, मुदिता एव विरति चैतसिक सम्प्रयुक्त नही होते।]

कुछ आचार्यों का मत है कि इन २८ चित्तो मे से भी महाकुशलान्तर्गत उपेक्षा-सहगत (४) चित्तो मे तथा महाक्रियान्तर्गत उपेक्षासहगत (४) चित्तो मे—इस प्रकार ८ चित्तो मे करुणा एव मुदिता सम्प्रयुक्त नही होती, क्योकि द्वेष विहिंसास्वभाव है और विहिंसा का प्रतिपक्ष 'करुणा' होती है, तथा दौर्मनस्य अरतिस्वभाव है और अरति का प्रतिपक्ष 'मुदिता' होती है—इस प्रकार इन द्वेष एव दौर्मनस्य रूप विहिंसा एव अरति के प्रतिपक्ष होने के

---

१. "नाना हुत्वा ति—भिन्नारम्मणत्ता अत्तनो आरम्मणभूतानं दुक्खित-सुखित-सत्तान आपाथगमनापेक्खताय विसु विसु हुत्वा।"—विभा०, पृ० ८९।

२ "मेत्तादयो तयो चतुक्कज्झानिका, उपेक्खा पञ्चमज्झानिका।"—अभि० स० टी०, पृ० ९।

कारण करुणा एवं मुदिता सौमनस्यसहगत चित्तो से ही सर्वदा सम्प्रयुक्त हो सकती हैं, उपेक्षासहगत चित्तो से कथमपि सम्प्रयुक्त नही हो सकती[1]।

इन आचार्यो का यह मत 'अट्ठकथा' से विरुद्ध होने के कारण 'केचिवादो' शब्द से अभिहित किया गया है तथा समीक्षण करने पर समीचीन भी प्रतीत नही होता।

इन आचार्यो का उपर्युक्त मत – 'करुणा एवं मुदिता नामक कम्मट्ठान के प्रारम्भिक अभ्यास-काल मे जब कि ये (कम्मट्ठान) पूर्णतया अभ्यस्त नही होते है, तब, तथा इन कम्मट्ठानो के सिद्ध हो जाने पर जब कि करुणा एव मुदिता ध्यान उत्पन्न हो जाते हैं तब – उचित होता है, किन्तु कम्मट्ठान-भावना के निरन्तर अभ्यास से जब वे (कम्मट्ठान) प्रगुण (पूर्ण परिचित) हो जाते है, तब अधिक ध्यान न देने पर (करुणा-मुदिता की) अर्पणावीथि के पूर्व, करुणा एव मुदिता कभी उपेक्षासहगत चित्त से तथा कभी सौमनस्यसहगत चित्त से सम्प्रयुक्त होती हैं, जैसे – किसी ग्रन्थ के पूर्णतया अभ्यस्त (कण्ठस्थ) हो जाने पर, स्वाध्याय करते समय, पाठक के कभी अन्यमनस्क रहने पर भी वह (पाठ) निर्बाध एव बिना त्रुटि के हो सकता है। तथा जैसे – विपश्यना-कम्मट्ठान, ज्ञान-कृत्य होने के कारण, सर्वप्रथम ज्ञानसम्प्रयुक्त चित्त से आरब्ध किया जाता है; किन्तु परिचित हो जाने पर कभी उसका ज्ञानविप्रयुक्त चित्त से भी अभ्यास किया जा सकता है[2]।

अथवा – सभी (लौकिक एवं लोकोत्तर) ध्यानो के पूर्वभाग नामक 'अर्पणा' के आसन्नकाल मे ही सौमनस्यध्यान (प्रथम से चतुर्थ ध्यान) के पूर्वभाग सौमनस्यसहगत तथा उपेक्षाध्यान (पञ्चम) के पूर्वभाग उपेक्षासहगत होते हैं, अनासन्नकाल मे तो इन ध्यानो के पूर्वभाग कभी सौमनस्यसहगत तो कभी उपेक्षासहगत होते हैं। अतएव आचार्यों का पूर्वोक्त वाद 'केचिवादो' कहा गया है[3]।

---

१. "यस्मा पनेता दोससमुट्ठितान विहिंसा-अरतीन निस्सरणभूता ति सुत्तन्तेसु वुत्ता, दोमनस्सपटिपक्ख च सोमनस्सयोगमेव केचि इच्छन्तीति वुत्त – 'उपेक्खासहगतेसु केचि वदन्ती' ति।" – प० दी०, पृ० ९४।

२ "करुणामुदिताभावनाकाले अप्पनावीथितो पुब्बे परिचयवसेन उपेक्खासहगतचित्तेहि पि परिकम्म होति, यथा त पगुणगन्थ सज्झायन्तस्स कदाचि अञ्ञाविहितस्स पि सज्झायन, यथा च विपस्सनाय सङ्खारे सम्मसन्तस्स कदाचि ञाणविप्पयुत्तचित्तेहि पि सम्मसन ति उपेक्खासहगतकामावचरेसु करुणामुदितान असम्भववादो 'केचिवादो' कतो। अप्पनावीथिय पन एकन्ततो सोमनस्ससहगतेस्वेव सम्भवो दट्ठब्बो।" – विभा०, पृ० ८९।

३ "यस्मा च सब्बेस पि लोकियलोकुत्तरज्झानान पुब्बभागभावनानाम-अप्पनासन्नकाले एव सोमनस्सज्झानान पुब्बभागा सोमनस्ससहगता होन्ति, उपेक्खाझानान पुब्बभागा उपेक्खासहगता होन्ति। अनासन्नकाले पन सब्बेस पि तेस पुब्बभागा कदाचि सोमनस्ससहगता कदाचि उपेक्खासहगता होन्ति। तस्मा सो वादो 'केचिवादो' व कातु युत्तो ति।" – प० दी०, पृ० ९४।

३१ पञ्ञा पन द्वादससु ञाणसम्पयुत्तकामावचरचित्तेसु चेव सब्बेसु पि* पञ्चतिंसमहग्गतलोकुत्तरचित्तेसु† चा‡ ति‡ सत्तचत्तालीसचित्तेसु§ सम्पयोगं गच्छतीति।

सङ्गहगाथा

३२ एकूनवीसति धम्मा जायन्तेकूनसट्ठिसु§§।
तयो सोळसचित्तेसु अट्ठवीसतियं द्वयं॥

३३. पञ्ञा पकासिता सत्तचत्तालीसविधेसु पि।
सम्पयुत्ता चतुद्धेवं†† सोभनेस्वेव सोभना॥

प्रज्ञा – ज्ञानसम्प्रयुक्त कामावचर चित्त १२, सम्पूर्ण (२७) महग्गत चित्त एवं (८) लोकोत्तर चित्त = ३५ – इस प्रकार कुल ४७ चित्तो मे सम्प्रयुक्त होती है।

उन्नीस धर्म (चैतसिक) ५६ चित्तो में होते है। तीन चैतसिक १६ चित्तो मे तथा दो चैतसिक २८ चित्तो में होते है।

प्रज्ञा, ४७ प्रकार के चित्तो में कही गयी है – इस प्रकार 'शोभन चैतसिक' शोभन चित्तो मे ही चार प्रकार से सम्प्रयुक्त होते है।

---

३१. लोकोत्तर चित्तो की प्राप्ति सम्यग्दृष्टि के बिना अशक्य है। सम्यग्दृष्टि ही 'प्रज्ञा' है, अत लोकोत्तर चित्तो मे प्रज्ञा का होना अनिवार्य है।

महग्गत (रूपावचर एव अरूपावचर) ध्यानो के आलम्बन कसिण-आदि यद्यपि अगम्भीर होते हैं, तथापि यौगिक कर्म के बल से, चित्त के समाधान के बल से, तथा क्लेशो के दूरीभाव से – इन कसिणो का आलम्बन करनेवाले ध्यान-चित्तो मे ज्ञान एकान्तभाव से सम्प्रयुक्त होता है। ज्ञान के बिना चित्त का समाधान या क्लेशो का दूरीभाव अशक्य है और इस तरह ध्यान ही नही बन सकेगा, अत महग्गत चित्तो मे ज्ञान अवश्य सम्प्रयुक्त होता है।

कामावचर चित्तो मे जो चित्त ज्ञानसम्प्रयुक्त है उनमे प्रज्ञा चैतसिक सम्प्रयुक्त होता ही है।

सङ्ग्रहगाथा

३२. ३३. श्रद्धा, स्मृति-आदि १६ शोभनसाधारण चैतसिक, सभी ५६ शोभनचित्तो मे होते हैं। तीन विरति चैतसिक १६ चित्तो मे तथा दो अप्पमञ्ञा चैतसिक २८ चित्तो (=कामावचर कुशल ८, क्रिया ८ तथा पञ्चमध्यानवर्जित महग्गत १२) मे होते हैं। प्रज्ञा, ४७ चित्तो (=ज्ञानसम्प्रयुक्त कामावचर १२, महग्गत २७, लोकोत्तर ८) मे होती है।

शोभनचैतसिक-सम्प्रयोगनय समाप्त।

---

* ना० मे नही।
† पञ्चत्तिंस० – म० (क) (सर्वत्र)।
‡-‡ चेति – ना०।
§ सत्तचत्ताळीस० – सी० (सर्वत्र)।
§§ जायन्तेकूनसट्ठिय – स्या०।
†† चतुधेव – म० (क, ख); स्या०।

नियतानियतभेदो

३४ इस्सा-मच्छेर-कुक्कुच्च-विरति* -करुणादयो।
नाना कदाचि मानो च थीनमिद्धं तथा सह ।।
३५ यथावुत्तानुसारेन सेसा नियतयोगिनो ।
सङ्गहञ्च पवक्खामि तेसं दानि यथारहं ।।

उपर्युक्त कथन के अनुसार ईर्ष्या, मात्सर्य, कौकृत्य, तीन विरतियाँ, करुणा एवं मुदिता – ये चैतसिक पृथक् पृथक् तथा कदाचित् होते है । मान चैतसिक कदाचित्, तथा स्त्यान एव मिद्ध कदाचित् एवं साथ साथ होते है ।

शेष चैतसिक नियतयोगी होते है, अर्थात् सर्वदा सम्प्रयुक्त होते है ।

अब उन चैतसिको के 'सङ्ग्रहनय' का वर्णन यथायोग्य करूँगा ।

नियतानियतभेद

३४. ३५. **नियतयोगी, अनियतयोगी** – 'युज्जन्तीति योगिनो, नियता हुत्वा योगिनो नियतयोगिनो, तब्बिपरीता अनियतयोगिनो' योग करनेवाले धर्मो को 'योगी' तथा एकान्त-रूप से योग करनेवालो को 'नियतयोगी' कहते है। इसके विपरीत जो कभी तो योग करते है, कभी नही – वे धर्म, 'अनियतयोगी' कहलाते है । तात्पर्य यह है कि जब सम्प्रयुक्तचित्त उत्पन्न होता है तब जो चैतसिक उस चित्त के साथ अवश्यमेव उत्पन्न होते है वे 'नियतयोगी', तथा सम्प्रयुक्तचित्त के उत्पन्न होने पर भी जो चैतसिक कभी तो उत्पन्न होते है, कभी नही – ऐसे चैतसिक 'अनियतयोगी' है ।

नाना एवं कदाचित् – ईर्ष्या, मात्सर्य, कौकृत्य, विरतित्रय एव करुणा-मुदिता – ये चैतसिक 'अनियतयोगी' है । अर्थात् जब सम्प्रयुक्तचित्त उत्पन्न होता है, तब ये उसके साथ सर्वदा सम्प्रयुक्त नही होते, अर्थात् कभी होते है, कभी नही। कभी होने पर भी ईर्ष्या, मात्सर्य एव कौकृत्य – ये तीनो किसी एक चित्त मे एक साथ (युगपत्) नही होते । इसी प्रकार तीनो विरतियाँ भी एक चित्त मे साथ साथ नही होती । यही नियम करुणा एव मुदिता के सम्बन्ध मे भी प्रयुक्त होता है, अर्थात् ये दोनो कभी भी साथ साथ नही होती । ईर्ष्या, मात्सर्य एव कौकृत्य – ये तीनो यद्यपि द्वेषमूलचित्त से सम्प्रयुक्त होते है, तथापि जब द्वेषमूलचित्त उत्पन्न होता है तब ये नियत रूप से सर्वदा उत्पन्न नही होते, तथा तीनो एक साथ भी नही होते ।

यथा – प्राणातिपात अथवा – शोक, परिदेव-आदि कर्म होने के काल मे हालाँकि द्वेषमूलचित्त उत्पन्न होता है तो भी ये तीनो चैतसिक उस समय उस चित्त के साथ सम्प्रयुक्त नही होते, केवल द्वेष चैतसिक ही सम्प्रयुक्त होता है। परसम्पत्ति से ईर्ष्या-आदि होने के समय उत्पन्न द्वेषमूलचित्त मे यद्यपि ये तीनो सम्प्रयुक्त होते है तथापि वहाँ पर ईर्ष्या का आलम्बन परसम्पत्ति, मात्सर्य का आलम्बन स्वसम्पत्ति तथा कौकृत्य

---

* विरती – म० (क) ।

का आलम्बन कृत दुश्चरित या अकृत सुचरित ही होता है। इस प्रकार तीनो के आलम्बन भिन्न भिन्न होने से तीनो एक साथ सम्प्रयुक्त नही होते, अपितु आलम्बन के अनुसार कोई एक ही सम्प्रयुक्त होता है, यद्यपि तीनो अवस्थाओ मे द्वेषमूलचित्त ही होता है।

[करुणा एव मुदिता के नानात्व (पृथक्त्व) एव कादाचित्कत्व के सम्बन्ध मे सम्प्रयोगनय के वर्णन के प्रसङ्ग मे कह दिया गया है[1]।]

'विरति' शब्द से यहाँ लौकिक विरतियो का ही ग्रहण करना चाहिये, क्योकि निर्वाण का आलम्बन करने से लोकोत्तर विरतियाँ यहाँ अभिप्रेत नही है। लोकोत्तर तीनो विरतियाँ तो एकमात्र निर्वाण का ही आलम्बन करने के कारण सर्वदा एक साथ (युगपत्) ही सम्प्रयुक्त होती है।

मानो च – 'दृष्टिगतविप्रयुक्त' मे सम्प्रयुक्त मान भी उनमे सर्वदा नही होता। जैसे – रूपालम्बन का आलम्बन करके जब राग का उत्पाद होता है तब मान कैसे होगा ? वह तो जब 'सेय्योहमस्मि' अर्थात् मै श्रेष्ठ हूँ – इस प्रकार के अभिमान की प्रवृत्ति होती है तभी उनमे सम्प्रयुक्त होता है। मान के एक ही होने के कारण 'मानो च' मे प्रयुक्त 'च' शब्द के द्वारा 'नाना' का समुच्चय नही होता, अपितु केवल 'कदाचि' (कदाचित्) का ही समुच्चय होता है।

थीनमिद्धं तथा सह – यहाँ 'तथा' शब्द के द्वारा 'कदाचित्' का ग्रहण होता है। पाँच अकुशल ससस्कारिक चित्तो मे सम्प्रयुक्त होनेवाले स्त्यान एव मिद्ध चैतसिक, इनमे सर्वदा सम्प्रयुक्त नही होते। यथा – ससस्कारिक चित्तो के द्वारा जब चोरी होती है तब अकुशल ससस्कारिक चित्तो के होने पर भी उनमे स्त्यान एव मिद्ध उत्पन्न नही होते। ये तो चित्त एव चैतसिक धर्मो की अकर्मण्यता की अवस्था मे ही उत्पन्न होते है। 'स्त्यान' चित्त की तथा 'मिद्ध' चैतसिक की अकर्मण्यता है। इसीलिये ये दोनों पृथक् पृथक् भी उत्पन्न नही होते, अपितु साथ ही साथ उत्पन्न होते है, और इसी को दिखाने के लिये 'सह' शब्द का उपादान किया गया है[2]।

यथावुत्तानुसारेन – सर्वचित्तसाधारण चैतसिक सभी चित्तो (८९ या १२१) मे सम्प्रयुक्त होते है, वितर्क चैतसिक ५५ चित्तो मे सम्प्रयुक्त होता है – इत्यादि प्रकार से – अर्थात् उपर्युक्त सम्प्रयोगनय के अनुसार किस चित्त मे कौन चैतसिक नियत रूप से सम्प्रयुक्त होते है, एव कौन चैतसिक अनियत रूप से (कदाचित्) सम्प्रयुक्त होते है, तथा कौन चैतसिक एक साथ सम्प्रयुक्त होते है एव कौन चैतसिक पृथक् पृथक् सम्प्रयुक्त होते है – यह जानना चाहिये।

नियतानियतभेद समाप्त।

सम्प्रयोगनय समाप्त।

सङ्गहं च पवक्खामि – अब आगे उन चैतसिको के 'सङ्ग्रहनय' का व्याख्यान यथायोग्य किया जायेगा।

---

१ द्र० – अभि० स० २ ३० की व्याख्या (पीछे पृ० १८७)।

२ विस्तार के लिये द्र० – प० दी०, पृ० ९५-९६। तु० – विभा०, पृ० ८९–९०।

सङ्गहनयो

३६ छत्तिंसानुत्तरे धम्मा पञ्चतिंस महग्गते।
अट्ठतिंसापि लब्भन्ति कामावचरसोभने॥
३७ सत्तवीसत्यपुञ्ञम्हि* द्वादसाहेतुके ति च।
यथासम्भवयोगेन पञ्चधा तत्थ सङ्गहो॥

अनुत्तर (लोकोत्तर) चित्तो मे ३६ चैतसिक, महग्गत (रूपावचर-अरूपावचर) चित्तो मे ३५ चैतसिक, कामावचर शोभनचित्तो मे ३८ चैतसिक, अकुशल चित्तों में २७ चैतसिक तथा अहेतुक चित्तो मे १२ चैतसिक उपलब्ध होते है। इस प्रकार यथासम्भव योग से चैतसिको का चित्त में पाँच प्रकार से सङग्रह होता है।

सङग्रहनय

३६ ३७ 'सम्पिण्डेत्वा गय्हन्ति एत्था ति सङ्गहो' उन चित्तो मे यथायोग सङगृहीत चैतसिको के 'सङग्रह' को दिखलानेवाला नय 'सङग्रहनय' है, यथा— लोकोत्तर प्रथमध्यान चित्त मे—'सब्बचित्तसाधारणा ताव[1]' आदि के अनुसार सर्वचित्त-साधारण चैतसिक ७, 'वितक्को ताव द्विपञ्चविञ्ञाण[2]' के अनुसार प्रकीर्णक चैतसिक ६, 'सोभनेसु पन सोभनसाधारणा ताव[3]' आदि के अनुसार शोभनसाधारण चैतसिक १९, 'विरतियो पन तिस्सो पि[4]' के अनुसार विरति चैतसिक ३, तथा 'पञ्ञा पन द्वादससु[5] .' के अनुसार प्रज्ञा चैतसिक १—इस प्रकार कुल ३६ चैतसिक सम्प्रयुक्त होते है। इसी प्रकार एक एक चित्त मे यथायोग प्राप्त चैतसिको को सङगृहीत करके दिखलानेवाला नय 'सङग्रहनय' कहलाता है[6]।

ये दोनो गाथाएँ आगे कहे जानेवाले सङग्रहनय के सङक्षिप्त क्रम को दिखलानेवाली गाथाएँ है।

चित्त दो प्रकार के है, यथा—सहेतुक एव अहेतुक। सहेतुक चित्त अधिक हैं, अत यहाँ पहले उन्ही का वर्णन किया गया है। अहेतुक चित्त केवल १८ हैं; अत उन्हे अन्त मे रखा गया है। सहेतुक चित्तो मे भी लोकोत्तर चित्तो का सर्वप्रथम ग्रहण किया है, क्योकि आचार्य ने सम्पूर्ण सहेतुक चित्तो को उत्कृष्टतम, उत्कृष्टतर, उत्कृष्ट एव हीन—इन

---

* सत्तवीसतिपुञ्ञम्हि—सी०, रो०, म० (क, ख)।
१ द्र०—अभि० स० २·११ (पीछे पृ० १७८)।
२ द्र०—अभि० स० २ १२ (पीछे पृ० १७८)।
३ द्र०—अभि० स० २.२८ (पीछे पृ० १८५)।
४ द्र०—अभि० स० २·२९ (पीछे पृ० १८६)।
५ द्र०—अभि० स० २ ३१ (पीछे पृ० १९०)।
६ तु०—विभा०, पृ० ६०, प० दी०, पृ० ६६।

सोभनचित्त-सङ्गहनयो

लोकुत्तरचित्त-सङ्गहनयो

३८. कथं ? लोकुत्तरेसु ताव अट्ठसु पठमज्झानिकचित्तेसु अञ्ञसमाना तेरस चेतसिका, अप्पमञ्ञावज्जिता तेवीसति सोभनचेतसिका चेति छत्तिंस-धम्मा सङ्गहं गच्छन्ति। तथा दुतियज्झानिकचित्तेसु वितक्कवज्जा। ततिय-ज्झानिकचित्तेसु वितक्कविचारवज्जा। चतुत्थज्झानिकचित्तेसु वितक्कविचार-पीतिवज्जा। पञ्चमज्झानिकचित्तेसु पि* उपेक्खासहगता ते एव सङ्गय्हन्तीति† सब्बथापि अट्ठसु लोकुत्तरचित्तेसु पञ्चकज्झानवसेन पञ्चधा व सङ्गहो होतीति।

कैसे ? लोकोत्तर चित्तो मे से आठ प्रथमध्यान चित्तो में अन्य-समान चैतसिक १३, अप्पमञ्ञा (अप्रामाण्या)-वर्जित शोभन चैतसिक २३ – इस प्रकार ३६ चैतसिक सङ्गृहीत होते है । उसी प्रकार आठ द्वितीय-ध्यान चित्तो मे वितर्कवर्जित (वे ही ३५ चैतसिक), आठ तृतीयध्यान चित्तो मे वितर्क एवं विचार वर्जित (वे ही ३४ चैतसिक), आठ चतुर्थध्यान चित्तों में वितर्क, विचार एव प्रीति वर्जित (वे ही ३३ चैतसिक); तथा आठ पञ्चमध्यान चित्तो मे (सुख के स्थान पर) उपेक्षा से सहगत वे ही (३३ चैतसिक) सङ्गृहीत होते है – इस प्रकार आठ लोकोत्तर चित्तो मे सर्वथा पाँच ध्यानो के वश से (चैतसिको का) पञ्चविध सङ्ग्रह ही होता है ।

चार भागो मे विभक्त किया है । उनमे लोकोत्तर चित्त उत्कृष्टतम है, अत उन्हे ही प्रथम स्थान दिया है ।

ऊपर, चित्तो मे चैतसिको का पाँच प्रकार से सङ्ग्रह करके दिखलाया गया है ।

यथासम्भवयोगेन – सङ्ग्रहनय के क्रम का सङ्क्षेप करने पर भी लोकोत्तर चित्तो का सङ्ग्रह एक, महग्गत चित्तो का सङ्ग्रह एक, कामशोभन, अकुशल एव अहेतुक चित्तो का सङ्ग्रह एक-एक प्रकार का होने से चित्तो मे चैतसिको का सङ्ग्रह पाँच प्रकार का होता है ।

इस पञ्चविध सङ्ग्रह से भी 'सङ्ग्रहनय' पूर्ण नही होता, अत यथासम्भव सम्प्रयोगत्व दिखलाने के लिये 'यथासम्भवयोगेन' कहा गया है, जैसे – 'छत्तिसानुत्तरे धम्मा' – (लोकोत्तर चित्तो मे ३६ चैतसिक सम्प्रयुक्त होते है) के द्वारा लोकोत्तर चित्तो के एकविध सङ्ग्रह को दिखला देने पर भी यथासम्भव प्रथमध्यान मे ३६, द्वितीय-ध्यान-आदि मे 'पञ्चतिस' (३५) आदि चैतसिक सम्प्रयुक्त होते है – ऐसा जानना चाहिये ।

शोभनचित्त-सङ्ग्रहनय

लोकोत्तरचित्त-सङ्ग्रहनय

३८ लोकोत्तर चित्तो के आठ प्रथमध्यान चित्तो मे 'अप्पमञ्ञा' (करुणा-

---

* स्या०, ना० मे नही । † सङ्गय्हन्ति – स्या० ।

मुदिता)-वर्जित ३६ चैतसिक सम्प्रयुक्त होते है । अकुशल चैतसिक तो लोकोत्तर चित्तो मे कथमपि सम्प्रयुक्त हो ही नही सकते – यह तो स्पष्ट ही है, शोभन चैतसिको (२५) मे से भी 'अप्पमञ्ञा' नामक दो चैतसिको को छोडकर २३ चैतसिक ही सम्प्रयुक्त होते है । 'अप्पमञ्ञा' लोकोत्तर चित्तो मे क्यो सम्प्रयुक्त नही होती ? इसका कारण तो पहले ('अप्पमञ्ञा' के सम्प्रयोगनय के प्रसङ्ग मे) दिखलाया जा चुका है कि – करुणा एव मुदिता का आलम्बन सत्त्व-प्रज्ञप्ति होता है तथा लोकोत्तर चित्तो का आलम्बन निर्वाण होता है, अत आलम्बन के भिन्न होने से लोकोत्तर चित्तो मे करुणा एव मुदिता नही हो सकती । द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ एव पञ्चम ध्यान चित्तो मे होनेवाले चैतसिको का सङ्ख्या-परिज्ञान उपर्युक्त मूलपालि को देखकर कर लेना चाहिये ।

पञ्चकज्झानवसेन पञ्चधा व सङ्गहो – लोकोत्तर चित्तो मे पाँच ध्यान होते है, अत ध्यानो के अनुरोध से चैतसिको का पाँच प्रकार से सङग्रह किया गया है । अभिधर्म-शास्त्र मे 'पञ्चकनय' एव 'चतुष्कनय' – इस प्रकार ध्यानो के दो नय प्रसिद्ध है[1] । उनमे से यहाँ 'पञ्चकनय' का ग्रहण किया गया है, 'चतुष्कनय' का नही, यदि चतुष्कनय का ग्रहण किया गया होता तो चैतसिक-सङग्रह चार प्रकार का ही होता ।

लौकिकध्यानलाभी योगी पाँच अङ्ग (वितर्क, विचार, प्रीति, सुख, एकाग्रता) वाले प्रथमध्यान के लाभ के अनन्तर जब द्वितीयध्यान का लाभ करता है तब जो मन्दप्रज्ञ पुद्गल होता है वह केवल प्रथमध्यान के वितर्क मे ही आदीनव (दोष) देखकर उसका प्रहाण कर पाता है और चार अङ्गवाले द्वितीयध्यान का लाभ करता है । तदनन्तर विचार मे आदीनव देखकर और उसका प्रहाण करके तीन अङ्गवाले तृतीयध्यान का लाभ करता है । इसके बाद दो अङ्गवाले चतुर्थ और तदनन्तर उपेक्षा एव एकाग्रतायुक्त पञ्चमध्यान का लाभ करता है – इस तरह पाँच ध्यान होते है । किन्तु तीक्ष्णप्रज्ञ पुद्गल प्रथम-ध्यान के अनन्तर ही वितर्क एव विचार दोनो मे आदीनव देखकर तथा उन दोनो का एक साथ प्रहाण करके तीन अङ्गवाले द्वितीयध्यान का लाभ करता है । तदनन्तर दो अङ्ग-वाले तृतीय तथा दो अङ्ग (उपेक्षा एव एकाग्रता)-वाले चतुर्थध्यान का लाभ करता है – इस तरह प्रज्ञा के तीक्ष्ण होने से चार ही ध्यान होते है । अतः प्रज्ञा-भेद से उपर्युक्त दो प्रकार के नय प्रसिद्ध है ।

लौकिक की तरह लोकोत्तरो मे भी प्रज्ञा-भेद से चतुष्क एव पञ्चक नय होते है । यहाँ पर अनुरुद्धाचार्य को ध्यानचित्तो की सङ्ख्या मात्र दिखलाना अभीष्ट होने से, वे चतुष्कनय का ग्रहण न कर, पञ्चकनय के ध्यानो के अनुरोध से चैतसिको का सङग्रह दिखलाते है[2] ।

चतुष्कनय का ग्रहण करने पर प्रथमध्यान मे ३६ चैतसिक, द्वितीयध्यान मे वितर्क एव विचार वर्जित ३४ चैतसिक, तृतीयध्यान मे ३३ चैतसिक तथा

---

१ द्र० – ध० स०, पृ० ४५, विसु०, पृ० ११३, अट्ठ०, पृ० १४६ ।

२ तु० – विभा०, पृ० ६०, प० दी०, पृ० ६६ ।

३९. छत्तिंस पञ्चतिंसाथ* चतुत्तिंस† यथाक्कमं।
तेत्तिंसद्वयमिच्चेवं पञ्चधानुत्तरे ठिता ॥

३६ चैतसिक, ३५ चैतसिक, ३४ चैतसिक, ३३ चैतसिक तथा ३३ चैतसिक – इस प्रकार लोकोत्तर चित्तो मे सङ्ग्रहनय यथाक्रम पाँच प्रकार से स्थित है।

महग्गतचित्त-सङ्गहनयो

४०. महग्गतेसु पन तीसु पठमज्झानिकचित्तेसु ताव अञ्ञसमाना तेरस चेतसिका विरतित्तयवज्जिता‡ द्वावीसति§ सोभनचेतसिका चेति पञ्च-तिंस* धम्मा सङ्गहं गच्छन्ति। करुणा-मुदिता पनेत्थ पच्चेकमेव योजेतब्बा।

महग्गत चित्तो मे से – तीन प्रथमध्यान चित्तो मे अन्यसमान चैत-सिक १३ तथा विरतित्रयवर्जित शोभन चैतसिक २२ – इस प्रकार कुल ३५ धर्म (चैतसिक) सङ्गृहीत होते है। यहाँ करुणा एवं मुदिता का

चतुर्थध्यान मे सुख को वर्जित कर, उसके स्थान पर उपेक्षा को रखकर, ३३ चैतसिक ही होगे। इस नय के अनुसार 'सङ्गह-गाथा' इस प्रकार होगी

"छत्तिंस चतुत्तिंस च तेत्तिंसकद्वय पि च।
चतुक्कज्झानवसेन चतुधानुत्तरे ठिता[१] ॥"

३९ क प्रथमध्यान-मार्ग चित्त से सम्प्रयुक्त चैतसिक ३६,
ख द्वितीयध्यान-मार्ग चित्त से सम्प्रयुक्त चैतसिक ३५,
ग तृतीयध्यान-मार्ग चित्त से सम्प्रयुक्त चैतसिक ३४,
घ चतुर्थध्यान-मार्ग चित्त से सम्प्रयुक्त चैतसिक ३३,
ङ पञ्चमध्यान-मार्ग चित्त से सम्प्रयुक्त चैतसिक ३३
– इस प्रकार लोकोत्तर चित्तो मे पाँच प्रकार से सङ्ग्रहनय होता है।

[ऊपर सम्प्रयुक्त चैतसिको की सङ्ख्या मात्र दिखलायी गयी है। नाम-आदि का ज्ञान मूलपालि से करना चाहिये।]

लोकोत्तरचित-सङ्ग्रहनय समाप्त।

महग्गतचित्त-सङ्ग्रहनय

४०. **विरतित्तयवज्जिता** – कृत्य एव आलम्बन विपरीत होने से महग्गत चित्तो मे

---

* पञ्चतिंसा च–सी०, रो०, म० (क), पञ्चतिंस च – म० (ख)।
† चतुतिंस – रो० (सर्वत्र)। ‡ विरतिवज्जा – स्या०।
§ बावीसति – स्या०। * पञ्चत्तिंस – स्या०, म० (क)।
१. ब० भा० टी०।

तथा दुतियज्झानिकचित्तेसु वितक्कवज्जा। ततियज्झानिकचित्तेसु वितक्कविचारवज्जा। चतुत्थज्झानिकचित्तेसु वितक्कविचारपीतिवज्जा। पञ्चमज्झानिकचित्तेसु पन* पन्नरससु† अप्पमञ्ञायो न लब्भन्तीति‡ सब्बथापि सत्तवीसतिमहग्गतचित्तेसु पञ्चकज्झानवसेन पञ्चधा व सङ्गहो होतीति।

पृथक् पृथक् योग करना चाहिये। उसी प्रकार द्वितीयध्यान चित्तो मे वितर्कवर्जित (३४ चैतसिक), तृतीयध्यान चित्तो मे वितर्क एव विचार वर्जित (३३ चैतसिक), चतुर्थध्यान चित्तो मे वितर्क, विचार एव प्रीति वर्जित (३२ चैतसिक सङ्गृहीत होते है) तथा पन्द्रह पञ्चम ध्यानचित्तो मे 'अप्पमञ्ञा' चैतसिक उपलब्ध नही होते – इस प्रकार सर्वथा २७ महग्गत चित्तो मे पाँच ध्यानो के वश से चैतसिको का पाँच प्रकार से ही सङ्ग्रह होता है।

तीन विरतियाँ सम्प्रयुक्त नही होती[1]। विरतियो का कृत्य कायकर्म एव वाक्कर्म का विशोधन करना है तथा महग्गत ध्यानो का कृत्य सुविशुद्ध कायकर्म एव वाक्कर्म वाले पुद्गल के चित्त का विशोधन करना है[2]। ध्यान की प्राप्ति के लिये यदि भावना की जाती है तो सर्वप्रथम शीलविशुद्धि के लिये सयम करना होता है। उस शीलविशुद्धि के बल से सभी दुश्चरित एव दुराजीव का प्रहाण करनेवाले योगी की सन्तान मे समाधि होने से ही महग्गत ध्यानचित्त उत्पन्न होते है। उन महग्गत ध्यानो के लिये प्रहातव्य कोई दुश्चरित अथवा दुराजीव अवशिष्ट नही होता। वे लोकोत्तर धर्मो की तरह दुश्चरित-आदि की आधारभूत अनुशयधातु का भी प्रहाण नही कर सकते, अत विरत होने के लिये दुश्चरित-आदि के सर्वथा न होने से ही उनमे विरतियो के सम्प्रयोग के लिये कोई अवकाश नही होता[3]।

विरतियाँ व्यतिक्रमितव्य-वस्तु (कायवाग्दुश्चरित) एव निर्वाण का आलम्बन करके

---

* स्या० मे नही।

† पण्णरससु – सी०, स्या०।

‡ लब्भन्ति – स्या०।

१ "किच्चारम्मणविरुद्धत्ता विरतियो महग्गतेसु नुप्पज्जन्तीति आह – 'विरतित्तयवज्जिता' ति।" – प० दी०, पृ० ६७।

२ "विरतियो हि कायवचीविसोधनकिच्चा होन्ति, महग्गतज्झानानि पन सुविसुद्धकायवचीपयोगस्सेव चित्तविसोधनकिच्चानि।" – प० दी०, पृ० ६७।

३ "सुविसुद्धकायकम्मादिकस्स चित्तसमाधानवसेन रूपारूपावचरकुसलप्पवत्ति, न कायकम्मादीन सोधनवसेन, नापि दुच्चरितदुराजीवानं समुच्छिन्दनपटिप्पस्सम्भनवसेना ति महग्गतचित्तुप्पादेसु विरतीन असम्भवो येव।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४८।

४१. पञ्चतिंस चतुत्तिंस तेत्तिंस* च* यथाक्कमं ।
बत्तिंस† चेव तिंसेति‡ पञ्चधा व महग्गते ॥

३५ चैतसिक, ३४ चैतसिक, ३३ चैतसिक, ३२ चैतसिक तथा ३० चैतसिक – यथाक्रम पाँच प्रकार से ही महग्गत (पाँच ध्यान) चित्तो मे सङ्गृहीत होते है ।

प्रवृत्त होती है । महग्गत ध्यान, प्रज्ञप्ति एव महग्गत धर्मो का आलम्बन करके, प्रवृत्त होते है – इस प्रकार दोनो के आलम्बनो मे भी वैपरीत्य होने से विरतियाँ इनमे सम्प्रयुक्त नही होती[1] ।

करुणा एव मुदिता – ये दोनो कभी भी किसी चित्त मे एक साथ सम्प्रयुक्त नही होती, क्योकि करुणा दु खितसत्त्व-प्रज्ञप्ति का आलम्बन कर प्रवृत्त होती है तथा मुदिता सुखितसत्त्व-प्रज्ञप्ति का आलम्बन करके प्रवृत्त होती है – इस प्रकार आलम्बन के वैपरीत्य के कारण, इन दोनो मे से कोई एक ही एक बार मे किसी ध्यानचित्त से सम्प्रयुक्त होती है । अर्थात् ध्यानचित्त का आलम्बन जब दु खितसत्त्व-प्रज्ञप्ति होती है तो करुणा तथा जब सुखितसत्त्व-प्रज्ञप्ति होती है तब मुदिता का उस ध्यान से सम्प्रयोग होता है । जब करुणा होती है तब मुदिता तथा जब मुदिता होती है तब करुणा – वहाँ (उस समय) नही होती ।

अर्पणाप्राप्त अप्पमञ्ञा चैतसिक कभी भी सौमनस्य से विरहित नही होते। पञ्चमध्यान चित्त (१५) सर्वदा उपेक्षायुक्त होते है । इनके उपेक्षायुक्त होने से इनमे सौमनस्य कभी भी नही हो सकता । अत दोनो 'अप्पमञ्ञा' चैतसिक कभी भी पञ्चमध्यान से सम्प्रयुक्त नही हो सकते[2] ।

४१ उपर्युक्त सङ्ग्रहनय का प्रतिपादन ध्यानचित्तो के पञ्चकनय के आधार पर किया गया है । यदि चतुष्कनय के आधार पर प्रतिपादन किया गया होता तो उस नय के आधार पर सङ्ग्रह-गाथा का रूप यह होता .

"पञ्चतिंस च तेत्तिंस, बत्तिंस तिंस चेति च ।
चतुक्कज्झानवसेन चतुधा व महग्गते[3] ॥"

क. महग्गत प्रथमध्यान मे सम्प्रयुक्त चैतसिक ३५,
ख. महग्गत द्वितीयध्यान मे सम्प्रयुक्त चैतसिक ३४,

- तेत्तिंसाथ – स्या० ।
† द्वत्तिंस – सी०, बात्तिंस – म० (क, ख) ।
‡ तिंसाति – स्या० ।
१ द्र० – विभा०, पृ० ९०–९१, प० दी०, पृ० ९७ ।
२ द्र० – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १४८ ।
३. ब० भा० टी० ।

कामावचरसोभनचित्त-सङ्गहनयो

४२ कामावचरसोभनेसु पन कुसलेसु ताव पठमद्वये* अञ्ञसमाना तेरस चेतसिका, पञ्चवीसति सोभनचेतसिका चेति अट्ठतिंस† धम्मा सङ्गहं गच्छन्ति । अप्पमञ्ञा-विरतियो पनेत्थ पञ्च पि पच्चेकमेव योजेतब्बा । तथा दुतियद्वये ञाणवज्जिता, ततियद्वये ञाणसम्पयुत्ता पीतिवज्जिता, चतुत्थ-द्वये ञाणपीतिवज्जिता ते एव सङ्गय्हन्ति ।

कामावचर शोभनचित्तो के आठ कुशलचित्तो मे से प्रथमद्वय (ज्ञान-सम्प्रयुक्त) मे अन्यसमान चैतसिक १३, एव शोभन चैतसिक २५ – इस प्रकार कुल ३८ चैतसिक सङ्गृहीत होते है । 'अप्पमञ्ञा' चैतसिक २, तथा विरति चैतसिक ३ – इस प्रकार इन ५ चैतसिकोका पृथक् पृथक् ही योग करना चाहिये ।

उसी प्रकार द्वितीय द्विक मे ज्ञानवर्जित (३७ चैतसिक), तृतीय द्विक मे ज्ञानसम्प्रयुक्त एव प्रीतिवर्जित (३७ चैतसिक), चतुर्थ द्विक मे ज्ञान एवं प्रीति वर्जित वे ही (अन्यसमान+शोभन=३६ चैतसिक) सङ्गृहीत होते है ।

ग महग्गत तृतीयध्यान मे सम्प्रयुक्त चैतसिक ३३,
घ महग्गत चतुर्थध्यान मे सम्प्रयुक्त चैतसिक ३२,
ङ महग्गत पञ्चमध्यान मे सम्प्रयुक्त चैतसिक ३०
– इस प्रकार महग्गत चित्तो मे पाँच प्रकार से सङ्ग्रहनय होता है ।

[यहाँ सम्प्रयुक्त चैतसिको की सङ्ख्या मात्र दिखलायी गयी है, उनके नाम-आदि का ज्ञान मलपालि से करना चाहिये ।]

महग्गतचित्त-सङ्ग्रहनय समाप्त ।

कामावचर शोभनचित्त-सङ्ग्रहनय

४२ कामावचर आठ कुशलचित्तो मे से प्रथम दो (सौमनस्यसहगत ज्ञान-सम्प्रयुक्त असस्कारिक एव ससस्कारिक) चित्तो को प्रथम द्विक, तृतीय एव चतुर्थ (सौमनस्यसहगत ज्ञानविप्रयुक्त असस्कारिक एव ससस्कारिक) चित्तो को द्वितीय द्विक, पञ्चम एव षष्ठ (उपेक्षासहगत ज्ञानसम्प्रयुक्त असस्कारिक एव ससस्कारिक) चित्तो को तृतीय द्विक तथा सप्तम एव अष्टम (उपेक्षासहगत ज्ञानविप्रयुक्त असस्कारिक एव ससस्कारिक) चित्तो को चतुर्थ द्विक कहा जाता है ।

इसी प्रकार क्रिया एव विपाक चित्तो मे भी ४–४ द्विक होते है ।

---

* पठमद्वये ञाणसम्पयुत्ते – स्या० ।

† अट्ठत्तिस – स्या०, म० (क) ।

४३ क्रियाचित्तेसु पि विरतिवज्जिता तथेव चतूसु पि दुकेसु चतुधा व* सङ्गय्हन्ति† ।

क्रियाचित्तो मे भी विरतिवर्जित (वे ही अन्यसमान एव शोभन चैतसिक ३५) उसी प्रकार चारो द्विको मे चार प्रकार से सङगृहीत होते है ।

'अप्पमञ्ञा' चैतसिक २ एव विरति चैतसिक ३ – इस प्रकार ये ५ चैतसिक एक चित्त मे कभी भी एक साथ प्रवृत्त नही होते । जब इनमे से कोई एक चैतसिक किसी एक चित्त मे सम्प्रयुक्त होता है उस समय अन्य शेष चार चैतसिक सम्प्रयुक्त नही होते, क्योकि 'अप्पमञ्ञा' (करुणा, मुदिता) – चैतसिक सत्त्वप्रज्ञप्ति का तथा विरति चैतसिक व्यतिक्रमितव्य-वस्तु का आलम्बन करके प्रवृत्त होते है, अत इन का एक चित्त मे सहावस्थान असम्भव है[१] ।

यद्यपि 'कामावचर शोभनचित्तो के प्रथम द्विक मे ३८ चैतसिक सम्प्रयुक्त होते है' – ऐसा कहा गया है, तथापि एक बार मे (किसी एक काल मे) किसी एक चित्त मे ये ३८ चैतसिक कभी भी उपलब्ध नही होते, क्योकि अप्पमञ्ञा एव विरति – इन पाँच चैतसिको मे से कोई एक चैतसिक ही एक बार मे सम्प्रयुक्त होता है, अत किसी एक काल मे या एक बार मे अधिक से अधिक ३४ चैतसिक ही उपलब्ध होगे ।

४३ क्रियाचित्तो मे विरतियाँ नही होती, क्योकि क्रियाचित्त अर्हत् की सन्तान मे ही होते है और जिन अर्हत्-पुद्गलो ने अर्हत्-पद की प्राप्ति के पूर्व ही दुश्चरित एव दुराजीव-आदि का अशेष प्रहाण कर दिया है उन की सन्तान मे दुश्चरित दुराजीव-आदि से विरत होनेवाली विरतियाँ भला कैसे हो सकती है । लौकिक विरतियाँ क्रियाचित्तो मे सम्प्रयुक्त नही होती ।

किसी वस्तु से विरत होने के स्वभाववाले न होकर अपितु कुशल के फलमात्र होनेवाले लौकिक विपाकचित्तो मे भी विरतियाँ सम्प्रयुक्त नही हो सकती । वस्तुत – सभी विरतियाँ, एकान्त रूप से कुशलस्वभाव होने के कारण, लौकिक-अव्याकृत (विपाक एव क्रिया) – चित्तो मे सम्प्रयुक्त नही होती[२] ।

---

* स्या० मे नही ।

† सङ्गह गच्छन्ति – स्या० ।

१ "अप्पमञ्ञान हि सत्तारम्मणत्ता विरतीन च वीतिक्कमितब्बवत्थुविसयत्ता नत्थि तास एकचित्तुप्पादे सम्भवो ति ।" – विभा०, पृ० ९१ ।

२ "लोकियविरतीन एकन्तकुसलसभावत्ता नत्थि अब्याकतेसु सम्भवो ति वुत्त – 'विरतिवज्जिता' ति ।" – विभा०, पृ० ९१ ।

४४. तथा* विपाकेसु च अप्पमञ्ञाविरतिवज्जिता ते एव सङ्गय्हन्तीति† सब्बथापि चतुवीसतिकामावचरसोभनचित्तेसु दुकवसेन द्वादसधा व सङ्गहो होतीति ।

सङ्गहगाथा

४५. अट्ठतिंस‡ सत्ततिंसद्वयं§ छत्तिंसकं सुभे ।
पञ्चतिंस चतुत्तिंसद्वयं तेत्तिंसकं क्रिये ।।

४६ तेत्तिंस पाके बत्तिंसद्वयेकतिंसकं* भवे ।
सहेतुकामावचरपुञ्ञपाकक्रियामने ।।

उसी प्रकार विपाकचित्तो में भी अप्पमञ्ञा एव विरति वर्जित वे ही (३३ अन्यसमान एव शोभन चैतसिक, चारो द्विको में चार प्रकार से) सङ्गृहीत होते है। इस तरह सभी प्रकार से २४ कामावचर शोभनचित्तो मे द्विको के अनुरोध से बारह प्रकार से ही सङ्ग्रह होता है ।

कामावचर ८ कुशलचित्तो (के चार द्विको) मे क्रमश· ३८ चैतसिक, ३७ चैतसिक, पुन· ३७ चैतसिक तथा ३६ चैतसिक होते हैं। इसी प्रकार क्रियाचित्तो (के चार द्विको) मे ३५ चैतसिक, ३४ चैतसिक, पुन ३४ चैतसिक तथा ३३ चैतसिक होते है ।

विपाकचित्तो (के चार द्विको) मे ३३ चैतसिक, ३२ चैतसिक, पुनः ३२ चैतसिक तथा ३१ चैतसिक होते है । इस प्रकार सहेतुक कामावचर कुशल, विपाक एव क्रिया चित्तो मे (बारह प्रकार से सङ्ग्रहनय जानना चाहिये) ।

४४. विपाकचित्तो मे अप्पमञ्ञा एव विरतियाँ – दोनो प्रकार के चैतसिक नही होते, क्योकि कामावचर विपाकचित्त 'परित्त' नामक काम-धर्मो का ही एकान्त रूप से आलम्बन करते है तथा 'अप्पमञ्ञा' सत्त्व-प्रज्ञप्ति का आलम्बन करती है (सभी सत्त्व इनके आलम्बन होते है, अत इनका आलम्बन 'परित्त' नही होता) – इस प्रकार अप्पमञ्ञा एव कामविपाकचित्तो मे आलम्बन-भेद होने से, तथा लौकिक विरतियाँ एकान्त रूप से कुशलस्वभाव होती है और विपाकचित्त कुशल-अकुशलस्वभाव न होकर अव्याकृत होते है – इस प्रकार विरति एव विपाकचित्तो मे स्वभाव-भेद होने से, कामावचर विपाकचित्तो मे अप्पमञ्ञा एव विरतियाँ सम्प्रयुक्त नही हो सकती[1] ।

सङ्ग्रहगाथाएँ

४५–४६ कुशलचित्तो के सङ्ग्रहनय के अनन्तर विपाकचित्तो के सङ्ग्रहनय

* तथापि – रो० । † सङ्गय्हन्ति – स्या० ।
‡ अट्ठत्तिंस – म० (क) । § सत्तत्तिंस० – म० (क) ।
* द्वत्तिंस० – सी०, स्या० ।

१ "कामावचरविपाकान पि एकन्तपरित्तारम्मणत्ता अप्पमञ्ञानं च सत्तारम्मणत्ता, विरतीन एकन्तकुसलत्ता वुत्त– 'अप्पमञ्ञाविरतिवज्जिता' ति ।"–विभा०, पृ० ६१ ।

४७ न विज्जन्तेत्थ विरती* क्रियेसु† च महग्गते ।
अनुत्तरे अप्पमञ्ञा कामपाके द्वयं तथा ।।
४८ अनुत्तरे झानधम्मा अप्पमञ्ञा च मज्झिमे ।
विरती ञाणपीती‡ च परित्तेसु विसेसका ।।

शोभनचित्तो मे से महाक्रियाचित्त एव महग्गत चित्तो मे विरति-चैतसिक नही होते । लोकोत्तर चित्तो मे अप्पमञ्ञा चैतसिक नही होते । महाविपाकचित्तो मे अप्पमञ्ञा एव विरति – दोनो नही होते ।

लोकोत्तर चित्तो मे ध्यान-धर्म (वितर्क-आदि चैतसिक) विशेषक (भेदक) होते है । महग्गत चित्तों मे अप्पमञ्ञा एवं ध्यान-धर्म विशेषक होते है तथा कामावचर शोभनचित्तो मे विरति, ज्ञान, प्रीति एवं अप्पमञ्ञा विशेषक होते है ।

का वर्णन प्रसङ्गप्राप्त था, किन्तु ऐसा न कर पहले क्रियाचित्तो के सङग्रहनय को कहा गया है; क्योकि क्रियाचित्तो मे विपाकचित्तो की अपेक्षा अधिक चैतसिक सङगृहीत होते है, अत सङ्ख्या का आधिक्य दृष्टि मे रखकर क्रियाचित्तो के अनन्तर विपाकचित्तो का सङग्रहनय कहा गया है ।

	कुशल	क्रिया	विपाक
प्रथम द्विक	३८	३५	३३
द्वितीय द्विक	३७	३४	३२
तृतीय द्विक	३७	३४	३२
चतुर्थ द्विक	३६	३३	३१

कामावचरशोभनचित्त-सङ्ग्रहनय समाप्त ।

४८. इस गाथा मे लोकोत्तर, महग्गत एव कामावचर शोभनचित्तो मे परस्पर भेद करने-वाले चैतसिको को दिखलाया गया है । 'विसेसेन्तीति विसेसका' जो धर्म चित्तो का भेद करते हैं वे विशेषक हैं । जिस प्रकार 'विजानन' – इस लक्षण से चित्त एक ही प्रकार का होता है; और वही भूमि, जाति एव सम्प्रयोग-आदि भेद से अनेकविध हो जाता है, उसी प्रकार (भूमि, जाति-आदि भेद से भिन्न उन अनेकविध चित्तो में से) लोकोत्तर चित्तो का प्रथमध्यान चित्त, द्वितीयध्यान चित्त-आदि के रूप मे पुन भेद करने के लिये वितर्क-आदि ध्यानाङ्गो को यहाँ भेदक के रूप मे दिखलाया गया है[1] ।

अनुत्तरे झानधम्मा – भूमि-भेद से भिन्न लोकोत्तर चित्तो का वितर्क-आदि ध्यानाङ्ग

---

* विरति – रो० । † क्रियासु – सी०, रो०, ना० ।

‡ ञाणपीति – स्या०, रो० । १ विभा०, पृ० ९१, प० दी०, पृ० ९८ ।

पुन भेद करते है, यथा – वितर्क प्रथमध्यान चित्त मे ही सम्प्रयुक्त होता है, द्वितीयध्यान चित्त-आदि मे नही, वितर्क के इस प्रकार के सम्प्रयोग एव असम्प्रयोग के कारण 'प्रथमध्यान चित्त एक प्रकार का तथा द्वितीयध्यान चित्त (प्रथम से भिन्न) दूसरे प्रकार का है' – ऐसा इन दोनो मे 'विशेष' होता है । इस प्रकार 'वितर्क-नामक ध्यानाङ्ग' प्रथमध्यान चित्त एव द्वितीय-ध्यान चित्त-आदि चित्तो के अन्योन्यभेद का करनेवाला है । इसी प्रकार विचार, प्रीति एव सुख ध्यानाङ्गो के भेदकत्व को भी, उनके सम्प्रयोग एव असम्प्रयोग के आधार पर, समझना चाहिये ।

अपने से (ध्यानाङ्ग-आदि से) सम्प्रयुक्त चित्त 'एक' तथा अपने से असम्प्रयुक्त चित्त 'एक' – इस प्रकार परस्पर भिन्न करनेवाले धर्म को यहाँ 'विशेषक' कहा गया है ।

अप्पमञ्ञा च मज्झिमे – लोकोत्तर चित्त 'उत्तम' तथा कामावचर चित्त 'हीन' कहे जाते है । इन दोनो के मध्य मे होने के कारण, महग्गत चित्तो को 'मध्यम' (मज्झिम) कहा जाता है। इन मध्यम चित्तो मे 'अप्पमञ्ञा' चैतसिक, तथा 'च' शब्द के द्वारा ध्यान-धर्म[1] – ये दोनो 'विशेषक' होते है । 'अप्पमञ्ञा' चैतसिक प्रथम चार ध्यानो मे सम्प्रयुक्त होते है, पञ्चमध्यान मे नही – इस प्रकार इनके द्वारा पञ्चमध्यान को प्रथम चार ध्यानो से भिन्न (पृथक्) किया जाता है । अत. ये (अप्पमञ्ञाएँ) महग्गत चित्तो मे 'विशेषक' है ।

विरती . . . परित्तेसु विसेसका – कामावचर चित्तो को 'परित्त' कहते हैं । इनमे विरतियाँ, ज्ञान (प्रज्ञेन्द्रिय), एव प्रीति तथा 'च' शब्द से अप्पमञ्ञाएँ – ये धर्म 'विशेषक' है । विरतित्रय केवल कामावचर कुशलचित्तो मे ही सम्प्रयुक्त होती हैं, विपाक तथा क्रिया चित्तो मे नही – इस प्रकार ये विरतियाँ कुशलचित्तो को विपाक एवं क्रिया चित्तो से पृथक् करती है, अत ये कामावचर चित्तो मे 'विशेषक' है । 'ज्ञान' (प्रज्ञा चैतसिक) ज्ञानसम्प्रयुक्त चित्तो मे ही होता है, ज्ञानविप्रयुक्त चित्तों मे नही – इस प्रकार यह (ज्ञान) बारह ज्ञानसम्प्रयुक्त चित्तो को बारह ज्ञानविप्रयुक्त चित्तो से पृथक् (भिन्न) करता है, अत यह भी कामावचर चित्तो मे 'विशेषक' है । प्रीति, बारह सौमनस्यसहगत चित्तो मे सम्प्रयुक्त होती है, बारह उपेक्षासहगत चित्तो मे नही – इस प्रकार यह (प्रीति) बारह सौमनस्यसहगत चित्तो को बारह उपेक्षासहगत चित्तो से पृथक् (भिन्न) करती है, अत यह (प्रीति) भी कामावचर चित्तो मे 'विशेषक' है । इसी तरह 'अप्पमञ्ञा' चैतसिक कुशल एव क्रिया चित्तो मे सम्प्रयुक्त होते है, विपाकचित्तो मे नही – इस प्रकार ये (अप्पमञ्ञा चैतसिक) कुशल एव क्रिया चित्तो को विपाकचित्तो से पृथक् (भिन्न) करते है, अत ये भी कामावचर चित्तो मे 'विशेषक' है ।

शोभनचित्त-सङ्ग्रहनय समाप्त ।

---

१ ध्यान-धर्मों (वितर्क-आदि ध्यानाङ्गो) के विशेषकत्व (भेदकरत्व) को उपर्युक्त लोकोत्तर चित्तो के प्रसङ्ग मे कथित प्रकार के अनुसार समझना चाहिये ।

अकुसलचित्त-सङ्गहनयो

४९. अकुसलेसु पन लोभमूलेसु ताव पठमे असङ्खारिके अञ्ञसमाना तेरस चेतसिका, अकुसलसाधारणा चत्तारो चा* ति* सत्तरस लोभदिट्ठीहि सद्धिं एकूनवीसति धम्मा सङ्गहं गच्छन्ति ।

५०. तथेव दुतिये असङ्खारिके लोभमानेन† ।

५१. ततिये तथेव पीतिवज्जिता लोभदिट्ठीहि सह‡ अट्ठारस ।

५२ चतुत्थे तथेव लोभ-मानेन ।

५३ पञ्चमे पन पटिघसम्पयुत्ते असङ्खारिके दोसो, इस्सा, मच्छरियं, कुक्कुच्चञ्चा ति चतूहि सद्धिं पीतिवज्जिता ते एव वीसति धम्मा सङ्गय्हन्ति। इस्सा-मच्छरिय-कुक्कुच्चानि§ पनेत्थ पच्चेकमेव योजेतब्बानि ।

अकुशलचित्तो मे से (८) लोभमूलचित्तो के प्रथम असस्कारिक चित्त मे अन्यसमान चैतसिक १३, सर्व-अकुशलसाधारण चैतसिक ४ – इस प्रकार १७ चैतसिक, लोभ एव दृष्टि चैतसिक के साथ, कुल १९ चैतसिक सङ्गृहीत होते है ।

उसी प्रकार द्वितीय असस्कारिक चित्त में भी (उपर्युक्त १७ चैतसिक) लोभ एवं मान के साथ (कुल १९ चैतसिक सङ्गृहीत होते है) ।

उसी प्रकार तृतीय असस्कारिक चित्त में (उपर्युक्त १७ चैतसिको मे से), प्रीति को वर्जित कर तथा लोभ एव दृष्टि के साथ, कुल १८ चैतसिक (सङ्गृहीत होते है) ।

चतुर्थ असस्कारिक चित्त मे भी उसी प्रकार (प्रीतिवर्जित १६ चैतसिक) लोभ एव मान के साथ (कुल १८ चैतसिक सङ्गृहीत होते है) ।

तथा पञ्चम प्रतिघसम्प्रयुक्त असंस्कारिक चित्त मे (उपर्युक्त १७ चैतसिको मे से) प्रीति को वर्जित कर तथा द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य एव कौकृत्य – इस प्रकार इन चार चैतसिको के साथ वे ही २० चैतसिक सङ्गृहीत होते है ।

ईर्ष्या, मात्सर्य एव कौकृत्य – इन तीनो का पृथक् पृथक् ही योग करना चाहिये ।

अकुशलचित्त-सङ्ग्रहनय

४९–५३. इस अकुशल-सङ्ग्रह मे यहाँ ४ लोभमूल असस्कारिक चित्त तथा १ द्वेषमूल असस्कारिक चित्त – इस प्रकार कुल ५ असस्कारिक चित्तो का क्रमशः वर्णन किया गया है । ठीक इसी तरह इसके अनन्तर पाँच ससस्कारिक चित्तो का वर्णन किया गया है । इन दोनो प्रकार के चित्तो के वर्णन के अनन्तर, इनसे अवशिष्ट

- चेति – स्या० ।

† लोभमानेन सद्धिं – स्या० ।

‡ स्या० मे नही ।

§ ०मच्छेर० – स्या०, रो०, ना० ।

दो मोमूहचित्तो का वर्णन किया गया है । इन दोनो मोमूहचित्तो मे से भी औद्धत्यसहगत का पहले तथा विचिकित्सासहगत का उसके अनन्तर वर्णन किया गया है ।

इन सभी चित्तो मे सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिको का ज्ञान मूलपालि के आधार पर करना चाहिये । यदि 'सम्प्रयोगनय' का भली भाँति ज्ञान होगा तो 'विप्रयोग-नय' का ज्ञान भी अनायास ही हो जायेगा ।

प्रथम असस्कारिक चित्त मे १६ चैतसिक सम्प्रयुक्त होते है, यथा – ७ सर्वचित्तसाधारण चैतसिक तो सभी चित्तो मे सम्प्रयुक्त होते है, अत वे इस चित्त मे भी सम्प्रयुक्त होगे ही । ६ प्रकीर्णक चैतसिक भी सम्प्रयोगनय के अनुसार इसमे सम्प्रयुक्त होते है । ४ अकुशलसाधारण चैतसिक सभी अकुशलचित्तो मे सम्प्रयुक्त होते है, अत वे भी इसमे सम्प्रयुक्त होगे ही – इस तरह इसमे सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिको की सङ्ख्या अन्यसमान चैतसिक १३ एव सर्व-अकुशलसाधारण चैतसिक ४=१७ हुई ।

यह चित्त लोभमूल है, अत 'लोभ' चैतसिक तथा यह चित्त दष्टिसम्प्रयुक्त है, अत 'दृष्टि' चैतसिक – इस प्रकार ये दो चैतसिक भी इस चित्त मे सम्प्रयुक्त होते है । पूर्वोक्त १७ चैतसिक तथा ये २ चैतसिक – इस तरह कुल १६ चैतसिक इस चित्त मे सम्प्रयुक्त होते है ।

द्वितीय असस्कारिक चित्त दृष्टिविप्रयुक्त होता है अत उसमे 'दृष्टि' चैतसिक सम्प्रयुक्त नही हो सकता, किन्तु इस चित्त मे दृष्टि के स्थान मे 'मान' चैतसिक सम्प्रयुक्त होता है, अत इसमे प्रथम असस्कारिक चित्त की भाँति १६ चैतसिक ही सम्प्रयुक्त होते है ।

तृतीय एव चतुर्थ असस्कारिक चित्त उपेक्षासहगत होते है, अत. इनमे 'प्रीति' सम्प्रयुक्त नही हो सकती । प्रीतिसम्प्रयुक्त न होने से इन दोनो चित्तो मे १८ चैतसिक ही सम्प्रयुक्त होते है ।

दौर्मनस्यसहगत प्रतिघसम्प्रयुक्त असस्कारिक चित्त को 'पञ्चम असस्कारिक' कहते है । इसमे द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य एव कौकृत्य – ये ४ चैतसिक, प्रीतिवर्जित अन्यसमान १२ चैतसिक तथा सर्व-अकुशलसाधारण ४ चैतसिक – इस प्रकार कुल २० चैतसिक सम्प्रयुक्त होते है ।

इस्सा-मच्छरिय ... पच्चेकमेव योजेतब्बानि – यद्यपि ईर्ष्या, मात्सर्य एव कौकृत्य – ये तीनो चैतसिक पञ्चम असस्कारिक चित्त मे सम्प्रयुक्त होते है, तथापि इन तीनो के आलम्बन भिन्न भिन्न होने के कारण, ये एक काल मे एक साथ इस चित्त मे सम्प्रयुक्त नही होते, अपितु कभी कोई चैतसिक सम्प्रयुक्त होता है तो कभी कोई । अर्थात् एक काल मे इन तीनो मे से कोई एक चैतसिक ही सम्प्रयुक्त होता है ।

[ईर्ष्या का आलम्बन परसम्पत्ति, मात्सर्य का स्वसम्पत्ति तथा कौकृत्य का आलम्बन कृत दुश्चरित एव अकृत सुचरित होता है । इस प्रकार, इनमे आलम्बन-भेद होने के कारण, ये परस्पर सहानवस्थानस्वभाव होते है ।]

यद्यपि ऊपर कहा गया है कि पञ्चम असस्कारिक चित्त मे २० चैतसिक सम्प्रयुक्त होते है, तथापि उपर्युक्त विश्लेषण से यह ज्ञात होता है कि किसी एक

५४ ससङ्खारिकपञ्चके पि तथेव थीनमिद्धेन विसेसेत्वा योजेतब्बा।

५५ छन्दपीतिवज्जिता पन अञ्ञसमाना एकादस, अकुसलसाधारणा चत्तारो चा ति पन्नरस धम्मा उद्धच्चसहगते सम्पयुज्जन्ति।

५६ विचिकिच्छासहगतचित्ते च अधिमोक्खविरहिता विचिकिच्छासहगता तथेव पन्नरस धम्मा समुपलब्भन्तीति* सब्बथापि द्वादसाकुसलचित्तुप्पादेसु पच्चेकं योजियमानापि गणनवसेन सत्तधा व सङ्गहिता भवन्तीति।

ससस्कारिकपञ्चक मे भी उसी प्रकार (असस्कारिक चित्तो मे सम्प्रयुक्त चैतसिको को) स्त्यान एवं मिद्ध के साथ सम्मिलित करके युक्त करना चाहिये।

छन्द एवं प्रीति वर्जित अन्यसमान चैतसिक ११, अकुशलसाधारण चैतसिक ४ – इस तरह कुल १५ चैतसिक औद्धत्यसहगत चित्त मे सम्प्रयुक्त होते है।

विचिकित्सासहगत चित्त मे भी अधिमोक्षवर्जित विचिकित्सासहित उसी प्रकार १५ चैतसिक उपलब्ध होते है। इस प्रकार सर्वथा १२ अकुशलचित्तो मे पृथक् पृथक् युक्त किये जाते हुए भी गणना की दृष्टि से (वे चैतसिक) सात प्रकार से ही सङ्गृहीत होते है।

काल मे १८ से अधिक चैतसिक इस चित्त मे सम्प्रयुक्त नही रहते, क्योकि ईर्ष्या, मात्सर्य एव कौकृत्य मे से कोई एक ही इसमे सम्प्रयुक्त होगा।

अपिच – पूर्वोक्त तीनो चैतसिक अनियतयोगी है, अर्थात् इनका योग अनिवार्य नही है। जब परसम्पत्ति-आदि आलम्बन होगे तो ईर्ष्या-आदि होगे, अन्यथा नही – इस तरह, किसी कालविशेष मे आलम्बन के उपस्थित न होने पर, ये तीनो चैतसिक इसमे सम्प्रयुक्त न हो – ऐसी स्थिति भी हो सकती है और ऐसी अवस्था मे इन तीनो के न होने पर इस चित्त मे कभी १७ चैतसिक भी सम्प्रयुक्त रह सकते है।

५४. सौमनस्यसहगत दृष्टिगतसम्प्रयक्त ससस्कारिक चित्त-आदि पाँच ससस्कारिक चित्तो मे सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिको के सम्प्रयोग का ज्ञान, पूर्वोक्त पाँच असस्कारिक चित्तो मे कथित चैतसिको के साथ स्त्यान एव मिद्ध को मिलाकर, करना चाहिये। यथा – प्रथम असस्कारिक चित्त मे सम्प्रयुक्त होनेवाले १९ चैतसिको मे पुन स्त्यान एव मिद्ध को मिलाने से – प्रथम ससस्कारिक चित्त मे सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिक २१ होते है। इसी प्रकार द्वितीय ससस्कारिक-आदि चित्तो मे सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिको की सङ्ख्या, द्वितीय असस्कारिक-आदि चित्तो से सम्प्रयुक्त चैतसिको मे स्त्यान एव मिद्ध को मिलाकर, जाननी चाहिये।

	प्रथम	द्वितीय	तृतीय	चतुर्थ	पञ्चम
असस्कारिक	१९	१९	१८	१८	२०
ससस्कारिक	२१	२१	२०	२०	२२

---

* लब्भन्ति – स्या०।

सङ्गहगाथा

५७ एकूनवीसाट्ठारस* वीसेकवीस वीसति।
द्वावीसा† पन्नरसेति‡ सत्तधाकुसले ठिता॥

५८. साधारणा च चत्तारो समाना च दसापरे।
चुद्दसेते पवुच्चन्ति सब्बाकुसलयोगिनो॥

अकुशलचित्तो में सङ्ग्रहनय – उन्नीस, अठारह, बीस, इक्कीस, बीस, बाईस तथा पन्द्रह – इस तरह सात प्रकार से स्थित है।

अकुशलसाधारण चैतसिक ४ तथा छन्द-अधिमोक्ष-प्रीतिवर्जित अन्यसमान चैतसिक १० – इस प्रकार ये १४ चैतसिक 'सर्व-अकुशलयोगी' कहे जाते है।

अहेतुकचित्त-सङ्गहनयो

५९. अहेतुकेसु पन हसनचित्ते ताव छन्दवज्जिता अञ्ञसमाना द्वादस धम्मा सङ्गहं गच्छन्ति।

६०. तथा वोट्ठपने छन्दपीतिवज्जिता।

(१८) अहेतुक चित्तो में से हसनचित्त मे छन्दवर्जित अन्यसमान १२ चैतसिक सङ्गृहीत होते है।

उसी प्रकार वोट्ठपन (व्यवस्थापन) चित्त मे छन्द एव प्रीति वर्जित (वे ही ११ अन्यसमान चैतसिक सङ्गृहीत होते है)।

सङ्ग्रहगाथा

५७. आठ लोभसहगत चित्तो के प्रथम असस्कारिक एव द्वितीय असस्कारिक चित्त मे १९ चैतसिक* प्राप्त होते है। तृतीय असस्कारिक एव चतुर्थ असस्कारिक चित्त मे १८ चैतसिक, पञ्चम असस्कारिक चित्त मे २० चैतसिक, प्रथम ससस्कारिक एव द्वितीय ससस्कारिक चित्त मे २१ चैतसिक, तृतीय ससस्कारिक एव चतुर्थ ससस्कारिक चित्त मे २० चैतसिक, पञ्चम ससस्कारिक चित्त मे २२ चैतसिक, मोमूहद्वय मे १५ चैतसिक – इस तरह अकुशल चित्तो मे सात प्रकार से चैतसिको का सङ्ग्रह होता है।

[यहाँ चैतसिको की केवल सङ्ख्या दिखलायी गयी है, सङ्ख्येयो का परिज्ञान मूलपालि से करना चाहिये।]

अकुशलचित्त-सङ्ग्रहनय समाप्त।

अहेतुकचित्त-सङ्ग्रहनय

५९–६३. हसितोत्पादचित्त ही 'हसनचित्त' है। मनोद्वारावर्जन को 'वोट्ठपन' कहते है। 'वि' तथा 'अव' उपसर्गपूर्वक 'ठा' धातु से 'यु' प्रत्यय होने पर 'वोट्ठपन' शब्द

---

* एकूनवीसट्ठारस – सी०, स्या०, ना०।

† बावीस – स्या०।

‡ पण्णरसाति – स्या०।

६१ सुखसन्तीरणे छन्दवीरियवज्जिता।

६२ मनोधातुत्तिकाहेतुकपटिसन्धियुगले* छन्दपीतिवीरियवज्जिता।

६३ द्विपञ्चविञ्ञाणे† पकिण्णकवज्जिता ते येव‡ सङ्गय्हन्तीति सब्बथापि अट्ठारससु अहेतुकेसु गणनवसेन चतुधा व सङ्गहो होतीति।

सङ्गहगाथा

६४. द्वादसेकादस दस सत्त चा ति चतुब्बिधो।
अट्ठारसाहेतुकेसु चित्तुप्पादेसु सङ्गहो॥

सुखसन्तीरण मे छन्द तथा वीर्य वर्जित (वे ही ११ अन्यसमान चैतसिक सङ्गृहीत होते हैं)।

मनोधातुत्रिक (पञ्चद्वारावर्जन एव दो सम्पटिच्छन) एव अहेतुक-प्रतिसन्धियुगल (दो उपेक्षा-सन्तीरण) मे छन्द, प्रीति एवं वीर्य वर्जित (वे ही १० अन्यसमान चैतसिक सङ्गृहीत होते हैं)।

द्विपञ्चविज्ञान मे प्रकीर्णक चैतसिको से वर्जित वे ही (७ अन्यसमान चैतसिक) सङ्गृहीत होते है। इस प्रकार सर्वथा १८ अहेतुक चित्तो मे, गणना की दृष्टि से, (चैतसिको का) चार प्रकार से ही सङ्ग्रह होता है।

१८ अहेतुक चित्तोत्पाद मे सङ्ग्रहनय – बारह, ग्यारह, दस तथा सात – इस प्रकार चतुर्विध होता है।

निष्पन्न होता है। अहेतुक कुशलविपाक सौमनस्यसहगत सन्तीरण को 'सुखसन्तीरण' कहा गया है। पञ्चद्वारावर्जन एव दोनो सम्पटिच्छन चित्तो को 'मनोधातुत्रय' कहते है। दोनो उपेक्षासहगत सन्तीरण 'अहेतुकप्रतिसन्धियुगल' कहे जाते है।

इनमे चैतसिको के सम्प्रयोग एव विप्रयोग को मूलपालि से जानना चाहिये।

इन अठारह अहेतुक चित्तो मे सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिको का चतुर्विध सङ्ग्रहनय अग्रिम गाथा से जाना जा सकता है।

सङ्ग्रहगाथा

६४. अहेतुक चित्तो मे सम्प्रयुक्त चैतसिको का चतुर्विध सङ्ग्रहनय इस प्रकार है –

१ हसितोत्पाद से सम्प्रयुक्त	१२
२. वोट्ठपन } से सम्प्रयुक्त ३. सुखसन्तीरण }	११
४ मनोधातुत्रय एव प्रतिसन्धियुगल से सम्प्रयुक्त	१०
५ द्विपञ्चविज्ञान से सम्प्रयुक्त	७

---

* मनोधातुतिका० – स्या०, ०युगळे – म० (क), ०युगते – रो०।

† द्विपञ्चविञ्ञाणेसु – स्या०। ‡ एव – स्या०।

६५. अहेतुकेसु सब्बत्थ सत्त सेसा यथारहं।
इति वित्थारतो वुत्तो* तेत्तिसविधसङ्गहो* ॥

सभी अहेतुक चित्तो मे सर्वचित्तसाधारण ७ चैतसिक सम्प्रयुक्त होते है। शेष (छन्दवर्जित ५ प्रकीर्णक चैतसिक) यथायोग्य सम्प्रयुक्त होते है।

इस प्रकार विस्तार से तैंतीस प्रकार का सङग्रहनय कहा गया है।

निगमनं

६६. इत्थं चित्तावियुत्तानं सम्पयोगञ्च सङ्गहं।
ञत्वा भेदं यथायोगं चित्तेन सममुद्दिसे ॥

इति अभिधम्मत्थसङ्गहे चेतसिकसङ्गहविभागो नाम
दुतियो परिच्छेदो।

इस प्रकार चित्तो मे सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिको के सम्प्रयोग एव सङग्रह नय को जानकर यथायोग चित्त के समान उनका भेद कहे।

इस प्रकार 'अभिधम्मत्थसङ्गह' मे 'चैतसिकसङग्रहविभाग' नामक
द्वितीय परिच्छेद समाप्त।

---

६५. अन्यसमान १३ चैतसिको मे से सर्वचित्तसाधारण ७ चैतसिक सब अहेतुक चित्तो मे पाये जाते है। अवशिष्ट ६ प्रकीर्णक चैतसिको मे से छन्द चैतसिक किसी भी अहेतुक चित्त मे सम्प्रयुक्त नही होता। छन्दवर्जित ५ प्रकीर्णक चैतसिक अहेतुक चित्तो मे यथायोग्य सम्प्रयुक्त होते है। इनके सम्प्रयोग का ज्ञान सम्प्रयोगनय से करना चाहिये।

अहेतुकचित्त-सङ्ग्रहनय समाप्त।

इति वित्थारतो वुत्तो – यहाँ सम्पूर्ण ८९ चित्तो मे सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिको का सङ्ग्रहनय प्रदर्शित किया गया है। इन चित्तो मे चैतसिको का विस्तार से तैंतीस प्रकार का सङ्ग्रह होता है, यथा –

लोकोत्तर चित्तो मे – पाँच प्रकार का, महग्गत चित्तो मे – पाँच प्रकार का, सहेतुक कामावचर चित्तो मे – बारह प्रकार का, अकुशल चित्तो मे – सात प्रकार का, तथा अहेतुक चित्तो मे – चार प्रकार का, इस तरह चैतसिको का विस्तार से तैंतीस प्रकार का सङ्ग्रहनय कहा गया है।

सङ्ग्रहनय समाप्त।

निगमन

६६. इस चैतसिक प्रकरण मे दो प्रकार के नय का वर्णन किया गया है, यथा – (क) सम्प्रयोगनय एव (ख) सङ्ग्रहनय।

- वुत्ता तेत्तिसविधसङ्गहा – स्या०।

चाहिये ।) 'छन्द' चैतसिक छन्द एव विचिकित्सा वर्जित ५०, 'वीर्य' चैतसिक वीर्यवर्जित ५१, 'प्रीति' चैतसिक प्रीति, द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य, कौकृत्य एव विचिकित्सा वर्जित ४६ चैतसिको से सम्प्रयुक्त होता है ।

अकुशलराशि – इसके अन्तर्गत विद्यमान 'मोह' चैतसिक १२ अकुशलचित्तो में सम्प्रयुक्त होता है । १२ अकुशलचित्त २७ चैतसिको से सम्प्रयुक्त होते है । २७ चैतसिको मे एक 'मोह' चैतसिक भी है तथा 'मोह' चैतसिक 'मोह' चैतसिक से सम्प्रयुक्त नही हो सकता, अत निष्कर्ष यह निकला कि 'मोह' चैतसिक मोहवर्जित २६ चैतसिको से सम्प्रयुक्त होता है । इसी प्रकार 'आह्रीक्य', 'अनपत्राप्य' एव 'औद्धत्य' नामक सर्व-अकुशलसाधारण चैतसिको को भी जानना चाहिये ।

'लोभ' चैतसिक आठ लोभमूलचित्तो मे सम्प्रयुक्त होता है । ये ८ लोभमूलचित्त २२ चैतसिको से सम्प्रयुक्त होते है । 'लोभ' चैतसिक 'लोभ' चैतसिक के साथ सम्प्रयुक्त नही होता, अत यह २१ चैतसिको से ही सम्प्रयक्त होता है ।

'दृष्टि' चैतसिक दृष्टिगतसम्प्रयुक्त चार चित्तो मे सम्प्रयक्त होता है । ये ४ चित्त २१ चैतसिको से सम्प्रयुक्त होते है । इन २१ चैतसिको मे विद्यमान 'दृष्टि' चैतसिक से 'दृष्टि' चैतसिक सम्प्रयुक्त नही होता । अत 'दृष्टि' चैतसिक २० चैतसिको से ही सम्प्रयुक्त होता है ।

'मान' चैतसिक दृष्टिगतविप्रयुक्त चार चित्तो मे सम्प्रयुक्त होता है । ये ४ चित्त २१ चैतसिको से सम्प्रयुक्त होते है । 'मान' चैतसिक 'मान' के साथ सम्प्रयुक्त नही होता, अत 'मान' चैतसिक २० चैतसिको से ही सम्प्रयुक्त होता है ।

'द्वेष' चैतसिक दो द्वेषमूलचित्तो मे सम्प्रयुक्त होता है । ये दो चित्त २२ चैतसिको से सम्प्रयुक्त होते है । इनमे से द्वेष को वर्जित कर 'द्वेष' चैतसिक २१ चैतसिको से ही सम्प्रयुक्त होता है ।

'ईर्ष्या' चैतसिक दो द्वेषमूलचित्तो मे सम्प्रयुक्त होता है । ये २ चित्त २२ चैतसिको से सम्प्रयुक्त होते है । इनमे विद्यमान ईर्ष्या से 'ईर्ष्या' चैतसिक का सम्प्रयोग नही होगा तथा जब इनमे 'ईर्ष्या' विद्यमान है तब इनमे मात्सर्य एव कौकृत्य भी नही रहेंगे, क्योकि यह कहा ही जा चुका है कि ये तीनो परस्पर 'सहानवस्थानलक्षण' है, अत. 'ईर्ष्या' चैतसिक के साथ १९ चैतसिक ही सम्प्रयुक्त होते है ।

इसी प्रकार 'मात्सर्य' एव 'कौकृत्य' को भी समझना चाहिये ।

'स्त्यान' (थीन) चैतसिक ५ ससस्कारिक चित्तो मे सम्प्रयुक्त होता है । ये ५ ससस्कारिक चित्त २६ चैतसिको से सम्प्रयुक्त होते है । 'स्त्यान' का 'स्त्यान' के साथ सम्प्रयोग नही होता, अत 'स्त्यान' चैतसिक २५ चैतसिको के साथ सम्प्रयुक्त होता है ।

इसी प्रकार 'मिद्ध' को भी जानना चाहिये ।

'विचिकित्सा' चैतसिक विचिकित्सासहगत चित्त मे सम्प्रयुक्त होता है । यह चित्त १५ चैतसिको से सम्प्रयुक्त होता है । 'विचिकित्सा' चैतसिक का 'विचिकित्सा' चैतसिक से सम्प्रयोग नही होता, अत 'विचिकित्सा' चैतसिक १४ चैतसिको से ही सम्प्रयुक्त होता है ।

शोभनराशि – इसमे विद्यमान 'श्रद्धा' चैतसिक ५९ शोभनचित्तो मे सम्प्रयुक्त होता है। ये ५९ चित्त ३८ चैतसिको से सम्प्रयुक्त होते है। इनमे 'श्रद्धा' चैतसिक का 'श्रद्धा' चैतसिक से सम्प्रयोग नही होता। अत 'श्रद्धा' चैतसिक श्रद्धावर्जित ३७ चैतसिको से ही सम्प्रयुक्त होता है।

'श्रद्धा' की ही भाँति अवशिष्ट १८ शोभनसाधारण चैतसिको के साथ सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिको के 'तदुभयमिश्रकनय' को भी जानना चाहिये।

'सम्यग्वाक्' (सम्मावाचा) चैतसिक ८ महाकुशल एव ८ लोकोत्तर चित्तो मे सम्प्रयुक्त होता है। ये १६ चित्त ३८ चैतसिको से सम्प्रयुक्त होते है। जब 'सम्यग्वाक्' चैतसिक होता है तब वहाँ 'अप्पमञ्ञा' चैतसिक नही होते। अत 'सम्यग्वाक्' चैतसिक ३८ चैतसिको मे से 'सम्यग्वाक्' एव अप्पमञ्ञा-द्वयवर्जित ३५ चैतसिको से ही सम्प्रयुक्त होता है।

इसी प्रकार 'सम्यक्कर्मान्त' एव 'सम्यगाजीव' को भी जानना चाहिये।

'करुणा' चैतसिक ८ महाकुशल, ८ महाक्रिया एव पञ्चमध्यानवर्जित १२ महग्गत – इस प्रकार कुल २८ चित्तो मे सम्प्रयुक्त होता है। ये २८ चित्त ३८ चैतसिको से सम्प्रयुक्त होते है। जब 'करुणा' चैतसिक होता है तब वहाँ विरतित्रय एव 'मुदिता' चैतसिक नही होते, क्योकि ये परस्पर 'सहानवस्थानलक्षण' है, अत 'करुणा' चैतसिक करुणा, विरतित्रय एव मुदिता वर्जित ३३ चैतसिको से ही सम्प्रयुक्त होता है।

इसी प्रकार 'मुदिता' को भी समझना चाहिये।

'प्रज्ञा' (पञ्ञा) चैतसिक ४७ चित्तो मे सम्प्रयुक्त होता है। ये ४७ चित्त ३८ चैतसिको से सम्प्रयुक्त होते है। 'प्रज्ञा' का 'प्रज्ञा' के साथ सम्प्रयोग नही हो सकता, अत 'प्रज्ञा' चैतसिक प्रज्ञावर्जित ३७ चैतसिको से ही सम्प्रयुक्त होता है।

[यह उपर्युक्त 'तदुभयमिश्रकनय' अभिधर्मशास्त्र को हृदयङ्गम करने मे अत्यन्त उपयोगी है, अत सम्प्रयोगनय एव सङ्ग्रहनय के साथ इसका पुन पुन सम्यग् अभ्यास करना चाहिये।]

अभिधर्मप्रकाशिनी व्याख्या मे चैतसिकसङ्ग्रहविभाग नामक
द्वितीय परिच्छेद समाप्त।

ततियो परिच्छेदो

पकिण्णकसङ्गहविभागो

१. सम्पयुत्ता यथायोगं तेपञ्ञास सभावतो।
चित्तचेतसिका धम्मा तेसं दानि यथारहं॥

२. वेदनाहेतुतो किच्चद्वारालम्बनवत्थुतो* ।
चित्तुप्पादवसेनेव सङ्गहो नाम नीयते† ॥

यथायोग सम्प्रयुक्त स्वभावत ५३ चित्त-चैतसिक (चित्त १+ चैतसिक ५२=५३) धर्मो का पहले निर्देश किया गया है, अब उन (धर्मो) के, यथायोग्य वेदना, हेतु, कृत्य, द्वार, आलम्बन एव वस्तु भेद से ('वेदनासङ्ग्रह' आदि प्रकीर्णको के) 'सङ्ग्रह' का, चित्तो के वश से उपन्यास किया जाता है। (अर्थात् चित्तो के वश से वर्णन किया जाता है)।

प्रकीर्णकसङ्ग्रह विभाग

१ २ चित्त एव चैतसिक धर्मो का पृथक् पृथक् वर्णन करके अब पुन दोनो का संयुक्त वर्णन करने के लिये 'सम्पयुत्ता यथायोग ' आदि गाथा के द्वारा प्रकरणारम्भ किया जाता है।

चित्त स्वभाव से अपने 'आलम्बन-विजानन' लक्षण के द्वारा एक प्रकार का ही है। वही भूमि, जाति-आदि भेद से ८९ प्रकार का हो जाता है। इन ८९ चित्तो में सम्प्रयुक्त होनेवाला 'स्पर्श' चैतसिक यद्यपि ८९ प्रकार का होता है, किन्तु अपने स्पर्शन-लक्षण से वह भी एक प्रकार का ही है। इसी प्रकार वेदना, सज्ञा-आदि को भी जानना चाहिये। अत चित्त १ तथा चैतसिक ५२ – इस प्रकार कुल ५३ धर्म होते हैं। इन ५३ धर्मों का यहाँ वेदनासङ्ग्रह, हेतुसङ्ग्रह-आदि भेद से छह प्रकार का सङ्ग्रह करके वर्णन किया जायेगा। 'चित्तुप्पादवसेनेव' – मे प्रयुक्त 'एव'-कार के द्वारा इस षड्विध सङ्ग्रह मे केवल चित्तो का ही सङ्ग्रह होता है, चैतसिको का नही, अत 'चित्तुप्पाद' (चित्तोत्पाद) शब्द से 'चित्त' का ही ग्रहण करना चाहिये[१]। ऐसा होने पर भी, चित्तो के आधार पर, उनसे सम्प्रयुक्त चैतसिक-धर्मों को भी जाना जा सकता है।

प्रकीर्णक – कुछ आचार्य चित्त एव चैतसिक धर्मों का मिश्रित वर्णन होने के कारण 'वेदनासङ्ग्रह' आदि एक एक सङ्ग्रह को 'प्रकीर्णकसङ्ग्रह' कहते हैं, क्योकि

---

* ०द्वारारम्मण० ना०, ०द्वारालम्बणवत्थुको – रो०, ० द्वारालम्बण० – म० (ख)।

† नीय्यते – सी०, निय्यते – रो०।

१ "चित्तुप्पादवसेनेवा ति – चित्तवसेनेव, निय्यते ति सम्बन्धो। 'एव'-सद्देन चेतसिके निवत्तेति।" – प० दी०, पृ० १००।

वेदनासङ्गहो

३ तत्थ वेदनासङ्गहे ताव तिविधा वेदना – सुखं,* दुक्खं*, अदुक्खमसुखा चेति† । सुखं, दुक्खं, सोमनस्सं, दोमनस्सं, उपेक्खा ति च भेदेन‡ पन पञ्चधा होति ।

वहाँ (वेदनासङग्रह मे) सुखा, दु खा तथा अदु खासुखा – इस प्रकार त्रिविध वेदना है । सुख, दु ख, सौमनस्य, दौर्मनस्य एव उपेक्षा – इस प्रकार के भेद से वेदनाएँ पाँच प्रकार की भी होती है ।

प्रथम 'चित्त परिच्छेद' मे केवल चित्तो का तथा द्वितीय 'चैतसिक परिच्छेद' मे केवल चैतसिको का वर्णन किया गया है । यहाँ पर दोनो (चित्त-चैतसिको) का सयुक्त वर्णन होने के कारण वे 'वेदनासङग्रह' आदि एक एक सङग्रह को 'प्रकीर्णकसङग्रह' कहते है[1] ।

'सङ्गहो नाम' मे प्रयुक्त 'नाम' शब्द से आचार्य अनुरुद्ध 'वेदनासङग्रह,' 'हेतु-सङग्रह'-आदि सज्ञा करके उन 'वेदनासङग्रह' आदि छह सङग्रहो को प्रकीर्ण रूप मे रखकर अन्त मे 'इति अभिधम्मत्थसङ्गहे पकिण्णकसङ्गहविभागो नाम ततियो परिच्छेदो' के द्वारा 'प्रकीर्णकसङग्रह' – इस नाम से निगमन करते है ।

पुनश्च – ग्रन्थकार के 'नामरूपपरिच्छेद' नामक ग्रन्थ मे भी 'समुच्चयसङग्रह' के सदृश सङग्रह के अनन्तर, न कि चित्त-चैतसिको के अनन्तर –

"इतो पर किच्चतो च द्वारालम्बणवत्थुतो ।
भूमिपुग्गलतो ठाना सङ्खिपित्वान निय्यते[2] ।।"

– इस प्रकार प्रतिज्ञा करके कृत्य, द्वार, आलम्बन, वस्तु, भूमि एवं पुद्गल-आदि को प्रकीर्ण रूप मे रखनेवाले परिच्छेद का 'इति नामरूपपरिच्छेदे पकिण्णकसङ्गह-विभागो नाम चतुत्थो परिच्छेदो' – इस प्रकार निगमन किया गया है । अत कुछ आचार्यो का उपर्युक्त वाद आचार्य के मत से असङ्गत प्रतीत होता है ।

वेदनासङग्रह

३ 'विभावनी' की "सुखादिवेदनान तसहगतचित्तुप्पादान च विभागवसेन सङ्गहो वेदनासङ्गहो[3]" – इस व्याख्या के अनुसार 'वेदनासङ्गहो' इस शब्द का 'वेदनायो च

- सुखा, दुक्खा – सी०, स्या०, ना० ।

† चा ति – ना० । ‡ पभेदेन – स्या० ।

१ "यथायोग सम्पयुत्ता सभावतो तेपञ्ञास चित्त-चेतसिका ये धम्मा मया विसु विसु निद्दिट्ठा, इदानि यथारह तेस उभिन्न सङ्गहो नाम निय्यते – ति योजना ।" – प० दी०, पृ० १०० ।

२ नाम० परि० २१०-२११ का०, पृ० १७ ।

३. द्र० – विभा०, पृ० ९३ ।

वेदनासहगतचित्तुप्पादा च वेदनायो'–ऐसा एकशेष समास कर के अर्थात् 'वेदना' शब्द के द्वारा 'वेदनाभेद' एव 'वेदना से सम्प्रयुक्त चित्तोत्पाद' का ग्रहण करके 'वेदनान सङ्गहो वेदनासङ्गहो'–इस प्रकार विग्रह किया जाना चाहिये। अर्थात् यह सङग्रह 'तिविधा वेदना पञ्चधा होति'–इस प्रकार वेदना-भेद का भी तथा 'तत्थ सुखसहगत' आदि के द्वारा वेदना से सम्प्रयुक्त चित्तो का भी सङग्रह करता है। अत 'वेदनान सङ्गहो वेदनासङ्गहो'–ऐसा विग्रह होना चाहिये।

किन्तु–'तिविधा वेदना' आदि के द्वारा यहाँ वेदना के भेदो का सङग्रह करना प्रधान नही, अपितु इस 'वेदनासङग्रह' के द्वारा, वेदना-भेद से चित्तो की गणना अभीष्ट होने के कारण, सयोगवश वेदना-भेद को भी दिखलाया गया है। अत विभावनीकार का उपर्युक्त मत आचार्य का अभिप्रेत नही हो सकता।

परमत्थदीपनीकार के मत मे 'विभावनी' की उपर्युक्त व्युत्पत्ति सुन्दर नही है। उनका कहना है कि यहाँ वेदनाओ का भेद, उन वेदनाओ के निश्रयभूत धर्मो (सम्प्रयुक्त चित्त-चैतसिक धर्मो) के परिग्रहणार्थ किया गया है, वेदनाओ का पृथक् सङग्रह दिखलाने के लिये नही। सम्प्रयुक्त धर्मो का वर्णन अभिप्रेत होने पर भी, उस वर्णन की पूर्णता के लिये, वेदनाओ के भेद को भी दिखलाया गया है। अत परमत्थदीपनीकार के अनुसार "वेदनातो सङ्गहो वेदनासङ्गहो" (वेदनावश सङग्रह वेदनासङग्रह है)–ऐसा विग्रह करना चाहिये[1]।

वेदना-भेद–'सुत्तपिटक' के 'सयुत्तनिकाय' आदि ग्रन्थो मे 'वेदना एक ही है', 'वेदना द्विविध है' आदि कहा गया है[2]। तथा 'अभिधम्मपिटक' के 'धम्मसङ्गणि' ग्रन्थ की मातिका मे वेदनाओ को तीन प्रकार की[3] तथा 'विभङ्ग' मे उन्हे पाँच प्रकार की कहा गया है[4]। आचार्य अनुरुद्ध ने 'अभिधम्मपिटक' को ही अपने इस ग्रन्थ का आधार बनाया है, अत उसी के अनुसार उन्होने वेदनाओ का त्रिविध एव पञ्चविध भेद किया है। उनमे से (धम्मसङ्गणि के) प्रथम प्रकार को 'आलम्बनानुभवननय' तथा (विभङ्ग के) द्वितीय प्रकार को 'इन्द्रियभेदनय' कहते है।

"सब्बे सङ्खारा दुक्खा" के अनुसार सभी सस्कार धर्म दु ख है–इस अभिप्राय को लक्ष्य करके 'सभी वेदनाएँ भी दु ख ही है' और इसीलिये 'वेदना एक है'–ऐसा कहा गया है[5], तथा अकुशलविपाक-उपेक्षावेदना अनिष्ट होने के कारण उसका दु खावेदना मे समावेश करके और अन्य शेष वेदनाओ का सुखावेदना मे समावेश करके 'वेदनाएँ

---

१ द्र०–प० दी०, पृ० १०१।

२ स० नि०, चतु० भा०, पृ० १६८-१६६, २०३।

३ ध० स०, पृ० ३।

४ विभ०, पृ० १५६, १५८।

५. विभा०, प० ६४।

दो (दुःखा एवं सुखा) प्रकार की है' – ऐसा भी कहा गया है[1]। अनवद्य (कुशल)-उपेक्षा-वेदना तथा अव्याकृत-उपेक्षावेदना, शान्तस्वभाव होने के कारण, उनका सुखावेदना मे अन्तर्भाव करके तथा सावद्य (अकुशल)-उपेक्षावेदना का दुःखा वेदना मे अन्तर्भाव करके 'सुखा एवं दुःखा' – इस प्रकार भी वेदना का द्वैविध्य कहा गया है[2]।

इस प्रकार का वेदना-भेद मुख्य नही होता, अपितु सूत्रान्त का पर्यायमात्र होता है, अतः आचार्य ने प्रस्तुत ग्रन्थ मे इस प्रकार के भेद का वर्णन नही किया है[3]।

आलम्बनानुभवननय – सुखावेदना इष्ट-आलम्बनानुभवनलक्षण है, दुःखावेदना अनिष्ट-आलम्बनानुभवनलक्षण है तथा अदुःखासुखावेदना इष्टमध्यस्थ-आलम्बनानुभवनलक्षण है। इस प्रकार आलम्बन के 'अनुभवनलक्षण' के आधार पर वेदनाएँ तीन प्रकार की कही गयी हैं[4]।

---

१ स० नि०, चतु० भा०, पृ० १९८-१९९, २०३, "उपेक्खा पन अकुसल-विपाकभूता अनिट्ठत्ता दुक्खे अवरोधेतब्बा, इतरा इट्ठत्ता सुखेति सा दुक्ख विय सुख विय च होतीति सक्का वत्तु ति।" – विभ० मू० टी०, पृ० १२१।

२ "ननु च 'द्वे मा भिक्खवे! वेदना – सुखा, दुक्खा' ति वचनतो द्वे एव वेदना ति? सच्च, त पन अनवज्जपक्खिक अदुक्खमसुख सुखवेदनाय, सावज्ज-पक्खिक च दुक्खवेदनाय सङ्गहेत्वा वुत्त।" – विभा०, पृ० ९३-९४, मणि०, प्र० भा०, पृ० २७९।

३ प० दी० मे वेदनाओ का अतिविस्तार से वर्णन किया गया है, वहाँ वेदना के २, ३, ५, ६, १८, ३६ आदि कई भेद दिखाये गये हैं, अतः उन्हे वही देखना चाहिये। द्र० – प० दी०, पृ० १०१-१०२।

तु० – "तज्जा षड्वेदना पञ्च, कायिकी चैतसी परा।
पुनश्चाष्टादशविधा, सा मनोपविचारतः॥"
– अभि० को० ३ ३२ का०, पृ० ३३५।

"कतमो वेदनास्कन्धः? वेदनानुभवः षड्विधः स्पर्शजः। द्विविधा वेदना – कायवेदना, मनोवेदना च। त्रिविधा वेदना – दुःखा वेदना, सुखा वेदना, अदुःखासुखा वेदना च। चतुर्विधा वेदना – कायव्याकृता, अव्याकृता, मनोव्याकृता, अव्याकृता च। पञ्चविधा वेदना – पञ्च वेदनेन्द्रियाणि (सुखम्, दुःखम्, सौमनस्यम्, दौर्मनस्यमुपेक्षा च)। षोढा वेदना – चक्षुःसस्पर्शजा वेदना, श्रोत्र० घ्राण० जिह्वा० काय० मनःसस्पर्शजा वेदना च। अष्टादशविधा वेदना – चक्षुराद्या (षड्वेदना) ससुखसौमनस्या (सदुःखदौर्मनस्या) सोपेक्षाश्च। षट्त्रिंशद्विधा वेदना – अष्टादशविधा वेदना कुशला, अकुशला च। अष्टोत्तरशतविधा वेदना – अतीतानागत-प्रत्युत्पन्नैः प्रविभक्ता षट्त्रिंशत्। प्रतिसत्त्वं क्षणे क्षणे समुद्यन्त्य-सङ्ख्येया वेदना इति वेदनास्कन्धः।" – अभि० मृ०, पृ० ५३।

४ "तत्थ सभावतो इट्ठानिट्ठफोट्ठब्बानुभवनलक्खणानि सुखदुक्खानि, सभावतो परिकप्पतो वा इट्ठानिट्ठमज्झत्तानुभवनलक्खणानि इतरानीति।" – प० दी०, पृ० १०२, विभा०, पृ० ९४।

४. तत्थ सुखसहगतं कुसलविपाकं कायविञ्ञाणमेकमेव, तथा दुक्खसहगतं अकुसलविपाकं* ।

इन पञ्चविध वेदनाओ में से सुखावेदना के साथ सम्प्रयुक्त होनेवाला कुशलविपाक कायविज्ञानचित्त एक ही है, उसी प्रकार दु खावेदना के साथ सम्प्रयुक्त होनेवाला चित्त (भी) अकुशलविपाक कायविज्ञानचित्त (एक ही है) ।

इन्द्रियभेदनय – जब सुख होता है तब जो स्कन्ध मे सुख होता है उसे 'कायिक सुख' (कायद्वार मे उत्पन्न सुख) कहते है। इष्ट स्प्रष्टव्यालम्बन का अनुभव करते समय, उस अनुभव मे आधिपत्य होने के कारण, इसे ही 'सुखेन्द्रिय' भी कहते हैं।

जब सुख होता है तब चित्त मे जो सुख होता है उसे 'चैतसिक सुख' (चित्त से सम्प्रयुक्त सुख) कहते है। सुन्दर मन का भाव होने से इसे ही 'सौमनस्य' तथा स्प्रष्टव्यालम्बन से अतिरिक्त अन्य इष्ट आलम्बनो का अनुभव करते समय, उस अनुभव मे आधिपत्य होने के कारण इसे ही 'सौमनस्येन्द्रिय' भी कहते है।

दु खेन्द्रिय एव दौर्मनस्येन्द्रिय को सुखेन्द्रिय एव सौमनस्येन्द्रिय से विपरीतरूप मे समझना चाहिये।

उपेक्षावेदना उपर्युक्त सुखेन्द्रिय अथवा दु खेन्द्रिय की भाँति स्कन्ध (काय) से विशिष्ट होने के लिये उस (स्कन्ध) का न तो अनुग्रह (उपकार) ही और न उपघात ही कर सकती है, अत 'कायिक उपेक्षावेदना' नामक कोई वेदना न होकर केवल 'चैतसिक-उपेक्षा' नामक एक उपेक्षेन्द्रिय ही होती है।

इस प्रकार इन्द्रिय-भेद से वेदनाएँ पञ्चविध होती हैं[1]।

४ सुखावेदना के साथ सम्प्रयुक्त होनेवाला अहेतुक कुशलविपाकचित्त एक है। इसके साथ सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिक 'सर्वचित्तसाधारण' सात है, किन्तु इन सात चैतसिको मे ही एक वेदना चैतसिक भी है, और 'वेदना चैतसिक' का वेदना चैतसिक के साथ सम्प्रयोग नही होता, अत सुखावेदना के साथ छह चैतसिक ही सम्प्रयुक्त होते है।

---

* अकुसलविपाक कायविञ्ञाण – सी०, स्या०।

१ "एत्थ च येसु धम्मेसु आधिपच्चवसेन सुखदुक्खानि इन्द्रियानि नाम होन्ति, तेस कायिकमानसिकवसेन दुविधत्ता तानि पि सुखिन्द्रिय सोमनस्सिन्द्रिय, दुक्खिन्द्रिय दोमनस्सिन्द्रिय ति द्विधा वुत्तानि। उपेक्खाय पन आधिपच्चट्ठानभूता धम्मा मानसिका एव होन्तीति सा उपेक्खिन्द्रिय ति एकधा व वुत्ता ति।" – प० दी०, पृ० १०१।

"कायिक-मानसिक-सातासातभेदतो हि सुख दुक्ख च पच्चेक द्विधा विभजित्वा, सुखिन्द्रिय सोमनस्सिन्द्रिय दुक्खिन्द्रिय दोमनस्सिन्द्रिय ति देसिता। उपेक्खा पन भेदाभावतो उपेक्खिन्द्रिय ति एकधा व। यथा हि – सुखदुक्खानि अञ्ञथा कायस्स अनुग्गहमुपघात च करोन्ति, अञ्ञथा मनसो, नेव उपेक्खा। तस्मा सा एकधा व देसिता।" – विभा०, पृ० ९४। तु० – अभि० को० २.७-८ का०, पृ० ९०-९१।

५. सोमनस्ससहगतचित्तानि पन लोभमूलानि चत्तारि, द्वादस कामावचरसोभनानि, सुखसन्तीरण-हसनानि च द्वे ति अट्ठारस कामावचर-सोमनस्ससहगतचित्तानि* चेव पठम-दुतिय-ततिय-चतुत्थज्झानसङ्खातानि चतुचत्तालीसं† महग्गतलोकुत्तरचित्तानि चेति द्वासट्ठिविधानि भवन्ति।

६. दोमनस्ससहगतचित्तानि पन द्वे पटिघसम्पयुत्तचित्तानेव‡ ।

७ सेसानि सब्बानि पि पञ्चपञ्ञास उपेक्खासहगतचित्तानेवा ति।

सौमनस्यवेदना के साथ होनेवाले चित्त – लोभमूल ४, कामावचर शोभन १२, सुखसन्तीरण (१) एव हसितोत्पाद (१) = २ – इस प्रकार (ये) १८ कामावचर सौमनस्यसहगत चित्त एव प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ ध्यान नामक महग्गत एव लोकोत्तर ध्यानचित्त ४४ – इस प्रकार कुल ६२ प्रकार के होते है।

दौर्मनस्यवेदना के साथ सम्प्रयुक्त होनेवाले चित्त प्रतिघसम्प्रयुक्त दो ही होते है।

शेष सभी ५५ चित्त उपेक्षावेदना के साथ सम्प्रयुक्त होनेवाले चित्त ही है।

इसी तरह दुःखावेदना के साथ सम्प्रयुक्त अहेतुक अकुशलविपाक कायविज्ञानचित्त एक है। इसके साथ भी उपर्युक्त क्रम से छह चैतसिक ही सम्प्रयुक्त होते है।

५ सौमनस्यवेदना के साथ सम्प्रयुक्त होनेवाले चित्त कुल ६२ है। इन ६२ चित्तो मे द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य, कौकृत्य एव विचिकित्सा वर्जित ४७ चैतसिक सम्प्रयुक्त होते है। इनमे विद्यमान वेदना से इस सौमनस्यवेदना का सम्प्रयोग नही होता। अतः इस सौमनस्यवेदना से वेदनावर्जित ४६ चैतसिक ही सम्प्रयुक्त होते है।

६. दौर्मनस्यवेदना के साथ सम्प्रयुक्त होनेवाले दो प्रतिघचित्त ही है। इनके साथ सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिक २२ है। इन २२ चैतसिको के अन्तर्गत विद्यमान वेदना चैतसिक के साथ इस दौर्मनस्यवेदना का सम्प्रयोग नही होता, क्योकि 'वेदना' वेदना के साथ सम्प्रयुक्त नही होती, अत. यह (दौर्मनस्यवेदना) वेदनावर्जित २१ चैतसिको से ही सम्प्रयुक्त होती है।

७ सुखावेदना, दुःखावेदना, सौमनस्यवेदना एव दौर्मनस्यवेदना के द्वारा गृहीत होनेवाले चित्तो का वर्जन कर अवशिष्ट ५५ चित्त उपेक्षावेदना के साथ सम्प्रयुक्त होते है। वे ५५ चित्त ये है : अकुशलचित्तो मे – उपेक्षासहगत ६, अहेतुकचित्तो मे – १४, कामावचर शोभनचित्तो मे – १२, पञ्चमध्यान (महग्गत एव लोकोत्तर) चित्त – २३ = ५५। इन चित्तो मे सम्प्रयुक्त उपेक्षावेदना से द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य, कौकृत्य, प्रीति एव उपेक्षा वर्जित कुल ४६ चैतसिक सम्प्रयुक्त होते है।

---

* कामावचरचित्तानि – स्या०, ना०।

† चतुचत्ताळीस – स्या० (सर्वत्र)।

‡ पटिघचित्तानेव – स्या०, ना०।

चैतसिकों का सङ्ग्रह – चैतसिको के सङ्ग्रह के लिये दो नय प्रचलित है, यथा – (क) गृहीतग्रहणनय तथा (ख) अगृहीतग्रहणनय।

(क) गृहीतग्रहणनय – 'गहितस्स गहण गहितगहण' अर्थात् गृहीत (चैतसिको) का (पुन) ग्रहण 'गृहीतग्रहणनय' कहलाता है। इसमे चित्त को देखकर उसमे सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिको का ग्रहण किया जाता है।

यथा – सुखावेदना से सम्प्रयुक्त चित्त मे गृहीत होनेवाले चैतसिको का दुखा-वेदना से सम्प्रयुक्त चित्त मे भी पुन ग्रहण किया जाता है।

पाँचो वेदनाओ मे सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिको का उपर्युक्त वर्णन 'गृहीतग्रहण-नय' के आधार पर ही किया गया है। 'धम्मसङ्गणि' – आदि अभिधम्मपिटक के ग्रन्थो को समझने के लिये इस नय का ज्ञान परमावश्यक है।

(ख) अगृहीतग्रहणनय – 'अग्गहितस्स गहण अग्गहितगहण' अर्थात् अगृहीत (चैत-सिको) का (ही) ग्रहण 'अगृहीतग्रहणनय' कहलाता है। इसमे किसी चित्त के साथ जिन चैतसिको का एक बार ग्रहण कर लिया गया है, उनका किसी अन्य चित्त के साथ सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिको का विचार करते समय पुन ग्रहण नही किया जाता।

यथा – यद्यपि द्वेषवेदना मे २२ चैतसिक सम्प्रयुक्त होते है, किन्तु इनमे द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य एव कौकृत्य – ये चार चैतसिक ही ऐसे है जो केवल द्वेषवेदना से ही सम्प्रयुक्त होते है, अन्य वेदनाओ से नही। अवशिष्ट १८ चैतसिक द्वेषवेदना के साथ भी सम्प्रयुक्त होते है और अन्य वेदनाओ के साथ भी सम्प्रयुक्त होते हैं। 'अगृहीत-ग्रहणनय' के अनुसार द्वेषवेदना के साथ सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिको का विचार करते समय हम केवल द्वेष, ईर्ष्या-आदि चार चैतसिको का ही ग्रहण करेंगे, अन्य अवशिष्ट १८ चैतसिको का नही। यही 'अगृहीतग्रहणनय' है।

एक वेदना के साथ सम्प्रयुक्त चैतसिक – द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य एव कौकृत्य – ये चार चैतसिक केवल द्वेषवेदना से, विचिकित्सा चैतसिक केवल उपेक्षावेदना से, प्रीति-चैतसिक केवल सौमनस्यवेदना से सम्प्रयुक्त होता है। इस प्रकार ये चैतसिक केवल एक वेदना से सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिक हैं।

वेदनाद्वय से सम्प्रयुक्त चैतसिक – लोभ, दृष्टि एव मान – ये ३ तथा शोभन चैतसिक २५=२८ चैतसिक सौमनस्य एव उपेक्षा – इस प्रकार दो वेदनाओ से सम्प्रयुक्त होते हैं।

वेदनात्रय से सम्प्रयुक्त चैतसिक – प्रीतिवर्जित प्रकीर्णक चैतसिक ५, सर्व-अकुशल-साधारण चैतसिक ४, तथा स्त्यान एव मिद्ध=ये ११ चैतसिक सौमनस्य, दौर्मनस्य एव उपेक्षा – इस प्रकार तीन वेदनाओ से सम्प्रयुक्त होते है।

वेदनापञ्चक से सम्प्रयुक्त चैतसिक – वेदनावर्जित सर्वचित्तसाधारण ६ चैतसिक पाँचो वेदनाओ के साथ सम्प्रयुक्त होते हैं।

८ सुखं दुक्खं उपेक्खा ति तिविधा तत्थ वेदना।
सोमनस्सं दोमनस्समिति भेदेन पञ्चधा॥

९ सुखमेकत्थ दुक्खं च दोमनस्सं द्वये ठितं।
द्वासट्ठिसु सोमनस्सं पञ्चपञ्ञासकेतरा॥

इस वेदना-सङ्ग्रह में सुख, दुःख तथा उपेक्षा (आलम्बनानुभवन-लक्षण से) – ये तीन वेदनाएँ होती हैं। सौमनस्य एवं दौर्मनस्य के साथ (इन्द्रियभेद से) ये पाँच प्रकार की होती हैं।

सुखावेदना एक (चित्त) में, दुःखावेदना भी एक (चित्त) में, दौर्मनस्यवेदना दो (चित्तों) में, सौमनस्यवेदना ६२ (चित्तों) में तथा इतर (अन्य) अर्थात् उपेक्षावेदना ५५ (चित्तों) में स्थित है।

हेतुसङ्गहो

१०. हेतुसङ्गहे हेतू* नाम – लोभो, दोसो, मोहो; अलोभो, अदोसो, अमोहो चा ति छब्बिधा भवन्ति।

हेतुसङ्ग्रह में – लोभ, द्वेष, मोह; (तथा) अलोभ, अद्वेष एवं अमोह – इस प्रकार षड्विध हेतु होते हैं।

असम्प्रयुक्त चैतसिक – वेदनाचैतसिक ऐसा चैतसिक है जो पञ्चविध वेदनाओं में किसी एक वेदना के साथ भी सम्प्रयुक्त नहीं होता।

	सम्प्रयुक्त चित्त	चैतसिक
सुखावेदना	१	६
दुःखावेदना	१	६
सौमनस्यवेदना	६२	४६
दौर्मनस्यवेदना	२	२१
उपेक्षावेदना	५५	४६

वेदनासङ्ग्रह समाप्त।

हेतुसङ्ग्रह

१०. यहाँ हेतुओं के भेद से चित्त एवं चैतसिकों का सङ्ग्रह होता है, अतः इसे 'हेतुसङ्ग्रह' कहते हैं। मूल हेतु ६ हैं, यथा – लोभ, द्वेष, मोह, तथा अलोभ, अद्वेष एवं अमोह। इनमें प्रथम तीन अकुशल हेतु तथा अन्तिम तीन कुशल हेतु एवं

* हेतुयो – स्या०।

११. तत्थ पञ्चद्वारावज्जन-द्विपञ्चविञ्ञाण-सम्पटिच्छन-सन्तीरण-वोट्ठपन*-हसनवसेन अट्ठारस अहेतुकचित्तानि नाम।

१२ सेसानि सब्बानि पि एकसत्तति चित्तानि सहेतुकानेव।

१३. तत्थापि द्वे मोमूहचित्तानि एकहेतुकानि।

इस हतुसङग्रह में—पञ्चद्वारावर्जन, द्विपञ्चविज्ञान, सम्पटिच्छन, सन्तीरण, वोट्ठपन (व्यवस्थापन) एवं हसन चित्तों के वश से अठारह अहेतुक चित्त होतें हैं।

शेष सभी ७१ चित्त सहेतुक ही हैं।

उन (इकहत्तर चित्तो) मे भी दो मोमूहचित्त 'एकहेतुक' हैं।

अव्याकृत हेतु हैं[1]। यहाँ अद्वेष 'तत्रमध्यस्थता' (तत्रमज्झत्तता) तथा अमोह 'प्रज्ञा' चैतसिक है।

११ यहाँ हेतुओ के द्वारा तत्सम्प्रयुक्त चित्त एव चैतसिको के वर्णन से पूर्व, वीथिक्रम से अहेतुक चित्तो का वर्णन किया गया है। इन १८ अहेतुक चित्तो में 'छन्द' को वर्जित कर शेष १२ 'अन्यसमान' चैतसिक सम्प्रयुक्त होते हैं। इन १८ चित्तो को 'अहेतुक' इसलिये कहते है चूँकि इनमे ६ हेतुचैतसिको मे से कोई एक भी हेतुचैतसिक सम्प्रयुक्त नही होता। इसका वर्णन विस्तारपूर्वक अहेतुकचित्तप्रकरण (प्रथम परिच्छेद) मे किया जा चुका है[2]।

१२ अठारह अहेतुक चित्तो से अतिरिक्त अवशिष्ट ७१ चित्त 'सहेतुक' हैं, क्योकि ये सब, हेतुओ से सम्प्रयुक्त होते है।

१३ इन ७१ चित्तो मे भी जो चित्त केवल एक हेतु से ही सम्प्रयुक्त होते हैं उन्हे 'एकहेतुक चित्त' कहते हैं। दो मोमूहचित्त केवल एक मोहचैतसिक से ही सम्प्रयुक्त होते हैं, अत उन्हे 'एकहेतुक' कहा जाता है। इन दो मोमूहचित्तो मे सोलह चैतसिक सम्प्रयुक्त होते हैं जिनकी गणना चैतसिकपरिच्छेद (द्वितीय परिच्छेद) में की जा चुकी है[3]।

मोमूहचित्तो से सम्प्रयुक्त सोलह चैतसिको मे 'मोह' भी एक है। यह 'मोह हेतु' सब पन्द्रह चैतसिको के साथ सम्प्रयुक्त होता है, किन्तु मोह के साथ कोई हेतु सम्प्रयुक्त नही होता। अत जब मोह हेतु मोमूहचित्तो से सम्प्रयुक्त होता है तब वह

---

* ०वोट्ठब्बन० — स्या०; म० (ख) (सर्वत्र), ०वोट्ठप्पन० — रो० (सर्वत्र)।

१. तु० — "कुशलमूलमकुशलमूलमव्याकृतमूलं चेति मूल त्रिविधम्। कुशलमूलम् — अलोभः, अद्वेष, अमोहश्च। इति त्रिविध कुशलमूलम्। अकुशलमूलम् — लोभ., द्वेषः, मोहश्च। चतुर्विधमव्याकृतमूलम् — अव्याकृत राग, अव्याकृताऽविद्या, अव्याकृता दृष्टि, अव्याकृतो मान.।" — अभि० मू०, पृ० ५०।

२. द्र० — अभि० स० १.८, पृ० ४३।

३. द्र० — अभि० स० २:५६, पृ० २०६।

१४. सेसानि दस अकुसलचित्तानि चेव ञाणविप्पयुत्तानि द्वादस कामावचरसोभनानि चेति द्वावीसति द्विहेतुकचित्तानि* ।

१५. द्वादस ञाणसम्पयुत्तकामावचरसोभनानि चेव पञ्चतिंस† महग्गत-लोकुत्तरचित्तानि चेति सत्तचत्तालीस तिहेतुकचित्तानीति‡ ।

शेष (मोमूहवर्जित) १० अकुशलचित्त तथा १२ ज्ञानविप्रयुक्त कामावचर शोभनचित्त – इस प्रकार कुल २२ चित्त 'द्विहेतुक चित्त' है ।

१२ ज्ञानसम्प्रयुक्त कामावचर शोभनचित्त तथा ३५ महग्गत एवं लोकोत्तर चित्त – इस प्रकार कुल ४७ चित्त 'त्रिहेतुक चित्त' है ।

'अहेतुक चैतसिक' कहा जाता है। अन्य पन्द्रह 'एकहेतुक' (मोहयुक्त) चैतसिक है। अत मोमहचित्तसम्प्रयुक्त मोह चैतसिक तथा अहेतुक चित्तो से सम्प्रयुक्त १२ चैतसिक= १३ चैतसिक 'अहेतुक चैतसिक' कहे जाते है।

१४ मोमूहवर्जित १० अकुशलचित्तो मे ८ लोभमूल चित्त लोभ तथा मोह नामक हेतुद्वय से, २ द्वेषमूल चित्त द्वेष तथा मोह नामक हेतुद्वय से, तथा १२ ज्ञान-विप्रयुक्त कामावचर शोभनचित्त अलोभ तथा अद्वेष नामक हेतुद्वय से सम्प्रयुक्त होते है। अत इन २२ चित्तो को 'द्विहेतुक चित्त' कहते है। इन २२ चित्तो मे विचिकित्सा एव प्रज्ञा वर्जित ५० चैतसिक सम्प्रयुक्त होते है।

लोभमूलचित्तो के साथ सम्प्रयुक्त चैतसिको मे लोभ एव मोह 'एकहेतुक' चैतसिक है; क्योकि ये हेतु परस्पर सयुक्त होते है (लोभ मोह के साथ, तथा मोह लोभ के साथ सम्प्रयुक्त होता है), अत. 'एकहेतुक चैतसिक' कहे जाते है। अन्य चैतसिक 'द्विहेतुक चैतसिक' है।

द्वेषमूलचित्तो के साथ सम्प्रयुक्त चैतसिको मे द्वेष एव मोह चैतसिक 'एकहेतुक' चैतसिक है तथा अन्य चैतसिक 'द्विहेतुक चैतसिक' है।

इसी प्रकार ज्ञानविप्रयुक्त १२ चित्तो के साथ सम्प्रयुक्त चैतसिको मे अलोभ एवं अद्वेष 'एकहेतुक चैतसिक' है तथा अन्य द्विहेतुक चैतसिक है। इस तरह इन २२ चित्तो मे सम्प्रयुक्त ५ हेतु चैतसिक तथा मोमहचित्तो से सम्प्रयुक्त होनेवाले १५ चैतसिक=२० चैतसिक 'एकहेतुक' है तथा इन २२ चित्तो मे सम्प्रयुक्त होनेवाले ५० चैतसिको मे से ५ हेतुचैतसिको को वर्जित कर अवशिष्ट ४५ चैतसिक 'द्विहेतुक' हैं।

१५ ज्ञानसम्प्रयुक्त कामावचर शोभनचित्त १२ तथा महग्गत एव लोकोत्तर चित्त ३५ – इस प्रकार कुल ४७ चित्त अलोभ, अद्वेष एव अमोह नामक तीन हेतुओ से सम्प्रयुक्त होने के कारण 'त्रिहेतुक' कहलाते है।

इन ४७ चित्तो मे ३८ चैतसिक सम्प्रयुक्त होते हैं, यथा – अन्यसमान

---

* दुहेतुकचित्तानि – स्या०, ना० ।

† पञ्चतिंस – स्या०, म० (क) ।

‡ ०चित्तानि – सी०, स्या० ।

१६. लोभो दोसो च मोहो च हेतू अकुसला तयो ।
अलोभादोसामोहा* च कुसलाब्याकता तथा ।।
१७ अहेतुकाट्ठारसेकहेतुका† द्वे दुवीसति‡ ।
द्विहेतुका मता सत्तचत्तालीस तिहेतुका ।।

लोभ, द्वेष एव मोह – ये तीन अकुशल हेतु तथा अलोभ, अद्वेष एव अमोह – ये तीन कुशल एव अव्याकृत हेतु है ।

अहेतुक चित्त – १८, एकहेतुक चित्त – २, द्विहतुक चित्त – २२, तथा त्रिहेतुकचित्त – ४७ होते है ।

चैतसिक १३ तथा शोभनचैतसिक २५=३८ । इन ३८ चैतसिको मे अलोभ, अद्वेष एव अमोह – ये तीन चैतसिक 'द्विहेतुक चैतसिक' है, जैसे – अलोभ के साथ अद्वेष एव अमोह – ये दो हेतु, अद्वेष के साथ अलोभ एव अमोह – ये दो हेतु, तथा अमोह के साथ अलोभ एव अद्वेष – ये दो हेतु होते है । ये 'द्विहेतुक चैतसिक' ३ तथा द्विहेतुक चित्तो मे सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिक ४५=४८ चैतसिक 'द्विहेतुक चैतसिक' है । इन उपर्युक्त ३८ चैतसिको मे से तीन द्विहेतुक चैतसिको को वर्जित कर अवशिष्ट ३५ चैतसिक 'त्रिहेतुक चैतसिक' है ।

चित्तो के साथ सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिको का उपर्युक्त वर्णन 'गृहीतग्रहण' नय के अनुसार किया गया है । अब हम 'अगृहीतग्रहण' नय के अनुसार सम्प्रयुक्त चैतसिको का विचार करते है ।

एकहेतुसम्प्रयुक्त चैतसिक – विचिकित्सा, लोभ एव द्वेष – ये तीन चैतसिक केवल एक 'मोह हेतु' से ही सम्प्रयुक्त होते है ।

हेतुद्वयसम्प्रयुक्त चैतसिक – मोह चैतसिक लोभ एव द्वेष हेतु से; दृष्टि एव मान चैतसिक लोभ एव मोह हेतु से, ईर्ष्या, मात्सर्य तथा कौकृत्य चैतसिक द्वेष एव मोह हेतु से, अलोभ, अद्वेष एव अमोह चैतसिक स्ववर्जित दो दो हेतुओ से – इस तरह कुल नौ चैतसिक दो हेतुओ से सम्प्रयुक्त होते हैं ।

हेतुत्रयसम्प्रयुक्त चैतसिक – आह्रीक्य, अनपत्राप्य, औद्धत्य, स्त्यान एव मिद्ध – ये पाँच चैतसिक लोभ, द्वेष एव मोह नामक हेतुत्रय से, हेतुत्रयवर्जित बाईस शोभन चैतसिक अलोभ, अद्वेष एव अमोह नामक हेतुत्रय से – इस प्रकार कुल सत्ताईस चैतसिक तीन हेतुओ से सम्प्रयुक्त होते है ।

हेतुपञ्चकसम्प्रयुक्त चैतसिक – प्रीति चैतसिक लोभ, मोह, अलोभ, अद्वेष एव अमोह – इन पाँच हेतुओ से सम्प्रयुक्त होता है ।

---

* ०मोहो – रो०; म० (क, ख) ।
† अहेतुकट्ठारसेकहेतुका – सी०, स्या०, ना० ।
‡ द्वावीसति – सी०; म० (क, ख); द्विवीसति – स्या०, रो० ।

किच्चसङ्गहो

१८ किच्चसङ्गहे किच्चानि नाम – पटिसन्धि-भवङ्ग-आवज्जन-दस्सन-सवन*-घायन-सायन-फुसन-सम्पटिच्छन-सन्तीरण-वोट्ठपन† - जवन - तदारमण‡ चुतिवसेन चुद्दसविधानि भवन्ति ।

कृत्यसङ्ग्रह में – प्रतिसन्धि, भवङ्ग, आवर्जन, दर्शन, श्रवण, घ्राण, आस्वादन, स्पर्शन, सम्पटिच्छन सन्तीरण, वोट्ठपन (व्यवस्थापन), जवन, तदालम्बन एवं च्युति के वश से चौदह प्रकार के कृत्य होते हैं।

हेतुषट्कसम्प्रयुक्त चैतसिक—प्रीतिवर्जित अन्यसमान बारह चैतसिक छह हेतुओं से सम्प्रयुक्त होते हैं।

	चित्त	चैतसिक
अहेतुक	१८	१३
एकहेतुक	२	२०
द्विहेतुक	२२	४८
त्रिहेतुक	४७	३५

हेतुसङ्ग्रह समाप्त।

कृत्यसङ्ग्रह

१८ प्रतिसन्धि-आदि कृत्यों के द्वारा चित्त एवं चैतसिकों को सङ्गृहीत करनेवाले इस सङ्ग्रह को 'कृत्यसङ्ग्रह' कहते हैं। इस सङ्ग्रह में चौदह कृत्यों को दिखलाया गया है[1]।

जैसे – लोक में गमन, आगमन-आदि व्यापारों को कृत्य कहा जाता है उसी प्रकार एक भव से अपर भव में प्रतिसन्धान करना–आदि को भी 'कृत्य' कहते हैं।

'करण किच्च' करना 'कृत्य' है। सभी धात्वर्थों में 'कर' धातु व्यापक होने से यहाँ 'करण' (करना) इस शब्द के द्वारा प्रतिसन्धान करना, आवर्जन करना, दर्शन करना – आदि सभी कृत्यों का ग्रहण होता है।

---

* ०सवण० – सी० (सर्वत्र)।

† ०वोट्ठवन० – स्या० ।

‡ तदारम्मण० – सी०, रो०, ना०, म० (ख), तदालम्बन० – स्या० (सर्वत्र)।

१. "चुद्दसन्नं किच्चानं भेदेन तकिच्चवन्तानं चित्तचेतसिकानं सङ्गहो 'किच्चसङ्गहो'।" – प० दी०, पृ० १०४।

"पटिसन्धादीनं किच्चानं विभागवसेन तकिच्चवन्तानं च परिच्छेदवसेन सङ्गहो 'किच्चसङ्गहो'।" – विभा०, पृ० ९५।

"पटिसन्धादीनं किच्चानं विभागकिच्चवन्तपरिच्छेदवसेन सङ्गहो 'किच्चसङ्गहो'।" – अभि० स० टी०, पृ० ३०८।

तु० – विसु०, पृ० ३१९।

प्रतिसन्धिकृत्य – 'पटिसन्धान पटिसन्धि' प्रतिसन्धान अर्थात् जोडना 'प्रतिसन्धि' है[1]। पूर्व भव के विच्छिन्न होने पर नवीन भव मे सर्वप्रथम चित्तोत्पाद पूर्व भव एव नवीन भव का प्रतिसन्धान करनेवाले की तरह होता है। इस प्रकार के प्रतिसन्धानकृत्य के कारण 'सत्त्व' नामक स्कन्धसन्तति निरुद्ध न होकर नवीन नवीन भव को पुन पुन प्राप्त करती हुई ससार-चक्र मे प्रवृत्त होती रहती है।

भवङ्गकृत्य – "भवस्स अङ्ग भवङ्ग[3]" भव के अङ्ग को 'भवङ्ग' (भवाङ्ग) कहते है। अर्थात् उपपत्तिभव की अविच्छिन्न (निरन्तर) प्रवृत्ति के हेतुभूत चित्त को 'भवङ्ग' कहते हैं[2]।

भव दो प्रकार का होता है, यथा – (क) कर्मभव एव (ख) उपपत्तिभव।

(क) कर्मभव – चेतना को 'कर्मभव' कहते हैं।

(ख) उपपत्तिभव – 'कम्मतो उपपज्जतीति उपपत्ति' – इस विग्रह के अनुसार कर्म से उत्पन्न लौकिक विपाक नामस्कन्ध एव 'कटत्तारूप[4]' नामक कर्मज रूपो को 'उपपत्ति-भव' कहते हैं।

कर्मो के अनुसार अतीत भव के निरुद्ध हो जाने पर नवीन भव के उत्पाद के लिये प्रतिसन्धिचित्त के द्वारा प्रतिसन्धानकृत्य कर दिये जाने पर स्वसदृश (अपने समान) विपाक निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं। यदि प्रतिसन्धि के अनन्तर अपने सदृश विपाक उत्पन्न नही होते है तो प्रतिसन्धिचित्त के अनन्तर ही चित्तसन्तति का विच्छेद होकर एक भव (प्राप्त भव) की परिसमाप्ति हो जायेगी। अत एक भव की समाप्ति न होने देने के लिये, अर्थात् भव के निरन्तर प्रवाह के लिये, प्रतिसन्धि के अनन्तर प्रतिसन्धि के सदृश विपाकसन्तति (भवङ्गसन्तति) का उत्पाद होता रहता है।

---

१ "भवतो भवस्स पटिसन्दहन पटिसन्धिकिच्च।" – विभा०, पृ० ९५।
"तस्मा ततो निब्बत्तभवतो चुतस्स अन्तरा खणमत्त पि अठत्वा लद्धोकासेन एकेन कम्मेन पुन भवन्तरादिपटिसन्धानवसेन अभिनिब्बत्ति पटिसन्धिकिच्च।" – प० दी०, पृ० १०४।
'भवन्तरपटिसन्धानतो पटिसन्धि।" – अभि० स० टी०, पृ० ३०८।
"पटिसन्धिविञ्ञाणादीन किच्च नाम भवन्तरपटिसन्धादिना आकारेन पवत्ति एव।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १३१, विसु०, पृ० ३१९।

२ द्र० – अभि० स० टी०, पृ० ३०८।

३ "अविच्छेदप्पवत्तिहेतुभावेन भवस्स अङ्गभावो भवङ्गकिच्च।" – विभा०, पृ० ९५।
"तथा निब्बत्तस्स उपपत्तिभवसन्तानस्स याव त कम्म न खिय्यति ताव अविच्छेदप्पवत्तिपच्चयङ्गभावेन पवत्ति भवङ्गकिच्च। तस्स हि तथा पवत्तिया सति आयुपबन्धा च उस्मापबन्धा च पवत्तन्ति येवा ति एते तयो धम्मा इम काय अभिज्जमान रक्खन्तीति। यथाह –

आयु उस्मा च विञ्ञाण यदा काय जहन्तिम।
अपविद्धो तदा सेति निरत्थ व कलिङ्गर' ति॥"

– प० दी०, पृ० १०४–१०५।

तु० – विसु०, पृ० ३१९–३२०।

४ द्र० – अभि० स० ८ : ३७।

प्रतिसन्धि के अनन्तर प्रवृत्तिकाल मे भी यदि आलम्बन प्रत्युपस्थित होगा तो आलम्बन के अनुसार वीथिचित्तसन्तति का प्रवर्त्तन होगा, किन्तु यदि वीथि के अनन्तर पुन भवङ्गचित्त का उत्पाद न होगा तो पूर्वोपात्त चित्तसन्तति, चित्तज रूप एव कर्मज रूपो का निरोध हो जायेगा। इनका निरोध न हो, एतदर्थ वीथि के अनन्तर पुनः भवङ्गचित्त का उत्पाद होता है और यह भवङ्गचित्त का उत्पाद तबतक होता रहता है जबतक कर्म अवशिष्ट रहते है। भवङ्गचित्त के इस उत्पाद को ही 'भवङ्गकृत्य' कहते है।

आवर्जनकृत्य – 'आवज्जीयते आवज्जन' जिसके द्वारा आवर्जन (अभिमुखीकरण) किया जाता है, वह आवर्जन' है। अथवा – 'आवट्टीयते आवज्जन' अर्थात् जो भवङ्गसन्तति का आवर्तन (विवर्तन) करता है, वह 'आवर्जन' है[1]।

वीथिसन्तति के पहले भवङ्गसन्तति होती है। जब अभिनव आलम्बन अवभासित होता है तब उस भवङ्गसन्तति का पुन आगे उत्पाद न होने देकर उस भवङ्गसन्तति को प्रतिनिवृत्त करने के लिये उसका अवरोध करना 'आवर्जन' का कृत्य है।

अथवा – यहाँ मूलरूप से 'आवट्टन' शब्द है। व्याकरण के अनुसार उसके 'ट्ट' के स्थान पर 'ज्ज' आदेश हो जाता है और 'आवज्जन' – यह शब्द निष्पन्न होता है[2]।

यह 'आवर्जन' अभिनव आलम्बन उपस्थित होने पर भवङ्गसन्तति को पूर्वगृहीत आलम्बन से विच्छिन्न करता है, और उस नवीन आलम्बन का ग्रहण करके वीथिसन्तति के उत्पाद के लिये चित्तसन्तति को उस नवीन आलम्बन के अभिमुख प्रवृत्त करता है।

चक्षुर्द्वार-आदि पाँच द्वारो मे होनेवाले आवर्जन को 'पञ्चद्वारावर्जन' तथा मनोद्वार मे होनेवाले आवर्जन को 'मनोद्वारावर्जन' कहते है।

दर्शनकृत्य, श्रवणकृत्य, घ्राण (गन्धोपादान) – **कृत्य, आस्वादन** (रस लेना)-**कृत्य एवं स्पर्शनकृत्य** – इन कृत्यो के अर्थ स्वत. सुस्पष्ट है।

सम्पटिच्छनकृत्य – 'सम्पटिच्छीयते सम्पटिच्छन' जो आलम्बन का ग्रहण करने की

---

१ "आवज्जन चित्तसन्तानस्स आवट्टन, त वा आवज्जेति आवट्टेति, आवट्टति वा त एत्थ एतेना ति वा आवज्जन, भवङ्गवीथितो ओक्कमित्वा आरम्मणन्तराभिमुख पवत्ततीति अत्थो। आवज्जेति वा आरम्मणन्तरे आभोग करोतीति आवज्जन।" – प० दी०, पृ० १०५।

२ "आवट्टना वा ति आदीनि चत्तारि पि आवज्जनस्सेव नामानि, त हि भवङ्गस्स आवट्टनतो आवट्टना; तस्सेव आभुजनतो आभोगो, रूपादीन समन्नाहरणतो समन्नाहारो, तेस येव मनसिकरणतो मनसिकारो ति वुच्चति।" – विभ० अ०, पृ० ४०८।

"आभुजनतो ति आभुग्गकरणतो, विवट्टनतो इच्चेव अत्थो।" – विभ० मू० टी०, पृ० २००।

"आवट्टनभावो आवज्जनकिच्चता।" – विभ० अनु०, पृ० २०१।

विस्तार के लिये द्र० – विसु०, पृ० ३२०।

तरह होता है, वह 'सम्पटिच्छन' है। चक्षुर्विज्ञान-आदि के द्वारा विज्ञात आलम्बन का सम्यग्ग्रहण 'सम्पटिच्छन' का कृत्य है[1]।

सन्तीरणकृत्य – 'सम्मा तीरण सन्तीरण, तुलन वीमसन ति अत्थो' सम्पटिच्छन द्वारा गृहीत आलम्बन का सम्यग् विचार या ऊहापोह अर्थात् तुलना या मीमासा – 'सन्तीरण' का कृत्य है[2]।

वोट्ठपनकृत्य – 'विसु विसु अवच्छिन्दित्वा ठपन वोट्ठपन' आलम्बन का पृथक् पृथक् अवच्छेद करके व्यवस्थापन करना – 'वोट्ठपन' का कृत्य है। अर्थात् 'सन्तीरण' के द्वारा मीमासा किये जाने के अनन्तर 'यह आलम्बन इष्ट है', अथवा 'यह आलम्बन अनिष्ट है'– इस प्रकार पृथक् पृथक् अवच्छेद करना – 'वोट्ठपन' का कृत्य है[3]।

'विसुद्धिमग्गमहाटीका' का "पञ्चद्वारे सन्तीरणेन गहितारम्मण ववत्थपेन्ती विय पवत्तनतो[4]" – यह वचन, तथा 'विभावनी' का "पञ्चद्वारे यथासन्तीरित आरम्मण ववत्थापेतीति वोट्ठपन ति च पवुच्चति[5]" – यह वचन भी उपर्युक्त अर्थ का ही समर्थन करता है।

'परमत्थदीपनी' आदि टीकाओ मे कहा गया है कि 'वोट्ठपन के द्वारा आलम्बनो के नील, रक्त, पीत-आदि वर्ण एव शुभ, अशुभ-आदि स्वभावो का निश्चय होता है[6]।'

किन्तु इन टीकाकारो का उपर्युक्त मत विचार करने पर समीचीन प्रतीत नही

---

१ "'चक्खुविञ्ञाणधातुया उप्पज्जित्वा निरुद्धसमनन्तरा उप्पज्जति चित्त मनो मानस तज्जा मनोधातू' ति – आदिवचनतो पन चक्खुविञ्ञाणादीन अनन्तरा तेस येव विसय सम्पटिच्छमाना कुसलविपाकानन्तर कुसलविपाका, अकुसलविपाकानन्तर अकुसलविपाका मनोधातु उप्पज्जति – एव द्विन्न विपाकविञ्ञाणान सम्पटिच्छनवसेन पवत्ति वेदितब्बा।" – विसु०, पृ० ३२०।

२ "'मनोधातुया पि उप्पज्जित्वा निरुद्धसमनन्तरा उप्पज्जति चित्त मनो मानस . तज्जा मनोविञ्ञाणधातू' ति – वचनतो पन मनोधातुया सम्पटिच्छितमेव विसय सन्तीरयमाना अकुसलविपाकमनोधातुया अनन्तरा अकुसलविपाका, कुसलविपाकाय अनन्तरा इट्ठारम्मणे सोमनस्ससहगता इट्ठमज्झत्ते उपेक्खासहगता उप्पज्जति विपाकाहेतुकमनोविञ्ञाणधातू ति – एव तिण्ण विपाकविञ्ञाणान सन्तीरणवसेन पवत्ति वेदितब्बा।" – विसु०, पृ० ३२०।

३ "सन्तीरणानन्तर पन तमेव विसय ववत्थापयमाना उप्पज्जति किरियाहेतुकमनोविञ्ञाणधातु उपेक्खासहगता ति – एव एकस्सेव किरियविञ्ञाणस्स वोट्ठप्पनवसेन पवत्ति वेदितब्बा।" – विसु०, पृ० ३२०।

४. विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १२६।

५ विभा०, पृ० ६६।

६ "वोट्ठपन ति – विसु अवच्छिन्दित्वा थपन, इद नील ति वा पीतक ति वा सुभ ति वा असुभ ति वा असङ्करतो थपन, नियमन ति वुत्त होति।" – प० दी०, पृ० १०५।

होता, क्योकि इस 'पञ्चद्वारवीथि' मे वर्ण-आदि का निश्चय नही हो सकता। इनका निश्चय तो वक्ष्यमाण 'तदनुवर्तकवीथि'[1] के क्षण मे ही होता है। इस 'पञ्चद्वारवीथि' मे तो जवन के द्वारा आलम्बन के रस का अनुभव करने के लिये उसके इष्ट-अनिष्ट आकारमात्र का ही निश्चय किया जा सकता है।

जवनकृत्य – 'जवतीति जवन' वेग से गमन करना – इसका अर्थ है[2]। 'जवन' बडे वेग से दौडता है, चाहे वह एक बार हो या अनेक बार। 'मार्गजवन' एव 'अभिज्ञा-जवन' एक बार ही होता है, किन्तु होता है वह अत्यन्त वेगपूर्वक। भवङ्गचित्त यद्यपि बार बार उत्पन्न होता है, किन्तु उसमे कोई वेग नही होता। 'जवन' का कृत्य – आलम्बन का अनुभव करना, अर्थात् आलम्बन का रस लेना है[3]।

तदालम्बनकृत्य – 'तस्स आरम्मण, आरम्मण यस्सा ति तदारम्मण' जवन का आलम्बन ही जिसका आलम्बन होता है वह 'तदालम्बन' कहलाता है[4]। अपने पूर्ववर्ती जवनो द्वारा गृहीत आलम्बन का पुन ग्रहण करनेवाले चित्त को 'तदालम्बन' कहते है। जवन के आलम्बन का पुन ग्रहण इसका कृत्य है।

च्युतिकृत्य – 'चवन चुति' च्यवन ही 'च्युति' है। प्रत्युत्पन्न भव से च्यवन ही 'च्युति' पद का वाच्य है।

वीथिचित्तो के अन्तराल मे जबतक कर्मो का वेग अवशिष्ट रहता है तबतक भवसन्तति का विच्छेद न होने देने के लिये भवङ्गचित्त के द्वारा अनुबन्धनकृत्य किया जाता रहता है। जब कर्मो का वेग अवशिष्ट नही रहता तब पुन अनुबन्ध न किया जा सकने के कारण अन्तिम भवङ्गचित्त को ही, प्रत्युत्पन्न भव से च्युत होने के कारण,

---

१. द्र० – अभि० स०, चतु० परि०, 'वीथिसमुच्चय'।

२ "आरम्मणे ततकिच्चसाधनवसेन अनेकक्खत्तु एकक्खत्त वा जवमानस्स विय पवत्ति जवनकिच्च।" – विभा०, पृ० ९५।
"जवन ति वा जवो ति वा वेगो ति वा अत्थतो एक, असनिनिपातो विय वेगसहितस्स एकेकस्स चित्तस्स पवत्ति जवनकिच्च।" – प० दी०, पृ० १०५।

३ "जवन पन रज्जन-विरज्जनादिवसेन इट्ठानिट्ठविभाग करोतीति आलम्बन-रस जवनमेव अनुभवतीति वुत्त।" – ध० स० मू० टी०, पृ० १३०।
विस्तार के लिये द्र० – प० दी०, पृ० १०५। तु० – विसु०, पृ० ३२०-३२१; अट्ठ, पृ० २१८, २२०।

४ "त आरम्मण एतस्सा ति तदारम्मण, य जवनेन गहित तदेवास्स आरम्मण ति वुत्त होति। य जवनेन गहितारम्मण तस्सेव गहितत्ता तदारम्मण नामा ति हि वुत्त। तस्स वा जवनस्स आरम्मण अस्स आरम्मण ति तदारम्मण।" – प० दी०, पृ० १०५।
"ततजवनगहितारम्मणस्स आरम्मणकरण तदारम्मणकिच्च।" – विभा०, पृ० ९५-९६। तु० – विसु०, पृ० ३२१, अट्ठ०, पृ० २१८। विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १३४।

१९. पटिसन्धि-भवङ्ग-आवज्जन-पञ्चविञ्ञाणट्ठानादिवसेन* पन तेसं दसधा ठानभेदो वेदितब्बो ।

प्रतिसन्धि, भवङ्ग, आवर्जन एवं पञ्चविज्ञान-आदि स्थानों के वश से इनका दस प्रकार का स्थान-भेद जानना चाहिये ।

'च्युति' कहते हैं। इसलिये एक भव में 'भवङ्ग' एवं च्युतिचित्त समान (एक) होते हैं। यहाँ पर प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) भव से च्युत होना ही 'च्युति' का कृत्य है[1]।

१९. स्थान (ठान) – 'तिट्ठति एत्था ति ठानं' जिस क्षणविशिष्ट काल में प्रतिसन्धि-आदि चित्त प्रतिष्ठित होते हैं उस काल को 'स्थान' कहते हैं। अर्थात् प्रतिसन्धि–आदि चित्तों से अवच्छिन्न कालविशेष को 'स्थान' कहा जाता है। इस विग्रह के अनुसार वीथिचित्तों के तीन वारों (चित्तप्रवृत्तियों) में से पूर्व एवं पश्चिम वारों के मध्य में, एक चित्त प्रवृत्त होने के लिये जो कालविशेष होता है उस मध्यवर्ती काल-प्रज्ञप्ति को ही 'स्थान' कहते हैं[2]।

मूलटीकाकार ने भी "कालो हि चित्तपरिच्छिन्नो सभावतो अविज्जमानो पि आधारभावेनेव सञ्ञातो अधिकरणं ति वुत्तो[3]" – ऐसा कहा है। अर्थात् चित्त से परिच्छिन्न काल, स्वभाव से अविद्यमान होते हुए भी आधारभाव से सज्ञात (जाना गया), 'अधिकरण' कहा गया है। 'मूलटीका' के इस वचन के अनुसार 'स्थान' से यहाँ किसी स्थूल या सूक्ष्म आधार से तात्पर्य न होकर 'काल' से तात्पर्य है और वह काल भी परमार्थ-धर्म नहीं है, अपितु चित्त की उत्पाद-स्थिति-भङ्गात्मिका क्रिया ही है। इस प्रकार यह अपरमार्थ काल-प्रज्ञप्ति ही यहाँ 'स्थान' शब्द द्वारा कही गयी है।

कृत्य एवं स्थान में भेद – उपर्युक्त टीकाओं के अनुसार कृत्य एवं स्थान के भेद को इस प्रकार समझा जा सकता है, यथा – प्रतिसन्धिचित्त, आवर्जनचित्त-आदि परमार्थधर्मों का – नवीन भव का प्रतिसन्धान करना, आलम्बन का आवर्जन करना-आदि जो आकार है वह 'कृत्य' है। तथा प्रतिसन्धिचित्त, भवङ्गचित्त – इस क्रम से प्रवृत्त होनेवाली वीथिचित्तसन्तति में से पूर्वस्थ च्युतिचित्त एवं पश्चिमस्थ भवङ्गचित्त के मध्य में एक प्रतिसन्धिचित्त प्रवृत्त होने योग्य जो तीन क्षुद्रक्षणात्मक अर्थात् उत्पाद-स्थिति-भङ्गव्यापी

---

* पञ्चविञ्ञाणठानादिवसेन – म० (ख) ।

१ "निब्बत्तभवतो परिगळनं चुतिकिच्चं ।" – विभा०, पृ० ९६ ।
"निब्बत्तमानभवतो चवनं मुच्चनं परिगळनं चुति ।" – प० दी०, पृ० १०५ ।
"एकस्मिं हि भवे यं सब्बपच्छिमं भवङ्गचित्तं तं ततो भवतो चवनत्ता चुतीति वुच्चति ।" – विसु०, पृ० ३२१ ।

२ "तिट्ठति पवत्तति ततकिच्चवन्तं चित्तं एत्था ति ठानं, ओकासो, ततअन्तराकालो ति वुत्तं होति । कालो पि हि कालवन्तानं पवत्तिविसयत्ता ठानं ति वुच्चति ।" – प० दी०, पृ० १०६ ।

३ ध० स० मू० टी०, पृ० ६३ ।

काल होता है वह 'स्थान' है। यह दो चित्तो का मध्यवर्ती काल, परमार्थ-धर्म न होने के कारण, अथच प्रज्ञप्तिमात्र होने के कारण, 'अन्तरापञ्ञत्ति' (अन्त प्रज्ञप्ति) भी कहा गया है[1]।

जैसे – न्यायाधीश, न्यायकृत्य एव न्यायालय – ये तीन होते है, उसी प्रकार प्रतिसन्धिचित्त, प्रतिसन्धानकृत्य एव प्रतिसन्धान करने का काल अर्थात् स्थान – ये भी तीन होते है। वह 'काल' नामक स्थान भी अभाव-प्रज्ञप्ति है अत 'चु – प – भ –' मे उस
ooo ooo ooo
अभाव-प्रज्ञप्ति के प्रतिनिधिरूप मे 'काल' नामक 'स्थान' को शून्यो के द्वारा दिखलाया गया है। एक एक शून्यत्रिक, स्थान का सूचक है तथा 'चु – प – भ – ' ये तीन उस स्थान मे च्यवन, प्रतिसन्धान-आदि कृत्य करनेवाले च्युतिचित्त, प्रतिसन्धिचित्त एव भवङ्गचित्त के सूचक है – इस प्रकार कृत्य एव स्थान का भेद अत्यन्त स्पष्ट होता है। तथा कृत्य चौदह प्रकार का होने से और स्थान दस प्रकार का होने से भी उनका परस्पर असदृश स्वभाव स्पष्ट होता है।

विभावनीवाद – विभावनीकार का कहना है कि "यद्यपि प्रतिसन्धिकृत्य भी चित्त है और प्रतिसन्धि-स्थान भी चित्त ही है, अत कृत्य एव स्थान दोनो अभिन्न है, तथापि शिलापुत्रक के शरीर की भाँति, अभेद मे भेदोपचार करके, इनका यहाँ पृथक् प्रयोग किया गया है – ऐसा समझना चाहिये[2]"।

परमत्थदीपनीकार का कहना है कि "'विभावनी का कृत्य एव स्थान को अभिन्न कहना और शिलापुत्र के शरीर की भाँति, अभेद मे भेदोपचार करके, इनका प्रयोग किया गया है' – यह कथन ग्रहण करने योग्य नही है, क्योकि यद्यपि 'काल' स्वभाव (परमार्थ) से विद्यमान नही है तथापि चित्त से पृथक् अधिकरणभूत एक प्रज्ञप्ति-धर्म है।" अपने मत की पुष्टि के लिये वे अट्ठकथा के इस वचन को उद्धृत करते है

"इमेस अट्ठन्न महाविपाकचित्तान विपच्चनट्ठान वेदितब्ब। एतानि हि चतूसु ठानेसु विपच्चन्ति – पटिसन्धिय, भवङ्गे, चुतिय, तदारम्मणे ति। कथ? पटिसन्धिगहणकाले पटिसन्धि हुत्वा विपच्चन्ति। असङ्ख्येय्य आयुकाल भवङ्ग हुत्वा छसु द्वारेसु तदारम्मण हुत्वा, मरणकाले चुति हुत्वा ति[3]।"

अर्थात् इन आठ महाविपाकचित्तो का विपाकस्थान जानना चाहिये। ये (महाविपाक) चार स्थानो मे विपक्व होते है, यथा – प्रतिसन्धि मे, भवङ्ग मे, च्युति मे

---

१. "पटिसन्धि-आदिकाले पन चुतिभवङ्गान अन्तराळ पटिसन्धिया; पटिसन्धि-आवज्जनान, तदारम्मणावज्जनान, जवनावज्जनान, वोट्ठपनावज्जनान च अन्तराळ भवङ्गस्स, तदारम्मणपटिसन्धीन, जवनपटिसन्धीन वा अन्तराळ चुतिया ठान ति वेदितब्ब।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १२६।

२. "पटिसन्धिया ठान पटिसन्धिठान, काम पटिसन्धिविनिम्मुत्त ठान नाम नत्थि, सुखगहणत्थ पन सिलापुत्तकस्स सरीर त्यादीसु विय अभेदे पि भेदपरिकप्पना ति दट्ठब्ब।" – विभा०, पृ० ९६।

३. अट्ठ०, पृ० २१५।

तथा तदालम्बन मे। कैसे? प्रतिसन्धिग्रहणकाल मे प्रतिसन्धिकृत्य होकर, असङ्ख्येय आयु काल मे भवङ्गकृत्य होकर, छह आलम्बनो मे तदालम्बनकृत्य होकर तथा च्युतिकाल मे च्युतिकृत्य होकर–इत्यादि। अट्ठकथा के उपर्युक्त वचन का निष्कर्ष यह है कि काल, प्रज्ञप्त ही सही, चित्त से अतिरिक्त धर्म है। यदि कृत्य एव स्थान अभिन्न होते तो चौदह कृत्यो की तरह चौदह स्थान भी होते, किन्तु अनुरुद्धाचार्य ने कृत्यो को चौदह तथा स्थानो को दस कहा है। अत सिद्ध होता है कि स्थान (काल), कृत्य से भिन्न पदार्थ है[1]।

स्थानभेद–स्थान दशविध है, यथा–प्रतिसन्धि, भवङ्ग, आवर्जन, पञ्चविज्ञान, सम्पटिच्छन, सन्तीरण, वोट्ठपन, जवन, तदालम्बन एव च्युति।

यह कहा ही जा चुका है कि प्रतिसन्धि-आदि किन्ही तीन वीथिचित्तो के मध्यवर्ती चित्त से अवच्छिन्न काल को 'स्थान' कहते है। उन्हे निम्नलिखित प्रकार से समझना चाहिये·

१. च्युति के अनन्तर प्रतिसन्धिकृत्यस्थान होता है।

२. प्रतिसन्धि के अनन्तर भवङ्गकृत्यस्थान होता है।

३ भवङ्ग के अनन्तर पञ्चद्वारवीथि मे–अहेतुक क्रियामनोधातु का, तथा मनोद्वारवीथि मे–अहेतुक क्रियामनोविज्ञानधातु का एक आवर्जनकृत्यस्थान होता है। पृथक् पृथक् वीथि मे होने के कारण, भवङ्ग के अनन्तर आवर्जन एक कृत्यस्थान ही है।

४ दर्शन, श्रवण, घ्राण (घायन), आस्वादन (सायन) एव स्पर्शन कृत्य, कुशल-विपाक एव अकुशलविपाक भेद से 'द्विपञ्चविज्ञानकृत्य' कहे जाते है। किसी एक काल मे एक ही कृत्य होगा, अत द्विपञ्चविज्ञानकृत्यो का पञ्चद्वारावर्जन के अनन्तर एक ही कृत्यस्थान है।

५ ६ ७ द्विपञ्चविज्ञानकृत्य के अनन्तर क्रमश सम्पटिच्छन, सन्तीरण एव वोट्ठपन नामक कृत्यस्थानो को जानना चाहिये।

८ जवनकृत्य, पञ्चद्वारवीथि मे वोट्ठपनकृत्य के अनन्तर, तथा मनोद्वारवीथि मे मनोद्वारावर्जनकृत्य के अनन्तर, अभिप्रवृत्त होता है। पञ्चद्वारवीथि मे वोट्ठपन-कृत्य तथा मनोद्वारवीथि मे मनोद्वारावर्जनकृत्य–ये दोनो अहेतुक क्रियामनोविज्ञानधातु के कृत्य है। आगे कहा भी गया है कि 'मनोद्वारावज्जनमेव पञ्चद्वारे वोट्ठपनकिच्च साधेति[2] पञ्चद्वारवीथि मे मनोद्वारावर्जन ही वोट्ठपनकृत्य सिद्ध करता है अर्थात् पञ्चद्वारवीथि मे यह 'वोट्ठपन' कहा जाता है और यह मनोविज्ञानधातु का कृत्य है। अत अहेतुक क्रियामनोविज्ञानधातु के अनन्तर एक जवनकृत्यस्थान है।

९ जवन का अवसान होने पर एक तदालम्बनकृत्यस्थान है।

१० भव के अन्त मे एक 'च्युति' नामक कृत्यस्थान है[3]।

यह कहा गया है कि दो कृत्यो अर्थात् दो वीथिचित्तो के मध्यवर्ती काल को

---

१ द्र०–प० दी०, पृ० १०६। २. द्र०–अभि० स० ३ : २४, पृ० २३३।

३ इन स्थानो का विस्पष्ट ज्ञान करने के लिये द्र०–अभि० स०, चतु० परि०, 'पञ्चद्वारवीथि' एव 'मनोद्वारवीथि'।

२० तत्थ द्वे उपेक्खासहगतसन्तीरणानि चेव अट्ठ महाविपाकानि च नव रूपारूपविपाकानि चेति एकूनवीसति चित्तानि पटिसन्धि-भवङ्ग-चुति-किच्चानि नाम।

वहाँ (कृत्यसङग्रह मे) उपेक्षासहगत सन्तीरणचित्त २, महाविपाकचित्त ८, तथा रूपावचर एव अरूपावचर विपाकचित्त ९ – इस प्रकार १९ चित्त प्रतिसन्धि, भवङ्ग एव च्युति कृत्य करनेवाले होते है।

'स्थान' कहते है। ये स्थान यद्यपि नाम से १० कहे गये है तथापि वीथि के अनुसार इनकी सङ्ख्या २५ होती है। उसे इस प्रकार जानना चाहिये[1]

१ च्युति एव भवङ्ग के अन्तराल मे एक प्रतिसन्धिस्थान है।

२–७ प्रतिसन्धि एव आवर्जन के अन्तराल मे, जवन एव आवर्जन के अन्तराल मे, तदालम्बन एव आवर्जन के अन्तराल मे, तथा वोट्ठपन एव आवर्जन के अन्तराल मे, कदाचित् जवन एव च्युति के अन्तराल मे और तदालम्बन एव च्यति के अन्तराल मे भवङ्गस्थान होता है – इस प्रकार भवङ्गस्थान छह है।

८–९ पञ्चद्वारवीथि मे भवङ्ग एवं पञ्चविज्ञान के अन्तराल मे तथा मनोद्वारवीथि मे भवङ्ग एव जवन के अन्तराल मे दो आवर्जनस्थान होते है।

१० पञ्चद्वारावर्जन एव सम्पटिच्छन के अन्तराल मे एक पञ्चविज्ञानस्थान होता है।

११ पञ्चविज्ञान एव सन्तीरण के अन्तराल मे एक सम्पटिच्छनस्थान होता है।

१२ सम्पटिच्छन एव वोट्ठपन के अन्तराल मे एक सन्तीरणस्थान होता है।

१३-१४ सन्तीरण एव जवन के अन्तराल मे तथा सन्तीरण एव भवङ्ग के अन्तराल मे दो वोट्ठपनस्थान होते है।

१५-२० वोट्ठपन एव तदालम्बन के अन्तराल मे, वोट्ठपन एवं भवङ्ग के अन्तराल मे, वोट्ठपन एव च्युति के अन्तराल मे, मनोद्वारावर्जन एव तदालम्बन के अन्तराल मे, मनोद्वारावर्जन एव भवङ्ग के अन्तराल मे तथा मनोद्वारावर्जन एव च्युति के अन्तराल मे जवनस्थान होता है – इस प्रकार जवनस्थान कुल छह है।

२१-२२ जवन एव भवङ्ग के अन्तराल मे तथा जवन एव च्युति के अन्तराल मे दो तदालम्बनस्थान होते है।

२३-२५ जवन एव प्रतिसन्धि के अन्तराल मे, तदालम्बन एव प्रतिसन्धि के अन्तराल मे तथा भवङ्ग एव प्रतिसन्धि के अन्तराल मे तीन च्युतिस्थान होते है।

इस प्रकार कुल २५ स्थान होते है।

२०. तीन सन्तीरणचित्तो मे से दो उपेक्षासहगत सन्तीरण ही प्रतिसन्धि, भवङ्ग एव च्युति कृत्य करते है, सौमनस्यसहगत सन्तीरण नही, क्योकि सौमनस्यचित्त अतिदुर्बल

---

१ सङ्खेप०, पृ० २४१, विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १२६।

२१. आवज्जनकिच्चानि पन द्वे ।

२२. तथा दस्सन-सवन-घायन-सायन-फुसन-सम्पटिच्छनकिच्चानि च ।

२३ तीणि सन्तीरणकिच्चानि ।

२४ मनोद्वारावज्जनमेव पञ्चद्वारे वोट्ठपनकिच्चं साधेति ।

२५ आवज्जनद्वयवज्जितानि कुसलाकुसल-फल-क्रियाचित्तानि पञ्च-पञ्ञास जवनकिच्चानि ।

दो चित्त (पञ्चद्वारावर्जन एव मनोद्वारावर्जन) आवर्जनकृत्य करनेवाले होते है ।

उसी प्रकार दर्शन, श्रवण, घ्राण, आस्वादन, स्पर्श एव सम्पटिच्छन कृत्य करनेवाले भी दो दो चित्त होते हैं ।

तीन चित्त सन्तीरणकृत्य करनेवाले होते है ।

मनोद्वारावर्जनचित्त ही पञ्चद्वार मे वोट्ठपनकृत्य सिद्ध करता है ।

आवर्जनद्वयवर्जित कुशल, अकुशल, फल (लोकोत्तर) एव क्रिया चित्त —इस प्रकार कुल ५५ चित्त जवनकृत्य करनेवाले होते हैं ।

होने के कारण प्रतिसन्धि देने मे असमर्थ होता है । हीन द्विहेतुक कुशल स्वय सौमनस्ययुक्त होने पर भी, दुर्बल होने के कारण सौमनस्यप्रतिसन्धि नही दे सकता, अत सौमनस्यसन्तीरण प्रतिसन्धिस्थान नही होता । इसीलिये 'पट्ठान'[1] मे भी सौमनस्यसन्तीरण को प्रतिसन्धिस्थान मे उद्धृत नही किया गया है[2] ।

२५. ५५ चित्त जवनकृत्य करते हैं, यथा—कुशलचित्त २१, अकुशलचित्त १२, लोकोत्तर फलचित्त ४ एव आवर्जनद्वयवर्जित क्रियाचित्त १८=५५ चित्त ।

आवज्जनद्वयवज्जितानि—मनोद्वारावर्जनचित्त परित्त-आलम्बन मे दो तीन बार प्रवृत्त होने पर भी जवनकृत्य क्यो नही करता ?

उत्तर—मनोद्वारावर्जन परित्त-आलम्बन मे दो तीन बार प्रवृत्त होने पर भी जवनकृत्य इसलिये नही कर पाता, चूंकि वह आलम्बन के रस का अनुभव करने मे असमर्थ होता है । 'जवन' यह चित्त का स्वभाव होता है, दो तीन बार प्रवृत्त होने से जवन का कोई सम्बन्ध नही है । लोकोत्तर मार्ग-आदि की एकचित्तक्षण प्रवृत्ति होने

---

१. प०, द्वि० भा०, पृ० १२१-१२४ ।

२ "यस्मा ओमक द्विहेतुककुसल सय सोमनस्सयुत्तं पि समानं अतिदुब्बलत्ता सोमनस्सपटिसन्धि दातु न सक्कोति, तस्मा, सोमनस्ससन्तीरण पटिसन्धिट्ठान न गच्छतीति वुत्त—'द्वे उपेक्खासहगतसन्तीरणानि चेवा' ति । तथा हि पट्ठाने पीतिसहगतत्तिके पटिच्चवारे हेतुपच्चनिके त पटिसन्धिट्ठाने न उद्धट ति ।"—प० दी०, पृ० १०६ । तु०—विभा०, पृ० ६६ ।

२६ अट्ठ* महाविपाकानि चेव सन्तीरणत्तयञ्चेति एकादस तदारमण-किच्चानि ।

महाविपाक ८ तथा सन्तीरण ३ – इस प्रकार कुल ११ चित्त तदालम्बनकृत्य करनेवाले होते हैं ।

पर भी वे जवनस्वभाव होने से, 'जवनकृत्य' – इस नाम को प्राप्त करते हैं, जैसे – एक एक विषय (गोचर) को आलम्बन बनाने पर भी 'सर्वज्ञताज्ञान' (सब्बञ्ञुतञाण) समस्त विषयो मे अवबोधन के सामर्थ्य से युक्त होने के कारण, कभी भी अपने 'सर्वज्ञताज्ञान' इस नाम को नही छोडता[1] ।

परमत्थदीपनीवाद – परमत्थदीपनीकार कहते है कि मनोद्वारावर्जन परित्त-आलम्बन मे अथवा अविभूत-आलम्बन मे दो तीन बार प्रवृत्त होने पर भी, विपाकसन्तान से प्रत्ययलाभ करनेवाला होने से दुर्बल होने के कारण, जवनवेगरहित ही होता है, अत यह जवनकृत्य करनेवाला नही होता । 'विभावनी' मे जो यह कारण बताया गया है – 'चूंकि मनोद्वारावर्जन आलम्बन के रस का अनुभव करने मे असमर्थ होता है, अत जवनकृत्य नही कर पाता' – यह कारण नही हो सकता, क्योकि 'आलम्बन के रस का अनुभव करना' जवनकृत्य की सिद्धि मे अथवा 'जवन' – इस नाम के लाभ मे हेतु नही है, वह (आलम्बनरसानुभव) तो जवनकृत्य की सिद्धि का फल है । फल (लोकोत्तर) - चित्त आसेवनभाव (आलम्बनरसानुभव) से रहित होने पर भी, मार्गचेतना के महानुभाव (सामर्थ्य) से तथा परिकर्म-भावना के बल से प्रवृत्त होने के कारण आलम्बन मे वेगपूर्वक ही पतित होते है और इसीलिये उनका जवनकृत्य करनेवालो मे ग्रहण किया गया है । विभावनीकार ने 'मार्ग एव अभिज्ञाजवनो के एक बार प्रवृत्त होने के कारण उनका जवनकृत्य सम्पन्न नही होता, अपितु जवनस्वभाव होने से जवनकृत्य सम्पन्न होता है' – इस अभिप्राय से "एकचित्तक्खणिक पि हि लोकुत्तरमग्गादिक तसभाववन्तताय जवनकिच्च नाम"[2] – ऐसा कहकर सर्वज्ञताज्ञान की उपमा द्वारा जो उस अर्थ का प्रकाश किया है, वह युक्तियुक्त नही है[3] ।

---

* ना० मे नही ।

१. "मनोद्वारावज्जनस्स परित्तारम्मणे द्वितिक्खत्तु पवत्तमानस्स पि नत्थि जवन-किच्च, तस्स आरम्मणरसानुभवनाभावतो ति वुत्त – 'आवज्जनद्वयवज्जिता-नी' ति । एकचित्तक्खणिक पि हि लोकुत्तरमग्गादिक तसभाववन्तताय जवन-किच्चं नाम । यथा – एकेकगोचरविसय पि सब्बञ्ञुतञाण सकलविसयाव-बोधनसामत्थिययोगतो न कदाचि त नाम विजहतीति ।" – विभा०, पृ० ९७ ।

२ विभा०, पृ० ९७ ।

३. प० दी०, पृ० १०६-१०७ ।

२७. तेसु पन द्वे उपेक्खासहगतसन्तीरणचित्तानि पटिसन्धि-भवङ्ग-चुति-तदारमण-सन्तीरणवसेन पञ्चकिच्चानि नाम।

२८. महाविपाकानि अट्ठ पटिसन्धि-भवङ्ग-चुति-तदारमणवसेन चतुकिच्चानि नाम*।

२९. महग्गतविपाकानि नव पटिसन्धि-भवङ्ग-चुतिवसेन तिकिच्चानि नाम*।

उन (तीन सन्तीरणचित्तों) मे से २ उपेक्षासहगत सन्तीरणचित्त प्रतिसन्धि, भवङ्ग, च्युति, तदालम्बन एवं सन्तीरण के वश से पाँच कृत्य करनेवाले होते हैं।

८ महाविपाक चित्त प्रतिसन्धि, भवङ्ग, च्युति एवं तदालम्बन के वश से चार कृत्य करनेवाले होते हैं।

९ महग्गत विपाकचित्त प्रतिसन्धि, भवङ्ग एव च्युति के वश से तीन कृत्य करनेवाले होते हैं।

---

२७ विपाकाहेतुक मनोविज्ञानधातु 'सन्तीरणकृत्य' है। वह सौमनस्यसहगत सन्तीरण (कुशलविपाक), उपेक्षासहगत सन्तीरण (कुशलविपाक) तथा उपेक्षासहगत सन्तीरण (अकुशलविपाक) – इस प्रकार कुशल-अकुशलविपाक के वश से त्रिविध है। इनमे से कुशल एव अकुशल विपाकभूत दो अहेतुक मनोविज्ञानधातु (दो उपेक्षासन्तीरण) ही प्रतिसन्धि, भवङ्ग, च्युति, सन्तीरण एव तदालम्बन – इन पाँच कृत्यो को सिद्ध करती हैं।

जब वह अकुशलविपाक के रूप मे उत्पन्न होती है तब प्रतिसन्धिचित्त होकर चार अपाययोनियो मे प्रतिसन्धिकृत्य का सम्पादन करती है तथा वही भवङ्गचित्त होकर आयु पर्यन्त यथासम्भव भवङ्गकृत्य करती है तथा आयु के पर्यवसित होने पर च्युतिकृत्य सिद्ध करती है।

[यहाँ यह ज्ञातव्य है कि प्रतिसन्धि, भवङ्ग एव च्युति चित्त, नाम से भिन्न भिन्न होने पर भी, स्वरूपत एक ही होते है।]

जब वह (अहेतुक मनोविज्ञानधातु) कुशलविपाक के रूप मे प्रवृत्त होती है तब यदि बलवान् कुशलकर्मों का विपाक होती है तो मनुष्ययोनि मे श्रीमान् पुरुषो में, तथा दुर्बल कुशलकर्मो का विपाक होती है तो जात्यन्ध, जातिबधिर, मूक-आदि पुद्गलों मे प्रतिसन्धि होकर प्रतिसन्धिकृत्य करती है। यहाँ भी वह पूर्वोक्त प्रकार से प्रतिसन्धि, भवङ्ग एव च्युति कृत्यो को निष्पन्न करती है। सौमनस्यसहगत विपाकाहेतुक मनोविज्ञानधातु (सौमनस्यसन्तीरण) प्रतिसन्धिकृत्य का सम्पादन नही करती।

तीनो अहेतुकविपाक मनोविज्ञानधातु (सन्तीरणत्रय) सन्तीरण एव तदालम्बनकृत्य का सम्पादन करती हैं।

---

* ना० मे नही।

३० सोमनस्ससहगतं* सन्तीरणं* सन्तीरण-तदारमणवसेन दुकिच्चं, तथा वोट्ठपनं† वोट्ठपनावज्जनवसेन।

३१ सेसानि पन सब्बानि पि जवन-मनोधातुत्तिक-द्विपञ्चविञ्ञाणानि‡ यथासम्भवमेककिच्चानीति।

३२ पटिसन्धादयो नाम किच्चभेदेन चुद्दस।
दसधा ठानभेदेन चित्तुप्पादा पकासिता॥

३३ अट्ठसट्ठि§ तथा द्वे च नवाट्ठ* द्वे यथाक्कमं।
एक-द्वि-ति-चतु-पञ्चकिच्चट्ठानानि$ निद्दिसे॥

सौमनस्यसहगत सन्तीरणचित्त सन्तीरण एव तदालम्बन के वश से दो कृत्य करनेवाला होता है, उसी प्रकार वोट्ठपनचित्त वोट्ठपन एव आवर्जन के वश से दो कृत्य करनेवाला होता है।

पूर्ववर्णित चित्तों से अवशिष्ट सभी जवनचित्त, मनोधातुत्रय एवं द्विपञ्चविज्ञानचित्त यथासम्भव एक एक कृत्य करनवाल होते है।

प्रतिसन्धि-आदि चित्तोत्पादों के कृत्य-भेद से चौदह प्रकार तथा स्थानभेद से दस प्रकार प्रकाशित किये गये है।

एक कृत्य एवं एक स्थान, दो कृत्य एवं दो स्थान, तीन कृत्य एवं तीन स्थान, चार कृत्य एव चार स्थान तथा पाँच कृत्य एवं पाँच स्थान वाले चित्तों का यथाक्रम ६८, २, ९, ८ एवं २ – इस प्रकार निर्देश करना चाहिये।

---

३१ **यथासम्भवमेककिच्चानि** – शेष जवन ५५, मनोधातुत्रय (३) तथा द्विपञ्च-विज्ञान १० – इस तरह ये ६८ चित्त एक कृत्य करते है। जवनचित्त ५५ केवल एक जवनकृत्य करते हैं। मनोधातुत्रय मे पञ्चद्वारावर्जनचित्त केवल एक आवर्जनकृत्य तथा सम्पटिच्छनद्वय केवल एक सम्पटिच्छनकृत्य करते हैं। १० द्विपञ्चविज्ञानचित्तो मे से चक्षुर्विज्ञानद्वय केवल दर्शनकृत्य, श्रोत्रविज्ञानद्वय केवल श्रवणकृत्य, घ्राणविज्ञानद्वय केवल गन्धग्रहण (घायन) - कृत्य, जिह्वाविज्ञानद्वय केवल आस्वादन (सायन) – कृत्य तथा कायविज्ञानद्वय केवल एक सस्पर्शन (फुसन) – कृत्य करते है। इस प्रकार उपर्युक्त चित्त यथासम्भव एक एक कृत्य करनेवाले होते है।

३२. इस कृत्यसङग्रह मे प्रतिसन्धि-आदि चित्तोत्पादो का कृत्यभेद से चौदह प्रकार का तथा स्थानभेद से दस प्रकार का विभाग करके वर्णन किया गया है।

- सोमनस्ससन्तीरण – रो०, म० (क, ख)। † ०च – ना०।
‡ ०मनोधातुतिक० – स्या० ('तिक' सर्वत्र)। § अट्ठसट्ठी – स्या०।
* नवट्ठ – सी०, स्या०, ना०।
$ ०चतुप्पञ्च० – सी०; ०किच्चठानानि – रो०, म० (ख)।

विभावनीकार गाथा मे कथित 'नाम' शब्द का 'कृत्य' शब्द के साथ अन्वय करके इस प्रकार अर्थ करते है–"प्रतिसन्धि-आदि चित्तोत्पादो का नामभेद से तथा कृत्यभेद से चौदह प्रकार का विभाग करके वर्णन किया गया है"[1] ।

किन्तु विभावनीकार का उपर्युक्त अन्वयार्थ युक्तियुक्त नही है, क्योकि ग्रन्थकार ने चित्तोत्पादो का नामभेद से चौदह प्रकार का उल्लेख कही भी नही किया है[2] ।

३३ पूर्वोक्त विधि से जवनचित्त ५५, मनोधातु ३, तथा द्विपञ्चविज्ञान १०=६८ चित्त एक कृत्य तथा एक स्थानवाले है । सौमनस्यसन्तीरण (सौमनस्यसहगत अहेतुक-विपाक मनोविज्ञानधातु) सन्तीरण एव तदालम्बन नामक दो कृत्य एव दो स्थान वाला है तथा 'वोट्ठपन' (उपेक्षासहगत अहेतुकक्रियामनोविज्ञानधातु) भी 'वोट्ठपन' (व्यवस्थापन) एव 'आवर्जन' नामक दो कृत्य एव दो स्थान वाला है । इस प्रकार सौमनस्यसन्तीरण एव 'वोट्ठपन' (मनोद्वारावर्जन)–ये दो चित्त दो कृत्य एव दो स्थान वाले है । ६ चित्त (महग्गतविपाक) तीन कृत्य (प्रतिसन्धि, भवङ्ग, च्युति) एव तीन स्थान वाले है । ८ चित्त (महाविपाक) चार कृत्य (प्रतिसन्धि, भवङ्ग, च्युति, तदालम्बन) एव चार स्थान वाले है । दो उपेक्षासहगत सन्तीरणचित्त (उपेक्षासहगत अहेतुक विपाकमनोविज्ञानधातु) पॉच कृत्य (प्रतिसन्धि, भवङ्ग, च्युति, तदालम्बन, सन्तीरण) एव पॉच स्थान वाले है ।

यह गाथा पूर्वोक्त चित्तो का कृत्य एव स्थान के साथ सङ्ग्रह रूप से वर्णन करती है ।

चैतसिकविभाग–'गृहीतग्रहणनय' से चैतसिको का विभाग चैतसिकसङ्ग्रह मे उक्त 'सम्प्रयोगनय' एव 'सङ्ग्रहनय' के आधार पर जानना चाहिये ।

यहाँ अब हम 'अगृहीतग्रहणनय' से चैतसिको के विभाग का विचार करते है ।

(क) एक कृत्य करनेवाले चैतसिक अकुशल चैतसिक १४, तथा विरति चैतसिक ३=१७ चैतसिक–केवल एक 'जवनकृत्य' करते है ।

(ख) चार कृत्य करनेवाले चैतसिक २ 'अप्पमञ्ञा' चैतसिक–प्रतिसन्धि, भवङ्ग, च्युति एव जवन नामक चार कृत्य करते है ।

(ग) पाँच कृत्य करनेवाले चैतसिक ३ विरति चैतसिक एव २ 'अप्पमञ्ञा' चैतसिक=५ चैतसिको को वर्जित कर अवशिष्ट शोभन चैतसिक २० एव छन्दचैतसिक १=२१ चैतसिक–प्रतिसन्धि, भवङ्ग, च्युति जवन एव तदालम्बन नामक पाँच कृत्य करते है ।

---

१ "पटिसन्धादयो चित्तुप्पादा नामकिच्चभेदेन पटिसन्धादीन नामान किच्चान च भेदेन, अथ वा–पटिसन्धादयो नाम तनामका चित्तुप्पादा पटिसन्धादीन किच्चान भेदेन चुद्दस, ठानभेदेन पटिसन्धादीनं येव ठानान भेदेन दसधा पकासिता ति योजना ।"–विभा०, पृ० ६७ ।

२ "पटिसन्धादयो नाम चित्तुप्पादा ति सम्बन्धो। विभावनिय पन 'नामकिच्च-भेदेना' ति पि योजेति, त न सुन्दर, नामभेदस्स विसु वत्तब्बाभावतो ति ।" –प० दी०, पृ० १०७ ।

द्वारसङ्गहो

३४ द्वारसङ्गहे द्वारानि नाम – चक्खुद्वारं, सोतद्वारं, घानद्वारं, जिव्हाद्वारं, कायद्वारं, मनोद्वारञ्चेति छब्बिधानि* भवन्ति।

द्वारसङ्ग्रह मे द्वार – चक्षुर्द्वार, श्रोत्रद्वार, घ्राणद्वार, जिह्वाद्वार, कायद्वार एव मनोद्वार – इस प्रकार षड्विध होते है।

(घ) छह कृत्य करनेवाले चैतसिक प्रीति चैतसिक – प्रतिसन्धि, भवङ्ग, च्युति, जवन, तदालम्बन एव सन्तीरण नामक छह कृत्य करता है।

(ङ) सात कृत्य करनेवाले चैतसिक वीर्य चैतसिक – प्रतिसन्धि, भवङ्ग, च्युति, जवन, तदालम्बन, आवर्जन एव वोट्ठपन नामक सात कृत्य करता है।

(च) नौ कृत्य करनेवाले चैतसिक वितर्क, विचार एव अधिमोक्ष नामक ३ चैतसिक – प्रतिसन्धि, भवङ्ग, च्युति, जवन, तदालम्बन, आवर्जन, वोट्ठपन, सन्तीरण एव सम्पटिच्छन नामक नौ कृत्य करते है।

(छ) चौदह कृत्य करनेवाले चैतसिक ७ सर्वचित्तसाधारण चैतसिक चौदहो कृत्य करते है।

कृत्यसङ्ग्रह समाप्त।

द्वारसङ्ग्रह

३४ चक्षुष्-आदि द्वार तथा उन द्वारो मे प्रवृत्त चित्त-चैतसिक धर्मों का परिच्छेद करके यहाँ सङ्ग्रह किया गया है, अत इस सङ्ग्रह को 'द्वारसङ्ग्रह' कहते है[1]।

अथवा – चक्षुष्-आदि द्वारो के भेद से चित्त-चैतसिक धर्मों का सङ्ग्रह करने वाले सङ्ग्रह को 'द्वारसङ्ग्रह' कहते है[2]।

इस सङ्ग्रह मे सर्वप्रथम छह मूलद्वारो का वर्णन किया गया है।

जिससे दो अर्थात् द्विविध जन जाते है वह 'द्वार' है। अर्थात् किसी नगर के अन्दर रहनेवाले तथा बाहर रहनेवाले मनुष्य जिस छिद्रमार्ग से नगर से बाहर जाते है या उसमे प्रवेश करते है उस छिद्रमार्ग को 'द्वार' कहते है।

---

* छब्बिध – रो०।

१ "द्वारान द्वारप्पवत्तचित्तान च परिच्छेदवसेन सङ्गहो द्वारसङ्गहो, आवज्जनादीन अरूपधम्मान पवत्तिमुखभावतो द्वारानि विया ति द्वारानि।" – विभा०, पृ० ९७।

२ "चक्खादीन द्वारान भेदेन चित्तचेतसिकान सङ्गहो द्वारसङ्गहो।" – प० दी०, पृ० १०७, "चक्खादीहि द्वारेहि द्वारप्पवत्तचित्तपरिच्छेदवसेन सङ्गहो द्वारसङ्गहो, आवज्जनादीन अरूपधम्मान पवत्तिमुखभावतो द्वारानि।" – अभि० स० टी०, पृ० ३०६, "द्वारान च तद्वारिकान च सङ्गहो द्वारसङ्गहो।" – सङ्खेप०, पृ० २४१।

अथवा – द्विविध जन जिस स्थान पर जाते है उस स्थान को भी 'द्वार' कहते है[1]।

'द्वरीयन्ते सवरीयन्ते ति द्वारानि' – इस विग्रह के अनुसार प्राकृतिक द्वार (स्वाभाभाविक छिद्र) को ही 'द्वार' (दरवाजा) कहा जाता है, दरवाजे के पल्लो को नही। यहाँ पर 'द्वारानि विया ति द्वारानि' – ऐसा विग्रह करके द्वार की भाँति होने के कारण 'चक्षु प्रसाद' आदि को भी 'द्वार' कहा गया है। जिस प्रकार यदि किसी घर मे द्वार नही होता है तो लोग उसमे प्रवेश नही कर पाते है और इसीलिये घर का द्वार लोगो का प्रवेशस्थान होता है, उसी प्रकार यदि चक्षु प्रसाद-आदि नही होते है तो चक्षुर्द्वारिक वीथिचित्त-आदि भी प्रवृत्त नही हो पाते है। अतएव स्कन्धरूपी गृह के चक्षु प्रसाद-आदि द्वार चक्षुर्द्वारिक-आदि वीथिचित्तो के 'प्रवृत्तिस्थान' होते है[2]। 'मूलटीका' मे भी इसी अर्थ का प्रतिपादन किया गया है, यथा – "वळञ्जन्ति पविसन्ति एतेना ति वळञ्जन, तद्वारिकान फस्सादीन वळञ्जनट्ठेन द्वार[3]।"

वादान्तर – चक्षुर्मास के भीतर स्थित 'प्रसाद' (स्वच्छभाग) को 'चक्षु प्रसाद' कहते है[4]। श्रोत्रप्रसाद-आदि को भी उसी प्रकार समझना चाहिये। भवङ्ग नामक मनोद्वार भी "पभस्सरमिद, भिक्खवे! चित्त[5]" आदि 'अडगुत्तरनिकाय' पालि के अनुसार प्रभास्वर एव अत्यन्त स्वच्छ होता है। इसीलिये जिस प्रकार बडे बडे महलो के कपाट एव खिडकियो मे लगे शीशो मे बाहर स्थित पदार्थों का प्रतिबिम्ब अवभासित होता है और महल के अन्दर स्थित मनुष्य भी बहिःस्थ पदार्थो को देख लेते है उसी प्रकार स्कन्ध-शरीर मे भी बहिःस्थ नानाविध आलम्बनो का अवभास होने के लिये तथा अन्दर स्थित वीथिचित्तो द्वारा उन (बहिःस्थ आलम्बनो) का ग्रहण करने के लिये चक्षु प्रसाद-आदि छह द्वार महल के कपाट या खिडकी-आदि के समान होते है[6]।

---

१. "द्वे जना अरन्ति गच्छन्ति एतेना ति द्वार, नगरस्स अन्तोजना बहिजना च येन छिद्दमग्गेन निक्खमन्ति पविसन्ति च तस्सेत नाम, द्वे जना अरन्ति गच्छन्ति एत्था ति द्वार ति पि वदन्ति।" – प० दी०, पृ० १०७।

तु० – "द्वे कवाटानि अरन्त्यत्रेति द्वार, दुज्जने वारयन्त्यस्मा रक्खका ति वा द्वार, पविसन निक्खमण चा ति द्वे किच्चानि एत्था ति वा द्वार।" – अभि० प० सू०, पृ० २७१।

२ "त पि हि आरम्मणिकधम्मान आरम्मणधम्मान च निग्गमनपविसनमुखपथभावतो द्वारसदिसत्ता द्वार ति वुच्चतीति।" – प० दी०, पृ० १०७। विस्तार के लिये द्र० – प० दी०, पृ० १०७-१०८।

३ ध० स० मू० टी०, पृ० १४६।

४ द्र० – अभि० स० ६ ५ की व्याख्या।

५ अ० नि०, प्र० भा०, पृ० १०।

६. "यस्मि चक्खुम्हि चन्दमण्डलादीनि रूपनिमित्तानि पञ्ञायन्ति, आवज्जनादीनि च यम्हि पञ्ञातानि तानि निमित्तानि गण्हन्ति, तस्मा तदेव चक्खु तेसं द्विन्न विसयविसयिभावुपगमनस्स मुखपथभूतत्ता चक्खुद्वार नामा ति अत्थो। अथ

३५ तत्थ चक्खुमेव चक्खुद्वारं, तथा सोतादयो सोतद्वारादीनि। मनोद्वारं पन भवङ्गं ति पवुच्चति।

वहाँ (उन छह द्वारों में से) चक्षुप्रसाद ही चक्षुर्द्वार है तथा श्रोत्रप्रसाद-आदि ही श्रोत्रद्वार-आदि हैं। भवङ्गचित्त 'मनोद्वार' कहा जाता है।

उपर्युक्त वाद में प्रयुक्त वचन यद्यपि अत्यन्त ललित प्रतीत होते हैं तथापि वे (वचन) चक्षुप्रसाद के विषय में तो कथञ्चित् युक्तियुक्त कहे भी जा सकते हैं, किन्तु श्रोत्रप्रसाद-आदि के विषय में तथा अभाव-प्रज्ञप्ति भी जिसमें प्रतिभासित होती है उस मनोद्वार के विषय में कथमपि युक्तियुक्त नहीं कहे जा सकते।

[आलम्बन के अवभासित होने के सम्बन्ध में चतुर्थ परिच्छेद में पुष्कल वर्णन उपलब्ध होता है, अतः विशिष्ट ज्ञान के लिये उसे वहीं देखना चाहिये।]

३५ चक्षुप्रसाद ही 'चक्षुर्द्वार' है, इसी प्रकार श्रोत्रप्रसाद-आदि के सम्बन्ध में भी जानना चाहिये[1]।

मनोद्वार – मनस् ही 'मनोद्वार' है। यह चक्षुर्द्वार-आदि की भाँति रूप-धर्म नहीं है, अपितु 'भवङ्गचित्त' है। भवङ्गचित्त के सम्मुख जब आलम्बन उपस्थित होता है तब उस आलम्बन का ग्रहण करके मनोद्वारिक वीथिचित्त प्रवृत्त होते हैं, इसलिये सम्पूर्ण भवङ्गचित्तों को 'मनोद्वार' कहा गया है।

विभावनीकार "'भवङ्ग' ति आवज्जनानन्तर भवङ्ग" – ऐसा कहकर जिसके अनन्तर आवर्जन होता है उस भवङ्गोपच्छेद को 'मनोद्वार' कहना चाहते हैं। उनके अनुसार – 'अतीतभवङ्ग-भवङ्गचलन-भवङ्गोपच्छेद-मनोद्वारावर्जन-जवन' – इस प्रकार की चित्तवीथि में अतीतभवङ्ग एवं भवङ्गचलन – ये दो चित्त 'मनोद्वारावर्जन' आदि वीथिचित्तों का सीधे उपकार नहीं कर सकते, केवल भवङ्गोपच्छेद ही अनन्तरशक्ति से मनोद्वार का सीधे उपकार कर सकता है, अतः भवङ्गोपच्छेद को ही 'मनोद्वार' कहना चाहिये।

अपिच – जिस प्रकार ग्राम के प्रवेशद्वार का ग्राम के साथ अन्तरालरहित सम्बन्ध होता है उसी प्रकार वीथिचित्तों के उत्पत्तिकारणरूप द्वार का वीथिचित्तों के साथ अन्तरालरहित सम्बन्ध होना चाहिये। अतः वीथिचित्तों के उत्पत्तिकारणरूप भवङ्ग को मनोद्वार कहने में भवङ्गोपच्छेद को (अतीतभवङ्ग एवं भवङ्गचलन को नहीं) ही 'मनोद्वार' कहना चाहिये[2]।

वा – येन चक्खुमण्डेन बहिद्धा चन्दमण्डलादीनि रूपानि अन्तो आवज्जनादीनं विसयभावं उपगच्छन्ति, येन च अन्तो आवज्जनादीनं बहिद्धा तेसं रूपानं विसयिभावं उपगच्छन्ति, तमेव यथावुत्तकारणेन चक्खुद्वारं नामा ति अत्थो।"
– प० दी०, पृ० १०७–१०८।

१ "चक्खुमेवा ति – पसादचक्खुमेव।" – विभा०, पृ० ९७।

२. द्र० – विभा०, पृ० ९७।

परमत्थदीपनीकार कहते है कि 'विभावनी' मे जो यह कहा गया है कि "जिसका अपने परवर्ती वीथिचित्तो से अन्तरालरहित सम्बन्ध होता है, अर्थात् जो उत्तरवर्ती वीथिचित्तो से अव्यवहितपूर्व होता है वही 'द्वार' होता है, जैसे – मनोद्वारवीथि मे भवङ्गोपच्छेद 'द्वार' है, क्योकि मनोद्वारवीथि मनोद्वारावर्जन से प्रारम्भ होती है और उसके अव्यवहितपूर्व भवङ्गोपच्छेद ही होता है, अत वह मनोद्वार है। तथा पञ्चद्वार-वीथि मे चक्षु प्रसाद-आदि पाँच प्रसाद 'द्वार' होते है, क्योकि पञ्चद्वारवीथि पञ्चद्वारा-वर्जन से प्रारम्भ होती है और उसके अव्यवहितपूर्व चक्षु प्रसाद-आदि पाँच द्वार ही होते है, अत वे पञ्चद्वारिक वीथिचित्तो की प्रवृत्ति के मुखस्थानीय होने से 'द्वार' है" – यह वाद अव्याप्तिदोष से ग्रस्त होने के कारण अग्राह्य है[1]।

सिद्धान्तपक्ष – यदि वीथिचित्तो के मुख्य उत्पत्तिकारण (चक्षु प्रसाद-आदि) को ही 'द्वार' कहा जाता है तो सुषुप्तिकाल मे अथवा अन्य वीथिचित्तो के उत्पादकाल मे अनेक प्रसाद वीथिचित्तो की उत्पत्ति के कारण नही हो सकते और इस कारण उनके चक्षुर्द्वार-आदि नाम न हो सकेगे। वस्तुत सभी प्रसादरूप, चाहे वे आलम्बन के आभास-स्थान हो अथवा न हो, सर्वथा 'द्वार' होते ही है। जिस प्रकार 'वळञ्जनट्ठेन द्वार' इस परिभाषा के अनुसार प्रवेश एव निष्क्रमण के छिद्र को 'द्वार' कहा ही जाता है, चाहे उससे कोई प्रवेश या निष्क्रमण करे या न करे, उसी प्रकार प्रसादरूप 'द्वार' ही है, चाहे उनमे तत्काल आलम्बन का अवभास हो अथवा न हो। ठीक उसी प्रकार सभी भवङ्ग भी, यदि अवसर प्राप्त होता है तो, वीथिचित्तो की उत्पत्ति के कारण अवश्य होते है, अत उन्हे 'द्वार' कहा जा सकता है, चाहे तत्काल उन से वीथिचित्तो की उत्पत्ति हो रही हो अथवा न हो रही हो। इसीलिये आचार्य अनुरुद्ध भी किसी विशेष भवङ्ग को द्वार न कहकर 'मनोद्वार पन भवङ्ग ति पवुच्चति' – इस प्रकार भवङ्गमात्र (सभी भवङ्गो) को 'मनोद्वार' कहते है।

मनोद्वार के भेद–

(क) "तत्थ अय नाम मनोद्वार न होतीति न वत्तब्बो[2]" – इस पालि के अनुसार सभी पूर्व पूर्व चित्त पश्चिम पश्चिम चित्तो के उत्पाद के लिये अनन्तरशक्ति से उपकार करने के कारण उनके उत्पत्तिकारण होने से 'मनोद्वार' कहे जाते है।

[प्रस्तुत ग्रन्थ मे वर्णित छह द्वारो मे अन्यतम 'मनोद्वार' का इस 'मनोद्वार' से कोई सम्बन्ध नही है।]

(ख) "पटिच्चा ति नाम आगतट्ठाने आवज्जन विसु न कातब्ब, भवङ्गनिस्सित-कमेव कातब्ब ति, तस्मा इध मनो ति सहावज्जनक भवङ्ग[3]" अर्थात् "मनञ्च पटिच्च धम्मे च उप्पज्जति चित्त[4]" इत्यादि स्थलो मे, जिनमे 'पटिच्च' यह शब्द व्यवहृत हुआ

१. प० दी०, पृ० १०८-१०९।

२. अट्ठ०, पृ० ७२।

३. विभ० अ०, पृ० ८३।

४. विभ०, पृ० ११२।

है, भवङ्ग के अनन्तर होनेवाले आवर्जन (मनोद्वारावर्जन) को उस (भवङ्ग) से पृथक् नही करना चाहिये, अपितु उसे भवङ्ग मे ही आश्रित (परिगणित) करना चाहिये। इसलिये "मनञ्च पटिच्च धम्मे च उप्पज्जति चित्त" – इस पालि मे 'मनस्' शब्द का अर्थ 'आवर्जन+भवङ्ग' आवर्जन के साथ होनेवाला भवङ्ग है। विभङ्गट्ठकथा के इस निर्वचन के अनुसार आवर्जन के साथ होनेवाला भवङ्ग 'मनोद्वार' कहा गया है।

आवर्जन के साथ भवङ्ग को 'मनोद्वार' कहने मे विभङ्गट्ठकथाकार का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार 'जवन' नामक मनोविज्ञानचित्त के उत्पाद मे भवङ्गचित्त उपकार करता है, उसी प्रकार मनोद्वारावर्जनचित्त भी उपकार करता है, अत 'मनस् की अपेक्षा करके मनोविज्ञान उत्पन्न होता है' – इसमे मनोविज्ञानचित्त अपने उत्पाद के लिये भवङ्ग और मनोद्वारावर्जन दोनो की अपेक्षा करता है, अत. दोनो मिलकर 'मनस्' है।

यह नय भी सर्वत्र प्रयुक्त नही किया जा सकता, केवल 'मनञ्च पटिच्च..' आदि की तरह के स्थलो मे ही इसका प्रयोग किया जा सकता है। इसलिये 'सच्च-सङ्खेप' के "सावज्जन भवङ्गन्तु मनोद्वार ति वुच्चति[१]" आवर्जन के साथ होनेवाला भवङ्ग 'मनोद्वार' कहा जाता है – इस वचन को 'मनञ्च पटिच्च ' इत्यादि स्थलो से ही सम्बद्ध समझना चाहिये। मणिमञ्जूसाकार ने "'सावज्जन' का अर्थ आवर्जन से 'अनन्तर – अतीत' अर्थात् आवर्जन से अव्यवहितपूर्व निरुद्ध होनेवाला भवङ्ग 'मनोद्वार' है" – यह किया है[२], किन्तु यह अर्थ अट्ठकथाओ के अर्थो से विपरीत होने के कारण अनुपादेय है।

(ग) कायद्वार, वाग्द्वार, मनोद्वार – इन द्वारो मे चित्तो का विभाजन करते समय कुशल एव अकुशल जवनचित्तो को 'मनोद्वार' कहनेवाला नय भी है[३]।

इस प्रकार 'मनोद्वार' का यथायोग्य नानाविध अर्थ किया जाने पर भी यहाँ "छट्ठस्स पन भवङ्गमनसङ्खातो मनायतनेकदेसो व उप्पत्तिद्वार[४]" के अनुसार सम्पूर्ण भवङ्गचित्तो को ही 'मनोद्वार' कहना चाहिये[५]।

---

१ विभा०, पृ० ९७। 'परमत्थदीपनी' एव 'विभावनी' मे यह वचन 'सच्चसङ्खेप' के नाम से उल्लिखित है, किन्तु उक्त ग्रन्थ के रोमन सस्करण मे यह प्राप्य नही है।

२ "अनन्तर पि सहित विय वुत्त – 'सावज्जन' ति। अथ वा – 'सह' सद्दस्स निपातत्ता निपातान च अनेकट्ठत्ता तस्स अनन्तरट्ठत्त सन्धायाह – 'सावज्जन' ति।" – मणि०, प्र० भा०, पृ० २९१।

३. "तेभूमककुसलाकुसलो एकूनतिसविधो मनो मनोकम्मद्वार नाम।" – अट्ठ०, पृ० ७२।

४. विभ० अ०, पृ० ४८।

५. विस्तार के लिये द्र० – प० दी०, पृ० १०८-१०९।

३६. तत्थ पञ्चद्वारावज्जन - चक्खुविञ्ञाण - सम्पटिच्छन - सन्तीरण- वोट्ठपन - कामावचरजवन - तदारमणवसेन* छचत्तालीस चित्तानि चक्खुद्वारे यथारहं उप्पज्जन्ति ।

वहाँ (उन छह द्वारों में से) चक्षुर्द्वार में पञ्चद्वारावर्जन (१), चक्षुर्विज्ञान (२), सम्पटिच्छन (२), सन्तीरण (३), वोट्ठपन (१), कामावचरजवन (२९) तथा तदालम्बन (८) के वश से ४६ चित्त यथायोग्य उत्पन्न होते हैं ।

---

३६. यहाँ चक्षुर्द्वारवीथि में ४६ चित्त यथायोग्य उत्पन्न होते हैं, यथा – पञ्च-द्वारावर्जन १, चक्षुर्विज्ञान २, सम्पटिच्छन २, सन्तीरण ३, वोट्ठपन (मनोद्वारावर्जन) १, कामावचरजवन २९, तदालम्बन ८ (यद्यपि तदालम्बन चित्त ११ होते हैं, किन्तु उनमें ३ सन्तीरणचित्तों की गणना अन्यत्र कर दी गयी है) – इस प्रकार ये चित्त कुल ४६ होते हैं ।

यथारहं उप्पज्जन्ति – यद्यपि यह कहा गया है कि चक्षुर्द्वारवीथि में ४६ चित्त उत्पन्न होते हैं तथापि इसका तात्पर्य यह नहीं है कि एक वीथि में ही ये सभी ४६ चित्त प्राप्त होते हैं, अपितु आलम्बन, भूमि, पुद्गल एवं मनसिकार के अनुसार ये उसमें यथायोग्य ही उत्पन्न होते हैं[1], यथा –

(क) आलम्बन यदि अनिष्टालम्बन होता है तो "अनिट्ठे आरमणे अकुसल-विपाकानेव[2]" – इत्यादि तदालम्बन नियम के अनुसार अकुशलविपाक चक्षुर्विज्ञान, सम्पटिच्छन, सन्तीरण एवं तदालम्बन-आदि होते हैं ।

आलम्बन यदि इष्टालम्बन होता है तो 'इट्ठे कुसलविपाकानि[3]' – के अनुसार कुशलविपाक चक्षुर्विज्ञान, सम्पटिच्छन, सन्तीरण एवं तदालम्बन-आदि होते हैं ।

इष्टालम्बनों में भी आलम्बन यदि अति-इष्टालम्बन होता है तो "अतिइट्ठे पन सोमनस्ससहगतानेव सन्तीरण-तदारमणानि[4]" के अनुसार सौमनस्यसहगत सन्तीरण एवं तदालम्बन होते हैं ।

तथा आलम्बन यदि इष्ट-मध्यस्थालम्बन होता है तो उपेक्षासहगत चित्त ही होते हैं ।

---

* ०तदालम्बन० – सी० स्या०, ०तदारम्मण० – ना०, म० (ख), रो० ।

१ "यथारहं ति – आरम्मण-भूमि-पुग्गल-मनसिकारादीनं अनुरूपवसेन।" – प० दी०, पृ० १०९ ।
तु० – "यथारहं ति – इट्ठादि-आरम्मणे योनिसोअयोनिसोमनसिकारनिरनुसय-सन्तानादीनं अनुरूपवसेन ।" – विभा०, पृ० ९८ ।

२. द्र० – अभि० स० ४ . २८ ।

३. द्र० – अभि० स० ४ : २९ ।

४. द्र० – अभि० स० ४ : ३० ।

३७. तथा पञ्चद्वारावज्जन-सोतविञ्ञाणादिवसेन सोतद्वारादीसु* पि छचत्तालीसेव भवन्तीति सब्बथापि पञ्चद्वारे† चतुपञ्ञास चित्तानि कामावचरानेव‡ ।

३८. मनोद्वारे पन मनोद्वारावज्जन-पञ्चपञ्ञासजवन-तदारमणवसेन सत्तसट्ठि चित्तानि भवन्ति ।

उसी प्रकार पञ्चद्वारावर्जन एवं श्रोत्रविज्ञान-आदि के वश से श्रोत्र-द्वार-आदि में भी ४६ चित्त ही होते हैं – इस तरह सभी प्रकार से पाँचो द्वारों में ५४ चित्त कामावचर चित्त ही होते हैं ।

मनोद्वार में तो मनोद्वारावर्जन (१), जवन ५५ एवं तदालम्बन (११) के वश से कुल ६७ चित्त होते हैं ।

(ख) यदि कामभूमि होती है तो चक्षुर्द्वारवीथि मे उपर्युक्त सभी ४६ चित्त होते है तथा यदि रूपभूमि होती है तो उस (चक्षुर्द्वारवीथि) मे "कामे जवनसत्तालम्बनान नियमे सति[1]" के अनुसार तदालम्बन नही हो सकते ।

(ग) पृथग्जन एव शैक्ष्य पुद्गल की सन्तान मे यदि योनिशोमनसिकार होता है तो कुशलजवन होते है तथा यदि अयोनिशोमनसिकार होता है तो अकुशलजवन होते है ।

इसी प्रकार यदि सस्कार (सङ्खार) होता है तो ससस्कारिक (ससङ्खारिक) तथा यदि सस्कार नही होता है तो असस्कारिक (असङ्खारिक) चित्त होते है – इत्यादि । इस तरह आलम्बन, भूमि-आदि भेद से ४६ चित्तो की यथायोग्य प्रवृत्ति जाननी चाहिये ।

३७ चक्षुर्द्वारवीथि मे जिस क्रम का प्रतिपादन किया गया है, श्रोत्रद्वार-आदि वीथियो मे भी उसी क्रम को समझना चाहिये, किन्तु चक्षुर्द्वारवीथि के चक्षुर्विज्ञान-द्वय के स्थान पर वहाँ श्रोत्रद्वारवीथि मे श्रोत्रविज्ञानद्वय, घ्राणद्वारवीथि मे घ्राणविज्ञान-द्वय, जिह्वाद्वारवीथि मे जिह्वाविज्ञानद्वय तथा कायद्वारवीथि मे कायविज्ञानद्वय को समझना चाहिये और पूर्वोक्त ४६ चित्तो मे इन ८ अतिरिक्त चित्तो को सम्मिलित कर पञ्चद्वारवीथि मे कुल ५४ चित्त होते है – ऐसा समझना चाहिये ।

[प्रथम परिच्छेद में जिन ५४ कामचित्तो का वर्णन किया गया है, ये वही ५४ चित्त है, किन्तु उन्हे यहाँ वीथिक्रम से रखा गया है ।]

---

* सोतद्वारादिसु – सी०, स्या०, ना० ।

† पञ्चद्वारेसु – स्या० ।

‡ कामावचरानेवा ति वेदितब्बानि – स्या०, ना० ।

१. द्र० – अभि० स० ४ : ३५ ।

३६. एकूनवीसति पटिसन्धि-भवङ्ग-चुतिवसेन द्वारविमुत्तानि ।

४०. तेसु पन* द्विपञ्चविञ्ञाणानि† चेव महग्गत-लोकुत्तरजवनानि चेति छत्तिंस यथारहमेकद्वारिकचित्तानि नाम ।

४१ मनोधातुत्तिकं पन पञ्चद्वारिकं‡ ।

४२ सुखसन्तीरण-वोट्ठपन-कामावचरजवनानि छद्वारिकचित्तानि ।

प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति के वश से १६ चित्त 'द्वारविमुक्त' कहे गये हैं।

उन चित्तो में से द्विपञ्चविज्ञान (१०) तथा महग्गत एवं लोकोत्तर जवन (२६) – इस प्रकार ३६ चित्त यथायोग्य 'एकद्वारिक' (एक द्वार में होनेवाले) चित्त हैं।

मनोधातुत्रय तो 'पञ्चद्वारिक' (पाँचो द्वारों में होनेवाले) चित्त हैं।

सुखसन्तीरण, वोट्ठपन एव कामावचर जवन – ये चित्त 'षड्द्वारिक' (छह द्वारो मे प्रवृत्त होनेवाले) चित्त हैं।

---

३६ प्रतिसन्धि, भवङ्ग एव च्युति कृत्य करनेवाले १६ चित्त जब प्रतिसन्धि-आदि कृत्य करते हैं तब वे किसी द्वार से प्रवृत्त होकर उन कृत्यो को नही करते, अत वे 'द्वारविमुक्त' कहे जाते हैं। अर्थात् चक्षुर्द्वार-आदि द्वारो से प्रवृत्त न होने के कारण, तथा 'मनोद्वार' नामक भवङ्ग से गृहीत आलम्बन से भिन्न किसी अन्य आलम्बन का ग्रहण करके प्रवृत्त न होने के कारण, प्रतिसन्धि-आदि कृत्यो के वश से प्रवृत्त होनेवाले ये १६ चित्त 'द्वारविमुक्त' कहे जाते हैं[1]।

४० दस द्विपञ्चविज्ञानचित्तो मे से चक्षुर्विज्ञानद्वय केवल चक्षुर्द्वार मे, श्रोत्रविज्ञानद्वय केवल श्रोत्रद्वार मे, इसी तरह घ्राणविज्ञानद्वय-आदि विज्ञानचित्त केवल अपने अपने सम्बद्ध द्वारो मे ही प्रवृत्त होने के कारण 'एकद्वारिक चित्त' कहे जाते हैं। उसी प्रकार महग्गत एव लोकोत्तर जवनचित्त भी केवल 'मनोद्वार' मे ही प्रवृत्त होते है, अतः वे भी 'एकद्वारिक चित्त' कहे जाते हैं। इस प्रकार द्विपञ्चविज्ञानचित्त १०, महग्गत एवं लोकोत्तर जवनचित्त २६=३६ चित्त 'एकद्वारिक चित्त' हैं[2]।

---

* स्या० मे नही।

† पञ्चविञ्ञाणानि – सी०, रो०, म० (क, ख)।

‡ पञ्चद्वारिकानि – रो०।

१. "चक्खादिद्वारेसु अप्पवत्तनतो मनोद्वारसङ्खातभवङ्गतो आरम्मणन्तरग्गहणवसेन अप्पवत्तितो च पटिसन्धादिवसेन पवत्तानि एकूनवीसति द्वारविमुत्तानि।" – विभा०, पृ० ६८। तु० – प० दी०, पृ० १०६-११०।

२. द्र० – विभा०, पृ० ६८।

४३. उपेक्खासहगतसन्तीरण-महाविपाकानि छद्वारिकानि चेव द्वार-विमुत्तानि च।

४४. महग्गतविपाकानि द्वारविमुत्तानेवा ति।

४५. एकद्वारिकचित्तानि पञ्चछद्वारिकानि च।
छद्वारिकविमुत्तानि विमुत्तानि च सब्बथा॥

४६. छत्तिंसति तथा तीणि एकतिंस* यथाक्कमं।
दसधा नवधा चेति पञ्चधा परिदीपये॥

उपेक्षासहगत सन्तीरण (२) एव महाविपाकचित्त (८=१० चित्त) कभी कभी 'षड्द्वारिक' तथा कभी कभी 'द्वारविमुक्त' होते हैं।

महग्गतविपाक चित्त (९ तो) सर्वथा 'द्वारविमुक्त' ही होते हैं।

एकद्वारिक चित्त, पञ्चद्वारिक चित्त, षड्द्वारिक चित्त, कभी कभी षड्द्वारिक एवं कभी द्वारविमुक्त, तथा सर्वथा द्वारविमुक्त चित्त—

क्रमशः ३६, ३, ३१, १० तथा ९ होते हैं। इस तरह चित्तों के सङ्ग्रह को पाँच प्रकार से समझना चाहिये।

---

४३ उपेक्षासहगत सन्तीरणचित्त २ तथा महाविपाक (सहेतुक कामावचरविपाक) चित्त ८=१० ये चित्त जब सन्तीरण एव तदालम्बन कृत्य करते है तब 'षड्द्वारिक' होते है तथा जब यही चित्त प्रतिसन्धि, भवङ्ग एवं च्युति कृत्य करते है तब 'द्वारविमुक्त' होते हैं[1]।

४४. नौ महग्गतविपाकचित्त सर्वदा प्रतिसन्धि, भवङ्ग एव च्युति कृत्य ही करते ह, इन कृत्यो से अन्य कोई भी कृत्य कभी नही करते, अत सर्वथा 'द्वारविमुक्त' ही होते है।

इन वीथिचित्तो मे 'गृहीतग्रहणनय' से सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिको का ज्ञान चैतसिकसङ्ग्रह (द्वितीय परिच्छेद) के 'सम्प्रयोगनय' एव 'सङ्ग्रहनय' के आधार पर कर लेना चाहिये।

'अगृहीतग्रहणनय' के अनुसार चैतसिको का विचार यहाँ नही हो सकता; क्योकि द्वार के अनुसार चैतसिको के सम्प्रयोग मे भेद नही होता।

'अप्पमञ्ञा' चैतसिक सत्त्व नामक प्रज्ञप्ति-धर्म का ही आलम्बन करता है तथा चक्षुष्-आदि पाँच द्वार केवल रूपालम्बन, शब्दालम्बन, गन्धालम्बन, रसालम्बन एव स्प्रष्टव्यालम्बन नामक परमार्थ-धर्मो का आलम्बन करके प्रवृत्त होनेवाले चित्त-चैतसिक-धर्मों के ही उत्पत्तिस्थान होते है, अतः २ 'अप्पमञ्ञा' चैतसिक चक्षुर्द्वार-आदि पाँच

---

* एकत्तिंस—स्या०, म० (क)।

१. द्र०—विभा०, पृ० ९८।

आलम्बनसङ्गहो

४७ आलम्बनसङ्गहे* आरमणानि† नाम – रूपारमणं, सद्दारमणं, गन्धारमणं, रसारमणं, फोट्ठब्बारमणं, धम्मारमणञ्चेति छब्बिधानि भवन्ति।

आलम्बनसङग्रह में आलम्बन – रूपालम्बन, शब्दालम्बन, गन्धालम्बन, रसालम्बन, स्प्रष्टव्यालम्बन एवं धर्मालम्बन – इस प्रकार छह प्रकार के होते हैं।

द्वारों में नहीं हो सकते, वे केवल 'मनोद्वार' में ही हो सकते हैं। शेष चैतसिक सभी (छह) द्वारों में प्रवृत्त हो सकते हैं – इतना विशेष जानना चाहिये।

द्वारसङ्ग्रह समाप्त।

आलम्बनसङग्रह

४७ आलम्बन के भेद से चित्त-चैतसिक धर्मों का सङग्रह करनेवाले इस सङग्रह को 'आलम्बनसङग्रह' कहते हैं[1]।

पालिसाहित्य में आलम्बन शब्द के लिये 'आरमण' 'आरम्मण' 'आलम्बन' 'आलम्बण' आदि अनेक शब्दों का प्रयोग होता है, किन्तु व्याकरण के अनुसार विचार करने से इनमें 'आरमण' एवं 'आलम्बन' – ये दो शब्द ही युक्तियुक्त प्रतीत होते हैं। इनकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है

(क) 'आ' उपसर्गपूर्वक 'रमु' धातु[2] से 'यु' प्रत्यय करने पर 'यु' के स्थान पर 'अन' आदेश करके तथा 'न' के स्थान पर 'ण' आदेश करके 'आरमण' शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है – चित्त-चैतसिक धर्म जहाँ आकर रमण करते हैं वह स्थान 'आरमण' है, जिस प्रकार उद्यान-आदि मनुष्यों के रमणस्थान होते हैं उसी प्रकार रूपालम्बन-आदि छह आलम्बन चित्त-चैतसिक धर्मों के 'रमणस्थान' होते हैं[3]।

---

* आलम्बणसङ्गहे – म० (ख), आरम्मणसङ्गहे – ना०, रो०।

† आलम्बनानि – सी०, स्या० (सर्वत्र), आलम्बणानि – म० (ख) (सर्वत्र), आरम्मणानि – ना०, रो० (सर्वत्र)।

१ "रूपादीनं आरम्मणानं भेदेन चित्तचेतसिकानं सङ्गहो आरम्मणसङ्गहो।" – प० दी०, पृ० ११०।

"आरम्मणानं सरूपतो विभागतो तब्बिसयचित्ततो च सङ्गहो आरम्मणसङ्गहो।" – विभा०, पृ० ९८।

२ धा० म०, का० ५४।

३ "आगन्त्वा आभुसो वा चित्त-चेतसिका धम्मा रमन्ति एत्था ति आरम्मणं, यु, रम रमणे, आपुब्बो।" – अभि० प० सू०, पृ० ६१।

५०. तत्थ चक्खुद्वारिकचित्तानं सब्बेसं पि रूपमेव आरमणं, तञ्च पच्चुप्पन्नं* । तथा सोतद्वारिकचित्तादीनं पि सद्दादीनि†, तानि च पच्चुप्पन्नानि येवा ।

वहाँ (उन आलम्बनो मे) सभी चक्षुर्द्वारिक चित्तो का आलम्वन रूप ही है और वह रूपालम्वन भी प्रत्युत्पन्न ही (आलम्बन) है। तथा श्रोत्रद्वारिक-आदि चित्तो के आलम्वन भी शब्द-आदि ही है और वे भी प्रत्युत्पन्न ही (आलम्वन) होते है।

हृदय, जीवितेन्द्रिय, आहाररूप, परिच्छेदरूप, कायविज्ञप्ति, वाग्विज्ञप्ति, रूप की लघुता, मृदुता, कर्मण्यता, उपचय, सन्तति, जरता एव अनित्यता[1]।

(ग) चित्त
(घ) चतसिक } ये तीनो अत्यन्त स्पष्ट है।
(ङ) निर्वाण

(च) प्रज्ञप्ति – यह द्विविध हे, यथा – नामप्रज्ञप्ति एव अर्थप्रज्ञप्ति।

इस प्रकार धर्मालम्वन छह प्रकार से सङ्गृहीत होता है[2]।

मणिमञ्जूसाकार कहते है कि "यहाँ 'रूपमेव', 'चक्खुमेव' आदि मे प्रयुक्त 'एव' शब्द 'निवत्तापनावधारण' अर्थवाला है, अर्थात् यह अन्य का निवारण करनेवाला है। यहाँ पर यह सत्त्व नामक जीव का निवारण करता है[3]"।

किन्तु यह अर्थ ठीक नही, क्योकि यदि इसे निवारण करनेवाला अवधारण माना जाता है तो 'धम्मो येव' मे यह किसका निवारण करेगा ?

अथ च – 'सत्त्व' नामक जीव भी प्रज्ञप्ति-धर्म होने से निवार्य (निवारण करने योग्य) अर्थ नहीं है, अत 'एव' शब्द यहाँ अन्य अर्थ का निवारण करनेवाला 'निवत्तापनावधारण' अर्थक न होकर अपने अर्थ का निश्चय करानेवाला 'सन्निट्ठानावधारण' अर्थवाला है।

५० प्रत्युत्पन्न रूप ही चक्षुर्द्वारिक चित्तो का आलम्बन होता है। इसी प्रकार प्रत्युत्पन्न शब्द श्रोत्रद्वारिक चित्तो का, प्रत्युत्पन्न गन्ध घ्राणद्वारिक चित्तो का, प्रत्युत्पन्न रस जिह्वाद्वारिक चित्तो का एव प्रत्युत्पन्न स्प्रष्टव्य कायद्वारिक चित्तो का आलम्बन

---

* पच्चुप्पन्नमेव – स्या०, ना०।

†-† सद्दादयो पच्चुप्पन्ना येव – स्या०।

१. द्र० – अभि० स० ६ २४।

२ "पञ्चारम्मणविमुत्त य किञ्चि धम्मजातं विज्जमान पि अविज्जमान पि, भूत पि अभूत पि, धम्मारम्मणमेव, त पन सभागकोट्ठासतो सङ्गय्हमान छब्बिध होति।" – प० दी०, पृ० १११। तु० – अट्ठ०, पृ० ५६, ६६।

३. द्र० – मणि०, प्र० भा०, पृ० २९७–३००।

होता है। ये पञ्चद्वारिक चित्त अतीत या अनागत रूप, शब्द-आदि का आलम्बन नही करते ।

प्रत्युत्पन्नकाल-आदि मे विशेष – जब कोई आलम्बन उत्पन्न होता है तब उसके उत्पाद-स्थिति-भङ्गात्मक विद्यमानक्षण को 'प्रत्युत्पन्न-आलम्बन' कहते है। यथा – 'पच्चुप्पन्न=पति+उप्पन्न, त त कारण पटिच्च उप्पन्न पच्चुप्पन्न' अर्थात् उन उन कारणो की अपेक्षा करके उत्पन्न आलम्बन 'प्रत्युत्पन्न' है।

उत्पाद-स्थिति-भङ्गात्मक अवस्था से गुजरकर निरुद्ध हुए आलम्बन को 'अतीत-आलम्बन' कहते है, यथा – 'अतीत=अति+इत, अतिक्कमित्वा इत गत ति अतीत' अर्थात् उत्पाद-स्थिति-भङ्गात्मक अवस्थात्रय का अतिक्रमण कर निरुद्ध आलम्बन 'अतीत' है।

तथा कारणसामग्री के सम्पन्न (पूर्ण) होने पर एकान्त रूप से होनेवाले आलम्बन को 'अनागत-आलम्बन' कहते है, यथा – 'अनागत=न+आगत अनागत' अर्थात् उत्पाद-स्थिति-भङ्गात्मक विद्यमान अवस्था को अप्राप्त आलम्बन 'अनागत' है ।

इन तीनो कालो से सम्बद्ध हानेवाले धर्म चित्त, चैतसिक, एव रूप ही होते है[1]।

इन तीनो कालो से विमुक्त आलम्बन को 'कालविमुक्त-आलम्बन' कहते है, यथा – 'कालतो विमुत्त कालविमुत्त'। यह कालविमुक्त-आलम्बन प्रज्ञप्ति एव निर्वाण है[2]।

यथा – प्रज्ञप्ति-धर्म सङक्षेपत नामप्रज्ञप्ति एव अर्थप्रज्ञप्ति भेद से द्विविध है। इनमे से लोक मे व्यवहृत होनेवाले नाम (सञ्ज्ञा) उत्पाद, स्थिति एव भङ्ग रूप से विद्यमान नही होते, अपितु किसी व्यक्ति द्वारा उद्दिष्ट कर दिये जाने से लोक-व्यवहार के विषयमात्र होते है। गृह, मनुष्य, देव, नदी, पर्वत-आदि द्रव्य नामक प्रज्ञप्ति-अर्थ भी यद्यपि सासारिक पुद्गलो की दृष्टि से विद्यमानवत् प्रतीत होते है, किन्तु सूक्ष्मतया यथाभूत दृष्टि से देखने पर केवल रूपकलाप के रूप मे ही दृष्टिगोचर

---

१ "त त कारण पटिच्च उप्पन्न पच्चुप्पन्न, वत्तमान ति अत्थो अतिक्कन्त-भाव इत गत पत्त ति अतीत, आगच्छति आगच्छितथा ति आगत पच्चुप्पन्न अतीत च, न आगत ति अनागत। सब्बे पि सङ्खतधम्मा अनागतभाव-पुब्बका एव होन्ति, तस्मा ते यदा पच्चयसामग्गि लभित्वा उप्पज्जिस्सन्तीति वत्तब्बपक्खे तिट्ठन्ति तदा 'अनागत' नाम, यदा पच्चयसामग्गि लभित्वा उप्पन्ना तदा 'पच्चुप्पन्ना' नाम, यदा निरुद्धा तदा 'अतीता' नाम।" – प० दी० पृ० १११। द्र० – अट्ठ०, पृ० ३६।

२ "उप्पादजातिका सङ्खता धम्मा एव तीसु कालेसु अनुपतन्ति, तस्मा उप्पाद-रहिता असङ्खतभूता निब्बानपञ्ञत्तियो 'कालविमुत्त' नामा ति वेदितब्बा।" – प० दी०, पृ० १११।

"विनासाभावतो अतीतादिकालवसेन न वत्तब्बत्ता निब्बान पञ्ञत्ति च 'कालविमुत्त' नाम।" – विभा०, पृ० ९९।

५१. मनोद्वारिकचित्तानं पन छब्बिधं पि पच्चुप्पन्नमतीतं* अनागतं* कालविमुत्तञ्च† यथारहमारमणं होति ।

मनोद्वारिक चित्तो के छहो प्रकार के आलम्बन तो प्रत्युत्पन्न, अतीत, अनागत या कालविमुक्त होकर यथायोग आलम्वन होते है ।

होते हैं। अत उत्पाद-स्थिति-भङ्ग के रूप मे अविद्यमान इन प्रज्ञप्तियो को प्रत्युत्पन्न, अतीत या अनागत नही कहा जा सकता ।

शान्तिधातु नामक निर्वाण यद्यपि परमार्थरूप से विद्यमान होता है, तथापि 'जो उत्पन्न होता है वह नष्ट होता है'—वस्तु का ऐसा स्वभाव होने के कारण निर्वाण मे उत्पाद नही होता, भङ्ग ी नही होता तथा स्थिति भी नही होती। वह केवल नित्य शान्तिस्वभाव ही होता है—इस प्रकार निर्वाण मे उत्पाद-स्थिति-भङ्गात्मक अवस्थात्रय के न होने से प्रत्युत्पन्न-निर्वाण नही होता, और जब प्रत्युत्पन्न-निर्वाण नही होता तो अतीत-निर्वाण या अनागत-निर्वाण कैसे होगा। अतएव प्रज्ञप्ति एव निर्वाण को 'कालविमुक्त' कहा गया है।

५१ मनोद्वारिक चित्तो (६७) के आलम्बन पञ्चद्वारिक चित्तो के आलम्बनो की भाँति एक एक प्रकार के नही होते, अपितु रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य एवं धर्म भेद से छह प्रकार के होते हैं। अपिच—पञ्चद्वारिक चित्तो के आलम्बनो की भाँति वे केवल प्रत्युत्पन्न ही नही होते, अपितु प्रत्युत्पन्न, अतीत, अनागत एव कालविमुक्त भेद से चार प्रकार के होते हैं।

मनोद्वारिक वीथिचित्त अत्यन्त शक्तिशाली होते हैं। ध्यानवीथि, मार्गवीथि, फलसमापत्तिवीथि, निरोधसमापत्तिवीथि, अभिज्ञावीथि, एव सब्बञ्ञुतञाणवीथि—ये सब वीथियाँ 'मनोद्वारवीथि' है। अत ऐसा कोई आलम्बन नही बचता जो इन मनोद्वारवीथिचित्तो का आलम्बन न हो सके। अतएव मनोद्वारिक वीथिचित्त प्रत्युत्पन्न, अतीत-आदि सभी आलम्बनो का यथायोग्य ग्रहण करते हैं[1]।

- ०मतीतानागतं—स्या० ।

† कालविनिमुत्तञ्च—स्या० ।

१ आलम्बनो के यथायोग्य ग्रहण के सम्बन्ध मे द्र०—अभि० स० ४ १९-२०। "यथारह ति कामावचरजवनअभिञ्ञासेसमहग्गतादिजवनान अनुरूपतो। कामावचरजवनान हि हसितुप्पादवज्जान छब्बिध पि तिकालिक कालविमुत्तञ्च आरम्मण होति, हसितुप्पादस्स तिकालिकमेव, तथा हिस्स एकन्तपरित्तारम्मणत्त वक्खति। दिब्बचक्खादिवसप्पवत्तस्स पन अभिञ्ञाजवनस्स यथारह छब्बिध पि तिकालिक कालविमुत्तञ्च आरम्मण होति।" —विभा०, पृ० ९९, मणि०, प्र० भा०, ३००।

५२ द्वारविमुत्तानञ्च पटिसन्धि-भवङ्ग-चुतिसङ्खातान छब्बिधं पि यथासम्भवं येभुय्येन भवन्तरे छद्वारग्गहितं* पच्चुप्पन्नमतीतं पञ्ञत्तिभूतं वा कम्म-कम्मनिमित्त-गतिनिमित्तसम्मतं आरमणं होति ।

प्रतिसन्धि, भवङ्ग एव च्युति नामक द्वारविमुक्त चित्तो के षड्विध आलम्बन भी यथासम्भव प्राय भवान्तर (अतीतभव) में छह द्वारो से गृहीत प्रत्युत्पन्न, अतीत एव प्रज्ञप्तिभूत, अथवा कर्म, कर्मनिमित्त, एव गतिनिमित्त सज्ञक होते है ।

---

५२ द्वारविमुत्तानञ्च पटिसन्धि-भवङ्ग-चुतिसङ्खातानं – द्वारविमुत्त १९ चित्त ही प्रतिसन्धि, भवङ्ग (भवाङ्ग) एव च्युति कृत्य करते है। उनमे से किसी एक भव का सर्वप्रथम चित्त प्रतिसन्धिचित्त है। सर्वप्रथम चित्त होने से वह छह द्वारो मे से किसी भी द्वार का आधार करके प्रवृत्त नही होता। वीथिचित्तो के मध्य मध्य मे उत्पन्न होनेवाला भवङ्गचित्त भी किसी द्वार से सम्बद्ध नही होता, क्योकि वह पूर्व कर्म से स्वय उत्पन्न होनेवाला विपाकचित्त है। तथा च्युतिचित्त भी किसी द्वार से सम्बद्ध नही है, क्योकि वह भी पूर्वभव के कर्मो के क्षीण हो जाने पर मरणासन्न-वीथि के अन्त मे स्वय उत्पन्न होनेवाला अन्तिम विपाकचित्त ही है। इन्ही कारणो से प्रतिसन्धि, भवङ्ग एव च्युति चित्त 'द्वारविमुक्त' कहे जाते है।

'द्वारविमुत्तानञ्च' मे प्रयुक्त 'च' शब्द पूर्वोक्त मनोद्वारिक चित्तो का सम्पिण्डन करता है, अत अर्थ होता है कि केवल मनोद्वारिक चित्तो के ही आलम्बन छह प्रकार के नही होते, अपितु द्वारविमुक्त चित्तो के आलम्बन भी छह प्रकार के होते है।

भवन्तरे – (भव+अन्तरे) अन्तर शब्द 'अन्य' अर्थ मे प्रयुक्त होता है, अत प्रत्युत्पन्न भव से अन्य भव 'भवन्तर' (भवान्तर) है। यहाँ 'भवन्तर' शब्द के द्वारा इस वर्तमान भव से 'अनन्तर अतीत' भव का ग्रहण करना चाहिये[1] ।

छद्वारग्गहित – 'छद्वार' शब्द के द्वारा मुख्यरूप से चक्षुष्-आदि छह द्वारो का ग्रहण होता है, किन्तु यहाँ स्थानभत 'द्वार' – इस नाम का स्थानी जवनचित्तो मे उपचार करके स्थानोपचार से मरणासन्न जवनो का ग्रहण करना चाहिये । अत

---

* छद्वारगहित – सी०, रो०, ना० ।

१ "भवन्तरे ति – अतीतानन्तरभवे, तत्थ च मरणासन्नकाले ।" – प० दी० पृ० ११२ । "भवन्तरे ति – एत्थ अतीतानन्तरभवो वाधिप्पेतो, न अतीतान्तरितभवो, कस्मा ? तत्थ छद्वारग्गहितारम्मणस्स इध पटिसन्धादीनमारम्मणभावाभावतो ति आह – 'अतीतानन्तरभवे' ति ।" – मणि०, प्र० भा०, पृ० ३०१ ।

'छद्वारग्गहित' का 'छह द्वारों में होनेवाले मरणासन्न जवनचित्तों के द्वारा गृहीत' यह अर्थ होता है[1]।

पच्चुप्पन्नमतीत पञ्ञत्तिभूत वा – यहाँ प्रयुक्त 'वा' शब्द का प्रत्युत्पन्न, अतीत एव प्रज्ञप्ति – इन सभी के साथ अन्वय करना चाहिये। द्वारविमुक्त चित्तों के द्वारा गृहीत होनेवाले ये छह आलम्बन प्रत्युत्पन्नकालिक आलम्बन भी होते हैं, अतीतकालिक आलम्बन भी होते हैं तथा यदि ये (आलम्बन) नाम-रूपधर्म नहीं होते हैं तो 'काल-विमुक्त' नामक प्रज्ञप्तिभूत आलम्बन भी हो सकते हैं। ये अनागतकालिक आलम्बन तो कभी हो ही नहीं सकते[2] – इसका कारण पञ्चम परिच्छेद के 'मरणुप्पत्ति' प्रकरण में स्पष्ट किया जायेगा।

कम्म-कम्मनिमित्त-गतिनिमित्तसम्मत – यदि मरणासन्नकाल नहीं होता है तो अन्य वीथिचित्तों के आलम्बनों को प्राय कर्म, कर्मनिमित्त या गतिनिमित्त नहीं कह सकते, अपितु तब रूपालम्बन को रूपालम्बन धर्मालम्बन को धर्मालम्बन ही कहते हैं। मरणासन्न वीथिचित्तों, प्रतिसन्धिचित्तों एव च्युतिचित्तों के रूप-आदि छह आलम्बनों को ही यथासम्भव कर्म, कर्मनिमित्त या गतिनिमित्त कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि वे (रूप-आदि छह आलम्बन अपने) रूपालम्बन, शब्दालम्बन-

---

१ तु० – "यथा पन आवज्जनादीन छद्वारिकचित्तान आरम्मण भवन्तरे पि, इमस्मि भवे पि, पुरिमभागे केनचि द्वारेन गहित पि, अगहित पि होति, न तथा इमेस ति दस्सेतु 'भवन्तरे छद्वारगहित' ति वुत्त। भवविसेस हि पत्थित्वा कम्म कत्वा तत्थ निब्बत्तान आरम्मण भवन्तरे पि केनचि द्वारेन गहित पि होति येवा ति छद्वारगहित ति – छहि द्वारेहि मरणासन्न-जवनेहि गहित।" – प० दी०, पृ० १११-११२।
"त पन नेस आरम्मण, न आवज्जनस्स विय केनचि अग्गहितमेव गोचर-भाव गच्छति।" – विभा०, पृ० ९९।

२ "यथा च पञ्चद्वारिकचित्तान आरम्मण एकन्तपच्चुप्पन्नमेव होति, यथा च मनोद्वारिकचित्तान आरम्मण तेकालिक वा कालविमुत्तसामञ्ञ वा होति, न तथा इमेस ति दस्सेतु 'पच्चुप्पन्नमतीत पञ्ञत्तिभूत वा' ति वुत्त।" – प० दी०, पृ० ११२।
"अनागत पन निमित्त उपट्ठहमान गतिनिमित्तमेव सिया, न च तस्स विसु उपट्ठातब्बकिच्च अत्थि, पच्चुप्पन्नगतिनिमित्ते सिद्धे सिद्धमेव होतीति 'पच्चुप्पन्नमतीत पञ्ञत्तिभूत वा' ति।" – प० दी०, पृ० ११३-११४।
"न हि त अतीतकम्मकम्मनिमित्तानि विय अनुभूत, नापि पच्चुप्पन्नकम्म-निमित्तगतिनिमित्तानि विय आपाथगत च होतीति। कम्मकम्मनिमित्तादीन च सरूप सयमेव वक्खति।" – विभा०, पृ० १००-१०१।

आदि नामो के अतिरिक्त कर्म, कर्मनिमित्त एव गतिनिमित्त – इन नामो के द्वारा भी अभिहित होते है[1] ।

सारांश – पूर्व भव (अतीत भव) के षड्द्वारिक मरणासन्नजवनो द्वारा गृहीत आलम्बनो का ही प्रतिसन्धि-आदि चित्त भी आलम्बन करते है।

यथा – जब कोई सत्त्व देवलोक से च्युत होकर मनुष्यलोक मे प्रतिसन्धि ग्रहण करता है तब उस देवलोक से होनेवाली च्युति के पूर्ववर्ती मरणासन्नजवनो द्वारा रूप-आदि छह आलम्बनो मे से जिस एक आलम्बन का ग्रहण किया जाता है, (देवलोक के मरणासन्नजवनो द्वारा गृहीत) उसी आलम्बन का इस मनुष्यभव के प्रतिसन्धिचित्तो द्वारा भी ग्रहण किया जाता है तथा इस भव के भवङ्ग एव च्युति चित्त भी उसी (प्रतिसन्धिचित्त द्वारा गृहीत) आलम्बन का ही ग्रहण करते है ।

यथासम्भव – 'यथासम्भव' इस शब्द का 'छद्वारग्गहित', 'पच्चुप्पन्नमतीत पञ्ञत्ति-भूत', 'कम्म-कम्मनिमित्त-गतिनिमित्तसम्मत' – इन तीनो पदो से अन्वय करना चाहिये ।

इन (पदो) मे से 'यथासम्भव' – इस पद का जब 'छद्वारग्गहित' – इस पद से सम्बन्ध होता है तब अर्थ यह होता है – 'आलम्बन यदि चक्षुद्वार मे होने योग्य होता है तो वह चक्षुर्द्वारगृहीत रूपालम्बन, यदि श्रोत्रद्वार मे होने योग्य होता है तो श्रोत्र-द्वारगृहीत शब्दालम्बन यदि मनोद्वार मे होने योग्य होता है तो मनोद्वारगृहीत छह आलम्बनो मे से कोई एक आलम्बन होता है' ।

जब 'यथासम्भव' – इस पद का 'पच्चुप्पन्नमतीत पञ्ञत्तिभूत' से सम्बन्ध होता है तब अर्थ यह होता है – 'आलम्बन यदि प्रत्युत्पन्न होने योग्य होता है तो वह प्रत्यु-त्पन्न-आलम्बन, यदि अतीत होने योग्य होता है तो अतीत-आलम्बन तथा यदि प्रज्ञप्ति होने योग्य होता है तो प्रज्ञप्त अर्थात् कालविमुक्त-आलम्बन होता है' ।

जब 'यथासम्भव' इस शब्द का 'कम्म-कम्मनिमित्त-गतिनिमित्तसम्मत' से सम्बन्ध होता है तब अर्थ यह होता है – 'आलम्बन यदि कर्म होने योग्य होता है तो वह

---

१ "यथा च छद्वारिकचित्तान आरम्मण आगमसिद्धिवोहारयुत्त पि तब्बोहार-विनिमुत्त पि होति, न तथा इमेस ति दस्सेतु 'कम्म-कम्मनिमित्त-गति-निमित्तसम्मत' ति वुत्त । मरणासन्नतो पुरिमभागे पि हि सत्ता अत्तना कतकम्म वा चेतियादीनि कम्मुपकरणानि वा आरम्मण करोन्ति येव तदापि हि कम्म कम्ममेव, कम्मुपकरणानि च कम्मनिमित्तानि येव, कम्मसिद्धिया निमित्त कारण कम्मनिमित्त ति कत्वा कम्मस्स निमित्त आरम्मण कम्मनिमित्त ति पि वदन्ति । सुपिनदस्सनादिवसेन गतिनिमित्तानि पि आरम्मण करोन्ति येव ।" – प० दी०, पृ० ११२ ।

"नापि मरणासन्नतो पुरिमभागजवनान विय कम्म-कम्मनिमित्तादिवसेन आगम-सिद्धिवोहारविनिमुत्त ति आह – 'यथासम्भव" ' . सम्मत' ति ।" – विभा०, पृ० ६६।

कर्म-आलम्बन, यदि कर्मनिमित्त होने योग्य होता है तो कर्मनिमित्त-आलम्बन तथा यदि गतिनिमित्त होने योग्य होता है तो गतिनिमित्त-आलम्बन होता है[1]। अर्थात् मुमूर्षु पुद्गल के मरणकाल मे छह द्वारो मे से किसी भी द्वार मे अभिमुखीभूत (उपस्थित) आलम्बन यदि अपने द्वारा पहले किये हुए, अथच प्रतिसन्धि देने मे समर्थ कुशल (दान, वन्दना-आदि) या अकुशल (हिसा-आदि) कर्म होते है तो ऐसे आलम्बनो को 'कर्म-आलम्बन' कहते है । यदि उपस्थित आलम्बन कर्म न होकर इन उपर्युक्त कर्मो की सिद्धि के निमित्त होते है, जैसे – दान किये हुए चीवर-आदि या चैत्य-आदि अथवा हिसा के साधन शस्त्र-आदि, तो ऐसे आलम्बनो को 'कर्मनिमित्त-आलम्बन' कहते है । तथा यदि उपस्थित आलम्बन पूर्वोक्त दोनो प्रकार के आलम्बन न होकर अग्रिम भव मे उपलब्ध होने योग्य (जैसे – निरय मे उपलब्ध होने योग्य, अग्निज्वाला-आदि) अथवा उपभोग के योग्य, (जैसे – स्वर्ग मे उपभोग के योग्य नन्दन वन-आदि) आलम्बन होते है तो ऐसे आलम्बनो को 'गतिनिमित्त-आलम्बन' कहते है ।

'यथासम्भव' – इस पद से सम्बद्ध अर्थ का प्रतिपादन यद्यपि पञ्चम परिच्छेद के 'मरणुप्पत्ति[2]' नामक प्रकरण मे विस्तारपूर्वक किया जायेगा, तथापि प्रसङ्ग उपस्थित हो जाने से यहाँ भी उसका सङ्क्षेप मे निरूपण किया जा रहा है ।

कामप्रतिसन्धि एव भवङ्ग के आलम्बन यदि रूप, शब्द-आदि पञ्चविध आलम्बन ही होते है तो वे अनन्तर-अतीत (समनन्तरनिरुद्ध) पूर्व भव मे यथायोग्य छह द्वारो से गृहीत ही होते है । तथा यदि वे आलम्बन निरुद्ध नही होते है तो वे प्रतिसन्धि एव भवङ्ग के क्षण मे प्रत्युत्पन्न-आलम्बन ही होते है । इसके अनन्तर इस वर्तमान भव मे जो अनन्त भवङ्ग होते है वे सब अतीत-आलम्बन का ही ग्रहण करते है । च्युतिकाल मे भी च्युतिचित्त के द्वारा अतीत-आलम्बन का ही ग्रहण होता है । यदि वे रूप, शब्द-आदि आलम्बन निरुद्ध हो चुके रहते है तो प्रतिसन्धि, भवङ्ग एव च्युति – ये सभी अतीत-आलम्बन का ही ग्रहण करते है । यहाँ कर्म, कर्मनिमित्त एव गतिनिमित्त – इन त्रिविध आलम्बनो मे से केवल कर्मनिमित्त आलम्बन ही होता है ।

यदि कामप्रतिसन्धि एव भवङ्ग का आलम्बन धर्मालम्बन होता है तो वह अनन्तर-अतीत (पूर्व) भव मे केवल मनोद्वारिक जवनो द्वारा ही गृहीत होता है । यदि वह धर्मालम्बन 'चेतना' होता है तो वह अतीत कर्म-आलम्बन होता है । यदि वह धर्मालम्बन 'चेतना' नही होता है तो वह अतीत कर्मनिमित्त-आलम्बन ही होता है ।

ये कामप्रतिसन्धि, भवङ्ग एव च्युति चित्त अनन्तर-अतीत भव मे मनोद्वारिक जवनो द्वारा गृहीत प्रत्युत्पन्न गतिनिमित्त रूपालम्बन का भी आलम्बन करते है । अट्ठकथा मे उक्त है कि सभी गतिनिमित्त-आलम्बन रूपालम्बन ही होते है[3] ।

---

१ "यथासम्भव ति – ततभूमिकपटिसन्धिभवङ्गचुतीन ततद्वारगहितादिवसेन सम्भवानुरूपतो ।" – विभा०, पृ० ६६ ।
विस्तृत व्याख्या के लिये द्र० – मणि०, प्र० भा०, पृ० ३०१ ।

२ द्र० – अभि० स० ५ : ८०–८३ । ३ अट्ठ०, पृ० ३२४, विभ० अ० पृ० १५६ ।

प्रतिसन्धि, भवङ्ग एव च्युति कृत्य करने वाले १६ चित्तो मे से रूपलोक एव अरूपलोक मे केवल ६ चित्त ही उक्त प्रतिसन्धि-आदि कृत्य करते है । उन ६ चित्तो मे से भी प्रथम (आकाशानन्त्यायतन) एव तृतीय (आकिञ्चन्यायतन) अरूपावचर (२), तथा रूपावचर (५) = ७ प्रतिसन्धि, भवङ्ग एव च्युति चित्त, अनन्तर-अतीत भव मे मनोद्वारिक जवनो द्वारा गृहीत 'कसिण' आदि प्रज्ञप्तिभूत कर्मनिमित्त धर्मालम्बन का ही आलम्बन करते हैं । तथा द्वितीय (विज्ञानानन्त्यायतन) एव चतुर्थ (नैवसञ्ज्ञाना-सञ्ज्ञायतन) अरूपावचर प्रतिसन्धि, भवङ्ग एव च्युति चित्त अनन्तर-अतीत भव मे मनोद्वार से ही गृहीत अतीत महग्गतकर्मनिमित्त धर्मालम्बन का ही आलम्बन करते है[1] ।

येभुय्येन – यह कहा ही जा चुका है कि प्रतिसन्धि, भवङ्ग एव च्युति चित्तो के आलम्बन समनन्तर-अतीत (पूर्व) भव मे षड्द्वारिक मरणासन्न जवनचित्तो से गृहीत आलम्बन ही होते हैं। अधिकतर ऐसा ही होता है, किन्तु सर्वदा ऐसा ही हो – ऐसा नही। कभी कभी षड्द्वारिक मरणासन्न जवनो से अगृहीत आलम्बन भी होते हैं, अतएव मूलपालि मे 'येभुय्येन' अर्थात् 'प्रायश' – यह कहा गया है ।

ध्यान प्राप्त होने के कारण इस कामभूमि से असञ्ज्ञिभूमि मे प्रतिसन्धि लेनेवाले पुद्गल जब उस असञ्ज्ञिभूमि से च्युत होते है तब उन्हे कामसुगतिभूमि मे ही प्रतिसन्धि लेनी पडती है । असञ्ज्ञिभूमि मे चित्त सर्वथा होते ही नही, अत वहाँ च्युति के आसन्न पूर्वकाल मे आलम्बनो का ग्रहण करने के लिये मरणासन्न जवनचित्त हो ही नही सकते । ऐसी परिस्थिति मे असञ्ज्ञिभव से च्युत होकर कामभूमि मे प्रतिसन्धि लेनेवाले पुद्गलो मे प्रतिसन्धिचित्तो के आलम्बन, अनन्तर-अतीत भव के मरणासन्न जवनो द्वारा गृहीत आलम्बन नही होते, अपितु असञ्ज्ञिभव मे पहुँचने से पूर्व, पूर्व पूर्व भव (अन्तर-अतीत भव) मे किये गये अथच इस कामप्रतिसन्धि-फल को देने के लिये अवसर पाये हुए अपरपर्यायवेदनीय कर्मो[2] द्वारा प्रतिभासित कर्म, कर्मनिमित्त अथवा गतिनिमित्त – इन आलम्बनो मे से कोई एक आलम्बन होता है । 'सच्चसङ्खेप' नामक ग्रन्थ मे भी इस प्रसङ्ग मे यह प्रश्न उठाया गया है कि 'असञ्ज्ञिभव से च्युत होनेवाले पुद्गलो के (काम) प्रतिसन्धिचित्तो का आलम्बन क्या होता है' ? इसके उत्तर मे लिखा है—

"भवन्तरकत कम्म यमोकास लभे ततो ।
होति सा सन्धि तेनेव उपट्ठापितगोचरे[3] ।।"

अर्थात् असञ्ज्ञिभव मे पहुँचने से पूर्व किसी एक भव मे किये हुए अपरपर्याय-वेदनीय कर्म यदि अवकाश (अवसर) प्राप्त करते है तो असञ्ज्ञिभव से च्युत होकर कामभूमि मे प्रतिसन्धि लेनेवाले सत्त्वो की वह प्रतिसन्धि, उन अपरपर्यायवेदनीय कर्मो द्वारा उपस्थापित (अवभासित) कर्म, कर्मनिमित्त या गतिनिमित्त – इन आलम्बनो मे से ही किसी एक आलम्बन मे होती है[4] ।

---

१. विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० – विभा०, पृ० ६६–१०० । २ द्र० – अभि० स० ५ ४३ ।
३. सच्च० १७१ का०, पृ० १२ । ४ द्र० – विभा०, पृ० १०० ।

५३ तेसु चक्खुविञ्ञाणादीनि यथाक्कमं रूपादि-एकेकारमणानेव*।

५४ मनोधातुत्तिकं पन रूपादिपञ्चारमणं† ।

उन (चित्तों) में भी चक्षुर्विज्ञानादि (१० चित्त) यथाक्रम एक एक आलम्बनवाले ही होते हैं।

मनोधातुत्रय तो रूप-आदि पाँच आलम्बनवाले होते हैं।

अरूप-भूमि में रूप-धर्मों से घृणा होती है, अत इस (अरूप) भूमि से च्युत होकर काम-भूमि में उत्पन्न होनेवाले सत्त्वों की कामप्रतिसन्धि के आलम्बन यदि कर्म होते हैं तब तो वे अरूप-भूमि के मरणासन्नजवनों द्वारा गृहीत हो सकते हैं, किन्तु यदि वे आलम्बन कर्म न होकर गतिनिमित्त-आलम्बन होते हैं, अथवा रूप-धर्म कर्मनिमित्त आलम्बन होते हैं तब वे उनके आलम्बन नहीं हो सकते – ऐसी परिस्थिति में (अर्थात् कर्मालम्बन न होने पर) फल देनेवाले अपरपर्यायवेदनीय कर्मों के बल से अवभासित आलम्बन ही वहाँ उपस्थित होते हैं[१]।

प्रतिसन्धि, भवङ्ग एव च्युति चित्त, चूंकि भवान्तर (अनन्तर-अतीत भव) में षड्द्वारिक मरणासन्नजवनों द्वारा गृहीत आलम्बन का 'प्राय' ही ग्रहण करते हैं, अत 'येभुय्येन भवन्तरे छद्वारग्गहितं' – इस मूलपालि में 'येभुय्येन' पद रखा गया है।

५३ उन पूर्वोक्त चित्तों में से चक्षुर्विज्ञान-आदि दस चित्त यथाक्रम रूप-आदि एक एक आलम्बन को ग्रहण करते हैं, जैसे – चक्षुर्विज्ञानद्वय रूप का, श्रोत्रविज्ञानद्वय शब्द का, इसी तरह घ्राण-जिह्वा-काय विज्ञान क्रमश गन्ध, रस एव स्पर्श नामक एक एक आलम्बन का ग्रहण करते हैं[२]।

५४ मनोधातुत्रय[३], पञ्चद्वार में होने के कारण, रूपालम्बन-आदि पाँचों आलम्बनों का ग्रहण कर सकते हैं[४]।

---

* ०एकेकालम्बनानेव – सी०, ०एकेकालम्बनानि एव – स्या०, ०एकेकारम्मणानेव – म० (ख), ना०, ०एकेकालम्बणानेव – रो०।

† ०पञ्चालम्बन – सी०, स्या०, ०पञ्चारम्मण – ना०, म० (ख); ०पञ्चालम्बण – रो०।

१ विस्तार के लिये द्र० – प० दी०, पृ० ११२-११३।

२ "तेसू ति – यथावुत्तेसु आरम्मणिकचित्तेसु। रूपादीसु पञ्चसु एकेक आरम्मण एतेस ति समासो।" – प० दी०, पृ० ११४।

"तेसू ति – रूपादिपञ्चुप्पन्नादिकम्मादि-आरम्मणेसु विञ्ञाणेसु। रूपादीसु एकेक आरम्मणं एतेस ति रूपादि-एकेकारम्मणानि।" – विभा०, पृ० १०१।

३ सम्पटिच्छनद्वय एव पञ्चद्वारावर्जन को 'मनोधातुत्रय' कहते हैं।

४. "रूपादीनि पञ्च आरम्मणानि एतस्सा ति विग्गहो।" – प० दी०, पृ० ११४; "रूपादिक पञ्चविध पि आरम्मण एतस्सा ति रूपादिपञ्चारम्मण।" – विभा०, पृ० १०१।

५५ सेसानि कामावचरविपाकानि हसनचित्तञ्चेति* सब्बथापि कामावचरारमणानेव ।

५६. अकुसलानि चेव ञाणविप्पयुत्तकामावचरजवनानि चेति† लोकुत्तरवज्जितसब्बारमणानि ।

शेष कामावचर विपाकचित्त एव हसन (हसितुप्पाद) चित्त – ये सर्वथा ही काम-धर्मों का आलम्बन करनेवाले होते हैं।

अकुशलचित्त (१२) एवं ज्ञानविप्रयुक्त कामावचर जवनचित्त (८=२० चित्त) लोकोत्तरवर्जित सभी धर्मों का आलम्बन करनेवाले होते हैं।

---

५५ शेष अर्थात् द्विपञ्चविज्ञान एव सम्पटिच्छनद्वय वर्जित कामावचर विपाक-चित्त (महाविपाक ८ एव सन्तीरण ३=) ११ एव हसितोत्पादचित्त १=१२ चित्त सर्वथा काम-धर्मों[1] का ही आलम्बन करते हैं[2]। मूल मे प्रयुक्त 'एव' शब्द के द्वारा महग्गत (महद्गत), लोकोत्तर एव प्रज्ञप्ति-आलम्बनो का प्रतिषेध किया गया है, अर्थात् ये धर्म केवल काम-धर्मो का ही आलम्बन करते हैं, अन्य महग्गत-आदि आलम्बनो का नही। 'सब्बथा' शब्द के द्वारा 'ये चित्त अपने प्रतिसन्धि, भवङ्ग-आदि नानाविध कृत्यो द्वारा रूप-आदि नानाविध आलम्बनो मे प्रवृत्त होने के कारण सभी प्रकार के आलम्बनो का ग्रहण करनेवाले होते हैं' – यह द्योतित किया गया है।

ये चित्त सर्वज्ञ बुद्ध-आदि की सन्तान मे उत्पन्न होने पर भी, उनमे विकल्प करने-वाली शक्ति के न होने से, अविद्यमान प्रज्ञप्ति-धर्म, सूक्ष्म महग्गत-धर्म एव गम्भीर लोकोत्तर-धर्मो का आलम्बन करने मे असमर्थ होते हैं[3]।

५३ ५४ ५५ इनमे कथित २५ चित्त काम-धर्मो का एकान्तेन आलम्बन करते हैं[4]।

५६ आलम्बन सङ्क्षेप से चार प्रकार के होते हैं, यथा – कामालम्बन, महग्गता-

---

* हसनचित्तञ्च – स्या०। † च – स्या०।

१ कामचित्त ५४, उनसे सम्प्रयुक्त चैतसिक एव रूप-धर्मो को 'कामधर्म' कहते हैं।

२ "सेसानीति – पञ्चविञ्ञाणसम्पटिच्छनद्वयतो सेसानि सन्तीरणमहाविपाकानि।" – प० दी०, पृ० ११४।
"सेसानीति – द्विपञ्चविञ्ञाणसम्पटिच्छनेहि अवसेसानि एकादस कामावचर-विपाकानि।" – विभा०, पृ० १०१।

३. "सब्बथापि कामावचरालम्बनानेवा ति – पटिसन्धादीहि नानाकिच्चेहि रूपादीसु नानारम्मणेसु पवत्तेन सब्बप्पकारेन पि कामावचरालम्बनिकानि येव, तानि हि सब्बञ्ञुबद्धान उप्पन्नानि पि विकप्पसत्तिरहितत्ता अविज्जमाने पञ्ञत्तिधम्मे च, सुखुमे महग्गतधम्मे च, गम्भीरे लोकुत्तरधम्मे च आलम्बितु न सक्कोन्तीति।" – प० दी०, पृ० ११४, "सब्बथापि कामावचरारम्मणानीति – सब्बेन पि छद्वारिकद्वारविमुत्तछळारम्मणगोचरानि।" – विभा०, पृ० १०१। विस्तार के लिये द्र० – वही, पृ० १०१।

४ अट्ठ०, पृ० ३२४।

लम्बन, लोकोत्तरालम्बन एव प्रज्ञप्ति-आलम्बन। इनमे से अकुशल चित्त १२ एव ज्ञान-विप्रयुक्त कामावचर जवनचित्त (कुशल ४ एव क्रिया ४=) ८=२० चित्त लोकोत्तरालम्बन[1] को वर्जित कर अवशिष्ट सभी आलम्बनो का ग्रहण करते है।

क्योकि लोकोत्तरालम्बन अतिगम्भीर है, अत मनोद्वारावर्जन को छोडकर लोकोत्तर-धर्मो का आलम्बन करनेवाले सभी चित्त ज्ञान से सम्प्रयुक्त होने पर ही उनका आलम्बन कर सकते है। इसीलिये अकुशलचित्त एव ज्ञानविप्रयुक्त कामजवनचित्त ज्ञान से विप्रयुक्त (रहित) होने के कारण उन (लोकोत्तर-धर्मों) का आलम्बन नही कर सकते। वे लोकोत्तरवर्जित सभी धर्मो का आलम्बन करते है[2]।

प्रश्न – क्या १२ अकुशलचित्त एव ८ ज्ञानविप्रयुक्त कामावचर जवनचित्त लोकोत्तर-धर्मो को छोडकर अवशिष्ट अन्य सभी (कामावचर, महग्गत-आदि) धर्मों का का सर्वदा आलम्बन करते है?

उत्तर – ये उपर्युक्त चित्त लोकोत्तरवर्जित सभी धर्मो का सर्वदा आलम्बन नही करते।

इनमे से अकुशलचित्तान्तर्गत ४ दृष्टिगतसम्प्रयुक्त चित्त काम-धर्मों (परीत्त-धर्मों) की अपेक्षा करके उनमे मिथ्याविमर्श, आस्वाद एव अभिनन्दन करते समय कामावचर-धर्मों का आलम्बन करनेवाले होते है, इन्ही मिथ्याविमर्श, आस्वाद-आदि आकारो से २७ महग्गत-धर्मो की अपेक्षा करके प्रवृत्तिकाल मे महग्गत-धर्मों का आलम्बन करनेवाले होते हैं, तथा प्रज्ञप्ति-धर्मों की अपेक्षा करके प्रवृत्तिकाल मे प्रज्ञप्ति-धर्मो का आलम्बन करनेवाले होते है।

उन्ही अकुशलचित्तो मे से ४ दृष्टिगतविप्रयुक्त चित्त भी उपर्युक्त काम, महग्गत एव प्रज्ञप्ति धर्मो की अपेक्षा करके ही केवल आस्वादन एवं अभिनन्दन के वश से प्रवृत्तिकाल मे उन उन धर्मो का आलम्बन करनेवाले होते है।

प्रतिघसम्प्रयुक्त चित्त द्वेष एव विप्रतिसार (पश्चात्ताप) के वश से प्रवृत्तिकाल में परीत्त, महग्गत एव प्रज्ञप्ति धर्मो का आलम्बन करनेवाले होते है।

विचिकित्सासहगत चित्त निश्चयभाव को प्राप्त न होते हुये प्रवृत्तिकाल मे परीत्त, महग्गत एव प्रज्ञप्ति धर्मो का आलम्बन करनेवाला होता है।

---

१ लोकोत्तर चित्त, उनसे सम्प्रयुक्त चैतसिक, एव निर्वाण को 'लोकोत्तरालम्बन' कहते है।

२ "द्वादसाकुसल-अट्ठञाणविप्पयुत्तजवनवसेन वीसति चित्तानि अत्तनो जडभावतो लोकुत्तरधम्मे आरब्भ पवत्तितु न सक्कोन्तीति नववविधलोकुत्तरधम्मे वज्जेत्वा तेभूमकानि पञ्ञत्तिञ्च आरब्भ पवत्तन्तीति आह – 'अकुसलानि चेवा' त्यादि।" – विभा०, पृ० १०१। विस्तार के लिये द्र०–विभा०, पृ० १०१–१०२।

तु० – "लोकुत्तरधम्मा अतिगम्भीरत्ता ञाणस्सेव विसयभूता ति वुत्तं – 'अकुसल लोकुत्तरवज्जितसब्बारम्मणानी' ति।" – प० दी०, पृ० ११४; अट्ठ०, पृ० ३२५।

५७ ञाणसम्पयुत्तकामावचरकुसलानि चेव पञ्चमज्झानसङ्खातं अभिञ्ञाकुसलञ्चेति* अरहत्तमग्गफलवज्जितसब्बारम्मणानि ।

ज्ञानसम्प्रयुक्त कामावचर कुशलचित्त ४, एव पञ्चमध्यान नामक अभिज्ञाकुशल चित्त १ – इस प्रकार ये ५ चित्त अर्हत्-मार्ग एवं अर्हत्-फल को छोडकर शेष सभी धर्मो का आलम्बन करनेवाले होते है ।

औद्धत्यसहगत चित्त, विक्षेप एव अनुपशम के वश से, प्रवृत्तिकाल मे परीत्त, महग्गत, एव प्रज्ञप्ति धर्मो का आलम्बन करनेवाला होता है ।

आठ ज्ञानविप्रयुक्त कामावचर जवनचित्त (महाकुशल ४ एव महाक्रिया ४), शैक्ष्य, पृथग्जन, एव क्षीणास्रव (अर्हत्) पुद्गलो के अगौरवपूर्वक दान, अगौरवपूर्वक प्रत्यवेक्षण एव अगौरवपूर्वक धर्मश्रवण-आदि करते समय कामावचर-धर्मो की अपेक्षा करके प्रवृत्तिकाल मे कामावचर-धर्मो का आलम्बन करनेवाले होते हैं, अतिशयभावित ध्यानो का प्रत्यवेक्षण करते समय महग्गत-धर्मो का आलम्बन करनेवाले होते हैं, तथा कसिण-निमित्त-आदि मे परिकर्म[1]-आदि करते समय प्रज्ञप्ति-धर्म का आलम्बन करनेवाले होते है – इस प्रकार जानना चाहिये[2] ।

५७ ज्ञानसम्प्रयुक्त कामावचर कुशलचित्त ४ एव कुशलाभिज्ञा (पञ्चमध्यान) १=ये ५ चित्त अर्हत्-मार्ग एव अर्हत्-फल को छोडकर अन्य सभी धर्मो का आलम्बन करते है । कुशलधर्म पृथग्जन एव शैक्ष्य पुद्गल की सन्तान मे ही होते हैं, क्योकि पृथग्जन एव शैक्ष्य पुद्गलो को अभी अर्हत्-मार्ग एव अर्हत्-फल की प्राप्ति नही

---

* अभिञ्ञाकुसलञ्च – स्या० ।

१. द्र० – अभि० स० ६ २० ।

२ "इमेसु हि अकुसलतो चत्तारो दिट्ठिगतसम्पयुत्तचित्तुप्पादा परित्तधम्मे आरब्भ परामसन-अस्सादनाभिनन्दनकाले कामावचरारम्मणा, तेनेवाकारेन सत्तवीसति महग्गतधम्मे आरब्भ पवत्तिय महग्गतारम्मणा, सम्मुतिधम्मे आरब्भ पवत्तिय पञ्ञत्तारम्मणा । दिट्ठिविप्पयुत्तचित्तुप्पादा पि ते येव धम्मे आरब्भ केवल अस्सादनाभिनन्दनवसेन पवत्तिय । पटिघसम्पयुत्ता च दुस्सनविप्पटिसारवसेन । विचिकिच्छासहगतो अनिट्ठङ्गमनवसेन, उद्धच्चसहगतो विक्खिपनवसेन अवूपसमवसेन च पवत्तिय परित्तमहग्गतपरित्तारम्मणो । कुसलतो चत्तारो क्रियतो चत्तारो ति अट्ठ ञाणविप्पयुत्तचित्तुप्पादा सेक्खपुथुज्जनखीणासवान असक्कच्चदानपच्चवेक्खणधम्मसवनादीसु परित्तधम्मे आरब्भ पवत्तिकाले कामावचरारम्मणा, अतिपगुणझानपच्चवेक्खणकाले महग्गतारम्मणा, कसिणनिमित्तादीसु परिकम्मादिकाले पञ्ञत्तारम्मणा ति दट्ठब्बा ।" – विभा०, पृ० १०१-१०२ ।

तु० – "तत्थ तानि लद्धसमापत्तीन उप्पन्नकाले एव महग्गतारम्मणानि, तेसु च द्वे दोसमूलचित्तानि परिहीनज्झानानि आरब्भ उप्पन्नकाले ति दट्ठब्ब ।" – प० दी०, पृ० ११४, अट्ठ०, पृ० ३२५, ३२७-३२८ ।

हुई है । अत ये पाँच चित्त अर्हत् पुद्गल की सन्तान मे होनेवाले अर्हत्-मार्ग एव अर्हत्-फल का आलम्बन नही कर सकते ।

निष्कर्ष यह है कि नीचे की भूमि के पुद्गलो को अपने द्वारा अप्राप्त ऊपर की भूमि के धर्मो का ज्ञान नही होता, जैसे – सकृदागामी पुद्गल को अनागामी पुद्गल के अनागामी मार्ग एव अनागामी फल का ज्ञान नही होता, इसी प्रकार स्रोतापन्न पुद्गल भी सकृदागामी, अनागामी-आदि मार्ग एव फल धर्मो का ज्ञान नही कर सकता, इसी तरह पृथग्जन भी स्रोतापन्न सकृदागामी-आदि मार्ग एव फल धर्मो का ज्ञान नही कर सकता ।

सङ्क्षेप मे सभी पुद्गल अपने द्वारा प्राप्त धर्मो से समता रखनेवाले (सदृश) धर्मो का तथा उनसे नीचे के धर्मो का आलम्बन कर सकते है ।

यह कहा जा चुका है कि उपर्युक्त पाँच चित्त अर्हत्-मार्ग एव फल वर्जित सभी आलम्बनो का ग्रहण कर सकते है, तथा यह भी कहा जा चुका है कि नीचे की भूमि का पुद्गल ऊपर की भूमि के आलम्बनो का ज्ञान नही कर सकता, वह केवल अपने द्वारा प्राप्त सीमा तक के आलम्बनो का ही ज्ञान कर सकता है। अत. केवल अनागामी पुद्गल ही अर्हत्-मार्ग एव फल वर्जित उपर्युक्त सभी धर्मो का आलम्बन कर सकता है, अन्य नही – ऐसा जानना चाहिये[1] ।

---

१ "अरहत्तमग्गफलवज्जितसब्बारम्मणानि, सेक्खपुथुज्जनसन्तानेस्वेव पवत्तनतो, सेक्खापि हि ठपेत्वा लोकियचित्त अरहतो मग्ग-फलसङ्खात पाटिपुग्गलिक-चित्त जानितु न सक्कोन्ति, अनधिगतत्ता, तथा पुथुज्जनादयो पि सोता-पन्नादीन । सेक्खान पन अत्तनो अत्तनो मग्ग-फलपच्चवेक्खणेसु परसन्तानगत-मग्गफलारम्मणाय अभिञ्ञाय परिकम्मकाले अभिञ्ञाचित्तेनेव मग्ग-फलान परिच्छिन्दनकाले च अत्तनो अत्तनो समानान हेट्ठिमानञ्च मग्ग-फलधम्मे आरब्भ कुसलजवनान पवत्ति अत्थीति अरहत्तमग्ग-फलस्सेव पटिक्खेपो कतो। कामावचरमहग्गतपञ्ञत्तिनिब्बानानि पन सेक्खपुथुज्जनान सक्कच्चदानपच्च-वेक्खणधम्मसवनसङ्खारसम्मसनकसिणपरिकम्मादीसु त तदारम्मणिकाभिञ्ञाण परिकम्मकाले गोत्रभुवोदानकाले दिब्बचक्खादीहि रूपविजाननादिकाले च कुसलजवनान गोचरभावं गच्छन्ति ।" – विभा०, पृ० १०२ ।

तु०–"चत्तारि ञाणसम्पयुत्तकामावचरकुसलानि च अभिञ्ञाकुसलचित्तञ्चापि पञ्च पि सेक्खपुथुज्जनसन्ताने येव पवत्तनतो सेक्खान पि अरहतो मग्ग-फल जानितु असक्कुणेय्यत्ता अरहत्तमग्ग-फलवज्जितसब्बारम्मणानि ।" – अभि० स० टी०, पृ० ३१०-३११ ।

"तत्थ पुथुज्जनो चेतोपरियञाणलाभी पुथुज्जनान येव चित्त जानाति, न अरियान । अरियेसु पि हेट्ठिमो उपरिमस्स चित्त न जानाति; उपरिमो पन हेट्ठिमस्स जानाति ।" – अ० नि० अ०, पृ० १५३ ।

"न अरियान ति – अरियान मग्गफलचित्त न जानातीति अत्थो, त हि तेन अनधिगतत्ता चेतोपरियञाणेनापि न सक्का विञ्ञातु, अञ्ञ पन चित्तं

५८. ञाणसम्पयुत्तकामावचरक्रियानि चेव क्रियाभिञ्ञा वोट्ठपनञ्चेति सब्बथापि सब्बारमणानि ।

ज्ञानसम्प्रयुक्त कामावचर क्रियाचित्त ४, क्रियाभिज्ञा १, एवं वोट्ठपनचित्त १ – इस प्रकार ये ६ चित्त सभी प्रकार से सभी धर्मों का आलम्बन करनेवाले होते हैं ।

परमत्थदीपनीवाद – 'कोई भी पुद्गल यदि महग्गत-ध्यान को प्राप्त नही हुआ है तो वह महग्गतचित्त का आलम्बन नही कर सकता । नीचे के ध्यानो को प्राप्त पुद्गल भी ऊपर के ध्यानो का आलम्बन नही कर सकता । अनेक पुद्गल ध्यान, मार्ग, फल एव निर्वाण का अभिलाष करते है तथा उनकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न भी करते है, ग्रन्थकार एव अध्यापक-आदि भी उन ध्यान-आदि के स्वभाव का प्रतिपादन करते है । ये सभी पुद्गल ध्यान-आदि का यथाभूत प्रतिपादन नही कर सकते । केवल उन ध्यान-आदि की आकार-प्रज्ञप्ति का अनुमान द्वारा निरूपण ही कर सकते है' – इस प्रकार परमत्थदीपनीकार कहते है ।

वे आगे लिखते है कि परचित्तविदू (परचित्तवित्) मार – देवपुत्र, ध्यान की प्राप्ति न करते हुए भी, रूपावचर ध्यान का आलम्बन कर सकते है, अत कुछ प्रभावशाली पुद्गल अपने द्वारा अप्राप्त लौकिक ध्यान का आलम्बन भी कर सकते हैं – इस प्रकार भी जानना चाहिये[1] ।

अभिज्ञा – रूपावचर पञ्चमध्यान जवनचित्त को ही 'अभिज्ञा' कहते है । कुशल एव क्रिया चित्त 'जवन' होते है, अत रूपावचरकुशल पञ्चमध्यान के शक्तिविशेष को 'कुशलाभिज्ञा' तथा रूपावचरक्रिया पञ्चमध्यान के शक्तिविशेष को 'क्रियाभिज्ञा' कहते हैं । 'अभिज्ञा' शब्द मे 'अभि' का अर्थ 'विशेष' है, अत पञ्चमध्यान के शक्तिविशेष को ही 'अभिज्ञा' कहते है ।

५८ ज्ञानसम्प्रयुक्त कामावचर क्रियाचित्त ४, क्रियाभिज्ञा १ तथा वोट्ठपन (मनोद्वारावर्जन) १ – इस तरह ये ६ चित्त सभी आलम्बनो का ग्रहण कर सकते हैं । 'सभी' का अर्थ चारो प्रकार के आलम्बनो से है, यथा – कामालम्बन, महग्गतालम्बन, लोकोत्तरालम्बन एव प्रज्ञप्ति-आलम्बन ।

अज्झत्त, बहिद्धा-आदि, इन्ही चतुर्विध आलम्बनो के प्रभेद है, अत इन्ही के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाने से उनका पृथक् नामोल्लेख नही किया गया है । इसीलिये आगे सङ्ग्रहगाथा[2] मे भी उपर्युक्त कामालम्बन-आदि चार आलम्बनो का ही उल्लेख पाया जाता है ।

जानाति येव । हेट्ठिमो उपरिमस्स चित्त न जानातीति आदीनि पि मग्गफलचित्तमेव सन्धाय वुत्तानीति वेदितब्बानि ।" – अ० नि० अ० टी० ।

"एत्थ च पुथुज्जनो सोतापन्नस्स चित्त न जानाति, सोतापन्नो वा सकदागामिस्सा ति एव याव अरहत्ता नेतब्ब । अरहा पन सब्बेस चित्त जानाति । अञ्ञो पि च उपरिमो हेट्ठिमस्सा ति – अय विसेसो वेदितब्बो ।" – अट्ठ०, पृ० ३२६ ।

१ विशेष ज्ञान के लिये द्र० – प० दी०, पृ० ११४-११५ ।

२ द्र० – अभि० स० ३ . ६२, पृ० २६७ ।

'सब्बथा' (सर्वथा) कहने का आशय यह है कि ये ६ चित्त सभी चतुर्विध आलम्बनो के सर्वांश का आलम्बन करते है, एकदेश का नही । अर्थात् ये चित्त सभी कामालम्बन, सभी महग्गतालम्बन, सभी लोकोत्तरालम्बन एव सभी प्रज्ञप्ति-आलम्बन का ग्रहण कर सकते है ।

जिस प्रकार आरूप्य द्वितीय एव चतुर्थ चित्तो के द्वारा महग्गतालम्बनो का ग्रहण किया जाने पर भी[1], वे उन (महग्गतालम्बनो) के सर्वाश का ग्रहण नही करते अर्थात् सभी महग्गत धर्मो का आलम्बन नही करते, अपितु उनके एकदेश का ही ग्रहण करते है, उस प्रकार ये छह चित्त चतुर्विध आलम्बनो के एकदेश का ग्रहण नही करते; अपितु सभी कामालम्बन, सभी महग्गतालम्बन, सभी लोकोत्तरालम्बन तथा सभी प्रज्ञप्ति-आलम्बनो का ग्रहण करते है ।

किन्तु यह ज्ञातव्य है कि जब ये चित्त भगवान् बुद्ध की सन्तान मे होते है तभी सर्वविध आलम्बनो का ग्रहण करते है, अन्यथा नही, क्योकि 'सब' का आलम्बन करना 'सब्बञ्ञुतञाण' का ही विषय है, अन्य का नही । यह 'सब्बञ्ञुतञाण' केवल भगवान् बुद्ध को ही होता है अन्य को नही[2] । ज्ञानसम्प्रयुक्त महाक्रियाचित्त (४) मे सम्प्रयुक्त प्रज्ञाचैतसिक ही 'सब्बञ्ञुतञाण' है, जैसे कहा भी गया है

"सब्बञ्ञुतञाण . त हि चतूसु ञाणसम्पयुत्तमहाक्रियाचित्तेसु लब्भति[3] ।"

---

१ द्र० – अभि० स० ३ ५६, पृ० २६४ ।

२ "सब्बथापि सब्बारम्मणानीति – कामावचर-महग्गत-सब्बलोकुत्तर-पञ्ञत्तिवसेन सब्बथापि सब्बारम्मणानि, न पन अकुसलादयो विय सप्पदेससब्बारम्मणानीत्यत्थो । क्रियजवनान हि सब्बञ्ञुतञाणादिवसप्पवत्तिय, वोट्ठब्बनस्स च ततपुरेचारिक-वसप्पवत्तिय, न किञ्चि अगोचर नाम अत्थि ।" – विभा०, पृ० १०२ ।

"ये पन अग्गमग्गफलानि पटिविज्झन्ति, तेस उप्पन्नानि ञाणसम्पयुत्तकाम-क्रियजवनानि क्रियाभिञ्ञाजवनञ्च पुग्गलानुरूप पञ्ञत्तिया सह चतु-भूमकधम्मेसु किञ्चि आरम्मण कातु न सक्कोन्तीति नत्थि, तथा तेस पुरेचारिकमनोद्वारावज्जनञ्चा ति वुत्त – 'ञाणसम्पयुत्त सब्बथापि सब्बा-रम्मणानी' ति । तत्थ सब्बथापीति – सब्बकामावचर - सब्बमहग्गत - सब्ब-लोकुत्तर-सब्बपञ्ञत्ति-सब्बपच्चुप्पन्नादिपकारेनपीति अत्थो । इदञ्च सब्बञ्ञुबुद्धान उप्पन्नानि सन्धाय वुत्त, इतरानि पन पच्चेकबुद्धान उप्पन्नानि पि पदेससब्बा-रम्मणानि एव होन्ति । तानि हि एक पथविधातु पि सब्बेहि अनवसेस-पकारेहि जानितु न सक्कोन्तीति ।" – प० दी०, पृ० ११५ ।

३ दी० नि० अ० (सीलक्खन्ध०), पृ० ९३ ।

"कतम तथागतस्स सब्बञ्ञुतञाण ? सब्ब सङ्खतमसङ्खत अनवसेस जानातीति सब्बञ्ञुतञाण । तत्थ आवरण नत्थीति अनावरणञाण । यावता सदेवकस्स लोकस्स समारकस्स सब्रह्मकस्स सस्समणब्राह्मणिया पजाय सदेवमनुस्साय दिट्ठ सुत मुत विञ्ञात पत्त परियेसित अनुविचरित मनसा, सब्ब ञाण, सब्ब दिट्ठ, सब्ब विदित,

५६ आरुप्पेसु* दुतियचतुत्थानि† महग्गतारम्मणानि ।

आरूप्यचित्तों में से द्वितीय एवं चतुर्थ चित्त महग्गत-धर्मों का आलम्बन करनेवाले होते हैं ।

जब 'सब्बञ्ञुतञाणवीथि' होती है तब वोट्ठपनचित्त मनोद्वारावर्जनकृत्य करता है। उस समय 'वोट्ठपन' भी 'सब्बञ्ञुतञाण' के तुल्य हो जाता है, और 'सब्बञ्ञुतञाण' जितने धर्मों का ज्ञान कर सकता है, 'वोट्ठपन' भी उन सभी आलम्बनों का आवर्जन कर सकता है । इसी तरह 'अभिञ्ञा' भी, जब वह पूर्वनिवासानुस्मृति एवं अनागतांश-अभिज्ञा के रूप में प्रवृत्त होती है तब, अपनी एवं दूसरे की अतीत एवं अनागत में होनेवाली सभी घटनाओं को जानती है, अतः 'सब' का आलम्बन कर सकती है । इसीलिये कहा गया है कि 'ये छह चित्त जब भगवान् बुद्ध की सन्तान में होते हैं तब सभी आलम्बनों का ग्रहण कर सकते हैं, तथा जब अन्य पुद्गलों की सन्तान में होते हैं तब सभी आलम्बनों का सर्वथा ग्रहण नहीं कर सकते । यहाँ तक कि प्रत्येकबुद्ध भी सभी प्रज्ञप्तियों का ग्रहण नहीं कर सकते' ।

अर्हत्-मार्ग-ज्ञान के प्रति 'यह सब्बञ्ञुतञाण है'—इस प्रकार के भ्रामक कथन को, अथवा सौमनस्यसहगत ज्ञानसम्प्रयुक्त महाक्रियाचित्त के प्रति 'यह सब्बञ्ञुतञाण है'—इस प्रकार के अपूर्ण कथन को, नहीं मानना चाहिये ।

'सब्बञ्ञुतञाण एक ही वीथि के द्वारा सभी आलम्बनों का युगपत् ज्ञान कर सकता है', अथवा 'सब्बञ्ञुतञाण सभी आलम्बनों का सर्वदा ज्ञान रखता है'—इस प्रकार के मतों को भी नहीं मानना चाहिये ।

वस्तुतः 'सब्बञ्ञुतञाण' जब किसी विशेष आलम्बन को जानने के लिये आवर्जन करता है तब उसे बिना किसी बाधा के जान सकता है और इस प्रकार वह सभी आलम्बनों को जान सकता है—यह 'सब्बञ्ञुतञाण' का गुण है ।

५६ आरूप्यचित्तों में से द्वितीय आरूप्यचित्त (विज्ञानानन्त्यायतन कुशल-विपाक-क्रिया) ३ तथा चतुर्थ आरूप्यचित्त (नैवसंज्ञानासंज्ञायतन कुशल-विपाक-क्रिया) ३=ये ६ चित्त

सब्ब सच्छिकतं, सब्बं फस्सितं पञ्ञाय, अफस्सितं पञ्ञाय नत्थीति 'सब्बञ्ञुतञाणं'। तत्थ आवरणं नत्थीति अनावरणञाणं ।"—पटि० म०, पृ० १४५-१४८ ।

तु०—"तथागतस्य दश बलानि ।"—अभि० को०, पृ० २०६-२०७ ।

अभि० मू०, पृ० ८६-६३ ।

"मोक्षभव्यानां नानाधातूनां सत्त्वानामनेकधातूनां सर्वक्लेशप्रहाणायौषधविशेषवत् सामान्यप्रतिपक्षविशेषप्रतिपक्षञ्च सर्वत्र जानीते गतिहेतुं चानेन धातुरेकसन्ताने यो यद्गतचित्तस्तद्वशेन तदवतरणभव्योऽभव्यश्च भवति तत्सर्वं यथावत् प्रतिजानातीति सर्वाकारज्ञताऽप्युक्ता भवति । तदेतत् सफलमार्गप्रहाणाद् दशज्ञानात्मकं भवति ।"—वि० प्र० वृ०, पृ० ३८५ ।

* अरूपेसु—स्या० । † दुतियचतुक्कानि—रो०।

महग्गत-धर्मो का आलम्बन करते हैं । इनमे से विज्ञानानन्त्यायतन कुशलचित्त, प्रत्युत्पन्न भव एव अतीत भव की आध्यात्मिक सन्तान मे उत्पन्न आकाशानन्त्यायतनकुशल का आलम्बन करता है । विज्ञानानन्त्यायतन विपाकचित्त अतीत भव की आध्यात्मिक सन्तान मे उत्पन्न आकाशानन्त्यायतन का आलम्बन करता है । तथा विज्ञानानन्त्यायतन क्रियाचित्त प्रत्युत्पन्न भव एव अतीत भव की आध्यात्मिक सन्तान मे उत्पन्न आकाशानन्त्यायतनकुशल एव आकाशानन्त्यायतनक्रिया का आलम्बन करता है[1] ।

पृथग्जन एव शैक्ष्य पुद्गल आकाशानन्त्यायतनकुशल की प्राप्ति के अनन्तर, इसी प्रत्युत्पन्न भव मे जब फिर विज्ञानानन्त्यायतन कुशल की प्राप्ति करता है तब वह इस भव (प्रत्युत्पन्न भव) की आध्यात्मिक सन्तान मे उत्पन्न आकाशानन्त्यायतन कुशल-ध्यान का आलम्बन करता है । च्युति के अनन्तर द्वितीय अरूपभूमि मे पहुँचकर जब वह विज्ञानानन्त्यायतन ध्यान की प्राप्ति करता है तब वह (विज्ञानानन्त्यायतन ध्यान) अतीत भव की आध्यात्मिक सन्तान मे उत्पन्न आकाशानन्त्यायतन कुशलध्यान का ही आलम्बन करता है । विज्ञानानन्त्यायतन ध्यान की प्राप्ति के अनन्तर द्वितीय अरूपभूमि मे प्रतिसन्धि, भवङ्ग एव च्युति कृत्य करनेवाला विज्ञानानन्त्यान्यतन विपाकचित्त, अतीत भव की आध्यात्मिक सन्तान मे उत्पन्न आकाशानन्त्यायतनकुशल कर्मनिमित्त का ही आलम्बन करता है ।

पृथग्जन एव शैक्ष्य पुद्गल की अवस्था मे आकाशानन्त्यायतन कुशलध्यान को प्राप्त करने के अनन्तर इसी प्रत्युत्पन्न भव मे ही जब पुद्गल अर्हत् हो जाता है और अर्हत् होने के अनन्तर यदि वह (अर्हत्) फिर विज्ञानानन्त्यायतन क्रियाध्यान को प्राप्त करता है तो प्रथमत प्राप्त वह विज्ञानानन्त्यायतन क्रियाध्यान, इस भव की आध्यात्मिक सन्तान मे उत्पन्न आकाशानन्त्यायतन कुशलध्यान का आलम्बन करता है । इसके अनन्तर आकाशानन्त्यायतन क्रियाध्यान का, जबतक वह पुन समावर्जन नही करता तबतक, विज्ञानानन्त्यायतन क्रियाध्यान ही बार बार उत्पन्न होता है और उस समय हर बार वह इस भव की आध्यात्मिक सन्तान मे उत्पन्न आकाशानन्त्यायतन कुशलध्यान का ही आलम्बन करता है ।

अर्हत् होने के अनन्तर वह पुद्गल यदि आकाशानन्त्यायतन ध्यान का समावर्जन करता है तो वह समावर्जित ध्यान आकाशानन्त्यायतन क्रियाध्यान होता है, अत इसके बाद समावर्जित सभी विज्ञानानन्त्यायतन ध्यान इस भव की आध्यात्मिक सन्तान मे उत्पन्न आकाशानन्त्यायतन क्रियाध्यान का ही आलम्बन करते है । अर्हत् होने के अनन्तर, आकाशानन्त्यायतन ध्यान को प्राप्त कर लेने के पश्चात्, यदि वह पुद्गल विज्ञानानन्त्यायतन ध्यान को पुन प्राप्त करता है तो वह (विज्ञानानन्त्यायतन ध्यान) इस भव की आध्यात्मिक सन्तान मे उत्पन्न आकाशानन्त्यायतन क्रियाध्यान का ही आलम्बन करता है ।

कामभूमि एव रूपभूमि में शैक्ष्य पुद्गल की अवस्था मे विज्ञानानन्त्यायतन ध्यान प्राप्त करके यदि वह (शैक्ष्य पुद्गल) च्युति के अनन्तर पुन विज्ञानानन्त्यायतनभूमि में उत्पन्न होता है और (इस भूमि मे) उत्पन्न होकर अर्हत् होता है तो उस अर्हत्

१ तु० – अट्ठ०, पृ० ३२४, ३२८ ।

६०. सेसानि* महग्गतचित्तानि सब्बानि पि पञ्ञत्तारमणानि ।

६१ लोकुत्तरचित्तानि निब्बानारमणानीति† ।

शेष सभी महग्गत चित्त प्रज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाले होते हैं ।

लोकोत्तर चित्त निर्वाण का आलम्बन करनेवाले होते हैं ।

की अवस्था में समावर्जित विज्ञानानन्त्यायतन ध्यान अतीत भव की आध्यात्मिक सन्तान में उत्पन्न आकाशानन्त्यायतन कुशलध्यान का ही आलम्बन करता है।

[विज्ञानानन्त्यायतनभूमि में उत्पन्न होने के अनन्तर, पुद्गल आकाशानन्त्यायतन ध्यान का समावर्जन नहीं कर सकता, अत वह आकाशानन्त्यायतन क्रियाध्यान का आलम्बन नहीं कर सकता ।]

चतुर्थ आरूप्य (नैवसञ्ज्ञानासञ्ज्ञायतन) ध्यान तृतीय आरूप्य (आकिञ्चन्यायतन ध्यान नामक महग्गत-धर्म) का आलम्बन करता है ।

चतुर्थ आरूप्य कुशलचित्त प्रत्युत्पन्न एव अतीतभव की आध्यात्मिक सन्तान में उत्पन्न आकिञ्चन्यायतन कुशल का आलम्बन करता है । चतुर्थ आरूप्य विपाकचित्त अतीत भव की आध्यात्मिक सन्तान में उत्पन्न आकिञ्चन्यायतन कुशल का ही आलम्बन करता है। चतुर्थ आरूप्य क्रियाचित्त प्रत्युत्पन्न एव अतीत भव की आध्यात्मिक सन्तान में उत्पन्न आकिञ्चन्यायतन कुशल एव क्रिया का आलम्बन करता है ।

चतुर्थ आरूप्य के आलम्बनो के विस्तार को पूर्वकथित द्वितीय आरूप्य के आलम्बनो के विस्तार की भाँति समझना चाहिये । ['आध्यात्मिक सन्तान' शब्द, जो पहले कई बार प्रयुक्त किया गया है, का अर्थ 'स्व (अपनी) आध्यात्मिक सन्तान' लेना चाहिये, 'पर (दूसरे की) आध्यात्मिक सन्तान' नहीं ।]

६० शेष, अर्थात् जब अभिज्ञाकृत्य होता है तब रूपावचरकुशल एव रूपावचर-क्रिया पञ्चमध्यान, द्वितीय एव चतुर्थ आरूप्य चित्त वर्जित (२१) महग्गतचित्त, अपने से सम्बद्ध प्रज्ञप्ति-धर्मो का ही आलम्बन करते हैं । वे प्रज्ञप्ति-धर्म 'पठवीकसिण' (पृथ्वीकात्स्र्य) आदि कसिण-प्रज्ञप्ति एव अशुभ-प्रज्ञप्ति-आदि भेद से २८ प्रकार के होते हैं[1] । [इनमे कौन चित्त किस प्रज्ञप्ति-धर्म का आलम्बन करता है, इसका वर्णन नवम परिच्छेद में होगा ।]

---

* सेसानि पन – स्या० ।

† निब्बाणालम्बनानीति – सी० ('ण' सर्वत्र), निब्बानालम्बनानीति – स्या०, निब्बानारम्मणानीति – ना०, म० (ख०), निब्बानालम्बणानीति – रो० ।

१. "सेसानि पञ्ञत्तारम्मणानीति – पन्नरस रूपावचरानि, पठमततियारुप्पानि चा ति एकवीसतिकसिणपञ्ञत्तीसु पवत्तनतो पञ्ञत्तारम्मणानि ।" – विभा०, पृ० १०२ । "सेसानीति – अभिञ्ञाद्वयदुतियचतुत्थारुप्पेहि अवसेसानि सब्बानि पि एकवीसति-विधानि महग्गतचित्तानि कसिणादिपञ्ञत्तारम्मणानीति अत्थो ।" – प० दी०, पृ० १०६ ।

६२. पञ्चवीस परित्तम्हि छ चित्तानि महग्गत ।
एकवीसति वोहारे अट्ठ निब्बानगोचरे ॥

६३. वीसानुत्तरमुत्तम्हि अग्गमग्गफलुज्झिते ।
पञ्च सब्बत्थ छच्चेति* सत्तधा तत्थ सङ्गहो ॥

२५ चित्त कामालम्बन, ६ चित्त महग्गतालम्बन, २१ चित्त प्रज्ञप्ति-आलम्बन तथा ८ चित्त निर्वाणालम्बन होते है ।

२० चित्त लोकोत्तरवर्जित सभी आलम्बनो मे होते है, ५ चित्त अर्हत्-मार्ग एवं अर्हत्-फल वर्जित सभी आलम्बनो मे होते है, ६ चित्त सभी आलम्बनों मे होते है – इस प्रकार आलम्बनसङ्ग्रह मे आलम्बनो का सङ्ग्रह सात प्रकार से होता है ।

६२–६३. उपर्युक्त गाथा-द्वय मे से प्रथम के द्वारा एकान्तरूप से आलम्बनो के ग्राहक (ग्रहण करनेवाले) चित्तो का तथा द्वितीय के द्वारा अनेकान्तरूप से आलम्बनो के ग्राहक चित्तो का दिग्दर्शन कराया गया है ।

सङ्क्षेप मे आलम्बनो के चार विभाग होते है, यथा – काम, महग्गत, लोकोत्तर एव प्रज्ञप्ति । इनमे से किसी एक विभाग का ही आलम्बन करनेवाले चित्त 'एकान्तेन आलम्बन करनेवाले (एकान्तालम्बन) चित्त' कहे जाते है । तथा किन्ही दो या तीन विभागो का आलम्बन करनेवाले चित्त 'अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले (अनेकान्तालम्बन) चित्त' कहे जाते है ।

एकान्तालम्बन चित्त–

(क) २५ चित्त केवल काम-धर्मो का ही एकान्तेन आलम्बन करते है, अन्य महग्गत-आदि धर्मो का आलम्बन नही करते, अत ये 'एकान्तालम्बन चित्त' कहे जाते है । वे इस प्रकार है, यथा – द्विपञ्चविज्ञान १०, मनोधातु ३, सन्तीरण ३, महाविपाक ८ एव हसितोत्पाद १=२५ चित्त ।

(ख) ६ चित्त केवल महग्गत-धर्मो का ही एकान्तेन आलम्बन करते है; यथा – द्वितीय आरूप्यचित्त (कुशल-विपाक-क्रिया=) ३, तथा चतुर्थ आरूप्यचित्त (कुशल-विपाक-क्रिया=) ३=६ चित्त ।

(ग) २१ चित्त केवल प्रज्ञप्ति-धर्मों का ही एकान्तेन आलम्बन करते है; यथा – जब अभिज्ञाकृत्य होता है तब रूपावचरकुशल एव रूपावचरक्रिया पञ्चमध्यान, द्वितीय आरूप्यचित्त (३), एव चतुर्थ आरूप्यचित्त (३) वर्जित महग्गत चित्त २१ ।

(घ) ८ लोकोत्तर चित्त केवल निर्वाण-धर्म का ही एकान्तेन आलम्बन करते है।

अनेकान्तालम्बन चित्त–

(क) २० चित्त लोकोत्तरवर्जित सभी आलम्बनो का अनेकान्तेन आलम्बन करते है, अत ये 'अनेकान्तालम्बन चित्त' कहे जाते है । वे इस प्रकार है, यथा – अकुशल

---

* छ चेति – स्या० ।

चित्त १२, तथा ज्ञानविप्रयुक्त कामावचर जवनचित्त ८ (ज्ञानविप्रयुक्त कुशल ४+क्रिया ४=८)=२० चित्त।

(ख) ५ चित्त अर्हत्-मार्ग एव अर्हत्-फल वर्जित सभी आलम्बनो का अनेकान्तेन आलम्बन करते हैं, यथा–ज्ञानसम्प्रयुक्त कामावचर कुशल ४ तथा पञ्चमध्यान नामक अभिज्ञाकुशल १=५ चित्त।

(ग) ६ चित्त सभी आलम्बनो का अनेकान्तेन आलम्बन करते हैं, यथा–ज्ञानसम्प्रयुक्त कामावचरक्रिया ४, क्रियाभिज्ञा १ तथा वोट्ठपन (मनोद्वारावर्जन) १=६ चित्त।

यह 'आलम्बनसङ्ग्रह' अभिधम्मपिटक के समझने मे अत्यन्त उपयोगी एव बडा सहायक है, अत एकान्त-अनेकान्त-भेद को हम यहाँ जरा और विस्तार से कहेगे।

सर्वप्रथम हम समस्त आलम्बनो का कई विभागो (श्रेणियो) मे वर्गीकरण करेगे, तदनन्तर उन आलम्बनो के ग्राहक (ग्रहण करनेवाले) चित्तो को कहेगे। एक विभाग मे भी कभी कभी दो तथा कभी कभी तीन या इससे अधिक छोटे छोटे उपविभाग होगे। एक विभाग के अन्तर्गत अनेक उपविभागो मे से जो चित्त केवल एक उपविभाग का ग्रहण करते हैं वे एकान्तालम्बन चित्त, तथा जो अनेक उपविभागो का ग्रहण करते हैं वे अनेकान्तालम्बन चित्त होगे, यथा–

१ नाम-रूप। (यह आलम्बनो का एक विभाग है, इसमे 'नाम' तथा 'रूप' ये दो उपविभाग हैं, इनमे से केवल नाम-धर्मो का ही या केवल रूप-धर्मो का ही जो चित्त आलम्बन करते हैं वे 'एकान्तालम्बन' तथा जो चित्त नाम एव रूप–दोनो प्रकार के धर्मो का आलम्बन करते हैं वे 'अनेकान्तालम्बन' कहे जाते हैं। इसी प्रकार अन्य विभागो के सम्बन्ध मे भी समझना चाहिये।)

२ प्रत्युत्पन्न-अतीत-अनागत-कालविमुक्त।

३. प्रज्ञप्ति-परमार्थ।

४. अध्यात्म (अज्झत्त), बाह्य (बहिद्धा), अध्यात्मबाह्य (अज्झत्तबहिद्धा)।

५ रूपालम्बन-आदि छह आलम्बन।

६. एकालम्बन, द्व्यालम्बन, पञ्चालम्बन, द्वादशालम्बन, चतुर्दशालम्बन, पञ्चविंशत्यालम्बन।

इन छह विभागो मे विभक्त आलम्बनो को एकान्तेन एव अनेकान्तेन ग्रहण करनेवाले चित्तो के वर्णन से पूर्व हम यहाँ कामालम्बन, महग्गतालम्बन-आदि चतुर्विध आलम्बनो को एकान्तेन एव अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्तो का वर्णन करते हैं, तदनन्तर उपर्युक्त छह विभागो मे विभक्त आलम्बनो को एकान्तेन एव अनेकान्तेन ग्रहण करनेवाले चित्तो का वर्णन करेगे।

कामादि चतुर्विध आलम्बनों के एकान्तालम्बन एव अनेकान्तालम्बन चित्त –

१. (क) काम-धर्मों का ही एकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त २५ होते हैं, यथा–कामविपाक[1] २३, पञ्चद्वारावर्जन १ तथा हसितोत्पाद १=२५ चित्त।

---

१. द्र०–अभि० स० १ : १७, पृ० ६१।

(ख) काम-धर्मों का अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ३१ होते हैं, यथा – हसितोत्पादवर्जित कामजवन[1] २८, वोट्ठपन १ तथा अभिज्ञाद्वय=३१ चित्त ।

२ (क) महग्गत-धर्मों का एकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ६ होते हैं, यथा – द्वितीय आरूप्य (कुशल-विपाक-क्रिया) ३, तथा चतुर्थ आरूप्य (कुशल-विपाक-क्रिया) ३=६ चित्त ।

(ख) महग्गत-धर्मों का अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ३१ होते हैं, यथा – वे ही ३१ चित्त, जो काम-धर्मों का अनेकान्तेन आलम्बन करते हैं ।

३ (क) निर्वाण-धर्म का एकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ८ होते हैं, यथा – ८ लोकोत्तर चित्त ।

(ख) निर्वाण-धर्म का अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ११ होते हैं, यथा – ज्ञानसम्प्रयुक्त कामावचर कुशल ४ एवं क्रिया ४=८, अभिज्ञा २ एवं वोट्ठपन (मनोद्वारावर्जन) १=११ चित्त ।

[प्रज्ञप्ति-धर्म का एकान्तेन एवं अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्तों का वर्णन उपर्युक्त ६ विभागों में विभक्त आलम्बनों के तृतीय विभाग के वर्णन-प्रसङ्ग में करेंगे ।]

अब यहाँ उपर्युक्त ६ विभागों में विभक्त आलम्बनों को एकान्तेन एवं अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्तों का वर्णन प्रस्तुत किया जाता है, यथा–

१ (क) केवल नाम-धर्मों का ही एकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त १४ हैं, यथा – द्वितीय एवं चतुर्थ आरूप्य चित्त ६, तथा लोकोत्तर चित्त ८=१४ चित्त।

(ख) नाम-धर्मों का अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ४३ हैं, यथा— तदालम्बन[2] चित्त ११, कामजवनचित्त २९, वोट्ठपन १ एवं अभिज्ञा २=४३ चित्त ।

(ग) केवल रूप-धर्मों का ही एकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त १३ हैं, यथा – द्विपञ्चविज्ञानचित्त १० एवं मनोधातु ३=१३ चित्त ।

(घ) रूप-धर्मों का अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ४३ हैं, यथा – वे ही ४३ चित्त, जो नाम-धर्मों का अनेकान्तेन आलम्बन करते हैं ।

२ (क) केवल प्रत्युत्पन्न का ही एकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त १३ हैं, यथा – द्विपञ्चविज्ञान १० तथा मनोधातु ३=१३ चित्त ।

(ख) केवल अतीत का ही एकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ६ हैं, यथा – द्वितीय आरूप्यचित्त (कुशल-विपाक-क्रिया) ३, तथा चतुर्थ आरूप्यचित्त (कुशल-विपाक-क्रिया) ३=६ चित्त ।

---

१ जवनचित्त ५५ होते हैं, उनमें अकुशलचित्त १२, महाकुशल ८, महाक्रिया ८ एवं हसितोत्पाद १=२९ चित्त 'कामजवन' कहलाते हैं । द्र० – अभि० स० ३ . २५, पृ० २३३ ।

२ सन्तीरण ३ एवं महाविपाक ८=११ चित्त 'तदालम्बन' कहलाते हैं। द्र० – अभि० स० ३ . २६, पृ० २३३ ।

(ग) केवल अनागत का ही एकान्तेन आलम्बन करनेवाला चित्त कोई नहीं है।

(घ) प्रत्युत्पन्न, अतीत एव अनागत का अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ४३ है, यथा – वे ही ४३ चित्त, जो नाम-धर्मो का अनेकान्तेन आलम्बन करते है।

(ङ) केवल कालविमुक्त-धर्मो का ही एकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त २९ हैं, यथा रूपावचरचित्त १५, आकाशानन्त्यायतनचित्त (कुशल-विपाक-क्रिया) ३, आकिञ्चन्यायतनचित्त (कुशल-विपाक-क्रिया) ३ तथा लोकोत्तर चित्त ८=२९ चित्त।

(च) कालविमुक्त-धर्मों का अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ३१ है, यथा – वे ही ३१ चित्त, जो काम-धर्मों का अनेकान्तेन आलम्बन करते है।

३ (क) केवल प्रज्ञप्ति का ही एकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त २१ है, यथा – रूपावर चित्त १५, आकाशानन्त्यायतनचित्त (कुशल-विपाक-क्रिया) ३ तथा आकिञ्चन्यायतनचित्त (कुशल-विपाक-क्रिया) ३=२१ चित्त।

(ख) प्रज्ञप्ति-धर्मो का अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ३१ है, यथा – वे ही ३१ चित्त, जो काम-धर्मो का अनेकान्तेन आलम्बन करते है।

(ग) केवल परमार्थ-धर्मों का ही एकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ३९ है, यथा – केवल काम-धर्मों का ही एकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त २५, केवल महग्गत-धर्मों का ही एकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ६, तथा केवल निर्वाणका ही एकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ८=३९ चित्त।

(घ) परमार्थ-धर्मों का अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ३१ है, यथा – वे ही ३१ चित्त, जो काम-धर्मों का अनेकान्तेन आलम्बन करते है।

४ (क) केवल अध्यात्म-(अज्झत्त) धर्मो का ही एकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ६ है, यथा – द्वितीय आरूप्यचित्त (कुशल-विपाक-क्रिया) ३ तथा चतुर्थ आरूप्य चित्त (कुशल-विपाक-क्रिया) ३=६ चित्त।

(ख) अध्यात्म-धर्मो का अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ५६ है, यथा – कामचित्त[1] ५४, तथा अभिज्ञा २=५६ चित्त।

(ग) केवल बाह्य (बहिद्धा)-धर्मो का एकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त २६ है, यथा – रूपावचरचित्त १५, आकाशानन्त्यायतनचित्त (कुशल-विपाक-क्रिया) ३ तथा लोकोत्तर चित्त ८=२६ चित्त।

(घ) बाह्य-धर्मो का अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ५६ है, यथा – वे ही ५६ चित्त, जो अध्यात्म-धर्मो का अनेकान्तेन आलम्बन करते है।

['नास्तिभावप्रज्ञप्ति' (नत्थिभावपञ्ञत्ति) – यह प्रथम आरूप्यविज्ञान नामक अध्यात्म-धर्म की अभावप्रज्ञप्ति होने से न तो अध्यात्म (अज्झत्त) धर्म ही है और न बाह्य (बहिद्धा)-धर्म ही है, अत इस 'नास्तिभावप्रज्ञप्ति' का आलम्बन करनेवाले आकिञ्चन्यायतन (कुशल-विपाक-क्रिया) ३ चित्त, न तो अध्यात्म-धर्मो का आलम्बन करनेवाले चित्तो मे सङ्गृहीत होते है और न बाह्य-धर्मो का आलम्बन करनेवाले चित्तो मे ही सङ्गृहीत होते है।]

१. द्र० – अभि० स० १.३०, पृ० ८६।

(ङ) अध्यात्म-बाह्य (अज्झत्त-बहिद्धा)-धर्मों का एकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त नही होते।

(च) अध्यात्म-बाह्य-धर्मों का अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ५६ हैं, यथा – वे ही ५६ चित्त, जो अध्यात्म-धर्मो का अनेकान्तेन आलम्बन करते है।

५ (क) रूपालम्बन-आदि पॉच आलम्बनो का एकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त १० हैं, यथा – चक्षर्विज्ञान-आदि द्विपञ्चविज्ञान चित्त १०। (ये चक्षुर्विज्ञानद्वय-आदि द्विपञ्चविज्ञानचित्त क्रमश रूप-आदि आलम्बनो का एकान्तेन आलम्बन करते हैं।

(ख) रूपालम्बन-आदि पॉच आलम्बनो का अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ४६ हैं, यथा – नाम-धर्मो का अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ४३ तथा मनोधातु ३=४६ चित्त।

(ग) केवल धर्मालम्बन का ही एकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ३५ हैं, यथा – महग्गत चित्त[1] २७ तथा लोकोत्तर चित्त ८=३५ चित्त।

(घ) धर्मालम्बन का अनेकान्तेन आलम्बन करनेवाले चित्त ४३ हैं, यथा – वे ही ४३ चित्त, जो नाम-धर्मो का अनेकान्तेन आलम्बन करते हैं।

६ (क) एकालम्बन चित्त – जो चित्त केवल एकविध आलम्बन का ही ग्रहण करते हैं उन्हे 'एकालम्बनचित्त' कहते हैं। ये २८ होते हैं, यथा – द्विपञ्चविज्ञान-चित्त १०, आकाशानन्त्यायतनचित्त (कुशल-विपाक-क्रिया) ३, आकिञ्चन्यायतनचित्त (कुशल-विपाक-क्रिया) ३, विज्ञानानन्त्यायतनचित्त (क्रियावर्जित) २, नैवसञ्ज्ञानासञ्ज्ञायतनचित्त (क्रियावर्जित) २ तथा लोकोत्तर चित्त ८=२८ चित्त।

(ख) द्व्यालम्बन चित्त – जो चित्त द्विविध आलम्बनो का ग्रहण करते हैं उन्हे 'द्व्यालम्बन चित्त' कहते है। वे चित्त २ है, यथा – विज्ञानानन्त्यायतनक्रियाचित्त १ तथा नैवसञ्ज्ञानासञ्ज्ञायतनक्रियाचित्त १=२ चित्त।

विज्ञानानन्त्यायतनक्रियाचित्त, आकाशानन्त्यायतनकुशल एव आकाशानन्त्यायतन-क्रिया – इन दो आलम्बनो का ग्रहण करता है, तथा नैवसञ्ज्ञानासञ्ज्ञायतनक्रियाचित्त, आकि-ञ्चन्यायतनकुशल एव आकिञ्चन्यायतनक्रिया – इन दो आलम्बनो का ग्रहण करता है।

(ग) पञ्चालम्बन चित्त – जो चित्त पॉच प्रकार के आलम्बनो का ग्रहण करते है वे 'पञ्चालम्बन चित्त' कहलाते हैं। वे चित्त ३ हैं, यथा – मनोधातुत्रय[2]। ये रूपालम्बन-आदि पॉचो आलम्बनो का ग्रहण करते है।

(घ) द्वादशालम्बन चित्त – जो चित्त १२ प्रकार के आलम्बनो का ग्रहण

---

१ कुशल-विपाक-क्रियाभेद से रूपावचर १५ तथा अरूपावचर १२=२७ महग्गत चित्त हैं।

२ पञ्चद्वारावर्जन एव सम्पटिच्छनद्वय – ये ३ चित्त 'मनोधातुत्रय' कहलाते हैं।

करते है वे 'द्वादशालम्बन चित्त' कहलाते है । वे चित्त ३ होते है, यथा—रूपावचर पञ्चमध्यानचित्त ३ ।

ये काम, महग्गत, निर्वाण, नाम, रूप, प्रत्युत्पन्न, कालविमुक्त, प्रज्ञप्ति, परमार्थ, आध्यात्मिक (अज्झत्तिक), बाह्य (बहिद्धा) एव धर्म—इस प्रकार १२ आलम्बनो का ग्रहण करते है।

(ङ) चतुर्दशालम्बन चित्त—जो चित्त चौदह प्रकार के आलम्बनो का ग्रहण करते है वे 'चतुर्दशालम्बन चित्त' कहलाते है । वे चित्त ९ है, यथा—द्वितीय, तृतीय एव चतुर्थ अरूपावचरध्यान चित्त ९ ।

(च) पञ्चविंशत्यालम्बन चित्त—जो चित्त २५ प्रकार के आलम्बनो का ग्रहण करते है वे 'पञ्चविंशत्यालम्बन चित्त' कहलाते है । ये ३ है, यथा—रूपावचर प्रथमध्यानचित्त[1] ३ ।

चैतसिकगणना

दो 'अप्पमञ्ञा' चैतसिक रूपालम्बन-आदि पाँच आलम्बनो का ग्रहण नही करते, अपितु ये प्रज्ञप्ति-धर्मालम्बन का ही ग्रहण करते है । अत रूपालम्बन का ग्रहण करनेवाले चैतसिक 'अप्पमञ्ञा' नामक चैतसिकद्वयवर्जित ५० चैतसिक ही होते है । इसी प्रकार शब्द, गन्ध, रस एव स्प्रष्टव्य आलम्बन का ग्रहण करनेवाले चैतसिको को भी ५०–५० ही जानना चाहिये । सभी ५२ चैतसिक धर्मालम्बन का ग्रहण करते है । अकुशल चैतसिक लौकिक आलम्बनो का ही ग्रहण करते है, ये लोकोत्तर आलम्बन का ग्रहण नही करते । ईर्ष्या एव अप्पमञ्ञा चैतसिक २—इस प्रकार ये ३ चैतसिक आध्यात्मिक (अज्झत्तिक) आलम्बनो का ग्रहण नही करते, अत इन तीनो चैतसिको का वर्जन करके अवशिष्ट ४९ चैतसिक अध्यात्मिक आलम्बन का ग्रहण करते है । लौकिक विरतित्रय चैतसिक 'वीतिक्कमितब्बवत्थु' (व्यतिक्रमितव्यवस्तु) नामक कामचित्त-चैतसिक नाम-धर्मो एव रूप-धर्मो का ग्रहण करते है, तथा इनके द्वारा गृहीत ये नाम-रूप-आलम्बन प्रत्युत्पन्न ही होते है, अनागत नही । लोकोत्तर विरतित्रय चैतसिक 'निर्वाण' नामक कालविमक्त अप्रमाण धर्म का आलम्बन करते है । 'अप्पमञ्ञा' नामक चैतसिकद्वय कालविमुक्त नामक सत्त्व-प्रज्ञप्ति का आलम्बन करते है । उपर्युक्त चैतसिको के अतिरिक्त अवशिष्ट ३३ चैतसिक सर्वालम्बन होते है ।

कुछ आचार्य 'मात्सर्य चैतसिक बाह्य धर्म का आलम्बन नही करते तथा लौकिक विरतित्रय चैतसिक अनागत का भी आलम्बन करते है'—ऐसा कहते है । उनके इस मत के सम्बन्ध मे हमने चैतसिक परिच्छेद मे विचार किया है[2] ।

आलम्बनसङ्ग्रह समाप्त।

---

१ इनके द्वारा गृहीत २५ प्रकार के आलम्बनो के ज्ञान के लिये द्र०—अभि० स० ९ २३-२५ ।

२ द्र०—अभि० स० २ ४, पृ० १३६, २ ६, पृ० १६९ ।

वत्थुसङ्गहो

६४. वत्थुसङ्गहे वत्थूनि नाम–चक्खु*-सोत-घान-जिव्हा-काय-हदयवत्थु* चेति छब्बिधानि भवन्ति ।

६५ तानि† कामलोके सब्बानि पि लब्भन्ति ।

वस्तुसङग्रह में चक्षुष्, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय एवं हृदय नामक छह प्रकार की वस्तुएँ होती हैं ।

वे सभी (६) वस्तुएँ कामलोक में पायी जाती हैं ।

वस्तुसङग्रह

६४ वस्तु-भेद से चित्त-चैतसिको का विभाग इस सङग्रह मे किया गया है, अत इस सङ्ग्रह को 'वस्तुसङग्रह' कहते हैं[1] ।

'वसन्ति एत्था ति वत्थु' जिन चक्षुष्-आदि मे चित्त-चैतसिक धर्म आश्रित होकर प्रवृत्त होते है, उन आश्रयभूत चक्षुष्-आदि को 'वस्तु' कहते है । जैसे – किसी भवन के आधार को 'वस्तु' कहा जाता है, उसी प्रकार चक्षुष्, श्रोत्र-आदि रूपी धर्मो को भी, चित्त-चैतसिक धर्मो का आधार होने के कारण, 'वस्तु' कहा जाता है[2] । वस्तु छह है; यथा – चक्षुर्वस्तु, श्रोत्रवस्तु, घ्राणवस्तु, जिह्वावस्तु, कायवस्तु एव हृदयवस्तु ।

अथवा जिन चक्षुष्-आदि मे चित्त-चैतसिक धर्म प्रतिष्ठित होते है, उन चक्षुष्-आदि को 'वस्तु' कहते हैं[3] ।

६५ चक्षुरिन्द्रिय (चक्षु प्रसाद), श्रोत्रेन्द्रिय (श्रोत्रप्रसाद) आदि इन्द्रियो से परिपूर्ण पुद्गल कामभूमि मे ही उत्पन्न होते है, अत कामभूमि मे सभी वस्तुरूप उपलब्ध होते है ।

वस्तु, आलम्बन एव कामगुणो का अभिलाष करनेवाली कामतृष्णा ही कामावचर कुशल कर्मो का मूल है, अत जब ये कर्म फल देते है तब अपनी मूलभूत तृष्णा के अनुसार रूप, शब्द-आदि पाँच विषयो (आलम्बनो) का सम्यग् भोग करने के लिये चक्षुष्, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा एव काय नामक कर्मजरूप इन्द्रियो को अभिनिर्वृत्त (उत्पन्न) करते

---

* चक्खु सोत घान जिव्हा कायो हदयवत्थु – स्या० ।

† तानि पन – स्या० ।

१ "वत्थुविभागतो तब्बत्थुकचित्तपरिच्छेदवसेन च सङ्गहो वत्थुसङ्गहो ।" – विभा०, पृ० १०३, द्र० – मणि०, प्र० भा०, पृ० ३१२ ।

तु० – "चक्खादीन वत्थून भेदेन तब्बत्थुकान चित्तचेतसिकान सङ्गहो वत्थुसङ्गहो ।" – प० दी०, पृ० ११६ ।

२. "वसन्ति एतेसु चित्तचेतसिका तन्निस्सयत्ता ति वत्थूनि ।" – विभा०, पृ० १०३ ।

३ "वसन्ति पतिट्ठहन्ति चित्तचेतसिका एतेसू ति वत्थूनि ।" – प० दी०, पृ० ११६ ।

६६ रूपलोके पन घानादित्तयं नत्थि ।

रूपलोक मे घ्राण-आदि तीन वस्तुएँ नही होती ।

है । इस प्रकार परिपूर्णेन्द्रिय पुद्गल कामतृष्णा की गोचर (क्षेत्र) कामभूमि मे ही उत्पन्न होने के कारण, ये ६ वस्तुए कामभूमि मे उपलब्ध होती है ।

'सब्बानि पि' मे प्रयुक्त 'अपि' शब्द के द्वारा 'अन्ध, बधिर-आदि कुछ पुद्गल छह इन्द्रियो को प्राप्त नही होते' – यह द्योतित किया गया है[1] ।

६६ रूपलोक मे घ्राण, जिह्वा एव काय – ये तीन वस्तुए नही होती, क्योकि रूपभूमि की प्राप्ति के कारणभूत रूपावचरध्यान वस्तु, आलम्बन एव कामगुणो से घृणा करनेवाली कामविरागभावना ही है, अत रूपभूमि मे कामगुणो का भोग करनेवाली पाँच इन्द्रियाँ (प्रसाद-रूप[2]) नही होती ।

रूप-आदि पाँच गोचर-रूपो[3] को ही 'वस्तु' एव 'आलम्बन' कहते है, अत इनका प्रहाण नही किया जा सकता । जिस प्रकार स्वभाव से सुन्दर रूपालम्बन को असुन्दर मानकर उसका प्रहाण नही किया जा सकता और वह प्रहाण करने के योग्य भी नही है, उसी प्रकार मधुर शब्द, सुगन्ध, सुन्दर रस एव सुन्दर स्प्रष्टव्यालम्बन-आदि का भी प्रहाण नही किया जा सकता । यदि बलवान् अकुशल कर्मो के कारण इन (आलम्बनो) के प्रति घृणा होती है तो उन उन आलम्बनो से सम्बद्ध प्रसाद-रूपो का ही प्रहाण हो सकता है । इसी प्रकार कामगुणो के प्रति अत्यन्त घृणा होने से, भावना करनेवाले योगियो की कामविरागभावना जब विपाक (फल) देती है तब प्रहाण के योग्य पाँच प्रसाद-रूपो का ही प्रहाण होता है, किन्तु योगी भगवान् बुद्ध के दर्शन एव धर्मश्रवण-मे उपकारक चक्षुष् एव श्रोत्र नामक प्रसाद-रूपो की अपेक्षा घ्राण, जिह्वा एव काय प्रसाद का ही प्रहाण चाहते है, अत कामविरागभावना के बल से इन्ही का प्रहाण करते है । अतएव रूपभूमि मे ६ वस्तुओ मे से घ्राण-आदि ३ तीन वस्तुरूप उपलब्ध नही होते[4] ।

---

१ "परिपुण्णिन्द्रियस्स तत्थेव उपलब्भनतो । 'पि' सद्देन पन अन्धबधिरादिवसेन केसञ्चि असम्भव दीपेति ।" – विभा०, पृ० १०३ ।

"तानि कामलोके सब्बानि पि लब्भन्तीति कामतण्हाधिनकम्मनिब्बत्तान अत्तभावान एव परिपुण्णिन्द्रियता सम्भवतो सब्बानि पि तानि छ वत्थूनि कामलोके एव लब्भन्ति ।" – प० दी०, ृ० ११६ ।

तु० – "कामधात्वाप्ता सर्वे ।" – अभि० को० १ ३०, प० ४५ ।

"कामधात्वाप्ता सर्वं एवेत्यवधार्यते, अष्टादशधातुत्वमात्रसङग्रहात्, न तु प्रत्येक साकल्यत ।" – स्फु०, पृ० ६० ।

२ द्र० – अभि० स० ६ ५ ।

३. द्र० – अभि० स० ६ ६ ।

४. "ब्रह्मान कामविरागभावनावसेन गन्धरसफोट्ठब्बेसु विरत्तताय तब्बिसयप्पसादेसु पि विरागसब्भावतो (घानादित्तय नत्थि), बुद्धदस्सन-धम्मसवनादिअत्थ पन चक्खु-सोतेसु अविरत्तभावतो चक्खादिद्वय तत्थ पलब्भति ।" – विभा०, पृ० १०३ ।

'घानादित्तय नत्थि' एव अहीनेन्द्रिय – त्रिपिटक मे रूपभूमि के ब्रह्माओ की 'रूपी' एव 'अहीनेन्द्रिय' शब्दो द्वारा बहुश स्तुति की गयी है[1]। यहाँ यह प्रश्न होता है कि रूपभूमि मे जब घ्राण-आदि तीन वस्तुएँ नही है, तब रूपी ब्रह्मा कैसे रूपी एव अहीनेन्द्रिय है ?

समाधान – 'अहीनेन्द्रिय' – इस शब्द से 'प्रसाद-रूपो' से तात्पर्य नही है, अपितु उन (चक्षु प्रसाद-आदि) के सस्थानो (आकारो) से तात्पर्य है, तथा 'घानादित्तय नत्थि' इस वचन से घ्राण जिह्वा एव काय प्रसाद से तात्पर्य है, अत दोनो वचनो मे कोई विरोध नही है।

उपर्युक्त कथन का निष्कर्ष यही है कि रूपी ब्रह्माओ मे यद्यपि घ्राण, जिह्वा एव काय प्रसाद नही होते तथापि उनमे घ्राण, जिह्वा एव काय के सस्थान होते है[2]।

"ब्रह्मपारिषद्या (ब्रह्मपारिसज्जा) भमि से लेकर सोलह भूमियाँ रूपभूमि कही जाती है[3]। इन भूमियो मे सभी ब्रह्मा पुरुष-सस्थान (पुरुषाकृति) ही होते है, फिर भी उनमे पुम्भाव या स्त्रीभाव के व्यञ्जक निमित्त नही होते। चक्षु प्रसाद एव श्रोत्रप्रसाद होते है, अत वे रूप को देखते है और शब्दो का श्रवण करते है। घ्राणपिण्ड (इन्द्रिय का आकार) है; किन्तु घ्राणप्रसाद (घ्राणेन्द्रिय) एव घ्राणविज्ञान नही होते, अत उन्हे गन्धज्ञान नही होता। सम्यक्सञ्चालन योग्य जिह्वा है, अत वे बातचीत करते है, किन्तु उन्हे जिह्वाविज्ञान नही होता, इसलिये वे किसी रस को नही जानते तथा

"यथा च दस्सनसवनानुत्तरियधम्मभूतानि चक्खुसोतानि बुद्धदस्सन-धम्मसवना-दिवसेन सत्तान विसुद्धियापि होन्ति, न तथा घानादित्तय; त पन केवल कामपरिभोगत्थाय एव होति; तस्मा त कामविरागभावनाकम्मनिब्बत्तेसु ब्रह्मत्त-भावेसु नुपलब्भतीति वुत्त – 'रूपलोके पन घानादित्तय नत्थी' ति।" – प० दी०, पृ० ११६–११७।

तु० – ". .. .. रूपे चतुर्दश।
विना गन्धरसघ्राणजिह्वाविज्ञानधातुभि ॥"
– अभि० को० १ ३०, पृ० ४५।

द्र० – अभि० समु०, पृ० १४।

१ द्र० – दी० नि०, प्र० भा०, 'ब्रह्मजालसुत्त' एव 'पोट्ठपादसुत्त'।

२ "इदञ्च पसादरूपत्तय सन्धाय वुत्त, ससम्भारघानजिव्हाकायसण्ठानानि पन सुट्ठु परिपुण्णानि एव होन्तीति।" – प० दी०, पृ० ११७।

तु० – "तथा हि भगवता रूपावचरा सत्त्वा अविकला अहीनेन्द्रिया इति उक्ता, काण-कुण्ठत्वाभावत्वात्, अहीनेन्द्रियाश्चक्षुरादिभिरहीनत्वात्। आचार्य आह – 'यानि तत्रे' ति विस्तर – यानि तत्र रूपधातौ घ्राणेन्द्रियादि-रहितानि चक्षुरादीनि तैरहीनेन्द्रिया इति सूत्रार्थपरिग्रहादविरोध।"
– स्फु०, पृ० ६२।

३. द्र० – अभि० स० ५ ७-१०।

६७. अरूपलोके पन सब्बानि पि न संविज्जन्ति ।

अरूपलोक मे तो सभी (६ वस्तुएँ) नही होती ।

न खाते है न कुछ पीते ही है, ध्यानप्रीति ही उनका आहार होता है। काय है, किन्तु कायप्रसाद एव कायविज्ञान नही होते, अत वे कुछ भी स्पर्श नही जानते, फिर भी परिधान के लिये शाटक-आदि (वस्त्र) होते है। ब्रह्मविमान, शयनासन (विस्तर-आदि) एव सब आभूषण भी होते है। केश, नख एव दन्त भी होते है। शेष २९ कोट्ठास (प्रत्यङ्ग) पृथक् पृथक् नही होते[1]। दीपशिखा की भाति शरीर होता है, उसमे मल एव मूत्र मार्ग नही होते। उनमे स्त्रियाँ (स्त्री-विग्रह) भी नही होती, और स्त्रीसेवन भी नही होता। वहाँ नृत्य, गीत, वादित्र-आदि नही होते। कोई ब्रह्मा आर्यविहार से कोई दिव्यविहार से तो कोई ब्रह्मविहार से कालयापन करते (विहरते) है[2]।

६७ अरूपभूमि मे प्रतिसन्धि देनेवाले अरूप-ध्यान सम्पूर्ण रूपो (रूपमात्र) से अत्यन्त घृणा करनेवाली रूपविरागभावना से सम्पन्न होते है, अत अरूपभूमि मे कोई

---

१. कोट्ठास कुल बत्तीस होते है, द्र० – खु० नि०, प्र० भा० (खु० पा०) पृ० ४। अथवा पीछे पृ० ६ (टि०)।

२. "तत्थ ब्रह्मपारिसज्जतो पट्ठाय इमानि सोळस रूपावचरानि नाम। ते सब्बे पुरिससण्ठाना, इत्थिपुरिसब्यञ्जन पि नत्थि। चक्खुसोतानि अत्थि, रूप पस्सन्ति, सद्द सुणन्ति। घाण अत्थि, घाणप्पसादो च घाणविञ्ञाण च नत्थि, तस्मा गन्ध न जानन्ति। सम्परिवत्तकजिव्हा अत्थि, तस्मा भासन्ति, जिव्हाप्पसादो च जिव्हाविञ्ञाण च नत्थि, तस्मा किञ्चि रस न जानन्ति, न खादन्ति, न पिबन्ति, झानरतियेव तेस आहार होति। कायो अत्थि, कायप्पसादो च कायविञ्ञाण च नत्थि, तस्मा ते किञ्चि फस्स न जानन्ति, एव सन्ते पि निवासन-पारुपनसाटकानि अत्थि। ब्रह्मविमानसयनासनानि अत्थि, सब्बाभरणानि अत्थि, केसनखदन्ता अत्थि, सेसकोट्ठासानि विसु विसु नत्थि; दीपसिखा विय सरीर होति, मलमुत्तमग्गा नत्थि, इत्थियो नत्थि, इत्थिसेवन पि नत्थि, नच्चगीतादीनि नत्थि। केचि अरियविहारेन, केचि दिब्बविहारेन, केचि ब्रह्मविहारेन विहरन्तीति।" – जिना० व०, पृ० ७७–७८।

तु० – "कामाप्तममल हित्वा रूपाप्त स्त्रीपुमिन्द्रिये।
दु खे च हित्वा.......... ॥"

–अभि० को० २ . १२, पृ० ११२।

द्र० – "मैथुनस्पर्शवीतरागाश्च रूपावचरा सत्त्वा, तस्मात्तत्र न तृष्णापूर्वक कर्म भवति। तस्माद् अहेतुकत्वात् तत्र पुरुषेन्द्रिय नास्ति, निर्हेतुकाङ्कुरादिवद् – इति सिद्ध 'रूपधातौ चतुर्दशैव धातव.' इति।" – स्फु०, पृ० ६३; १०६।

६८ तत्थ पञ्च विञ्ञाणधातुयो यथाक्कमं एकन्तेन पञ्च* पसाद-वत्थूनि* निस्सायेव पवत्तन्ति ।

६९ पञ्चद्वारावज्जन-सम्पटिच्छनसङ्खाता पन मनोधातु च† हदयं निस्सिता येव पवत्तति‡ ।

उन छह वस्तुओं में से पञ्च विज्ञानधातुएँ क्रमश पाँच प्रसाद-वस्तुओ का आश्रय करके ही प्रवृत्त होती है।

पञ्चद्वारावर्जन एव सम्पटिच्छन नामक मनोधातु भी हृदय का आश्रय करके ही प्रवृत्त होती है।

भी वस्तु नही होती[१] । अरूपभूमि मे कोई भी रूप (रूपमात्र) नही होता, वहाँ केवल चित्त-चैतसिकसन्तति ही होती है ।

६८ यहाँ 'यथाक्कम' शब्द के द्वारा – 'चक्षुर्विज्ञानद्वय चक्षुर्वस्तु का, श्रोत्रविज्ञानद्वय श्रोत्रवस्तु का, घ्राणविज्ञानद्वय घ्राणवस्तु का, जिह्वाविज्ञानद्वय जिह्वावस्तु का तथा कायविज्ञानद्वय कायवस्तु का आश्रय करके प्रवृत्त होते है' – यह दिखाया गया है । 'एकन्तेन' – इस शब्द के द्वारा – 'ये पञ्चविज्ञानचित्त कदाचित् चक्षुर्वस्तु-आदि का, तथा कदाचित् हृदयवस्तु का आश्रय करनेवाले चित्तो की भाँति अनेकान्त नही है' – यह दिखलाया गया है । तथा 'निस्सायेव' मे प्रयुक्त 'एव' शब्द के द्वारा – अरूपभूमि मे होने योग्य कुछ चित्तो की तरह 'कभी कभी आश्रय न करने' का निषेध किया गया है । अर्थात् ये पञ्चविज्ञानचित्त अपने से सम्बद्ध वस्तु का सर्वथा आश्रय करके ही प्रवृत्त होनेवाले होते हैं ।

- पञ्चप्पसादवत्थूनि – सी० । † स्या० मे नही ।

‡ पवत्तन्ति – म० (ख), सी०, रो०, स्या० मे नही ।

१ "अरूपलोके सब्बानि पि छ वत्थूनि न सविज्जन्ति, अरूपीन रूपविरागभावना-बलेन तत्थ सब्बेन सब्ब रूपप्पवत्तिया अभावतो ।" – विभा०, पृ० १०३ ।
"अरूपलोके पन सब्बानि पि न सविज्जन्ति – रूपविरागभावनाकम्मनिब्बत्ते तस्मि लोके अज्झत्तबहिद्धासन्तानेसु पि सब्बेन सब्ब रूपप्पवत्तिया एव अभावतो ।" – प० दी०, पृ० ११७ ।

तु० – "आरूप्याप्ता मनोधर्ममनोविज्ञानधातव ।" – अभि० को० १ ३१, पृ० ४८ ।
'एव' आरूप्याप्ता इत्यवधारणाद् अन्ये धातवो न सन्तीत्युक्त भवति । यस्माद् रूपवीतरागाणा तत्रोपपत्ति , अतो दश रूपस्वभावा धातवश्चक्षु-रादय पञ्च रूपादयश्चापि पञ्च न सन्ति । तदाश्रयालम्बनाश्च पञ्च विज्ञानधातवो न सन्तीति । ते चक्षुरादयो रूपादयश्च यथाक्रम आश्रया-लम्बनानि च येषाम्, त इमे तदाश्रयालम्बना । आश्रयाणा चक्षुरादीना आलम्ब-नानाञ्च रूपादीनाम् अभावात् तेऽपि चक्षुर्विज्ञानादिधातवस्तत्र न सन्ति ।" – स्फु०, पृ० ६३ । अभि० समु०, पृ० १३ ।

७० अवसेसा* पन† मनोविञ्ञाणधातुसङ्खाता च सन्तीरण-महाविपाकपटिघद्वय-पठममग्ग-हसन-रूपावचरवसेन हदयं निस्सायेव पवत्तन्ति‡ ।

अवशिष्ट मनोविज्ञानधातु नामक चित्त भी सन्तीरण, महाविपाक, प्रतिघद्वय, प्रथममार्ग, (स्रोतापत्तिमार्ग), हसितोत्पाद एव रूपावचर के वश से (प्रवृत्त होने पर) हृदयवस्तु का आश्रय करके ही प्रवृत्त होते है ।

---

७० सन्तीरण ३, महाविपाक ८, द्वेषमूल २, स्रोतापत्ति-मार्ग १, हसितोत्पाद १ एव रूपावचर चित्त १५ – इस प्रकार ये ३० चित्त अरूपावचर भूमि मे नही होते । ये तो जहाँ (जिस भूमि मे) हृदयवस्तु की प्राप्ति सम्भव है, उस कामभूमि एव रूपभूमि मे ही होते है, अत ये एकान्तेन हृदयवस्तु का निश्रय करते है ।

इन चित्तो के अरूपभूमि मे न होने का कारण इस प्रकार जानना चाहिये

सन्तीरणत्रय पञ्चद्वार मे सन्तीरणकृत्य करते है । अरूपभूमि मे पञ्चद्वार नही है, अत वहाँ सन्तीरणकृत्य नही हो सकता, अत ये तीन चित्त वहाँ नही हो सकते ।

सन्तीरणत्रय एव महाविपाक ८ ये ११ चित्त तदालम्बनकृत्य करते है । यह तदालम्बनकृत्य कामजवन, कामसत्त्व एव कामालम्बनो के होने पर ही सम्पन्न (सिद्ध) होता है[1], अत अरूपभूमि मे तदालम्बन कृत्य नही हो सकता और इस प्रकार इन चित्तो के प्रभवस्थान द्वार एव कृत्यो के न होने के कारण ये ११ चित्त वहाँ नही हो सकते ।

जिस प्रकार ध्यान का निवारण (अपाकरण) करनेवाला 'नीवरणलोभ' एव निवारण न करनेवाला 'अनीवरणलोभ' – इस तरह लोभ दो प्रकार का होता है, उस प्रकार द्वेष दो प्रकार का नही होता, वह तो एकान्तेन नीवरणस्वभाव ही होता है, अत द्वेषसम्प्रयुक्त दो प्रतिघचित्त ध्यान-धर्मो की गोचर रूपावचरभूमि मे भी उत्पन्न नही हो सकते तो फिर अरूपभूमि मे तो उनका उत्पाद असम्भव ही है !

बुद्ध-आदि कल्याणमित्रो का सेवन, धर्म-श्रवण, चित्त-विशुद्धि एव सोत्साहभावना – ये चार प्रत्यय स्रोतापत्तिमार्ग की प्राप्ति के कारण है[2] । अत चार आर्यसत्यो के उपदेश मे समर्थ भगवान् बुद्ध एव गुरुजन-आदि के समीप स्थित हो सत्य-धर्म का श्रवण करने से ही स्रोतापत्तिमार्ग की प्राप्ति सम्भव है । इस प्रकार धर्म-श्रवण करने को 'परतोघोस-पच्चय' अर्थात् 'दूसरो से प्रयुक्त धर्मशब्द नामक मार्ग-प्राप्ति का कारण' कहते है । अरूपभूमि मे तो धर्म-श्रवण के लिये इन्द्रिय तो क्या स्कन्ध भी नही है, तथा बुद्ध एव प्रत्येकबुद्ध-आदि भी मनुष्यलोक से अतिरिक्त अन्य किसी लोक मे होते ही नही, ऐसी स्थिति मे, अर्थात् अरूपभूमि मे, श्रवणेन्द्रिय एव धर्मोपदेष्टा-आदि न होने से उसमे स्रोतापत्तिमार्ग नही हो सकता । [हाँ ! एक बार स्रोतापत्तिमार्ग की प्राप्ति हो

---

* तथा अवसेसा – सी०, तथावसेसा – स्या० ।

† स्या० मे नही । ‡ पवत्तति – ना० ।

१ द्र० – अभि० स० ४.३५ । २. द्र० – पटि० म०, पृ० ४५० ।

७१ अवसेसा* कुसलाकुसलकिरियानुत्तरवसेन* पन निस्साय वा अनिस्साय वा।

७२ आरुप्पविपाकवसेन† हदयं अनिस्सायेवा‡ ति‡।

अवशिष्ट (मनोविज्ञानधातु नामक) चित्त कुशल, अकुशल, क्रिया एव लोकोत्तर के वश से (प्रवृत्त होने पर) आश्रय करके अथवा बिना आश्रय के भी प्रवृत्त होते है।

आरूप्यविपाक के वश से (प्रवृत्त होने पर तो) हृदय का आश्रय न करके ही प्रवृत्त होते है।

जाने पर ऊपर के मार्गो की प्राप्ति धर्म-श्रवण के बिना भी भावना के बल से अपने आप हो सकती है।]

हसन के लिये आवश्यक कायवस्तु का अरूपभूमि मे नितान्त अभाव होने से वहाँ हसितोत्पाद भी नही हो सकता।

रूपविरागभावना नामक अरूपावचरध्यान न केवल रूप-धर्मो से ही घृणा करते है, अपितु कसिणरूपो का आलम्बन करनेवाले रूपावचरध्यानो से भी घृणा करते है; अत अरूपभूमि मे रूपावचरध्यान भी नही हो सकते।

इस प्रकार उपर्युक्त ३० चित्त, रूप-धर्मो के उत्पत्ति-स्थान कामभूमि एव रूपभूमि मे ही उत्पन्न होने से हृदयवस्तु का एकान्तेन निश्रय करते है[1]।

७१ द्वेषवर्जित अकुशलचित्त १०, कामावचर कुशल ८, अरूपावचर कुशल ४, मनोद्वारावर्जन १, महाक्रिया ८, अरूपावचर क्रिया ४, तथा स्रोतापत्तिमार्गवर्जित लोकोत्तरचित्त ७ – इस प्रकार ये ४२ चित्त जब कामभूमि या रूपभूमि मे होते है तब हृदयवस्तु का आश्रय करके प्रवृत्त होते है, तथा जब अरूपावचरभूमि मे होते है तब आश्रय के बिना ही प्रवृत्त होते है।

७२ चार अरूपविपाकचित्त अरूपावचरभूमि मे ही प्रतिसन्धि, भवङ्ग एव च्युति कृत्य के वश से प्रवृत्त होते है, अत हृदयवस्तु का कभी भी आश्रय करके प्रवृत्त नही होते।

- अवसेस० – म० (क)। † अरूप ० – स्या०।

‡-‡ अनिस्सायेव पवत्तन्तीति – स्या०।

१ "सन्तीरणमहाविपाकानि हि एकादस द्वाराभावतो किच्चाभावतो च आरुप्पे न उप्पज्जन्ति। पटिघस्स अनीवरणावत्थस्स अभावतो तसहगत चित्तद्वय रूपलोके पि नत्थि, पगेव आरुप्पे। पठममग्गो पि परतोघोसपच्चयाभावे सावकान अनुप्पजनतो, बुद्धपच्चेकबुद्धानञ्च मनुस्सलोकतो अञ्ञत्थ अनिब्बत्तनतो, हसनचित्तञ्च कायाभावतो, रूपावचरानि अरूपीन रूपविरागभावनावसेन तदारम्मणेसु झानेसु पि विरत्तभावतो अरूपभवे न उप्पज्जन्ती ति – सब्बानि पि एतानि तेत्तिस चित्तानि हदयं निस्सायेव पवत्तन्ति।" – विभा०, पृ० १०४।

तु० – प० दी०, प० ११६।

७३ छवत्थुं* निस्सिता* कामे सत्त रूपे चतुब्बिधा ।
तिवत्थुं† निस्सितारूपे† धात्वेकानिस्सिता मता ।।
७४. तेचत्तालीस निस्साय द्वेचत्तालीस जायरे ।
निस्साय‡ च अनिस्साय‡ पाकारुप्पा अनिस्सिता ।।

इति अभिधम्मत्थसङ्गहे पकिण्णकसङ्गहविभागो नाम
ततियो परिच्छेदो ।

११ कामभूमियो मे ६ वस्तुओ का आश्रय करके ७ धातुएँ, असञ्ञि-वर्जित १५ रूपभूमियो मे तीन वस्तुओ का आश्रय करके चतुर्विध धातुएँ तथा ४ अरूपभूमियो मे सर्वथा निश्रय न करनेवाली एक धातु मानी गयी है ।

४३ चित्त आश्रय करके तथा ४२ चित्त आश्रय करके एवं बिना आश्रय के भी उत्पन्न[1] होते है । पाकारूप्य (अरूपविपाक) अनिश्रित ही उत्पन्न होते है ।

इस प्रकार 'अभिधम्मत्थसङ्गह' मे 'प्रकीर्णकसङग्रहविभाग' नामक
तृतीय परिच्छेद समाप्त ।

---

७३ ग्यारह कामभूमियो मे छह वस्तुओ का आश्रय करनेवाली ७ धातुएँ होती है, यथा – चक्षुर्विज्ञानधातु, श्रोत्रविज्ञानधातु, घ्राणविज्ञानधातु, जिह्वाविज्ञानधातु, काय-विज्ञानधातु, मनोधातु एव मनोविज्ञानधातु ।

असञ्ञिवर्जित १५ रूपभूमियो मे चक्षुष्, श्रोत्र एव हृदय – इस तीन वस्तुओ का आश्रय करके चक्षुर्विज्ञानधातु, श्रोत्रविज्ञानधातु, मनोधातु एव मनोविज्ञानधातु – इस प्रकार ये ४ धातुएँ प्रवृत्त होती है[1] ।

चार अरूपभूमियो मे केवल एक मनोविज्ञानधातु ही, बिना किसी का आश्रय किये, प्रवृत्त होती है ।

७४ पञ्चवोकारभूमि[2] (कामभूमि एव रूपभूमि) मे ही उत्पन्न होनेवाले पञ्चविज्ञानधातु १०, मनोधातु ३, सन्तीरण ३, महाविपाक ८, द्वेषमूल २, स्रोतापत्ति-

---

- छवत्थुनिस्सिता – स्या० ।
†-† तिवत्थु निस्सितारुप्पे – सी०, म० (ख), तिवत्थुनिस्सितारुप्पे – स्या० ।
‡-‡ अनिस्साय च निस्साय – स्या० ।
१. द्र० – विभा०, पृ० १०४ ।
२. "वोकारो लामके खन्धे ।" अभि० प० सू० ११२८ का० के अनुसार 'वोकार' शब्द स्कन्ध अर्थ मे प्रयुक्त होता है, अत 'पञ्चवोकारभूमि' का अर्थ होता है जहाँ पाँच स्कन्ध होते है, यथा – काम एव रूपभूमि । 'चतुवोकारभूमि' का अर्थ होता है जहाँ चार स्कन्ध होते है, यथा –

मार्ग १, हसितोत्पाद १ तथा रूपावचर १५ – इस प्रकार ये ४३ चित्त एकान्तेन 'वस्तु' का आश्रय करके ही प्रवृत्त होते हैं।

पूर्वोक्त ४२ चित्त[1] जब पञ्चवोकारभूमि मे उत्पन्न होते है तब 'वस्तु' का आश्रय करके प्रवृत्त होते हैं, तथा जब चतुवोकारभूमि (अरूपभमि) मे उत्पन्न होते है तब 'वस्तु' का आश्रय नही करते।

चतुवोकारभूमि मे ही उत्पन्न होनेवाले ४ अरूपावचर विपाकचित्त किसी 'वस्तु' का आश्रय नही करते ।

चैतसिकविभाग

'गृहीतग्रहणनय' के अनुसार चित्तो के साथ सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिको का परिज्ञान चैतसिकसङग्रह मे कथित 'सम्प्रयोगनय एव 'सङग्रहनय' के अनुसार कर लेना चाहिये। 'अगृहीत-ग्रहणनय' के अनुसार 'वस्तु' का आश्रय करनेवाले चैतसिको को इस प्रकार जानना चाहिये, यथा –

सात सर्वचित्तसाधारण चैतसिक जब पञ्चवोकारभूमि मे होते है तब छहो (सभी) वस्तुओ का आश्रय करते है । जब ये चैतसिक चतुवोकारभूमि मे होते है तब किसी भी वस्तु का आश्रय नही करते ।

द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य, कौकृत्य एव अप्पमञ्ञाद्वय – इस प्रकार ये ६ चैतसिक हृदयवस्तु का ही एकान्तेन आश्रय करते है। इन ६ चैतसिको मे से द्वेष-आदि प्रथम ४ चैतसिक तो काम-भूमि मे ही उत्पन्न होने के कारण केवल हृदयवस्तु का ही आश्रय करनेवाले होते हैं। तथा केवल सत्त्व-प्रज्ञप्ति का ही आलम्बन करनेवाले अप्पमञ्ञा नामक २ चैतसिक भी सर्वप्रथम सस्थान (आकार) को देखने पर ही सत्त्वप्रज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाले होते है और अरूपावचरभूमि मे, चूकि सस्थान नही होते, अत ये दोनो चैतसिक केवल कामावचरभमि एव रूपावचर-भूमि मे ही उत्पन्न होते है। इस कारण एकान्तेन हृदयवस्तु का ही आश्रय करनेवाले होते है।

उपर्युक्त १३ चैतसिको के तिरिक्त अवशिष्ट ३९ चैतसिक जब पञ्चवोकारभूमि मे उत्पन्न होते है तब हृदयवस्तु का आश्रय करते है। तथा जब चतुवोकारभूमि मे उत्पन्न होते है तब हृदयवस्तु का आश्रय नही करते ।

धातुत्रय में विशेष

प्रसङ्गवश हम यहाँ मनोधातु, पञ्चविज्ञानधातु तथा मनोविज्ञानधातु के पारस्परिक भेदो का वर्णन करते हैः

मनोधातु – 'मनो एव धातु मनोधातु' अर्थात् जाननामात्र धातु ही 'मनोधातु' है। अथवा – 'मननमत्ता धातु मनोधातु' अर्थात् मननमात्र धातु ही 'मनोधातु' है[2]। 'मनोधातु' नामक तीन चित्तो मे से पञ्चद्वारावर्जनचित्त अभिनव आलम्बन का सर्व-

---

अरूपभूमि । तथा 'एकवोकारभूमि' का अर्थ होता है जहाँ एक ही स्कन्ध होता है, यथा – असञ्ञिभूमि।

१. द्र० – अभि० स० ३.७१, पृ० २७९।

२. द्र० – विभा०, पृ० १०३ । तु० – "विजाननकिच्चाभावतो मननमत्ता धातू ति मनोधातु, पञ्चद्वारे आवज्जनमत्त-सम्पटिच्छनमत्तकिच्चानि हि विसेस-जाननकिच्चानि न होन्तीति ।" – प० दी०, पृ० ११७ ।

प्रथम तथा एक बार ही ग्रहण करता है, अत. अन्य चित्तो द्वारा गृहीत आलम्बनो का पुन ग्रहण करनेवाले चित्तो की भाँति, अथवा आलम्बनो का अनेक बार (पुन पुन.) ग्रहण करनेवाले चित्तो की भाति यह दृढ नही होता । तथा इसे अपने से असमान निश्रयवस्तुवाले पञ्चविज्ञानचित्तो का अनन्तरशक्ति से उपकार करना पडता है, अत अपने से समान निश्रयवाले चित्तो का उपकार करनेवाले चित्तो की भाँति इसे विश्राम भी नही होता।

सम्पटिच्छनद्वय भी, अपने से असमान निश्रयवाले पञ्चविज्ञानचित्तो से अनन्तरशक्ति द्वारा उपकार प्राप्त करते है, अत समाननिश्रयवाले चित्तो से उपकार प्राप्त करनेवाले चित्तो की भाँति ये बलवान् नही होते । अतएव जाननामात्र-धातु होने के कारण पञ्चद्वारावर्जन एव सम्पटिच्छनद्वय – ये तीनो 'मनोधातु' कहे जाते हैं ।

पञ्चविज्ञानधातु – 'पञ्चविज्ञानधातु' नामक चित्त अपनी निश्रयवस्तु मे सीधे अवभासित होनेवाले आलम्बनो का आसानी से ग्रहण करनेवाले होते है, अत इनका मनोधातु की अपेक्षा कुछ अधिक 'जानना' होता है । अतएव 'विसेसेन जानाति' के अनुसार 'विज्ञानधातु' कहे जाते हैं । किन्तु अपने से असमान निश्रयवाले आवर्जनचित्त से अनन्तरशक्ति द्वारा उपकार प्राप्त करने के कारण, तथा इन्हे अपने से असमान निश्रयवाले सम्पटिच्छन का उपकार करना पडता है – इस कारण, ये (पञ्चविज्ञान) चित्त, समान निश्रयवाले चित्तो से उपकार प्राप्त करनेवाले तथा समान निश्रयवाले चित्तो का उपकार करनेवाले 'मनोविज्ञान धातु' नामक चित्तो की भाँति बलवान् नही होते[1]।

मनोविज्ञानधातु – इसमे 'मनस्' शब्द भी 'जानना' अर्थ मे तथा 'विज्ञान' शब्द भी 'विशेषतया जानना' अर्थ मे होता है, अत 'मनोविज्ञानधातु' अन्य चित्तो (मनोधातु एव पञ्चविज्ञान चित्तो) की अपेक्षा विशेषरूप से जाननेवाली होती है । उपर्युक्त चित्तो की भाँति, अभिनव आलम्बन का सर्वप्रथम ग्रहण न करने के कारण, समान निश्रयवाले चित्तो से अनन्तरशक्ति द्वारा उपकार प्राप्त करने के कारण, तथा अपने से समान निश्रयवाले चित्तो का अनन्तरशक्ति द्वारा उपकार करने के कारण, आलम्बन के 'जानने' मे इसका 'विशेष रूप से जानना' होता है[2] ।

अभिधर्मप्रकाशिनी व्याख्या मे प्रकीर्णकसङ्ग्रहविभाग नामक
तृतीय परिच्छेद समाप्त ।

❀

१. "पञ्चविञ्ञाणानेव निस्सत्तनिज्जीवट्ठेन धातुयो ति पञ्चविञ्ञाणधातुयो।" – विभा०, पृ० १०३। "पञ्चविञ्ञाणानि पन पच्चक्खतो दस्सनादिवसेन थोक विसेसजाननकिच्चानि ।" – प० दी०, पृ० ११७ ।

२ "मनो येव विसिट्ठविजाननकिच्चयोगतो विञ्ञाण, निस्सत्तनिज्जीवट्ठेन धातु चा ति मनोविञ्ञाणधातु, मनसो विञ्ञाणधातू ति वा मनोविञ्ञाणधातु।" – विभा०, पृ० १०३। "अवसेसा पन सन्तीरणादयो आरम्मणसभावविचारणादिवसेन अतिरेकविसिट्ठजाननकिच्चयुत्तत्ता न मनोधातुयो विय मननमत्ता होन्ति, नापि पञ्चविञ्ञाणधातुयो विय विजाननमत्ता, अथ खो मननट्ठेन मनो च तविजाननट्ठेन विञ्ञाणञ्चाति कत्वा मनोविञ्ञाणधातुयो नाम । अतिसयविसेसजाननधातुयो ति अत्थो ।" – प० दी०, पृ० ११७ ।

चतुत्थो परिच्छेदो

वीथिसङ्गहविभागो

१. चित्तुप्पादानमिच्चेवं कत्वा सङ्गहमुत्तरं ।
भूमिपुग्गलभेदेन पुब्बापरनियामितं ।।

२. पवत्तिसङ्गहं नाम पटिसन्धिपवत्तियं* ।
पवक्खामि समासेन यथासम्भवतो कथं ।।

पूर्वोक्त प्रकार से चित्त, चैतसिको के उत्तम प्रकीर्णकसङ्ग्रह को कर के (अब) भूमि-भेद एव पुद्गल-भेद के साथ पूर्वचित्तो एव अपरचित्तो से नियमित (परिच्छिन्न), प्रतिसन्धिकाल एवं प्रवृत्तिकाल मे (चित्त-चैतसिको के) प्रवृत्तिसङ्ग्रह को यथासम्भव सङ्क्षेप से कहूँगा । कैसे ?

वीथिसङ्ग्रह विभाग

१ २ **अनुसन्धि** – चित्त-चैतसिक धर्मो का वेदना-आदि द्वारा विभाजन करके प्रतिपादन करनेवाले 'प्रकीर्णकसङ्ग्रह' को कहने के अनन्तर अब उन चित्त-चैतसिक-धर्मो की उत्पत्ति को कहनेवाले 'प्रवृत्तिसङ्ग्रह' नामक वीथिसङ्ग्रह एव वीथि-मुक्तसङ्ग्रह को दिखलाने के लिये आचार्य 'चित्तुप्पादानमिच्चेव. ' आदि दो गाथाओ द्वारा प्रकरण का आरम्भ करते है । ये गाथाएँ 'वीथिपरिच्छेद' एव 'वीथिमुत्तपरि-च्छेद' – इन दोनो परिच्छेदो की प्रतिज्ञा की प्रदर्शिका है । 'पवत्तिसङ्गह नाम पटिसन्धि-पवत्तिय' इस पालि मे, (क) 'पवत्तिसङ्गहं नाम पटिसन्धिय' तथा (ख) 'पवत्तिसङ्गह नाम पवत्तिय' – इस प्रकार दो वाक्य बनाने चाहिये । इनमे से प्रथम वाक्य द्वारा 'वीथिमुत्तपरिच्छेद' की तथा द्वितीय वाक्य द्वारा 'वीथिपरिच्छेद' की प्रतिज्ञा की गयी है[1] ।

---

* पटिसन्धिप्पवत्तिय – स्या० ।

१ "एव चित्तप्पभेदसङ्गहो, चेतसिकप्पभेदसङ्गहो, उभयप्पभेदसङ्गहो ति चित्त-चेतसिकान तयो पभेदसङ्गहे दस्सित्वा इदानि वीथिचित्तप्पवत्तिसङ्गहो, वीथि-मुत्तचित्तप्पवत्तिसङ्गहो ति तेसं तेसञ्ञेव द्वे पवत्तिसङ्गहे दस्सेतु 'चित्तुप्पा-दानमिच्चेवं' ति-आदिमाह ।" – प० दी०, पृ० १२० ।

"इच्चेव यथावुत्तनयेन चित्तुप्पादान चतुन्न् खन्धान उत्तरं वेदनासङ्गहादि-विभागतो उत्तम पभेदसङ्गह कत्वा पुन कामावचरादीन तिण्ण भूमीनं द्विहेतुकादिपुग्गलानञ्च भेदेन लक्खित इद एत्तकेहि पर, इमस्स अनन्तर एत्तकानि चित्तानीति एव पुब्बापरचित्तेहि नियामित पटिसन्धि-पवत्तीसु चित्तुप्पादान पवत्तिसङ्गह नाम तनामक सङ्गह यथासम्भवतो समासेन पवक्खामीति योजना ।" – विभा०, पृ० १०५ ।

चित्तुप्पादान – 'उप्पज्जति एतेना ति उप्पादो' अर्थात् जिस चैतसिकसमूह के द्वारा चित्त उत्पन्न होते हैं उस चैतसिकसमूह को 'उप्पाद' (उत्पाद) कहते हैं । 'चित्त च उप्पादो च चित्तुप्पादा[1]' – इस विग्रह के अनुसार चित्त एवं चैतसिक, दोनो को चित्तुप्पाद (चित्तोत्पाद) कहा गया है। यद्यपि प्रस्तुत ग्रन्थ में 'चित्तुप्पादा', 'चित्तुप्पादान', 'चित्तुप्पादेसु', 'चित्तुप्पादवसेन' – इत्यादि शब्दो का प्रयोग अनेक स्थलो पर किया गया है, तथापि उन उन स्थलो पर 'चित्तोत्पाद' शब्द द्वारा चित्त एवं चैतसिक – दोनो धर्मो का ग्रहण न कर केवल 'चित्त' का ही ग्रहण किया गया है । अत यहाँ भी 'चित्तुप्पाद' शब्द द्वारा चित्तमात्र का ग्रहण ही आचार्य को अभिप्रेत होगा, क्योकि उन्होने तृतीय परिच्छेद मे 'चित्तुप्पादवसेनेव सङ्गहो नाम नीयते' – इस प्रकार ('चित्तुप्पाद' शब्द) कहकर भी वेदना-आदि सङ्ग्रहो को दिखलाते समय वह चैतसिक धर्मो का बिलकुल उल्लेख न कर केवल चित्तो का ही प्रधानरूप से वर्णन किया है। प्रस्तुत परिच्छेद मे भी चित्त का ही प्रधानरूप से वर्णन उपलब्ध होता है । इस प्रकार चित्त को प्रधानरूप से कहने पर भी उसमे सम्प्रयुक्त होनेवाले चैतसिक-धर्मो का भी प्रधाननय एवं उपलक्षणनय के अनुसार सङ्ग्रह हो ही जाता है । 'अट्ठसालिनी' मे भी 'चित्तुप्पाद' शब्द के द्वारा चित्तमात्र का ही ग्रहण करने के लिये उसका 'उप्पज्जतीति उप्पादो, चित्तमेव उप्पादो चित्तुप्पादो' – ऐसा विग्रह किया गया है[2] ।

टीकाओ मे 'चित्तुप्पाद' शब्द के द्वारा चित्त एवं चैतसिक – दोनो धर्मो का ग्रहण किया गया है[3] ।

"एव वेदनादीन छन्न विभागवसेन च तभेदभिन्नान चित्तुप्पादान विभागवसेन च उत्तम पभेदसङ्गह दस्सेत्वा पुन कामावचरादीन तिण्ण भूमीन पभेदेन च अहेतुकादीन द्वादसन्न पुग्गलान पभेदेन च एत्तकानि चित्तानि इतो पुब्बकानि, एत्तकानि इतो परानीति पुब्बापरनियामित पटिसन्धि-पवत्तीसु वत्थुद्वारादीन छन्न पभेदान वसेन वीथिमुत्तचित्तुप्पादान पवत्तिसङ्गह दस्सेतु 'चित्तुप्पादानमिच्चेव' त्यादिमाह ।" – सङ्खेप०, पृ० २४४–२४५ ।

"इच्चेव वुत्तनयेन चित्तुप्पादान वेदनादिसम्पयोगविभागतो किच्चद्वारारम्मण-वत्थुविभागतो च उत्तर उत्तम सङ्गह पभेदसङ्गह कत्वा इदानि कामावचरादिभूमिभेदेन च, सेक्खपुथुज्जनसङ्खातान पुग्गलान भेदेन च लक्खित, इमस्स चित्तस्स अनन्तर एत्तकानि चित्तानि उप्पज्जन्ति, इद पन चित्त तेहि पर हुत्वा उप्पज्जतीति एव पुब्बापरठानेन नियामित परिच्छिन्न पवत्ति-सङ्गह चित्तुप्पादान छद्वारवीथिसङ्गह पटिसन्धिय च पवत्तिय च यथासम्भवतो समासेन पवक्खामीत्यत्थो ।" – अभि० स० टी०, पृ० ३१२ ।

१ विभा०, पृ० ८६ ।

२. अट्ठ०, पृ० ३२४ ।

३ "'चित्तुप्पादा' ति एत्थ उप्पज्जति एत्था ति उप्पादो । कि उप्पज्जति ? चित्त, 'चित्तस्स उप्पादो चित्तुप्पादो' ति एव अवयवेन समुदयोपलक्खणवसेन अत्थो सम्भवति । एव हि सति चित्तचेतसिकरासि चित्तुप्पादो ति सिद्धो

भूमिपुग्गलभेदेन – 'भूमिपुग्गलभेद' शब्द द्वारा न केवल वीथिपरिच्छेद के अन्तिम भाग मे वर्णित पुद्गलभेद एव भूमि-विभाग से सम्बद्ध विषयो का ही ग्रहण होता है, अपितु वीथिपरिच्छेद एव वीथिमुत्तपरिच्छेद – इन दोनो परिच्छेदो मे प्रतिपादित भूमि एव पुद्गल से सम्बद्ध सभी विषयो का ग्रहण अभिप्रेत है[1] । अत एव आचार्य ने अपने 'परमत्थविनिच्छय' नामक ग्रन्थ मे भी

"इतो पर पवक्खामि भूमिपुग्गलभेदतो ।
चित्तान पन सब्बेस कमतो सङ्गह कथ ।।
निरय च तिरच्छानयोनिपेतासुरा तथा ।
चतुरापायभूमीति कामे दुग्गतियो मता[2] ।।"

इन दो गाथाओ द्वारा प्रतिज्ञा करके तदनन्तर भूमिपुग्गल, चित्तपवत्ति एव भूमिपुग्गलसम्भव – इन तीन परिच्छेदो मे विभाग कर सम्बद्ध विषयो का विस्तार-पूर्वक वर्णन किया है । इन परिच्छेदो मे वर्णित विषयो का वीथिपरिच्छेद एव वीथि-मुत्तपरिच्छेदो मे वर्णित पुग्गलभेद, भूमिविभाग, भूमिचतुक्क एव पटिसन्धिचतुक्क – आदि विषयो से अत्यधिक साम्य है, अत यहाँ भी 'पवत्तिसङ्गहं नाम पटिसन्धि-पवत्तिय' – इसके द्वारा वीथिपरिच्छेद एव वीथिमुत्तपरिच्छेद – इन दोनो की प्रतिज्ञा दिखायी गयी है, यह सिद्ध होता है । तथा उपर्युक्त गाथा मे प्रयुक्त 'चित्तान पन सब्बेस' – इस वाक्याश के द्वारा यह भी सिद्ध होता है कि यहाँ 'चित्तुप्पादानमिच्चेव' मे प्रयुक्त 'चित्तुप्पाद' शब्द चित्तमात्र का वाची है ।

होति । अट्ठकथाय पन – 'चित्तमेव उप्पादो चित्तुप्पादो' ति अञ्ञस्सु-प्पज्जनकस्स निवत्तनत्थ चित्तग्गहण कत, चित्तस्स अनुप्पज्जनकभावनिवत्तनत्थ उप्पादगहण । चित्तुप्पादकण्डे वा – 'चित्त उप्पन्न होती' ति चित्तस्स उप्पज्जनकभावो पाकटो ति कत्वा 'चित्तमेव उप्पादो' ति वुत्त । चित्तस्स अनुप्पज्जनकस्स निवत्तेतब्बस्स सब्भावा उप्पादग्गहण कत ति वेदितब्ब । अयञ्चत्थो 'द्वे पञ्चविञ्ञाणानी' ति आदिसु विय चित्तप्पधानो निद्देसो ति कत्वा वुत्तो ति दट्ठब्बो ।" – ध० स० मू० टी०, पृ० १६० ।

"उप्पज्जति एत्था ति उप्पादो, चेतसिका । ते हि चित्तस्स सब्बथापि निस्स-यादिपच्चयभावतो एत्थ च उप्पत्तिया आधारभावेन अपेक्खिता । यथा च चेतसिका चित्तस्स, एव चित्त पि चेतसिकान निस्सयादिपच्चयभावतो आधारभावेन वत्तब्बत अरहतीति यथावुत्त उप्पादसद्दाभिधेय्यत न विनि-वत्तति ।" – ध० स० अनु०, पृ० २०६–२०७ ।

"तत्थ उप्पज्जन्तीति उप्पादा, कत्थ उप्पज्जन्ति ? अञ्ञस्स असुतत्ता, चित्ते इच्चेव लब्भति । इति चित्तञ्च चित्ते उप्पादा चा ति चित्तुप्पादा, चित्त-चेतसिका ति वुत्त होति, तेसं चित्तुप्पादान ।" – प० दी०, पृ० १२० ।

१ "भूमिपुग्गलभेदेना ति – सहत्थे करणवचन, कामावचरादिभूमिभेदेन द्विहेतु-कादिपुग्गलभेदेन सद्धिं ति अत्थो ।" – प० दी०, पृ० १२० ।

२ परम० वि०, पृ० २२ ।

३ छ वत्थूनि, छ द्वारानि, छ आरमणानि*, छ विञ्ञाणानि, छ वीथियो, छधा विसयप्पवत्ति† चेति† वीथिसङ्गहे छ छक्कानि वेदितब्बानि।

६ वस्तुएँ, ६ द्वार, ६ आलम्बन, ६ विज्ञान, ६ वीथियाँ एव ६ प्रकार की विषयप्रवृत्ति – इस प्रकार वीथिसङ्ग्रह मे ६ षट्क ज्ञातव्य है।

पुब्बापरनियामित – 'नियमीयन्ति ववत्थापीयन्ति एत्थ एतेन वा ति नियमितो, पुब्बापरान नियमितो पुब्बापरनियमितो' – इस प्रवृत्तिसङ्ग्रह मे अथवा इस प्रवृत्तिसङ्ग्रह के द्वारा नियमित (व्यवस्थापित) सङ्ग्रह को 'नियमित' कहते है, पूर्व एव अपर चित्तो को व्यवस्थापित करनेवाला यह सङ्ग्रह 'पूर्वापरनियामित' है। अर्थात् वीथिपरिच्छेद एवं वीथिमुत्तपरिच्छेद नामक – इन दो परिच्छेदो मे पूर्व चित्त एव अपर चितो को नियम के अनुसार उत्पाद के क्रम से रखा गया है।

['नियामित' इस शब्द मे मूल शब्द 'नियमित' ही होना चाहिये, प्रतीत होता है कि गाथा की दृष्टि से इसे ही 'नियामित' करके रखा गया है।]

'पुब्बापरनियामित' – इस वचन द्वारा वीथिपरिच्छेद मे आनेवाले वीथिचित्तो के क्रम, तदालम्बननियम एव जवननियम-आदि तथा वीथिमुत्तपरिच्छेद मे 'आरुप्पचुतिया होन्ति हेट्ठिमारुप्पवज्जिता[1]' आदि द्वारा कहे जानेवाले च्युतिनियम-आदि दिखलाये गये है[2]।

पटिसन्धिपवत्तिय—इस वचन के द्वारा वीथिपरिच्छेद एव वीथिमुत्तपरिच्छेद – इन दोनो का निर्देश (सङ्केत) किया गया है[3]।

३ ये ६ षट्क इस परिच्छेद मे जानने योग्य विषय है, क्योकि किसी एक वीथि मे—'चित्त अमुक वस्तु का आश्रय करता है, अमुक द्वार मे होता है, अमुक आलम्बन को आलम्बन बनाता है, यह विज्ञान किस वीथि से लक्षित है, यह कौन वीथि है, यह विषय कैसे प्रवृत्त हुआ ?' – इत्यादि ज्ञान आवश्यक होता है और इस प्रकार के ज्ञान से वीथि से सम्बद्ध सभी प्रकार का विषय स्पष्ट हो जाता है। अतएव कहा गया है कि इस वीथिपरिच्छेद मे ६ षट्क ज्ञातव्य है।

---

* आलम्बनानि – सी० (सर्वत्र), छालम्बनानि – स्या० ('लम्ब' सर्वत्र), आलम्बणानि – रो० (सर्वत्र), आरम्मणानि – म० (ख) एव ना० (सर्वत्र)।

†-† ०पवत्तीति – स्या०।

१ द्र० – अभि० स० ५ ६१।

२ "'पुब्बापरनियामित' ति – आवज्जनादिचक्खुविञ्ञाणादिपुब्बचित्तापरचित्तानुक्कमेन नियामित ववत्थित, 'पवत्तिसङ्गह नामा' ति पि जातिनिद्देसो येव।" – प० दी०, पृ० १२०।

वीथिचित्तो के क्रम एव नियम-आदि के विस्पष्ट तथा विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० – परम० वि०, चतु० परि०, 'वीथिपरिकम्म' पृ० १५-२१।

३ "'पटिसन्धिपवत्तिय ति – पटिसन्धिपवत्तीसु पटिसन्धिकाले पवत्तिकाले चा ति अत्थो। पटिसन्धिकाले पवत्तिसङ्गह च, पवत्तिकाले पवत्तिसङ्गह चा ति द्वे पवत्तिसङ्गहे पवक्खामीति वुत्त होति।" – प० दी०, पृ० १२०।

४ वीथिमुत्तानं पन कम्म-कम्मनिमित्त-गतिनिमित्तवसेन तिविधा होति विसयप्पवत्ति* ४

५ तत्थ वत्थुद्वारारमणानि पुब्बे वुत्तनयानेव।

६ चक्खुविञ्ञाणं, सोतविञ्ञाणं, घानविञ्ञाणं, जिव्हाविञ्ञाणं, कायविञ्ञाणं, मनोविञ्ञाणञ्चेति छ विञ्ञाणानि।

७ छ वीथियो पन चक्खुद्वारवीथि, सोतद्वारवीथि, घानद्वारवीथि†, जिव्हाद्वारवीथि, कायद्वारवीथि, मनोद्वारवीथि चेति द्वारवसेन वा, चक्खुविञ्ञाणवीथि, सोतविञ्ञाणवीथि, घानविञ्ञाणवीथि, जिव्हाविञ्ञाणवीथि, कायविञ्ञाणवीथि, मनोविञ्ञाणवीथि चेति विञ्ञाणवसेन वा द्वारप्पवत्ता चित्तप्पवत्तियो योजेतब्बा।

वीथिमुक्त चित्तो की कर्म, कर्मनिमित्त, एव गतिनिमित्त भेद से तीन प्रकार की विषयप्रवृत्ति होती है।

उपर्युक्त ६ षट्कों मे से वस्तु-षट्क, द्वार-षट्क एव आलम्बन-षट्क पूर्ववर्ती प्रकीर्णकसङग्रह मे कथित न्य के अनुसार ही होते है।

चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, घ्राणविज्ञान, जिह्वाविज्ञान, कायविज्ञान एव मनोविज्ञान – इस प्रकार ६ विज्ञान होते है।

चक्षुर्द्वारवीथि, श्रोत्रद्वारवीथि, घ्राणद्वारवीथि, जिह्वाद्वारवीथि, कायद्वारवीथि, मनोद्वारवीथि – इस प्रकार 'द्वार' के सम्बन्ध से; तथा चक्षुर्विज्ञानवीथि, श्रोत्रविज्ञानवीथि, घ्राणविज्ञानवीथि, जिह्वाविज्ञानवीथि, कायविज्ञानवीथि एव मनोविज्ञानवीथि – इस प्रकार 'विज्ञान' के सम्बन्ध से, द्वार मे प्रवृत्त चित्तो की प्रवृत्ति (उत्पत्ति) नामक ६ वीथियो की योजना करनी चाहिये।

---

४ ऊपर जो 'छधा विसयप्पवत्ति' – कहा गया है, उससे यह नही समझना चाहिये कि सर्वत्र विषयप्रवृत्ति छह प्रकार की ही होती है। 'वीथिमुक्त' नामक प्रतिसन्धिचित्त, भवङ्गचित्त एव च्युतिचित्तो की विषयप्रवृत्ति कर्म, कर्मनिमित्त एव गतिनिमित्त भेद से केवल तीन प्रकार की ही होती है[1]।

७. **छह वीथियाँ**—मूल मे उक्त 'छ वीथियो' एव 'द्वारप्पवत्ता चित्तप्पवत्तियो' –

---

* विसयपवत्ति – रो०। † घाणद्वारवीथि – सी०, रो०।

१ "कम्म-कम्मनिमित्त-गतिनिमित्तान ति – एत्थ कम्म नाम कतुपचित्त कामावचरकुसलकम्म, तञ्च खो विपाकदानाय लद्धोकास; तेनाह – पच्चुपट्ठित ति। कम्मनिमित्त – कम्मायूहनक्खणे चेतनाय पच्चयभूत देय्यधम्मादि। गतिनिमित्त – य गति उपपज्जति तप्परियापन्न रूपायतन।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १३१।

ये दोनो वचन एकार्थक है, अत वीथि का अर्थ 'चित्तप्रवृत्ति' ही होता है तथा चित्तप्रवृत्ति का अर्थ होता है – 'नियम के अनुसार चित्तो का होना'। नियम के अनुसार होनेवाले उन चित्तो को ही 'वीथि' कहते हैं। इस प्रकार चित्तप्रवृत्ति को ही 'वीथि' कहने पर भी उन उन द्वारो से असम्बद्ध या 'द्वारविमुक्त' कहे जानेवाले प्रतिसन्धि, भवङ्ग एव च्युति चित्तो की प्रवृत्ति को 'वीथि' नही कहा जा सकता, बल्कि उन उन द्वारो मे होनेवाली चित्तप्रवृत्ति को ही 'वीथि' कहा जा सकता है। इस भाव को दिखलाने के लिये ही 'द्वार पवत्ता' इस विशेषण का प्रयोग किया गया है। अत. 'द्वारप्पवत्ता चित्तप्पवत्तियो' इसका अर्थ 'उन उन द्वारो की अपेक्षा करके उत्पन्न चित्तसन्तति' होता है[1]।

द्वारवसेन, विञ्ञाणवसेन – उन वीथियो का नामकरण द्वार के सम्बन्ध से भी किया जा सकता है तथा विज्ञान के सम्बन्ध से भी किया जा सकता है।

द्वार के सम्बन्ध से, यथा – चक्षुर्द्वार मे अवभासित रूपालम्बन का आलम्बन करनेवाली चित्तसन्तति 'चक्षुर्द्वारवीथि' कही जाती है। अत इसका 'चक्खुद्वारे पवत्ता वीथि चक्खुद्वारवीथि' – यह विग्रह करना चाहिए। इसी प्रकार श्रोत्रद्वारवीथि – आदि को भी जानना चाहिये।

विज्ञान के सम्बन्ध से, यथा – 'पञ्चद्वारावर्जन, चक्षुर्विज्ञान, सम्पटिच्छन, सन्तीरण, वोट्ठपन, जवन एव तदालम्बन' – यह चक्षुर्द्वारवीथि की प्रवृत्ति का क्रम है। इसी प्रकार 'पञ्चद्वारावर्जन, श्रोत्रविज्ञान, सम्पटिच्छन, सन्तीरण, वोट्ठपन, जवन एव तदालम्बन' – यह श्रोत्रद्वारवीथि का प्रवृत्तिक्रम है। घ्राणद्वारवीथि, जिह्वाद्वारवीथि एव कायद्वारवीथि को भी इसी प्रकार समझना चाहिये। इन उपर्युक्त वीथियो मे चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान-आदि पञ्चविज्ञान विशेष (असाधारण) चित्त है, पञ्चद्वारावर्जन, सम्पटिच्छन – आदि चित्त विशेष नही है, अत विशेष अर्थात् असाधारण विज्ञान के द्वारा उपलक्षित इन वीथियो को चक्षुर्विज्ञानवीथि – आदि कहा जाता है। अत इनका 'चक्खुविञ्ञाणेन उपलक्खिता वीथि चक्खुविञ्ञाणवीथि' – इत्यादि प्रकार से विग्रह करना चाहिये।

मनोद्वारवीथि मे चूंकि कोई विशेष विज्ञान नही होता, अपितु सभी चित्त मनोविज्ञान ही है, अत इसका 'मनोविञ्ञाणमेव वीथि मनोविञ्ञाणवीथि' – ऐसा विग्रह करना चाहिये[2]।

---

१ "द्वारप्पवत्ता ति द्वारे उप्पन्ना, त त द्वारविकार पटिच्च उप्पन्ना ति अत्थो। चित्तप्पवत्तियो ति चित्तपबन्धा" – प० दी०, पृ० १२१।

२ "चक्खुद्वारे पवत्ता वीथिचित्तपरम्परा चक्खुद्वारवीथित्यादिना द्वारवसेन, चक्खुविञ्ञाणसम्बन्धिनी वीथि तेन सह एकारम्मण-एकद्वारिकत्ताय सहचरणभावतो चक्खुविञ्ञाणवीथित्यादिना विञ्ञाणवसेन वा वीथीन नामयोजना कातब्बा ति दस्सेतु चक्खुद्वारवीथित्यादि वुत्त।" – विभा०, पृ० १०५।

"छ वीथियो पन द्वारप्पवत्ता चित्तप्पवत्तियो योजेतब्बा ति सम्बन्धो। चक्खुद्वारे पवत्ता वीथि चक्खुद्वारवीथि, चक्खुद्वारविकार पटिच्च पवत्तो चित्तप्पबन्धो ति अत्थो, एव सेसेसु। असाधारणेन चक्खुविञ्ञाणेन उपलक्खिता वीथि चक्खुविञ्ञाणवीथि। सुद्धो पन मनोविञ्ञाणपबन्धो मनोविञ्ञाणवीथि।" – प० दी०, पृ० १२१।

८ अतिमहन्तं, महन्तं, परित्तं, अतिपरित्तञ्चेति पञ्चद्वारे; मनोद्वारे पन* विभूतमविभूतञ्चेति छधा विसयप्पवत्ति वेदितब्बा ।

अतिमहद्-आलम्बन, महद्-आलम्बन, परीत्त-आलम्बन एव अतिपरीत्त-आलम्बन – इस प्रकार पञ्चद्वार मे; विभूत आलम्बन एव अविभूत आलम्बन – इस प्रकार मनोद्वार में – इस तरह षड्विध (छह प्रकार की) विषय-प्रवृत्तियो को जानना चाहिये ।

---

८. **षड्विध विषयप्रवृत्ति** – महत् (महन्त) शब्द 'अनेक', 'उत्तम', 'बडा' – आदि विभिन्न अर्थो मे प्रयुक्त होता है, इसी प्रकार परीत्त शब्द भी 'छोटा' 'थोडा' – आदि अनेक अर्थो मे व्यवहृत होता है। इन अर्थो मे से आलम्बन का उत्तम होना या बडा होना, उसके महद्-आलम्बन (महन्त-आलम्बन) कहलाने मे निमित्त नही है, क्योकि रूपालम्बन के कितने ही उत्तम या बडे होने पर भी, यदि देखनेवाले का चक्षु प्रसाद दुर्बल होता है या आलोक की न्यूनता होती है तो ऐसी परिस्थिति मे उस आलम्बन को महद्-आलम्बन नही कहा जा सकता, इसी प्रकार सूक्ष्म होने से ही कोई आलम्बन परीत्त-आलम्बन नही कहलाता, क्योकि चक्षु प्रसाद के प्रबल एव आलोक के समीचीन होने पर, वह सूक्ष्म आलम्बन भी महद्-आलम्बन हो सकता है और यही कारण है कि आलम्बन के महत्त्व (बडे होने) या सौक्ष्म्य (छोटे होने) को उसके महद्-आलम्बन या परीत्त-आलम्बन कहलाने मे निमित्त (प्रवृत्तिनिमित्त) नही माना जाता, अपितु आलम्बन के अभिनिपात (चक्षु प्रसाद-आदि मे प्रादुर्भाव) से लेकर (उसके) निरोध तक होनेवाले चित्तक्षणो की गणना के आधार[1] पर ही उसे अति महत्, महत्, परीत्त या अतिपरीत्त कहा जाता है[2] ।

---

* सी०, ना० मे नही ।

१. चित्तक्षणो की न्यूनता एव अधिकता का परिज्ञान, आगे वीथियो का वर्णन देखने से स्पष्ट होगा ।

२. "अतिमहन्तादिभावो चेत्थ आलोकादिपच्चयवसेन वा वत्थु-अतिमहन्तादिवसेन वा वेदितब्बो । आलोकादिपच्चयान पन अधिट्ठानवत्थून च दुब्बल-दुब्बलतर-दुब्बलतमानुक्कमेन महन्तादिभावो वत्तब्बो ति । यानि पन पञ्चालम्बनानि एकचित्तक्खण अतिक्कम्म आपात आगच्छन्ति, तानि अतिमहन्तारम्मणानि नाम । यानि द्वित्तिचित्तक्खणानि अतिक्कम्म, तानि महन्तारम्मणानि । यानि चतु-पञ्च-छ-सत्त-अट्ठ-नवचित्तक्खणानि अतिक्कम्म, तानि परित्तारम्मणानि । यानि पन दसेकादस-द्वादस-तेरस-चुद्दस-पन्नरसचित्तक्खणानि अतिक्कम्म आपात आगच्छन्ति, तानि अतिपरित्तारम्मणानीति ।" – प० दी०, पृ० १२२ ।

"अतिमहन्तन्त्यादीसु एकचित्तक्खणातीत हुत्वा आपाथागत सोळसचित्तक्खणायुक अतिमहन्त नाम । द्वि-तिचित्तक्खणातीत हुत्वा पन्नरस-चुद्दसचित्तक्खणायुक महन्त नाम । चतुचित्तक्खणतो पट्ठाय याव नवचित्तक्खणातीत हुत्वा तेरस-चित्तक्खणतो पट्ठाय याव अट्ठचित्तक्खणायुक परित्त नाम । दसचित्तक्खणतो पट्ठाय याव पन्नरसचित्तक्खणातीत हुत्वा सत्तचित्तक्खणतो पट्ठाय याव द्विचित्तक्खणा-

९. **कथं ?**

उप्पादट्ठितिभङ्गवसेन* खणत्तयं एकचित्तक्खणं नाम । तानि पन सत्तरस चित्तक्खणानि रूपधम्मानमायु† ।

कैसे विषयप्रवृत्ति षड्विध होती है ?

उत्पाद-स्थिति-भङ्ग के भेद से इन तीन क्षुद्रक्षणो के समूह को 'एकचित्तक्षण' कहते है। वे (इस प्रकार के) १७ चित्तक्षण (२ विज्ञप्तिरूप एव ४ लक्षणरूप वर्जित २२) रूप-धर्मो की आयु है ।

चित्त मे भलीभाँति प्रकट (सुपाकट) आलम्बन को विभूतालम्बन तथा अविस्पष्ट आलम्बन को अविभूतालम्बन कहते है[1] ।

विसयप्पवत्ति – 'विसयस्स पवत्ति विसयप्पवत्ति' आलम्बन की प्रवृत्ति को 'विषय-प्रवृत्ति' कहते है। यहाँ 'प्रवृत्ति' शब्द का अर्थ उत्पत्ति नही है, अपितु उन उन द्वारो मे आलम्बन का अभिनिपात (प्रादुर्भाव=गोचरभाव को प्राप्त होना) है[2]। अत इसका 'विसयान द्वारेसु पवत्ति विसयप्पवत्ति' – ऐसा विग्रह करना चाहिये । यहाँ 'आलम्बन का अभिनिपात' – इस विग्रहार्थ पर विचार करने से 'अभिनिपात' आलम्बन से अतिरिक्त 'निपात' नामक कोई पृथक् धर्म प्रतीत नही होता, अत 'छधा विसयप्पवत्ति' द्वारा उन्ही अतिमहद्-आलम्बन-आदि छह आलम्बनो को ही दिखाया गया है। इस प्रकार आलम्बन एव विषयप्रवृत्ति समानार्थक ही है। इसीलिये आचार्य अनुरुद्ध ने भी स्वय आगे "चतुन्न वारान यथाक्कम आरमणभूता विसयप्पवत्ति चतुधा वेदितब्बा[3]" – ऐसा कहा है।

९. चित्त की आयु – प्रत्येक चित्त की उत्पाद, स्थिति एव भङ्ग – ये तीन अवस्थाएँ

युक अतिपरित्त नाम ।" – विभा०, पृ० १०५ ।

"चुद्दसचित्तक्खणायुक हि आरम्मणमिध 'महन्त' ति दीपित, तञ्च उप्पज्जित्वा द्वि-तिचित्तक्खणातीत हुत्वा आपाथागमनवसेन वेदितब्ब अतिमहन्त ति सोळसचित्तक्खणायुक। तत्थ हि तदारम्मणचित्त उप्पजति, न अञ्ञत्थ।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १३३ ।

* ० भवगवसेन – रो०, उप्पादठिति० – म० (ख) । †. रूपधम्मानमायू – म० (ख)।

१. "विभूत ति सुपाकट ।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १३३ ।

"विभूत पाकट, अविभूत अपाकट ।" – विभा०, पृ० १०५ ।

"विभूतस्सा ति पाकटस्स, अविभूतस्सा ति अपाकटस्स ।" – प० दी०, पृ० १२२ ।

२. "विसयान द्वारेसु पवत्ति 'विसयप्पवत्ति' । एत्थ च पवत्तीति आपातागमनमेव वुच्चति । ..कम्मादीन विसयान द्वारेसु पवत्ति, पच्चुपट्ठान, आपातागमन विसयप्पवत्ति । वक्खति हि – कम्म वा, कम्मनिमित्त वा, गतिनिमित्त वा कम्मबलेन छन्न द्वारान अञ्ञतरस्मि पच्चुपट्ठातीति ।" – प० दी०, पृ० १२१ ।
तु० – "विसयान द्वारेसु, विसयेसु च चित्तानं पवत्ति 'विसयप्पवत्ति' ।" – विभा०, पृ० १०५ ।

३. द्र० – अभि० स० ४ : १७ ।

होती है। चित्त का सर्वप्रथम प्रादुर्भाव 'उत्पाद', उत्पाद के अनन्तर एव विनाश से पूर्व उसका अपने स्वभाव मे अवस्थान 'स्थिति' तथा अपने स्वभाव से ही नष्ट हो जाना 'भङ्ग'[1] है। काल के सबसे सूक्ष्म अश को 'क्षण' कहते है। प्रत्येक चित्त मे उत्पाद, स्थिति एव भङ्ग नामक तीन क्षण होते है तथा इन्हे 'क्षुद्रक्षण' कहा जाता है। इन तीन क्षुद्रक्षणो को ही सम्मिलित रूप से 'एकचित्तक्षण' कहा जाता है। तीन क्षुद्रक्षणो से सम्पन्न इस एकचित्तक्षण मे ये उत्पाद-स्थिति-भङ्ग इतनी शीघ्रता से प्रवृत्त होते है कि एक 'अच्छरा' (चुटकी बजाने जितने या पलक झपने जितने) काल मे ये लाखो करोडो बार उत्पन्न होकर निरुद्ध हो जाते है[2]।

रूप की आयु – पूर्वोक्त प्रकार के १७ चित्तक्षणो का काल रूप-धर्म की आयु है। जिस प्रकार मनुष्य का आयु प्रमाण शतवर्ष माना जाता है, उसी प्रकार रूप-धर्मों का आयु प्रमाण १७ चित्तक्षणो के काल के बराबर माना जाता है। रूप-धर्मो मे भी उत्पाद, स्थिति एव भङ्ग – ये तीनो अवस्थाएँ होती है। इनमे से रूप-धर्मो का उत्पाद-क्षण (उत्पादकाल) एव भङ्गक्षण (भङ्गकाल) तो चित्त के उत्पादक्षण एव भङ्गक्षण के बराबर ही होता है, किन्तु उनका स्थितिक्षण (स्थितिकाल) चित्त के ४९ क्षुद्रक्षणो के बराबर होता है[3]।

---

१ "उप्पज्जन उप्पादो, अत्तपटिलाभो। भञ्जन भङ्गो, सरूपविनासो। उभिन्न वेमज्झे भङ्गाभिमुखप्पवत्ति ठिति नाम।" – विभा०, पृ० १०५।

"उप्पज्जन उप्पादो, सभावपटिलाभो ति अत्थो। ठान ठिति, यथालद्ध-सभावस्स अनिवत्तीति अत्थो। भञ्जन भङ्गो, तस्स परिहायित्वा अन्तरधान ति अत्थो।" – प० दी०, पृ० १२३।

२ "एकच्छरक्खणे कोटिसतसहस्ससङ्खा उप्पज्जित्वा निरुज्झति।" – विभ० अ०, पृ० ३४।

"एकचित्तक्खण नामा ति – एकस्स चित्तस्स खणो नाम। सो पन खणो अच्छरासङ्घाटक्खणस्स अक्खिनिमीलनक्खणस्स च अनेककोटिसतसहस्सभागो दट्ठब्बो। अच्छरासङ्घाटक्खणे अनेककोटिसतसहस्ससङ्खा वेदना उप्पज्जन्तीति हि अट्ठकथाय वुत्त।" – प० दी०, पृ० १२३।

३ "अरूप लहुपरिणाम, रूप गरुपरिणाम गाहकगाहेतब्बभावस्स ततखणवसेन उप्पज्जनतो ति आह – तानित्यादि। तानीति तादिसानि। सत्तरसन्न चित्तान खणानि विय खणानि सत्तरसचित्तक्खणानि। तानि चित्तक्खणानि सत्त-रसा ति वा सम्बन्धो। विसु विसु पन एकपञ्ञास चित्तक्खणानि होन्ति।" – विभा०, पृ० १०६।

"अरूप अरूपिसभावत्ता लहुपरिणाम, रूप पन रूपिधम्मत्तायेव दन्धपरिणाम ति वुत्त – 'तानि पन रूपधम्मानमायू' ति। तानि तादिसानि सत्तरसन्न चित्तान खणानि, सत्तरस वा तानि चित्तक्खणानि रूपधम्मानमायू ति योजना।" – प० दी०, पृ० १२६।

स्पष्टीकरण – उत्पाद-स्थिति-भङ्गात्मक एक रूपक्षण मे उत्पाद-स्थिति-भङ्गात्मक १७ चित्तक्षण होते है, तथा एक एक चित्तक्षण मे तीन तीन क्षुद्रक्षण होने के कारण, उत्पाद-स्थिति-भङ्गात्मक एक रूपक्षण मे चित्त के (१७×३=)५१ क्षुद्रक्षण होते है। उन १७ चित्तो मे से प्रथम चित्त का उत्पादक्षण (उत्पादकाल) एव रूप का उत्पादक्षण (उत्पादकाल) तथा अन्तिम चित्त (१७ वे चित्त) का भङ्गक्षण एव रूप का भङ्गक्षण बराबर होता है, परन्तु रूप का स्थितिकाल चित्त के (५१–२=) ४९ क्षुद्रक्षणो के बराबर होता है। जैसे – किसी एक चित्त के साथ रूप का उत्पाद होता है तो उन दोनो का उत्पादकाल समान ही होता है, किन्तु अब चित्त के १७ वार प्रवृत्त होने तक, रूप का स्थितिकाल रहेगा और अन्त मे चित्तसन्तति के सत्रहवे चित्त के भङ्गकाल मे रूप का भी भङ्ग होगा – इस प्रकार सत्रहवे चित्त का भङ्गकाल एव रूप का भङ्गकाल भी समान ही होता है।

[यह अट्ठकथाचार्य एव आधुनिक आचार्य सम्मत मत है[1]। चित्त के स्थिति-क्षण के सम्बन्ध मे अनेक विप्रतिपत्तियाँ है, जैसे वह (स्थितिक्षण) होता है कि नही? – इत्यादि। इस विषय पर हम रूपपरिच्छेद (षष्ठ परिच्छेद) मे विचार करेगे।]

रूपधम्मानमायु – यहाँ प्रयुक्त 'रूपधम्म' (रूप-धर्म) शब्द द्वारा सभी २८ प्रकार के रूपो का ग्रहण नही होता, अपितु उनमे से विज्ञप्तिरूप[2] २ एव लक्षणरूप[3] ४=६ रूपो को वर्जित कर केवल २२ रूपो का ही ग्रहण होता है। इसका कारण यह है कि विज्ञप्तिद्वय 'चित्तानुपरिवत्तिनो धम्मा'[4] – इस मातिका के अनुसार 'चित्तानुपरिवर्त्ती' धर्मो मे गृहीत होने के कारण, सत्रह चित्तक्षण-आयुवाले न होकर चित्त के साथ ही उत्पन्न एव चित्त के साथ ही निरुद्ध होने के स्वभाववाले होते है। इसी प्रकार चार लक्षण-रूपो मे परिगणित उपचय एव सन्तति रूप के उत्पादक्षण के तुल्य (बराबर), जरता रूप के स्थितिक्षण के तुल्य तथा अनित्यता रूप के भङ्गक्षण के तुल्य होती है। इस प्रकार विज्ञप्तिद्वय एव लक्षणरूपो की आयु सत्रह चित्तक्षण के तुल्य (बराबर)

---

१ "रूप गरुपरिणाम दन्धनिरोध, अरूप लहुपरिणाम खिप्पनिरोध। रूप धरन्ते येव सोळस चित्तानि उप्पज्जित्वा निरुज्झन्ति। त पन सत्तरसमेन चित्तेन सद्धि निरुज्झति। . तत्थ किञ्चापि रूप दन्धनिरोध गरुपरिणाम, चित्त खिप्पनिरोध लहुपरिणाम। रूप पन अरूप, अरूप वा रूप ओहाय पवत्तितु न सक्कोन्ति। द्विन्न पि एकप्पमाणा व पवत्ति।" – विभ० अ०, पृ० २६-२७।
विभ० अ० मे इस विषय का उपमाओ द्वारा अति विशद एव विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। द्र० – विभ० अ०, पृ० २६-२९।

२ द्र० – अभि० स० ६ १३।

३. द्र० – अभि० स० ६ १५।

४. द्र० – ध० स०, पृ० ११, २६५।

न होने से 'रूपधम्मान' पद से गृहीत होनेवाले रूपो मे से इनका परिवर्जन किया गया है[1]।

आकाशधातु एव लघुता (लहुता) आदि रूप मुख्यरूप से परमार्थस्वभाव न होने पर भी परमार्थस्वभाव रूपकलापो से सम्बद्ध रहने के कारण, सत्रह चित्तक्षण आयु-वाले माने जाते है। अर्थात् जब दो रूपकलाप परस्पर सयुक्त होते है तब उनके मध्यवर्ती अवकाश के रूप मे परिच्छेदकरूप आकाशधातु का प्रादुर्भाव होता है और जबतक रूपकलाप जीवित रहते है तबतक अर्थात् सत्रह चित्तक्षण तक यह आकाशधातु भी जीवित रहती है। अतएव आकाशधातु की आयु भी सत्रह चित्तक्षणपर्यन्त मानी जाती है। लघुता-आदि रूपो को भी इसी प्रकार समझना चाहिये। इसी कारण 'रूपधम्म' द्वारा गृहीत होनेवाले रूपो मे से आकाशधातु एव लघुता-आदि का वर्जन नही किया जा सकता, फिर भी निष्पन्न[2] एव अनिष्पन्न द्विविध रूपो मे से अनिष्पन्न रूप परमार्थ या सत्स्वभाव नही होते, अपितु वे केवल प्रज्ञप्ति-स्वभाव की तरह ही होते है। अत उनका मुख्यरूप से उत्पाद-स्थिति-भङ्ग नही हो सकता। अतएव 'रूपधम्मान'—इस वचन द्वारा सभी अनिष्पन्न रूपो का ग्रहण नही करना चाहिये।

कुछ लोग 'पटिच्चसमुप्पादविभङ्गट्ठकथा' के "एत्तावता एकादस चित्तक्खणा अतीता होन्ति। अथावसेसपञ्चचित्तक्खणायुके[3]"—इस वचन से "रूप-धर्मो की आयु सोलह चित्तक्षण होती है"—ऐसा मानते है[4], तथा यह भी मानते है कि उत्पद्यमान रूप-धर्म भवङ्गचलन के प्रत्यय होते है, किन्तु उनका यह मत समीचीन नही है, क्योकि 'प्रति-सन्धिचित्त के साथ उत्पन्न रूप अपने उत्पाद से लेकर सत्रहवे चित्त के साथ निरुद्ध हो जाता है, तथा प्रतिसन्धिचित्त के स्थितिक्षण मे उत्पन्न रूप अठारहवे चित्त के उत्पाद-क्षण मे निरुद्ध हो जाता है[5]'—ऐसा अट्ठकथा मे वर्णित होने के कारण उपर्युक्त मत समीचीन नही है[6]।

परमत्थदीपनीकार का कथन है कि मूलटीकाकार ने जो रूप-धर्मो की आयु सोलह चित्तक्षण कही है वह 'पटिच्चसमुप्पादविभङ्ग' मे आये हुए महा-अट्ठकथा के वचन को प्रतिष्ठापित करने के लिये है। 'खन्धविभङ्ग' मे रूप-धर्मो के उत्पाद-निरोध का विधान करनेवाले महा-अट्ठकथावाद का 'सङ्गहकार' के द्वारा भी यमक से विरोध दिखलाकर प्रतिषेध

---

१ "'रूपधम्मान' ति विञ्ञत्ति-लक्खणरूपवज्जान रूपधम्मान। विञ्ञत्तिद्वय हि एकचित्तक्खणायुक, तथा हि-त चित्तानुपरिवत्तिधम्मेसु वुत्त। लक्खण-रूपेसु च जाति चेव अनिच्चता च चित्तस्स उप्पाद-भङ्गक्खणेहि समानायुका। जरता पन एकूनपञ्ञासचित्तक्खणायुका। एव च कत्वा वदन्ति—
'त सत्तरसचित्तायु विना विञ्ञत्तिलक्खण'।"
—विभा०, पृ० १०६-१०७।

"तत्थ विञ्ञत्तिद्वय एकचित्तक्खणिक, उपचयसन्ततियो उप्पादमत्ता, अनिच्चता भङ्गमत्ता, जरता रूपधम्मान ठितिक्खणमत्ता ति दट्ठब्बा।"—प० दी०, पृ० १२४।

२ द्र०—अभि० स० ६ ११। ३ विभ० अ०, पृ० १६०।

४ विभ० मू० टी०, पृ० २२। ५ विभ० अ०, पृ० २८-२६।

६ विभा०, पृ० १०७, मणि०, प्र० भा०, पृ० ३३२।

पञ्चद्वारवीथि

१०. एकचित्तक्खणातीतानि वा बहुचित्तक्खणातीतानि वा ठितिप्पत्तानेव* पञ्चारमणानि पञ्चद्वारे आपातमागच्छन्ति† ।

एकचित्तक्षण अतीत होनेपर अथवा बहुचित्तक्षण अतीत होनेपर (किन्तु) स्थितिक्षण को प्राप्त होकर ही पाँच आलम्बन पाँच द्वारों में अभिनिपात (प्रादुर्भाव=गोचरभाव) को प्राप्त होते हैं ।

किया जाने से उसका प्रतिष्ठापन अशक्य है। उस वाद के प्रतिषिद्ध हो जाने पर, उसमें आये हुए सोलह चित्तक्षण-आयु अथवा उससे अधिक चित्तक्षण-आयु का वाद भी सुतरां अपने आप प्रतिषिद्ध हो जाता है। ग्रन्थकार (अनुरुद्धाचार्य) का सत्रह चित्तक्षण-आयु कहनेवाला वचन मूलटीकाकार द्वारा भी अनुमत होने से टीकाकार के वचन का प्रतिषेध करना युक्तियुक्त नहीं है[1] ।

प्रश्न – नाम-धर्म एवं रूप-धर्म – दोनों के समान रूप से अनित्य एवं संस्कृत होने पर भी क्यों नाम-धर्मों की आयु अल्प और रूप-धर्मों की आयु दीर्घ होती है ?

उत्तर – नाम-धर्मों में चित्त प्रधान होता है और वह (प्रधान) चित्त आलम्बनों का ग्रहणस्वभावमात्र है। जब वह आलम्बन का ग्रहण करता है तभी (ग्रहणक्षण में ही) चित्त नामक स्वभावधर्म निरुद्ध हो जाता है और जब चित्त निरुद्ध होता है तभी उसमें सम्प्रयुक्त चैतसिक धर्म भी निरुद्ध हो जाते हैं। अतएव नाम-धर्मों की आयु अल्प होती है। रूप-धर्मों में महाभूत प्रधान होते हैं और उन महाभूतों का स्वभाव गुरु होता है, अतः उनके साथ उत्पन्न होनेवाले सहभू रूपों का स्वभाव भी गुरु होता है। यही कारण है कि रूप-धर्मों की आयु नाम-धर्मों की अपेक्षा दीर्घ (लम्बी) होती है[2] ।

पञ्चद्वारवीथि

१०. चक्षुष्-आदि पाँच द्वारों में प्रादुर्भूत आलम्बन की अपेक्षा कर उत्पन्न होने-

---

* ठितिपत्तानेव – रो० ।

† आपाथमागच्छन्ति – सी०, स्या०, रो०, ना०, म० (ख) ।

१ प० दी०, पृ० १२६-१२७ ।
रूपधर्मों की आयु के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान के लिये द्र० – विभ० मू० टी०, पृ० १९-२३ ।

२. "कस्मा पनेत्थ रूपमेव समाने पि अनिच्चसङ्खतादिभावे चिरायुकं जातं ति ? दन्धपरिवत्तिभावतो। अरूपधम्मा हि सारम्मणा चित्तपुब्बङ्गमा, ते यथाबलं अत्तनो आरम्मणविभावनवसेन पवत्तन्तीति तदत्थनिप्फत्तिसमनन्तरमेव निरुज्झनतो लहुपरिवत्तिनो। तेनाह भगवा – 'नाहं भिक्खवे ! अञ्ञं एकधम्मं पि समनुपस्सामि यं एवं लहुपरिवत्तं यथयिदं चित्तं' (अ० नि०, प्र० भा०, पृ० १०) ।" – विभ० अनु०, पृ० १९ ।

वाली चित्तसन्तति को 'पञ्चद्वारवीथि' कहते हैं। प्रस्तुत प्रकरण मे पाँचो द्वारो का विस्तृत वर्णन न कर केवल चक्षुर्द्वार का ही सविस्तर वर्णन किया जायेगा।

सत्त्वो की सन्तान मे जब वीथिचित्त प्रवृत्त नही होते रहते, उस समय भवङ्गचित्तसन्तति ही निरन्तर अविच्छिन्नरूप से प्रवर्तमान होती रहती है और जब भवङ्गचित्त प्रवृत्त होते रहते हैं उस समय किसी भी प्रकार का कोई ज्ञान नही होता। वे (भवङ्गचित्त) पूर्वभव (अतीतभव) के मरणासन्न जवनो द्वारा गृहीत कर्म, कर्म-निमित्त या गतिनिमित्त – इन त्रिविध आलम्बनो मे से किसी एक का आलम्बन कर प्रवृत्त होते रहते हैं। सुषुप्तिकाल मे भी भवङ्ग ही होते रहते हैं तथा जागरणकाल मे भी बहुलतया भवङ्ग-चित्तसन्तति ही होती है। इन भवङ्गो के बीच बीच मे, प्रादुर्भूत नये नये आलम्बनो की अपेक्षा करके यथायोग्य चित्तसन्ततियाँ उत्पन्न होती हैं। इन चित्तसन्ततियो के उत्पाद को ही 'वीथिपात' कहते हैं। इन वीथिचित्तो के निरुद्ध (भङ्ग) हो जाने पर भी पुन भवङ्गपात ही होते रहते है।

आपातमागच्छन्ति – 'आपात' शब्द का अर्थ 'अभिनिपात' है, इसका भावार्थ 'प्रादुर्भाव' है, अत 'आपातमागच्छन्ति' – इस वाक्य का अर्थ हुआ – 'अभिनिपात को प्राप्त होते है,' अर्थात् गोचरभाव को प्राप्त होते है।

यहाँ 'अभिनिपात' शब्द का अर्थ 'अभिमुख (सम्मुख=समीप) निपात (सम्प्राप्त) होना' नही है, अपितु आलम्बन चाहे सम्मुखस्थ (समीपस्थ) हो, चाहे दूरस्थ, अथवा भित्ति, प्राचीर-आदि से अन्तरित (परोक्ष) हो, उसका अपने सम्बद्ध द्वार मे 'घट्टित होना' ही 'अभिनिपात' शब्द का अभिप्रेतार्थ है। सम्बद्ध द्वार मे होनेवाले इस प्रकार के घट्टन को ही 'सम्बद्ध द्वार मे आलम्बन का प्रादुर्भाव' कहा जाता है[1]।

वादान्तर – कुछ आचार्य – "दर्पण मे प्रतिबिम्बित होने की तरह, जल मे प्रतिच्छाया पडने की तरह अथवा मोहर (सील) से प्रतिलिखित (मुद्रित) होने की तरह, उन उन द्वारो मे अपने अपने सम्बद्ध आलम्बनो के प्रतिबिम्बित होने आदि को 'प्रादुर्भूत

---

१ "'आपाथमागच्छन्ती' ति रूपसद्दारम्मणानि सकसकट्ठाने ठत्वा व गोचरभावं गच्छन्तीति आभोगानुरूप अनेककलापगतानि आपाथ आगच्छन्ति।" – विभा०, पृ० १०७।

"'पञ्चालम्बनानि पञ्चद्वारे आपातमागच्छन्तीति – एत्थ रूपसद्दारम्मणानि असम्पत्तवसेन, इतरानि च सम्पत्तवसेन गोचरभाव उपगच्छन्ति। अय च विसेसो घट्टनविसेसेन वेदितब्बो। पुरिमानि हि द्वे निमित्तवसेनेव घट्टेन्ति, न वत्थुवसेन, पच्छिमानि पन तीणि वत्थुवसेन घट्टेन्ति, न निमित्तवसेन। निमित्तघट्टन च नाम असम्पत्तानञ्ञेव होति, न सम्पत्तान, वत्थुघट्टन पन सम्पत्तानञ्ञेव, नो असम्पत्तान ति।" – प० दी०, पृ० १२७।

"आपाथागमन नाम पसादवत्थारम्मणान घट्टन, तञ्च सकट्ठाने ठत्वा अभिमुखीहुत्वा भवङ्गचलनस्स पच्चयो होति, न घटादीनं घट्टन विय अल्लीन हुत्वा पच्चयो।" – सङ्खेप०, पृ० २४८।

होना' कहते हैं"। इन आचार्यो का यह मत विचारणीय है, क्योकि प्रत्युत्पन्न रूपालम्बन का प्रादुर्भाव चक्षुर्द्वार मे भी तथा दिव्यचक्षुष् अभिज्ञाप्राप्त पुद्गल के मनोद्वार मे भी होता है। पाषाण-गुहा मे द्वार बन्द करके स्थित योगी के द्वारा दिव्यचक्षुष् अभिज्ञा के द्वारा देखे जाने पर देवभूमि एव ब्रह्मभूमि के रूपालम्बन भी पुन पुन प्रादुर्भूत होते हैं। इनका यह प्रादुर्भाव दर्पण मे प्रतिबिम्बित होनेवाले प्रतिबिम्ब की भाँति कैसे होगा !

अपिच – यद्यपि चक्षु प्रसाद मे रूपालम्बन का प्रादुर्भाव होता है, तथापि यह 'प्रादुर्भाव' दर्पण मे होनेवाले प्रतिबिम्ब की भाँति नही ही होता। तथा श्रोत्रद्वार-आदि द्वारो एव मनोद्वार मे होनेवाले 'प्रादुर्भाव' पर विचार करने पर तो 'यह दर्पण मे प्रतिबिम्ब की भाँति प्रादुर्भाववाली' धारणा (कल्पना) कथमपि नही घटती। जब 'निर्वाण' नामक अमृतधातु और अभाव-प्रज्ञप्ति भी मनोद्वार मे प्रादुर्भूत होती है – ऐसी स्थिति मे आचार्यो का उपर्युक्त वाद विचारणीय है।

दर्पण मे प्रतिबिम्ब की भाँति आलम्बन के प्रादुर्भाव का समर्थन करनेवाले आचार्य कहते हैं कि 'रूपालम्बन-आदि पाँच आलम्बन प्रादुर्भूत होने योग्य प्रदेश मे पहुँचकर उस समय चाहे वह सुषप्तिकाल हो, चाहे मूर्च्छाकाल हो या आलम्बनान्तरो के ग्रहण मे व्यासक्ति का काल हो, वे (पञ्चालम्बन) अपने सम्बद्ध द्वार मे प्राय युगपत् (एक साथ) प्रादुर्भूत हो सकते है, जैसे – किसी दर्पण के सम्मुख स्थित सभी पदार्थ उसमे युगपत् प्रतिबिम्बित हो सकते हैं।'

इस वाद के प्रसङ्ग मे 'आपातगमन' शब्द के द्विविध प्रयोग का ज्ञान आवश्यक है। कुछ स्थलो पर सम्बद्ध द्वारो मे अभिनिपात न होने पर भी अभिनिपात होने योग्य प्रदेश के उपचार (समीप) तक पहुँचने को ही 'आपातगमन' कहा गया है। यथा –

"तस्मि पन आपाथ आगच्छन्ते पि आलोकसन्निस्सये असति नुप्पज्जति[1]।"

अर्थात् उस रूपालम्बन के अभिनिपात (सम्मुखभाव) को प्राप्त होने पर भी 'आलोक' नामक निश्रयप्रत्यय के न होने से चक्षुर्विज्ञान का उत्पाद नही होता। यहाँ आलोक के अभाव अर्थात् अन्धकार मे भी अपने उपचार-प्रदेश मे प्राप्त रूपालम्बन के लिये 'आपात' (आपाथ) शब्द का प्रयोग किया गया है। वह रूपालम्बन चक्षु प्रसाद के उपचार (समीप) प्रदेश मे पहुँच जाने पर भी, आलोक के अभाव के कारण, चक्षु-प्रसाद मे घट्टन नही कर पाता या उसका चक्षु प्रसाद मे प्रादुर्भाव नही हो पाता। ऐसे स्थलो पर 'आपात' शब्द का अर्थ 'अभिनिपात' मात्र होना चाहिये, प्रादुर्भाव नही। इस निरूपण के अनुसार जब स्वाभाविक जागरणकाल मे भी आलोक के अभाव मे रूपालम्बन का प्रादुर्भाव नही हो पाता तो ऐसी स्थिति मे उपर्युक्त आचार्यो का यह वाद कि 'सुषुप्ति-आदि काल मे भी पाँचो आलम्बनो का युगपत् प्रादुर्भाव हो सकता है' – कथमपि युक्तिसङ्गत नही कहा जा सकता।

---

१. अट्ठ०, पृ० २२८।

कुछ स्थलो पर केवल उपचार तक पहुँचने मात्र को ही नही, अपितु उन उन वीथिचित्तो के आलम्बन होने मे समर्थ या भवङ्ग को भी कम्पित (क्षुब्ध) करने मे समर्थ आलम्बन के उन उन द्वारो मे होनेवाले 'प्रादुर्भाव' को 'आपातगमन' शब्द के द्वारा कहा गया है, यथा –

"एकेक आरम्मण द्वीसु द्वीसु द्वारेसु आपाथमागच्छति[१] ।" "'आपाथमागच्छति' – मनसा पञ्चविञ्ञाणेहि च गहेतब्बभावूपगमनेन[२] ।" "'गहेतब्बभावूपगमनेन' – न आपातगमनमत्तेन[३] ।"

इन अट्ठकथा, टीकाओ मे 'आपात शब्द का अर्थ कही उपचार मे पहुँचना मात्र न ले लिया जाय' – इस भय से उसकी व्याख्या 'मनसा पञ्चविञ्ञाणेहि च गहेतब्बभावूपगमनेन' – आदि कहकर सुस्पष्टतया की गयी है। अर्थात् मनोविज्ञान एव पञ्चविज्ञान के द्वारा ग्रहण करने योग्य या आलम्बन करने योग्य भाव तक पहुँचने (उपगमन करने) से ही 'आपात' सम्पन्न होता है। इस प्रकार यहाँ 'प्रादुर्भाव' के अर्थ मे 'आपात' शब्द का प्रयोग किया गया है।

उपर्युक्त व्याख्याओ के आधार पर 'आपात' शब्द का प्रयोग 'अभिनिपात' एव 'प्रादुर्भाव' – इन दोनो अर्थो मे किया जा सकता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे 'आपात' शब्द का प्रयोग 'प्रादुर्भाव' अर्थ मे किया गया है।

शब्दविनिश्चय – 'आपातमागच्छति' मे 'अबाध, आबाध, आपाथ एव आपात – इस प्रकार चार पाठ उपलब्ध होते हैं।

उनमे से "अबाध तु निरग्गल[४]" के अनुसार 'अबाध' शब्द 'निरर्गल' (अनिवारित=बेरोक टोक) अर्थ मे प्रयुक्त होता है। अथवा – 'नत्थि बाधा निसेधो यस्स त अबाध[५]' के अनुसार 'अबाध' शब्द अबाधित (अप्रतिषिद्ध) अर्थ मे प्रयुक्त होता है। यहाँ इन दोनो अर्थो का कोई सम्बन्ध न होने से 'अबाध' यह पाठ युक्तियुक्त प्रतीत नही होता।

"आबाधति चित्त विलोळेतीति आबाधो[६]" के अनुसार 'आबाध' शब्द का प्रयोग चित्त का विलोडन करनेवाले के अर्थ में या सङ्घट्टन करनेवाले के अर्थ मे है; किन्तु यह (सङ्घट्टन) अर्थ, सप्रतिघ रूप, पञ्चवस्तु एव पञ्चालम्बन के लिये समीचीन होने पर भी मनोद्वार के लिये समीचीन नही होता, क्योकि अभाव-प्रज्ञप्ति एव अमृतधातु 'निर्वाण' का मनोद्वार मे कैसे सङ्घट्टन होगा? अत 'आबाध' यह पाठ भी इस स्थान मे अनुरूप प्रतीत नही होता।

---

१ अट्ठ०, पृ० ६० ।
२. ध० स० मू० टी०, पृ० ७० ।
३ मधुटीका ।
४ अभि० प०, ७१७ का० ।
५ अभि० प० सू०, पृ० ३२ ।
६ अभि० प० सू०, पृ० ५६ ।

'आपाथ' इस शब्द का प्रयोग 'पथाभिमुख' (पथ=द्वार के अभिमुख)—इस अर्थ मे, अथवा 'पथ विख्याते'[1] इस धातु के आधार पर 'सुप्रकट' (विभूत)—इस अर्थ मे होता है, किन्तु मार्ग (द्वार) के अर्थ मे 'पथ' शब्द का ही प्रयोग होता है, 'पाथ' का नही। यदि किसी तरह 'पाथ' शब्द का अर्थ भी मार्ग हो जाये तो भी पथाभिमुख होने मात्र से या उपचार मे पहुँचने मात्र से उन उन द्वारो मे प्रादुर्भाव नही हो सकता। अत 'आपाथ'—यह पाठ भी युक्तियुक्त प्रतीत नही होता।

"ठपेत्वा रूपादीन अभिनिपातमत्त[2]।" "'आपाथमागते' ति योग्यदेसावट्ठिते[3]।" "अञ्ञमञ्ञपतन अञ्ञमञ्ञस्स योग्यदेसे अवट्ठान[4]।"

—आदि के अनुसार यहाँ 'आपात'—यह शब्द ही अधिक युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है। अट्ठकथाचार्य ने भी 'अभिनिपातमत्त'—कहकर 'आपात' शब्द के अन्तर्गत पठित 'आ' उपसर्ग के प्रतिनिधिरूप मे 'अभि' उपसर्ग को तथा 'पात' शब्द के प्रतिनिधिरूप म 'निपात' शब्द को दिखाया है। अनुटीकाकार ने भी 'अञ्ञमञ्ञपतन' मे 'पत' धातु का अर्थ 'योग्यदेश मे अवस्थान' किया है तथा महाटीकाकार ने भी 'योग्यदेसावट्ठिते' यह व्याख्या करके उपर्युक्त अर्थ का ही समर्थन किया है।

पञ्च आलम्बन एवं पञ्च प्रसाद—एक एक रूपकलाप इतना सूक्ष्म होता है कि उसकी सूक्ष्मता का वर्णन नही किया जा सकता। प्राकृत चक्षु से वह देखा नही जा सकता। सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से भी जो कीटाणु दिखायी पडते है, उनमे से एक एक कीटाणु मे भी कर्मज, चित्तज, ऋतुज एव आहारज रूपकलापो के अनेक समूह होते हैं। जब उन समूह के समूह रूपकलापो को भी प्राकृतचक्षु से नही देखा जा सकता तो एक रूपकलाप के दर्शन के सम्बन्ध मे तो कहना ही क्या है! अत चक्षु प्रसाद मे रूपालम्बन का प्रादुर्भाव होने मे एक रूपकलाप (रूपालम्बन) का प्रादुर्भाव नही हो सकता, अपितु अनेक रूपकलापो के सङ्घात (समूह) का ही प्रादुर्भाव हो सकता है[5]।

यदि अनेक रूपालम्बनो का सङ्घात (समूह) होने पर ही प्रादुर्भाव होता है तो प्रश्न होता है कि क्या चक्षुर्द्वारिक वीथिचित्त रूपालम्बनो की समूहप्रज्ञप्ति का आलम्बन करते है? यदि समूहप्रज्ञप्ति का आलम्बन करते है तो आलम्बनसङग्रह मे जो परमार्थ का ही एकान्तेन आलम्बन करनेवाले धर्मो मे चक्षुर्विज्ञान-आदि को कहा गया है[6],

---

१ द्र०—अभि० प० सू०, पृ० २१९।

२ विभ० अ, पृ० ४०८।

३ विसु०, महा०, द्वि० भा०, पृ० १३२।

४ ध० स० अनु०, पृ० ५२।

५ "'वत्थुपरित्तताया ति—एतेन अनेककलापगतानि बहूनि येव रूपायतनानि समुदितानि सहच्चकारिताय सिविकुब्बहनञायेन चक्खुविञ्ञाणस्स आरम्मण-पच्चयो, न एक कतिपयानि वा ति दस्सेति।"—ध० स० अनु०, पृ० ७४। तु०—प० दी०, पृ० १२८, विभा०, पृ० १०७।

६ द्र०—अभि० स० ३ ६२-६३ की व्याख्या (पृ० २६७)

उस कथन से इसका विरोध नही होता ? और इस प्रकार क्या आपके कथन मे पूर्वापरविरोध नही होता ?

उत्तर – रूपालम्बनो के बिना रूपालम्बनो की समूहप्रज्ञप्ति भी नही हो सकती, तथा रूपालम्बनो का वह समूह भी पुञ्जीभूत रूपालम्बनो की परमार्थ-राशि ही है और इस प्रकार अनेक रूपालम्बन परमार्थ-धर्मो का ही चक्षुर्विज्ञान के द्वारा आलम्बन किया जाने से कोई पूर्वापरविरोध नही होता।

प्रसाद एक है या अनेक – उपर्युक्त नय के अनुसार चक्षु प्रसाद मे रूपालम्बन का प्रादुर्भाव होने के सम्बन्ध मे टीकाकारो का अभिमत यह है कि 'चक्षु प्रसाद के एक होने पर ही यह (प्रादुर्भाव) कृत्य सम्पन्न हो सकता है'। चक्षु प्रसाद का कृत्य द्विविध है, यथा – (क) रूपालम्बन का प्रादुर्भावकृत्य एव (ख) चक्षुर्विज्ञान का निश्रयकृत्य। ये दोनो कृत्य चक्षु प्रसाद के एक होने पर ही सिद्ध हो सकते है। अपने इस प्रकार के कथन का वे "चक्खुञ्च पटिच्च रूपे च उप्पज्जति चक्खुविञ्ञाण[1]" – इस पालि को आधार बनाते है। वे कहते है कि चक्षु प्रसाद के लिये 'चक्खु' – इस एकवचन-प्रयोग का तथा रूप के लिये 'रूपे' – इस बहुवचन-प्रयोग का यही रहस्य है। अत उनके अनुसार चक्षु प्रसाद एक होने पर ही अपने कृत्य को सिद्ध कर सकता है तथा रूपालम्बन अनेक होने पर ही प्रादुर्भूत हो सकते है।

इसी प्रकार शब्द, गन्ध, रस एव स्प्रष्टव्य आलम्बनो के प्रादुर्भाव मे भी समझना चाहिये[2]।

उपर्युक्त टीकाकारो के इस प्रकार के मत पर तथा उनके द्वारा प्रमाणरूप में प्रस्तुत पालि पर विचार करना चाहिये।

अविनष्ट चक्षु प्रसाद के दुर्बल हो जाने पर उसके द्वारा योग्य देश मे अवस्थित भी रूपालम्बन दिखायी नही पडते, किन्तु चश्मे (उपनेत्र) की सहायता से चक्षु प्रसाद के प्रवल हो जाने पर पहले अस्पष्टरूप मे अवभासित भी वे रूपालम्बन दिखायी पड़ने लगते है। चश्मे की सहायता से रूपालम्बन का चक्षु प्रसाद मे प्रादुर्भाव हो जाता है। इसी प्रकार दूरदर्शक यन्त्र की सहायता से अत्यन्त दूरस्थ रूपालम्बन भी दिखायी पडने लगता है। यहाँ चश्मा एव दूरदर्शक यन्त्र आदि चक्षु प्रसाद के सहायक होते है। चक्षु प्रसाद एक न होकर अनेक होगे तभी वे चश्मा एव दूरदर्शक यन्त्र-आदि द्वारा दी हुई सहायता का ग्रहण कर सकेगे और अपने कृत्य के सम्पादन मे समर्थ हो सकेगे। पुनश्च – अनेक होने पर भी जब उन्हे दुर्बल होने पर रूपालम्बन का ग्रहण करने के लिये चश्मे की सहायता लेनी पडती है और दूरस्थ रूपालम्बन का ग्रहण करने के लिये दूरदर्शक यन्त्र की सहायता लेनी पडती

---

१ स० नि०, तृ० भा०, पृ० ६३।

२. "कस्मा पनेत्थ वचनभेदो कतो ति ? एक पि चक्खुविञ्ञाणस्स पच्चयो होति, रूप पन अनेकमेव सहत ति इमस्स विसेसस्स दस्सनत्थ। ... सोतञ्च पटिच्च सद्दे चा ति आदीसु पि एसेव नयो।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १२४-१२५। द्र० – विभ० अनु०, पृ० ५६-५८।

है, तब यदि चक्षु प्रसाद एक होगा तो वह उस सहायता का ग्रहण करने मे समर्थ ही कैसे होगा ? और कैसे अपने कृत्य के सम्पादन मे समर्थ ही हो सकेगा ? इस प्रकार विचार करने से चक्षु प्रसाद का अनेकत्व ही सिद्ध होता है ।

अपिच – उपर्युक्त टीकाकारो ने जिस पालि को प्रमाणरूप मे प्रस्तुत किया है वह पालि भी इस स्थल के अनुरूप नही है । उनके मतानुसार चूकि रूपालम्बन सङ्घात (समूह) रूप मे होने पर ही प्रादुर्भूत हो सकते है, अत उनका बहुवचन मे प्रयोग किया गया है । यदि बात ऐसी ही है तो "मनञ्च पटिच्च धम्मे च उप्पज्जति मनोविञ्ञाण"[1] – यहाँ भी 'धर्म' शब्द का बहुवचन मे प्रयोग होने के कारण समूहरूप मे होने पर ही धर्मालम्बन का प्रादुर्भाव होगा – ऐसा स्वीकार करना पडेगा । जब कि वस्तुस्थिति यह है कि 'चित्त' नामक धर्मालम्बन एक एक ही प्रादुर्भूत हो सकते है । इसी प्रकार चैतसिक, प्रज्ञप्ति एव निर्वाण नामक धर्मालम्बन भी एक एक ही प्रादुर्भूत हो सकते है । अतएव कहा गया है कि टीकाकारो द्वारा प्रमाणरूप मे प्रस्तुत पालि इस स्थल के अनुरूप नही है । इस प्रकार टीकाकारो की युक्ति एव प्रमाण – दोनो के निरस्त हो जाने से सिद्ध होता है कि रूप-आदि पाँच आलम्बनो के प्रादुर्भाव मे अनेक प्रसाद एव अनेक आलम्बनो का सङ्घट्टन होने पर ही 'प्रादुर्भाव' हो सकता है ।

पालि का अभिप्राय – टीकाकारो (महाटीकाकार, अनुटीकाकार-आदि) के उपर्युक्त मत से यदि सहमत नही हुआ जा सकता है तो 'चक्खुञ्च पटिच्च रूपे च उप्पज्जति चक्खुविञ्ञाण' – आदि पालि का सही अभिप्राय इस प्रकार समझना चाहिये

चक्षु प्रसाद एव रूपालम्बन की अपेक्षा करके चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति मे चक्षुप्रसाद एक सत्त्व की सन्तान मे प्रतिष्ठित होकर उस एक सन्तान मे प्रतिष्ठित विज्ञान का ही उपकार करता है । रूपालम्बन स्वसन्तान एव परसन्तान – इस प्रकार नाना सन्तानो मे प्रतिष्ठित होकर पूर्वोक्त चक्षुर्विज्ञान का उपकार करता है । एक सत्त्व की सन्तान में चक्षु प्रसाद की सङ्ख्या अनेक होने पर भी, वह एकविध (एक प्रकार का) ही होता है, तथा उस चक्षु प्रसाद मे प्रादुर्भूत होनेवाले रूपालम्बन नील, पीत-आदि भेद से अनेकविध (अनेक प्रकार के) होते है । इस प्रकार चक्षु प्रसाद का एक ही सन्तान मे प्रतिष्ठित होना, एक ही प्रकार का होना, तथा रूपालम्बन का नाना सन्तानो मे प्रतिष्ठित होना, एव नाना प्रकार का होना – ये ही वे कारण है जिनकी वजह से 'प्रसाद' के लिये 'चक्खुञ्च' – इस प्रकार एकवचन का प्रयोग तथा आलम्बन के लिये 'रूपे च' – इस प्रकार बहुवचन का प्रयोग किया गया है । 'सोतञ्च पटिच्च सद्दे च उप्पज्जति सोतविञ्ञाण' – आदि मे भी इसी प्रकार समझना चाहिये[2] ।

---

१ सं० नि०, तृ० भा०, पृ० ६४ ।

२ "चक्खुञ्च पटिच्च रूपे चा ति आदिना द्वारारम्मणेसु एकवचन-बहुवचननिद्देसा, एकनानासन्तानगत न एकसन्तानगतविञ्ञाणपच्चयभावतो एकनानाजातिकत्ता च ।" – विभ० मू० टी०, पृ० ४८ ।

विभावनीवाद – विभावनीकार का कथन है कि "गन्धालम्बन, रसालम्बन एव स्प्रष्टव्यालम्बन सङ्घातरूप मे प्रादुर्भूत नही होते, अपितु एककलापगत एक गन्धालम्बन, इसी प्रकार एक रसालम्बन एव एक स्प्रष्टव्यालम्बन भी एक एक कलाप मे अवस्थित हो कर ही अपने अपने सम्बद्ध प्रसाद मे प्रादुर्भूत होते है[1] ।"

"विभावनी' का यह वाद "सोतञ्च पटिच्च सद्दे चाति आदीसु पि एसेव नयो[2]" -इत्यादि प्रकार की टीकाओ से न केवल विरुद्ध ही होता है, अपितु अयुक्तिपूर्ण भी है । इसकी असारता अत्यन्त स्पष्ट स्प्रष्टव्यालम्बन के उदाहरण मे मीमासा करके देखी जा सकती है ।

यह ज्ञात ही है कि सूर्य की किरणो मे प्राकृत चक्षुष् से भी दिखायी पडनेवाले सूक्ष्म रज कणो का शरीर पर निरन्तर पात होता रहता है । ये रज कण अनेक रूप-कलापो के पुञ्जीभूत द्रव्य होते है । इस प्रकार के अनेक रज कणो का शरीर के साथ निरन्तर घट्टन होते रहने पर भी उनसे कायविज्ञानवीथि का उत्पाद नही होता । जब अनेक रूपकलापो के समूहभूत रज कणो के स्पर्श का भी बोध नही हो पाता तब एक स्प्रष्टव्यालम्बन से कायविज्ञानवीथि का उत्पाद कैसे होगा ? – इस पर स्वय विचार किया जा सकता है । अत 'विभावनी' के उपर्युक्त वाद को स्वीकार न कर 'गन्ध-आदि आलम्बन भी सङ्घातरूप मे ही अपने सम्बद्ध द्वारो मे प्रादुर्भूत हो सकते है' – ऐसा मानना चाहिये ।

अनेकविध आलम्बन होने पर भी एक का ही प्रादुर्भाव – एक ऐसे उत्सव मे जहाँ सुन्दर नृत्य, मधुर सङ्गीत एव वाद्यवादन हो रहा है, शीतल मन्द सुगन्धित वायु बह रही है तथा मिष्टान्न भोजन हो रहा है, यहाँ पाँचो आलम्बन अपने सम्बद्ध प्रसादो के उपचार मे उपस्थित है । यह तो मान्य है कि उस समय चित्त एक काल मे एक ही आलम्बन का ग्रहण करता है, किन्तु प्रश्न यह है कि वह पहले किस आलम्बन का ग्रहण करेगा तथा आलम्बन से आलम्बनान्तर मे कैसे सङ्क्रमण करेगा ?

उत्तर – उपर्युक्त प्रकार की परिस्थिति मे चित्त पुद्गल के अध्याशय के अनुसार तथा आलम्बन की शक्ति के आधिक्य के अनुसार आलम्बन का 'प्रथम ग्रहण' भी करता है तथा आलम्बन से आलम्बनान्तर मे सङ्क्रमित भी होता है[3] ।

स्पष्टीकरण – यदि पुद्गल का अध्याशय (रुचि) रूपालम्बन मे होता है तो सर्वप्रथम रूपालम्बन का प्रादुर्भाव होता है तथा चित्त सर्वप्रथम रूपालम्बन का ही

---

१ "सेसानि पन घानादिनिस्सयेसु अल्लीनानेव विञ्ञाणुप्पत्तिकारणानीति एकेककलापगतानि पि, एकेककलापगता पि हि पसादा विञ्ञाणस्स आधार-भाव गच्छन्ति ।" – विभा०, पृ० १०७ ।

२. द्र० – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १२४-१२५; विभ० मू० टी०, पृ० ४८, विभ० अनु०, पृ० ५६-५८ ।

३ "कथ पन चित्तस्स आरम्मणतो सङ्कन्ति होतीति ? द्वीहाकारेहि होति – अज्झासयतो वा, विसयाधिमत्ततो वा ।" – अट्ठ०, पृ० २६८ ।

आलम्बन करता है । नानाविध रूपालम्बनो के उपस्थित होने पर भी जिस रूपालम्बन मे अध्याशय प्रबल होता है, सर्वप्रथम उसी रूपालम्बन का प्रादुर्भाव होता है । शब्दालम्बन-आदि मे भी अध्याशय के अनुसार ही इष्ट आलम्बन का सर्वप्रथम ग्रहण होता है। तथा – अध्याशय के पनुसार ही आलम्बन से आलम्बनान्तर मे सङ्क्रमण होता है । यदि किसी आलम्बन के प्रति विशेष अध्याशय नही होता है तो आलम्बन-शक्ति की तीक्ष्णता-मन्दता के अनुसार प्रबल शक्तिवाले आलम्बन का पहले तथा मन्द शक्तिवाले आलम्बन का पीछे ग्रहण होता है। इसी प्रकार (विशेष अध्याशय न होने पर आलम्बन की शक्ति के अनुसार ही) आलम्बन से आलम्बनान्तर मे सङ्क्रमण भी होता है ।

एकचित्तक्खणातीतानि...ठितिप्पत्तानेव – रूपालम्बन-आदि पाँच आलम्बन जब अपने सम्बद्ध द्वार मे प्रादुर्भूत होते है तब उनका उत्पाद अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक होने के कारण वे अपने उत्पादक्षण मे ही प्रादुर्भूत नही हो पाते, अपितु स्थितिक्षण को प्राप्त होकर ही प्रादुर्भूत हो पाते है ।

कुछ विद्वान् कहते है, चूकि रूपी धर्म स्थिति-क्षण मे ही 'पच्छाजातपच्चय' (पश्चाज्जातप्रत्यय) द्वारा उपकार प्राप्त करते है तथा उस प्रत्यय की वजह से प्रबल होते है अत रूपी धर्मो मे सङ्गृहीत होनेवाले पञ्चालम्बन स्थितिक्षण को प्राप्त होकर ही सम्बद्ध द्वार मे प्रादुर्भूत हो पाते है ।

यह ठीक है कि रूपी धर्म स्थितिक्षण मे 'पच्छाजातपच्चय' द्वारा उपकार प्राप्त कर प्रबल होते है, किन्तु उनके इस प्राबल्य का आलम्बन के प्रादुर्भाव में कोई उपयोग नही है । वह (प्राबल्य) तो केवल स्थितिक्षण मे रूपालम्बन को दृढ करके रूपसन्तति का उपकार करने मे सामर्थ्यमात्र है। अविज्ञानक (अचेतन=निर्जीव) आलम्बन एव असञ्ज्ञिभूमि के ब्रह्माओ के रूपालम्बन 'पच्छाजातपच्चय' के उपकार को प्राप्त न करके भी अपने सम्बद्ध प्रसाद मे भलीभाँति प्रादुर्भूत हो सकते है । 'विपस्सनाकम्मट्ठान' करनेवाले योगी के मनोद्वार मे, उत्पादक्षण मे भी रूपधर्मो का प्रादुर्भाव हो सकता है[1] । अत आलम्बन के प्रादुर्भाव मे 'पच्छाजातपच्चय' का उपकार उपयोगी शक्ति नही है[2] ।

आलम्बन एवं द्वार से अतिरिक्त अन्य कारण – पञ्चद्वार मे इन पाँच आलम्बनो के प्रादुर्भूत होने मे आलम्बन एव द्वार मात्र होने से ही प्रादुर्भाव नही हो जाता; अपितु अन्य कारण भी अपेक्षित होते है । चक्षुर्द्वार मे, आलोक होने पर ही प्रादुर्भाव हो सकता है । श्रोत्रद्वार मे, आकाश होने पर ही प्रादुर्भाव हो सकता है, क्योकि आकाश न होने पर अथवा अङ्गुलि द्वारा कर्णच्छिद्र को बन्द कर देने पर शब्द का श्रवण नही होता । गन्धद्वार मे, वायु होने पर ही प्रादुर्भाव हो सकता है, वायु के अभाव मे गन्ध उपस्थित होने पर भी वह घ्राणप्रसाद तक पहुँच नही पाता । जिह्वाप्रसाद मे, अप्-धातु होने पर ही प्रादुर्भाव हो सकता है, किसी शुष्क पदार्थ को जिह्वा पर रख देने पर भी, जबतक जिह्वा से तरल पदार्थ का नि सरण नही होता तबतक, उसके रस की अनुभूति नही होती । कायद्वार मे, पृथ्वीधातु होने पर ही

१ द्र० – अभि० स० ६ ५५ की व्याख्या । २. तु० – प० दी०, पृ० १२६ ।

प्रादुर्भाव होता है । जब स्प्रष्टव्यालम्बन का कायद्वार मे सङ्घट्टन होता है तब उसका न केवल कायप्रसाद मे ही, अपितु कायप्रसाद के आश्रयभूत महाभूतो मे भी सङ्घट्टन होता है । आश्रयभूत उन महाभूतो मे पृथ्वीधातु प्रधान होती है, अत कायद्वार मे स्प्रष्टव्यालम्बन के प्रादुर्भूत होने मे पृथ्वीधातु आवश्यक (महत्वपूर्ण) उपकार प्रदान करती है[1]।

चक्षुप्रसाद, रूपालम्बन, आलोक एव मनसिकार – इन चतुर्विध प्रत्ययो के सम्पन्न होने पर ही चक्षुर्विज्ञान की उत्पत्ति होती है । इसी प्रकार श्रोत्रप्रसाद, शब्दालम्बन, आकाश एव मनसिकार होने पर श्रोत्रविज्ञान की, घ्राणप्रसाद, गन्धालम्बन, वायु एव मनसिकार होने पर घ्राणविज्ञान की, जिह्वाप्रसाद, रसालम्बन, अप्-धातु एव मनसिकार होने पर जिह्वाविज्ञान की, तथा कायप्रसाद, स्प्रष्टव्यालम्बन, पृथ्वीधातु एव मनसिकार होने पर कायविज्ञान की उत्पत्ति होती है ।

यहाँ चक्षुर्विज्ञान-आदि विज्ञानो के उत्पत्ति-कारणो को दिखाया गया है । इनमे से 'मनसिकार' नामक आवर्जन केवल चक्षुर्विज्ञान आदि के उत्पाद की कारण-सामग्री मे ही सम्मिलित होता है, वह पञ्चद्वार मे पञ्च-आलम्बनो के प्रादुर्भूत होने मे कारण नही होता ।

उपर्युक्त कथन के अनुसार अपने उत्पाद से सम्बद्ध सभी कारणो के प्रबल होने पर, रूपालम्बन एकचित्तक्षण (तीन क्षुद्रक्षण) अतीत होने पर ही प्रादुर्भूत होता है । प्रसाद, आलोक आलम्बन-आदि कारणो मे से कोई एक, दो या सभी दुर्बल होते हैं तो दो, तीन, चार, पाँच-आदि अनेक चित्तक्षण अतीत होनेपर, स्थितिक्षण को प्राप्त रूपालम्बन का ही प्रादुर्भाव होता है[2] ।

मूलटीकाचार्य ने 'उत्पादक्षण मे भी आलम्बन का प्रादुर्भाव हो सकता है[3]' –

---

१ "एत्थ च चक्खुस्स असम्भिन्नता, आलोकसन्निस्सयप्पटिलाभो, रूपान आपातागमन, मनसिकारो ति चत्तारो पच्चया चक्खुविञ्ञाणस्स उप्पत्तिकारणानि । सोतस्स असम्भिन्नता, आकाससन्निस्सयप्पटिलाभो, सद्दान आपातागमन, मनसिकारो ति सोतविञ्ञाणस्स । घानस्स असम्भिन्नता, वायुसन्निस्सयप्पटिलाभो, गन्धान आपातागमन, मनसिकारो ति घानविञ्ञाणस्स । जिव्हाय असम्भिन्नता, आपोसन्निस्सयप्पटिलाभो, रसान आपातागमन, मनसिकारो ति जिव्हाविञ्ञाणस्स । कायस्स असम्भिन्नता, पठवीसन्निस्सयप्पटिलाभो, तिण्ण फोट्ठब्बान अञ्ञतरस्स आपातागमन, मनसिकारो ति कायविञ्ञाणस्सा ति । एत्थ च आलोक-आकासादीन सन्निस्सयान गहण, तेहि विना रूपादीन पसादेसु आपातागमनस्सेव अभावतो ति दट्ठब्ब । न हि आलोके सति रूपानि सन्निहिता पि चक्खुम्हि आपातमागच्छन्ति । एस नयो सेसेसुपीति ।" – प० दी०, पृ० ३४-३५ । द्र० – अट्ठ०, पृ० २२७–२२८ ।

२ "रूपधम्मान पन रूपधम्मेस्वेव आपातागमने थोक बलवन्ता इच्छितब्बा, ते च ठितिक्खणे येव परिपुण्णपच्चयुपलद्धा हुत्वा बलवन्ता होन्तीति वुत्त – 'ठितिप्पत्तानेवा' ति ।" – प० दी०, पृ० १२७ ।

३ विभ० मू० टी०, पृ० २१ ।

अतिमहन्तारमणवीथि

११ **तस्मा, यदि एकचित्तक्खणातीतकं* रूपारमणं चक्खुस्स आपातमागच्छति, ततो द्विक्खत्तुं भवङ्गे चलिते भवङ्गसोतं वोच्छिन्दित्वा† तमेव रूपारमणं आवज्जन्तं‡ पञ्चद्वारावज्जनचित्तं उप्पज्जित्वा निरुज्झति। ततो**

इसलिये, जिसका एक चित्तक्षण अतीत हो गया है – ऐसा रूपालम्बन यदि चक्षु.प्रसाद मे अभिनिपात (प्रादुर्भाव) को प्राप्त होता है तो इस प्रकार अभिनिपतित (प्रादुर्भूत) होने से दो बार भवङ्ग के चलित होने पर भवङ्गस्रोत को विच्छिन्न करके उसी रूपालम्बन का आवर्जन करते हुए की तरह पञ्चद्वारावर्जनचित्त उत्पन्न होकर निरुद्ध होता है। उसके निरुद्ध

ऐसा माना है, फिर भी यहाँ मूलपालि मे जो 'एकचित्तक्खणातीतानि वा बहुचित्तक्खणातीतानि व।' – ऐसा कहा गया है, वह विषय को सर्वजनवेद्य (बोधगम्य) बनाने के लिये ही कहा गया है – ऐसा प्रतीत होता है, क्योकि स्वभाव (परमार्थ) धर्मो की उत्पत्ति पर विचार करने से ज्ञात होता है कि कुछ अतिप्रबल महद्-आलम्बन (महन्तालम्बन) अपने उत्पाद के अव्यवहित अनन्तर ही अर्थात् एकचित्तक्षण (तीन क्षुद्रक्षण) अतीत होने के पूर्व ही, लगभग द्वितीय क्षुद्रक्षण के काल मे भी प्रादुर्भूत हो सकते हैं।

[किसी एक रूपालम्बन को ध्यानपूर्वक बहुत देर तक देखते समय दर्शनकाल मे भी वह (रूपालम्बन) उत्पाद-स्थिति-भङ्ग रूप मे पुन पुन प्रवृत्त होता रहता है। इस अवस्था मे उस रूपालम्बन का अपने उत्पाद या भङ्गक्षण मे प्रादुर्भाव न हो सकने पर भी स्थितिक्षण मे तो उसका प्रादुर्भाव होना ही चाहिये। अत चक्षु प्रसाद एव आलोक-आदि कारणो के सम्पन्न होने पर अतिप्रबल महद्-आलम्बन[1] का अपने उत्पाद के अनन्तर ही द्वितीय क्षुद्रक्षण के काल मे प्रादुर्भाव होगा ही'।]

पञ्चारमणानि पञ्चद्वारे – रूपालम्बन चक्षुर्द्वार मे, शब्दालम्बन श्रोत्रद्वार मे, गन्धालम्बन घ्राणद्वार मे, रसालम्बन जिह्वाद्वार मे तथा स्प्रष्टव्यालम्बन कायद्वार मे – इस प्रकार पञ्च आलम्बन पञ्च द्वारो मे यथाक्रम प्रादुर्भूत होते हैं।

तदालम्बनवार चक्षुर्द्वारिक

अतिमहद्-आलम्बनवीथि

११. ततो द्विक्खत्तुं भवङ्गे चलिते – चक्षुर्द्वार मे रूपालम्बन का प्रादुर्भाव हो जाने पर भवङ्ग का दो बार चलन होता है। यहाँ 'चलन' शब्द द्वारा 'भवङ्ग कम्पित

---

* एकचित्तक्खणातीत – स्या०। † विच्छिन्दित्वा – स्या०, रो०।

‡ आवज्जेन्त – सी० ना०।

१ "'एव' सद्देन टीकाकारस्स वाद नीवारेति, सो हि उप्पज्जमानमेव रूप पसादे घट्टेतीति इच्छतीति।" – प० दी०, पृ० १२७।

तस्सानन्तरं तमेव रूपं पस्सन्तं चक्खुविञ्ञाणं, सम्पटिच्छन्तं सम्पटिच्छनचित्तं, सन्तीरयमानं* सन्तीरणचित्तं, ववट्ठपेन्तं† वोट्ठपनचित्तञ्चेति‡ यथाक्कमं उप्पज्जित्वा निरुज्झन्ति ।

हो जाने से उस पञ्चद्वारावर्जनचित्त के अनन्तर उसी रूपालम्बन को देखता हुआ चक्षुर्विज्ञानचित्त, सम्यग् ग्रहण करते हुए की तरह सम्पटिच्छनचित्त, सम्यग् विचार करते हुए की तरह सन्तीरणचित्त, सम्यग् व्यवस्थापन करते हुए की तरह वोट्ठपनचित्त – इस प्रकार (ये चित्त) यथाक्रम उत्पन्न होकर निरुद्ध होते हैं ।

होता है' – ऐसा नहीं समझना चाहिये । भवङ्गचित्त पहले से ही कर्म कर्मनिमित या गतिनिमित्त – इनमें से किसी एक का आलम्बन कर रहा होता है, उसी समय चक्षुर्द्वार में अभिनव आलम्बन के प्रादुर्भूत हो जाने पर 'इस अभिनव आलम्बन का ग्रहण करूँ या पूर्वगृहीत आलम्बन का ही दृढतापूर्वक ग्रहण किये रहूँ' – इत्यादि रूप से उसमें द्वैविध्य, अशान्ति या विकार उत्पन्न होता है और इसी को 'भवङ्गचलन' कहा गया है[1] ।

भवङ्गचलनसम्बन्धिनी परिपृच्छा – रूपालम्बन का चक्षुप्रसाद में सङ्घट्टन होने पर हृदयवस्तु का आश्रय करनेवाला भवङ्गचित्त क्यों चलित हो जाता है ? चक्षुप्रसाद चक्षुपिण्ड में अवस्थित रहता है और हृदयवस्तु हृदयप्रदेश में अवस्थित रहती है – इस प्रकार ये दोनों परस्पर दूर दूर अवस्थित रहते हैं । भवङ्गचलन भी, जिस काल में रूपालम्बन-आदि का प्रादुर्भाव होता है, उसी काल में (तत्समकाल) होता है – ऐसी

---

* सन्तीरणम्मान – रो० ।

† ववत्थपेन्त – सी०, रो०, ना०, म० (ख०) ।

‡ वोत्थपन० – सी० (सर्वत्र); वोट्ठब्बन० – म० (ख) (सर्वत्र) ।

१ "चलनञ्चेत्थ यथागहित कम्मादि-आरम्मण मुञ्चित्वा इदानि अत्तनि आपात आगच्छन्त अभिनवारम्मण गहेतु उस्साहजातस्स विय भवङ्गसन्तानस्स विकारप्पत्ति दट्ठब्ब ।" – प० दी०, पृ० १३० ।

"एव पवत्ते पन भवङ्गसन्ताने, यदा सत्तान इन्द्रियानि आरम्मणगहणक्खमानि होन्ति, तदा चक्खुस्सापाथगते रूपे रूप पटिच्च चक्खुपसादस्स घट्टना होति, ततो घट्टनानुभावेन भवङ्गचलन होति ।" – विसु०, पृ० ३२० ।

"'भवङ्गचलन' ति भवङ्गचित्तस्स पकम्पन, तथा द्विक्खत्तु पवत्तिया विसदिसस्स कारणभावूपगमन ति अत्थो । त हि चित्तसन्तानस्स पुरिमावत्थाय भिन्नावत्थाहेतुताय चलन विया ति चलन ति अत्थो ।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १३२ ।

"'द्विक्खत्तु भवङ्गे चलिते' ति विसदिसविञ्ञाणुप्पत्तिहेतुभावसङ्खातभवङ्गचलनवसेन पुरिमग्गहितारम्मणस्मि येव द्विक्खत्तु भवङ्गे पवत्ते ।" – विभा०, पृ० १०७ ।

स्थिति मे, चक्षु·प्रसाद मे रूपालम्बन के प्रादुर्भाव से हृदयवस्तु मे आश्रित भवङ्ग कैसे चलित हो जाता है ?

उत्तर – चक्षु प्रसाद मे रूपालम्बन का सङ्घट्टन होने पर 'मनोद्वार' नामक भवङ्गचित्त मे भी तत्समकाल ही उस आलम्बन का प्रादुर्भाव हो जाता है, जैसे – किसी वृक्ष पर किसी पक्षी के बैठने के काल मे उसका वृक्ष-शाखा-आदि मे घट्टन भी होता है तथा उसी काल में पृथ्वी पर उसकी छाया का भी प्रादुर्भाव होता है, उसी प्रकार चक्षु प्रसाद मे रूपालम्बन का सङ्घट्टन होने पर तत्समकाल ही भवङ्गचित्त मे भी उसका प्रादुर्भाव होने से 'भवङ्गचलन' होता है[1], यथा –

"एकेक आरम्मण द्वीसु द्वीसु द्वारेसु आपाथमागच्छति। रूपारम्मण हि चक्खुप्पसाद घट्टेत्वा तङ्खण येव मनोद्वारे आपाथमागच्छति, भवङ्गचलनस्स पच्चयो होतीति अत्थो[2]।"

[रूप-आदि पाँच आलम्बनो के दो दो द्वारो (पञ्चद्वार एव मनोद्वार) मे प्रादुर्भूत होने पर भी, प्रस्तुत ग्रन्थ मे मनोद्वार के, सभी आलम्बनो से सम्बद्ध होने के कारण, 'आलम्बन मनोद्वार मे प्रादुर्भूत होता है' – ऐसा विशेषरूप से न कहा जाकर असाधारण द्वार से परिच्छिन्न करके, असाधारण नय से 'रूपालम्बन चक्षुर्द्वार मे प्रादुर्भूत होता है' – इस प्रकार कहा गया है ।]

दूसरी उपमा – जैसे किसी भेरी (वाद्यविशेष) के तल पर शर्करा के दो कण दूर दूर पडे हुए है उनमे से एक कण के ऊपर मक्खी के बैठने पर यदि दूसरे कण का अङ्गुलि-आदि द्वारा ताडन किया जाता है तो भेरी-तल से सम्बद्ध होने के कारण दूरस्थ दूसरे कण पर स्थित मक्खी उड जाती है, उसी प्रकार प्रसाद एव (भवङ्ग की आश्रयभूत) हृदयवस्तु के परस्पर समीपस्थ न होने पर भी, धातु-स्वभाव से एक साथ सम्बद्ध होने के कारण, प्रसाद मे आलम्बन का सङ्घट्टन होने पर हृदय मे आश्रित भवङ्ग भी चलित हो जाता है, यथा –

"भेरीतले ठपितासु सक्खरासु एकिस्सा सक्खराय घट्टिताय तदञ्ञसक्खराय ठितमक्खिकाचलनञ्चेत्थ उदाहरण ति[3] ।"

'सच्चसङ्खेप' नामक ग्रन्थ मे भी यही आशय व्यक्त है । यथा –

"घट्टिते अञ्ञवत्थुम्हि अञ्ञनिस्सितकम्पन ।
एकाबद्धेन होतीति सक्खरोपमया वदे[4] ॥"

---

१ द्र० – "तथा हि सकुणो आकासेनागन्त्वा रुक्खग्गे निलीयमानो व रुक्खसाखञ्च घट्टेति, छाया चस्स पठविय पटिहञ्ञति । साखाघट्टनछायाफरणानि अपुब्ब अचरिम एकक्खणे येव भवन्ति, एव पच्चुप्पन्नरूपादीन चक्खुप्पसादादिघट्टनञ्च भवङ्गचलनसमत्थताय मनोद्वारे आपातागमनञ्च अपुब्ब अचरिम एकक्खणे येव होती ति ।" – प० दी०, पृ० १३१, अट्ठ०, पृ० ६० ।

२ अट्ठ०, पृ० ६० ।

३. विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १३२ ।

४ सच्च० १७६ का०, पृ० १३ ।

विभावनीवाद—रूपालम्बन-आदि का जब चक्षु प्रसाद-आदि मे सङ्घट्टन होता है तब उनका उन चक्षु प्रसाद-आदि के आश्रयभूत महाभूतो से भी सङ्घट्टन होता है। उन महाभूतो से सङ्घट्टन होने पर, उनसे सन्निकृष्ट स्थित (सटी हुई) अन्य महाभूतसन्तति से भी सङ्घट्टन होता है और इस प्रकार महाभूत-परम्परा से घट्टन होते होते यह (घट्टन) हृदयवस्तु के आश्रयभूत महाभूतो तक पहुँच जाता है। हृदयवस्तु के आश्रयभूत महाभूतो के घट्टित होने पर उस (हृदयवस्तु) मे आश्रित भवङ्ग का भी चलन हो जाता है; जैसे—भेरी-चर्म के तल पर पडे हुए शर्करा-कण पर मक्खी के बैठने पर यदि उसके दूसरे तल पर दण्ड-आदि से प्रहार किया जाता है तो भेरी के चर्म, आरत्त (रज्जु)-आदि के कम्पित (चलित) हो जाने से और अनुक्रम से उस कम्पन के मक्षिका द्वारा अधिष्ठित प्रदेश तक चले जाने पर मक्षिका का 'उड जाना' होता है, उसी प्रकार रूपालम्बन-आदि द्वारा प्रसाद के घट्टित होने पर, उन प्रसादो के आश्रयभूत महाभूत भी घट्टित हो जाते हैं। उन महाभूतो चलित हो जाने पर अनुक्रम से उनसे सम्बद्ध शेष सभी रूपो के चलित हो जाने से (महाभूत सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त हैं, अत) हृदयवस्तु का भी चलन हो जाता है और हृदयवस्तु के चलित हो जाने से उसमे आश्रित भवङ्ग की चलनाकार प्रवृत्ति होती है[1]।

विभावनीकार ने अपनी यह उपमा 'सच्चसङ्खेप' नामक ग्रन्थ से ली है और उपमा के अन्त मे उन्होने 'सच्चसङ्खेप' की गाथा का उल्लेख भी किया है। 'सच्च-सङ्खेप' और 'विसुद्धिमग्ग-महाटीका' के रचयिता एक ही आचार्य है। इन दोनो ग्रन्थो मे स्पष्टतया उल्लिखित है कि 'भेरी के जिस पृष्ठ (तल) पर शर्करा-कण के ऊपर मक्षिका बैठी है, उसी पृष्ठ पर किसी अन्य जगह दण्ड-आदि से प्रहार करने पर जैसे मक्षिका उड जाती है '—इत्यादि। किन्तु आचार्य (विभावनीकार) यहाँ भेरीचर्म के दो पृष्ठो का उल्लेख कर, एक पृष्ठ पर प्रहार से दूसरे पृष्ठ पर स्थित मक्षिका के उडने का उल्लेख करते हैं, जो आचार्य की असावधानी ही कही जायेगी। अपिच—अपने उदाहरण द्वारा उन्होने सिद्ध किया है कि 'रूपालम्बन-आदि का चक्षु-प्रसाद-आदि मे सङ्घट्टन होने पर उनके (प्रसाद के) आश्रयभूत महाभूतो के भी घट्टित हो जाने से और अनुक्रम से महाभूतो की घट्टन-परम्परा से हृदयवस्तु के भी घट्टित हो जाने पर उस (हृदयवस्तु) मे आश्रित भवङ्ग का चलन होता है'—उनका यह कथन

१ "ननु च रूपादिना पसादे घट्टिते तनिस्सितस्सेव चलन युत्त, कथ पन हदयवत्थुनिस्सितस्स भवङ्गस्सा ति ? सन्ततिवसेन एकाबद्धत्ता, यथा हि—भेरिया एकस्मि तले ठितसक्खराय मक्खिकाय निसिन्नाय अपरस्मि तले दण्डादिना पहटे अनुक्कमेन भेरीचम्मारत्तादीन चलनेन सक्खराय चलिताय मक्खिकाय उप्पतित्वा गमन होति। एवमेव रूपादीन पसादे घट्टिते तनिस्सयेसु महाभूतेसु चलितेसु अनुक्कमेन तसम्बन्धान सेसरूपान पि चलनेन हदयवत्थुम्हि चलिते तनिस्सितस्स भवङ्गस्स चलनाकारेन पवत्ति होति। वुत्तञ्चेत—

'घट्टिते अञ्ञवत्थुम्हि, अञ्ञनिस्सिकम्पन।
एकाबद्धेन होतीति, सक्खरोपमया वदे॥'"—विभा०, पृ० १०८।

भी परमाथ-स्वभाव से बहुत दूर है, क्योकि पलकमात्र मे जब वीथिचित्त कोटिशतसहस्र वार प्रवृत्त हो जाते है तो महाभूत-परम्परा से, घट्टन के, हृदयवस्तु तक पहुँचने मे कितने वीथिचित्त उत्पन्न हो जायेगे ! अत विभावनीकार का महाभूत-परम्परा से भवङ्गचलन का सिद्धान्त युक्तिसिद्ध प्रतीत नही होता ।

प्रश्न—उपर्युक्त कथन के अनुसार 'मनोद्वार' नामक भवङ्ग मे आलम्बन के प्रादुर्भूत होने से 'भवङ्गचलन' होता है तो क्यो एक वार भवङ्गचलन होकर नही; अपितु दो वार (भवङ्गचलन) होकर भवङ्गसन्तति विच्छिन्न होती है?

अभिनव आलम्बन के प्रादुर्भाव से पूर्व विद्यमान भवङ्गसन्तति, जब नव आलम्बन का प्रादुर्भाव होता है तब, एकाएक विच्छिन्न होने मे असमर्थ होती है, अत पूर्वगृहीत आलम्बन मे ही दो वार भवङ्गचलन होने के अनन्तर भवङ्गसन्तति का विच्छेद होता है, जैसे—वेग से दौडनेवाले पुरुष का, अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेने पर भी, एकाएक अवरोध न हो सकने के कारण 'एक दो कदम आगे दौडना' होता है। यथा—

"यथा वेगेन धावन्तो ठातुकामो न तिट्ठति ।
एव द्विक्खत्तु भवङ्ग उप्पज्जित्वा व छिज्जति[1] ।।"

भवङ्गचलन एवं भवङ्गोपच्छेद—"द्विक्खत्तु भवङ्गे चलिते" तथा "द्वे भवङ्गचलनानि"—इस प्रकार कहनेवाले आचार्य, अट्ठकथाचार्य की भाँति, चलित होनेवाले दोनो भवङ्गो (भवङ्गचलन और भवङ्गोपच्छेद) को 'भवङ्गचलन' तथा आवर्जन को 'भवङ्गोपच्छेद'—यह नाम देना चाहते है[2] ।

यह ठीक है कि "भवङ्गसोत वोच्छिन्दित्वा तमेव रूपारमण आवज्जन्त पञ्चद्वारावज्जनचित्त"—इस मूलपालि मे 'वोच्छिन्दित्वा' का कर्त्ता पञ्चद्वारावर्जनचित्त है तथा "पञ्च रूपावचरानि चत्तारि च अरूपावचरानि अत्तना दिन्नपटिसन्धितो उद्ध असति भवङ्गुपच्छेदके चित्तुप्पादे भवङ्गकिच्च, अन्ते चुतिकिच्चञ्चा ति किच्चद्वय साधयमानानि पवत्तन्ति[3]"—इसमे 'असति भवङ्गुपच्छेदके चित्तुप्पादे' द्वारा आवर्जन को ही 'भवङ्गोपच्छेद' कहा गया है, क्योकि आवर्जनचित्त ही भवङ्गसन्तति का उपच्छेद करता है,

---

१ विभा०, पृ० १०७।

२ "तदा चक्खुस्सापाथगते रूपे रूप पटिच्च चक्खुपसादस्स घट्टना होति । ततो घट्टनानुभावेन भवङ्गचलन होति । अथ निरुद्धे भवङ्गे, तदेव रूप आरम्मण कत्वा, भवङ्ग विच्छिन्दमाना विय आवज्जनकिच्च साधयमाना किरियमनोधातु उप्पज्जति । सोतद्वारादिसु पि एसेव नयो । मनोद्वारे पन छब्बिधे पि आरम्मणे आपाथगते भवङ्गचलनानन्तर भवङ्ग विच्छिन्दमाना विय आवज्जनकिच्च साधयमाना अहेतुककिरियमनोविञ्ञाणधातु उप्पज्जति उपेक्खासहगता ति—एवं द्विन्न किरियविञ्ञाणान आवज्जनवसेन पवत्ति वेदितब्बा ।"—विसु०, पृ० ३२० ।
विस्तार के लिये द्र०—अट्ठ०, पृ० २१७–२१८ ।

३ विभ० अ०, पृ० १५६ ।

१२ ततो परं एकूनतिंसकामावचरजवनेसु* यं किञ्चि लद्धपच्चयं† येभुय्येन

उस वोट्ठपनचित्त के अनन्तर २९ कामावचर जवनचित्तो मे से कोई एक जवन (योनिशोमनसिकार-आदि) प्रत्ययो को प्राप्त होकर प्रायः सात

अत वही 'भवङ्गोपच्छेद' है (अट्ठकथा के अनुसार 'भवङ्ग उपच्छिन्दतीति भवङगुपच्छेदो' —ऐसा विग्रह करना चाहिये) तथापि अर्थात् अट्ठकथाओ मे चलित होनेवाले दोनो भवङ्गो का 'भवङ्गचलन' एव आवर्जन का 'भवङ्गोपच्छेद' यह नामकरण किया जाने पर भी टीकाकारो से लेकर प्रारब्ध आचार्यपरम्परा द्वारा द्वितीय भवङ्गचलन का ही 'भवङ्गोपच्छेद'—यह नाम दिया जाने से, तथा आज कल भी वही नाम प्रचलित होने से, यहाँ वीथि मे द्वितीय भवङ्गचलन का ही 'भवङ्गोपच्छेद'—इस नाम से व्यवहार किया जायेगा[1]।

'चलतीति चलन, भवङ्गञ्च त चलनञ्चाति भवङ्गचलन' चलनेवाले भवङ्ग को ही 'भवङ्गचलन' कहते है। 'उपच्छिज्जतीति उपच्छेदो, भवङ्गञ्च त उपच्छेदो चा ति भवङ्गुपच्छेदो' उच्छिन्न होनेवाले भवङ्ग को ही 'भवङ्गोपच्छेद' कहते हैं। (आवर्जन, सम्पटिच्छन, सन्तीरण, वोट्ठपन, जवन एव तदालम्बन के शब्दार्थ एव अभिप्राय तृतीय परिच्छेद मे कहे जा चुके है।)

ववट्ठपेन्तं वोट्ठपनचित्तं—इस स्थल पर कही 'वोट्ठपन' कही वोत्थपन' और कही 'वोट्ठब्बन'—इस प्रकार तीन पाठ उपलब्ध होते हैं। यहाँ 'ववट्ठपेन्त' या 'ववत्थपेन्त'—ये दो शब्द वोट्ठपन-आदि शब्दो के मूल को दिखानेवाले है। यदि 'ववट्ठपेन्त'—यह मूल होता है तो 'वि' और 'अव' उपसर्गपूर्वक 'ठा' धातु मे 'णापे' और 'यु' प्रत्यय के योग से 'वोट्ठपन' शब्द सिद्ध होता है। तथा यदि 'ववत्थपेन्त'—यह मूल होता है तो 'वि' और 'अव' उपसर्गपूर्वक 'थप' धातु मे 'यु' प्रत्यय के योग से 'वोत्थपन' शब्द निष्पन्न होता है। इस प्रकार ये दोनो शब्द सिद्ध हो जाते है। 'वोट्ठब्बन' मे 'थप' धातु के 'थ' के स्थान मे 'ठ' आदेश करके तथा उसका द्वित्व करके और 'प' के स्थान मे 'ब' आदेश करके और उसका भी द्वित्व करके किसी तरह 'वोट्ठब्बन' शब्द भी सिद्ध किया जा सकता है, तथापि यह पाठ प्रामाणिक प्रतीत नही होता।

१२. एकूनतिंस लद्धपच्चयं—वोट्ठपनचित्त का निरोध होने के अनन्तर जब जवनचित्तो का वेग से गमन (जवन) होता है तब चूंकि रूपालम्बन, कामालम्बन होता है अत कामजवन ही वेग से जवित होते है। महग्गत एव लोकोत्तर जवनो द्वारा

---

* एकूनतिंस०—म० (क)।

† लद्धप्पच्चय—सी०, ना०।

१ "तत्थ पठमचित्त भवङ्गसन्तति चालेन्त विय उप्पज्जतीति भवङ्गचलन। दुतिय तस्स ओच्छिज्जनाकारेन उप्पज्जनतो भवङगुपच्छेदो ति वोहरन्ति। इध पन अविसेसेन वुत्त—'द्विक्खत्तु भवङ्गे चलिते' ति।"—विभा०, पृ० १०७-१०८, प० दी०, पृ० १३०।

सत्तक्खत्तुं जवति*, जवनानुबन्धानि च द्वे तदारमणपाकानि† यथारहं पवत्तन्ति । ततो परं भवङ्गपातो‡ ।

वार वेगपूर्वक गमन (जवन) करता है । उस जवन का ही अनुगमन करनेवाले तदालम्बनचित्त दो वार यथायोग्य प्रवृत्त होते हैं । उस (द्वितीय तदालम्बन) के अनन्तर भवङ्गपात होता है ।

कामधर्मो का आलम्बन न किया जा सकने के कारणो का ज्ञान 'आलम्बनसङ्ग्रह' मे कथित विधि से करना चाहिये[1], अत वे (महग्गत एव लोकोत्तर जवन) यहाँ (पञ्चद्वारवीथि मे) जवित नही होते । कामजवनो के वेग से जवित होने मे भी यहाँ सभी २९ कामजवनो का वेग से गमन नही होता, अपितु उनमे से यथानुकूल किसी एक का ही जवन होता है ।

"योनिसो भिक्खवे ! मनसिकरोतो अनुप्पन्ना चेव कुसला धम्मा उप्पज्जन्ति उप्पन्ना च कुसला धम्मा भावनाय पारिपूरिं गच्छन्ति[2] ।"

–इस पालि के अनुसार यदि योनिशोमनसिकार होता है तो कुशलजवन, यदि अयोनिशोमनसिकार होता है तो अकुशलजवन तथा योनिशोमनसिकार होने पर भी यदि वह निरनुशय (अर्हत् की) सन्तान मे होता है तो 'क्रियाजवन' ही जवित होते हैं । उस योनिशोमनसिकार का उत्पन्न होना या न होना भी 'अत्तसम्मापणिधि' (आत्म-सम्यक्प्रणिधि), 'सद्धम्मसवन' (सद्धर्मश्रवण), 'सप्पुरिसूपनिस्सय' (सत्पुरुषोपनिश्रय), 'पटिरूपदेसवास' (प्रतिरूपदेशवास) एव 'पुब्बे च कतपुञ्ञता' (पूर्वे च कृतपुण्यता)– आदि सम्पत्तिचक्रो के होने या न होने पर निर्भर करता है[3] ।

पूर्व पूर्व भव मे कृत कुशलकर्म (पुब्बे च कतपुञ्ञता) सम्पत्ति से समन्वागत पुद्गल का प्रतिरूप (अनुकूल) देश मे वास (पटिरूपदेसवास) होता है । प्रतिरूप-देशवास सम्पत्ति से समन्वागत पुद्गल का सत्पुरुषो से समागम (सप्पुरिसूपनिस्सय) होता है । सत्पुरुषोपनिश्रय सम्पत्ति से समन्वागत पुद्गल को सद्धर्म का श्रवण (सद्धम्म-सवन) होता है । सद्धर्मश्रवण सम्पत्ति से समन्वागत पुद्गल को अपने काय-वाग् मे सयम (अत्तसम्मापणिधि) होता है तथा आत्मसम्यक्प्रणिधि सम्पत्ति से समन्वागत पुद्गल को सभी आलम्बनो मे योनिशोमनसिकार होता है । इस क्रम का सम्यग् अनुवर्तन

---

* जवन जवति–स्या०, रो० ।

† ०पाकाणि–रो० ।

‡ भवङ्गपातो व–स्या० ।

१ द्र०–अभि० स० ३ ५९-६१, पृ० २६४-२६६ ।

२ द्र०–स० नि०, चतु० भा०, पृ० ८६; अ० नि०, प्र० भा०, पृ० १४ ।

३ तु०–खु० नि०, खु० पा० (मङ्गलसुत्त), पृ० ५ । अट्ठ०, पृ० ४९ एव ६२ ।

न होने पर अयोनिशोमनसिकार-आदि होते हैं। इस कथन के अनुसार प्रत्युत्पन्न (वर्तमान) भव में कुशल जवनों के जवित होने में योनिशोमनसिकार आसन्नकारण होता है। आत्मसम्यक्प्रणिधि-आदि पूर्वोक्त कारण दूरस्थ कारण हैं। उन जवनों के सौमनस्य-सहगत, उपेक्षासहगत, असस्कारिक, ससस्कारिक-आदि होने में भी अपने अपने कारण होते हैं। उन कारणों के सम्बन्ध में चित्तपरिच्छेद में कहा जा चुका है[1]। इस प्रकार २९ कामजवनों में से अनुरूप किसी एक जवन का ही वेग से जवन होने के कारण 'य किञ्चि लद्धपच्चय' कहा गया है[2]।

येभुय्येन सत्तक्खत्तु जवति—उपर्युक्त प्रकार से वेगपूर्वक गमन करने योग्य जवन भी एक वीथि में सात बार ही प्रवृत्त होता है और यह सात बार प्रवृत्ति भी प्रायिक ही है, क्योंकि सामान्यकाल में जवन कभी कभी छह बार भी प्रवृत्त होते हैं। अतएव आचार्य ने 'जवन नियम' में 'परित्तजवनवीथिय कामावचरजवनानि सत्तक्खत्तु छक्खत्तुमेव वा जवन्ति[3]'—ऐसा प्रतिपादन किया है। 'विसुद्धिमग्ग-अट्ठकथा' में भी "वोट्ठपनानन्तर पन सचे महन्त होति रूपादि-आरम्मण छ वा सत्त वा जवनानि जवन्ति[4]"—इस प्रकार कहा गया है। मरणासन्न काल में, वृक्ष-आदि से गिरने या जल में डूबने-आदि की वजह से मूर्च्छाकाल में, अथवा स्वप्नकाल-आदि में जवन पाँच बार भी प्रवृत्त होते हैं। अतएव आचार्य ने 'जवन नियम' में 'मन्दप्पवत्तिय पन मरणकालादीसु पञ्चवारमेव[5]'—ऐसा कहा है। तथा विसुद्धिमग्ग-महाटीकाकार ने भी "'छ वा सत्त वा' ति 'वा' सद्देन 'पञ्च वा' ति इद पि वुत्तमेवा ति दट्ठब्ब। सुत्तमुच्छितादिकाले हि पञ्च पि जवनानि जवन्तीति[6]"—ऐसा प्रतिपादन किया है।

जवनानुबन्धानि च द्वे तदारमणपाकानि—जवन के द्वारा आलम्बन के रस का अनुभव कर चुकने के कारण जवन के अन्त में विपाकविज्ञान (तदालम्बनचित्त) को भवङ्गकृत्य करते हुए उत्पन्न होना चाहिये, फिर भी जैसे—जलधारा की स्वभावत

---

१ द्र०—अभि० स० १ ४ की व्याख्या।

२ "योनिसोमनसिकारादिवसेन लद्धो पच्चयो येना ति लद्धपच्चय, य किञ्चि जवन जवतीति सम्बन्धो।"—प० दी०, पृ० १३१।
"योनिसोमनसिकारादिवसेन लद्धो पच्चयो एतेना ति लद्धपच्चय, य किञ्चि जवन ति सम्बन्धो।"—विभा०, पृ० १०८।
तु०—"लद्धप्पच्चय योनिसो आवज्जन उप्पन्न द्वे कुसलजवन, अयोनिसो द्वे अकुसलजवन, खीणासवसन्तानेसु क्रियजवन जवति।"—अभि० स० टी०, पृ० ३१३।
द्र०—विसु०, पृ० ३२१।

३ द्र०—अभि० स० ४.३६।

४ विसु०, पृ० ३२०।

५ द्र०—अभि० स० ४ ३७।

६. विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १३३।

निम्नाभिमुख प्रवृत्ति होने पर भी उस (जलधारा) का कुछ अंश प्रतिस्रोतोगामी नाव या पोत का कुछ दूर तक अनुगमन करता है, उसी प्रकार वेगवान् जवन के पीछे विपाकविज्ञान दो बार तदालम्बन कृत्य करते हुए अनुप्रवृत्त होता है। अतएव विपाक-विज्ञानचित्त स्वभावत अपने आलम्बनभूत कर्म, कर्मनिमित या गतिनिमित्त का ग्रहण करते हुए जवन का अनुगामी न होकर, जवन द्वारा गृहीत आलम्बन का ही ग्रहण करते हुए प्रवृत्त होता है और इसीलिये 'तदालम्बन' शब्द द्वारा अभिहित किया जाता है[1]।

यथारहं – काम-जवन, काम-सत्त्व, अतिमहद्-आलम्बन या विभूत कामालम्बन – इन तीन प्रत्ययो के सम्पन्न होने पर ही तदालम्बन का उत्पाद होता है[2]। इन त्रिविध कारणो मे से 'एकूनतिसकामावचरजवनेसु' के द्वारा कामावचरजवनो के कारणत्व को तथा 'एकचित्तक्खणातीतक रूपारमण' के द्वारा अतिमहद्-आलम्बन के कारणत्व को स्पष्टत दिखलाकर, पुद्गल के अनुसार तदालम्बन के होने या न होने को अर्थात् पुद्गल के कारणत्व को दिखलाने के लिये 'यथारह' शब्द का प्रयोग किया गया है। यथा – यदि कामभूमि का सत्त्व होगा तो तदालम्बन का उत्पाद होगा, यदि कामभूमि का सत्त्व न होगा तो तदालम्बन का उत्पाद नही होगा।

पूर्वाचार्यो ने 'यथारह' की व्याख्या के प्रसङ्ग मे 'यथारह ति आरम्मणजवन-

---

१ "जवनावसाने पन सचे पञ्चद्वारे अतिमहन्त, मनोद्वारे च विभूतमारम्मण होति, अथ कामावचरसत्तान तीसु विपाकाहेतुकमनोविञ्ञाणधातुसु च अञ्ञतर, पटिसोतगत नाव अनुबन्धमान किञ्चि अन्तर उदकमिव, भवङ्गस्सारम्मणतो अञ्ञस्मि आरम्मणे जवित जवनमनुबन्धन्त द्विक्खत्तु सकि वा विपाकविञ्ञाण उप्पज्जति। तदेत जवनावसाने भवङ्गस्स आरम्मणे पवत्तनारह समान तस्स जवनस्स आरम्मण आरम्मण कत्वा पवत्तत्ता तदारम्मण ति वुच्चति।" – विसु०, पृ० ३२१।

"यथा हि चण्डसोते तिरिय नावाय गच्छन्तिया उदक छिज्जित्वा थोक ठान नाव अनुबन्धित्वा यथासोतमेव गच्छति, एवमेव छसु द्वारेसु बलवारम्मणे पलोभयमाने आपाथगते जवन जवति।. इद पन चित्त भवङ्गस्स वार अदत्वा जवनेन गहितारम्मणं गहेत्वा एक द्वे चित्तवारे पवत्तित्वा भवङ्गमेव ओतरति।" – अट्ठ०, पृ० २१४।

"जवनानुबन्धानी ति – पटिसोतगामिनाव नदीसोतो विय किञ्चि काल जवन अनुगतानि। तस्स जवनस्स आरम्मण आरम्मणमेतेस ति तदारम्मणानि।" – विभा०, पृ० १०८–१०९।

"जवनानुबन्धानी ति – यथा पटिसोत गच्छन्त नाव उदक थोकं अनुबन्धति अनुगच्छति, एव जवन अनुबन्धानि। द्वे तदारम्मणपाकानी ति – द्विक्खत्तु तदारम्मणकिच्चानि विपाकचित्तानि पवत्तन्ति।" – प० दी०, पृ० १३१।

२. द्र० – अभि० स० ४ ३५।

सत्तानुरूप' के द्वारा आलम्बन, जवन एव सत्त्व – इन तीनो कारणो के होने या न होने के वश से तदालम्बन के होने या न होने का व्याख्यान किया है[१] । किन्तु आचार्य अनुरुद्ध ने जब मूल मे ही जवन एव आलम्बन के कारणत्व का कथन कर दिया है तो ऐसी हालत मे पूर्वाचार्यो के उपर्युक्त व्याख्यान पर विचार करना चाहिये ।

ततो परं भवङ्गपातो – अट्ठकथाओ एव टीकाओ मे भवङ्गसन्तति की प्रवृत्ति के समय अभिनव आलम्बन के प्रादुर्भाव से होनेवाली वीथिचित्तो की 'उत्पत्ति' को "भवङ्गतो उत्तरण" अर्थात् अभिनव आलम्बन का ग्रहण करके भवङ्गस्रोत से ऊपर उठना, तथा वीथिचित्तो के उच्छिन्न हो जाने पर पुन भवङ्ग की 'उत्पत्ति' को "भवङ्गोतरण" भवङ्ग की ओर अवतरण या "भवङ्गपात" भवङ्ग की ओर चित्तसन्तति का पतन या "भवङ्गपवेसन" अर्थात् भवङ्ग की ओर चित्तसन्तति का प्रवेश – आदि शब्दो द्वारा कहा गया है[२] ।

वस्तुत वीथिचित्तो का उत्पन्न होना – पाषाण-आदि के पतन से शान्त जल के चलित (अशान्त) होकर ऊपर उठने की भाँति, अभिनव आलम्बन के अभिनिपात से शान्त भवङ्गसन्तति का चलित (अशान्त) होकर (वीथिचित्तो के रूप मे) ऊपर उठना है । तथा भवङ्गसन्तति का उत्पन्न होना – उस उत्थित जल के (सतह की ओर) उतर कर या प्रवेश कर पुन शान्त होने की भाँति उत्थित चित्तसन्तति का (भवङ्ग की ओर) उतर कर या प्रवेश कर पुन शान्त होना है । अतएव इसे 'भवङ्गपात' कहते है ।

परमत्थदीपनीकार का कथन है कि "चित्तसन्तति आवर्जन से लेकर चतुर्थ जवन-पर्यन्त उद्गमन करती (ऊपर उठती) रहती है तथा पञ्चम जवन से लेकर धीरे धीरे नीचे की ओर गमन करती हुई द्वितीय तदालम्बन के भङ्गक्षण मे वेग समाप्त हो जाने से पूर्णत अवपतित हो जाती है, अत इसे 'भवङ्गपात' कहते है[३]" । यह विचारणीय है ।

चित्त का प्रादुर्भाव – उपर्युक्त चित्त उपयुक्त अवसर प्राप्त होने पर योग्य स्थान मे उत्पन्न होने की प्रतीक्षा मे स्कन्ध के भीतर सामूहिक रूप से कही तैयार होकर

---

१. विभा०, पृ० १०६, प० दी०, पृ० १३१ ।

२. विभ० अ०, पृ० ४११, अट्ठ०, पृ० २१८; ध० स० मू० टी०, पृ० १२६; प० दी०, पृ० १३२, विभा०, पृ० १०६ ।

३. "भवङ्गपातो ति इमस्मि अतिमहन्तारम्मणे आवज्जनतो पठमभवङ्गचलनतो येव वा पट्ठाय उट्ठित समुट्ठित चित्तसन्तान याव चतुत्थजवना समुट्ठहित्वा, पञ्चमजवनतो पट्ठाय पतितमेव होति । एव सन्ते पि समुट्ठितवेगस्स सब्बसो अपरिक्खीणताय पतित ति न वुच्चति । दुतियतदारम्मणतो पर पन समुट्ठित-वेगस्स सब्बसो परिक्खीणत्ता तदा एव त चित्तसन्तान पतित नाम होति; तस्मा – पतन पातो, भवङ्गभावेन चित्तसन्तानस्स पातो भवङ्गपातो । 'भवङ्ग हुत्वा पातो' ति अत्थो दट्ठब्बो । 'भवङ्गकिच्चे भवङ्गट्ठाने भवङ्गारम्मणे च पातो भवङ्गपातो' ति वा ।" – प० दी०, पृ० १३१-१३२ ।

बैठा नही रहता और न तो बाहर ही कही उन (चित्तो) को सङ्गृहीत करके रखनेवाली कोई (ईश्वर, महेश्वर, ब्रह्मा-आदि) शक्ति ही होती है। वस्तुत वस्तु, आलम्बन एव मनसिकार-आदि सम्बद्ध कारणो के सन्निपतित होने पर उस (चित्त) का एकाएक (अपूर्व) उत्पाद होता है, जैसे – सूर्य, मणि, एव इन्धन के सयोग से अग्नि का प्रादुर्भाव होता है। जैसे अपने उत्पाद से पूर्व अग्नि न तो सूर्य मे, न मणि मे और न इन्धन मे ही विद्यमान होती है, अपितु इन तीनो कारणो के समागम से धातु-स्वभाव के अनुसार वह एकाएक उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार जब प्रसाद, आलम्बन एव मनसिकार-आदि कारणो का समागम होता है तो चित्त का अपने आप उत्पाद हो जाता है।

"मणिन्धनातपे अग्गि असन्तो पि समागमे।
यथा होति तथा चित्त वत्थालम्बादिसङ्गमे[1] ॥"

वीथिसन्तति की आम्रोपमता–चित्त वीथि को सरलता से स्पष्टत समझाने के लिये आम्रफल इक्षुनाडीयन्त्र, दौवारिक, मकडे-आदि की अनेकविध उपमाएँ दी जाती है[2]। उनमे से यहाँ आम्र की उपमा प्रस्तुत की जाती है।

यथा – एक पुरुष फलदार आम्रवृक्ष के नीचे सिर से पैर तक ढककर सो रहा है। पास गिरे एक आम के फल के शब्द को सुनकर जागता है। सिर से कपडे को हटाकर आँख खोलता है, देखता है, उसे उठा लेता है। मलकर, सूँघकर, पका जान उसे खाता है। मुख मे पडे रस को लारसहित निगल कर फिर उसी तरह सो जाता है। यहाँ पुरुष के निद्रित रहने के काल के समान भवङ्गकाल है। फल के पतनकाल के समान आलम्बन का प्रसाद मे सङ्घट्टनकाल है। उस (आम्रफल) के गिरने से जाग उठने के काल के समान आवर्जनकाल है। आँख खोलकर देखने के काल के समान चक्षुर्विज्ञान की प्रवृत्ति का काल है। (आम्रफल के ग्रहणकाल के समान सम्पटिच्छन का काल है। मर्दन करने (मलने) के समान सन्तीरण का काल है। सूघकर निश्चय करने के काल के समान वोट्ठपन (व्यवस्थापन) का काल है। परिभोग (खाने) के काल के समान जवन का काल है। मुख मे पडे रस को लारसहित निगल जाने के काल के समान तदालम्बन का काल है। पुन. (दुबारा) सो जाने के काल के समान पुन भवङ्ग का काल है[3]।

इस उपमा से यह ज्ञात होता है कि आलम्बन का कृत्य प्रसादघट्टन ही है। इस प्रकार आलम्बन द्वारा प्रसाद के घट्टित हो जाने पर, आवर्जन का, भवङ्ग को अभिनव आलम्बन की ओर अभिमुख करना ही, कृत्य है। चक्षुर्विज्ञान का दर्शनमात्र कृत्य है। इसी प्रकार सम्पटिच्छन का आलम्बन का ग्रहणमात्र, सन्तीरण का आलम्बन का विचारमात्र तथा वोट्ठपन का आलम्बन का निश्चयमात्र कृत्य है। आलम्बन के

---

१ सच्च० ३११ का०, पृ० २१।
२. "सुत्त दोवारिको च गामिल्लो अम्बो कोलियकेन च।" – अट्ठ०, पृ० २२५।
३ विभा०, पृ० १०६, अट्ठ०, पृ० २१६।

रस का अनुभव तो एकान्तरूप से जवन ही करता है। जवन द्वारा अनुभूत आलम्बन का ही पुन अनुभव करना तदालम्बन का कृत्य है। इस प्रकार कृत्यो के वश से चित्त-धर्मो का परस्पर असङ्कीर्ण स्वभाव ज्ञात होता है[1]।

उपर्युक्त प्रकार से होनेवाली चित्तो की प्रवृत्ति मे—'तुम भवङ्ग हो जाओ, तुम भवङ्ग के अनन्तर आवर्जन के रूप मे हो जाओ'—इत्यादि प्रकार से चित्तो को अभिसस्कृत (प्रेरित) करनेवाली ईश्वर, ब्रह्मा-आदि नामक कोई प्रभुतासम्पन्न सत्ता नही है। पूर्वोक्त उपमा के अनुसार आलम्बन का प्रसाद मे सङ्घट्टनकृत्य, आवर्जन का, भवङ्ग-सन्तति का विच्छेदकृत्य एव चक्षुर्विज्ञान-आदि का दर्शनकृत्य—आदि का स्वभावत नियम के अनुसार होना, चित्तनियम की आश्चर्यजनक विचित्रता है[2]।

यहाँ चित्तो के उत्पाद के प्रसङ्ग मे पाँच नियमो (धर्मताओ) को जानना चाहिये, यथा—(क) बीजनियम, (ख) ऋतुनियम, (ग) कर्मनियम, (घ) धर्म-नियम एव (ङ) चित्तनियम[3]।

(क) कुलत्थ के क्षुप (पौधे) का उत्तराग्र (उत्तराभिमुख) होना, दक्षिणलता का दक्षिण की ओर से वृक्ष का ग्रहण करना, सूरजमुखी का सूर्य की ओर अभिमुख रहना, मालुवलता का वृक्ष की ओर अनुगमन, नारिकेल के मस्तक पर छिद्र का होना—इस प्रकार उन उन बीजो का अपने सदृश फल देना 'बीजनियम' है।

(ख) उस उस काल मे उन उन वृक्षो का पत्र, पुष्प या फल देना—आदि 'ऋतुनियम' है।

(ग) त्रिहेतुक कर्म त्रिहेतुक, द्विहेतुक या अहेतुक विपाक देता है। द्विहेतुक कर्म द्विहेतुक या अहेतुक विपाक देता है, त्रिहेतुक विपाक कभी नही देता—इस प्रकार उस उस कर्म का अपने सदृश विपाक देना 'कर्मनियम' है।

---

१. "आरम्मणस्स पसादघट्टनमेव किच्चं, आवज्जनस्स विसयबुज्झनमेव, चक्खु-विञ्ञाणस्स दस्सनमत्तमेव, सम्पटिच्छनादीनञ्च पटिग्गण्हनादिमत्तमेव, जवनस्सेव पन आरम्मणरसानुभवन, तदारम्मणस्स च तेन अनुभूतस्सेव अनु-भवन ति—एव किच्चवसेन धम्मान अञ्ञमञ्ञ असङ्किण्णता दीपिता होति।" —विभा०, पृ० १०६, अट्ठ०, पृ० २१६-२२०।

२. "एव पवत्तमान पन चित्त 'त्व आवज्जन हुत्वा भवङ्गानन्तर होहि, त्व दस्सनादीसु अञ्ञतर हुत्वा आवज्जनानन्तर' त्यादिना नियुञ्जके कारके असति पि उतुबीजनियामादि विय चित्तनियामवसेनेव पवत्ततीति वेदितब्ब।"—विभा०, पृ० १०६।

"एत्थ च 'त्व भवङ्ग नाम होहि, त्व आवज्जन नाम, त्व दस्सन नाम, त्व सम्पटिच्छनं नाम, त्व सन्तीरण नाम, त्व वोट्ठपन नाम, त्व जवन नाम, त्व तदारम्मणं नाम होही' ति कोचि कत्ता वा कारेता वा नत्थि।" —अट्ठ०, पृ० २२०।

३ द्र०—अट्ठ०, पृ० २२०।

१३. एत्तावता, चुद्दस वीथिचित्तुप्पादा, द्वे भवङ्गचलनानि, पुब्बे वातीतकमेकचित्तक्खणं ति कत्वा सत्तरस चित्तक्खणानि परिपूरेन्ति, ततो परं निरुज्झति। आरमणमेतं अतिमहन्तं नाम गोचरं।

इस (कथित) क्रम से – चौदह वीथिचित्तोत्पाद, दो भवङ्गचलन (यहाँ भवङ्गोपच्छेद को भी भवङ्गचलन कहा गया है), पहले ही अतीत एक चित्तक्षण – इस प्रकार करके, सत्रह चित्तक्षण (रूपधर्मों की आयु) परिपूर्ण होते है। इस तरह सत्रह चित्तक्षण परिपूर्ण होने के अनन्तर (वीथिचित्तसन्तति) निरुद्ध होती है। यह आलम्बन 'अतिमहद्' नामक गोचर (विषय) होता है।

(घ) बोधिसत्त्वो के प्रतिसन्धिग्रहण करने के काल मे, मातृ-कुक्षि से निष्क्रमणकाल मे, अभिसम्बोधि के काल मे, तथागत के धर्मचक्रप्रवर्तन करने के काल मे तथा महापरिनिर्वाण के काल मे दस सहस्र चक्रवालो का कम्पित होना 'धर्म नियम' है।

(ङ) आलम्बन द्वारा प्रसाद के घट्टित हो जाने पर 'तुम भवङ्ग के रूप मे हो जाओ,.. तुम जवन के रूप मे हो जाओ' – इस प्रकार कोई करनेवाला (कर्त्ता) या करानेवाला (कारयिता) नही है। अपनी धर्मतावश ही आलम्बन द्वारा प्रसाद के घट्टनकाल से लेकर आवर्जन भवङ्ग का विच्छेदकृत्य, चक्षुर्विज्ञान दर्शनकृत्य, सम्पटिच्छन आलम्बन का ग्रहणकृत्य, इसी प्रकार सन्तीरण, वोट्ठपन, जवन, एव तदालम्बन अपने अपने कृत्य सिद्ध करते है – यह 'चित्तनियम' है[1]।

१३ रूपालम्बन के उत्पाद से लेकर यदि गणना की जाये तो द्वितीय तदालम्बन के भङ्गपर्यन्त चित्तक्षणो की सङ्ख्या सत्रह पूर्ण होती है (यह गणना पालि देखकर जाननी चाहिये)। रूप-धर्मो की आयु सत्रह चित्तक्षण ही होती है, अत उत्पन्न रूपालम्बनो का जीवन (आयु) सत्रह चित्तक्षणकाल मे परिपूर्ण हो जाने से वे निरुद्ध हो जाते है। एक चित्तक्षण अतीत होने के अनन्तर प्रादुर्भूत होनेवाले आलम्बन की, उसके प्रादुर्भाव से लेकर गणना की जाये तो सोलह चित्तक्षणो तक जीवित रहनेवाला यह आलम्बन सबसे दीर्घायु होता है। इससे अधिक आयुवाला कोई आलम्बन नही होता, अत इसे 'अतिमहद्-आलम्बन' कहते है।

तदालम्बनवार चक्षुर्द्वारिक अतिमहद्-आलम्बनवीथि – रूपालम्बन एव चक्षु-प्रसाद दोनो के युगपद् (एक साथ) उत्पाद से लेकर एक भवङ्गचित्त को अतीत करके रूपालम्बन का चक्षुप्रसाद मे प्रादुर्भाव (अभिनिपात) होने से भवङ्गचलन, भवङ्गोपच्छेद, पञ्चद्वारावर्जन, चक्षुर्विज्ञान, सम्पटिच्छन, सन्तीरण, वोट्ठपन, सात बार जवन, तथा दो बार तदालम्बन होने के अनन्तर (इस प्रकार) रूपालम्बन एव चक्षु-

---

१. द्र० – अट्ठ०, पृ० २२०, २२१।

प्रसाद दोनो की सत्रह चित्तक्षण आयु को पूर्ण करके द्वितीय तदालम्बनचित्त के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली वीथि 'तदालम्बनवार चक्षुर्द्वारिक अतिमहद्-आलम्बनवीथि' कहलाती है। इसके अनन्तर यथासम्भव भवङ्गपात होता है। (अन्तिम तदालम्बनचित्त तक होनेवाले चित्तवार को 'तदालम्बनवार' कहते हैं।)

वीथि

उदाहरणस्वरूप यहाँ उपर्युक्त वीथि का प्रारूप प्रस्तुत किया जा रहा है। इसमे एक एक चित्त के नीचे जो तीन तीन शून्य (बिन्दु) चिह्नित है, वे उन (चित्तो) के उत्पाद, स्थिति एव भङ्ग के सूचक हैं। उन (शून्यो) के ऊपर प्रयुक्त चित्तो के ज्ञापक एकाक्षर चिह्नो को इस प्रकार समझना चाहिये, यथा—ती=अतीतभवङ्ग, न=भवङ्गचलन, द=भवङ्गोपच्छेद, प=पञ्चद्वारावर्जन, च=चक्षुर्विज्ञान, स=सम्पटिच्छन, ण=सन्तीरण, वो=वोट्ठपन, ज=जवन, त=तदालम्बन, भ=भवङ्ग।

ती	न	द	'प	च	स	ण	वो	ज	ज	ज	ज	ज	ज	ज	त	त'
०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००

इस प्रारूप मे ' ' इस चिह्न के अन्तवर्ती चित्त वीथिचित्त है। इस चिह्न से बाहर के चित्त 'भवङ्गचित्त' है। भवङ्गचित्त कर्म, कर्मनिमित्त एव गतिनिमित्त—इन त्रिविध आलम्बनो मे से किसी एक आलम्बन का आलम्बन करते हैं। पञ्चद्वारावर्जन से लेकर तदालम्बनपर्यन्त सभी वीथिचित्त प्रादुर्भूत (गोचरभाव को प्राप्त) प्रत्युत्पन्न रूपालम्बन का आलम्बन करते है। इनमे से चक्षुर्विज्ञानचित्त चक्षुर्वस्तु का आश्रय करता है तथा शेष भवङ्ग एव वीथिचित्त अपने अपने पूर्ववर्ती चित्तो के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का आश्रय करते हैं[1]।

[विस्तार के लिये इस परिच्छेद के अन्त मे 'वीथिसमुच्चय' देखे।]

श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, एव काय द्वारिक अतिमहद्-आलम्बनवीथियो को भी इसी प्रकार समझना चाहिये।

तदालम्बनवार चक्षुर्द्वारिक
अतिमहद्-आलम्बनवीथि समाप्त।

---

१ "यत्थ हि रूपारम्मण घट्टेति त चक्खुवत्थु निस्साय तत्थ घट्टित रूपारम्मण आरब्भ चक्खुविञ्ञाण उप्पज्जति। इतरानि पन आवज्जनादीनि मनोविञ्ञाणानि अत्तनो अत्तनो अतीतानन्तरचित्तेन सहुप्पन्न हदयवत्थु निस्साय तमेवारम्मण आरब्भ उप्पज्जन्ति। अयञ्च वीथि चक्खुद्वारे उप्पन्नत्ता 'चक्खुद्वारवीथी' ति, चक्खुविञ्ञाणेन उपलक्खितत्ता 'चक्खुविञ्ञाणवीथी' ति च वुच्चति, एकचित्तक्खण अतिक्कम्म घट्टनसमत्थे अतिबलवारम्मणे उप्पन्नत्ता 'अतिमहन्तारम्मणवीथी' ति च वुच्चतीति।"
—प० दी०, पृ० १३२।

महन्तारमणवीथि

१४ याव तदारम्मणुप्पादा पन अप्पहोन्तातीतकमापातमागतं आरमण महन्तं नाम। तत्थ जवनावसाने भवङ्गपातो व होति, नत्थि तदारमणुप्पादो।

तदालम्बन के उत्पाद (दो वार होने) तक भी स्थित होने में असमर्थ होते हुए (कुछ चित्तक्षण) अतीत होने पर अभिनिपात (प्रादुर्भाव= गोचरभाव) को प्राप्त आलम्बन 'महद्-आलम्बन' है। वहाँ (महद्-आलम्बन-वीथि मे) जवन के अन्त में भवङ्गपात ही होता है, (यहाँ) तदालम्बन का उत्पाद नही है।

जवनवार, चक्षुर्द्वारिक

महद्-आलम्बनवीथि

१४ **याव...अतीतक** – (इस वीथि मे) प्रादुर्भूत आलम्बन, तदालम्बन के उत्पाद तक भी प्रवृत्त होने मे (स्थितिक्षण मे विद्यमान रहने मे) असमर्थ होता है। अर्थात् वह (महद्-आलम्बन) तदालम्बन की उत्पत्ति के पूर्व ही निरुद्ध हो जाता है। शीघ्र प्रादुर्भूत न हो सकने के कारण कुछ चित्तक्षण अतीत होने पर सम्बद्ध द्वार मे प्रादुर्भूत होनेवाले आलम्बन को 'अतीतक' कहा जाता है। यह 'अतीतक' भी 'पहोन्तातीतक' (समर्थ-अतीतक) एव 'अप्पहोन्तातीतक' (असमर्थ-अतीतक) – इस प्रकार द्विविध होता है। पूर्वोक्त अतिमहद्–आलम्बन भी एकचित्तक्षण अतीत होने पर प्रादुर्भूत होने से 'अतीतक' है, किन्तु वह 'अतीतक' तदालम्बन के उत्पाद तक स्थित रहने मे समर्थ होने के कारण 'पहोन्तातीतक' कहा जाता है। यह महद्-आलम्बन दो, तीन चित्तक्षण अतीत होने पर प्रादुर्भूत होने से तदालम्बन के उत्पाद तक स्थित रहने मे असमर्थ होने के कारण 'अप्पहोन्तातीतक' कहा जाता है[1]।

प्रश्न – यह महद्-आलम्बन अपने उत्पाद के अनन्तर दो या तीन चित्तक्षण अतीत होने पर ही सम्बद्ध द्वार मे प्रादुर्भूत हो सकने में क्यो समर्थ होता है ?

उत्तर – रूपालम्बन के प्रादुर्भाव मे कारणभूत रूपालम्बन, चक्षु प्रसाद एव आलोक – इन तीनो मे से किसी एक कारण के दुर्बल होने से (अतिमहद्-आलम्बन की भाँति

---

१ " 'याव तदारम्मणुप्पादा पन अप्पहोन्तातीतक ति' द्विक्खत्तु याव तदारम्मणुप्पादा पवत्तितु अप्पहोन्त हुत्वा अतीतद्वत्तिचित्तक्खणिक। यस्स हि द्वे वा तीणि वा चित्तक्खणानि अतीतानि होन्ति, त याव तदारम्मणुप्पादा पवत्तितु नप्पहोति, न सक्कोति। एव अप्पहोन्त हुत्वा अतीतक ति अत्थो।" – प० दी०, पृ० १३३।

" 'अप्पहोन्तातीतक' ति – अप्पहोन्त हुत्वा अतीत। 'नत्थि तदारम्मणुप्पादो' ति – चुद्दसचित्तक्खणायुके ताव आरम्मणस्स निरुद्धत्ता व तदारम्मण नुप्पज्जति।" – विभा०, पृ० ११०।

इन त्रिविध कारणो के प्रबल न होने से) यह महद्-आलम्बन अपने उत्पाद के अनन्तर दो या तीन चित्तक्षण अतीत होने पर ही सम्बद्ध द्वार मे प्रादुर्भूत हो सकने मे समर्थ हो पाता है ।

प्रश्न—सभी महदालम्बन समान होने पर भी क्यो कुछ दो चित्तक्षण अतीत होने पर और कुछ तीन चित्तक्षण अतीत होने पर प्रादुर्भूत होने मे समर्थ होते है ?

उत्तर—आलम्बन, प्रसाद एव आलोक—इन कारणो के बल के अनुसार ऐसा होता है। यदि आलम्बन-आदि कारण प्रबल होते है तो दो चित्तक्षण अतीत होने पर और यदि क्षीणबल होते है तो तीन चित्तक्षण अतीत होनेपर प्रादुर्भूत होते है।

दो चित्तक्षण अतीत होने पर प्रादुर्भूत होनेवाले आलम्बन एव तीन चित्तक्षण अतीत होने पर प्रादुर्भूत होनेवाले आलम्बन—ये दोनो प्रकार के आलम्बन जवनवार वीथि के आलम्बन होने के कारण 'महद्-आलम्बन' (महन्तालम्बन) कहे जाते है।

नत्थि तदारमणुप्पादो—यहाँ (इस वीथि मे) जवन के अन्त मे भवङ्गपात ही हो जाता है, तदालम्बन नही होता, क्योकि रूपालम्बन की सत्रह चित्तक्षण आयु तदालम्बन के उत्पाद से पूर्व ही समाप्त हो जाती है। अर्थात् तदालम्बन के उत्पाद तक आलम्बन विद्यमान नही रहता ।

तीन चित्तक्षण अतीत होने पर प्रादुर्भूत होनेवाले आलम्बन की आयु सप्तम जवन के भङ्ग के साथ सत्रह चित्तक्षण पूर्ण हो जाने से, परिसमाप्त हो जाती है, अतः इस प्रकार के आलम्बन मे तदालम्बन का उत्पाद नही हो सकता—यद्यपि यह ठीक है; किन्तु दो चित्तक्षणमात्र अतीत होने पर प्रादुर्भूत होनेवाले आलम्बन की आयु सप्तम जवन के अनन्तर भी एक चित्तक्षण अवशिष्ट रहने के कारण, एक वार तदालम्बन होने के लिये अवसर उपस्थित होने पर भी ऐसे आलम्बन मे क्यो तदालम्बन एक वार (एक चित्तक्षण) प्रवृत्त नही होता ?

समाधान—यदि तदालम्बन प्रवृत्त होगा तो वह दो वार ही प्रवृत्त होगा और यदि नही होगा तो एक वार भी प्रवृत्त नही होगा, तदालम्बन की यही चित्तधर्मता है, अत पूर्वोक्त प्रकार के आलम्बन की एक चित्तक्षण आयु अवशिष्ट होने पर भी उस निरोधाभिमुख आलम्बन का आलम्बन करके तदालम्बन एक वार भी प्रवृत्त नही होता[1]।

---

१. "द्विक्खत्तुमेव हि तदारम्मणुप्पत्ति पाळिय नियमिता। चित्तप्पवत्तिगणनाय सब्बवारेसु तदारम्मणानि द्वे ति द्विन्नमेव चित्तवारान आगतत्ता।"—विभा०, पृ० ११० ।

"यस्स पन द्वे चित्तक्खणानि अतीतानि, तस्मि सत्तमजवनतो पर एकचित्त-क्खणायुकावसेसे एकेन तदारम्मणेन उप्पज्जितब्ब ति चे? न, न हि तादिसं निरोधासन्न आरम्मण एकवार पि तदारम्मणुप्पत्तिया पच्चयो भवितु सक्कोतीति। तथा हि—महा-अट्ठकथाय विपाकुद्धारे चित्तप्पवत्तिगणनाय तदारम्मणानि द्वे ति द्वे एव तदारम्मणवारा आगता ति।"—प० दी०, पृ० १३३ ।

आलम्बन-नानात्व अनभीष्ट – यदि तदालम्बन का 'दो वार होना' स्वभाव (धर्मता) है तो प्रथम तदालम्बन अनिरुद्ध प्रत्युत्पन्न रूपालम्बन का आलम्बन करके तथा द्वितीय तदालम्बन निरुद्ध अतीत रूपालम्बन का आलम्बन करके – इस प्रकार तदालम्बन दो वार प्रवृत्त क्यो नही होता ?

समाधान – यदि मार्गवीथि या फलवीथि नही होती है तो अन्यविध किसी एक वीथि के भीतर ही 'एक प्रत्युत्पन्न आलम्बन और एक अतीत आलम्बन' – इस प्रकार आलम्बन का भेद अस्वाभाविक है। अत प्रथम तदालम्बन प्रत्युत्पन्न आलम्बन का आलम्बन करके तथा द्वितीय तदालम्बन अतीत आलम्बन का आलम्बन करके – इस प्रकार तदालम्बन दो वार प्रवृत्त नही हो सकता[1]। कहा भी है –

"द्विवारत्ता निरुद्धत्ता तदालम्ब न जायति ।
अतीते पि च आलम्बे नानारमणभावतो ।
न हि मग्गफलाञ्ञत्र नानारमणसम्भवो[2] ।।"

उपर्युक्त कथन के अनुसार महद्-आलम्बन का आलम्बन करके तदालम्बन के अनुत्पादवाली वीथि को जानना चाहिये।

इसके अनन्तर 'विभूतेतिमहन्ते च तदारमणमीरित[3]' – के अनुसार विभूत-आलम्बन एव अतिमहद्-आलम्बन मे ही तदालम्बन की प्रवृत्ति को कहेगे। यही आचार्य-परम्परा का मत है[4]।

"सकि द्वे वा तदालम्ब सकिमावज्जनादयो[5] ।"

इस कथन के अनुसार तथा मज्झिमभाणकथेर एव मूलटीका के अनुसार तदालम्बन एक वार भी हो सकता है[6]।

यह महद्-आलम्बन दो या तीन चित्तक्षण अतीत होने पर ही चक्षु प्रसाद-आदि मे प्रादुर्भूत हो पाता है और चूकि यह सात वार जवन होने तक ही विद्यमान (स्थित) रहता है, अत इसे तीन चित्तक्षण से अधिक चित्तक्षण-अतीत नही होना चाहिये। प्रादुर्भाव से पूर्व ही तीन चित्तक्षण अतीत हो जाने से यह चौदह चित्तक्षण तक ही स्थित

---

१ "न हि एकवीथिय केसुचि पच्चुप्पन्नारम्मणेसु कानिचि अतीतारम्मणानि होन्ति ।" – विभा०, पृ० ११० ।

२ ब० भा० टी० । तु० – विभा०, पृ० ११०, प० दी०, पृ० ११३-१३४ ।

३ द्र० – अभि० स० ४ . ३५ ।

४ अतिमहन्त ति – सोळसचित्तक्खणायुक । तत्थ हि तदारम्मणचित्त उप्पज्जति, न अञ्ञत्थ । विभूत ति – सुपाकट, तञ्च कामावचरमेव । तत्थ हि तदा-रम्मणस्स उप्पत्ति ।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १३३ ।

५ परम० वि०, पृ० १४ ।

६ विसु०, पृ० ३२१, अट्ठ०, पृ० ३३०, ध० स० मू० टी०, पृ० १३४ । द्र० – प० दी०, पृ० १३४, विभा०, पृ० ११० ।

परित्तारम्मणवीथि

१५ याव जवनुप्पादा पि अप्पहोन्तातीतकमापातमागतं आरम्मणं

जवन के (सात बार) उत्पाद तक भी स्थित होने मे असमर्थ होते हुए (कुछ चित्तक्षण) अतीत होने पर अभिनिपात को प्राप्त आलम्बन

रहता है। इसी प्रकार दो चित्तक्षण अतीत होने पर प्रादुर्भूत होनेवाला आलम्बन उसके प्रादुर्भाव-काल से गणना करने पर पन्द्रह चित्तक्षणपर्यन्त ही स्थित रहता है। इस प्रकार यह (महद्-आलम्बन) अतिमहद्-आलम्बन की भाँति इससे अधिक चित्त-क्षणपर्यन्त स्थित न रह सकने के कारण 'महद्-आलम्बन' कहा जाता है[1]।

रूपालम्बन एव चक्षु प्रसाद – दोनो के एक साथ उत्पाद से लेकर गणना करने पर, अतीतभवङ्ग दो वार होने पर, रूपालम्बन चक्षु प्रसाद मे प्रादुर्भूत होता है और तदनन्तर भवङ्गचलन-भवङ्गोपच्छेद-पञ्चद्वारावर्जन-चक्षुर्विज्ञान-सम्पटिच्छन-सन्तीरण-वोट्ठपन-जवन (सात वार) एव भवङ्गनिपात (एक वार) होने पर, रूपालम्बन और चक्षु प्रसाद – दोनो की सत्रह चित्तक्षण आयु पूर्ण हो जाने से प्रथम भवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली वीथि को प्रथम 'महद्-आलम्बनवीथि' कहते हैं। द्वितीय 'महद्-आलम्बनवीथि' भी इसी प्रकार होती है। प्रथम की अपेक्षा इसमे इतना विशेष है कि इस वीथि मे अतीत भवङ्ग तीन वार होने पर आलम्बन का चक्षु प्रसाद मे प्रादुर्भाव होता है, अत रूपालम्बन एव चक्षु प्रसाद – दोनो सप्तम जवन के भङ्ग के साथ ही (अपनी सत्रह चित्तक्षण आयु पूर्ण हो जाने से) निरुद्ध हो जाते हैं।

प्रथम महद्-आलम्बनवीथि

"ती ती न द 'प च स ण वो ज ज ज ज ज ज ज' भ"
००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ०००

द्वितीय महद्-आलम्बनवीथि

"ती ती ती न द 'प च स ण वो ज ज ज ज ज ज ज'"
००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ०००

श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा एव काय द्वार मे होने वाली वीथियो को भी इसी प्रकार जानना चाहिये[2]।

जवनवार, चक्षुद्वारिक
महद्-आलम्बनवीथि समाप्त।

वोट्ठपनवार, चक्षुद्वारिक

परीत्त-आलम्बनवीथि

१५. यह परीत्त-आलम्बन जवन के उत्पाद तक भी (स्थितिक्षण मे) विद्यमान रहने मे असमर्थ होता है, तदालम्बन तक स्थित रहने की तो कथा ही दूर है!

१ "इद जवनपरियोसानाय चित्तप्पवत्तिया वुच्चमानत्ता वुत्त। चुद्दसचित्तक्खणायुकं हि आरम्मणमिध 'महन्त' ति अधिप्पेत। तञ्च उप्पज्जित्वा द्विතिचित्तक्खणातीत हुत्वा आपाथागमनवसेन वेदितब्ब।"– विसु० महा०, द्वि०, भा०, पृ० १३३।

२ द्र० – चतु० परि० (वीथिसमुच्चय)।

परित्तं नाम । तत्थ जवनं पि अनुप्पज्जित्वा द्वित्तिक्खत्तुं* वोट्ठपनमेव पवत्तति, ततो परं भवङ्गपातो व होति ।

'परीत्त आलम्बन' है । वहाँ (परीत्त आलम्बनवीथि में) जवन का भी उत्पाद न होकर दो, तीन वार वोट्ठपन ही प्रवृत्त होता है और उस (वोट्ठपन) के अनन्तर भवङ्गपात ही होता है ।

अर्थात् यह जवन के उत्पाद के पूर्व ही निरुद्ध हो जाता है। चक्षु प्रसाद, रूपालम्बन एव आलोक – इन तीन कारणो मे से दो या तीनो कारणो के दुर्बल होने से जवन के सात वार होने तक स्थित रहने मे असमर्थ होते हुए, कुछ चित्तक्षण अतीत होने पर प्रादुर्भूत होनेवाला आलम्बन, महद्-आलम्बन के बराबर भी स्थित न रहने से उससे भी कम आयुवाला होने के कारण 'परीत्त-आलम्बन' कहा जाता है ।

यह वीथि जवन के सात वार होने तक भी विद्यमान रहने मे असमर्थ होने के कारण कम से कम चार चित्तक्षण अतीत होने पर प्रवृत्त होती है । तथा वोट्ठपन दो वार प्रवृत्त होने के कारण नौ वार से अधिक चित्तक्षण इसमे अतीत नही होने चाहिये । इसमे जवन न होने के कारण वोट्ठपनचित्त ही जवन की भाँति दो, तीन वार प्रवृत्त होता है[1] । यह परीत्त-आलम्बनवीथि छह प्रकार की होती है, यथा –

(१) चार चित्तक्षण अतीत होने पर उत्पन्न होकर तृतीय वोट्ठपन के अनन्तर चतुर्थ भवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली प्रथम 'परीत्त-आलम्बनवीथि' ।

(२) पाँच चित्तक्षण अतीत होने पर उत्पन्न होकर तृतीय वोट्ठपन के अनन्तर तृतीय भवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली द्वितीय 'परीत्त-आलम्बनवीथि' ।

(३) छह चित्तक्षण द्वितीय भवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली तृतीय 'परीत्त - आलम्बनवीथि' ।

(४) सात चित्तक्षण. प्रथम भवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली चतुर्थ 'परीत्त-आलम्बनवीथि' ।

(५) आठ चित्तक्षण तृतीय वोट्ठपन के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली पञ्चम 'परीत्त-आलम्बनवीथि' ।

(६) नौ चित्तक्षण . द्वितीय वोट्ठपन के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली षष्ठ 'परीत्त-आलम्बनवीथि' ।

---

* द्वित्तिक्खत्तु – स्या०, द्वतिक्खत्तु रो०, द्वितिक्खत्तु – म० (ख) ।

१ "याव जवनुप्पादा पि पवत्तितु अप्पहोन्तातीतक ति सम्बन्धो । यस्स हि चत्तारि, पञ्च, छ, सत्त, अट्ठ, नव वा चित्तक्खणानि अतीतानि होन्ति, त याव जवनुप्पादा पवत्तित नप्पहोति, एव अप्पहोन्त हुत्वा अतीतक ति अत्थो ।" – प० दी०, पृ० १३४ ।

"वोट्ठपनुप्पादतो पर छचित्तक्खणावसिट्ठायुक पि आरम्मण अप्पायुकभावेन परिदुब्बलत्ता जवनुप्पत्तिया पच्चयो न होति ।" – विभा०, पृ० ११० ।

इस प्रकार 'परीत्त-आलम्बनवीथि' छह होती है[1] ।

रूपालम्बन एव चक्षु प्रसाद – दोनो के एक साथ उत्पाद से लेकर गणना करने पर अतीतभवङ्ग कम से कम चार वार होने पर रूपालम्बन चक्षु प्रसाद मे प्रादुर्भूत होता है । और तदनन्तर भवङ्गचलन-भवङ्गोपच्छेद-पञ्चद्वारावर्जन-चक्षुर्विज्ञान-सम्पटिच्छन-सन्तीरण-वोट्ठपन (तीन वार) एव भवङ्ग चार वार होने पर रूपालम्बन एव चक्षु प्रसाद – दोनो की सत्रह चित्तक्षण आयु पूर्ण हो जाने से चतुर्थ भवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली वीथि प्रथम 'परीत्त-आलम्बनवीथि' है । (द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम, एव षष्ठ परीत्त-आलम्बनवीथियो को भी इसी प्रकार जानना चाहिये ।)

इसी प्रकार श्रोत्र, घ्राण-आदि द्वारो मे होनेवाली परीत्त-आलम्बनवीथियो को भी जानना चाहिये ।

नीचे केवल प्रथम एव षष्ठ परीत्त-आलम्बनवीथियो का प्रारूप दिया जा रहा है । शेष वीथियो के ज्ञान के लिये 'वीथिसमुच्चय' (चतु० परि०) देखे ।

प्रथम परीत्त-आलम्बनवीथि

"ती ती ती ती न द 'प च स ण वो वो वो' भ भ भ भ"

षष्ठ परीत्त-आलम्बनवीथि

"ती ती ती ती ती ती ती ती ती न द 'प च स ण वो वो'"

मूलटीकावाद – इस परीत्त-आलम्बनवीथि मे जवन की प्रवृत्ति के लिये अवसर नही है, वोट्ठपन ही दो या तीन वार प्रवृत्त होता है – इस विषय मे सभी अट्ठकथाचार्य एकमत है[2] । किन्तु मूलटीकाकार का कथन है कि जवन सात वार प्रवृत्त नही हो हो सकता है तो उसे कम से कम मूर्च्छाकाल या स्वप्नकाल की तरह वोट्ठपन के अनन्तर चार वार या पाँच वार तो अवश्य प्रवृत्त होना चाहिये । जो आलम्बन चार या पाँच वार भी जवन के उत्पाद मे उपकार नही कर सकता, उसे पहले से ही पञ्चद्वारावर्जन, चक्षुर्विज्ञान-आदि की प्रवृत्ति मे भी उपकार नही करना चाहिये, अर्थात् उसे पञ्चद्वारावर्जन, चक्षुर्विज्ञान-आदि का भी प्रत्यय नही होना चाहिये । वे पुन कहते है कि वोट्ठपन, जवन के स्थान मे उसके प्रतिनिधिरूप मे दो या तीन वार प्रवृत्त नही हो सकता, क्योकि वह आसेवनप्रत्यय से उपकार प्राप्त करनेवाले जवन की भाँति पुन पुन उत्पन्न होने मे समर्थ नही है । अत दो, तीन वार उत्पन्न होनेवाले 'वोट्ठपनवार' का विचार करना चाहिये[3] ।

---

१ द्र० – चतु० परि० (वीथिसमुच्चय) ।

२ तु० – अट्ठ०, पृ० २१७–२१८ ।

३ "तस्मा वोट्ठपनतो चतुण्ण वा पञ्चन्न वा जवनान आरम्मणपुरेजात भवितु असक्कोन्त रूपादि आवज्जनादीन पच्चयो भवितु न सक्कोतीति ।" – ध० स० मू० टी०, पृ० १३० ।

परमत्थदीपनीकार के मतानुसार परीत्त-आलम्बन मे वोट्ठपन ही दो या तीन वार प्रवृत्त होता है । उनका कहना है कि अट्ठकथा मे जो यह कहा गया है–

"वोट्ठपने पन ठत्वा एक वा द्वे वा चित्तानि पवत्तन्ति, ततो आसेवन लभित्वा जवनट्ठाने ठत्वा पुन भवङ्ग ओतरति[1] ।"

अर्थात् वोट्ठपन मे स्थित होकर एक या दो चित्त प्रवृत्त होते है, तदनन्तर आसेवन का लाभ करके जवनस्थान मे स्थित होकर वीथिसन्तति पुन भवङ्ग मे उतरती है–इस वचन मे अट्ठकथाचार्य 'ततो आसेवन लभित्वा जवनट्ठाने ठत्वा'–इस वाक्याश द्वारा तृतीय वोट्ठपन की प्रवृत्ति ही दिखलाते है, अन्यथा वे 'एक वा द्वे वा चित्तानि पवत्तन्ति, ततो भवङ्ग ओतरति'–एतन्मात्र ही कहते[2] ।

विभावनीकार कहते है–"मूलटीकार का यह कथन कि चूकि आवर्जनचित्त कुशल, अकुशल धर्मो के अनन्तरप्रत्यय कहे गये है और आवर्जन तथा वोट्ठपन अभिन्न है, अत जब वोट्ठपन प्रवृत्त होता है तो वह कामावचर कुशल, अकुशल एव क्रिया जवनो का एकान्तरूप से प्रत्यय होगा ही और यदि परीत्तालम्बन मे जवन पूर्ण वेग से (सात वार) नही होते है तो उन्हे कम से कम मूर्च्छा-आदि काल की तरह मन्द वेग से (४–५ वार) तो अवश्य होने चाहिये । पुनश्च–जैसे त्रिहेतुक विपाकचित्त अनन्तर-प्रत्यय कहे जाने पर भी क्षीणास्रव की च्युति के वश प्रवृत्त होने पर वे किसी के भी अनन्तरप्रत्यय नही होते, वैसे वोट्ठपन भी प्रत्ययविकल होने से कुशल, अकुशल-आदि जवनो का प्रत्यय नही होगा–ऐसा नही, अपितु वह (वोट्ठपन) तो जवनो का अवश्य प्रत्यय होगा"–यह ठीक नही कहा जा सकता, अत अट्ठकथा मे कथित नय के अनुसार ही परीत्त-आलम्बन का नियम होता है । अर्थात् परीत्त-आलम्बन मे जवन प्रवृत्त नही होते, वोट्ठपन ही दो या तीन वार प्रवृत्त होता है[3] ।

परीत्त-आलम्बन का आलम्बन करनेवाली यह वीथि, जिस समय 'देखने की की तरह' या 'सुनने की तरह' की प्रतीति होती है उस समय प्रवृत्त होती है । अर्थात् इस (वीथि) मे रूपालम्बन या शब्दालम्बन अपने अपने सम्बद्ध द्वारो मे प्रादुर्भूत तो होते है, किन्तु प्रसाद, आलम्बन, आलोक-आदि कारणो के अतिदुर्बल होने से उन (आलम्बनो) का स्पष्ट परिज्ञान नही हो पाता । रूप का केवल दर्शनमात्र, शब्द का केवल श्रवणमात्र-आदि ही हो पाता है, इसीलिये कहा है कि 'देखने की तरह, सुनने की तरह' होनेवाली प्रतीति के काल मे यह वीथि उत्पन्न होती है[4] ।

वोट्ठपनवार, चक्खुद्वारिक
परीत-आलम्बनवीथि समाप्त।

---

१. अट्ठ०, पृ० २१८ । २. प० दी०, पृ० १३५ ।

३ विभा०, पृ० ११०–१११ । विस्तार के लिये द्र०–विभा०, पृ० ११०–१११, प० दी०, पृ० १३४–१३५ ।

४ "अयं पन वारो 'दिट्ठ विय मे, सुत विय मे' ति आदीनि वदनकाले लब्भति ।"–अट्ठ०, पृ० २१८ ।

अतिपरित्तारमणवीथि

१६ याव वोट्ठपनुप्पादा च पन* अप्पहोन्तातीतकमापातमागतं निरोधासन्नमारमणं† अतिपरित्तं नाम। तत्थ भवङ्गचलनमेव होति, नत्थि वीथिचित्तुप्पादो।

वोट्ठपन के उत्पाद तक भी स्थित होने मे असमर्थ होते हुए (अत्यधिक चित्तक्षण) अतीत होने पर अभिनिपात (प्रादुर्भाव) को प्राप्त निरोधासन्न आलम्बन 'अतिपरीत्त-आलम्बन' है। वहाँ (अतिपरीत्त-आलम्बन वीथि मे) केवल भवङ्गचलन ही होता है, वीथिचित्त का उत्पाद नही होता।

मोघवार

अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि

१६ यह अतिपरीत्त आलम्बन वोट्ठपन के उत्पाद तक भी स्थित रहने मे असमर्थ होता है, जवन या तदालम्बन के उत्पादपर्यन्त स्थित रहने की तो बात ही दूर है। यहाँ आलम्बन, वस्तु एव आलोक नामक उत्पादक कारण परीत्त आलम्बन के उत्पादकाल जितने भी बलवान् न होकर इतने अधिक दुर्बल होते है कि सम्बद्ध द्वार मे इस (अतिपरीत्त-आलम्बन) का प्रादुर्भाव निरोध के आसन्नकाल मे ही हो पाता है। अत इसके प्रादुर्भावकाल से गणना करने पर इसकी अत्यन्त न्यून चित्तक्षण आयु होने के कारण इसे 'अतिपरीत्त-आलम्बन' कहा जाता है।

रूपालम्बन एव चक्षुप्रसाद – दोनो के एक साथ उत्पाद से लेकर १० भवङ्ग अतीत होने पर ही रूपालम्बन का प्रादुर्भाव हो पाता है, अत रूपालम्बन के प्रादुर्भाव के अनन्तर केवल दो भवङ्गचलन ही होते है और भवङ्गचलन के पश्चात् वीथिचित्त (आवर्जन-आदि) प्रवृत्त न होकर भवङ्ग ही उत्पन्न होते है[1]।

इस परीत्त-आलम्बन का आलम्बन करके वीथिचित्तो का उत्पाद न होने के कारण, इस वीथि को 'अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि' भी नही कहा जाना चाहिये, किन्तु वन्ध्यापुत्र की भाति इसका व्यवहार होता है – ऐसा समझना चाहिये।

इस परीत्त-आलम्बन के प्रादुर्भूत होने के अनन्तर केवल भवङ्गचलन ही होता है, वीथिचित्तो का उत्पाद नही होता। चूकि केवल भवङ्गचलन ही होता है, इसलिये 'द्विक्खत्तु भवङ्गे चलिते' के अनुसार दो वार भवङ्गचलन ही होगा, अत इसे (अतिपरीत्त-आलम्बन को) अपने सम्बद्ध द्वार मे प्रादुर्भूत होने से पहले पन्द्रह चित्तक्षण से

---

* स्या० मे नही।

† आलम्बन निरोधासन्न – स्या०।

१ "य पन आरम्मण द्वत्तिक्खत्तु वोट्ठब्बनुप्पत्तिया अप्पहोन्त होति, त आवज्जनुप्पत्तिया पि पच्चयो न होतीति वुत्त – 'तत्थ भवङ्गचलनमेव होति'।" – प० दी०, पृ० १३५। द्र० – विभा०, प० १११।

अधिक चित्तक्षण-अतीत नही होना चाहिये – इस प्रकार आचार्यो का मत है । इन आचार्यो के मतानुसार, दस वार अतीत भवङ्ग होने पर प्रारम्भ होनेवाली वीथि, ११ वार, १२ वार, १३ वार, १४ वार अथवा १५ वार अतीत भवङ्ग होने पर प्रारम्भ होनेवाली वीथि – इस प्रकार अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि छह प्रकार की होती है[1] ।

रूपालम्बन एव चक्षुप्रसाद – दोनो के एक साथ उत्पाद से लेकर गणना करने पर, अतीतभवङ्ग दस वार होने पर रूपालम्बन का प्रादुर्भाव होता है और तदनन्तर दो वार भवङ्गचलन होने पर (इस वीथि मे) वीथिचित्तो (आवर्जन-आदि) का उत्पाद न होने से भवङ्ग ही पाँच वार प्रवृत्त होकर रूपालम्बन एव चक्षुप्रसाद – दोनो की सत्रह चित्तक्षण आयु पूर्ण हो जाती है, अत द्वितीय भवङ्गचलन के अनन्तर पञ्चम भवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली वीथि को प्रथम 'अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि' कहते हैं । [द्वितीय, तृतीय-आदि सभी अतिपरीत्त-आलम्बनवीथियो को इसी प्रकार जानना चाहिये । श्रोत्र, घ्राण-आदि द्वारो मे प्रवृत्त होनेवाली अतिपरीत्त-आलम्बनवीथियो को भी इसी प्रकार जानना चाहिये । नीचे प्रथम अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि का प्रारूप दिया जा रहा है, शेष वीथियो को 'वीथिसमुच्चय' (चतु० परि०) मे देखे ।]

प्रथम अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि

"ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती न न भ भ भ भ भ"
००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ०००

वादान्तर – कुछ आचार्यो का कथन है कि 'भवङ्गचलनमेव' – ऐसा सामान्य वचन होने के कारण इस वीथि मे जबतक आलम्बन का निरोध नही होता तबतक भवङ्ग-चलन को ही प्रवृत्त होते रहना चाहिये । जैसे – १० वार अतीतभवङ्ग होने पर प्रारम्भ होने-वाली वीथि मे ७ वार भवङ्गचलन होना चाहिये । इसी प्रकार ११ वार अतीतभवङ्ग होने पर प्रारम्भ होनेवाली वीथि मे ६ वार भवङ्गचलन होना चाहिये – इत्यादि ।

निराकरण – भवङ्गचलन के होने (उत्पाद) का आलम्बन का निरोध न होने से कोई सम्बन्ध नही है । अभिनव आलम्बन के प्रादुर्भूत होनेमात्र से ही भवङ्ग-चलन दो वार होता है, अत भवङ्गचलन (दो वार) होने के अनन्तर यदि भवङ्गो-पच्छेद नही होता है तो यथागृहीत कर्म, कर्मनिमित्त या गतिनिमित्त आलम्बन का ही (भवङ्ग द्वारा) शान्तभाव से ग्रहण होना चाहिये । नव प्रादुर्भूत आलम्बन भी, जबतक उसका निरोध नही होता तबतक, भवङ्ग मे सङ्घट्टन करके रहनेवाला नही होता, अत सात वार भवङ्गचलन को माननवाले वाद मे कोई युक्ति एव प्रमाण नही है ।

'द्विक्खत्तु भवङ्गे चलिते' – यह वाक्य भवङ्गोपच्छेद होने पर पुन वीथिचित्तो के उत्पादवाली वीथि के प्रसङ्ग मे प्रयुक्त वाक्य है । जहाँ पुन वीथिचित्त उत्पन्न नही होते वहाँ भवङ्गचलन एक वार भी हो सकता है, क्योकि आलम्बन, वस्तु एव आलोक-आदि कारणसामग्री के पूर्ण होने पर आलम्बन के प्रादुर्भाव को कोई रोक नही सकता, वह नियमत प्रादुर्भूत होगा ही; तथा (उसके) प्रादुर्भूत होने मे भी वह (आलम्बन) आलम्बन, वस्तु, आलोक-आदि कारणो की शक्ति के अनुरूप एक, दो तीन-आदि चित्त-

---

१. द्र० – चतु० परि० (वीथिसमुच्चय) ।

क्षणो के अतीत होने पर ही प्रादुर्भूत होगा । अत १६ चित्तक्षण अतीत होने पर वह प्रादुर्भूत नही होगा – ऐसा कौन कह सकता है ? इस प्रकार १६ चित्तक्षण अतीत होने पर यदि उसका प्रादुर्भाव होगा तो एक वार भवङ्गचलन होने मात्र से ही उस (आलम्बन) की सत्रह चित्तक्षण आयु पूर्ण हो जाने से उसका निरोध हो जायेगा । अत इस प्रकार के आलम्बन मे भवङ्गचलन एक वार भी हो सकता है। भवङ्ग के दो वार चलित होने से ही आलम्बन का प्रादुर्भाव होगा, एक वार चलित होने की अवस्था मे प्रादुर्भाव नही होगा – ऐसा उल्लेख अट्ठकथा, टीका-आदि ग्रन्थो मे कही लेशमात्र भी नही है । आचार्य (अनुरुद्ध) भी 'भवङ्गचलनमेव होति' – ऐसा सामान्य वचन ही कहते है, अत १६ चित्तक्षण अतीत होने पर आलम्बन के प्रादुर्भाव के पश्चात् एक वार भवङ्गचलन के अनन्तर निरुद्ध होनेवाली सप्तम 'अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि' भी होनी चाहिये ।

वोट्ठपन के अनुत्पाद से आवर्जन-आदि का भी अनुत्पाद – १५ चित्तक्षण अतीत होने पर प्रादुर्भूत होनेवाले आलम्बन मे अवकाश न होने के कारण यदि आवर्जन-आदि वीथिचित्त उत्पन्न न हो पाते हो तो न हो, कोई बात नही, इसी तरह १०, ११ आदि चित्तक्षणो के अतीत होने पर प्रादुर्भूत होनेवाले आलम्बनो मे भी दो बार वोट्ठपन के उत्पाद के किये चित्तक्षणो के अवशिष्ट न होने से उनमे भी भले ही वोट्ठपन का उत्पाद न हो, किन्तु आवर्जन-आदि वीथिचित्तो की उत्पत्ति के लिये अवकाश होने से, उनमे आवर्जन से लेकर सन्तीरण तक के चित्तो का उत्पाद तो हो ही सकता है तो फिर ऐसे आलम्बनो मे क्यो इन (आवर्जन-आदि सन्तीरणपर्यन्त) चित्तो का उत्पाद न होकर केवल भवङ्गचलन ही होता है ?

उत्तर – यदि भवङ्ग का आवर्तन (विच्छेद) करनेवाला पञ्चद्वारावर्जनचित्त उत्पन्न हो जाता है तो वोट्ठपन तक बिना पहुँचे, बीच मे ही अर्थात् चक्षुर्विज्ञान, सम्पटिच्छन या सन्तीरण के क्षण मे चित्तसन्तति के निवृत्त (निरुद्ध) हो जाने का कोई नियम नही है, वह वोट्ठपन तक अवश्य पहुँचेगी – यही चित्तधर्मता है । चित्तो के इस नियम (स्वभाव) को केवल भगवान् बुद्ध ही जान सकते है, अट्ठकथाचार्य उन्ही (भगवान् बुद्ध) के ज्ञान का प्रकाश करते है, अत इस विषय मे अट्ठकथाचार्यो के मत ही अन्तिम प्रमाण है । अट्ठकथा मे उक्त है –

"किरियमनोधातुया भवङ्गे आवट्टिते, वोट्ठपनं अपापेत्वा व, अन्तरा, चक्खुविञ्ञाणे वा सम्पटिच्छने वा सन्तीरणे व ठत्वा निवत्तिस्सतीति नेत ठान विज्जति[1] ।"

अर्थात् क्रियामनोधातु (पञ्चद्वारावर्जन) द्वारा भवङ्ग आवर्तित (विच्छिन्न) होने पर वोट्ठपन को बिना प्राप्त किये, बीच मे अर्थात् चक्षुर्विज्ञान, सम्पटिच्छन या सन्तीरण के क्षण मे, चित्तसन्तति रुककर निवृत्त हो जायेगी – इसके लिये अवकाश नही है ।

अत यदि वोट्ठपन का उत्पाद नही होता है तो चित्तक्षण अवशिष्ट होने पर भी,

---

१ अट्ठ०, पृ० २१७–२१८ ।

१७. इच्चेवं चक्खुद्वारे, तथा सोतद्वारादीसु* चेति सब्बथापि पञ्चद्वारे तदारमण-जवन-वोट्ठपन-मोघवारसङ्खातानं† चतुन्नं वारानं यथाक्कमं आरमणभूता विसयप्पवत्ति चतुधा वेदितब्बा।

पूर्वोक्त नय से जिस प्रकार चक्षुर्द्वार में, उसी प्रकार श्रोत्र-आदि द्वारों में भी (चित्त-प्रवृत्ति) जाननी चाहिये। इस तरह सभी प्रकार से पञ्चद्वार में तदालम्बन, जवन, वोट्ठपन एवं मोघवार नामक चारों वारों की आलम्बनभूत चतुर्विध विषयप्रवृत्ति जाननी चाहिये।

आवर्जन-आदि वीथिचित्तों का उत्पाद नहीं होगा और इस प्रकार के आलम्बन में (जिसमें वोट्ठपन उत्पन्न नहीं होता है) वीथिचित्त उत्पन्न न होकर, भवङ्गचलन दो वार होने के अनन्तर, जबतक आलम्बन और चक्षु प्रसाद निरुद्ध नहीं हो जाते तबतक, भवङ्ग ही यथागृहीत आलम्बन में शान्तभाव से प्रवृत्त होता रहता है।

मोघवार

अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि समाप्त।

१७ यह चक्षुर्द्वारवीथि के निगमन को कहनेवाली पालि है। श्रोत्र-द्वार-आदि में भी उसी प्रकार जानना चाहिये। जैसे – चक्षुर्द्वार में अतिमहद्-आलम्बनवीथि १, महद्-आलम्बनवीथि २, परीत्त-आलम्बनवीथि ६, एवं अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि ६ – इस प्रकार १५ वीथियाँ होती हैं। उसी प्रकार श्रोत्रद्वार-आदि में भी १५-१५ वीथियाँ होती हैं। इस तरह पञ्चद्वार में कुल ७५ वीथियाँ होती हैं।

'यथाक्कम' के अनुसार वार एवं आलम्बन –

१ तदालम्बनवार	–	अतिमहद्-आलम्बन
२. जवनवार	–	महद्-आलम्बन
३. वोट्ठपनवार	–	परीत्त-आलम्बन
४ मोघवार	–	अतिपरीत्त-आलम्बन

प्रस्तुत ग्रन्थ में अन्तिम वार को 'मोघवार' कहा गया है, किन्तु 'अट्ठसालिनी' में तदालम्बन से शून्य होने के कारण 'जवनवार' को तथा जवन से शून्य होने के कारण 'वोट्ठपनवार' को भी मोघवार कहा गया है[1]।

मोघवार का आलम्बन – 'चतुन्नं वारानं आरमणभूता' – इस वचन के अनुसार 'तदालम्बनवार का आलम्बन, जवनवार का आलम्बन' – आदि कहा जाना तो उन

---

* सोतद्वारादिसु – सी०, रो०, ना०।

† ०मोघसङ्खातान – स्या०।

१ "सब्बसो वीथिचित्तुप्पत्तिया अभावतो पच्छिमवारो विध मोघवारवसेन वुत्तो, अञ्ञत्थ पन दुतियततियवारा पि तदारम्मणजवनेहि सुञ्ञत्ता 'मोघवारा' ति वुत्ता।" – विभा०, पृ० १११। द्र० – अट्ठ०, पृ० २१७–२१८।

उन वारो द्वारा उस उस आलम्बन का आलम्बन (ग्रहण) किया जाने से समीचीन कहा जा सकता है, किन्तु 'मोघवार का आलम्बन'–यह कथन तो मोघवार द्वारा उस आलम्बन का ग्रहण न किया जाने से कैसे उचित कहा जा सकता है?

समाधान–'मोघवार का आलम्बन'–इस शब्द का अर्थ 'मोघवार द्वारा किया गया आलम्बन'–इस प्रकार नही समझना चाहिये, अपितु 'मोघवार होने के लिये प्रादुर्भूत आलम्बन'–इस प्रकार समझना चाहिये। अत मोघवार द्वारा उस आलम्बन का आलम्बन (ग्रहण) न किया जाने पर भी वह 'मोघवार का आलम्बन' कहा जा सकता है[1]।

विभावनीकार का कथन है कि जिस प्रकार "लच्छति (लभति) मारो आरम्मण[2]" इस पालि मे 'आलम्बन' शब्द प्रत्यय (=कारण) अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, उसी प्रकार यहाँ 'आरमणभूता' इस स्थल मे जब उस (आलम्बन शब्द) का सम्बन्ध प्रथम तीन वारो से होता है तब तो वह 'आलम्बन' (=विषय)–इस अर्थ मे प्रयुक्त होता है, किन्तु जब उसका सम्बन्ध मोघवार से होता है तब वह प्रत्यय (=कारण) अर्थ मे प्रयुक्त होता है–ऐसा समझना चाहिये। अत 'मोघवार'–इस नामव्यवहार का कारणभूत होने से इसे (अतिपरीत्त-आलम्बन को) 'मोघवार का आलम्बन' कहा जाता है[3]।

छह षट्कों (छक्कों) का सम्बन्ध–छह वस्तु, छह द्वार-आदि छह षट्क, इस वीथिपरिच्छेद के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, अपरिहार्य एव ज्ञातव्य विषय है–ऐसा कहा गया है[4]। यहाँ इन छह षट्को का सङ्क्षेपत पारस्परिक सम्बन्ध दिखाया जा रहा है।

चक्षुर्द्वार मे रूपालम्बन, अतिमहद् (अतिमहन्त) विषयप्रवृत्ति के रूप मे अथवा महद् (महन्त), परीत्त-आदि विषयप्रवृत्ति के रूप मे प्रादुर्भूत होते है, तथा चक्षुर्विज्ञान-चित्त चक्षुर्वस्तु का आश्रय करके एव पञ्चद्वारावर्जनचित्त हृदयवस्तु का आश्रय करके प्रवृत्त होते है, अत चक्षुर्द्वार मे प्रादुर्भूत आलम्बन की अपेक्षा से उत्पन्न होने के कारण इस वीथि को 'चक्षुर्द्वारवीथि' तथा इसमे चक्षुर्विज्ञान प्रधान होता है अतः इस विज्ञान की अपेक्षा से इसे 'चक्षुर्विज्ञानवीथि' भी कहते है। इस प्रकार इस चक्षुर्द्वारवीथि मे चक्षु-र्वस्तु, हृदयवस्तु, चक्षुर्द्वार, रूपालम्बन, चक्षुर्विज्ञान तथा चक्षुर्द्वार के साथ अतिमहद्-(अतिमहन्त) आदि चतुर्विध विषयप्रवृत्ति के ज्ञान से ही इस (चक्षुर्द्वारवीथि के) सम्बन्ध मे ज्ञान की परिपूर्णता होती है। श्रोत्रद्वारवीथि-आदि को भी इसी प्रकार जानना चाहिये। इस तरह वीथिविषयक सम्यग्ज्ञान के लिये इन षट्को का ज्ञान अपरिहार्य (अत्यावश्यक) होता है।

---

१. "अतिपरित्तारम्मण पि आपातगतमत्तेन मोघवारस्स आरम्मण नाम होति, न आरम्मणकरणवसेन। इतरानि पन उभयथापि इतरेस वारान आरम्मणानि नाम होन्तीति वुत्त–'चतुन्न वारान यथाक्कम आरम्मणभूता' ति।"–प० दी०, पृ० १३६।

२. स० नि०, चतु० भा०, पृ० १२७।

३ विभा०, पृ० १११।

४. द्र०–अभि० स० ४.३, पृ० २८६।

गर्भस्थ की वीथि–'मातृकुक्षि मे पञ्चद्वारवीथि होती है कि नही ?'–इस विषय पर प्राय विचार किया जाता है, अत हम यहाँ 'परमत्थसरूपभेदनी[1]' के आधार पर इस विषय से सम्बद्ध विचार सङ्क्षेप मे प्रस्तुत कर रहे है ।

चक्षु प्रसाद, रूपालम्बन, आलोक एवं मनसिकार–इन चार कारणो के सन्निपात से ही चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न हो सकता है[2] । मातृगर्भ मे आलोक न होने से शिशु की सन्तान मे चक्षुर्द्वारिकवीथि नही हो सकती । जैसे कहा भी गया है–'न हि अन्तोकुच्छिय चक्खुविञ्ञाण उप्पज्जति[3] ।" अर्थात् मातृकुक्षि मे चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न नही होता ।

जिस प्रकार १००-२०० गज लम्बी लकडी के एक सिरे पर कान लगाये हुए व्यक्ति को उस लकडी के दूसरे सिरे पर किये जानेवाले आघात का शब्द उस लकडी के माध्यम (सम्बन्ध) से सुनाई पड जाता है, उसी प्रकार जब गर्भस्थ शिशु का श्रोत्रप्रसाद सम्पन्न हो जाता है तब उसके समीप होनेवाले मातृकुक्षि के शब्द का तथा माता की कुक्षि पर किये गये आघात से उत्पन्न शब्द का आलम्बन करके उस शिशु की सन्तान मे श्रोत्रद्वारिकवीथि का उत्पाद हो सकता है ।

गर्भकाल मे आश्वास-प्रश्वास नही होते, अत गर्भस्थ शिशु के घ्राणप्रसाद मे गन्धालम्बन का प्रवेश न हो पाने के कारण, उसकी सन्तान मे घ्राणद्वारिकवीथि नही हो पाती ।

जब जिह्वाप्रसाद सम्पन्न हो जाता है तब शिशु के मुख मे स्थित अप्-धातु के सहयोग से उसकी सन्तान मे जिह्वाद्वारिकवीथि उत्पन्न हो सकती है ।

कायद्वारिकवीथि के उत्पाद के लिये अपेक्षित स्प्रष्टव्यालम्बन की मातृकुक्षि मे प्रचुरता होने के कारण, कायद्वारिकवीथि के उत्पन्न होने मे तो कोई सन्देह ही नही है ।

इस प्रकार श्रोत्रद्वारिक, जिह्वाद्वारिक एवं कायद्वारिक वीथियाँ गर्भावस्था मे भी, तथा चक्षुर्द्वारिक एव घ्राणद्वारिक वीथियाँ गर्भ से बाहर निकल जाने के पश्चात् (शिशु को चारों ओर से घेरे रहनेवाली झिल्ली एव इन्द्रिय-छिद्रो मे प्रविष्ट श्लेष्मा-आदि मलों के हट जाने पर) जब शिशु आँख खोलता है और श्वास-प्रश्वास लेने मे समर्थ हो जाता है तब प्रारम्भ होती है । जैसे कहा भी है–

"मातुकुच्छिगतकाले विय हि बहिनिक्खन्तकाले पि न ताव इन्द्रियानि सकिच्चकानि होन्ति, अनुक्कमेन पन विसदभावं पत्तकाले एव सकिच्चकानि[4] ।"

अर्थात् मातृकुक्षिगत काल की तरह बाहर निकलने के काल मे भी इन्द्रियाँ स्वकृत्य करने मे समर्थ नही हो पाती, अनुक्रम से विशद (स्वच्छ) भाव को प्राप्त हो जाने के काल मे ही वे स्वकृत्य करने मे समर्थ होती है ।

---

१. यह अभिधर्मविषय का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन करनेवाला बर्मी भाषा मे लिखा हुआ अतिप्रसिद्ध ग्रन्थ है ।

२ द्र०–अट्ठ०, पृ० २२७ ।

३ दी० नि० अ०–(सुत्तमहावग्ग-अट्ठकथा), पृ० २६ ।

४ विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १३२ ।

१८ वीथिचित्तानि सत्तेव चित्तुप्पादा चतुद्दस ।
चतुपञ्ञास वित्थारा पञ्चद्वारे यथारहं ।।
अयमेत्थ पञ्चद्वारे वीथिचित्तप्पवत्तिनयो ।

पञ्चद्वार में यथायोग्य (द्वार एव आलम्बन के अनुसार) ७ वीथिचित्त ही होते है तथा १४ चित्तोत्पाद ही, विस्तार से (गणना करने पर) ५४ हो जाते हैं ।

इस वीथिसङ्ग्रह मे यह पञ्चद्वार में, वीथिचित्तो की प्रवृत्ति का नय है ।

---

१८. **यथारह** – रूपालम्बन जब चक्षुर्द्वार मे प्रादुर्भूत होता है तब पञ्चद्वारावर्जन, चक्षुर्विज्ञान-आदि वीथिचित्त उत्पन्न होते है, तथा शब्दालम्बन जब श्रोत्रद्वार में प्रादुर्भूत होता है तब पञ्चद्वारावर्जन, श्रोत्रविज्ञान-आदि वीथिचित्त उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार वीथिचित्त यथायोग्य द्वार एव आलम्बन के अनुसार प्रवृत्त होते हैं ।

वीथिचित्तानि सत्तेव – प्रत्येक वीथि मे सात प्रकार के चित्त उत्पन्न होते हैं, यथा – पञ्चद्वारावर्जन, चक्षुर्विज्ञान, सम्पटिच्छन, सन्तीरण, वोट्ठपन, जवन एव तदालम्बन[1] ।

चतुद्दस – एक वीथि मे उत्पन्न चित्तो के 'वार' की गणना करने पर उनकी सङ्ख्या १४ होती है, यथा – पञ्चद्वारावर्जन, चक्षुर्विज्ञान, सम्पटिच्छन, सन्तीरण, वोट्ठपन, जवन ७ एव तदालम्बन २=१४ ।

चतुपञ्ञास... – पञ्चद्वार मे होनेवाले चित्तो को विस्तार से देखने पर उनकी सङ्ख्या ५४ होती है । वे सभी ५४ कामावचर चित्त ही हैं, यथा – पञ्चद्वारावर्जन १, द्विपञ्चविज्ञान १०, सम्पटिच्छन २, सन्तीरण ३, वोट्ठपन (मनोद्वारावर्जन) १, कामजवन २९, तदालम्बन ८ (यद्यपि तदालम्बनचित्त ११ होते हैं, किन्तु उनमे से तीन चित्तो का सन्तीरण के नाम से पृथग् ग्रहण हो चुका है, अत यहाँ ८ महाविपाकचित्त ही तदालम्बन के नाम से गृहीत होते हैं ।) इस प्रकार पञ्चद्वार मे होनेवाले सभी ५४ चित्त कामचित्त ही हैं ।

पञ्चद्वारवीथि समाप्त ।

---

१ द्र० – अट्ठ०, पृ० २१९–२२० ।

तु० – "भवङ्गावज्जनञ्चेव, दस्सन सम्पटिच्छन ।
सन्तीरण वोट्ठब्बन, जवन भवति सत्तम ।।

तत्थ भवङ्गं उपपत्तिभवस्स अङ्गकिच्च साधयमान पवत्तति, त आवट्टेत्वा किरियमनोधातु आवज्जनकिच्च साधयमाना, तनिरोधा चक्खुविञ्ञाणं दस्सनकिच्च साधयमानं, तनिरोधा विपाकमनोधातु सम्पटिच्छनकिच्च साधयमाना, तंनिरोधा विपाकमनोविञ्ञाणधातु सन्तीरणकिच्चं साधयमाना, तनिरोधा किरियमनोविञ्ञाणधातु वोट्ठब्बनकिच्च साधयमाना, तनिरोधा सत्तक्खत्तुं जवन जवति ।" – दी० नि० अ०, पृ० १७४; विभ० अ०, पृ०३५९–३६० ।

मनोद्वारवीथि

विभूतारमणवीथि

१९ मनोद्वारे पन यदि विभूतमारमणं आपातमागच्छति, ततो परं*, भवङ्गचलनमनोद्वारावज्जनजवनावसाने तदारमणपाकानि पवत्तन्ति, ततो परं भवङ्गपातो ।

मनोद्वार मे यदि विभूत-आलम्बन अभिनिपात (प्रादुर्भाव) को प्राप्त होता है तो उसके प्रादुर्भूत होने से भवङ्गचलन, मनोद्वारावर्जन एवं जवन (होने) के अन्त मे तदालम्बन महाविपाकचित्त प्रवृत्त होते है और उस (तदालम्बन) के अनन्तर भवङ्गपात होता है ।

अविभूतारमणवीथि

२०. अविभूते पनारमणे जवनावसाने भवङ्गपातो व होति, नत्थि तदारमणुप्पादो ति ।

अविभूत-आलम्बन मे तो जवन के अन्त मे भवङ्गपात ही होता है । यहाँ तदालम्बन का उत्पाद नही है । (इस प्रकार विषयप्रवृत्ति छह प्रकार की होती है ।)

कामजवनमनोद्वारवीथि

विभूतालम्बन-अविभूतालम्बनवीथि

१९-२० मनोद्वार – पहले कहा गया है कि 'रूपालम्बन चक्षुर्द्वार और मनोद्वार – दोनो द्वारो मे एक साथ प्रादुर्भूत हो सकता है'[1] । वहाँ कथित मनोद्वार चक्षुर्द्वार के साथ प्रयुक्त होने से 'मिश्रक मनोद्वार' कहलाता है । इस मनोद्वारवीथि मे प्रयुक्त मनोद्वार उस प्रकार का मिश्रक मनोद्वार न होकर 'शुद्ध मनोद्वार' है[2] ।

['ततो पर भवङ्गचलन० ..' का 'आलम्बन के प्रादुर्भूत हो जाने के अनन्तर भवङ्गचलन होता है' – यह अर्थ होता है, किन्तु यह अर्थ समीचीन नही है, क्योकि भवङ्गचलन आलम्बन के प्रादुर्भूत हो जाने के अनन्तर नही होता, अपितु आलम्बन

---

* रो० मे नही ।

१ द्र० – अभि० स० ४ : ११ की व्याख्या, पृ० ३०५-३०८ ।

२. "तत्थ मनोद्वारे ति सुद्धमनोद्वारे, चक्खादीसु हि घट्टनेन सहेव यत्थ आपातमागच्छति, त 'मिस्सकद्वारं' ति वुच्चति । इध पन सुद्धमेवाधिप्पेत ति ।" – प० दी०, पृ० १३६ ।

के प्रादुर्भाव के साथ (समकाल) ही भवङ्ग चलित हो जाता है। अर्थात् आलम्बन का प्रादुर्भाव एव भवङ्गचलन – दोनो साथ ही होते है, अत 'ततो' के अनन्तर 'पर' यह पाठ नही होना चाहिये।]

विभूत, अविभूत – विषयप्रवृत्ति के नामकरण मे पञ्चद्वार म जब 'अतिमहद्' (अतिमहन्त) – आदि नामो को रखा गया है, तब मनोद्वार मे क्यो विभूत एव अविभूत – इन नामो को रखा गया है ?

समाधान – पञ्चद्वार में आलम्बन के प्रादुर्भूत होने में चित्त की शक्ति (बल) प्रधान नही है, अपितु आलम्बन की शक्ति प्रधान होती है। अत आलम्बन-शक्ति की अपेक्षा से 'अतिमहद्' (अतिमहन्त) आदि नामकरण किया गया है। इसके विपरीत मनोद्वार मे आलम्बन के प्रादुर्भूत होने मे आलम्बन की कोई शक्ति नही होती, अपितु चित्त की शक्ति प्रधान होती है। अत चित्तशक्ति की अपेक्षा करके विभूत' या 'अविभूत' नाम रखा गया है।

स्पष्टीकरण – पञ्चद्वार मे रूपालम्बन, शब्दालम्बन-आदि का अभिनिपात होने पर देखने या सुनने की इच्छा न होने पर भी आलम्बन की शक्ति के कारण देखना या सुनना पडता है। प्रादुर्भाव होते समय भी आलम्बन की शक्ति के भले-बुरे, तीक्ष्णता-मन्दता-आदि के अनुसार आलम्बन में भेद हो जाता है। इसलिये आलम्बन के प्रादुर्भावकाल से गणना करने पर अधिक चित्तक्षणपर्यन्त स्थित होनेवाले आलम्बन को 'अतिमहद्' (अतिमहन्त) आलम्बन कहते हैं। इस प्रकार अपनी शक्ति की अपेक्षा से ही इन (आलम्बनो) के 'अतिमहद्', 'महद्' (महन्त) आदि नामकरण किये जाते हैं।

मनोद्वार में चित्त की शक्ति के अनुसार आलम्बनो के विभूत या अविभूत नामभेद होते है, जैसे – दर्पण देखते समय, दर्पण यदि स्वच्छ होता है तो प्रतिबिम्ब स्पष्ट तथा दर्पण यदि अस्वच्छ होता है तो प्रतिबिम्ब भी अस्पष्ट होता है, ठीक इसी प्रकार यदि चित्तधातु समाधि की प्रबलता से स्वच्छ होती है तो आलम्बन 'विभूत' होता है तथा समाधि दुर्बल होने से चित्तधातु यदि अस्वच्छ होती है तो प्राप्त आलम्बन भी 'अविभूत' होता है। इस प्रकार चित्तशक्ति की अपेक्षा से आलम्बनों का 'विभूत' या 'अविभूत' नाम होता है[1]।

विभावनीकार के अनुसार, चूंकि मनोद्वार में प्रादुर्भूत आलम्बन अतीत एवं अनागत आलम्बन भी होते हैं अत, 'अतिमहद्' – आदि नामो द्वारा उनकी विषयव्यवस्था न की जा सकने के कारण विभूत एव अविभूत नाम से विषयव्यवस्था की गयी है[2]।

---

१. तु० – "विभूत ति सम्मागहित पाकट। य किञ्चि अतीतानागतपच्चुप्पन्नं कालविमुत्तं वा मनोद्वारे पाकटाकारेन उपट्ठाति, त 'विभूत' नाम, इतरं 'अविभूत' नाम।" – नव० टी०, पृ० ७२; विभा०, पृ० १०५, प० दी०, पृ० १२२, विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १३३।

२. विभा०, पृ० ११२।

पञ्चद्वार मे चित्तो की उत्पत्ति के चार वार होते है, यथा – तदालम्बनवार, जवनवार, वोट्ठपनवार एव मोघवार। इन चार वारो के अनुसार विषयप्रवृत्ति के भी 'अतिमहद्-आदि चार भेद किये गये है। मनोद्वार मे, चूंकि तदालम्बनवार एव जवनवार – इस प्रकार दो ही वार होते है अत, इन वारो के अनुसार विषय-प्रवृत्ति के भी विभूत एव अविभूत – ये दो भेद ही किये गये है।

परमत्थदीपनीवाद – परमत्थदीपनीकार ने मनोद्वार मे भी 'अतिविभूत-आलम्बन, विभूत-आलम्बन, अविभूत-आलम्बन एव अति-अविभूत-आलम्बन' – इस प्रकार विषय-प्रवृत्ति के चार भेद करके तदनुसार चित्तवार के भी 'तदालम्बनवार, जवनवार, वोट्ठपनवार एव मोघवार' – इस प्रकार पञ्चद्वार की भाति चार भेद किये है[1]।

'परमत्थदीपनी' मे आलम्बन के जो उपर्युक्त 'अतिविभूत-आलम्बन'-आदि नाम किये गये है, ऐसे नाम अन्यत्र (अन्य ग्रन्थो मे) अनुपलब्ध होने पर भी ये (नाम) ग्रन्थकार की विवक्षावश हो सकते है। ग्रन्थकार वोट्ठपनवार में मनोद्वारावर्जन को 'वोट्ठपन' कहकर उस मनोद्वारावर्जन मे अन्त करनेवाली वीथि को 'वोट्ठपनवार' कहना चाहते है। इस वोट्ठपनवार का प्रस्तुत ग्रन्थ (अभिधम्मत्थसङ्गहो) मे उल्लेख न होने पर भी, 'ञाणविभङ्गट्ठकथा' मे इसका उल्लेख मिलता है[2]। अतएव 'वीथिसमुच्चय' नामक परिशिष्ट मे भी इस वीथि को दिखाया जायेगा।

वीथिचित्तो का बिलकुल उत्पाद न होकर जिसमे केवल भवङ्गचलनमात्र होता है – ऐसे मोघवार एव अति-अविभूत पर विद्वानो को विचार करना चाहिये। परमत्थदीपनीकार का कथन है कि 'सुषुप्ति-काल मे भी कर्म, कर्मनिमित्त, एव गतिनिमित्त – इन तीन आलम्बनो मे से किसी एक आलम्बन के अतिरिक्त अन्य आलम्बन भी सर्वदा प्रादुर्भूत होते रहते है'। इस प्रकार का मत रखने के कारण वे 'भवङ्गचलनमात्र से निरुद्ध होनेवाले अनेकविध आलम्बन होते है' – ऐसा विश्वास करते है[3]।

मनोद्वार में प्रादुर्भूत होनेवाले आलम्बन चित्तशक्ति की अपेक्षा से प्रादुर्भूत होते है और उस चित्तशक्ति की अपेक्षा से प्रादुर्भूत वे आलम्बन आवर्जन तक भी न

---

१ "इति इमस्मि मनोद्वारे पि तदारम्मण-जवन-वोट्ठब्बनमोघवारसङ्खातान चतुण्ण वारान यथाक्कम आरम्मणभूता विसयप्पवति चतुधा वेदितब्बा ति। तत्थ तदारम्मणवारस्स आरम्मणभूता 'अतिविभूता' नाम, जवनवारस्स 'विभूता' नाम, वोट्ठब्बनवारस्स 'अविभूता' नाम, मोघवारस्स आरम्मणभूता 'अति-अविभूता' नामा ति योजेतब्बा। एत्थ च आरम्मणस्स वा चित्तस्स वा अतिबलवत्ताय अतिविभूतता वेदितब्बा। दुब्बले पि हि चित्ते पथविपब्बतादिवसेन अतिबलवन्तं आरम्मण अतिविभूत नाम होति। अतिबलवन्ते च चित्ते अतिसुखुम पि निब्बान अतिविभूत नाम होतीति। एव सेसेसू पीति।"– प० दी०, पृ० १३८।

२. विभ० अ०, पृ० ४०८ – ४०९।

३. विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० – प० दी०, पृ० १३७ – १३८।

पहुँच कर भवङ्गचलनमात्र होते ही निरुद्ध हो जाते है – ऐसा मानना अयुक्तिसङ्गत प्रतीत होता है। तथा सुषुप्तिकाल मे भवङ्गचित्तो द्वारा यथागृहीत कर्म, कर्मनिमित्त या गतिनिमित्त के अतिरिक्त अन्य आलम्बनो का भी प्रादुर्भाव होता है – ऐसा मानना भी युक्तियुक्त नही है। अत परमत्थदीपनीकार द्वारा निरूपित मोघवार एव अतिविभूत-आलम्बन विद्वानो द्वारा विचारणीय है[1]।

मनोद्वार में प्रादुर्भूत हो सकने योग्य आलम्बन—

मनोद्वार मे अतीत नाम-रूप धर्म, अनागत नाम-रूप धर्म, प्रत्युत्पन्न नाम-रूप धर्म, अभाव-प्रज्ञप्ति तथा अतिसूक्ष्म एव गम्भीर निर्वाण-धर्म प्रादुर्भूत हो सकते हैं। मनोद्वार मे प्रादुर्भूत न हो सकनेवाला कोई भी आलम्बन नही है[2]। चित्त की शक्ति के अनुसार मनोद्वार में नानाविध आलम्बन विचित्ररूप से प्रादुर्भूत हो सकते है। उनके इस प्रकार प्रादुर्भूत होने के निम्न कारण हैं; यथा – दृष्ट, श्रुत, उभयसम्बद्ध (दृष्ट एव श्रुत – दोनो से सम्बद्ध), श्रद्धा, रुचि, आकारपरिवितर्क (आकारपरिवितक्क), दृष्टिनिध्यानक्षान्ति (दिट्ठिनिज्झानक्खन्ति), ऋद्धिबल, धातुक्षोभ (धातुक्खोभ), अनुबोध-आदि[3]।

दृष्ट – अपने द्वारा पूर्वकाल मे दृष्ट आलम्बन भी अपरकाल में आवर्जन करने पर चक्षुर्द्वार में प्रादुर्भूत होने के सदृश उपस्थित होता है। इस प्रकार 'दृष्ट' होने के वश से रूपालम्बन अभिनिपात को प्राप्त होता है[4]। अथवा यहाँ 'दृष्ट' शब्द से पञ्चद्वारो द्वारा पूर्वगृहीत (दृष्ट, श्रुत, घ्रात, आस्वादित एवं स्पृष्ट) आलम्बनो का ग्रहण करना चाहिये। अपने द्वारा दृष्ट-आदि होने के वश से कालान्तर में आवर्जन करने पर ये (आलम्बन) पुन. 'भवङ्ग' नामक मनोद्वार मे प्रादुर्भूत होते है[5]।

श्रुत – पूर्वकाल मे श्रुत शब्दालम्बन अपरकाल मे आवर्जन करने पर जब श्रोत्र-द्वार मे प्रादुर्भूत होने के सदृश उपस्थित होता है तो इसे श्रुत होने से प्रादुर्भूत आलम्बन कहा जाता है।[6] अथवा – 'श्रुत' शब्द से यहाँ प्रत्यक्षत. न देखकर दूसरो द्वारा

---

१. ब० भा० टी०।

२ तु० – "इमेस खो आवुसो ! पञ्चन्न इन्द्रियान नानाविसयानं नानागोचरान, न अञ्ञमञ्ञस्स गोचरविसय पच्चनुभोन्तान, मनोपटिसरण मनो च नेस गोचरविसय पच्चनुभोतीति।" – म० नि०, प्र० भा०, पृ० ३६४, "एत्थ यस्मा एक रूप पि मनोविञ्ञाणधातुया अजानितब्ब नाम नत्थि, तस्मा 'सब्ब रूप' ति वुत्त।" – अट्ठ०, पृ० २७१।

३ तु० – अट्ठ०, पृ० ६०–६२; विभ० अ०, पृ० ४१०, ध० स० अनु०, पृ० ७६; प० दी०, पृ० १३८–१३९।

४ अट्ठ०, पृ० ६०।

५ "तत्थ दिट्ठं नाम पञ्चद्वारवसेन गहितपुब्बं।" – अट्ठ०, पृ० ६१।

६. अट्ठ०, पृ० ६०।

कथित शब्दो से गृहीत रूपालम्बन, शब्दालम्बन, गन्धालम्बन, रसालम्बन, स्प्रष्टव्यालम्बन एव धर्मालम्बन सभी का ग्रहण करना चाहिये। इस प्रकार दूसरो के कथन का श्रवण करने के अनन्तर विचार करने पर उस कथन मे आये हुए विषयो का 'भवङ्ग' नामक मनोद्वार मे प्रादुर्भाव होता है[1]।

उभयसम्बद्ध – दृष्ट एव श्रुत दोनो के वश से प्रादुर्भूत आलम्बन 'उभयसम्बद्ध' कहा जाता है। किसी आलम्बन-विशेष को देख लेने या दूसरो से सुन लेने पर कालान्तर मे उस दृष्ट एवं श्रुत आलम्बन के सदृश अन्य अदृष्ट एवं अश्रुत आलम्बन भी मनोद्वार मे प्रादुर्भूत होता है। न केवल सदृश ही, अपितु कल्पित होने के कारण असदृश आलम्बन भी प्रादुर्भूत हो सकता है[2]।

श्रद्धा – दूसरो के अतिशयोक्तिपूर्ण एव आश्चर्यजनक कथन पर ऊहापोह न करके विश्वास कर लेने से उत्पन्न आलम्बन श्रद्धावश प्रादुर्भूत आलम्बन कहा जाता है। दूसरो के द्वारा कथित इस प्रकार के सभी आलम्बन, वे चाहे मिथ्या हो चाहे सत्य, कालान्तर मे मनोद्वार मे प्रादुर्भूत हो सकते है[3]। (यहाँ श्रद्धा एव प्रतिरूपिका श्रद्धा – दोनो का ग्रहण होता है।)

रुचि – जब किसी आलम्बनविशेष के प्रति अत्यधिक रुचि होती है तो अपने द्वारा दृष्ट, श्रुत-आदि न होने पर भी वह आलम्बन रुचिवश स्वत (अपने आप) मनोद्वार मे प्रादुर्भूत हो सकता है[4]।

आकारपरिवितर्क – परमार्थ-धर्मों के स्वभाव (आकार) का गम्भीरतापूर्वक सूक्ष्मतया विचार 'आकारपरिवितर्क' कहलाता है। उस आकारपरिवितर्क के वश से परमार्थ-धर्मो के नानाविध आकार 'भवङ्ग' नामक मनोद्वार में प्रादुर्भूत होते है[5]। [यह प्रत्युपस्थान (पच्चुपट्ठान) ही है।]

---

१ "'सुत' ति पच्चक्खतो अदिस्वा अनुस्सववसेन गहिता रूपादयो व।" – अट्ठ०, पृ० ६१।

२ "तेहि द्वीहि पि सम्बन्ध 'उभयसम्बन्ध' नाम। इति इमेस पि दिट्ठादीन वसेन एतानि मनोद्वारे आपाथमागच्छन्तीति वेदितब्बानि।" – अट्ठ०, पृ० ६१।

"अदिट्ठस्स असुतस्स अनागतबुद्धरूपादिनो पसादधातुकामता वत्थुस्स तसदिसतासङ्खातेन दिट्ठसुतसम्बन्धेनेव। न केवलं तसदिसता व उभयसम्बन्धो, किन्तु तब्बिपक्खता तदेकदेसतातसम्पयुत्ततादिको च वेदितब्बो।" – ध० स० मू० टी०, पृ० ७०।

३ "केनचि वुत्ते कस्मिञ्चि सुते अविचारेत्वा सद्दहनं सद्धा।" – ध० स० मू० टी०, पृ० ७०।

४ "सयमेव त विचारेत्वा रोचन रुचि।" – ध० स० मू० टी०, पृ० ७०।

५ "'एव वा एवं वा भविस्सती' ति आकारविचारण आकारपरिवितक्को।" – ध० स० मू० टी०, पृ० ७०।

दृष्टिनिध्यानक्षान्ति – सभी विषयो मे विचार करने से उत्पन्न सन्तोष या प्रीति को 'दृष्टिनिध्यानक्षान्ति' कहते है। इस प्रकार ज्ञान द्वारा विचार करने से उत्पन्न सन्तोष या प्रीति वश निश्चित हुए आलम्बन भी 'भवङ्ग' नामक मनोद्वार मे प्रादुर्भूत होते है[1]।

ऋद्धिबल – मरणासन्नकाल की भाति कर्म के वेग से, अथवा तेजस्वी सिद्ध पुद्गलो की ऋद्धि के बल से होनेवाले निर्माण को 'ऋद्धिबल' कहते है। उस ऋद्धिबल के वश से भी नानाविध आलम्बन मनोद्वार मे प्रादुर्भूत हो सकते है[2]।

धातुक्षोभ – वात, पित्त, श्लेष्मा-आदि धातुओ के विकार को 'धातुक्षोभ' कहते है। इस धातुक्षोभ के कारण मनोविकार एव नाना प्रकार के स्वप्न होने से अनेकविध आलम्बन मनोद्वार मे प्रादुर्भत होते है[3]।

दैवतोपसहार – देवताओ द्वारा हित की दृष्टि से या अहित की दृष्टि से इष्ट एव अनिष्ट नाना प्रकार के आलम्बन मनोद्वार मे प्रादुर्भूत होते है। इस प्रकार देवता के आनुभाव से भी नानाविध आलम्बन दिखायी पडते है[4]।

अनुबोध – चार आर्यसत्यो के आकारमात्र का परिज्ञान 'अनुबोध' है। आर्यसत्यो का यथाभूत ज्ञान 'प्रतिवेध' है। इन अनुबोध एव प्रतिवेध के कारण अदृष्टपूर्व एव अश्रुतपूर्व चार आर्यसत्य मनोद्वार मे प्रादुर्भूत होते है। 'धम्मचक्कप्पवत्तनसुत्त' मे "पुब्बे अननुस्सुतेसु धम्मेसु चक्खु उदपादि[5]" – आदि वचन के अनुसार भगवान् बुद्ध मे चार आर्यसत्यो का अपूर्व प्रादुर्भाव भी यही प्रतिवेध है[6]।

इस प्रकार मनोद्वार मे आलम्बनो के प्रादुर्भाव के अनेक कारण होते है।

---

१ "विचारेन्तस्स कत्थचि दिट्ठिया निज्झानक्खमन दिट्ठिनिज्झानक्खन्ति।" – ध० स० मू० टी०, पृ० ७०।

२ "'इद्धी' ति या तेस धम्मान इद्धि, समिद्धि उपसम्पदा।" – विभ०, पृ० २६५, पटि० म०, पृ० ४७३ – ४७६, विसु०, पृ० २६१ – २६६।

३ "पकतिया दिट्ठादिवसेन आपाथगमनञ्च भोजनपरिणाम-उतुभोजन-विसेस-उस्साहादीहि कल्य, रोगिनो वातादीहि च उपद्दुत वा काय अनुवत्तन्तस्स जागरस्स भवङ्गस्स चलनपच्चयान कायिकसुखदुक्ख-उतुभोजनादि-उपनिस्सयान चित्तपणिदहनसदिसासदिससम्बन्ध-दस्सनादिपच्चयान सुत्तस्स च सुपिन-दस्सने धातुक्खोभादिपच्चयान वसेन वेदितब्ब।" – ध० स० मू० टी०, पृ० ७०।
"तत्थ पित्तादीन खोभकरणपच्चययोगेन खुभितधातुको 'धातुक्खोभतो' सुपिन पस्सति। पस्सन्तो च नानाविध सुपिन पस्सति – पब्बता पतन्तो विय, आकासेन गच्छन्तो विय, बाळमिगहत्थिचोरादीहि अनुविद्धो विय च होति।" – विभ० अ०, पृ० ४१०।

४. "देवतोपसहारतो पस्सन्तस्स देवता अत्थकामताय वा अनत्थकामताय वा अत्थाय वा अनत्थाय वा नानाविधानि आरम्मणानि उपसहरन्ति। सो तास देवतान आनुभावेन तानि आरम्मणानि पस्सति।" – विभ० अ०, पृ० ४१०।

५ स० नि०, चतु० भा०, पृ० ३६१।

६. "अनुबोधो सम्बोधो पटिवेधो ति पि पञ्ञा। सा त आकार अनुबुज्झति सम्बुज्झति पटिविज्झति।" – विभ० अ०, पृ० १४२।
"अनुरूपतो धम्मे बुज्झतीति अनुबोधो।" – अट्ठ०, पृ० २०५।

चित्त की शक्ति – उपर्युक्त प्रकार से मनोद्वार मे आलम्बनो के प्रादुर्भाव मे अनेकविध कारण कहे गये है। उनमे से ऋद्धिबल, देवतोपसहार एव धातुक्षोभ नामक कारणो द्वारा होनेवाले प्रादुर्भाव मे यद्यपि चित्त की शक्ति का ज्ञान स्पष्टत प्रतिभासित नही होता, तथापि अन्य कारणो द्वारा होनेवाले प्रादुर्भाव मे चित्त की शक्ति का ज्ञान सभी को स्पष्टतया हो सकता है। चित्त, आलम्बन के बिना कथमपि प्रवृत्त हो नही सकता। 'आरमन्ति एत्था ति आरमण' के अनुसार आलम्बन, चित्त का रमण-स्थान होता है। ऐसी स्थिति मे चित्त यदि आलम्बन को अनायास प्राप्त कर लेता है तो उसका ग्रहण कर लेता है और यदि आलम्बन अनायास प्राप्त नही होते तो चित्त तबतक आलम्बनो की गवेषणा (खोज) मे सलग्न रहता है जबतक उनको प्राप्त नही कर लेता। इस प्रकार के गवेषणाकार्य मे वितर्क, चेतना, मनसिकार-आदि चैतसिक उसके परम सहायक होते है। उक्त चैतसिको के साथ इष्ट आलम्बन की गवेषणा करते समय उसे तत्सदृश अन्य इष्ट एव अनिष्ट आलम्बन भी प्राप्त होते है, जैसे – किसी ग्रन्थ-विशेष मे इष्ट एव गम्भीर विषय का अन्वेषण करते समय तत्सदृश अनेक अन्य विषय एव कतिपय अनावश्यक विषय भी दृष्टिपथ मे आते है, इसी प्रकार निर्वाण के साक्षात्कार के लिये 'कम्मट्ठान' (कर्मस्थान) भावना करते समय साक्षात्कार के पूर्व अनेक अनावश्यक आलम्बन अनुभूत होते है या दिखायी पडते है। इस प्रकार अनावश्यक एव अनिष्ट आलम्बनो की प्राप्ति भी, चित्त द्वारा इष्ट-आलम्बन की गवेषणा-प्रक्रिया का फल है, अत वह (अनावश्यक आलम्बनो की प्राप्ति) भी चित्त की शक्ति ही होती है। इस प्रकार के गवेषणाकृत्य मे न तो चित्त आलम्बन-प्रदेश मे पहुँचता है और न आलम्बन को ही अपने निकट आकृष्ट करता है, तथापि उपर्युक्त दृष्ट, श्रुत-आदि कारणो की वजह से नाना प्रकार के आलम्बनो का 'भवङ्ग' नामक मनोद्वार मे प्रादुर्भूत होना – वितर्क, चेतना, मनसिकार-आदि सहकारी कारणो की सहायता (उपकार) मिलने से ही होता है।

अतीत भवङ्गपात का होना या न होना – इस मनोद्वार वीथि मे (पञ्चद्वार-वीथि की भाँति) 'एकचित्तक्खणातीतक 'आदि न कहकर 'यदि विभूतमारमण आपातमागच्छति' – इस प्रकार का कथन किया गया है, अत स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि मनोद्वारवीथि मे अतीत भवङ्ग का पात होता है कि नही ?—इस विषय मे विचार करना यहाँ सप्रसङ्ग एव आवश्यक है।

चित्त-चैतसिक धर्म स्वभावत एकचित्तक्षणमात्र आयुवाले होते है, अत इन (चित्त-चैतसिक) आलम्बनो का प्रादुर्भाव होने मे अतीत भवङ्गपात नही हो सकता। तथा अतीत रूप-धर्म निरुद्ध हो चुके रहते है, अनागत रूप-धर्मो का अभी उत्पाद ही नही हुआ है, प्रज्ञप्ति-धर्म उत्पाद-स्थिति-भङ्ग से अविद्यमान है, एव निर्वाण-धर्म भी उत्पादस्वभाव नही है, अत. अतीत और अनागत रूपी धर्म, प्रज्ञप्ति एव निर्वाण आलम्बनो के प्रादुर्भूत होने मे भी अतीतभवङ्गपात नही हो सकता। अर्थात् उत्पाद के अनन्तर 'कितने चित्तक्षण अतीत होने पर इनका प्रादुर्भाव होता है' – ऐसा नही कहा जा सकता।

अब यहाँ उत्पाद-स्थिति-भङ्गस्वभावात्मक प्रत्युत्पन्न रूप-धर्मो के सम्बन्ध मे विचार किया जाता है।

विज्ञप्तिरूप २ एव लक्षणरूप ४ (=६)–ये रूपधर्मो की आयु के नियम के अनुसार सत्रह चित्तक्षण आयुवाले नही होते। 'आकाशधातु' नामक परिच्छेदक रूप भी उत्पाद-स्थिति-भङ्ग स्वभाववाला परमार्थ-धर्म नही है। लघुता, मृदुता एव कर्मण्यता नामक धर्म भी, रूपधर्मो के विशेष आकारमात्र होते है। उपर्युक्त ये दस अनिष्पन्न रूप वस्तुत परमार्थ-धर्म न होकर प्रज्ञप्तिमात्र ही होते है। अत इन दस अनिष्पन्न रूप-धर्मो के प्रादुर्भूत होने मे भी अतीत भवङ्गपात नही हो सकता। अर्थात् उत्पाद के अनन्तर 'कितने चित्तक्षण अतीत होने पर इन का प्रादुर्भाव होता है' – इस सम्बन्ध में कोई नियम नही किया जा सकता।

प्रत्युत्पन्न निष्पन्न रूप-धर्मो के प्रादुर्भूत होने के विषय में इस प्रकार समझना चाहिये। कुछ रूप (जिनके प्रादुर्भूत होने मे चित्तशक्ति की प्रबलता होती है) तो उत्पन्न होते (अपने उत्पादक्षण मे) ही प्रादुर्भूत होगे। इस प्रकार के रूप चित्तशक्ति की प्रबलता के कारण प्रादुर्भूत होने के लिये स्थितिक्षण तक रुकेंगे नही। कुछ रूप (जिनमे चित्तशक्ति मन्द होती है) अपने उत्पाद के अनन्तर यथायोग्य चित्तक्षण अतीत होने पर ही प्रादुर्भूत होगे। इस प्रकार के रूपालम्बनो के लिये अतीत भवङ्गपात होने-वाली मनोद्वारवीथि भी होनी चाहिये। इसी से 'खन्धविभङ्गमूलटीका' में "मनोद्वारे पन उप्पादक्खणे पि आपातमागच्छति" मे 'अपि' शब्द द्वारा 'स्थितिक्षण मे भी प्रादुर्भाव होता है' – इस प्रकार का आशय व्यक्त किया गया है[1]।

प्रत्युत्पन्न चित्त का आलम्बन करना – दूसरो के प्रत्युत्पन्न चित्तो का सम्यग् रूप से आलम्बन करने मे समर्थ परचित्तवित् (परचित्तविद्) पुद्गल द्वारा उन (दूसरो के प्रत्युत्पन्न चित्तों) का आलम्बन करते समय यदि वे (चित्त) आलम्बन 'मनोद्वारावर्जन-जवन-जवन-जवन-जवन-जवन' होते है तो आलम्बनक (आरम्मणिक=आलम्बन करनेवाले) चित्त भी 'मनोद्वारावर्जन-परिकर्म-उपचार-अनुलोम-गोत्रभू-अभिज्ञा' – इस प्रकार ही होगे, और ऐसा होने पर 'आलम्बनक मनोद्वारावर्जन द्वारा आलम्बन-मनोद्वारावर्जन का आवर्जन किया जाकर परिकर्म, उपचार, अनुलोम, गोत्रभू एव अभिज्ञा चित्तो द्वारा भी उसी आलम्बनभूत मनोद्वारावर्जन चित्त का ही आलम्बन किया जाता है' – यदि इस प्रकार कहा जाये तो ऐसी स्थिति मे 'आलम्बनक मनोद्वारावर्जन द्वारा प्रत्युत्पन्न चित्त का और परिकर्म, उपचार-आदि द्वारा अतीत चित्त का आलम्बन किया जाता है' – ऐसा मानना होगा। जब कि वस्तुस्थिति यह है कि एक ही वीथि के अन्तर्गत प्रत्युत्पन्न आलम्बन का आलम्बन करनेवाले चित्त और अतीत आलम्बन का आलम्बन करनेवाले चित्त – इस प्रकार काल-भेद नही हो सकता।

अथवा यदि – 'आलम्बनक मनोद्वारावर्जन द्वारा दूसरो के मनोद्वारावर्जन का आवर्जन करके परिकर्म, उपचार, गोत्रभू-आदि द्वारा मनोद्वारावर्जन के परवर्ती स्वसम्मुखस्थ

१ विभ० मू० टी०, पृ० २२।

(दूसरो के) जवनचित्तो का आलम्बन किया जाता है' – इस प्रकार कहा जाये तो ऐसी स्थिति मे आलम्बनक मनोद्वारावर्जन द्वारा आर्वाजित आलम्बन एक तथा परिकर्म-आदि चित्तो के आलम्बन अन्य – इस प्रकार एक ही वीथि मे नाना आलम्बन मानने होगे। जब कि वस्तुस्थिति यह है कि यदि मार्गवीथि या फलवीथि नही होती है तो एक ही वीथि के अन्तर्गत इस प्रकार आलम्बन-भेद नही हो सकता। इस प्रकार की परिस्थिति मे 'दूसरो के प्रत्युत्पन्न चित्तो का आलम्बन करने मे वह आलम्बन किस प्रकार किया जा सकता है ?' – यह एक विचारणीय विषय है।

अट्ठकथावाद – इस विषय के सम्बन्ध मे 'अट्ठसालिनी' नामक अट्ठकथा मे कहा गया है कि मनोद्वारावर्जन द्वारा आर्वाजित चित्त का ही परिकर्म, उपचार-आदि पश्चिम पश्चिम चित्तो द्वारा भी पुन आलम्बन किया जाता है। इस प्रकार आलम्बन किया जाने पर भी 'मनोद्वारावर्जन द्वारा प्रत्युत्पन्न चित्त का आलम्बन कर के परिकर्म-आदि चित्तो द्वारा अतीत चित्त का आलम्बन किया जाता है' – ऐसा नही कहा जा सकता, क्योकि मनोद्वारावर्जन चित्त द्वारा आर्वाजित चित्त यद्यपि परिकर्म-आदि के क्षण मे निरुद्ध हो चुका रहता है, तथापि सन्तति-प्रत्युत्पन्न एव अध्व-प्रत्युत्पन्न के रूप मे वह (निरुद्ध-आलम्बन) प्रत्युत्पन्न भी कहा जा सकता है। अर्थात् प्रत्युत्पन्न धर्म क्षण-प्रत्युत्पन्न, सन्तति-प्रत्युत्पन्न एव अध्व-प्रत्युत्पन्न – इस तरह तीन प्रकार से प्रत्युत्पन्न होता है[1]। इनमे से उत्पाद-स्थिति-भङ्गरूप क्षणत्रयात्मक काल 'क्षण-प्रत्युत्पन्न' है। किसी एक आलम्बन का आलम्बन करके प्रवर्तमान जवनवीथिसन्तति 'सन्तति-प्रत्युत्पन्न' है, यथा – रूपालम्बन का आलम्बन करके प्रवर्तमान चक्षुर्द्वारवीथि, तदनुवर्तक मनोद्वारवीथि-आदि द्वारा जबतक उस रूपालम्बन का सम्यग् ज्ञान नही हो जाता तबतक (सम्यग् ज्ञान के उत्पादपर्यन्त) होनेवाली चित्तसन्तति से परिच्छिन्न काल 'सन्तति-प्रत्युत्पन्न' कहा जाता है। तथा प्रत्युत्पन्नभव, अतीतभव-आदि सम्पूर्ण भव से परिच्छिन्न काल को 'अध्व-प्रत्युत्पन्न' कहते है। इस प्रकार त्रिविध प्रत्युत्पन्न होने के कारण आवर्जन द्वारा आर्वाजित चित्त का परिकर्म-आदि द्वारा पुन आलम्बन करने मे, 'आर्वाजित चित्त' परिकर्म-आदि के क्षण मे निरुद्ध रहने पर भी यद्यपि वह क्षण-प्रत्युत्पन्न के रूप मे प्रत्युत्पन्न नही कहा जा सकता, तथापि 'सन्तति-प्रत्युत्पन्न' एव 'अध्व-प्रत्युत्पन्न' के रूप मे प्रत्युत्पन्न कहा ही जा सकता है। अत आवर्जन द्वारा आर्वाजित चित्त का परिकर्म, उपचार-आदि द्वारा पुन आलम्बन करने मे 'एक वीथि के अन्तर्गत ही कालभेद होता है' – ऐसा नही समझना चाहिये[2]।

मूलटीकावाद – मूलटीकाकार का कथन है कि "अतीता धम्मा, अनागता धम्मा,

---

१ "पच्चुप्पन्न च नामेत तिविध – खणपच्चुप्पन्न, सन्ततिपच्चुप्पन्न, अद्धापच्चुप्पन्न च। तत्थ उप्पादट्ठितिभङ्गप्पत्त 'खणपच्चुप्पन्न'। एकद्विसन्ततिवारपरियापन्न 'सन्ततिपच्चुप्पन्न'। एकभवपरिच्छिन्न पन 'अद्धापच्चुप्पन्न' नाम।" – अट्ठ०, पृ० ३३०, विसु०, पृ० ३००–३०१।

२. द्र० – अट्ठ०, पृ० ३३०-३३१, विसु०, पृ० ३०१-३०२।

पच्चुप्पन्ना धम्मा[1]" – आदि द्वारा अभिधर्मपिटक मे केवल 'क्षणप्रत्युत्पन्न' का ही ग्रहण होता है, सन्तति-प्रत्युत्पन्न एव अध्व-प्रत्युत्पन्न का नही। सन्तति-प्रत्युत्पन्न एव अध्व-प्रत्युत्पन्न का प्रयोग तो केवल सूत्रपिटक मे ही होता है – इस प्रकार का मत ग्रहण करने से अट्ठकथावाद को पसन्द न करने के कारण उन्होने अट्ठकथा द्वारा प्रतिषिद्ध 'केचिवाद' का भी समर्थन करते हुए उसकी इस प्रकार व्याख्या प्रस्तुत की है, यथा – दूसरो के चित्तो को जानने का अभिलाषी ऋद्धिबलसम्पन्न पुद्गल दूसरो की सन्तान मे होनेवाले प्रत्युत्पन्न चित्त को आवर्जन द्वारा आवर्जित करता है। तदनन्तर परिकर्म-आदि जवनो द्वारा भी (उस प्रत्युत्पन्न चित्त के परवर्ती) स्वसम्मुखस्थ (अन्य) प्रत्युत्पन्न-चित्तो का ही पृथक् पृथक् आलम्बन करता है। इस प्रकार आलम्बन करने पर भी न तो आलम्बन-भेद होता है और न ही काल-भेद, क्योकि आवर्जन द्वारा चित्त का आवर्जन करके तदनन्तर पश्चिम पश्चिम जवनो द्वारा यदि रूप-धर्मो का आलम्बन किया जाता है, तभी आलम्बन-भेद कहा जा सकता है, किन्तु यहाँ आलम्बन होनेवाले धर्म सर्वदा चित्त ही होते है, अत आलम्बन के स्वभाव मे भेद न होने से आलम्बन-भेद नही होता। पुनश्च – यहाँ कालभेद भी नही होता, क्योकि आवर्जन द्वारा प्रत्युत्पन्न चित्त का आलम्बन करके पश्चिम पश्चिम जवनो द्वारा भी यदि उसी निरुद्ध (अतीत) चित्त का आलम्बन किया जाये तभी काल के स्वभाव मे भेद होने से कालभेद कहा जा सकता है, किन्तु यहाँ सर्वदा परवर्ती (भिन्न भिन्न) स्वसम्मुखस्थ प्रत्युत्पन्न चित्त ही आलम्बन होते है, अत कालभेद भी नही कहा जा सकता।

मूलटीकाकार के उपर्युक्त कथन के सुस्पष्ट ज्ञान के लिये निम्न उपमा दी जाती है, जैसे – अनुक्रम से चली जा रही पिपीलिकापङ्क्ति (चीटियो की रेखा) देखते समय पूर्वचित्त द्वारा अपने उत्पादक्षण मे स्वसम्मुखस्थ एक चीटी देखी जाकर पश्चिम पश्चिम चित्तो द्वारा भी अपने उत्पादक्षण मे स्वसम्मुखस्थ दूसरी दूसरी चीटियाँ देखी जाती है। इस उदाहरण मे (पूर्व एव पर) दोनो प्रकार के चित्तो द्वारा अपने अपने उत्पादक्षण मे चीटी ही देखी जाने के कारण आलम्बन का भेद नही होता तथा स्वसम्मुखस्थ चीटी भिन्न भिन्न होने के कारण काल का भेद भी नही होता[2]।

विभूत-आलम्बनवीथि

किसी विभूत आलम्बन के मनोद्वार मे प्रादुर्भूत होने पर 'भवङ्गचलन, भवङ्गोपच्छेद, मनोद्वारावर्जन, ७ वार जवन एव २ वार तदालम्बन' होने के अनन्तर यथासम्भव भवङ्ग होते है, यथा –

'न द म ज ज ज ज ज ज ज त त'
००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ०००

अविभूत-आलम्बनवीथि

किसी अविभूत आलम्बन के मनोद्वार मे प्रादुर्भूत होने पर 'भवङ्गचलन, भवङ्गो-

---

१ ध० स०, पृ० ५।

२ द्र० – ध० स० मू० टी०, पृ० १६४-१६७।

२१. वीथिचित्तानि तीणेव चित्तुप्पादा दसेरिता।
विथारेन पनेत्थेकचत्तालीस विभावये॥
अयमेत्थ परित्तजवनवारो।

इस कामजवन मनोद्वार मे वीथिचित्त ३ ही तथा चित्तोत्पाद १० कहे गये है। विस्तार से (गणना करने पर वे ही १० चित्तोत्पाद) ४१ हो जाते है—ऐसा जानना चाहिये।

इस वीथिसङ्ग्रह मे यह कामजवनवार है।

अप्पनाजवनमनोद्वारवीथि

२२ अप्पनाजवनवारे * पन विभूताविभूतभेदो नत्थि, तथा तदारमणुप्पादो च† ।

अर्पणा जवनवार मे विभूत एवं अविभूत आलम्बन का भेद नही है। और तदालम्बन का उत्पाद भी नही है।

पच्छेद, मनोद्वारावर्जन एव ७ वार जवन होने के अनन्तर यथासम्भव भवङ्ग होते है, यथा—

'न द म ज ज ज ज ज ज ज'
००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ०००

२१ इस मनोद्वार वीथि मे वीथिचित्त ३ ही होते है, यथा—मनोद्वारावर्जन, जवन एव तदालम्बन। चित्तोत्पाद वार १० होते है, यथा—मनोद्वारावर्जन १, जवन ७, एव तदालम्बन २ = १० होते है। विस्तारपूर्वक गणना करने पर मनोद्वारिक वीथिचित्तो की सङ्ख्या ४१ होती है, यथा—द्विपञ्चविज्ञानधातु १० एव मनोधातु ३=१३ चित्तो को वर्जित कर अवशिष्ट कामचित्त ४१।

कामजवन-
मनोद्वारवीथि समाप्त।

अर्पणाजवनमनोद्वारवीथि

२२. "तक्को वितक्को सङ्कप्पो अप्पना ब्यप्पना[1]"—इस 'धम्मसङ्गणि' पालि के अनुसार 'अर्पणा' यह वितर्क का नाम है। "एकग्ग चित्त आरम्मणे अप्पेति (अभिनिरोपेती) ति अप्पना[2]" अर्थात् सम्प्रयुक्त चित्त को आलम्बन मे अभिनिरोपित करनेवाला

---

*. अप्पणा० – सी० (सर्वत्र)।
†. स्या० में नही।
१. ध० स०, पृ० २१।
२. अट्ठ०, पृ० ११६।

वितर्क ही 'अर्पणा' है। अट्ठकथा में, वितर्क का 'आलम्बन के प्रति अभिनिरोपण' यह विशेष कृत्य होने के कारण, सम्बद्ध आलम्बन में दृढता (स्थिरता) को प्राप्त लौकिक एवं लोकोत्तर प्रथमध्यान नामक चित्त-चैतसिक धर्म भी, 'अर्पणा' नामक चैतसिक से सम्प्रयुक्त होने के कारण सहचरणनय से 'अर्पणा' कहे जाते हैं। प्रत्यनीक नीवरण-धर्मो से दूर (रहित) होकर सम्बद्ध आलम्बन में दृढतापूर्वक स्थित होने के कारण, तथा 'अर्पणा' नामक प्रथमध्यान के सदृश होने के कारण, सदृशोपचार से वितर्करहित द्वितीय-ध्यान-आदि ध्यानों को भी 'अर्पणा' कहा जाता है। सभी ध्यानों का 'अर्पणा' नाम रखना 'अट्ठकथावाद' है।

"वितक्कस्स किच्चविसेसेन थिरभावप्पत्ते पठमज्झानसमाधिम्हि, पच्चनीकदूरीभावगतेन थिरभावेन तसदिसेसु वितक्करहितेसु दुतियज्झानादिसमाधिसु च अप्पना' ति अट्ठकथावोहारो ति वितक्कस्स अप्पनायोगो वुत्तो। अञ्ञथा वितक्को व अप्पना ति तस्स तसम्पयोगो न सिया ति[1]।"

विभूताविभूतभेदो नत्थि – कामजवनवार की भाँति इस अर्पणाजवनवार में विभूत-आलम्बन एवं अविभूत-आलम्बन – इस प्रकार आलम्बन के दो भेद नहीं होते, अपितु इस (वार) में केवल विभूत आलम्बन ही होते हैं। ध्यान की प्राप्ति के लिये पृथ्वी-कसिण-आदि का आलम्बन करके जब भावना की जाती है तब उस आलम्बन का सामान्य रूप से अवभास होने से ध्यान की प्राप्ति नहीं हो सकती, अपितु आलम्बन के अत्यन्त विस्पष्ट प्रतिभासित होने पर ही 'ध्यान' नामक अर्पणा-जवन उत्पन्न होते हैं। 'मार्ग' एवं 'फल' नामक अर्पणाजवन का आलम्बन तो अतिविभूत (अत्यन्त विस्पष्ट) निर्वाण-धर्म है। इसीलिये यहाँ (इस वार में) विभूत-अविभूत भेद नहीं होता, क्योंकि आलम्बन के विभूत (सुप्रकट) होने पर ही अर्पणा का उत्पाद सम्भव है[2]।

"कामे जवनसत्तालम्बनानं नियमे सति[3]" के अनुसार कामजवन के अनन्तर ही तदालम्बन का पात होने से इस अर्पणाजवनवीथि में तदालम्बन की उत्पत्ति नहीं होती।

---

१. ध० स० मू० टी०, पृ० १०१।

२. "विभूताविभूतभेदो नत्थि, आरम्मणस्स विभूतकाले येव अप्पनासम्भवतो।" –विभा०, पृ० ११२।

"विभूताविभूतभेदो नत्थि, एकं विभूतमेव लब्भतीति अधिप्पायो। न हि अविभूते आरम्मणे अप्पना नाम सम्भवतीति।" – प० दी०, पृ० १४०।

३ द्र० – अभि० स० ४ : ३५, पृ० ३७३।

२३ तत्थ हि ञाणसम्पयुत्तकामावचरजवनानमट्ठन्नं अञ्ञतरस्मिं परिकम्मोपचारानुलोमगोत्रभुनामेन* चतुक्खत्तुं तिक्खत्तुमेव वा यथाक्कमं उप्पज्जित्वा निरुद्धानन्तरमेव† यथारहं चतुत्थं‡ पञ्चमं वा छब्बीसतिमहग्गत-लोकुत्तरजवनेसु यथाभिनीहारवसेन यं किञ्चि जवनं अप्पनावीथिमोतरति। ततो परं अप्पनावसाने भवङ्गपातो व होति।

इस अर्पणाजवनवार मे आठ ज्ञानसम्प्रयुक्त कामावचर जवनो मे से कोई एक (अन्यतम) जवन, परिकर्म उपचार अनुलोम एव गोत्रभू नामो से चार वार या तीन वार ही यथाक्रम उत्पन्न होकर निरुद्ध होने के अनन्तर ही यथायोग्य (तीक्ष्ण अथवा मन्द पुद्गल के अनुसार) चतुर्थ या पञ्चम (जवन के रूप मे) २६ महग्गत या लोकोत्तर जवनो मे से यथा-भिनीहारवश कोई एक जवन, अर्पणावीथि मे अवतरित होता है। उसके अवतरित होने के अनन्तर अर्पणाजवन के अन्त मे भवङ्गपात ही होता है।

---

२३. **ञाणसम्पयुत्त चतुक्खत्तुं तिक्खत्तुमेव वा** – उस अर्पणाजवनवार मे आलम्बन रूपी धर्म नही होता। निर्वाण, कसिणपञ्ञत्ति-आदि आलम्बन होने से इस (वीथि) मे अतीत भवङ्गपात आवश्यक नही है। वीथिनियम के अनुसार भवङ्गचलन, भवङ्गोपच्छेद एव मनोद्वारावर्जन के अनन्तर कामावचरजवन वेग से जवन करते हैं। इस प्रकार वेग से जवन करने मे ध्यान, मार्ग एव फल से पूर्वगामी होने के कारण ८ ज्ञानसम्प्रयुक्त जवनचितो (पृथग्जन एव शैक्ष्य की सन्तान मे महाकुशल ४, तथा अर्हत् की सन्तान मे महाक्रिया ४) मे से किसी एक का ही परिकर्म, उपचार, अनुलोम एव गोत्रभू नाम से ४ वार या ३ वार वेग से गमन (जवन) होता है। ध्यानलाभी या मार्गलाभी पुद्गल यदि मन्दप्रज्ञ होता है तो मन्दप्रज्ञ होने से उसे 'धन्धाभिज्ञ' (दन्धा-भिञ्ञा) पुद्गल कहते हैं[1]। इस पुद्गल की सन्तान मे पूर्वोक्त जवनो के चार वार प्रवृत्त होने पर ही उनका कृत्य सम्पन्न हो पाता है। अर्थात् ध्यान, मार्ग या फल की प्राप्ति होती है। यदि पुद्गल तीक्ष्णप्रज्ञ होता है तो उसे 'क्षिप्राभिज्ञ' (खिप्पाभिञ्ञा) पुद्गल कहते हैं। इस पुद्गल की सन्तान मे पूर्वोक्त जवनो के तीन वार प्रवृत्त होने

---

* ० गोत्रभूनामेन – सी०, स्या०, ना०।

† निरुद्धे तदनन्तरमेव – स्या०।

‡ चतुत्थ वा – स्या०।

१ "दन्धा अभिञ्ञा यस्सा ति दन्धाभिञ्ञ। . खिप्पाभिञ्ञा ति आदीसु पि एसेव नयो। उपचारतो पन पट्ठाय याव अप्पना ताव पवत्ता पञ्ञा 'अभिञ्ञा' ति वुच्चति। अभिञ्ञापि एकच्चस्स दन्धा होति, मन्दा असीघप्पवत्तिनी; एकच्चस्स खिप्पा, अमन्दा, सीघप्पवत्तिनी।" – अट्ठ०, पृ० १४६।

से ही उनका कृत्य सम्पन्न हो जाता है। तीन वार जवन होनेवाले 'वार' में 'परिकर्म' का परिवर्जन करना चाहिये[1]। इन कामजवनो को, अर्पणा के उपचार (समीपप्रदेश) में होने के कारण तथा इनमे समाधि (चित्तैकाग्रता) प्रबल होने के कारण 'उपचारसमाधि-जवन' कहा जाता है[2]।

यथारहं...यं किञ्चि – उपर्युक्त उपचारसमाधिजवन यदि तीन वार जवित होता है तो अर्पणासमाधिजवन चौथे वार जवित होगा। यदि उपचारसमाधिजवन चार वार जवित होता है तो अर्पणासमाधिजवन पाँचवे वार जवित होगा। इस प्रकार जवन 'यथायोग्य' होते है[3]। २६ अर्पणाजवनो मे से यथाभिनीहारवश किसी एक का जवन होता है। ध्यान की प्राप्ति के लिये आरब्धवीर्य पुद्गल अपने शमथभावनाचित्त का ध्यान के प्रति अभिनीहरण करता है। यथा – प्रथमध्यान की प्राप्ति के लिये अपने शमथ-भावनाचित्त का प्रथमध्यान के प्रति अभिनीहरण करता है। तथा द्वितीयध्यान-आदि प्राप्त करने के लिये द्वितीयध्यान-आदि के प्रति अभिनीहरण करता है। इसी प्रकार मार्ग अथवा फल की प्राप्ति के लिये आरब्धवीर्य पुद्गल अपने विपश्यनाभावनाचित्त का मार्ग अथवा फल के प्रति अभिनीहरण करता है[4]। (मार्ग एव फल मे से भी जिस मार्ग अथवा फल की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है, उसी मार्ग अथवा फल के प्रति अपने विपश्यना-चित्त का अभिनीहरण करता है।)

[अभिनीहरण अभिनीहारो, यो यो अभिनीहारो यथाभिनीहार, अथवा अभि-नीहारस्स अनुरूप यथाभिनीहार, यथाभिनीहार वसो यथाभिनीहारवसो।]

---

१ "तिक्खत्तु पवत्तिय पन उपचारानुलोमगोत्रभुनामेनेव लभन्ति।" – विभा०, पृ० ११२।

२ "एव निमित्ताभिमुख मानस पटिपादयतो पनस्स, इदानि अप्पना इज्झिस्सतीति भवङ्ग उपच्छिन्दित्वा, 'पथवी, पथवी' ति अनुयोगवसेन उपट्ठित तदेव पथवीकसिण आरम्मण कत्वा मनोद्वारावज्जन उप्पज्जति, ततो तस्मि येवारम्मणे चत्तारि पञ्च वा जवनानि जवन्ति। अगहितगहणेन पनेत्थ पठम परिकम्म, दुतिय उपचार, ततिय अनुलोम, चतुत्थ गोत्रभू। पठम वा उपचार, दुतिय अनुलोम, ततिय गोत्रभू। चतुत्थ पञ्चम वा अप्पना-चित्त। चतुत्थमेव हि पञ्चम वा अप्पेति। त च खो खिप्पाभिञ्ञा-दन्धाभिञ्ञावसेन।" – विसु०, पृ० ९२-९३।

३ द्र० – विभा०, पृ० ११२-११३, विसु०, पृ० ९३। विस्तार के लिये द्र० – प० दी०, पृ० १४०-१४४।

४. "'यथाभिनीहारवसेना' ति रूपारूपलोकुत्तरमग्गफलानुरूप-समथविपस्सनाभावना-चित्ताभिनीहरणानुरूपतो।" – विभा०, पृ० ११३।

"'यथाभिनीहारवसेना' ति तस्स तस्स परिकम्मभावनाचित्तस्स कसिणनिमित्ता-दीसु वा अनिच्चलक्खणादीसु वा अभिनीहरणानुरूप।" – प० दी०, पृ० १४४।

ततो परं अप्पनावसाने भवङ्गपातो व – यहाँ पर 'अप्पनावसाने' यह न कहकर केवल 'ततो पर भवङ्गपातो व' – इतना मात्र कहते तो 'चतुर्थवार अथवा पञ्चमवार मे अर्पणाजवन एक वार होने के अनन्तर एकान्तरूप से भवङ्गपात हो जाता है' – ऐसा भ्रम उत्पन्न हो सकता था, अत 'अप्पनावसाने' कहा गया है[1]। वस्तुत चतुर्थ अथवा पञ्चम वार मे अर्पणाजवन का प्रारम्भ होता है। वह अर्पणाजवन जवननियम के अनुसार कुछ वीथियो मे एक वार, कुछ मे दो वार, कुछ वीथियो मे तीन वार, इसी प्रकार कुछ वीथियो मे एक दिन, दो दिन पर्यन्त भी निरन्तर प्रवृत्त हो सकता है, अतः 'यथासम्भव अर्पणाजवनो का अवसान होने पर ही भवङ्गपात होता है' – ऐसा कहा गया है[2]।

इस अर्पणाजवनवार मे तदालम्बन की उत्पत्ति नही होती। 'भवङ्गपातो व' – इस वचन मे प्रयुक्त 'एव' शब्द द्वारा न केवल तदालम्बन के उत्पाद का ही निषेध किया गया है, अपितु कुछ आचार्यो के 'यदि जवन सात वार परिपूर्ण नही होते है तो अर्पणाजवन के अनन्तर सात वार पूर्ण होने के लिये पुन कामजवन जवित होते है' – इस प्रकार के मत का भी निराकरण किया गया है। इसीलिये 'अप्पनावसाने भवङ्गपातो व' – ऐसा कहा गया है। अर्थात् अर्पणाजवन के अवसान (अन्त) मे कोई कामजवन जवित न होकर भवङ्गपात ही होता है[3]।

परिकर्म – 'परिकरोति अप्पन अभिसङ्खरोतीति परिकम्म' जो चित्त अर्पणा का अभिसस्कार करता है वह 'परिकर्म' है। अर्थात् अर्पणा का उत्पाद करनेवाला चित्त[4]।

---

१. "तत्थ 'ततो' ति चतुत्थतो पञ्चमतो वा, इमस्मि अत्थे सति पञ्चमे वा छट्ठे वा एकन्तेन भवङ्गपातो होतीति आपज्जति। तस्मा पुन 'अप्पनावसाने' ति वुत्त।" – प० दी०, पृ० १४४।

२ "एत्थ मग्गानन्तर फल तिण्णं उपरि न होति। निरोधस्स पच्चयो नेवसञ्ञानासञ्ञायतन द्विन्न उपरि न होति। रूपारूपेसु भवङ्गस्स परिमाण नत्थि। सेसट्ठानेसु एकमेव चित्त ति।" – विसु०, पृ० ९३।

३ "निकायन्तरिया किर लोकियप्पनासु पठमकप्पनातो पर सत्तमजवनपूरणत्थ द्वितिक्खत्तु कामावचरजवनान पि पवत्ति वण्णेन्तीति तेस मतिनिसेधनत्थ 'भवङ्गपातो वा' ति सावधारण वुत्त।" – विभा०, पृ० ११३।

परमत्थदीपनीकार ने 'एव' शब्द द्वारा तदालम्बन के उत्पादमात्र का प्रतिषेध किया है, यथा – "भवङ्गपातो व होति, नत्थि तदारम्मणुप्पादो ति अधिप्पायो।" – प० दी०, पृ० १४५।

४ "पठमचित्त हि अप्पनाय परिकम्मत्ता पटिसङ्खारकभूतत्ता परिकम्म।" – विभा०, पृ० ११२।

"'परिकम्मोपचारानुलोमगोत्रभुनामेना' ति एत्थ इन्द्रियसमतादीहि परितो भागेहि अप्पना करीयति सज्जीयति एतेना ति परिकम्म।" – प० दी०, पृ० १४०।

"यानि अप्पनाय परिकम्मत्ता परिकम्मानीति पि।" – विसु०, पृ० ९३।

उपचार – 'समीपे चरतीति उपचारो' यह चित्त अर्पणा के समीप उत्पन्न होता है, अत इसे 'उपचार' कहते है। जिस प्रकार गृह, विहार, नगर, ग्राम-आदि से एकदम सटे हुए (निरन्तराल) प्रदेश को गृहोपचार-आदि नही, अपितु उनके आसन्नवर्ती प्रदेशों को गृहोपचार, विहारोपचार-आदि कहते है, उसी प्रकार अर्पणा के साथ सटे (अव्यवहितपूर्व) गोत्रभू चित्त को 'उपचार' नही कहते, अपितु अर्पणा के समीपवर्ती, अर्थात् न अत्यन्त समीप और न अत्यन्त दूर, चित्त को ही 'उपचार' कहते है। 'विसुद्धिमग्गमहाटीका' मे भी कहा गया है – "अनच्चासन्नो पि हि नातिदूरपवत्ती समीपचारी नाम होति[1]।" अर्थात् अत्यन्त समीप न होने पर भी नातिदूरप्रवृत्त धर्म ही 'समीपवर्ती' कहा जाता है[2]।

अनुलोम – 'पुब्बापरान अनुलोमेतीति अनुलोम' पूर्व पूर्व परिकर्म एव अपर अर्पणा का जो अनुलोमन करता है, अर्थात् जो उनके अनुकूल होता है, वह चित्त 'अनुलोम' है। अर्पणा की प्रवृत्ति मे प्रत्यनीकभूत (विघ्नकारक) धर्मों का विध्वस करने से इसे अर्पणा के अनुकूल कहा जाता है। यह पूर्व पूर्व परिकर्मो के कृत्यो का पुन सम्पादन भी करता है तथा उस कृत्य के लिये अर्पणा का भी उत्पाद करता है, अत पूर्व परिकर्म एव अपर अर्पणा के अनुरूप होने से 'अनुलोम' कहा जाता है[3]। 'पूर्व पूर्व परिकर्म' शब्द द्वारा एक अर्पणावीथि के अन्तर्गत होनेवाले परिकर्म को नही कहा जा रहा है, अपितु अर्पणावीथि से पहले पूर्व पूर्व वीथियो मे होनेवाले सभी जवनो को अर्पणा के उत्पाद के लिये अभिसस्कार करने से परिकर्म कहा जाता है। इसीलिये 'विसुद्धिमग्ग' मे "इतो पुब्बे परिकम्मान, उपरि अप्पनाय च अनुलोमनतो अनुलोमानीति पि वुच्चन्ति[4]" – ऐसा कहा गया है। तथा 'महाटीका' मे उसकी "'इतो पुब्बे परिकम्मान' ति नानावज्जनवीथिय परिकम्मान[5]" – इस प्रकार व्याख्या की गयी है।

[गोत्रभू के सम्बन्ध मे नवम परिच्छेद देखना चाहिये[6]]।

---

१. विसु० महा०, प्र० भा०, पृ० १६१। द्र० – विभा०, पृ० ११२।

२ "यथा गामादीनं आसन्नदेसो, गामूपचारो नगरूपचारो ति वुच्चति; एव अप्पनाय आसन्नत्ता समीपचारित्ता वा उपचारानीति पि।" – विसु०, पृ० ९३।

३ "ततियं पुब्बभागे परिकम्मान उपरि अप्पनाय च अनुकूलत्ता अनुलोमं।" – विभा०, पृ० ११२।

"अनुलोम ति अप्पनापवत्तिया पच्चनीकधम्मविधमनेन अप्पनाय अनुकूल, अप्पनाहित अप्पनावह तिच्चेव अत्थो। यस्स पवत्तिया अप्पनाविबन्धको पच्चनीको नाम नत्थीति" – प० दी०, पृ० १४०।

४. विसु०, पृ० ९३।

५ विसु० महा०, प्र० भा०, पृ० १६१।

६ द्र० – अभि० स० ९ · ५९।

"अप्पनाभिसङ्खारत्ता समीपचारभावतो ।
पुब्बापरानुलोमत्ता कामगोत्तादिभिभवा ।
परिकम्मोपचारानुलोमगोत्रभुनामका[1] ।।"

अर्थात् अर्पणा के उत्पाद के लिये अभिसस्कार करने से, अर्पणा के समीप प्रवृत्त होने से, पूर्व पूर्व परिकर्म एव अर्पणाजवनो के अनुकूल होने से तथा कामगोत्र या पृथग्जनगोत्र का अभिभव करने से[2] क्रमश परिकर्म, उपचार, अनुलोम एव गोत्रभू कहे जाते है ।

उपर्युक्त निर्वचन के अनुसार इन चार चित्तो मे से प्रथम को परिकर्म, उपचार, एव अनुलोम – इन तीन नामो से कहा जा सकता है। द्वितीय एव तृतीय चित्त को भी इन तीनो नामो से कहा जा सकता है । परन्तु नामो मे परस्पर सम्मिश्रण न होने देने के लिये प्रथम चित्त को 'परिकर्म', द्वितीय को 'उपचार' एव तृतीय चित्त को 'अनुलोम' कहा जाता है । चतुर्थ चित्त को केवल 'गोत्रभू' ही कहा जाता है[3] । उस 'गोत्रभू' का कुछ स्थलो पर 'वोदान' (व्यवदान) शब्द से भी व्यवहार किया गया है ।

षष्ठ अथवा सप्तम अर्पणाजवन नहीं – आभिधार्मिक गोदत्तस्थविर ने "'पूर्व पूर्व कुशल-धर्म पश्चिम पश्चिम कुशल-धर्मो के आसेवनप्रत्यय से प्रत्यय होते है'[4] – इस सूत्र को कहकर आसेवनप्रत्यय से पश्चिम पश्चिम धर्म बलवान् होता है, अत षष्ठ वार एव सप्तम वार मे भी अर्पणा होती है" – ऐसा कहा है। 'यह आचार्य का अपना विचार-मात्र है' – ऐसा कहकर अट्ठकथाचार्यो ने उसका प्रतिक्षेप किया है। चतुर्थ या पञ्चम वार मे ही अर्पणा होती है तदनन्तर भवङ्ग के अत्यन्त सन्निकट होने के कारण जवन का पात हो जाता है। जैसे—कोई पुरुष टूटे हुए तट की ओर दौडता हुआ खडा होना चाहते हुए भी किनारे पर पैर रखकर खडा नही हो सकता, वह प्रपात मे अवश्य गिर जाता है, उसी प्रकार षष्ठ अथवा सप्तम वार मे भवङ्ग

---

१. ब० भा० टी० ।

२ "यञ्चेत्थ सब्बन्तिम त परित्तगोत्ताभिभवनतो महग्गतगोत्तभावनतो च 'गोत्रभू' ति पि वुच्चति।" – विसु०, पृ० ९३ ।

३. "एत्थ च चत्तारि पि जवनानि परिकम्मजवनानीति वा, उपचारजवनानीति वा, अनुलोमजवनानीति वा वुच्चन्ति येव। गोत्रभु ति पन पच्छिमस्सेव नाम। इध पन चतुण्ण पि नामान सङ्गहणत्थ 'परिकम्मोपचारानुलोम-गोत्रभुनामेना' ति वुत्त ति दट्ठब्ब।" – प० दी०, पृ० १४१ ।

४. "पुरिमा पुरिमा कुसला धम्मा पच्छिमान पच्छिमान कुसलान धम्मानं आसेवन-पच्चयेन पच्चयो।" – पट्ठान (तिक पट्ठान), प्र० भा०, पृ० ८ ।

अत्यन्त निकट होने के कारण अर्पणा नही हो सकती। इसलिये चतुर्थ या पञ्चम वार मे ही अर्पणाजवन जवित होता है – ऐसा कहना चाहिये[1]।

[‘अट्ठसालिनी’ मे एक भिन्न प्रकार का नय कहा गया है, उसे वही देखना चाहिये[2]।]

तृतीय वार में अर्पणाजवन नहीं – षष्ठ एव सप्तम वार मे भवङ्ग के अत्यन्त निकट होने से यदि अर्पणाजवन जवित नही हो पाता है तो तृतीय वार मे ही क्यो नही उस (अर्पणाजवन) का उत्पाद होता ?

उत्तर – अर्पणाजवन नामक ध्यान, मार्ग एव फल धर्म गोत्रभू द्वारा उपकार प्राप्त करके ही उत्पन्न हो सकते है। गोत्रभू का पूर्ववर्ती अनुलोम जवन भी अपने पूर्ववर्ती चित्त से, उपकार करनेवाले आसेवनप्रत्यय को प्राप्त न होने से यदि एक वार ही होता है तो वह अत्यन्त दुर्बल होने के कारण गोत्रभू को उत्पन्न करने मे भी असमर्थ होता है। अत ‘अनुलोम-गोत्रभू-ध्यान’ – इस प्रकार तृतीय वार मे अर्पणाजवन नही हो सकता। अर्थात् एक वार मात्र होनेवाला अनुलोम अत्यन्त दुर्बल होने से गोत्रभू का उत्पाद नही कर सकता और यदि वह गोत्रभू मात्र का उत्पाद नही कर सकता है तो ‘अर्पणा’ नामक ध्यान कैसे उत्पन्न नही हो सकता है[3]!

आदिकर्मिक ध्यानवीथि

‘पठवीकसिण’ आदि किसी एक आलम्बन की पुन पुन. भावना करने से ध्यान-प्राप्ति के आसन्नकाल मे जब ‘पठवीकसिणपञ्ञत्ति’ आदि कोई एक आलम्बन मनोद्वार मे प्रादुर्भूत होता है तो ‘भवङ्गचलन–भवङ्गोपच्छेद-मनोद्वारावर्जन’ होकर मन्दप्रज्ञ पुद्गल की सन्तान मे ‘परिकर्म-उपचार-अनुलोम-गोत्रभू’ – इस प्रकार उपचारसमाधिजवन चार वार तथा तीक्ष्णप्रज्ञ पुद्गल की सन्तान मे ‘उपचार-अनुलोम-गोत्रभू’–इस प्रकार उपचार-समाधिजवन तीन वार प्रवृत्त होते है और तदनन्तर अर्पणासमाधिजवन एक वार प्रवृत्त

---

१ “आभिधम्मिकगोदत्तत्थेरो पन ‘“पुरिमा पुरिमा कुसला धम्मा पच्छिमान पच्छिमान कुसलान धम्मान आसेवनपच्चयेन पच्चयो’ ति इम सुत्त वत्वा आसेवन-पच्चयेन पच्छिमो पच्छिमो धम्मो बलवा होति, तस्मा छट्ठे पि सत्तमे पि अप्पना होती’ ति आह। त अट्ठकथासु ‘अत्तनो मतिमत्त थेरस्सेत’ ति वत्वा पटिक्खित्त। चतुत्थपञ्चमेसु येव पन अप्पना होति, परतो जवन पतित नाम होति, भवङ्गस्स आसन्नत्ता ति वुत्त, त एव विचारेत्वा वुत्तत्ता न सक्का पटिक्खिपितु। यथा हि पुरिसो छिन्नपपाताभिमुखो धावन्तो ठातुकामो पि परियन्ते पाद कत्वा ठातु न सक्कोति, पपाते एव पतति, एव छट्ठे वा सत्तमे वा अप्पेतु न सक्कोति, भवङ्गस्स आसन्नत्ता। तस्मा चतुत्थपञ्चमेसु येव अप्पना होतीति वत्तब्बा।” – विसु०, पृ० ९३।

२. अट्ठ०, पृ० १८८।

३ विभा०, पृ० ११३।

२४ तत्थ सोमनस्ससहगतजवनानन्तरं अप्पना पि सोमनस्ससहगता व पाटिकङ्खितब्बा, उपेक्खासहगतजवनानन्तरं* उपेक्खासहगता व।

उस (अर्पणाजवनवार) मे सौमनस्यसहगत जवनो के अनन्तर अर्पणाजवन भी सौमनस्यसहगत ही अभीष्ट है। उपेक्षासहगत जवनो के अनन्तर (अर्पणाजवन) उपेक्षासहगत ही अभीष्ट है।

होकर वीथिसन्तति का उच्छेद हो जाने से यथासम्भव भवङ्ग ही प्रवृत्त होते है।

[इसे निम्न प्रारूप द्वारा इस प्रकार समझना चाहिए[1]।]

मन्दप्रज्ञ पुद्गल की आदिकर्मिक ध्यानवीथि

भ	'न	द	म	प	उ	नु	गो	ज'	भ
०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००

तीक्ष्णप्रज्ञ पुद्गल की आदिकर्मिक ध्यानवीथि

भ	'न	द	म	उ	नु	गो	ज'	भ
०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००

२४. **सोमनस्ससहगत उपेक्खासहगता व** – जवन-धर्म आसेवनप्रत्यय होते है। जिस प्रकार किसी द्रव्यविशेष को सुवासित करते समय उसमे गन्धद्रव्य की पुन-पुन भावना देनी पडती है और इस भावनाकृत्य मे प्रथम वार प्रयुक्त गन्धद्रव्य का ही दूसरे, तीसरे वार भी प्रयोग करना होता है। यदि एक ही (पूर्वप्रयुक्त) गन्धद्रव्य उपलब्ध न हो सके तो दूसरी वार प्रयोग मे लाये जानेवाले गन्धद्रव्य को प्रथम के सदृश होना चाहिए। अन्यथा सुवास्य द्रव्य की सुगन्ध ही विकृत हो जायेगी। उसी प्रकार (भावना देते समय प्रयुक्त सुगन्ध द्रव्य की भाँति) आसेवनप्रत्ययभूत जवन-धर्म भी कुशल के अनन्तर कुशल एव क्रिया के अनन्तर क्रिया ही होने चाहिये। यदि पूर्व के कामजवन कुशल होते है तो पश्चिम महग्गतजवनो को भी कुशल होना चाहिये और इसी प्रकार यदि पूर्व के कामजवन क्रिया होते है तो पश्चिम महग्गतजवनो को भी क्रिया ही होना चाहिए[2]। इस प्रकार पूर्व कामजवनो मे और उनके अनन्तर होनेवाले महग्गतजवनो मे यद्यपि भूमि-भेद होता है, तथापि उनमे (कुशलत्व) समानता होने से उनका आसेवन (सुवास्य द्रव्य की सुगन्ध की भाति) नष्ट नही होता, किन्तु यदि पूर्व मे सौमनस्य और पश्चिम मे उपेक्षा, या पूर्व मे उपेक्षा और पश्चिम मे सौमनस्य होगा तो वेदना-भेद होने से आसेवन अवश्य नष्ट हो जायेगा। चित्तो के स्वभाव का विवेचन करने पर भी जवनसन्तति मे 'पूर्वजवन सौमनस्य, पश्चिमजवन उपेक्षा, तदनन्तर

---

* ०सहगता० – स्या०।

१ अन्य मार्ग, फल-आदि वीथियो के लिये द्र० – चतु० परि० 'वीथिसमुच्चय'।

२ द्र० – विभा०, पृ० ११३।

पुन सौमनस्य' – इस प्रकार एक वीथि मे इतने शीघ्र परिवर्तन नही हो सकते, अत सौमनस्यजवन के अनन्तर अर्पणा भी सौमनस्य होनी चाहिये, तथा उपेक्षाजवन के अनन्तर अर्पणा उपेक्षासहगत ही होनी चाहिये[1]।

[जिज्ञासुओ के विशेष ज्ञान के लिये अब यहाँ कुछ विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।]

पृथग्जन के महाकुशल के अनन्तर अर्पणाजवन –

त्रिहेतुक पृथग्जन पुद्गल के रूप मे सम्पूर्ण नौ महग्गत कुशलध्यानो को प्राप्त किया जा सकता है तथा पाँच स्रोतापत्तिमार्ग कुशलध्यानो को भी प्राप्त किया जा सकता है। इसलिये त्रिहेतुक पृथग्जन के महाकुशल ज्ञानसम्प्रयुक्त चार जवनो मे से किसी एक के अनन्तर महग्गत कुशलजवन ९, स्रोतापत्तिमार्गजवन ५ – इस प्रकार १४ अर्पणाजवन होते है। उनमे से भी महाकुशल सौमनस्यसहगत ज्ञानसम्प्रयुक्त दो जवनो मे से किसी एक के अनन्तर प्रथमध्यान, द्वितीयध्यान, तृतीयध्यान एव चतुर्थध्यान नामक रूपावचर कुशलध्यान ४, स्रोतापत्तिमार्ग कुशलध्यान ४ – इस प्रकार ८ सौमनस्य अर्पणाजवन हो सकते है। तथा महाकुशल उपेक्षासहगत ज्ञानसम्प्रयुक्त दो जवनो मे से किसी एक के अनन्तर रूपावचरकुशल पञ्चमध्यान १, अरूपावचर कुशलध्यान ४ एव स्रोतापत्तिमार्ग पञ्चमध्यान १ – इस प्रकार ६ उपेक्षा-अर्पणाजवन हो सकते है।

स्रोतापन्न के महाकुशल के अनन्तर अर्पणाजवन –

स्रोतापत्तिफलस्थ पुद्गल के रूप मे सम्पूर्ण नौ महग्गत कुशलध्यानो को प्राप्त किया जा सकता है। जब फलसमापत्ति का समावर्जन करता है तब पाँच स्रोतापत्तिफल-जवन भी हो सकते है। तथा और अधिक प्रयत्न करने पर ऊपर के पाँच सकृदागामिमार्गजवन भी प्राप्त किये जा सकते है। सकृदागामिफलजवनो को स्रोतापन्न पुद्गल प्राप्त नहीं कर सकता, उन्हे तो सकृदागामिमार्गस्थ पुद्गल होकर ही प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार स्रोतापत्तिफलस्थ पुद्गल के महाकुशल ज्ञानसम्प्रयुक्त ४ जवनो मे से किसी एक के अनन्तर १९ अर्पणाजवन हो सकते है। उनमे से महाकुशल सौमनस्यसहगत ज्ञानसम्प्रयुक्त दो जवनो मे से किसी एक के अनन्तर सौमनस्यसहगत रूपावचर कुशलध्यान ४, स्रोतापत्ति फलध्यान ४ एव सकृदागामिमार्गध्यान ४ – इस प्रकार १२ सौमनस्य-अर्पणाजवन हो सकते है। तथा महाकुशल उपेक्षासहगत ज्ञानसम्प्रयुक्त दो जवनो मे से किसी एक के अनन्तर रूपावचरकुशल पञ्चमध्यान १, अरूपावचर कुशलध्यान ४, स्रोतापत्तिफल पञ्चमध्यान १ तथा सकृदागामिमार्ग पञ्चमध्यान १ – इस प्रकार ७ उपेक्षा-अर्पणाजवन हो सकते है।

---

१ "भिन्नवेदनान अञ्ञमञ्ञ आसेवनपच्चयभावस्स अनुद्धटत्ता।"–विभा०, पृ०११३।
"निरन्तरपवत्तान जवनान भिन्नवेदनता नाम नत्थीति वुत्त – 'सोमनस्सजवनानन्तर' ति।" – प० दी०, पृ० १४५।
परमत्थदीपनीकार ने 'विभावनी' के मत का खण्डन किया है, उसे वही (प० दी०, पृ० १४५) देखना चाहिये।

२५ तत्थापि कुसलजवनानन्तरं कुसलजवनञ्चेव हेट्ठिमञ्च फलत्तय-मप्पेति, क्रियाजवनानन्तरं क्रियाजवनं अरहत्तफलञ्चा ति ।

उस (समान वेदनावाले) जवनवार में भी महाकुशल ज्ञानसम्प्रयुक्त ४ जवनों के अनन्तर महग्गत, लोकोत्तर कुशलजवन और नीचे के फल-जवन ३ अर्पणा को प्राप्त होते है। महाक्रिया ज्ञानसम्प्रयुक्त ४ जवनो के अनन्तर महग्गत क्रियाजवन एवं अर्हत् फलजवन अर्पणा को प्राप्त होते हैं ।

सकृदागामी के महाकुशल के अनन्तर अर्पणाजवन—

सकृदागामी फलस्थ पुद्गल के महाकुशल ज्ञानसम्प्रयुक्त ४ जवनो के अनन्तर भी उपर्युक्त प्रकार से महग्गत कुशलध्यान ९ एव जब फलसमापत्ति का समावर्जन करता है तब सकृदागामिफलजवन ५ तथा जब ऊपर के मार्ग को प्राप्त करना चाहता है तब अनागामिमार्गजवन ५—इस प्रकार १९ जवन हो सकते है। उपर्युक्त प्रकार से सौमनस्यजवन और उपेक्षाजवन के भेदो को भी जानना चाहिये ।

अनागामी के महाकुशल के अनन्तर अर्पणाजवन—

अनागामिफलस्थ पुद्गल के महाकुशल ज्ञानसम्प्रयुक्त जवनो के अनन्तर भी उपर्युक्त प्रकार से महग्गत कुशलध्यान ९ एव जब फलसमापत्ति का समावर्जन करता है तब अनागामिफलजवन ५ तथा जब ऊपर के मार्ग को प्राप्त करना चाहता है तब अर्हत्-मार्गजवन ५—इस प्रकार १९ जवन हो सकते है । सौमनस्य एव उपेक्षा जवनो के सम्बन्ध मे उपर्युक्त प्रकार ही जानना चाहिये ।

अर्हत् के महाक्रियाजवन के अनन्तर अर्पणाजवन—

अर्हत् पुद्गल की सन्तान मे महग्गत क्रियाध्यान ९ हो सकते है । जब वह फलसमापत्ति का समावर्जन करता है तब ५ अर्हत्-फलजवनो मे से यथायोग्य कोई एक हो सकता है। प्राप्त करने के लिये ऊपर कोई मार्ग नही है और प्राप्त मार्ग (अर्हत्-मार्ग) भी एकचित्तक्षण (उत्पादक्षण) द्वारा ही अपने समस्त करणीय कृत्यो का सम्पादन कर चुका होता है, अत अपेक्षित न होने से उसका पुन उत्पाद नही होता। अत अर्हत् के महाक्रिया ज्ञानसम्प्रयुक्त चार जवनो मे से किसी एक के अनन्तर महग्गत क्रिया ९, अर्हत्-फलजवन ५—इस प्रकार १४ अर्पणाजवन हो सकते है। उनमे से भी महाक्रिया सौमनस्यसहगत ज्ञानसम्प्रयुक्त दो जवनो मे से किसी एक के अनन्तर प्रथम-ध्यान, द्वितीयध्यान, तृतीयध्यान एव चतुर्थध्यान—इस प्रकार रूपावचर क्रियाध्यान ४, अर्हत्-फलजवन ४—इस प्रकार ८ सौमनस्यजवन हो सकते हैं। महाक्रिया उपेक्षासहगत ज्ञान-सम्प्रयुक्त दो जवनो मे से किसी एक के अनन्तर रूपावचरक्रिया पञ्चमध्यान १, अरूपावचर क्रियाध्यान ४ तथा अर्हत्फल पञ्चमध्यान १—इस प्रकार ६ उपेक्षा-अर्पणाजवन हो सकते हैं ।

२५ ऊपर (अभि० स० ४ २४ मे) सौमनस्यकामजवन के अनन्तर सौमनस्य-अर्पणाजवन एव उपेक्षाकामजवन के अनन्तर उपेक्षा-अर्पणाजवन होने का प्रतिपादन किया गया है। अब यहाँ इस मूलपालि द्वारा उनमे से कुशल कामजवन के अनन्तर

२६ द्वत्तिंस सुखपुञ्ञम्हा द्वादसोपेक्खका परं ।
सुखितक्रियतो* अट्ठ छ सम्भोन्ति उपेक्खका ॥

महाकुशल सौमनस्यसहगत ज्ञानसम्प्रयुक्त दो जवनो के अनन्तर ३२ अर्पणाजवन होते हैं । महाकुशल उपेक्षासहगत ज्ञानसम्प्रयुक्त दो जवनो के अनन्तर १२ अर्पणाजवन होते है । महाक्रिया सौमनस्यसहगत ज्ञानसम्प्रयुक्त दो जवनो के अनन्तर ८ अर्पणाजवन होते है तथा महाक्रिया उपेक्षासहगत ज्ञानसम्प्रयुक्त दो जवनो के अनन्तर ६ अर्पणाजवन होते है ।

कुशल अर्पणाजवन एव क्रिया कामजवन के अनन्तर क्रिया अर्पणाजवन होने का निर्देश किया गया है ।

[उपर्युक्त (४ २४ के विस्तृत) व्याख्यान को दोनो (४ २४ एव ४ २५) पालियो का सम्मिलित विवेचन समझना चाहिये ।]

२६. यह गाथा उपर्युक्त 'तत्थ सोमनस्ससहगतजवनानन्तर अरहत्तफलञ्चा ति' (४ २४, २५) दोनो पालियो का सक्षिप्त कथन करनेवाली सङ्ग्रहगाथा है । अत. यहाँ पूर्वोक्त पालियो के अनुसार ही सङ्ख्या एव सङ्ख्येय धर्मो का वर्णन किया जा रहा है ।

द्वत्तिंस – महाकुशल सौमनस्यसहगत ज्ञानसम्प्रयुक्त दो जवनो के अनन्तर महग्गत-कुशल सौमनस्यजवन ४, मार्ग सौमनस्यजवन १६, नीचे के तीन फलो के सौमनस्यजवन १२ – इस प्रकार ३२ अर्पणाजवन होते है ।

द्वादस – महाकुशल उपेक्षासहगत ज्ञानसम्प्रयुक्त दो जवनो के अनन्तर महग्गत-कुशल उपेक्षाजवन ५, मार्गउपेक्षाजवन ४, नीचे के तीन फलो के उपेक्षाजवन ३ = १२ अर्पणाजवन होते है ।

अट्ठ – महाक्रिया सौमनस्यसहगत ज्ञानसम्प्रयुक्त दो जवनो के अनन्तर महग्गत-क्रिया सौमनस्यजवन ४ एव अर्हत्फल सौमनस्यजवन ४ = ८ अर्पणाजवन होते है ।

छ – महाक्रिया उपेक्षासहगत ज्ञानसम्प्रयुक्त दो जवनो के अनन्तर महग्गतक्रिया उपेक्षाजवन ५, तथा अर्हत्फल पञ्चमध्यान १ = ६ अर्पणाजवन होते है[1] ।

---

* सुखितक्रियातो – स्या० ।

१ द्र० – विभा०, पृ० ११३ – १४; प० दी०, पृ० १४५ ।

२७. पुथुज्जनान* सेक्खानं कामपुञ्ञातिहेतुतो।
तिहेतुकामक्रियतो† वीतरागानमप्पना ॥
अयमेत्थ मनोद्वारे वीथिचित्तप्पवत्तिनयो।

त्रिहेतुक पृथग्जन एव शैक्ष्य (नीचे के तीन फलस्थ) पुद्गलो के त्रिहेतुक कामकुशल चार जवनो के अनन्तर ४४ अर्पणाजवन होते है। अर्हत् पुद्गलो के त्रिहेतुक कामक्रिया चार जवनो के अनन्तर १४ अर्पणा-जवन होते है।

इस वीथिसङ्ग्रह मे यह मनोद्वार मे वीथिचित्तों की प्रवृत्ति का नय है।

---

२७. त्रिहेतुक पृथग्जन एव नीचे के फलस्थ तीन पुद्गलो की सन्तान मे त्रिहेतुक कामावचर कुशल ४ जवन ही परिकर्म, उपचार-आदि उपचारसमाधिजवन के रूप में हो सकते है, उनमे क्रियाजवन नही हो सकते। (मार्गस्थ पुद्गल एक चित्तक्षणमात्र होने के कारण उनकी सन्तान मे कामकुशलजवन नही हो सकते। अत 'सेक्खान' पद द्वारा फलस्थ शैक्ष्य पुद्गलो का ही ग्रहण होता है।) इन कामकुशलजवनो के अनन्तर पूर्वगाथा मे कथित प्रकार के अनुसार 'द्वत्तिस' (३२) एव 'द्वादस' (१२) – इस प्रकार ४४ अर्पणाजवन होते हैं। अर्हत् पुद्गल की सन्तान मे ४ त्रिहेतुक क्रियाजवन ही उपचारसमाधिजवन के रूप मे प्रवृत्त होते है, उनमे कुशलजवन नही होते। उन उपचारसमाधिजवनो के अनन्तर पूर्वगाथा मे कथित प्रकार के अनुसार 'अट्ठ' (८) एव 'छ' (६) – इस प्रकार १४ अर्पणाजवन होते है। (इनका विवेचन पहले किया जा चुका है।)

अर्पणाजवनमनोद्वारवीथि समाप्त।
मनोद्वारवीथि समाप्त।

---

* पुथुज्जनान – स्या०।
† ०क्रियातो – स्या०।

तदारमणनियमो

२८. सब्बथापि* पनेत्थ अनिट्ठे आरमणे अकुसलविपाकानेव पञ्च-विञ्ञाणसम्पटिच्छन-सन्तीरण-तदारमणानि ।

२९. इट्ठे कुसलविपाकानि ।

३०. अति-इट्ठे पन सोमनस्ससहगतानेव सन्तीरण-तदारमणानि ।

इस पञ्चद्वार एव मनोद्वार मे ('अतिमहन्त', 'महन्त' आदि) सब प्रकारो से भी अनिष्ट आलम्बन मे केवल अकुशलविपाक पञ्चविज्ञान, सम्पटिच्छन, सन्तीरण एवं तदालम्बन ही होते हैं ।

इष्ट आलम्बन मे कुशलविपाक पञ्चविज्ञान, सम्पटिच्छन, सन्तीरण एवं तदालम्बन होते हैं ।

अति-इष्ट आलम्बन मे केवल सौमनस्यसहगत सन्तीरण एव तदालम्बन ही होते हैं ।

तदालम्बननियम

२८–३०. 'किस जवन के अनन्तर कौन तदालम्बन होता है ?' – इस विषय का नियमन करनेवाले को 'तदालम्बननियम' कहते हैं। तदालम्बन को प्रधान रखकर यहाँ गौण रूप से पञ्चविज्ञान, सम्पटिच्छन एव सन्तीरण के नियमो को भी कहा जायेगा ।

[यहाँ 'सब्बथापि पनेत्थ' के स्थान पर 'सब्बत्थापि पनेत्थ' यह पाठभेद भी उपलब्ध होता है। प्राचीन टीकाओ मे 'सब्बत्थापि' इस पद की "'सब्बत्थापी' ति पञ्चद्वारमनोद्वारे पि" – इस प्रकार व्याख्या की गयी है[1] । तब यहाँ उन टीकाकारो की इस प्रकार की व्याख्या के अनुसार 'पनेत्थ' यह पद व्यर्थ होता है, अत इसे (इस पद को) नही होना चाहिये । उनके अनुसार यहाँ 'सब्बत्थापि पन अनिट्ठे' – केवल इस प्रकार ही पाठ होना चाहिये, किन्तु चूंकि यहाँ 'एत्थ' शब्द का प्रयोग किया गया है अत, 'सब्बथापि पनेत्थ अनिट्ठे' – यही पाठ युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है। 'सब्बथापि' का अर्थ 'अतिमहद् (अतिमहन्त), महद् (महन्त) आदि सब प्रकार से भी' किया गया है[2] ।]

---

* सब्बत्थापि – सी०, स्या०, रो०, ना०, म० (ख) ।

१ "'सब्बत्थापी' ति पञ्चद्वारमनोद्वारे पि ।" – विभा०, पृ० १११ ।
" 'सब्बत्थापी' ति चक्खादिपञ्चद्वारे मनोद्वारे पि।" – अभि० स० टी०, पृ० ३१५ ।

२ "'सब्बथापि' ति अतिमहन्तादिना सब्बपकारेन पि। 'एत्था' ति एतेसु यथावुत्तेसु पञ्चद्वारमनोद्वारेसु । 'सब्बत्थापि पन अनिट्ठे' ति वा पाठो, तेनेव टीकासु 'सब्बत्थापी' ति पञ्चद्वारमनोद्वारे पीति वुत्त ।" – प० दी०, पृ० १४५ ।
" 'सब्बथापी' ति अतिमहन्तादिछविसयप्पवत्तियाकारेन । 'एत्था' ति पञ्चद्वारे मनोद्वारे च । सीहलटीकाय पन 'सब्बत्थापी' ति पञ्चद्वारे मनोद्वारे पीति वण्णेति, 'एत्था' ति पद नत्थि विय दिस्सति ।" – सङ्खेप०, पृ० २५२ ।

इष्ट एवं अनिष्ट आलम्बन—पञ्चविज्ञान से लेकर तदालम्बनपर्यन्त होनेवाले विपाकचित्तो का कुशलविपाक होना, अकुशलविपाक होना, सौमनस्य से सम्प्रयुक्त होना, उपेक्षा से सम्प्रयुक्त होना—आदि इष्ट, अति-इष्ट एव अनिष्ट आलम्बनो पर निर्भर करता है[१]। इसलिये प्रथमत दिखायी देनेवाले सभी आलम्बनो मे 'यह इष्ट है, यह अनिष्ट है'—इस प्रकार विभाजन करनेवाला ज्ञान अपेक्षित होता है। इस प्रकार विभाजन करने मे "इट्ठानिट्ठारम्मण पन पाटियेक्क विभत्त अत्थीति । कस्स वसेन विभत्त ति ? मज्झिमकसत्तस्स[२]"—के अनुसार मध्यम (औसत) पुद्गलो के अनुसार ही विभाजन करना चाहिये। जैसे—राजा, श्रेष्ठी-आदि उच्चकोटि के धनी पुद्गलो के के लिये सामान्य भोजन अच्छा होने पर भी अनिष्ट होता है और बहुत निम्न स्तर के पुद्गलो एव तिरश्चीन योनि मे उत्पन्न सत्त्वो के लिये कुछ खराब भोजन (जो कि अनिष्ट होता है) होने पर भी इष्ट होता है, अत आलम्बन के इष्टत्व, अनिष्टत्व-आदि का विभाजन मध्यम (औसत दर्जे के) पुद्गलो के आधार पर करना चाहिये। मध्यम पुद्गलो को सुन्दर रूप, शब्द-आदि आलम्बन इष्ट होते है। अतिदुर्लभ भगवान् बुद्ध के रूप, शब्द-आदि एव अतिलावण्ययुक्त स्त्री-पुरुषो के रूप, शब्द-आदि अति-इष्ट होते है, तथा मूत्र, पुरीष, पूय एव पूतिगन्ध कुणप-आदि आलम्बन अनिष्ट होते है। अत इसी प्रकार इष्ट-अनिष्ट आलम्बन का विभाजन करना चाहिये[३]।

थेरवाद—उपर्युक्त इष्ट-अनिष्ट के विभाजन का प्रकार अट्ठकथा मे आनेवाला आचार्यो का समानवाद है। 'तिपिटकचूलाभयत्थेर[४]' "इट्ठानिट्ठ नाम विपाकवसेनेव परिच्छिन्न, न जवनवसेन[५]"—इस प्रकार कहते है। अर्थात् इष्ट-अनिष्ट आलम्बन का

---

१ तु०—"आरम्मणवसेन पनेत्थ सोमनस्सभावो वेदितब्बो।"—अट्ठ०, पृ० ६२।

२ विभ० अ०, पृ० ११।

३ "इच्छितब्ब ति इट्ठ। केन इच्छितब्ब ति ? लोकियमहाजनेन। तत्थ च अतिउक्कट्ठे अतिदुग्गते च जने अगहेत्वा मज्झिमकेन महाजनेन। एव हि सति इट्ठानिट्ठान सुट्ठु ववत्थान होतीति अट्ठकथाय वुत्त।"—प० दी०, पृ० १४५-१४६।

"इद हि न अतिइस्सरान महासम्मत-महासुदस्सन-धम्मासोकादीन वसेन विभत्त। तेस हि दिब्बक पि आरम्मण अमनाप उपट्ठाति। अतिदुग्गतानम्पि दुल्लभन्नपानान वसेन अविभत्त। तेस हि कणाजकभत्तसित्थानि पि पूति-मसरसो पि अतिमधुरो अमतसदिसो च होति। मज्झिमकान पन गणक-महामच्च-सेट्ठि-कुटुम्बिक-वणिजादीन कालेन इट्ठ, कालेन अनिट्ठ लभमानान वसेन विभत्त। एवरूपा हि इट्ठानिट्ठ परिच्छिन्दितु सक्कोन्तीति।"—विभ० अ०, पृ० ११।

४ तिपिटकचूलनागत्थेर—सी०, ना० सस्करण।

५ विभ०, अ०, पृ० ११।

परिच्छेद विपाकचित्त द्वारा ही किया जा सकता है। यदि इष्ट आलम्बन से समागम होता है तब जवन तो सञ्ञा-विपर्यास के कारण सौमनस्य, उपेक्षा या दौर्मनस्य कुछ भी हो सकता है, किन्तु पञ्चविज्ञान-आदि विपाकचित्त एकान्त रूप से कुशलविपाक ही होते हैं। इसी प्रकार अनिष्ट आलम्बन से समागम होने पर नियत रूप से अकुशलविपाक ही होते हैं। अत विपाकचित्त द्वारा इष्ट-अनिष्ट का सही परिच्छेद होता है। वे विपाकचित्त कथमपि वञ्चना नही कर सकते। यथा – मिथ्यादृष्टि तैर्थिक पुद्गल बुद्ध, धर्म, सङ्घ अथवा महाचैत्य-आदि आलम्बनो को देखकर या सुनकर अपनी आँखे एव कान मूँद लेते हैं और उनमे द्वेषजवन उत्पन्न होता है, किन्तु अति-इष्ट बुद्ध-आदि का दर्शन, उनके पूर्व कुशलकर्मो के कारण होने से पञ्चविज्ञान-आदि चित्त तो कुशल-विपाक ही होते हैं। इस प्रकार दृष्टिविपर्यास से अति-इष्ट आलम्बन को अनिष्ट आलम्बन समझने से पुद्गल मे द्वेषजवन उत्पन्न हो सकते हैं, किन्तु विपाकचित्त सर्वदा निर्भ्रान्त अनुसरण करते हैं[1]।

और भी, यद्यपि – जैसे ग्रामशूकर-आदि पुरीष के गन्ध की प्राप्ति से अत्यन्त प्रसन्न होते हैं तथापि पुरीष के सम्बन्ध से उनमे उत्पन्न चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्र-विज्ञान-आदि चित्त अकुशलविपाक ही होते हैं। अतिप्रबल अकुशल कर्म के कारण अनिष्ट आलम्बन को इष्ट समझने से उसमे सौमनस्य-जवन होते हैं। गृहस्वामी द्वारा शूकर को बाँध कर सुन्दर शयनासन पर सुलाये जाने पर भी वह शूकर सञ्ञाविपर्यास के कारण चिल्लाता है और उसमे दौर्मनस्यजवन उत्पन्न होते हैं, फिर भी अच्छे स्थान की प्राप्ति एव सुकोमल स्पर्श से उसमे कुशल-विपाक कायविज्ञान ही उत्पन्न होता है। अपने जातिस्वभाव के कारण अकुशल कर्म के फलस्वरूप दृष्टिविपर्यास से उसमे द्वेष, दौर्मनस्य जवन प्रवृत्त होते हैं और इसी से वह चिल्लाता है। इस प्रकार 'इष्ट या अनिष्ट आलम्बन के स्वरूप का निर्धारण विपाक से करना चाहिये, न कि जवन से' – इस थेरवाद का अट्ठकथाचार्य भी समर्थन करते हैं[2]।

---

१ "जवनं पन सञ्ञाविपल्लासवसेन इट्ठस्मि येव रज्जति, इट्ठस्मि येव दुस्सति, अनिट्ठस्मि येव रज्जति, अनिट्ठस्मि, दुस्सतीति। विपाकवसेनेव पनेत एकन्ततो परिच्छिज्जति। न हि सक्का विपाकचित्त वञ्चेतु। सचे आरम्मण इट्ठ होति, कुसलविपाक उप्पज्जति। सचे अनिट्ठ, अकुसलविपाक उप्पज्जति। किञ्चापि हि मिच्छादिट्ठिका बुद्ध वा सङ्घ वा महाचेतियादीनि वा उळारानि आरम्मणानि दिस्वा अक्खीनि पिदहन्ति, दोमनस्स आपज्जन्ति, धम्मसद्द सुत्वा कण्णे थकेन्ति, चक्खुविञ्ञाण-सोतविञ्ञाणादीनि पन तेस कुसलविपाकानेव होन्ति।" – विभ० अ०, पृ० ११।

तु० – "अस्सद्धान हि मिच्छादिट्ठीन च एकन्त इट्ठारम्मणभूत तथागतरूप पि दिस्वा सोमनस्स न उप्पज्जति।" – अट्ठ०, पृ० ६२।

२ "किञ्चापि गूथसूकरादयो गूथगन्ध घायित्वा 'खादितु लभिस्सामा' ति सोमनस्स-जाता होन्ति, गूथदस्सने पन नेस चक्खुविञ्ञाण, तस्स गन्धघायने घाण-विञ्ञाण, रससायने जिव्हाविञ्ञाण च अकुसलविपाकमेव होति। बन्धित्वा वरसयने सयापितसूकरो च किञ्चापि विरवति, सञ्ञाविपल्लासेन पनस्स जवनस्मि येव दोमनस्स उप्पज्जति, कायविञ्ञाण कुसलमेव। कस्मा? आरम्मणस्स इट्ठताय।" – विभ० अ०, पृ० ११।

द्वार के सम्बन्ध से भी इष्ट एवं अनिष्ट आलम्बन के भेद को जानना चाहिये। जैसे – सुखसस्पर्श मृदु पुरीष कायद्वार मे इष्ट तथा चक्षुष्-आदि द्वारो मे अनिष्ट होता है। इसी प्रकार किसी व्यक्ति द्वारा किसी अन्य व्यक्ति पर मणि द्वारा प्रहार करने पर वह मणि देखनेवालो के चक्षुर्द्वार मे यद्यपि इष्ट होती है, तथापि आहत पुद्गल के कायद्वार मे अनिष्ट होती है[1]।

कुछ आलम्बनो का कालभेद से भी इष्ट या अनिष्ट रूप मे विभाजन किया जा सकता है। जैसे – शीत ऋतु मे एवं भोजन पकाते समय अग्नि इष्ट होती है, वही ग्रीष्म ऋतु मे अनिष्ट होती है। इसी तरह पिपासा के समय एवं ग्रीष्म ऋतु मे जल इष्ट होता है, तथा शीत ऋतु मे अनिष्ट होता है।

कुछ पुष्पो का रूप इष्ट होता है, किन्तु गन्ध अनिष्ट होता है। इस प्रकार इष्ट एवं अनिष्ट आलम्बन का निर्धारण मध्यम (औसत) पुद्गल के आधार पर विपाकचित्तो द्वारा; द्वार द्वारा, काल द्वारा, एवं रूप, गन्ध-आदि द्वारा करना चाहिये[2]।

स्वभाव एवं परिकल्प द्वारा विभाजन – इन इष्ट एवं अनिष्ट आलम्बनो मे प्रत्येक आलम्बन स्वभाव एवं परिकल्प द्वारा द्विधा विभक्त होता है। मध्यम पुद्गल मे विपाक, द्वार एवं काल-आदि द्वारा इष्ट या अनिष्ट रूप मे विभक्त आलम्बन, 'स्वभावत इष्ट-आलम्बन' या 'स्वभावत अनिष्ट आलम्बन' भी कहे जाते है। तथा उच्च कोटि के या उत्तम रुचि के पुद्गल भी जब वात, पित्त-आदि धातुओ के विकार से रुग्ण हो जाते है, अथवा जो पुद्गल उन्मत्त होते है, उनमे स्वभावत इष्ट-आलम्बन भी इष्ट नही होते। रुचिविकार के कारण वे स्वादु आहार को भी अनिष्ट आलम्बन समझते है। इन (रुग्ण, उन्मत्त-आदि) पुद्गलो द्वारा अनिष्टतया निर्धारित आलम्बन 'परिकल्पतः अनिष्ट आलम्बन' कहे जाते है। काक, गृध्र-आदि पक्षी एवं उन्मत्त-आदि पुद्गल पूतिगन्ध-आदि से युक्त 'स्वभावत अनिष्ट आलम्बनो' को भी इष्ट समझते है। इन (काक, गृध्र-आदि पक्षी एवं उन्मत्त पुद्गल आदि) सत्त्वो द्वारा इष्ट रूप मे समझा गया वह आलम्बन भी 'परिकल्पित इष्ट आलम्बन' है। इस प्रकार आलम्बनो का इष्ट एवं अनिष्ट भेद स्वभाव एवं परिकल्प द्वारा भी निर्धारित होता है।

विपाक नियत एवं जवन अनियत –

विपाकचित्तो मे आलम्बन के अनुसार नियत रूप से जो सौमनस्य, उपेक्षा-आदि वेदनाओ का सम्प्रयोग होता है, इसे विपाकचित्तो की अव्यभिचारिता (नियत-

---

१ "अपि च द्वारवसेनापि इट्ठानिट्ठता वेदितब्बा। सुखसम्फस्स हि गूथकलल चक्खुद्वार-घाणद्वारेसु अनिट्ठ, कायद्वारे इट्ठ होति। चक्कवत्तिनो मणिरतनेन पोथियमानस्स सुवण्णसूले उत्तासितस्स च मणिरतनसुवण्णसूलानि चक्खुद्वारे इट्ठानि होन्ति, कायद्वारे अनिट्ठानि। कस्मा? महादुक्खस्स उप्पादनतो।" – विभ० अ०, पृ० ११-१२।

२ द्र० – विभ० मू० टी०, पृ० ९-१०; विभ० अनु०, पृ० १५; प० दी०, पृ० १४६।

सम्बन्धित्व) तथा जवनचित्तो मे आलम्बन के अनुसार वेदनाओ का सम्प्रयोग जो अनियत-रूप से होता है, इसे जवनचित्तो की व्यभिचारिता (अनियतसम्बन्धित्व) कहते है। जैसे – स्वाभाविक इष्ट एव अति-इष्ट आलम्बन की प्राप्ति पूर्वकृत कुशल कर्मो द्वारा ही होने के कारण जब स्वभावत इष्ट आलम्बन से समागम होता है तब कुशलविपाक उपेक्षासहगत सन्तीरण ही तदालम्बन होकर, और जब स्वभावतः अति-इष्ट आलम्बन से समागम होता है तब कुशलविपाक सौमनस्यसन्तीरण तदालम्बन होकर प्रवृत्त होता है, तथा जब स्वभावत अनिष्ट आलम्बन से समागम होता है तब अकुशलविपाक उपेक्षासहगत सन्तीरण, तदालम्बन होकर प्रवृत्त होता है। इस प्रकार विपाकचित्तो मे आलम्बन के अनुसार वेदनाओ का सम्प्रयोग नियत होने से विपाक को अविपर्यस्त (अविपरीत) कहा जाता है[१]।

चित्तविपर्यास, सञ्ञाविपर्यास एव दृष्टिविपर्यास से अविमुक्त पृथग्जन तथा चित्त-विपर्यास एव सञ्ञाविपर्यास से अविमुक्त शैक्ष्य पुद्गलो की सन्तान मे होनेवाले कुशल-अकुशल जवन कदाचित् आलम्बन के अनुसार होते है, यथा – अति-इष्ट आलम्बन मे सौमनस्यजवन, इष्ट-मध्यस्थ आलम्बन मे उपेक्षाजवन तथा अनिष्ट आलम्बन मे द्वेष-जवन-आदि होते है। किन्तु कभी कभी उपर्युक्त विपर्यासो के कारण, या अनिष्ट आलम्बन के प्रति अनुरागयुक्त अकुशल कर्मो के विद्यमान होने के कारण बुद्ध-आदि अति-इष्ट आलम्बनो मे भी तैर्थिको मे द्वेषजवन होते है तथा मूत्र, पुरीष, पूय एव पूतिगन्ध कुणप-आदि अनिष्ट आलम्बनो मे काक, गृध्र, शूकर-आदि पशु, पक्षियो मे सौमनस्य-जवन होते है। उन बुद्ध-आदि अति-इष्ट आलम्बनो एव मूत्र, पुरीष-आदि अनिष्ट आलम्बनो मे भी कुछ चित्तविपर्यस्त उन्मत्त-आदि पुद्गलो मे उपेक्षाजवन होते है। इस प्रकार कुशल-अकुशल जवनो द्वारा आलम्बन-स्वभाव का सर्वथा अनुगमन न किया जाने के कारण उनमे वेदना का सम्प्रयोग अनियत होने से जवनो को व्यभिचारी कहा जाता है[२]।

इष्ट-अनिष्ट-मिश्रित आलम्बन का ग्रहण—

जब कोई वस्तु इष्ट एव अनिष्ट दोनो से मिश्रित होती है तब आलम्बन के उस प्रकार मिश्रित होने पर उसमे सन्निहित विभूत-आलम्बन का ही ग्रहण होता है। जैसे – मयूर अपने अकुशल कर्मों के कारण तिरश्चीन योनि मे अहेतुक प्रतिसन्धि द्वारा उत्पन्न होता है, अत उसके वर्ण, सस्थान-आदि वस्तुत अनिष्ट आलम्बन होते है, तथापि प्रवृत्तिकाल मे फल देनेवाले कुशलकर्मो के कारण उसमे सुन्दर वर्ण, सस्थान-आदि उत्पन्न होते है, अत. उन प्रवृत्तिकर्मज इष्ट रूपो द्वारा मूल अनिष्ट आलम्बन अभिभूत कर दिये जाते है। इस कारण इस प्रकार के इष्ट-अनिष्टमिश्रित आलम्बनो के देखे जाने पर देखनेवालो के चक्षुर्विज्ञान द्वारा विभूत (सुप्रकट) इष्ट आलम्बन का ही ग्रहण किया जाने से उनमे कुशलविपाक ही उत्पन्न होते है। इसी प्रकार मूलत (स्वभावत.) इष्ट मनुष्य के स्कन्ध (शरीर) मे अनिष्ट कुष्ठ-आदि रोगो के होने पर

१. तु० – अट्ठ०, पृ० २१८ – २३३।

२. द्र० – विभा०, पृ० ११४ – ११५, प० दी०, पृ० १४६ – १५०।

३१. तत्थापि सोमनस्ससहगतक्रियाजवनावसाने सोमनस्ससहगतानेव तदारमणानि भवन्ति* ।

३२. उपेक्खासहगतक्रियाजवनावसाने च† उपेक्खासहगतानेव होन्ति† ।

उन (तदालम्बनो) मे भी सौमनस्यसहगत क्रियाजवनो के अन्त मे सौमनस्यसहगत तदालम्बन ही होते है ।

उपेक्षासहगत क्रियाजवनो के अन्त मे उपेक्षासहगत तदालम्बन ही होते है ।

उनके विभूत अनिष्ट आलम्बन (कुष्ठ-आदि) का आलम्बन करके देखनेवाले की सन्तान मे अकुशलविपाक ही उत्पन्न होते है[1] ।

३१ – ३२ क्रियाजवन अर्हत् की सन्तान मे ही होने से आलम्बन के अनुसार नियमत जब अति-इष्ट आलम्बन से समागम होता है तब सौमनस्य जवन, एव जब इष्ट-मध्यस्थ आलम्बन से समागम होता है तब उपेक्षाजवन होते है, इसलिये सौमनस्य-क्रियाजवन के अनन्तर सौमनस्यतदालम्बन (महाविपाक ४ एव सौमनस्यसन्तीरण १=) ५ मे से कोई एक प्रवृत्त होता है तथा उपेक्षाक्रियाजवन के अनन्तर उपेक्षा-तदालम्बन (महाविपाक ४ एव उपेक्षासन्तीरण २=) ६ मे से कोई एक ही प्रवृत्त होता है[2] ।

विपाक भी नियत एवं जवन भी नियत –

क्रियाजवन उपर्युक्त तीनो विपर्यासो से विमुक्त (रहित) अर्हत्पुद्गलो की सन्तान मे ही प्रवृत्त होने के कारण विपाक-धर्मो की ही भाति अर्थात् आलम्बन के अनुसार प्रवृत्त होते है, यथा – अति-इष्ट आलम्बन से समागम होने पर सौमनस्यक्रियाजवन होते है और उनके अवसित होने पर सौमनस्यतदालम्बन का पात होता है। तथा इष्ट-मध्यस्थ या अनिष्ट आलम्बन से समागम होने पर उपेक्षासहगत क्रियाजवन होते है । और उन उपेक्षासहगत क्रियाजवनो के अनन्तर उपेक्षातदालम्बन का पात होता है । इस प्रकार विपाक-धर्मो की ही भाति क्रियाजवनो का भी आलम्बन के अनुसार सौमनस्य एव उपेक्षा वेदनाओ से सम्प्रयोग नियत होने से विपाक भी नियत एव जवन भी नियत कहा गया है[3] ।

परमत्थदीपनीवाद – क्रियाजवनो के आलम्बनानुसार सौमनस्य एव उपेक्षा वेदना से सम्प्रयोग को न केवल प्रस्तुत ग्रन्थ मे, अपितु 'अट्ठसालिनी' मे भी सुस्पष्ट कहा गया

---

* सन्ति – रो० ।

†-† उपेक्खासहगतानि – स्या०; उपेक्खासहगतानि होन्ति – रो० ।

१. प० दी०, पृ० १४६ ।

२. अट्ठ०, पृ० २२४ ।

३. द्र० – विभा०, पृ० ११४ – ११६ ।

है[1]। इस सम्बन्ध में 'परमत्थदीपनी' का मत है कि क्रियाजवनों का आलम्बन के अनुसार प्रवृत्त होना सामान्यकाल (प्रकृतिकाल) में ही होता है। अर्हत् पुद्गल का अपने चित्त पर आधिपत्य होने से वह आलम्बन का अनुगमन न करके, अपितु अपनी इच्छा के अनुसार स्वचित्त को अभिसंस्कृत करके जैसा चाहे वैसे (यथेच्छ) जवनों का उत्पाद कर सकता है। इसीलिये भगवान् बुद्ध शूकरशावक को देखकर मुस्कराते हैं। इसी प्रकार महामोग्गल्लान थेर गृध्रकूट पर्वत पर प्रेत को देख कर मुस्कराते हैं[2]। उपर्युक्त दोनों स्थलों पर शूकरशावक एवं प्रेत अनिष्ट आलम्बन है तथा मुस्कराना क्रिया-सौमनस्यजवन है, फिर भी "इधानन्द! सो सचे आकङ्खति – 'पटिकूले अप्पटिकूलसञ्ञी विहरेय्य' ति, अप्पटिकूलसञ्ञी तत्थ विहरति[3]" अर्थात् अर्हत् पुद्गल प्रतिकूल आलम्बनों से समागम होने पर भी यदि चाहे तो अप्रतिकूलसंज्ञी होकर विहार कर सकता है – इस सूत्रपिटक के अनुसार अर्हत् पुद्गलों के क्रियाजवन आलम्बन के अनुसार वेदनाओं से सम्प्रयुक्त न होकर अपनी इच्छा के अनुसार उत्पन्न हो सकते हैं। इसीलिये प्रस्तुत ग्रन्थ (अभिधम्मत्थसङ्गहो) के साथ-साथ अभिधम्मट्ठकथाओं[4] में भी चित्त का विशेष अभिसंस्कार न होने पर अर्थात् जवन सामान्यावस्था में जब अपने आप प्रवृत्त होते हैं उस सामान्यकाल को लक्ष्य करके 'क्रियाजवनों में आलम्बन के अनुसार सौमनस्य एवं उपेक्षा वेदना का सम्प्रयोग होना चाहिये' – ऐसा कहा गया है। चित्त का अभिसंस्कार करके आलम्बन का आवर्जन करने पर तो सूत्रान्त (सुत्तन्त) पालि के अनुसार अनिष्ट आलम्बन का आलम्बन करके सौमनस्य क्रियाजवन या अति-इष्ट आलम्बन का आलम्बन करके उपेक्षा क्रियाजवन भी प्रवृत्त हो सकते हैं[5]।

'परमत्थसरूपभेदनी' का स्पष्टीकरण – भगवान् बुद्ध, एवं महामोग्गल्लान द्वारा शूकरशावक एवं प्रेत को देखकर मुस्कराने में देखते समय एक आलम्बन तथा मुस्कराते समय दूसरा – इस प्रकार आलम्बन-भेद होना चाहिये। अनिष्ट आलम्बन (शूकरशावक एवं प्रेत) को देखते समय उनमें अनिष्ट आलम्बन के अनुसार उपेक्षाक्रियाजवन-वाली वीथियाँ होती हैं, उस समय मुस्कान नहीं होती। तदनन्तर उस प्रकार की आश्चर्यजनक विचित्र योनि में उत्पाद के हेतुभूत अकुशल धर्मों के बुद्ध-आदि की सन्तान में नहीं होने से अपनी गुणसम्पत्ति का आलम्बन करके जब सौमनस्य होता है तब गुणसम्पत्तिरूप अति-इष्ट आलम्बन के अनुसार सौमनस्यक्रियाजवनवाली मनोद्वारवीथि उत्पन्न होती है, किन्तु चूंकि चित्तसन्तति अत्यन्त शीघ्र प्रवृत्त होती है, अतः 'शूकर-

---

१ तु० – अट्ठ०, पृ० ११७।

२. सं० नि०, द्वि० भा०, (लक्खण संयुत्त) पृ० २११।

३ म० नि०, तृ० भा०, (उपरिपण्णासक), पृ० ४०८।

४. तु० – अट्ठ०, पृ० २१७ – २२६।

५. प० दी०, पृ० १४७ – १४६।

शावक या प्रेत को देखते समय ही मुस्करा रहे हैं' – ऐसा प्रतीत होता है। 'इधानन्द ! . सो सचे आकङ्खति – पटिकूले अप्पटिकूलसञ्ञी विहरेय्य ति'...आदि सूत्रान्त पालि के अनुसार प्रतिकूल (कुत्सित) अनिष्ट आलम्बनभूत सत्त्व को अप्रतिकूल (अकुत्सित) अति-इष्ट आलम्बन के रूप मे परिकल्पित करके आवर्जन करने मे नाना प्रकार की वीथियाँ होती है। यथा – प्रतिकूल आलम्बन को देखते समय प्रारम्भ मे अनिष्ट आलम्बन के अनुसार उपेक्षा क्रियाजवनवीथियाँ होती है। इसके पश्चात् उस अनिष्ट आलम्बनभूत सत्त्व को 'मेत्ताकम्मट्ठान' (मैत्रीकर्मस्थान) द्वारा प्रिय, मनाप सत्त्व रूप मे परिकल्पित करके देखने पर वह सत्त्व इष्टाकार या अति-इष्टाकार रूप मे अवभासित होगा। इस समय यदि अति-इष्टाकार रूप मे अवभासित होता है तो सत्त्व के उस अति-इष्टाकार का आलम्बन करके सौमनस्य क्रियाजवन हो सकते हैं। एक ही आलम्बन मे आलम्बनकर्ता पुद्गल के चित्त की विचित्रता के अनुसार इष्ट, अति-इष्ट या अनिष्ट विविध आकार प्राप्त हो सकते है। अत्यन्त लावण्यमयी, सुन्दर अति-इष्ट युवती को भी 'असुभ कम्मट्ठान' (अशुभ कर्मस्थान) द्वारा आवर्जन करके देखने पर अशुभ आकार एव अनिष्ट आलम्बन का उत्पाद होता है। कुरूप अनिष्ट आलम्बन स्वपुत्र को भी मातृस्नेह से देखने पर शुभ आकार एव इष्ट आलम्बन का उत्पाद हो जाता है। इस प्रकार पृथग्जनो की सन्तान मे भी चित्त की विचित्रता के अनुसार अभिसस्कार (आकारपरिवर्तन) किया जा सकता है तो अपने चित्त पर आधिपत्य रखनेवाले अर्हत् के सम्बन्ध मे तो कहना ही क्या है! अर्हत् पुद्गल सभी आलम्बनो मे अपने चित्त का अभिसस्कार करके आवर्जन करने मे समर्थ होता है, अत अपनी इच्छा के अनुसार (यथेच्छ) परिवर्तन कर के इष्ट, अनिष्ट एव अति-इष्ट आलम्बन के अनुसार उपेक्षा एव सौमनस्य से सम्प्रयुक्त क्रियाजवनो का उत्पाद कर सकता है, जैसे – चतुर नाविक अनायास पतवार घुमाकर यथेष्ट स्थान पर जाने मे समर्थ होता है[1]।

मूलटीकावाद – 'सोमनस्ससहगतक्रियाजवनावसाने सोमनस्ससहगतानेव तदारमणानि' – आदि के अनुसार क्रियाजवनो के अनन्तर तदालम्बनपात के सम्बन्ध मे सभी अट्ठकथाओ के एकमत होने पर भी मूलटीकाचार्य को क्रियाजवन के अनन्तर तदालम्बनपात अभीष्ट नही है। उनके मतानुसार जिस प्रकार प्रतिस्रोतोगामी वेगवान् पोत के पीछे पीछे कुछ दूर तक स्रोतोगत जल अनुगमन करता है, उसी प्रकार तदालम्बन विपाकचित्त भी पोत के ही सदृश प्रकम्पित होनेवाले अस्थिरस्वभाव एव वेगवान् कुशल या अकुशल जवनों के पीछे ही अनुगमन कर सकते हैं। और जिस प्रकार अनुस्रोतोगामी निश्चल पर्णपुटक (दोना) के पीछे स्रोतोवाही जल अनुगमन नही करता, उसी प्रकार अत्यन्त उपशमस्वभाव क्रियाजवनो के अनन्तर तदालम्बन का अनुगमन नही हो सकता। 'पट्ठानपालि' मे भी कुशल एव अकुशल जवनो के अनन्तर ही तदालम्बन-

१ विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० – परमत्थसरूपभेदनी (बर्मी टीका), तु० – प० दी०, पृ० १४७ – १४९।

पात कहा गया है, क्रियाजवनो के अनन्तर तदालम्बनपात का उल्लेख नही किया गया है[1]।

अनुटीका, महाटीका एवं परमत्थसरूपभेदनी का वाद –

'अनुटीका' के 'केचिवाद' एव 'महाटीका' मे कहा गया है कि 'क्रियाजवन कायविज्ञप्ति एव वाग्विज्ञप्ति का उत्पाद करने मे समर्थ होने के कारण अनुस्रोतोगामी निश्चल पर्णपुटक (दोने) के समान नही है, अपितु वह भी कम्पित स्वभाववाला कहा जा सकता है। 'पट्ठानपालि' मे उसका उपदेश न किया जाना (अवचन) भगवान् बुद्ध के अध्याशयविशेष से ही होना चाहिये।' 'परमत्थसरूपभेदनी' मे कहा गया है कि 'कुसलं वुट्ठानस्स, अकुसल वुट्ठानस्स' की भाँति 'अब्याकत वुट्ठानस्स' का उपदेश भी अनन्तर-प्रत्यय मे किया गया है। 'वुट्ठान' शब्द द्वारा कुशल, अकुशल एव क्रिया-जवनो से उत्थित तदालम्बन, भवङ्ग एव च्युति सबका ग्रहण होता है। इस प्रकार क्रियाजवनो के अनन्तर तदालम्बन को भी सम्मिलित करके उपदेश करनेवाले स्थल अनेक होने से 'क्रियाजवन के अनन्तर तदालम्बन का उपदेश नही किया गया है' – इस प्रकार के वाद का परित्याग करना चाहिये[2]।

---

१. "पट्ठाने पन 'कुसलाकुसले निरुद्धे विपाको तदारम्मणता उप्पज्जती' ति (पट्ठान, प्र० भा०, पृ० ३४०) विपाकधम्मधम्मानमेव अनन्तरा तदा-रम्मणं वुत्त। कुसलतिके च 'सेक्खा वा पुथुज्जना वा कुसल अनिच्चतो' ति (पट्ठान, प्र० भा०, पृ० १२३) आदिना कुसलाकुसलजवनमेव वत्वा तदनन्तर तदारम्मण वुत्तं, न अब्याकतानन्तर। न च कत्थचि किरियानन्तर तदारम्मणस्स वुत्तट्ठान दिस्सति। विज्जमाने च तस्मि अवचने कारण नत्थि, तस्मा उपपरिक्खितब्बो एसो थेरवादो। विप्फारिक हि जवन, नाव विय नदीसोतो, भवङ्ग अनुबन्धतीति युत्त, न पन छळङ्गुपेक्खवतो सन्तवुत्ति किरियजवन, पण्णपुट विय नदीसोतो ति।" – ध० स० मू० टी०, पृ० १३४।

२ "एत्थ केचि 'छळङ्गुपेक्खावतो पि किरियमयचित्तताय किरियजवनस्स विप्फारिक-किरियभावो न सक्का निसेधेतु ति निदस्सनभावेन पण्णपुटमुपनीत असमान। किरियजवनानन्तर तदारम्मणाभावस्स पालिय अवचन पि अकारण लब्भमानस्स पि कत्थचि केनचि अधिप्पायेन अवचनतो। तथा हि धम्मसङ्गहे अकुसलनिद्देसे लब्भमानो पि अधिपति न वुत्तो, तस्मा किरियजवनानन्तर तदारम्मणाभावो वीमसितब्बो' ति वदन्ति। सति पि किरियमयत्ते सब्बत्थ तादिभावपत्तान खीणासवान जवनचित्त न इतरेस विय विप्फारिक सन्तसभावताय पन सन्नि-सिन्नरस सिया ति तस्स पण्णपुट दस्सित। धम्मसङ्गहे अकुसलनिद्देसे अधिपतिनो विय पट्ठाने किरियजवनानन्तर तदारम्मणस्स लब्भमानस्स अवचने न किञ्चि कारण दिस्सति। तथा हि वुत्त तत्थ अट्ठकथाय – 'हेट्ठा दस्सित-नयत्ता' ति। न चेत्थ दस्सितनयत्ता ति सक्का वत्तु, विपाकधम्मधम्मेहि

३३. दोमनस्ससहगतजवनावसाने च* पन तदारमणानि चेव भवङ्गानि च उपेक्खासहगतानेव भवन्ति। तस्मा यदि सोमनस्सपटिसन्धिकस्स दोमनस्स-सहगतजवनावसाने तदारमणसम्भवो नत्थि, तदा यं किञ्चि परिचितपुब्बं परित्ता-रमणमारब्भ उपेक्खासहगतसन्तीरणं उप्पज्जति। तमनन्तरित्वा भवङ्गपातो व होतीति† वदन्ति आचरिया।

दौर्मनस्यसहगत जवनो के अन्त मे भी तदालम्बन एव भवङ्ग उपेक्षासहगत ही होते है। अत सौमनस्य द्वारा प्रतिसन्धि लेनेवाले पुद्गल के दौर्मनस्यसहगत जवनो के अन्त मे यदि तदालम्बन का उत्पाद सम्भव नही है तो जिस किसी एक पूर्वपरिचित कामालम्बन का आलम्बन करके उपेक्षासहगत सन्तीरण उत्पन्न होता है। इस उपेक्षासहगत सन्तीरण चित्त के समनन्तर भवङ्गपात ही होता है – ऐसा आचार्य कहते है।

---

३३. दोमनस्ससहगत भवन्ति – दौर्मनस्य वेदना विप्रतिसार (खेद) पूर्वक आलम्बन का अनुभव करती है तथा सौमनस्य वेदना प्रीतिपूर्वक आलम्बन का अनुभव करती है। इस प्रकार ये दौर्मनस्य एव सौमनस्य दोनो वेदनाये परस्पर विपरीतस्वभाव

कुसलाकुसलेहि अतसभावान नयदस्सनस्स अयुज्जमानकत्ता। अपि च, तत्थ वीमसाय केसुचि सब्बेस च अधिपतीन अभावतो एकरस देसन दस्सेतु 'उद्धटो' ति च सक्का वत्तु। इध पन न तादिस अवचने कारण लब्भतीति 'अवचने कारण नत्थी' ति वुत्त।" – ध० स० अनु०, पृ० १४१।

"एत्थ च केचि 'पट्ठाने – कुसलाकुसले निरुद्धे विपाको तदारम्मणता उप्पज्जती-ति – विपाकधम्मधम्मान एव अनन्तर तदारम्मण वुत्त' ति किरियाजवनानन्तर न इच्छन्ति। विप्फारवन्त हि जवन, नाव विय नदीसोतो, भवङ्ग अनुबन्धति, न पन छळङ्गुपेक्खवतो सन्तवुत्तिकिरियजवन, पण्णपुट विय नदीसोतो ति। तयिद लब्भमानस्सापि केनचि अधिप्पायेन कत्थचि अवचन दिस्सति, यथा त धम्मसङ्गहे अकुसलनिद्देसे लब्भमानो पि अधिपति न वुत्तो। यञ्च पण्णपुट निदस्सित, तम्पि निदस्सितब्बेन न समान। नावा पण्णपुटान हि नदीसोतस्स आवट्टन गति च विसदिसीति नावाय नदीसोतस्स अनुबन्धन, पण्णपुटस्स अननुबन्धनञ्च युज्जति। इध पन किरियजवनेतरजवनान भवङ्ग-सोतस्स आवट्टन, गति च सदिसीति एतस्स अननुबन्धन, इतरस्स अननुबन्धनञ्च न युज्जति। तस्मा विचारेतब्ब।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० १३४। परमत्थसरूपभेदनी। तु० – प० दी०, पृ० १४९ – १५०।

* स्या०, रो०, ना० मे नही।

†. ०ति पि – सी०।

होने से पूर्वापरभाव से प्रवृत्त नही हो सकती। उपेक्षावेदना मध्यस्थरूप से आलम्बन का अनुभव करती है, अत दौर्मनस्य एव सौमनस्य दोनो वेदनाओ के अनुकूल हो सकती है। इसलिये दौर्मनस्यसहगत जवन के अनन्तर यदि तदालम्बन या भवङ्ग होता है तो वह उपेक्षासहगत ही होता है।

तस्मा नत्थि – यह परिकल्पित वाक्य है। 'सौमनस्यसहगत महाविपाक चित्त द्वारा प्रतिसन्धि लेनेवाले पुद्गल की सन्तान मे किसी कारणवश यदि तदालम्बन नही होता तो' – इस प्रकार कल्पना करके प्रयुक्त वाक्य है।

तदा यं किञ्चि उप्पज्जति – उपर्युक्त कथन के अनुसार यदि तदालम्बन की उत्पत्ति नही होती है तो स्वभावत द्वेषजवन के अनन्तर भवङ्गपात ही होगा। यदि भवङ्गपात होता है तो नियमत एक भव मे प्रतिसन्धि, भवङ्ग एव च्युति चित्त समान होने के कारण, यहाँ सौमनस्य द्वारा प्रतिसन्धि लिया हुआ पुद्गल होने से सौमनस्य-भवङ्ग का पात ही होना चाहिये। ऐसी स्थिति मे उस सौमनस्य भवङ्ग का पात द्वेषजवन के अनन्तर कैसे अनुरूप होगा? – यह एक कठिनाई है। इस प्रकार की कठिनाई के समाधानार्थ द्वेषजवन एव सौमनस्यभवङ्ग के बीच दोनो का समन्वय या आनुकूल्य साधने के लिये उपेक्षासहगत सन्तीरणचित्त की उत्पत्ति होती है। वह उपेक्षासहगत सन्तीरणचित्त आगन्तुकभवङ्ग कृत्य करते हुये प्रवृत्त (उत्पन्न) होता हैं। यह प्रतिसन्धि के सदृश आवसिक (मूल) भवङ्ग न होकर आगन्तुक भवङ्ग होता है। यह आगन्तुक भवङ्ग द्वेषजवनवाली वीथि के आलम्बन का आलम्बन नही कर सकता, अत अपने पूर्वपरिचित किसी एक कामालम्बन का आलम्बन करके उत्पन्न होता है, जैसे – यदि वह (आगन्तुक भवङ्ग) रूपालम्बन के प्रति परिचित होता है तो रूपालम्बन का आलम्बन करेगा – इत्यादि। वह आलम्बन भी यदि, अनिष्ट आलम्बन होगा तो अकुशलविपाक सन्तीरण होगा और यदि वह आलम्बन इष्ट-मध्यस्थ या अति-इष्ट आलम्बन होगा तो कुशलविपाक सन्तीरण होगा[१]।

तमनन्तरित्वा भवङ्गपातो व होति – उस उपेक्षासहगत सन्तीरण के अनन्तर स्वभावत विना बाधा के सौमनस्यभवङ्ग हो सकता है[२]।

वदन्ति आचरिया – ग्रन्थकार जब किसी विषय-विशेषसम्बन्धी निर्णय देने मे कोई युक्ति या प्रमाण प्रस्तुत कर पाने मे अपने को असमर्थ पाते है तो 'वदन्ति' या 'वदन्ति आचरिया' आदि शब्दो का प्रयोग करते है। इस प्रकार का वाद 'अट्ठसालिनी' अट्ठकथा मे भी उपलब्ध होता है[३]।

---

१ तु० – अट्ठ०, पृ० २१८ – २१९।

२ " 'तमनन्तरित्वा' ति अत्तनो अनन्तर अव्यवहित- कत्वा।" – विभा०, पृ० ११७।
" 'तमनन्तरित्वा' ति त आगन्तुकभवङ्ग अत्तनो अनन्तरपच्चय कत्वा।" – प० दी०, पृ० १५३।

३ "अथस्स यदा सोमनस्सपटिसन्धिकस्स पवत्ते झान निब्बत्तेत्वा पमादेन परि-हीनज्झानस्स 'पणीतधम्मो मे नट्ठो' ति पच्चवेक्खतो विप्पटिसारिवसेन

तदालम्बनपात नहीं होनेवाले वार

१. सौमनस्य से प्रतिसन्धि लेनेवाले मिथ्यादृष्टि पुद्गल की सन्तान मे बुद्ध-आदि अति-इष्ट, अतिमहद् (अतिमहन्त) आलम्बन या विभूत-आलम्बन का आलम्बन करके यदि द्वेषजवन होते है, अथवा – अति-इष्ट देवकन्या-आदि अतिमहत्-आलम्बन या विभूतआलम्बन का आलम्बन करके स्तब्धता (थम्भितत्त[1]) हो जाने से द्वेषजवन होते है तो उनके अनन्तर तदालम्बन का पात नही हो सकता, क्योकि यदि तदालम्बन होगा तो अति-इष्ट आलम्बन होने से सौमनस्य तदालम्बन ही होगा और वह (सौमनस्य तदालम्बन) द्वेषजवन के अनन्तर नही हो सकता। उपेक्षातदालम्बन होने के लिये भी यहाँ अवकाश नही है, क्योकि 'अति-इट्ठे पन सोमनस्ससहगतानेव[2],' के अनुसार अति-इष्ट आलम्बन उपेक्षातदालम्बन के अनुकूल नही पडता। अत. इस वार मे तदालम्बन का पात कथमपि नही होता।

२. सौमनस्य से प्रतिसन्धि लेनेवाले पुद्गल की सन्तान मे यदि महद्-आलम्बन (महन्तालम्बन) या अविभूत-आलम्बन (यहाँ आलम्बन मे अति-इष्ट-आदि विशेषण नही दिये जा सकते, अत सभी महद् या अविभूत कामालम्बन) का आलम्बन करके द्वेषजवन होते है तो उन द्वेषजवनो के अनन्तर भी तदालम्बन नही होता। क्योकि 'विभूतेतिमहन्ते च तदारमणमीरित[3]' के अनुसार विभूत या अतिमहद् आलम्बन के अनन्तर ही तदालम्बनपात सम्भव है।

३. सौमनस्य से प्रतिसन्धि लेकर ध्यानप्राप्त पुद्गल के उस ध्यान से पतित होने पर उस गिरे हुए (पतित) महग्गतध्यान का आलम्बन करके 'मेरा प्रणीत धर्म नष्ट हो गया' – इस प्रकार विप्रतिसारवश जब उस पुद्गल मे द्वेषजवन होते है तो उन द्वेषजवनो के अनन्तर भी तदालम्बन का पात नही हो सकता, क्योकि 'कामे जवनसत्तालम्बनान नियमे सति[4]' के अनुसार कामालम्बन होने पर ही तदालम्बन का पात सम्भव है। और यहाँ गिरा हुआ ध्यान महग्गत आलम्बन है, अतः इस वार मे भी तदालम्बनपात नही होता।

दोमनस्स उप्पज्जति, तदा किं उप्पज्जति ? 'सोमनस्सानन्तर हि दोमनस्स, दोमनस्सानन्तर च सोमनस्स' पट्ठाने पटिसिद्ध। महग्गतधम्मे आरब्भ जविते जवने तदारम्मण पि तत्थेव पटिसिद्ध ति ? कुसलविपाका वा अकुसलविपाका उपेक्खासहगताहेतुकमनोविञ्ञाणधातु उप्पज्जति।" – अट्ठ०, पृ० २२४।
"वदन्ति आचरिया, पालिय पन महाअट्ठकथायं च एत विधानं नत्थीति अधिप्पायो।" – प० दी०, पृ० १५३।

१. "निच्छयवसेन आरम्मणे पवत्तितु असमत्थताय 'थम्भितत्तं।" – अट्ठ०, पृ० २१०।
२. द्र० – अभि० स० ४:३० पृ० ३५५।
३. द्र० – अभि० स० ४.३५ पृ० ३७३।
४. द्र० – अभि० स० ४:३५ पृ० ३७३।

४ सौमनस्य से प्रतिसन्धि लेकर किसी प्रज्ञप्ति धर्म का आलम्बन करके जब द्वेषजवन होते है तब भी उस प्रज्ञप्ति-धर्म का आलम्बन करके उपर्युक्त नियमो के अनुसार तदालम्बन का पात नही होता।

इस प्रकार तदालम्बन के अभाववाले उपर्युक्त चारो जवनवारो मे द्वेषजवन होने से उनके अनन्तर प्रतिसन्धि के सदृश सौमनस्य मूलभवङ्ग का भी पात नही हो सकता। इस तदालम्बन एव भवङ्ग – दोनो का पात नही होने से जब कठिनाई उपस्थित होती है तो दौर्मनस्यजवन एव सौमनस्यभवङ्ग के बीच मे समन्वय या आनुकूल्य साधने के लिये उपेक्षासहगत सन्तीरणचित्त आगन्तुक भवङ्गकृत्य करते हुए उत्पन्न होता है[1]।

उपेक्षासहगत सन्तीरण का भवङ्गकृत्य करना –

दो उपेक्षासहगत सन्तीरणचित्तो के प्रतिसन्धि, भवङ्ग, च्युति, तदालम्बन एव सन्तीरण – इन पाँच कृत्यो मे से यहाँ न प्रतिसन्धि का काल है, न च्युति का और न द्वेषजवनो के आलम्बन का ग्रहण कर के तदालम्बन होने का ही काल है। तथा सम्पटिच्छन के अनन्तर ही होने से यहाँ सन्तीरण का काल भी नही है। इस प्रकार प्रतिसन्धि, च्युति, तदालम्बन एव सन्तीरण – ये चार कृत्य यहाँ नही हो सकते। अब यदि द्वेषजवन के अनन्तर यहाँ सन्तीरणचित्त नही प्रवृत्त होता है तो चित्त-सन्तति उच्छिन्न होकर भवसन्तति का ही उच्छेद प्राप्त हो जायेगा, अत. भव का अवसान न होने देने के लिये यह उपेक्षासहगत सन्तीरणचित्त भवङ्गकृत्य करता हुआ उत्पन्न होता है[2]।

आगन्तुक भवङ्ग – प्रतिसन्धि के उत्पादकाल से लेकर होनेवाले भवङ्गचित्त प्रतिसन्धिचित्त के सदृश ही होते है। अत स्कन्धो के उत्पत्तिकाल से ही स्कन्धो मे रहने के कारण ये 'आवसिक भवङ्ग' कहलाते है। यह उपेक्षा सन्तीरणचित्त कभी-कभी

---

१ "सोमनस्सपटिसन्धिकस्स तित्थियादिनो बुद्धादि-अतिइट्ठ-आरम्मणे पि पटिहतचित्तस्स दोमनस्सजवने जविते वुत्तनयेन सोमनस्सतदारम्मणस्स अति-इट्ठारम्मणे च उपेक्खासहगततदारम्मणस्स अनुप्पज्जनतो। केनचि वा असप्पा-येन परिहीनलोकियज्झानं आरब्भ 'पणीतधम्मो मे नट्ठो' ति विप्पटिसार जनेन्तस्स दोमनस्सजवने सति अकामावचरारम्मणे तदारम्मणाभावतो 'यदि तदारम्मणस्स उप्पत्तिसम्भवो नत्थी' ति अधिप्पायो।" – विभा०, पृ० ११६; प० दी०, पृ० १५२; अट्ठ०, पृ० २२४।

२ "केन पन किच्चेन इदं चित्त पवत्ततीति? तदारम्मणकिच्चेन ताव न पवत्तति, जवनारम्मणस्स अग्गहणतो। नापि सन्तीरणकिच्चेन, यथा सम्पटि-च्छितस्स सन्तीरणवसेन अप्पवत्तनतो। पटिसन्धिचुतीसु वत्तब्बमेव नत्थि। पारिसेसतो पन भवस्स अङ्गभावतो भवङ्गकिच्चेनाति युत्त सिया।" – विभा०, पृ० ११६।

(कठिनाई उपस्थित होने पर) ही उत्पन्न होने के कारण 'आगन्तुक भवङ्ग' कहा जाता है ।

उपर्युक्त नय के अनुसार कभी कभी (कठिनाई उपस्थित होने पर ही सही) मूल प्रतिसन्धिचित्त से विसदृश आगन्तुक भवङ्ग के भी उत्पन्न होने से वीथिमुत्तपरिच्छेद मे आनेवाली –

"पटिसन्धिभवङ्गञ्च तथा चवनमानस ।
एकमेव तथेवेकविसयञ्चेकजातिय[1] ।।"

अर्थात् एक भव मे प्रतिसन्धि, भवङ्ग एव च्युति के धर्म एव आलम्बन समान ही होते है – यह गाथा प्रायिक (येभुय्येन) गाथा ही है – ऐसा समझाना चाहिये[2]।

यं किञ्चि परिचितपुब्बं परित्तारमणं –

इस आगन्तुक भवङ्गपात मे होनेवाली चित्तसन्तति के पूर्वकाल मे कोई परिचित एक आलम्बन अवश्य होगा । 'आलम्बनसङग्रह' के अनुसार कामविपाकधर्म चूकि कामधर्मो का ही आलम्बन करते है[3], अत वह परिचित आलम्बन अवश्य कामधर्मो मे से ही कोई आलम्बन होगा । वह परिचित कामालम्बन यदि इष्ट आलम्बन होता है तो कुशलविपाक सन्तीरण और यदि अनिष्ट आलम्बन होता है तो अकुशलविपाक सन्तीरण चित्त प्रादुर्भूत होता है[4]।

[यदि आलम्बन अति-इष्ट होता है तो 'अतिइट्ठे पन सोमनस्ससहगतानेव' इस प्रकार का नियम होने पर भी सौमनस्य सन्तीरणचित्त न होने से (क्योकि दो उपेक्षा-सन्तीरणचित्त ही भवङ्गकृत्य कर सकते है, सौमनस्यसन्तीरण नही[5]) कठिनाई उपस्थित

---

१ द्र० – अभि० स० ५ ४० ।

२ "य पन पटिसन्धिभवङ्गान धम्मतो आरम्मणतो च समानत वक्खति, त येभुय्यतो ति दट्ठब्ब । न हि इदमेक ठान वज्जेत्वा पटिसन्धिभवङ्गान विसदिसता अत्थि ।" – विभा०, पृ० ११६, प० दी०, पृ० १५३ ।

३ द्र० – अभि० स० ३ ५५, पृ० २५८ ।

४ "'परिचितपुब्ब' ति पुब्बे परिचित, तस्मि भवे येभुय्येन गहितपुब्ब । उपेक्खासहगतसन्तीरण उप्पज्जति निरावज्जन पि । यथा तनिरोधा वुट्ठहन्तस्स फलचित्तन्त्यधिप्पायो ।" – विभा०, पृ० ११६ ।

"'य किञ्ची' ति इट्ठानिट्ठभूतेसु रूपारम्मणादीसु य किञ्चि । 'परिचितपुब्ब ' ति इमस्मि भवे येव तङ्गणतो पुरिमखणेसु गहणबहुलतावसेन परिचित्त, अभिन्नसेवित ति अत्थो ।" – प० दी०, पृ० १५१ ।

विस्तार के लिये द्र० – विभा०, पृ० ११५ – ११६; प० दी०, पृ० १५१ – १५३ ।

५. द्र० – अभि० स० ३ २० की व्याख्या, पृ० २३२ ।

होने पर यहाँ कुशलविपाक उपेक्षासन्तीरण ही होना चाहिये, क्योकि तदालम्बननियम मे कथित यह उपर्युक्त वाक्य वीथिचित्तो के विषय मे ही लागू होगा, प्रतिसन्धि, भवङ्ग, च्युति जैसे वीथिमुक्त चित्तो के बारे मे किसी प्रकार लागू नही हो सकता।]

परमत्थदीपनीवाद – परमत्थदीपनीकार का कहना है कि "जिनमे चार उपेक्षासहगत महाविपाकचित्त स्वभाव से प्रवृत्त होते है, उनमे वे (उपेक्षासहगत महाविपाकचित्त) आगन्तुक भवङ्गकृत्य नही कर सकते – ऐसा नही कहा जा सकता, क्योकि अट्ठकथा मे भी कहा गया है कि 'जिस प्रकार कुशल जवनो के अनन्तर बहुलतया सहेतुक तदालम्बन होते है, उस प्रकार कुशल जवनवीथि के बीच बीच मे अकुशल जवन होने पर इन अकुशल जवनो के अनन्तर भी सहेतुक तदालम्बन ही होते है'[1]। इस तरह अट्ठकथा के अनुसार यदि अकुशलजवनो के अनन्तर भी सहेतुक तदालम्बन हो सकते है तो उन सहेतुक महाविपाकचित्तो को इस तदालम्बन का प्रतिनिधिभूत आगन्तुक भवङ्ग होकर भी प्रवृत्त होना चाहिये। इस प्रकार उपेक्षासहगत महाविपाक ४ एव उपेक्षासहगत सन्तीरण २=६ चित्त भी आगन्तुक भवङ्गकृत्य करते हुए प्रवृत्त हो सकते है[2]।" 'परमत्थदीपनी' का यह वाद युक्तियुक्त होने से माननीय है।

आवर्जन के विना आलम्बन का ग्रहण –

यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि आगन्तुक भवङ्ग, एक वीथि के प्रारम्भ मे ही आवर्जन द्वारा आवर्जित आलम्बन का ग्रहण न करके किसी एक पूर्व-परिचित कामालम्बन का ग्रहण करके प्रवृत्त होता है तो ऐसी स्थिति मे वह निरावर्जन ही प्रवृत्त होगा और आवर्जन-आदि के आलम्बन से धर्मत एव कालत भिन्न आलम्बनवाला होगा। जब कि आवर्जन-आदि के साथ धर्म एव काल से भिन्न आलम्बन नही होना चाहिये तो फिर निरावर्जन और भिन्नालम्बन आगन्तुक भवङ्ग कैसे प्रवृत्त होगा?

---

१ "यदा हि कुसलजवनान अन्तरन्तरा अकुसल जवति, तदा कुसलावसाने आचिण्णसदिसमेव, अकुसलावसाने सहेतुक तदारम्मण वुत्त।" – अट्ठ०, पृ० २३३।

२ "येस पन पकतिया इतरानि चत्तारि उपेक्खासहगतविपाकानि बहुल पवत्तन्ति, तेस तानि पि आगन्तुकभवङ्ग न होन्तीति न वत्तब्बानि। अट्ठकथाय पन महाधम्मरक्खितत्थेरवादे येभुय्यनियमसोते पतितत्ता अकुसलजवनानुरूप अहेतुक उपेक्खासन्तीरणद्वयमेव वुत्त। तेनेव हि परतो थेरवादान विचारितट्ठाने अकुसलजवनानन्तर अहेतुकतदारम्मणमेव दीपेन्तस्स तस्स थेरवादस्स अपरिपुण्णवादभाव दस्सेत्वा यदा कुसलजवनान अन्तरन्तरा अकुसल जवति, तदा कुसलावसाने आचिण्णसदिसमेव, अकुसलावसाने सहेतुक तदारम्मण युत्त ति अट्ठकथाय वुत्त। तदारम्मणे च युत्ते एत पि युज्जति येव। तस्मा छ पि उपेक्खासहगतविपाकानि आगन्तुकभवङ्ग होन्ति येवा ति दट्ठब्ब।" – प० दी०, पृ० १५२। तु० – अट्ठ०, पृ० २३१–२३३।

समाधान – प्रश्न ठीक है, किन्तु जिस प्रकार मार्गवीथि मे गोत्रभू और व्यवदान, फलसमापत्तिवीथि मे फलचित्त तथा निरोधसमापत्ति से उठ रहे पुद्गल के फलचित्त निरावर्जन एव भिन्नालम्बन होते हुए भी प्रवृत्त होते है, उसी प्रकार निरावर्जन एव भिन्नालम्बन होने पर भी इस (आगन्तुक भवङ्ग) मे कोई दोष नही आता। प्रतिसन्धि के साथ जो भवङ्ग का धर्म एव आलम्बन से अभिन्नत्व वहाँ वहाँ (अनेक स्थलो पर) कहा गया है वह (कथन) भी 'मूलभवङ्ग' की अपेक्षा से ही कहा गया है, आगन्तुक भवङ्ग की दृष्टि से नही। यहाँ तो आगन्तुक भवङ्ग है, अत इसके द्वारा पूर्वपरिचित कामालम्बन का आलम्बन करके निरावर्जन एव भिन्नालम्बन होते हुए प्रवृत्त होने पर भी इस (आगन्तुक भवङ्ग) मे कोई दोष नही है[1]।

कहा भी है—

"निरवज्ज कथ चित्त होति नेत हि सम्मत।
नियमो न विनावज्जा निरोधा फलदस्सना[2]॥"

---

१ "यदि चेत आगन्तुकभवङ्ग एकवीथिय आदिम्हि आवज्जनेन आवज्जित आरम्मण अगहेत्वा अञ्ञ य किञ्चि परिचितपुब्ब परित्तारम्मण आरब्भ उप्पज्जति, एव सति निरावज्जन नाम एत सिया, आवज्जनादीहि च सद्धि धम्मतो कालतो च भिन्नारम्मण नाम सिया ति? सच्च, यथा पन मग्ग-वीथिय गोत्रभुवोदानानि, फलसमापत्तिवीथिय फलानि, निरोधतो वुट्ठहन्तस्स च फलचित्त निरावज्जनमेव होति भिन्नारम्मणञ्च, एवमेतस्स पि नत्थि निरावज्जनताय भिन्नारम्मणताय च दोसो ति। यच्च एकस्मि भवे भवङ्गस्स पटिसन्धिया सह धम्मतो च आरम्मणतो च अभिन्नत्त तत्थ तत्थ वुत्त, तम्पि मूलभवङ्ग सन्धाय वुत्त। इदञ्च आगन्तुकभवङ्ग ति नत्थि दोसो ति।" –प० दी०, पृ० १५३। तु० – विभा०, पृ० ११६।
"किमस्सा आवज्जन ति? 'भवङ्गावज्जनान विय नत्थस्सा आवज्जनकिच्च' ति। 'एतानि ताव अत्तनो निन्नत्ता च चिण्णत्ता च समुदाचारत्ता च उप्पज्जन्तु, अय कथ उप्पज्जती' ति? यथा निरोधस्स अनन्तरपच्चय नेवसञ्ञानासञ्ञायतन, निरोधा वुट्ठहन्तस्स फलसमापत्तिचित्त, अरियमग्गचित्त मग्गानन्तरानि फलचित्तानि, एव असन्ते पि आवज्जने निन्नचिण्णसमुदाचारभावेन उप्पज्जन्ति। विना हि आवज्जनेन चित्त उप्पज्जति, आरम्मणेन पन विना नुप्पज्जतीति।" – अट्ठ०, पृ० २२४–२२५।

२ विभा०, पृ० ११६।
तु० –

"उपेक्खा तीरण होति, परित्तेनावज्जन कथ।
नियमो न विनावज्ज, मग्गतो फलसम्भवा॥"

– सच्च० १८६ का०, पृ० १३।

३४ तथा कामावचरजवनावसाने कामावचरसत्तानं कामावचरधम्मेस्वेव आरमणभूतेसु तदारमणमिच्छन्तीति ।

तथा कामावचर जवनो के अन्त मे ही, कामावचर सत्त्वो की सन्तान मे ही एव आलम्बनभूत कामधर्मो मे ही तदालम्बन इष्ट है । इस प्रकार का यह तदालम्बननियम है ।

अर्थात् आवर्जनरहित चित्त कैसे हो सकता है ? (आवर्जनरहित चित्त नही हो सकता) यह आचार्य-सम्मत मत नही है। बिना आवर्जन के ही निरोधसमापत्ति से उठते समय अनागामिफल एव अर्हत्फलचित्तो के दिखायी पडने से, 'चित्त बिना आवर्जन के नही हो सकता' – यह नियम नही है ।

३४ कामजवन, कामसत्त्व तथा कामधर्म अर्थात् अतिमहद्-आलम्बन एव विभूत-आलम्बन – इन तीनो कारणो के समुपस्थित होने पर ही तदालम्बनपात सम्भव है । जिस प्रकार छोटे बच्चे घर से बाहर जाते समय अपने उत्पादक माता-पिता या परिचित सम्बन्धियो का ही अनुगमन करते है, उसी प्रकार कामतृष्णामूलक कुशल या अकुशल कर्मो से उत्पन्न कामविपाक तदालम्बन भी अपने उत्पादक कामावचर कुशल या अकुशल जवनो मे से किसी एक का अथवा तत्सदृश (जवनसदृश) अन्य कामकुशल, कामक्रिया या काम-अकुशल जवनो का अनुगमन करता है[1] ।

"कामतण्हासन्निदानकम्मनिब्बत्तभावतो ।
जनक त समान वा जवन अनुबन्धति ।
न तु अञ्ञ तदालम्ब बालदारकलीळया[2] ।।"

कामसत्त्वो की ही सन्तान मे तदालम्बन इष्ट है। ब्रह्मादि रूप, अरूप भव के सत्त्वो मे यह अभीष्ट नही है, क्योकि कामप्रतिसन्धि और तदालम्बन – ये दोनो एक ही तरह के (सदृश) कामविपाक धर्म है। मूल प्रतिसन्धिबीज के होने से ही कामपुद्गलो की सन्तान मे प्रवृत्तिविपाक (प्रवृत्तिनिष्यन्दफल) अर्थात् कामविपाक तदालम्बन

---

१ "यथा नाम गेहा निक्खमित्वा बहि गन्तुकामो तरुणदारको अत्तनो जनक पितर वा अञ्ञ वा पितुसदिस हितकाम ञाति अङ्गुलिय गहेत्वा अनुबन्धति, न अञ्ञं राजपुरिसादि, तथा एत पि भवङ्गारम्मणतो बहि निक्खमितुकाम सभागताय अत्तनो जनक पितर वा पितुसदिस वा कामावचरजवनमेव अनुबन्धति, न अञ्ञ महग्गत अनुत्तर वा ।" – विभ० अ०, पृ० १५७ ।

२ ब० भा० टी०; द्र० – विभा०, पृ० ११७ ।
तु० – "कामावचरसत्तान एव तदालम्बन इच्छन्ति, न रूपारूपसत्तानं। नहि तेसु उप्पन्नान परित्तारम्मणान पि कामावचरजवनान अवसाने तदारम्मणुप्पत्ति अत्थि। तदारम्मणुपनिस्सयस्स कामभवङ्गस्स अभावतो, महग्गतभवङ्गस्स च सन्ततरस्स तदारम्मणकिच्चाभावतो ति ।" – प० दी०, पृ० १५४ ।

उत्पन्न हो सकते है। ब्रह्माओ की सन्तान मे उस प्रकार के कामप्रतिसन्धिबीज न होने से उनमे कामविपाक तदालम्बन उत्पन्न नही हो सकते[1]।

"बीजस्साभावतो नत्थि ब्रह्मान पि इमस्स हि।
पटिसन्धिमनोबीज कामावचरसञ्ञित[2] ॥"

बीज न होने पर भी कुछ विपाको की उत्पत्ति – 'कामप्रतिसन्धि' नामक मूल-बीज के न होने से यदि ब्रह्माओ की सन्तान मे प्रवृत्तिनिष्यन्दफल (कामविपाक) तदालम्बन उत्पन्न नही होते है तो चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, सम्पटिच्छन एव सन्तीरण नामक विपाकधर्म भी उनकी सन्तान मे नही होने चाहिये ? प्रवृत्तिनिष्यन्दफल के सदृश होने पर भी क्यो चक्षुर्विज्ञान-आदि का उनमे उत्पाद होता है ?

समाधान – चूकि ब्रह्माओ की सन्तान मे चक्षुरिन्द्रिय एव श्रोत्रेन्द्रिय उत्पन्न होती है, अत इन्द्रियोत्पत्ति के आनुभाव से उनमे चक्षुर्विज्ञान एव श्रोत्रविज्ञान उत्पन्न हो सकते है। तथा द्वारवीथियो का भेद होने पर चित्तधर्मता (नियम) के वश से सम्पटिच्छन एव सन्तीरण भी उन मे उत्पन्न हो सकते है[3]।

स्पष्टीकरण – ब्रह्माओ की सन्तान मे चक्षुरिन्द्रिय एव श्रोत्रेन्द्रिय नामक प्रसाद-रूप मुख्यरूप से होते है[4]। यदि चक्षुरिन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय प्रसादरूप होते है तो सम्बद्ध आलम्बन के साथ घट्टन होने से उनमे चक्षुर्विज्ञान, एव श्रोत्रविज्ञान भी उत्पन्न होगे ही। इन चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान के लिये यदि चक्षुर्द्वारवीथि, श्रोत्रद्वारवीथि का भेद होता है तो चित्तधर्मता के अनुसार उन उन वीथियो से सम्बद्ध सम्पटिच्छन एव सन्तीरण विपाक भी अवश्य उत्पन्न होगे। इसीलिये विभावनी मे "इन्द्रियप्पवत्ति-आनुभावतो द्वारवीथिभेदे चित्तनियमतो च[5]" – कहा गया है।

---

१ "तत्थ यानेतानि एकादस तदारम्मणचित्तानि वुत्तानि, तेसु एक पि रूपारूपभवे तदारम्मण हुत्वा नप्पवत्तति। कस्मा ? बीजाभावा। तत्थ हि कामावचर-विपाकसङ्खात पटिसन्धिबीज नत्थि, य रूपादीसु आरम्मणेसु पवत्तिय तस्स जनक भवेय्य।" – विभ० अ०, पृ० १५६।

२ विभा०, पृ० ११७।

३ "ननु च कामावचरपटिसन्धिबीजाभावतो ति वुत्त, तथा च चक्खुविञ्ञाणादीन पि अभावो आपज्जतीति ? नापज्जति, इन्द्रियप्पवत्ति-आनुभावतो द्वारवीथि-भेदे चित्तनियमतो च।" – विभा०, पृ० ११७।

४ "चक्खुसोतविञ्ञाणानि पन इन्द्रियप्पवत्ति-आनुभावतो सम्पटिच्छनसन्तीरणानि च द्वारवीथिभेदे चित्तनियमसिद्धितो रूपसत्तेसु पवत्तन्ति येवा ति।" – प० दी०, पृ० १५४।

५ विभा०, पृ० ११७। द्र० – "चक्खुविञ्ञाणादीन पि रूपभवे अभावो आपज्जतीति चे, न, इन्द्रियप्पवत्ति-आनुभावतो द्वारवीथिभेदे चित्तनियमतो च।" – विभ० अ०, पृ० १५६।

३५ कामे जवनसत्तालम्बनान* नियमे सति ।
विभूतेतिमहन्ते च तदारमणमीरितं ।।
अयमेत्थ तदारमणनियमो ।

कामभूमि मे जवन, सत्त्व एव आलम्बन का नियम होने पर विभूत-आलम्बन एव अतिमहद्-आलम्बन मे ही तदालम्बन कहा गया है ।

इस वीथिसङ्ग्रह मे यह तदालम्बननियम है ।

कामावचरधम्मेस्वेव इच्छन्ति – कामधर्मो का आलम्बन करने पर ही तदालम्बन का उत्पाद अभीष्ट है, महग्गत लोकोत्तर एव प्रज्ञप्ति धर्मो का आलम्बन करने पर इष्ट नही है[1] ।

जिस प्रकार किसी स्वामी की दासी से उत्पन्न पुत्र को प्रत्येक कृत्य मे अपनी माता (दासी) की नही, अपितु माता के स्वामी की इच्छा का अनुवर्तन करना पडता है, उसी प्रकार स्वामी के सदृश कामतृष्णा से कुशल-अकुशल कर्म नामक दासी मे उत्पन्न कामविपाक तदालम्बन नामक पुत्र को भी, कामतृष्णा नामक स्वामी की इच्छा का अनुवर्तन करके कामालम्बनो का ही आलम्बन करना पडता है ।

तदालम्बन द्वारा कामजवनो का अनुगमन किया जाने के प्रसङ्ग मे ऊपर जो छोटे बच्चे की उपमा दी गयी है, वह छोटा बच्चा भी घर के आस पास जाने के समय ही अपने माता-पिता या परिचित सम्बन्धी का अनुगमन करता है, पर्वत, अरण्य या रण-क्षेत्र-आदि मे जाने के समय नही, उसी प्रकार तदालम्बन विपाकधर्म भी यद्यपि काम-धर्मो का अनुगमन करता है तथापि कामजवनो द्वारा अपने (तदालम्बन के) परिचित कामालम्बनो का आलम्बन किया जाने पर ही उनका अनुगमन करता है । यदि कामजवनो द्वारा स्वपरिचित महग्गत, लोकोत्तर या प्रज्ञप्ति धर्मो का आलम्बन किया जाता है तो उस अवस्था मे तदालम्बन उन (कामजवनो) का अनुगमन नही करता[2] ।

कहा भी है –

"ठाने परिचिते येव त इद बालको विय ।
अनुयाति न अञ्ञत्थ होति तण्हावसेन वा[3] ।।"

३५. यहाँ 'काम-आलम्बन' शब्द द्वारा पञ्चद्वार मे होनेवाले अतिमहद्-आलम्बन

---

* ०रम्मणान – ना०, ०लम्बणान – म० (ख) ।

१ "कामावचरधम्मेस्वेव आरम्मणभूतेसु तदारम्मण इच्छन्ति, न महग्गतानुत्तर-पञ्ञत्तिधम्मेसु, एकन्तपरित्तारम्मणत्ता तदारम्मणान ।" – प० दी०, पृ० १५४ ।

२ "तञ्हि यथा पितर वा पितुसदिस वा ञाति अनुबन्धन्तो पि तरुणदारको घरद्वारअन्तरवीथिचतुक्कादिम्हि परिचिते येव देसे अनुबन्धति, न अरञ्ञ वा युद्धभूमि वा गच्छन्त, एव कामावचरधम्मे अनुबन्धन्त पि अमहग्गतादिम्हि परिचिते येव देसे पवत्तमाने धम्मे अनुबन्धति, न महग्गतलोकुत्तरधम्मे आरब्भ पवत्तमाने ति ।" – विभ० अ०, पृ० १५७ ।

३ विभा०, पृ० ११७ ।

एव मनोद्वार मे होनेवाले विभूत-आलम्बन को कहा गया है। 'विभूतेतिमहन्ते च' के द्वारा महद्-आलम्दन (महन्तालम्बन) एव अविभूत-आलम्बन मे तदालम्बनपात का निषेध किया गया है। इसलिये कामजवन, कामसत्त्व एव अतिमहद्-आलम्बन या विभूत-आलम्बन नामक कामालम्बन – इन तीनो के सन्निपतित होने पर ही तदालम्बन का पात होता है। किन्तु इन तीनो के होने पर तदालम्बन का पात सर्वथा होता ही है – ऐसा नही समझना चाहिये। प्रत्युत्पन्न गतिनिमित्त का आलम्बन करनेवाली मनोद्वारिक मरणासन्नवीथि मे कामजवन, कामसत्त्व एव अतिमहद् नामक कामालम्बन होने पर भी तदालम्बन का पात नही होता, अपितु जवन के अनन्तर च्युति हो जाती है और उस प्रत्युत्पन्न आलम्बन का ही नवीन प्रतिसन्धि एव ६ वार प्रवृत्त भवङ्ग द्वारा भी आलम्बन होता है[१]।

उपर्युक्त कथन के अनुसार ही यदि कामजवन नही होते है तो विभूत-आलम्बन होने पर भी तदालम्बनपात नही होता। तथा यदि कामसत्त्व नही होता है तो विभूत-आलम्बन या अतिमहद्-आलम्बन होने पर भी तदालम्बनपात नही होता – ऐसा जानना चाहिये। ब्रह्माओ की सन्तान मे चित्तधातु (भवङ्ग) अत्यन्त स्वच्छ तथा चक्षुष् एव श्रोत्र प्रसाद भी अत्यन्त निर्मल होते है, अत कामसत्त्वो से भी प्राय अधिक विभूत-आलम्बन या अतिमहद्-आलम्बन उनमे प्रादुर्भूत होते है, फिर भी चूकि वे कामसत्त्व नही होते अत उनकी सन्तान मे तदालम्बनपात नही होनेवाली अतिमहद्-आलम्बन एव विभूत-आलम्बन वीथियाँ ही होती है[२]।

जवन एवं तदालम्बन –

महाक्रिया उपेक्षाजवन ४ एव द्वेषजवन २=६ जवनो के अनन्तर महाविपाक उपेक्षा ४ एव सन्तीरण २=६ तदालम्बन होते है।

महाक्रिया सौमनस्यजवन ४ के अनन्तर महाविपाक सौमनस्य ४ एव सौमनस्य सन्तीरण १=५ तदालम्बन होते है।

शेष अकुशलजवन १० एव महाकुशल ८ के अनन्तर सभी अर्थात् ११ तदालम्बन हो सकते है।

तदालम्बननियम समाप्त।

---

१. द्र० – विभ० अ०, पृ० १६०, ध० स० मू० टी०, पृ० १६०, विसु०, पृ० ३८६ – ३८७।

२. द्र० – 'वीथिसमुच्चय'।

जवननियमो

३६. जवनेसु च परित्तजवनवीथियं कामावचरजवनानि सत्तक्खत्तुं छक्खत्तुमेव वा जवन्ति ।

जवनो मे परित्त जवनवीथि मे कामावचर जवन ७ वार ही या छ बार ही जवित होते है ।

३७ मन्दप्पवत्तियं पन मरणकालादीसु* पञ्चवारमेव ।

३८ भगवतो पन यमकपाटिहारियकालादीसु* लहुकप्पवत्तियं चत्तारि पञ्च वा पच्चवेक्खणचित्तानि भवन्तीति पि वदन्ति ।

मन्द प्रवृत्तिकाल मे तथा मरणासन्न-आदि काल मे जवन ५ वार ही जवित होते है ।

भगवान् के यमकप्रातिहार्य-आदि काल मे तथा लघु (लहुक) प्रवृत्तिकाल मे ४ या ५ प्रत्यवेक्षण जवनचित्त प्रवृत्त होते है—ऐसा भी अट्ठकथाचार्य कहते है ।

जवननियम

३६. जवनो के नियम को दिखलानेवाले इस नय को 'जवननियम' कहा जाता है ।

प्राकृत (स्वाभाविक) काल मे जवन ७ वार या ६ वार होते है । 'एव' शब्द का 'सत्तक्खत्तु' एव 'छक्खत्तु' दोनो से सम्बन्ध है । अत 'सत्तक्खत्तुमेव' मे 'एव' शब्द द्वारा 'स्वाभाविक काल मे कामजवन सात वार से अधिक प्रवृत्त नही हो सकते'—यह दिखाया गया है । तथा 'छक्खत्तुमेव' मे 'एव' शब्द द्वारा यह दिखाया गया है कि कामजवन छ वार से कम प्रवृत्त नही हो सकते । 'वा' शब्द द्वारा 'यदि कामजवन सात वार प्रवृत्त नही होते है तो उन्हे छह वार अवश्य प्रवृत्त होना चाहिये'—यह विकल्प दिखाया गया है । अत प्राकृत काल मे कामजवन सात वार या छह वार ही जवन कर सकते है—ऐसा जानना चाहिये[1] ।

३७—३८. मन्दप्पवत्तियं पन...पञ्चवारमेव—'मरणकालादीसु' मे प्रयुक्त

---

* ०कालादिसु—सी०, ना० ।

१. "छक्खत्तुमेव वा जवन्ति, पकतिकाले आरम्मणस्स दुब्बलभावे सतीति अधिप्पायो । अट्ठकथाय पि हि पकतिकाले आरम्मणदुब्बलट्ठाने एव कामावचरजवनान छक्खत्तु पवत्ति वुत्ता ति । केचि पन 'छक्खत्तु' ति इद मुच्छाकालवसेन वुत्त ति मञ्ञन्ति ।"—प० दी०, पृ० १५५ ।

'आदि' शब्द द्वारा मूर्च्छाकाल, विसञ्ञीभूत काल एव अतितरुणकाल-आदि का ग्रहण करना चाहिये[1]।

मूर्च्छाकाल – वृक्ष से गिरने, जल मे डूबने एव तीव्र पीडा से अभिभूत होने-आदि के कारण अत्यन्त मर्माहत हो जाने से शरीर के चेतनाहीन हो जाने के काल को 'मूर्च्छाकाल' कहते है।

विसञ्ञीभूत काल – प्रीति के आधिक्य से, निद्राभिभूत होने से, यक्ष-आदि द्वारा गृहीत होने से या अत्यधिक मद्य-पान से स्वाभाविक सञ्ञा विनष्ट हो जाने पर उत्पन्न सञ्ञाहीनता के काल को 'विसञ्ञीभूत काल' कहते है।

अतितरुणकाल – मातृकुक्षि मे वास के काल को एव मातृकुक्षि से निष्क्रमण के काल को 'अतितरुणकाल' कहते है।

पूर्वोक्त कालो मे प्राकृत काल की भाँति चित्तधातु के तीक्ष्ण न होने से उन्हे 'मरणकालादीसु' शब्द द्वारा कहा गया है[2]।

उपर्युक्त प्रकार के कालो मे आश्रयभूत हृदयवस्तु के अत्यन्त दुर्बल हो जाने से कामजवन पाँच वार ही जवित हो पाते है।

चित्त को स्वभाव से ही बलवान् या दुर्बल नही कहा जा सकता, अपितु आश्रय-भूत हृदयवस्तु की अपेक्षा करके ही उसे बलवान् या दुर्बल कहा जा सकता है। प्राकृत (स्वाभाविक) काल मे भी यदि गम्भीरता से विचार किया जाये तो यही ज्ञात होता है कि स्वस्थता एव भोजन, निद्रा-आदि के सुचारु रूप से सम्पन्न होने पर ही चित्त बलवान् की तरह प्रतीत होता है। तथा रुग्णता एव भोजन, निद्रा-आदि मे व्यतिक्रम होने पर वह दुर्बल की तरह प्रतीत होता है। इस प्रकार की प्रतीति मे भी हृदयवस्तु ही मूलभूत कारण होती है। मरणकाल-आदि मे दुःख की तीव्र अनुभूति से पञ्चस्कन्ध सङ्घर्ष करते करते अत्यन्त दुर्बल हो जाते है और इन पञ्चस्कन्धो के साथ ही चित्त की आश्रयभूत हृदयवस्तु भी दुर्बल हो जाती है। जब हृदयवस्तु ही दुर्बल हो जाती है तो उस प्रकार की दुर्बल हृदयवस्तु का आश्रय करनेवाला चित्त कैसे वेगवान्

---

१ "'मरणकालादीसू' ति मरणासन्नकाले, मुच्छाकाले, विसञ्ञीभूतकाले, अतितरुणकाले च।" – प० दी०, पृ० १५५, विभा०, पृ० ११८। विस्तार के लिये द्र० – प० दी०, पृ० १५५।

२ "'मन्दप्पवतिय' ति मरणासन्नकाले वत्थुदुब्बलताय मन्दीभूतवेगत्ता मन्द हुत्वा पवत्तिय।" – विभा०, पृ० ११८।

"'मन्दप्पवतिय' ति मरणासन्नकाले बहुचित्तक्खणातीतस्स वत्थुस्स दुब्बलत्ता, इतरकालेसु च मुदुतरभावेन केनचि उपद्दुतभावेन अज्झोत्थटभावेन च वत्थुस्स दुबलत्ता, तन्निस्सितान जवनान मन्दीभूतवेगतावसेन पवत्तिकाले।" – प० दी०, पृ० १५५।

हो सकता है। जैसे – दुर्बल (कमजोर=शिथिल) पटरी पर रेलगाड़ी वेग से नही जा सकती, अत. दुर्बल (कमजोर) कही जाती है, उसी प्रकार जवनचित्त भी मरणासन्नकाल-आदि मे हृदय वस्तु के दुर्बल हो जाने से स्वय भी दुर्बल होकर पाँच वार से अधिक जवन नही कर पाते। इसी कारण, अर्थात् दुर्बल होने के कारण ही मूर्च्छाकालिक एव मरणासन्नकालिक जवन प्रतिसन्धिफल देने मे भी असमर्थ होते हैं।

['पञ्चवारमेव' मे प्रयुक्त 'एव' कार द्वारा 'पाँच वार ही होने' का निर्धारण कर दिया जाने पर भी मूलटीकाचार्य ने 'चार वार होने' का उल्लेख किया है[1]।]

मतभेद – विभावनीकार ने 'येभुय्येन सत्तक्खत्तु जवति[2]' – इस वाक्य की व्याख्या करते हुए "मुच्छामरणासन्नकालेसु च छ-पञ्चापि जवनानि पवत्तन्ति[3]" – इस प्रकार कहा है तथा "मरणकालादीसू ति आदिसद्देन मुच्छाकाल सङ्गण्हाति[4]" के द्वारा मूर्च्छा-काल मे 'पाँच वार जवन' का उल्लेख किया है। इस प्रकार इस (विभावनी) टीका मे पूर्वापर विरोध दृष्टिगोचर होता है। 'विभावनी' का समर्थन करनेवाले आचार्यों का कहना है कि मरणकाल के सदृश अतिमूर्च्छाकाल मे पाँच जवन होते हैं तथा सामान्य मूर्च्छाकाल मे छह जवन होते हैं। इस प्रकार वे मूर्च्छा के दो भेद करके सामञ्जस्य बैठाते हैं। वस्तुत अट्ठकथा एव प्रस्तुत (अभिधम्मत्थसङ्गहो) ग्रन्थ मे मूर्च्छाकाल मे जवन का छह वार होना कही भी नही कहा गया है। बल्कि प्रकृतिकाल मे ही कभी-कभी छह वार होना कहा गया है[5]। इसीलिये "परित्तजवनवीथिय कामावचरजवनानि सत्तक्खत्तु छक्खत्तुमेव जवन्ति[6]" के द्वारा 'प्रकृतिकाल मे ही कामजवन सात वार या छ वार जवित होते हैं' – ऐसा प्रतिपादन किया है। 'मन्दप्पवत्तिय पन' से लेकर 'भग-वतो पन यमकपाटिहारियकालादीसु' पर्यन्त विकृतिकाल मे जवित होनेवाले कामजवनो को कहा गया है।

यमकप्रातिहार्य – यह एक विशेष प्रकार की ऋद्धि है, जिसमे अग्नि एव जल युग्मरूप से एक साथ शरीर के भिन्न भिन्न भागो से निकलते हैं। 'पटिपक्खे हरतीति पाटिहारिय' अर्थात् प्रतिपक्षभूत तैर्थिको का जो दमन करती है, उस ध्यानज अभिज्ञा-शक्ति को 'प्रातिहार्य' कहते हैं। 'यमकपाटिहारियकालादीसु' मे 'आदि' शब्द द्वारा महामोग्गल्लान स्थविर द्वारा नन्दोपनन्द नागराज के दमन करने के काल-आदि का ग्रहण करना चाहिये। 'चत्तारि' 'पञ्च वा' के सम्बन्ध मे यह ज्ञातव्य है कि तीक्ष्णेन्द्रिय पुद्गल मे चार वार तथा मृद्विन्द्रिय पुद्गल मे पाँच वार जवन होते हैं। आचार्यों का

१. द्र० – ध० स० मू० टी०, पृ० १३० ।

२. द्र० – अभि० स० ४ : १२, पृ० ३०९–३१० ।

३. विभा०, पृ० १०८ ।

४. विभा०, पृ० ११८ ।

५. द्र० – अट्ठ०, पृ० २१८, अभि० स० ४ . १२ की व्याख्या, पृ० ३११ ।

६ अभि० स० ४ ३६, पृ० ३७५ ।

अनुमान है कि भगवान् बुद्ध के लिये चार वार तथा अन्य श्रावको के लिये पाँच वार जवन होना कहा गया है[1]।

अग्नि एवं जल की युग्म उत्पत्ति—भगवान् बुद्ध यमकप्रातिहार्य का प्रदर्शन करते समय अग्नि की उत्पत्ति के लिये 'तेजोकसिण' (तेज.कात्स्र्न्य) का आलम्बन करके चतुर्थध्यान का समावर्जन करते है। उस चतुर्थध्यानसमापत्ति से उठते समय उनमे उस ध्यान मे आनेवाले उपेक्षा एव एकाग्रता नामक ध्यानाङ्गो का आवर्जन करनेवाली प्रत्यवेक्षणवीथियाँ उत्पन्न होती है। (उस प्रत्यवेक्षणवीथि के जवन अत्यावश्यक अपने कृत्य को चार वार मे ही पूर्ण कर देते है।) इसके पश्चात् 'शरीर के ऊपरी भाग से अग्निस्कन्ध उत्पन्न हो'—इस प्रकार की अधिष्ठानवीथि (परिकर्मवीथि) उत्पन्न होती है। (इस वीथिक्षण मे भी अग्निसमूह का उत्पाद नही होता)। तदनन्तर चतुर्थध्यान का पुन समावर्जन किया जाता है। इस चतुर्थध्यान से उठते समय पुन. पूर्वोक्त नय के अनुसार ध्यानाङ्गो का समावर्जन करनेवाली प्रत्यवेक्षणवीथियाँ उत्पन्न होती है। इसके पश्चात् अभिज्ञावीथि का उत्पाद होता है। इस अभिज्ञावीथि के बल से शरीर के ऊर्ध्वभाग से अग्निस्कन्ध की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार शरीर के अधोभाग से जल की उत्पत्ति के लिये भी उपर्युक्त नय के अनुसार ही 'आपोकसिण' (अप्कात्स्र्न्य) का आलम्बन करके पूर्वोक्त वीथियाँ उत्पन्न होती है। उन उन वीथियो के अन्तराल मे भवङ्ग अधिक वार न होकर दो वार मात्र होते है। इस प्रकार अग्निराशि की उत्पत्ति के लिये एक प्रकार की वीथिसन्ततियाँ तथा जलराशि की उत्पत्ति के लिये दूसरे प्रकार की वीथिसन्ततियाँ उत्पन्न होती है। परन्तु ये चित्तसन्ततियाँ इतनी शीघ्र प्रवृत्त होती है कि देखनेवालो को अग्नि एव जल का प्रादुर्भाव युगपत् प्रतीत होता है। इस युगपत् प्रादुर्भाव को प्रतीत कराने के लिये ही अत्यन्त आवश्यक समय होने के कारण ध्यानाङ्ग का आवर्जन करनेवाले प्रत्यवेक्षणजवन भी चार वार मे ही अपने कृत्य का सम्पादन कर देते है[2]।

[ये प्रत्यवेक्षणजवन कामजवन ही होते है। यदि लघुप्रवृत्ति (लहुकप्पवत्ति) काल न होगा तो ये सात वार भी जवित हो सकते है।]

---

१ "इध तथागतो यमकपाटिहीर करोति असाधारण सावकेहि। उपरिमकायतो अग्गिक्खन्धो पवत्तति, हेट्ठिमकायतो उदकधारा पवत्तति, हेट्ठिमकायतो अग्गिक्खन्धो पवत्तति, उपरिमकायतो उदकधारा पवत्तति .एकेकलोमतो अग्गिक्खन्धो पवत्तति, एकेकलोमतो उदकधारा पवत्तति; लोमकूपतो लोमकूपतो अग्गिक्खन्धो पवत्तति, लोमकूपतो लोमकूपतो उदकधारा पवत्तति। . इद तथागतस्स यमकपाटिहीरे ञाण।"—पटि० म०, पृ० १३८—१४०। द्र०—मिलि० पृ० १०६; विसु०, पृ० १०३, २७२, २७६—२७८।

२. विभा०, पृ० ११८, प० दी०, पृ० १५६।

३९. आदिकम्मिकस्स पन पठमकप्पनायं* महग्गतजवनानि अभिञ्ञाजवनानि च सब्बदापि एकवारमेव जवन्ति, ततो परं भवङ्गपातो ।

आदिकर्मिक पुद्गल की प्रथम अर्पणा मे महग्गत जवन एक वार ही जवन करते है; (इसी प्रकार) अभिज्ञाजवन भी सर्वदा एक वार ही जवन करते है और इसके अनन्तर भवङ्गपात हो जाता है ।

---

३९. आदिकर्मिक पुद्गल – 'आदिकम्मे नियुत्तो' – इस विग्रह के अनुसार कम्मट्ठानकर्म प्रारम्भ करनेवाले पुद्गल को अथवा अचिरध्यानप्राप्त योगी को 'आदिकर्मिक' कहते है । जैसे–प्रथमध्यान को आरब्ध करनेवाले योगी को जब सर्वप्रथम प्रथमध्यान की प्राप्ति होती है उस समय (प्रथमध्यान की प्राप्ति के क्षण मे) वह आदिकर्मिक पुद्गल होता है । उसके बाद प्रथमध्यान का पुन पुन (अनेक वार) आवर्जन करते समय वह आदिकर्मिक नही कहा जाता । द्वितीयध्यान को आरब्ध करनेवाले योगी को जब सर्वप्रथम द्वितीय ध्यान की प्राप्ति होती है उस क्षण वह द्वितीयध्यान की दृष्टि से आदिकर्मिक पुद्गल होता है । इसी प्रकार ऊपर ऊपर के ध्यानो को सर्वप्रथम प्राप्त करते समय उन उन (ध्यानप्राप्ति के) क्षणो मे वह आदिकर्मिक पुद्गल कहा जाता है । सर्वप्रथम प्रवृत्त होनेवाले अर्पणाजवन को ही 'पठमकप्पना' (प्रथमक-अर्पणा) कहा जाता है[1] । आदिकर्मिक पुद्गल के प्रथम अर्पणाजवन के जवित होते समय महग्गतजवन एक वार ही जवित होते है ।

अभिज्ञाजवन भी एक वार ही – अभिज्ञाजवन, चाहे उसकी प्रथम प्राप्ति का काल हो अथवा पुन पुन. भावना करने का काल हो, सर्वदा एक वार ही होता है । महग्गतजवन अपनी प्रथम प्राप्ति के काल मे अत्यन्त दुर्बल होने के कारण अपने अनन्तर पुन अर्पणाजवन के उत्पाद के लिए 'आसेवनप्रत्यय' नामक शक्ति द्वारा उनका उपकार करने में असमर्थ होता है । अतएव कहा गया है कि प्रथम अर्पणाजवन एक वार ही होता है । अभिज्ञाजवन का कृत्य, अपने से सम्बद्ध नानाविध ऋद्धियो का उत्पाद करना एव उन्हें

---

* पठमकप्पणाय – सी० ।

१. "'आदिकम्मिकस्सा' ति आदितो कतयोगकम्मस्स । पठमं निब्बत्ता **अप्पना** 'पठमकप्पना' ।" – विभा०, पृ० ११८ ।

"'आदिकम्मिकस्सा' ति योगकम्मसिद्धिया आदिम्हि नियुत्तस्स पठम **उप्पन्ना** अप्पना पठमकप्पना, तस्स पठमकप्पनाय आदिकम्मिकअप्पनावीथिय **ति अत्थो ।** तदा हि सब्बानि पि महग्गतजवनानि पुन आसेवनाभावतो परि**दुब्बलानि** होन्तीति एकवारमेव जवन्तीति ।" – प० दी०, पृ० १५६ ।

४० चत्तारो पन मग्गुप्पादा एकचित्तक्खणिका, ततो परं द्वे तीणि फलचित्तानि यथारहं उप्पज्जन्ति, ततो परं भवङ्गपातो।

चार मार्गोत्पाद (मार्गचित्त) एकचित्तक्षण आयुवाले होते हैं। उस एक मार्गचित्तक्षण के अनन्तर दो या तीन फलचित्त यथायोग्य उत्पन्न होते हैं और उन फलजवनों के अनन्तर भवङ्गपात होता है।

जानना है। उसमे अपने से सम्बद्ध कृत्य का एक वार की प्रवृत्ति से ही सम्पादन कर देने का सामर्थ्य होता है, अत उसकी पुन उत्पत्ति आवश्यक नही है[1]।

४० जैसे इन्द्र का वज्र अपने एक प्रहार से ही सम्बद्ध कृत्य का सम्पादन कर देता है, उसी प्रकार मार्गचित्त भी अपने एक वार से ही सम्बद्ध क्लेश-धर्मो का अशेष प्रहाण कर सकते है। अत मार्गचित्त का एक वार ही उत्पाद होता है। मार्ग-जवन के एक वार जवित होने के अनन्तर फलजवन यथायोग्य २-३ वार जवित होते है। 'यथारह' कहने का तात्पर्य यह है कि मन्दप्रज्ञ पुद्गल मे फलजवन २ वार तथा तीक्ष्णप्रज्ञ पुद्गल मे ३ वार जवित होते है। जिस समय समापत्ति का समावर्जन नही होता उस समय अर्थात् सामान्यकाल (प्रकृतिकाल) मे जवन अधिक से अधिक सात वार जवित होते हैं। उसी प्रकार मार्गवीथि मे भी मन्दप्रज्ञ पुद्गल मे – (अर्पणाजवनवीथि मे कथित नियम के अनुसार) परिकर्म, उपचार, अनुलोम, एव गोत्रभू – इस प्रकार उपचारसमाधिजवन ४ वार तदनन्तर मार्गजवन १ वार और इसके बाद फलजवन २ वार – इस प्रकार जवन के ७ वार सम्पन्न होते हैं। तीक्ष्णप्रज्ञ पुद्गल मे – उपचार, अनुलोम एव गोत्रभू – इस प्रकार उपचारसमाधिजवन ३ वार, इसके बाद मार्गजवन १ वार, तदनन्तर फलजवन ३ वार – इस तरह जवन ७ वार पूर्ण होते हैं। इसीलिये 'द्वे तीणि फलचित्तानि यथारहं उप्पज्जन्ति' – ऐसा कहा गया है[2]।

---

१ "अभिञ्ञाजवनानं पि पठमकप्पनाया ति अधिकारो सिया ति आह 'सब्बदापी' ति। पठमुप्पत्तिकाले चिण्णवसीकारे च पञ्चाभिञ्ञाजवनानि एकवारमेव जवन्तीत्यत्थो।" – विभा०, पृ० ११८।

"अभिञ्ञाजवनानि पन इद्धिविकुब्बनादिकिच्चसिद्धिया एव पयुत्तानीति किच्च-सिद्धितो पर कत्तब्बाभावतो आदिकम्मिककाले पि वसीभूतकाले पि एक-वारमेव जवन्तीति वुत्त – 'अभिञ्ञाजवनानि च सब्बदापी' ति।" – प० दी०, पृ० १५६-१५७।

२ "सत्तचित्तपरमा च एका जवनवीथि। तस्मा यस्स द्वे अनुलोमानि (उपचारा-नुलोमानि) तस्स ततिय गोत्रभू, चतुत्थ मग्गचित्त, तीणि फलचित्तानि होन्ति। यस्स तीणि अनुलोमानि (परिकम्मोपचारानुलोमानि) तस्स चतुत्थ गोत्रभू, पञ्चम मग्गचित्त, द्वे फलचित्तानि होन्ति। तेन वुत्त – 'द्वे तीणि वा फल-

४१. निरोधसमापत्तिकाले* द्विक्खत्तुं चतुत्थारुप्पजवनं जवति, ततो परं निरोधं फुसति। वुट्ठानकाले† च अनागामिफलं वा अरहत्तफलं वा यथारहमेकवारं उप्पज्जित्वा निरुद्धे भवङ्गपातो व होति।

निरोधसमापत्ति के (आसन्न) काल में चतुर्थ आरूप्यजवन २ बार जवन करता है। उस (चतुर्थ आरूप्यजवन) के अनन्तर चित्त, चैतसिक एवं चित्तज रूप निरोध को प्राप्त हो जाते हैं। निरोधसमापत्ति से उठते समय अनागामिफलजवन अथवा अर्हत्फलजवन के यथायोग्य (अनागामी एवं अर्हत् पुद्गल के अनुसार) एक वार उत्पन्न होकर निरुद्ध होने पर भवङ्गपात ही होता है।

मन्दप्रज्ञ पुद्गल की मार्गविथि

भ, न द म प उ नु गो मा फ फ' भ
००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ०००

तीक्ष्णप्रज्ञ पुद्गल की मार्गवीथि

भ 'न द म उ नु गो मा फ फ फ' भ
००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ०००

४१. निरोधसमापत्तिकाले – 'निरुज्झन निरोधो, समापज्जन समापत्ति, निरोधस्स समापत्ति निरोधसमापत्ति, निरोधसमापत्तिया कालो निरोधसमापत्तिकालो' – चित्त-चैतसिक

चित्तानि उप्पज्जन्ती' ति।" – विसु०, पृ० ४७९। द्र० – विभा०, पृ० ११८, प० दी०, पृ० १५७।

तु० – "गोत्रभू ताव निमित्ततो वुट्ठाति, पवत्तं छेत्तुं न सक्कोति, एकतो-वुट्ठानो हेस। मग्गो निमित्ततो वुट्ठाति, पवत्तं छिन्दतीति उभतो-वुट्ठानो हेस। तेसं अयं उप्पत्तिनयो – यस्मिं हि वारे मग्गवुट्ठानं होति, तस्मिं अनुलोमं नेव एकं होति, न पञ्चमं। एकं हि आसेवनं न लभति, पञ्चमं भवङ्गस्स आसन्नत्ता पवेधति। तदा हि जवनं पतितं नाम होति, तस्मा नेव एकं होति न पञ्चमं। महापञ्ञस्स पन द्वे अनुलोमानि होन्ति, ततियं गोत्रभू, चतुत्थं मग्गचित्तं, तीणि फलानि, ततो भवङ्गोतरणं। मज्झिमपञ्ञस्स पन तीणि अनुलोमानि होन्ति, चतुत्थं गोत्रभू, पञ्चमं मग्गचित्तं, द्वे फलानि, ततो भवङ्गोतरणं। मन्दपञ्ञस्स चत्तारि अनुलोमानि, पञ्चमं गोत्रभू, छट्ठं मग्गचित्तं, सत्तमं फलं, ततो भवङ्गोतरणं।" – अट्ठ०, पृ० १८८।

* ०काले च – स्या०।

† उट्ठानकाले – सी०, वुट्ठानकाले पन – स्या०।

एवं चित्तज रूपो के क्षणमात्र निरुद्ध होने को 'निरोधसमापत्ति' कहते हैं। उस निरोध-समापत्ति को प्राप्त करने के अभिलाषी योगी को प्राय निर्जन एव एकान्त स्थान मे प्रवेश करना पडता है। इस निरोधसमापत्ति मे अधिष्ठित होना, ध्यानलाभी आर्य-पुद्गलो के लिये एक प्रकार का सुखभोग ही है। इस समापत्ति का लाभ केवल अनागामी एव अर्हत् पुद्गल ही कर सकते हैं, स्रोतापन्न या अनागामी पुद्गल नही। उनमें भी अनागामी पुद्गल मे २ वार चतुर्थ आरूप्य कुशलजवन (नैवसञ्ज्ञानासञ्ज्ञायतन कुशल-चित्त) जवित होता है तथा अर्हत् पुद्गल मे २ वार चतुर्थ आरूप्य क्रियाजवन जवित होता है। तदनन्तर निरोध की प्राप्ति हो जाती है। उस निरोधसमापत्ति से उठते समय अनागामी पुद्गल मे १ वार अनागामिफलजवन तथा अर्हत् पुद्गल मे १ वार अर्हत्फलजवन जवित होकर निरुद्ध हो जाता है और तदनन्तर भवङ्गपात होता है। 'निरोधसमापत्तिकाले' – इस वाक्य मे 'काल' शब्द निरोधसमापत्ति के पूर्ववर्ती आसन्न-काल का द्योतक है, क्योकि निरोधसमापत्ति के आसन्नपूर्वकाल मे ही चतुर्थ आरूप्यजवन २ वार जवन करता है[1]।

[निरोधसमापत्ति से सम्बद्ध विशेष ज्ञान के लिये 'वीथिसमुच्चय' (चतु० परि०) देखें।]

---

१ "तत्थ का निरोधसमापत्तीति ? या अनुपुब्बनिरोधवसेन चित्तचेतसिकान धम्मान अप्पवत्ति। . अट्ठसमापत्तिलाभिनो पन अनागामिनो खीणासवा च समापज्जन्ति... न अञ्ञे। . सो एव आकिञ्चञ्ञायतन समापज्जित्वा वुट्ठाय इद पुब्बकिच्च कत्वा नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं समापज्जति। अथेक वा द्वे वा चित्तवारे अतिक्कमित्वा अचित्तको होति, निरोध फुसति। कस्मा पनस्स द्विन्न चित्तान उपरि चित्तानि न पवत्तन्तीति ? निरोधस्स पयोगत्ता। .. कथ वुट्ठान ति ? अनागामिस्स अनागामिफलुप्पत्तिया, अरहतो अरहत्त-फलुप्पत्तिया ति एव द्वेधा वुट्ठान होति।" – विसु०, पृ० ४९६-५०३।

"'निरोधसमापत्तिकाले' ति निरोधस्स पुब्बभागे। 'चतुत्थारुप्पजवन' ति कुसलक्रियानं अञ्ञतर नेवसञ्ञानासञ्ञायतनजवनं। अनागामि-खीणासवा येव निरोधसमापत्ति समापज्जन्ति, न सोतापन्नसकदागामिनो ति वुत्तं – 'अनागामिफल वा अरहत्तफल वा' ति।.. 'यथारह' ति ततपुग्गलानुरूप।" – विभा०, पृ० ११८।

"निरोधसमापत्तिकाले पन पुब्बभागे येव तादिसस्स पयोगाभिसङ्खारस्स कतत्ता द्विन्न वारान उपरि चित्तप्पवत्ति नत्थीति वुत्त – 'निरोधसमापत्तिकाले . जवति'। . .'चतुत्थारुप्पजवन' ति अनागामिनो कुसलभूत अरहतो क्रियभूत नेवसञ्ञाना-सञ्ञायतनजवन।" – प० दी०, पृ० १५७।

४२. सब्बत्थापि* समापत्तिवीथियं* भवङ्गसोतो† विय वीथिनियमो नत्थीति कत्वा बहूनि पि लब्भन्तीति‡ ।

सर्वत्र ही ध्यानसमापत्ति एवं फलसमापत्ति वीथि मे भवङ्गस्रोत की भाँति वीथिनियम (जवनसन्तति का नियम) नही है, इस कारण बहुत जवन भी उपलब्ध होते है । इस प्रकार का यह जवननियम है ।

४३. सत्तक्खत्तुं परित्तानि मग्गाभिञ्ञा सकिं मता ।
अवसेसानि लब्भन्ति जवनानि बहूनि पि ।।
अयमेत्थ जवननियमो ।

कामजवन ७ वार, मार्ग एव अभिज्ञा जवन १ वार तथा अवशिष्ट जवन अनेक वार भी उपलब्ध होते है – ऐसा जानना चाहिये ।

इस वीथिसङ्ग्रह में यह जवननियम है ।

---

४२ **सब्बत्थापि लब्भन्तीति** – सम्यक्प्राप्त ध्यानजवनसन्तति को ही 'ध्यानसमापत्तिवीथि' तथा फलजवनसन्तति को 'फलसमापत्तिवीथि' कहते है । इन समापत्तिवीथियो मे ध्यानजवन एव फलजवन कितने वार प्रवृत्त होने चाहिये – इसका नियम नही किया जा सकता, क्योकि ध्यानजवन एव फलजवन अनेक वार भी जवित हो सकते हैं । 'बहूनि पि' इस वाक्यांश मे प्रयुक्त 'अपि' शब्द द्वारा 'थोडे' (अल्प) अर्थ का भी समुच्चय होता है, इसलिये समावर्जनकर्म मे जब पुद्गल अभ्यस्त नही होता है तब जवन दो, तीन वार भी जवित होते है, किन्तु जब वह अभ्यस्त हो जाता है तब वे ध्यानजवन एव फलजवन दिन-रात्रिपर्यन्त अनेक वार निरन्तर प्रवृत्त हो सकते है[1] ।

४३. कामजवनो का जो ७ वार होना कहा गया है वह उनकी अधिकतम सङ्ख्या का द्योतक है । वैसे जवन ६ वार, ५ वार या ४ वार भी हो सकते है । (यह पहले कहा जा चुका है ।) मार्गजवन एव अभिज्ञाजवन केवल एक वार मात्र ही जवन करते है । शेष ध्यानजवन एव फलजवन कई बार भी हो सकते हैं, तथा 'अपि' शब्द द्वारा एक, दो, तीन वार भी जवित हो सकते है । यथा – ध्यानप्राप्ति के आदिकाल (प्रथम अर्पणाकाल) मे १ वार, निरोधसमापत्ति के आसन्नकाल मे चतुर्थ आरूप्यजवन

- समापत्तिवीथिय पन सब्बत्थापि – स्या० ।

† भवङ्गसोते – ना०, ०वेदितब्ब–स्या० ।

‡ लब्भन्ति – ना० ।

१. "'सब्बत्थापि समापत्तिवीथिय' ति सकलाय पि झानसमापत्तिवीथिय, फलसमापत्तिवीथियञ्च ।" – विभा०, पृ० ११६ ।

"'सब्बत्थापि समापत्तिवीत्तिय' ति झानसमापत्तिफलसमापत्तिवसेन सकलाय पि समापत्तिवीथिय । – प० दी०, पृ० १५७ ।

पुग्गलभेदो

४४. दुहेतुकानमहेतुकानञ्च पनेत्थ क्रियाजवनानि चेव अप्पनाजवनानि च न लब्भन्ति।

उन (उपर्युक्त) वीथिचित्तो मे से द्विहेतुक एव अहेतुक पुद्गलो की सन्तान मे क्रियाजवन एव अर्पणाजवन प्राप्त नही होते।

---

२ वार, मार्गप्राप्ति काल मे फलजवन २ वार या ३ वार तथा निरोधसमापत्ति से उठते समय जवन १ वार जवित होता है।

जवननियम समाप्त।

पुद्गलभेद

४४ किस पुद्गल की सन्तान मे कौन वीथिचित्त उपलब्ध होते है – इस तरह १२ प्रकार के पुद्गलो द्वारा चित्तो का विभाजन करके दिखलानेवाला यह प्रकरण 'पुद्गलभेद' कहा जाता है[1]।

यहाँ नही प्राप्त होनेवाले चित्तो को पहले कहा गया है, क्योकि उन (नही प्राप्त होनेवाले) चित्तो को जान लेने पर उनको घटा देने से प्राप्त होनेवाले चित्तो का ज्ञान आसानी से स्पष्टतया हो सकता है।

समस्त ससार मे नानाविध असङ्ख्येय पुद्गलो के विद्यमान होने पर भी उनका परमार्थ दृष्टि से विभाजन करने पर वे सब निम्नलिखित १२ प्रकार के पुद्गलो मे विभक्त हो जाते है। उनमे ४ पृथग्जन[2] एव ८ आर्यपुद्गल[3] होते है। यथा –

---

१. द्र० – विभा०, पृ० ११६, प० दी०, पृ० १५८।

२ "पुथून जननादीहि, कारणेहि पुथुज्जनो।
पुथुज्जनन्तोगधत्ता, पुथुवाय जनो इति ॥"

सो हि पुथून नानप्पकारान किलेसादीन जननादीहि पि कारणेहि पुथुज्जनो। यथाह – पुथु किलेसे जनेन्तीति पुथुज्जना। पुथु अविहतसक्कायदिट्ठिका ति पुथुज्जना। पुथु नानासत्थारान मुखुल्लोकिका ति पुथुज्जना। पुथु सब्बगतीहि अवुट्ठिता ति पुथुज्जना। पुथु नानाभिसङ्खारे अभिसङ्खरोन्तीति पुथुज्जना। पुथु नाना ओघेहि वुय्हन्तीति पुथुज्जना। पुथु नानासन्तापेहि सन्तप्पन्तीति पुथुज्जना। पुथु नानापरिळाहेहि परिडय्हन्तीति पुथुज्जना। पुथु पञ्चसु कामगुणेसु रत्ता गिद्धा गथिता मुच्छिता अज्झोपन्ना लग्गा लगिता पलिबुद्धा ति पुथुज्जना। पुथु पञ्चहि नीवरणेहि आवुता निवुता ओवुता पिहिता पटिच्छन्ना पटिकुज्जिता ति पुथुज्जना। पुथून वा गणनपथमतीतान अरियधम्मपरम्मुखान नीचधम्मसमाचारान जनान अन्तोगधत्ता ति पि पुथुज्जना। पुथु वा अय – विसु येव सङ्खङ्गतो, विससट्ठो सीलसुतादिगुणयुत्तेहि अरियेहि – जनो ति पि पुथुज्जनो।" – अट्ठ०, पृ० २७६, दी० नि० अ०, (सीलक्खन्धट्ठकथा) पृ० ५६।

३. "अरिया ति आरकत्ता किलेसेहि, अनये न इरियनतो, अये इरियनतो, सदेवकेन लोकेन च अरणीयतो बुद्धा च पच्चेकबुद्धा च बुद्धसावका च वुच्चन्ति।" – अट्ठ०, पृ० २७६।

१. दुर्गति-अहेतुक, २ सुगति-अहेतुक, ३ द्विहेतुक, ४ त्रिहेतुक तथा ८ आर्यपुद्‌गल अर्थात् स्रोतापत्तिमार्गस्थ, सकृदागामिमार्गस्थ, अनागामिमार्गस्थ एव अर्हत्-मार्गस्थ तथा स्रोतापत्तिफलस्थ, सकृदागामिफलस्थ, अनागामिफलस्थ एव अर्हत्फलस्थ।

दुहेतुकानमहेतुकानञ्च – 'द्वे हेतू येस ते दुहेतुका' अर्थात् प्रतिसन्धिकाल मे अलोभ एव अद्वेष – इन दो हेतुओ से सम्प्रयुक्त होनेवाले चार ज्ञानविप्रयुक्त महाविपाक चित्तो द्वारा प्रतिसन्धि लेनेवाले पुद्‌गलो को 'द्विहेतुक पुद्‌गल' कहा जाता है[1]।

तथा 'नत्थि हेतू येस ति अहेतुका' अर्थात् सम्प्रयुक्त होनेवाले हेतुओ से रहित दो अहेतुक विपाकचित्तो द्वारा प्रतिसन्धि लेनेवाले पुद्‌गलो को 'अहेतुक पुद्‌गल' कहा जाता है[2]। इन अहेतुक पुद्‌गलो मे से भी चार अपायदुर्गतिभूमियो मे अहेतुक अकुशलविपाक उपेक्षासन्तीरण चित्त द्वारा प्रतिसन्धि लेनेवाले पुद्‌गलो को 'दुर्गति-अहेतुक पुद्‌गल' तथा कामसुगतिभूमियो मे अहेतुक कुशलविपाक उपेक्षासन्तीरण चित्त द्वारा प्रतिसन्धि लेनेवाले पुद्‌गलो को 'सुगति-अहेतुक पुद्‌गल' कहा जाता है।

क्रियाजवनानि चेव लब्भन्ति – क्रियाजवन केवल अर्हत् की सन्तान मे ही होते है। अर्पणाजवन ध्यानजवन, मार्गजवन एव फलजवन होते है। द्विहेतुक पुद्‌गल एव अहेतुक पुद्‌गल अपने प्रत्युत्पन्नभव मे ध्यान, मार्ग एव फल की प्राप्ति के लिये सर्वथा अभव्य अर्थात् अनधिकारी होते है, क्योकि उनके हीन प्रतिसन्धिविपाक द्वारा उनमे ध्यान, मार्ग एव फल धर्मो का सर्वथा निवारण कर दिया गया है[3]।

इस प्रसङ्ग मे कर्म, क्लेश, विपाक, अरियूपवाद (आर्योपवाद) एव आणावीतिक्कम (आज्ञाव्यतिक्रम) – इन पाँच अन्तरायकारक धर्मो को जानना चाहिये[4]।

---

१ "पटिसन्धिविञ्ञाणसहगतालोभादोसवसेन द्वे हेतू इमेस ति द्विहेतुका।" – विभा०, पृ० ११६।

"पटिसन्धिविञ्ञाणसहगता द्वे हेतुयो एतेस ति दुहेतुका, चतूहि ञाणविप्पयुत्त-महाविपाकेहि गहितपटिसन्धिका।" – प० दी०, पृ० १५८।

२ "तादिसान हेतून अभावतो अहेतुका।" – विभा०, पृ० ११६।

"द्वीहि पन अहेतुकविपाकेहि गहितपटिसन्धिका अहेतुका, नत्थि पटिसन्धिहेतु एतेस ति कत्वा।" – प० दी०, पृ० १५८।

३. "अप्पनाजवनानि न लब्भन्ति, विपाकावरणसब्भावतो। द्विहेतुकाहेतुकपटिसन्धि हि 'विपाकावरण' ति वुच्चति। अप्पनाजवनाभावतो येव अरहत्त नत्थीति क्रियाजवनानि न लब्भन्ति।" – विभा०, पृ० ११६।

"तेस द्विन्न पि विपाकावरणसब्भावतो महग्गतज्झानानि पि ताव नुप्पज्जन्ति, कुतो लोकुत्तराणि! क्रियाजवनानि पन खीणासवानमेव आवेणिकभूतानीति वुत्त – 'क्रियाजवनानि चेव अप्पनाजवनानि च न लब्भन्तीति'।" – प० दी०, पृ० १५८।

४. तु० – अभि० को०, ४:९६ का०, पृ० ११६।

कर्म एवं क्लेश अन्तराय – मातृघात-आदि पाँच आनन्तर्य कर्म[1] एव भिक्षुणी मे मिथ्याचार नामक अकुशल कर्म 'कर्मान्तिराय' है। जो पुद्गल पञ्च आनन्तर्य कर्मो को करता है वह न केवल ध्यान, मार्ग एव फल प्राप्ति का अनधिकारी होता है, अपितु अनन्तरभव मे वह सुगतिभूमि को भी प्राप्त नही कर सकता। भिक्षुणी मे मिथ्याचार करनेवाला पुद्गल यद्यपि ध्यान, मार्ग एव फल को प्राप्त नही कर सकता, किन्तु दान, शील-आदि शुभ कर्मो के सम्पादन से सुगतिभूमि को प्राप्त कर सकता है[2]।

दश क्लेशधर्मो[3] मे परिगणित नियत मिथ्यादृष्टि 'क्लेश अन्तराय' है। इस मिथ्यादृष्टि से समन्वागत पुद्गल सुगतिभूमि तक को भी प्राप्त करने मे अभव्य होता है। उभतोव्यञ्जनक (वह पुद्गल, जिसमे पुरुषव्यञ्जन एव स्त्रीव्यञ्जन दोनो होते है) एव पण्डक (नपुसक) – ये दोनो पुद्गल भी अत्यधिक क्लेशो से युक्त होने के कारण विपाक अन्तराय मे परिगणित न होकर क्लेश अन्तराय मे परिगणित होते है। ये भी कुशलधर्मो की प्राप्ति के लिये अभव्य होते है[4]।

[पञ्च आनन्तर्य एव नियत मिथ्यादृष्टि के सम्यक् ज्ञान के लिये पञ्चम-परिच्छेद (वीथिमुत्तसङ्गहविभाग) का 'कम्मचतुक्क' प्रकरण देखे।]

विपाक अन्तराय – अहेतुक एव द्विहेतुक प्रतिसन्धिविपाकचित्त 'विपाक अन्तराय' है[5]। हीन बीज से उत्पन्न वृक्ष जैसे अच्छी तरह जल एव खाद दिये जाने पर भी

---

१ मातृघात, पितृघात, अर्हत्घात, दुष्टचित्त द्वारा तथागत के शरीर से लोहितोत्पाद एव सङ्घभेद – ये पाँच आनन्तर्य कर्म है। द्र० – विभ०, पृ० ४५४।

२. "कतमे ते सत्ता अभब्बा? ये ते सत्ता कम्मावरणेन समन्नागता, किलेसावरणेन समन्नागता, विपाकावरणेन समन्नागता. अभब्बा नियाम ओक्कमितु कुसलेसु धम्मेसु सम्मत्त, इमे ते सत्ता अभब्बा।" – विभ०, पृ० ४०५।
"तत्थ कम्मावरणेन समन्नागता ति आनन्तरियकम्मसमङ्गिनो।" – विसु०, पृ० ११८।

तु० – "नानन्तर्यप्रयुक्तस्य, वैराग्यफलसम्भव।"
– अभि० को० ४ १०४ का०, पृ० १२२।

द्र० – अभि० को० ४ १०६ – १०७ का०, पृ० १२३।

३ "लोभो, दोसो, मोहो, मानो, दिट्ठि, विचिकिच्छा, थीन, उद्धच्च, अहिरिक, अनोत्तप्प – इमानि दस किलेसवत्थूनि।" – विभ०, पृ० ४६९।

४ "'किलेसावरणेन समन्नागता' ति नियतमिच्छादिट्ठिका चेव उभतोव्यञ्जनकपण्डका च।" – विसु०, पृ० ११८।

तु० – "मूलच्छेदो नास्तिदृशा।" – अभि० को० ४ ७९ का०, पृ० ११२।

५ "'विपाकावरणेन समन्नागता' ति अहेतुक-द्विहेतुकपटिसन्धिका।" – विसु० पृ० ११८।

४५. तथा ञाणसम्पयुत्तविपाकानि च सुगतियं।

तथा सुगतिभूमि मे ज्ञानसम्प्रयुक्त विपाकचित्त भी उपलब्ध नही होते।

स्कन्ध, शाखा, पत्र, पुष्प एव फल-आदि से भलीभाँति समृद्ध नही हो पाता, उसी प्रकार हीन कर्मों के फलस्वरूप अहेतुक या द्विहेतुक प्रतिसन्धि लेनेवाला पुद्गल भी बीजरूप प्रतिसन्धिविपाक के हीन होने से अपने वर्त्तमान भव मे ध्यान, मार्ग एव फल को प्राप्त करने मे असमर्थ होता है। यदि वह पुण्यक्रियाओ का सञ्चय करे तो अनन्तर-भव मे सुगतिभूमि को प्राप्त कर सकता है।

अरियूपवाद अन्तराय – आर्य की, जानते हुए अथवा न जानते हुए, पापचित्त द्वारा निन्दा करना 'अरियूपवाद' है। आनन्तर्य कर्म के सदृश यह भी महासावद्य है। यह देवभूमि, निर्वाण, ध्यान, मार्ग एव फल का अन्तराय होता है। आर्य उपलब्ध हो तो उन के समीप जाकर तथा वे उपलब्ध न हो तो किसी अन्य प्रतिष्ठित सज्जन के समीप जाकर अपने किये हुये कर्म के लिये क्षमायाचना करने से इस अवद्य से शुद्धि हो जाती है[1]।

आणावीतिक्कम अन्तराय – यह श्रामणेर, भिक्षु एव भिक्षुणी के लिये होता है। जो श्रामणेर-आदि अपने लिये भगवान् बुद्ध द्वारा प्रज्ञप्त शिक्षापदो का व्यतिक्रम करता है उसका यह व्यतिक्रम ही 'आणावीतिक्कम अन्तराय' (आज्ञाव्यतिक्रम अन्तराय) कहलाता है। यह सुगतिभव, ध्यान, मार्ग एव फल की प्राप्ति मे बाधक होता है। यदि शिक्षापदो के व्यतिक्रम से यह अन्तराय हो जाये तो विनय के अनुसार उसकी शुद्धि करनी चाहिये। विनय के अनुसार शुद्ध होने पर वह ध्यान, मार्ग एव फल का पुन अधिकारी हो सकता है। यदि शुद्ध न होगा तो छोटी से छोटी आपत्ति भी उसके ध्यान, मार्ग एव फल की अन्तरायभूत हो सकती है[2]।

४५ उपर्युक्त त्रिविध पुद्गलो मे से सुगति-अहेतुक एव द्विहेतुक – इन दोनो को सुगतिभूमि मे उत्पन्न होने का अधिकार है। इन दोनो प्रकार के पुद्गलो की सन्तान मे चार ज्ञानसम्प्रयुक्त महाविपाकचित्त भी नही हो सकते। इनकी मूल प्रति-सन्धि जड होती है। इसीलिये 'परमत्थविनिच्छय' मे भी "ञाणपाका न वत्तन्ति जडत्ता

१. "'अरियान उपवादका' ति बुद्ध-पच्चेकबुद्ध-सावकान अरियान अन्तमसो गिहिसोतापन्नानम्पि अनत्थकामा हुत्वा अन्तिमवत्थुना वा गुणपरिधसनेन वा उपवादका। अक्कोसका गरहका ति वुत्त होति। सो जान वा उपवदेय्य, अजान वा, उभयथापि अरियूपवादो व होति। भारिय कम्म आनन्तरियसदिस सग्गावरणञ्च मग्गावरणञ्च, सतेकिच्छ पन होति।" – विसु०, पृ० २९६। विस्तार के लिये द्र० – विसु०, पृ० २९६-२९७।

२ द्र० – समन्त० (पाचित्तियादि-अट्ठकथा), पृ० १३८।

४६ दुग्गतियं पन ञाणविप्पयुत्तानि च महाविपाकानि न लब्भन्ति।

दुर्गतिभूमि मे ज्ञानविप्रयुक्त महाविपाक भी उपलब्ध नही होते।

४७ तिहेतुकेसु च* खीणासवानं कुसलाकुसलजवनानि न† लब्भन्ति।

९ त्रिहेतुक पुद्गलो मे से अर्हत्-पुद्गलो की सन्तान मे कुशल एव अकुशल जवन उपलब्ध नही होते।

मूलसन्धिया[1]।" – ऐसा कहा गया है। 'विपाकानि च' मे प्रयुक्त 'च' शब्द द्वारा उपर्युक्त क्रियाजवन एव अर्पणाजवनो का सम्पिण्डन किया गया है। अत इन सुगति-अहेतुक एव द्विहेतुक पुद्गलो की सन्तान मे क्रियाजवन, अर्पणाजवन एव ज्ञानसम्प्रयुक्त महाविपाकचित्त सर्वथा नही होते। इन पुद्गलो की सन्तान मे ये ४१ चित्त ही हो सकते है, यथा – हसितोत्पादवर्जित अशोभनचित्त २९, महाकुशल चित्त ८ एव ज्ञानविप्रयुक्त महाविपाकचित्त ४=४१ चित्त।

कुछ लोग कहते है कि सुगति-अहेतुक पुद्गल की सन्तान मे जिस प्रकार प्रतिसन्धिचित्त से उत्तम ज्ञानविप्रयुक्त महाविपाकचित्त होते है, उस प्रकार द्विहेतुक पुद्गलो की सन्तान मे प्रतिसन्धिचित्त से उत्तम ज्ञानसम्प्रयुक्त महाविपाकचित्त भी हो सकते है[2]।

४६ **दुग्गतिय पन न लब्भन्ति** – दुर्गतिभूमि मे होनेवाला पुद्गल 'दुर्गति-अहेतुक' कहा जाता है। इस पुद्गल की सन्तान मे उपर्युक्त चित्तो (क्रियाजवन, अर्पणाजवन एव ज्ञानसम्प्रयुक्त महाविपाक) के अलावा ज्ञानविप्रयुक्त महाविपाकचित्त भी नही हो सकते। अत उपर्युक्त ४१ चित्तो में से ४ ज्ञानविप्रयुक्त महाविपाक चित्तो को और वर्जित करके अवशिष्ट ३७ चित्त ही उपलब्ध होते है, क्योकि 'इन दुर्गति-अहेतुक पुद्गलो की प्रतिसन्धि अत्यन्त जड होती है[3]।

४७ **तिहेतुकेसु च** – 'तयो हेतू येस ति तिहेतुका' प्रतिसन्धिकाल मे अलोभ, अद्वेष एव अमोह – इन तीन हेतुओ से सम्प्रयुक्त ज्ञानसम्प्रयुक्त महाविपाक ४ एव महग्गत विपाक ९=१३ चित्तो मे से किसी एक चित्त द्वारा प्रतिसन्धि लेनेवाले पुद्गल को 'त्रिहेतुक पुद्गल' कहते है। आर्यपुद्गल भी अपने से सम्बद्ध भूमि मे उपर्युक्त विपाकचित्तो मे से ही किसी एकचित्त द्वारा प्रतिसन्धि लेने के कारण 'त्रिहेतुक पुद्गल'

---

* पन – स्या०।

†. च न – सी०।

१. परम० वि०, पृ० ३२।

२. विस्तृत ज्ञान के लिये द्र० – विभा०, पृ० ११९-१२०, प० दी०, पृ० १५८।

३ द्र० – विभा०, पृ० १२०, प० दी०, पृ० १५८।

४८ **तथा सेक्खपुथुज्जनानं क्रियाजवनानि।**

तथा शैक्ष्य पुद्गल एवं पृथग्जन पुद्गलो की सन्तान मे क्रियाजवन उपलब्ध नही होते।

ही कहे जाते है। अत पृथग्जन त्रिहेतुक १ एव आर्य त्रिहेतुक ८—इस प्रकार त्रिहेतुक पुद्गल ९ होते है[1]।

खीणासवान न लब्भन्ति—'खीणा आसवा येस ति खीणासवा' जिनके आस्रव (क्लेश) क्षीण हो गये है—ऐसे अर्हत्-पुद्गलो को 'क्षीणास्रव पुद्गल' कहते है। "अविज्जा-पच्चया सङ्खारा[2]" के अनुसार 'अविद्या' एव 'तृष्णा' नामक अनुशय के कारण लौकिक कुशल एव अकुशल नामक सस्कार-धर्म उत्पन्न होते है। अर्हत-पुद्गल की सन्तान मे उन मूलभूत अनुशय-धर्मो का अर्हत्-मार्ग द्वारा प्रहाण कर दिया जाता है, इस कारण उनमे अनुशय-धर्मों से सम्बद्ध लौकिक कुशल एव अकुशल धर्मो की उत्पत्ति नही हो पाती। लोकोत्तर कुशल धर्म अनुशय का प्रहाण करनेवाला धर्म है। जब पुद्गल अर्हत् होता है तब उसकी सन्तान मे प्रहाण करने के लिये प्रहातव्य कोई अनुशय-धर्म न होने के कारण उसमे लोकोत्तर कुशलधर्म की उत्पत्ति भी नही होती। अत अर्हत् की सन्तान मे सभी कुशल एव अकुशल नही हो सकते।

अर्हत्-पुद्गल की सन्तान मे २१ कुशल एव १२ अकुशल नही हो सकते, अत उनमे ८० वीथिचित्तो मे से इन ३३ चित्तो को वर्जित कर केवल ४७ वीथिचित्त ही उपलब्ध होते है। उनमे भी "लोकुत्तरजवनानि च यथासक अरियानमेव समुप्पज्जन्ति[3]", के अनुसार आर्यपुद्गलो मे स्वसम्बद्ध केवल एक लोकोत्तरचित्त ही हो सकता है, इस कारण अर्हत्-पुद्गल की सन्तान मे नीचे के तीन फलचित्त नही हो सकते। इस प्रकार अर्हत् के लिये उपर्युक्त ४७ चित्तो मे से नीचे के ३ फलचित्तो को वर्जित कर देने पर केवल ४४ चित्त ही उपलब्ध होते है, यथा—अहेतुकचित्त १८, महाविपाक ८, महाक्रिया ८, महग्गत-क्रिया ९ एव अर्हत् फल १=४४ चित्त उपलब्ध होते है।

४८ 'सिक्खन्तीति सेक्खा' शील, समाधि एव प्रज्ञा नामक तीन शिक्षाओ को आरब्ध करनेवाला पुद्गल 'शैक्ष्य पुद्गल' कहा जाता है[4]। यद्यपि शैक्ष्य पुद्गल मार्गस्थ

---

१ "'तिहेतुकेसू' ति पटिसन्धिविञ्ञाणसहगतालोभादोसामोहवसेन तिहेतुकेसु पुथुज्जनादीसु नवविधपुग्गलेसु।"—विभा०, पृ० १२०।

२ म० व० (वि० पि०), पृ० ३।

३ द्र०—अभि० स० ४ ५१, पृ० ३९१।

४. "तीसु सिक्खासु जाता ति सेक्खा, सत्तन्न सेक्खान एते ति पि सेक्खा। अपरियोसितसिक्खत्ता सयमेव सिक्खन्तीति पि सेक्खा।"—अट्ठ०, पृ० ३८। "सिक्खितब्बा ति सिक्खा, अधिसीलसिक्खादयो तिस्सो सिक्खा, ता एतेस अत्थीति सेक्खा। तिस्सो वा सिक्खा सिक्खन्ति, सिक्खनसीला वा ति सेक्खा। सत्त अरियपुग्गला।"—मणि०, प्र० भा०, पृ० ३०८। तु०—स० नि०, चतु० भा० (महावग्ग), पृ० १५०।

४९ दिट्ठिगतसम्पयुत्त-विचिकिच्छाजवनानि च सेक्खानं ।

शैक्ष्य पुद्गलो की सन्तान मे दृष्टिगतसम्प्रयुक्त एव विचिकित्साजवन भी उपलब्ध नही होते ।

५० अनागामिपुग्गलानं पन पटिघजवनानि च* न लब्भन्ति ।

अनागामी पुद्गल की सन्तान में द्वेषमूलजवन भी उपलब्ध नही होते ।

---

४ एव नीचे के फलस्थ ३=७ प्रकार के होते है, तथापि मार्गस्थ शैक्ष्यो का निरूपण पृथक् किया जानेवाला होने के कारण 'शैक्ष्य' द्वारा यहाँ केवल नीचे के तीन फलस्थ पुद्गलो का ही ग्रहण होता है। अन्य (अहेतुक एव द्विहेतुक) पृथग्जनो का वर्णन पहले किया जा चुका है, अत 'पृथग्जन' शब्द द्वारा यहाँ त्रिहेतुक पृथग्जन का ही ग्रहण करना चाहिये ।

इन शैक्ष्य एव पृथग्जनो की सन्तान मे, अर्हत् पुद्गलो के अपने विशिष्ट चित्त अर्थात् क्रियाजवनो का उत्पाद नही होता। अत उन्हे छोडकर इनकी सन्तान मे हसितोत्पादवर्जित अशोभनचित्त २६, महाकुशल ८ महाविपाक ८, एव महग्गतकुशल ९=५४ चित्त उपलब्ध होते है ।

४९ दृष्टिगतसम्प्रयुक्त एव विचिकित्सासहगत चित्तो का स्रोतापत्तिमार्गक्षण मे ही प्रहाण कर दिया जाता है, अत शैक्ष्य पुद्गलो की सन्तान मे ४ दृष्टिगतसम्प्रयुक्त चित्त एव विचिकित्सासहगत चित्त भी उपलब्ध नही होते। 'च' शब्द द्वारा उपर्युक्त क्रियाजवनो के अभाव का सम्पिण्डन किया जाता है, अत नीचे के तीन फलस्थ पुद्गलो की सन्तान मे क्रियाजवनो के अतिरिक्त दृष्टिगतसम्प्रयुक्त चित्त ४ एव विचिकित्सा-सहगत चित्त १=५ चित्त भी नही हो सकते । इस तरह इनमे त्रिहेतुक पृथग्जन की सन्तान मे उपलब्ध होनेवाले ५४ चित्तो मे से इन ५ चित्तो को वर्जित करके तथा स्वसम्बद्ध एक फलचित्त को जोड कर ५०-५० चित्त ही उपलब्ध होते है। (यह स्रोतापत्तिफलस्थ एव सकृदागामिफलस्थ – इन दो पुद्गलो के लिये ही है।)

५० अनागामिमार्ग द्वारा, चूकि द्वेषजवनो का पहले ही प्रहाण कर दिया जाता है अत, अनागामी पुद्गल की सन्तान मे द्वेषमूल चित्त नही हो सकते। यहाँ भी 'पटिघजवनानि च' मे प्रयुक्त 'च' शब्द द्वारा उपर्युक्त क्रियाजवन, दृष्टिगतसम्प्रयुक्त एव विचिकित्सा जवनो का सम्पिण्डन होता है। अनागामी पुद्गल की सन्तान मे उपर्युक्त ५० चित्तो मे से २ द्वेषमूल चित्तो को वर्जित करके तथा स्रोतापत्तिफल एव सकृदागामिफल चित्तो के स्थान पर अनागामिफल रख कर कुल ४८ चित्त ही उपलब्ध होते है।

---

*. रो० मे नही ।

५१ लोकुत्तरजवनानि च* यथासकं† अरियानमेव समुप्पज्जन्तीति‡ ।

लोकोत्तरजवन अपने अपने चित्त के अनुसार आर्यपुद्गलो की सन्तान मे ही समुत्पन्न होते है – इस प्रकार का यह पुद्गलभेद है ।

---

५१. स्रोतापत्तिमार्गजवन स्वसम्बद्ध स्रोतापत्तिमार्गस्थ पुद्गल की ही सन्तान मे होते है। तथा स्रोतापत्तिफलजवन स्रोतापत्तिफलस्थ पुद्गल की सन्तान मे ही होते है। इस प्रकार ८ लोकोत्तरचित्त यथायोग्य स्वसम्बद्ध ८ आर्यपुद्गलो की सन्तान मे ही उत्पन्न होते है – ऐसा समझना चाहिये ।

प्रश्न – मार्गजवन क्यो अपने से सम्बद्ध मार्गस्थ पुद्गल की सन्तान मे ही उत्पन्न होते है ?

उत्तर – मार्ग-धर्म केवल एक चित्तक्षणमात्र ही प्रवृत्त होते है। अत अपने से सम्बद्ध मार्गस्थ पुद्गलो की सन्तान मे ही होते है। यदि मार्गजवन २ या ३ चित्तक्षण होते तो फलस्थ पुद्गलो की सन्तान मे भी और ऊपर के मार्गस्थ पुद्गलो की सन्तान मे भी उत्पन्न होते, किन्तु चूंकि मार्गचित्त स्वभावत अपने एकचित्तक्षणमात्र उत्पाद से ही अपने करणीय कृत्य परिपूर्ण कर देते है अत, वे उस प्रकार के अर्थात् दूसरो की सन्तान मे उत्पन्न होनेवाले स्वभाव के नही होते, अपितु अपने से सम्बद्ध मार्गस्थ पुद्गलो की सन्तान मे ही उत्पन्न होते है।

प्रश्न – नीचे नीचे के फलस्थ पुद्गलो की सन्तान मे ऊपर ऊपर के फलजवन क्यो उत्पन्न नही होते ?

उत्तर – चूंकि नीचे नीचे के पुद्गलो को ऊपर ऊपर के फल प्राप्त नही हुये है अत, नीचे नीचे के फलस्थ पुद्गलो की सन्तान मे ऊपर ऊपर के फलजवन उत्पन्न नही होते ।

प्रश्न – ऊपर ऊपर के फलस्थ पुद्गलो की सन्तान मे पहले नीचे नीचे के फलजवन प्राप्त हो चुके है तो फिर उन पुद्गलो मे इन चित्तो की पुन उत्पत्ति क्यो नही होती ?

उत्तर – ऊपर ऊपर के मार्ग एव फल जब प्राप्त होते है, तभी (साथ ही साथ) नीचे नीचे के फलचित्तो का निरोध हो जाने से पूर्वप्राप्त नीचे नीचे के फलजवन ऊपर ऊपर के फलस्थ पुद्गलो की सन्तान मे पुन उत्पन्न नही होते ।

स्पष्टीकरण – पृथग्जन के भव मे विद्यमान अप्रहीण कर्म एव क्लेश धर्मो का स्रोतापत्तिमार्ग द्वारा जब प्रहाण किया जाता है तभी (साथ ही साथ) पुद्गल अपने पृथग्जनत्व का अतिक्रमण करके 'स्रोतापन्न' नामक आर्य पुद्गल हो जाता है। ठीक

---

*. स्या० मे नही ।

† यथारह – रो०, ना०, म० (ख) ।

‡ समुप्पज्जन्ति – स्या० ।

५२ असेक्खान चतुचत्तालीस सेक्खानमुद्दिसे ।
छप्पञ्ञासावसेसान चतुपञ्ञाससम्भवा ॥
अयमेत्थ पुग्गलभेदो ।

अर्हत्-पुद्गलो की सन्तान मे यथासम्भव ४४ वीथिचित्तो का निर्देश करना चाहिये । शैक्ष्य पुद्गलो की सन्तान मे यथासम्भव ५६ वीथिचित्तो का निर्देश करना चाहिये । अवशिष्ट अर्थात् पृथग्जनो की सन्तान मे यथासम्भव ५४ वीथिचित्तो का निर्देश करना चाहिये ।

इस वीथिसङ्ग्रह मे यह पुद्गलभेद है ।

इसी प्रकार स्रोतापन्न की स्थिति मे अप्रहीण कर्म एव क्लेश धर्मो का सकृदागामिमार्ग द्वारा जब तनूकरण किया जाता है तब पुद्गल स्रोतापन्नत्व का अतिक्रमण करके 'सकृदागामी पुद्गल' के रूप मे हो जाता है। तथा जब पुद्गल सकृदागामी होता है तभी उसके स्रोतापत्तिफलचित्त का भी स्वय (अपने आप) निरोध हो जाता है। इसी प्रकार अनागामिफलस्थ एव अर्हत्फलस्थ पुद्गलो की सन्तान मे होनेवाले नीचे नीचे के फलचित्तो के निरोध को भी जानना चाहिये। यही कारण है कि नीचे नीचे के फलचित्त ऊपर ऊपर के फलस्थ पुद्गलो की सन्तान मे पुन उत्पन्न नही होते[1] ।

५२. अर्हत्-पुद्गलो की सन्तान मे होनेवाले ४४ चित्तो का वर्णन पहले किया जा चुका है। 'सम्भवा' शब्द द्वारा ये ४४ चित्त सभी अर्हत्-पुद्गलो की सन्तान मे नही होते, अपितु यथासम्भव ही होते है, अर्थात् ९ महग्गत ध्यानो को प्राप्त अर्हत्-पुद्गल की सन्तान मे ही ये ४४ चित्त होते है। जो ९ महग्गत ध्यानो को प्राप्त नही होते, ऐसे अर्हत्-पुद्गलो की सन्तान मे ४४ चित्त न होकर अवशिष्ट ३५ वीथिचित्त ही उत्पन्न होते है। (१ महग्गत ध्यान प्राप्त होगा तो १ जोडकर ३६, २ महग्गतध्यान प्राप्त होगे तो ३७ – इसी प्रकार आगे भी जानना चाहिये ।) शैक्ष्य पुद्गलो की सन्तान मे ५६ चित्त होते है, यथा – स्रोतापत्तिफलस्थ पुद्गलो के लिये कथित ५० चित्तो मे मार्गचित्त ४, सकृदागामि-फलचित्त १, अनागामिफलचित्त १ = ६ चित्तो को जोडकर कुल ५६ चित्त होते है – ऐसा कहा गया है ।

---

१ "'लोकुत्तरजवनानि समुप्पज्जन्ती' ति – चतुण्ण मग्गान एकचित्तक्खणिकभावेन पुग्गलन्तरेसु असम्भवतो, हेट्ठिम-हेट्ठिमानञ्च उपरि उपरि समापत्तिया अनधिगतत्ता, उपरि उपरि पुग्गलानञ्च असमुग्घाटितकम्मकिलेसनिरोधनेन 'पुथुज्जनेहि विय सोतापन्नान' सोतापन्नादीहि पुग्गलन्तरभावुपगमनेन (हेट्ठिम-हेट्ठिमसमापत्तिया) पटिपस्सद्धत्ता च अट्ठ पि लोकुत्तरजवनानि यथासक मग्गफलट्ठान अरियानमेव समुप्पज्जन्ति ।" – विभा०, पृ० १२० । द्र० – प० दी०, पृ० १५९ – १६० ।

भूमिविभागो

५३ कामावचरभूमिय पनेतानि सब्बानि पि वीथिचित्तानि यथारहं उपलब्भन्ति ।

५४ रूपावचरभूमियं पटिघजवन-तदारमणवज्जितानि ।

कामावचरभूमि में ये सभी वीथिचित्त यथायोग्य उपलब्ध होते हैं ।

रूपावचरभूमि में द्वेषजवन एव तदालम्बन वर्जित उपर्युक्त सभी वीथिचित्त उपलब्ध होते हैं ।

'सम्भवा' शब्द द्वारा स्रोतापत्तिमार्गस्थ पुद्गल की सन्तान मे केवल एक स्रोतापत्तिमार्गचित्त ही होता है, तथा स्रोतापत्तिफलस्थ पुद्गल की सन्ताम मे होनेवाले चित्त यद्यपि ५० होते है तथापि ध्यान को प्राप्त नही होनेवाला स्रोतापत्तिफलस्थ पुद्गल होता है तो उसकी सन्तान मे ९ महग्गतकुशल नही होते । इस प्रकार के पुद्गल मे केवल ४१ चित्त ही होते है । इसी तरह सकृदागामी, अनागामी पुद्गलो के सम्बन्ध मे भी समझना चाहिये ।

'अवसेसान चतुपञ्ञास' मे 'अवसेस' शब्द द्वारा शैक्ष्य एव अशैक्ष्य[1] पुद्गलो से अवशिष्ट ४ पृथग्जनो का ग्रहण होता है। इन ४ पृथग्जन पुद्गलो की सन्तान मे ५४ चित्त उपलब्ध होते है। 'सम्भवा' शब्द द्वारा उनमे से दुर्गति-अहेतुक पुद्गल की सन्तान मे ३७, सुगति-अहेतुक एव द्विहेतुक पुद्गल की सन्तान मे ४१, ध्यानलाभी त्रिहेतुक पुद्गल की सन्तान मे ५४ तथा ध्यान को अप्राप्त त्रिहेतुक पुद्गल की सन्तान मे ४५ चित्त होते हैं।

यहाँ कामभूमि मे स्थित पुद्गलो मे प्राप्त होनेवाले चित्तो को ही कहा गया है। रूप एवं अरूपभूमियो मे स्थित पुद्गलो मे प्राप्त होनेवाले चित्तो का वर्णन आगे 'भूमिविभाग' नामक प्रकरण मे किया जायेगा ।

पुद्गलभेद समाप्त ।

भूमिविभाग

५३-५६ भूमियो द्वारा वीथिचित्तो का विभाजन करनेवाला यह 'भूमि-विभाग' नामक प्रकरण है।

---

१ "उपरि सिक्खितब्बाभावतो न सेक्खा ति असेक्खा। वुड्ढिप्पत्ता वा सेक्खा ति पि असेक्खा। अरहत्तफलधम्मान एत अधिवचन।" – अट्ठ०, पृ० ३८।

५५ अरूपावचरभूमियं पठममग्ग-रूपावचर-हसन-हेट्ठिमारुप्पवज्जितानि* च लब्भन्ति ।

५६ सब्बत्थापि च तंतंपसादरहितानं तंतंद्वारिकवीथिचित्तानि न लब्भन्तेव† ।

अरूपावचरभूमि में स्रोतापत्तिमार्ग, रूपावचरचित्त, हसितोत्पाद एवं नीचे नीचे के अरूपावचरचित्त वर्जित उपर्युक्त सभी वीथिचित्त उपलब्ध होते हैं।

सभी भूमियो में उन उन प्रसादो से रहित पुद्गलों की सन्तान में उन उन द्वारों मे होनेवाले वीथिचित्त उपलब्ध नही ही होते ।

कामभूमि – ११ कामभूमियो[1] मे सभी ८० वीथिचित्त पाये जाते है, (केवल प्रतिसन्धि, भवङ्ग, एव च्युति कृत्य करनेवाले ९ महग्गत विपाकचित्त वीथिचित्तो मे सङ्गृहीत नही होते। ये वीथिमुक्त चित्त है। यद्यपि दो उपेक्षासन्तीरण एवं महाविपाक चित्त भी प्रतिसन्धि, भवङ्ग एव च्युति कृत्य करते है, तथापि जब वे सन्तीरण एव तदालम्बन-आदि कृत्य करते है तब उनकी गणना वीथिचित्तो मे भी होती है।) क्योकि चक्षुर्विज्ञान-आदि वीथिचित्तो के उत्पाद के लिये अपेक्षित चक्षुर्द्वार-आदि ६ द्वार तथा मार्गचित्त एव फलचित्त-आदि के उत्पाद के लिये अपेक्षित १२ प्रकार के पुद्गल – ये सभी कामभूमि मे उपलब्ध होते है। 'सभी ८० वीथिचित्त कामभूमि मे होते है' – यह सभी ११ कामभूमियो मे होनेवाले वीथिचित्तो का सङ्ग्रहरूप से कथन है। अपायभूमियो मे ये सभी ८० चित्त उपलब्ध नही होते। दुर्गति-अहेतुक पुद्गल मे भी सब नही होते। मनुष्यभूमि एव देवभूमियो मे भी पुद्गलो के अनुसार ही होते है। इसीलिये 'यथारह' शब्द का प्रयोग किया गया है।

रूपावचरभूमि – द्वेष, जो ध्यानधर्मो का निवारण करनेवाला धर्म है, ध्यानो की विपाकभूत रूपावचरभूमि मे नही हो सकता। तदालम्बन भी "कामे जवनसत्तालम्बनान नियमे सति[2]" के अनुसार रूपावचरभूमि मे नही हो सकता। इस प्रकार ८०

---

* ०हेट्ठिमारूपवज्जितानि – स्या० ।

† लब्भन्ति – स्या० ।

१. "कतमे धम्मा कामावचरा ? हेट्ठतो अवीचिनिरय परियन्त कत्वा उपरितो परनिम्मितवसवत्तिदेवे अन्तो करित्वा ति आदिना नयेन वुत्तेसु कामावचरधम्मेसु परियापन्नान। यस्मि पन पदेसे दुविधो पेसो कामो पवत्तिवसेन अवचरति, सो चतुन्न अपायान, मनुस्सान, छन्न च देवलोकान वसेन एकादसविधो पदेसो। " – अट्ठ०, पृ० ५१-५२ एव ३०७ ।

२. द्र० – अभि० स० ४ · ३५, पृ० ३७३ ।

वीथिचित्तो मे से द्वेषमूल २ एव तदालम्बन कृत्य करनेवाले महाविपाक ८=१० चित्त रूपावचरभूमि मे नही हो सकते। (तीन सन्तीरणचित्त भी यद्यपि तदालम्बन कृत्य करते है तथापि जब वे सन्तीरण कृत्य करते है तब रूपावचर वीथिचित्तो मे सङ्गृहीत होते है। अत उनका वर्जन नही किया गया है।)

अरूपावचरभूमि – स्रोतापत्तिमार्ग, रूपावचरचित्त, हसितोत्पाद एव नीचे नीचे के अरूपावचरचित्त अरूपभूमि मे नही होते। स्रोतापत्तिमार्ग, रूपावचरचित्त एव हसितोत्पाद के इस भूमि मे न होने के कारण (हेतु) तृतीय परिच्छेद के 'वस्तुसङ्ग्रह' प्रकरण मे कहे जा चुके है[1]। ऊपर ऊपर की अरूपभूमियो को प्राप्त कर चुकनेवाले अरूपी ब्रह्मा नीचे नीचे के ध्यानो को पुन आरब्ध नही करते, अत ऊपर ऊपर की अरूपभूमियो मे नीचे नीचे की भूमियो मे होनेवाले चित्त उपलब्ध नही होते।

तंतपसादरहितान – सभी भूमियो मे जिन जिन पुद्गलो मे जो जो प्रसाद (द्वार) नही होते, उन उन प्रसादो से सम्बद्ध वे वे चित्त उनकी सन्तान मे नही होते। जैसे – चक्षु प्रसाद से हीन (अन्ध) पुद्गल के कामभूमि मे होने पर भी उसकी सन्तान मे चक्षुर्द्वारिकवीथि नही हो सकती, उसी प्रकार अन्य प्रसादो के सम्बन्ध मे भी जानना चाहिये।

"रूपलोके पन घानादित्तय नत्थि[2]" के अनुसार रूपभूमि मे घ्राण, जिह्वा एव काय – ये तीन प्रसाद नही होते, अत उन तीनो प्रसादो से सम्बद्ध घ्राणविज्ञान २, जिह्वाविज्ञान २ एव कायविज्ञान २=६ विज्ञान रूपभूमि मे नही होते। अरूपभूमि में पाँचो प्रसाद न होने के कारण पञ्चद्वार मे होनेवाले पञ्चद्वारावर्जन १, द्विपञ्चविज्ञान १०, सम्पटिच्छन २ एव सन्तीरण ३ = १६ चित्त अरूपभूमि मे नही होते।

कुछ आचार्य कहते है कि ब्रह्मभूमि मे अनिष्ट आलम्बन न होने के कारण उन अनिष्ट आलम्बनो का आलम्बन करके होनेवाले अकुशलविपाक चक्षुर्विज्ञान, श्रोत्रविज्ञान, सम्पटिच्छन एव सन्तीरण भी रूपभूमि मे नही हो सकते। रूपभूमि से इस कामभूमि मे आते समय अनिष्ट आलम्बनो से समागम होने पर अकुशलविपाक चक्षुर्विज्ञान-आदि हो सकते है, किन्तु वे अकुशलविपाक चक्षुर्विज्ञान-आदि कामभूमि मे ही होगे, रूपभूमि मे नही। इस प्रकार वे विचित्र रूप से विकल्प करते है। उन आचार्यो का इस प्रकार का यह विकल्प युक्तिसङ्गत प्रतीत नही होता, क्योकि इस भूमिविभाग मे यद्यपि भूमि के द्वारा चित्तो का विभाजन दिखाया गया है, तथापि उन उन भूमियो मे होनेवाले पुद्गलो की अपेक्षा करके ही विभाजन होता है। केवल भूमिमात्र से चित्तो की प्राप्ति नही हो सकती। इसलिये रूपी ब्रह्माओ के, इस कामभूमि मे आते समय अनिष्ट आलम्बनो से समागम होने पर उन समागत अनिष्ट आलम्बनो का आलम्बन कर के उत्पन्न होनेवाले अकुशल, कामभूमि के विपाक नही कहे जा सकते। वे रूपभूमि मे रहनेवाले रूपी पुद्गलो की सन्तान मे होनेवाले रूपविपाक ही है। अपिच – वे ब्रह्मा रूपभूमि मे रहने पर भी

---

१. द्र० – अभि० स० ३ ७० की व्याख्या, पृ० २७८-२७९।

२. द्र० – अभि० स० ३ ६६, पृ० २७४।

५७ असञ्ञसत्तानं* पन सब्बथापि चित्तप्पवत्ति नत्थेवा ति।

असंज्ञी सत्त्वो की सन्तान मे सभी प्रकार से चित्तों की उत्पत्ति नही ही है।

कामभूमि के आलम्बनो का ग्रहण करने मे समर्थ होते है। वे जब अनिष्ट आलम्बनो का ग्रहण करते है तब उनके रूपभूमि मे रहने पर भी अकुशलविपाक उत्पन्न होगे ही। अत इन आचार्यों का उपर्युक्त मत समीचीन प्रतीत नही होता[1]।

५७. जिनमे सज्ञा नही होती, वे पुद्गल 'असज्ञी सत्त्व' कहे जाते है। केवल सज्ञा ही नही, अपितु उन मे सभी चित्त-चैतसिक धर्म नही होते।

---

* असञ्ञीसत्तान – स्या०।

१ "एत्थ च ब्रह्मलोके वा उपरि छकामावचरदेवलोकेसु वा अनिट्ठारम्मणानि नाम नत्थि, तस्मा रूपावचरभूमिय चतुण्ण अकुसलविपाकान लब्भमानतावचन तत्थ ठत्वा वा इध आगन्त्वा वा इध अनिट्ठेहि रूपसद्देहि समागच्छन्तान वसेन दट्ठब्ब। केचि पन इध आगतान येव ब्रह्मान अनिट्ठारम्मणसमायोगो होतीति तानि चत्तारि रूपभूमिय लद्धानि नाम न होन्ति, तस्मा तत्थ सट्ठि येव वीथिचित्तानीति वदन्ति ; तन्न युज्जति, 'इध आगतान येव उप्पन्नानि पि ब्रह्मत्तभावे उप्पन्नत्ता ब्रह्मलोके उप्पन्नानि' इच्चेव वत्तब्बत्ता। न च तत्थ ठितापि इध अनिट्ठानि न गण्हन्ति, दूरे पि आरम्मण गहेतु समत्थत्ता ब्रह्मान ति। यच्च विभावनिय तस्स वादस्स पटिक्खिपनत्थ वुत्त – 'इध पन तत्थ ठत्वापि इम लोक पस्सन्तान अनिट्ठारम्मणस्स असम्भवो न सक्का वत्तु' ति तेन तत्थ ठत्वा इम लोक पस्सन्तान उप्पन्नानि तानि चत्तारि चित्तानि तत्थ लद्धानि नाम होन्ति। इध आगतान उप्पन्नानि इध लद्धानि नाम होन्तीति अनुञ्ञात होति, तञ्च न युत्त, ततभूमिपरियापन्ने सत्तसन्ताने उप्पन्नानि एव ततभूमिय उप्पन्नानीति सिद्धत्ता।" – प० दी०, पृ० १६१।

"केचि पन रूपभवे अनिट्ठारम्मणाभावतो इधागतान येव ब्रह्मान अकुसलविपाक-सम्भवो ति तानि परिहापेत्वा पञ्च परित्तविपाकेहि सद्धि रूपभवे सट्ठि येव वीथिचित्तानीति वदन्ति। इध पन तत्थ ठत्वापि इम लोक पस्सन्तान अनिट्ठा-रम्मणस्स असम्भवो न सक्का वत्तु ति तेहि सद्धि येव तत्थ चतुसट्ठि वुत्तानि। एवञ्च कत्वा वुत्त धम्मानुसारणिय – 'यदा ब्रह्मानो कामावचर अनिट्ठारम्मण आलम्बन्ति तदा तसुगतिय पि अकुसलविपाकचक्खुसोतविञ्ञाणमनोधातु-सन्तीरणान उप्पत्ति सम्भवतीति।" – विभा०, पृ० १२२।

५८ असीति वीथिचित्तानि कामे रूपे यथारहं ।
चतुसट्ठि* तथारूपे† द्वे चत्तालीस लब्भरे ॥
अयमेत्थ भूमिविभागो ।

कामभूमि मे ८० वीथिचित्त यथायोग्य उपलब्ध होते है । असंज्ञि-वर्जित पन्द्रह रूपभूमियों मे ६४ वीथिचित्त यथायोग्य उपलब्ध होते है । तथा चार अरूपभूमियो मे ४२ चित्त यथायोग्य उपलब्ध होते है ।

इस वीथिसङ्ग्रह मे यह भूमिविभाग है ।

५९. इच्चेव छद्वारिकचित्तप्पवत्ति यथासम्भवं भवङ्गन्तरिता यावतायुकमब्बोच्छिन्ना‡ पवत्तति§ ।

इति अभिधम्मत्थसङ्गहे वीथिसङ्गहविभागो नाम
चतुत्थो परिच्छेदो ।

इस प्रकार छह द्वारो मे होने वाले चित्तो की प्रवृत्ति (उत्पत्ति) यथासम्भव बीच-बीच में भवङ्गो द्वारा अन्तरित होती हुई आयु.पर्यन्त निरवच्छिन्न (उच्छेद के बिना) सतत प्रवृत्त होती रहती है ।

इस प्रकार 'अभिधम्मत्थसङ्गह' मे 'वीथिसङ्ग्रहविभाग' नामक
चतुर्थ परिच्छेद समाप्त ।

---

५८. कामभूमि मे सभी ८० वीथिचित्त होते है। वे यथायोग्य दुर्गति-अहेतुक पुद्गल एव सुगति-अहेतुक पुद्गल-आदि (पुद्गलभेद) के अनुसार होते है।

रूपभूमि मे उपर्युक्त ८० वीथिचित्तो मे से द्वेषमूल २, महाविपाक ८, घ्राण-विज्ञान २, जिह्वाविज्ञान २ एव कायविज्ञान २=१६ चित्त नही होते। इनसे अवशिष्ट ६४ वीथिचित्त ही उपलब्ध होते है। ये ६४ चित्त भी सभी पुद्गलो मे नही, अपितु त्रिहेतुक पृथग्जन एव फलस्थ पुद्गलो मे ही यथायोग्य होते है।

अरूपभूमि मे उपर्युक्त ६४ वीथिचित्तो मे से स्रोतापत्तिमार्ग १, रूपावचर कुशल एव क्रिया १०, हसितोत्पाद १, पञ्चद्वारावर्जन १, चक्षुर्विज्ञान २, श्रोत्रविज्ञान २, सम्प-

---

*. चतुसट्ठी – स्या० ।

†. तथारुप्पे – सी० ।

‡ यावतायुकमब्भोच्छिन्ना – स्या०, यावतायुकमब्भोच्छिन्न – ना० ।

§ पवत्ततीति – सी०, स्या० ।

टिच्छन २ एव सन्तीरण ३=२२ चित्त न होकर इनसे अवशिष्ट केवल ४२ चित्त ही उपलब्ध होते है।

[ये ४२ चित्त तृतीय परिच्छेद के 'वस्तुसङग्रह' मे कथित 'द्वेचत्तालीस जायरे' के अनुसार समझने चाहियें[1]।]

५६. यह सम्पूर्ण वीथिचित्तो का निगमन कहनेवाली पालि है। दो चित्त-वीथियो के बीच बीच मे भवङ्ग होते हुए ये वीथिचित्त सम्पूर्ण आयु पर्यन्त प्रवृत्त होते रहते है।

भूमिविभाग समाप्त।

पुद्गल, भूमि एवं चित्त

	ध्यान-अलाभी कामपुद्गल	ध्यानलाभी कामपुद्गल	रूपपुद्गल	अरूपपुद्गल
दुर्गति-अहेतुक	३७	×	×	×
सुगति-अहेतुक एव द्विहेतुक	४१	×	×	×
त्रिहेतुक पृथग्जन	४५	५४	४३	२७
स्रोतापन्न एव सकृदागामी	४१	५०	३९	२३
अनागामी	३९	४८		
अर्हत्	३५	४४	३५	१८

मार्गस्थ पुद्गल अपने एक एक मार्गचित्त को ही प्राप्त करते है, अत. उनका यहाँ सङग्रह नही किया गया है। कामपुद्गलो मे प्राप्त होनेवाले चित्त 'पुद्गलभेद' मे कहे जा चुके है। ध्यान-अलाभी कामपुद्गलो मे ९ महग्गतध्यानो को वर्जित करके गणना करनी चाहिये। ध्यानलाभी कामपुद्गलो मे एक ध्यान को प्राप्त होनेवाले, दो ध्यान

१ द्र० – अभि० स० ३ · ७४, पृ० २८०, स्पष्ट ज्ञान के लिये द्र० – अभि० स० ३ ७१, पृ० २७९।

को प्राप्त होनेवाले – इस प्रकार नानाविध पुद्गल होते है तथापि चित्तगणना की सुविधा के लिये उपर्युक्त प्रारूप मे ६ महग्गतध्यानो को एक साथ दिखलाया गया है।

रूपावचर पुद्गल मे प्राप्त चित्त – रूपावचर पुद्गलो मे, रूपभूमि मे प्राप्त न नेवाले द्वेषमूल २, घ्राणविज्ञान-आदि विज्ञान ६, महाविपाक ८=१६ चित्तो को ध्यानलाभी कामपुद्गलो मे प्राप्त होनेवाले चित्तो मे से वर्जित करके उनमे रूपभूमि मे होनेवाले रूपावचरविपाक ५ चित्तो को मिलाना चाहिये। अर्थात् ध्यानलाभी काम-त्रिहेतुकपुद्गल द्वारा प्राप्त ५४ चित्तो मे से द्वेषमूल-आदि १६ चित्तो को वर्जित करके रूपावचरविपाक ५ चित्तो को मिलाने पर रूपावचर त्रिहेतुक पुद्गलो मे प्राप्त होनेवाले चित्त कुल ४३ होते है तथा ध्यानलाभी कामावचर स्रोतापन्न एव सकृदागामी पुद्गलो द्वारा प्राप्त ५० चित्तो मे उपर्युक्त नय के अनुसार वर्जन एव सयोग करने पर रूपावचर स्रोतापन्न एव सकृदागामी पुद्गलो मे प्राप्त होनेवाले चित्त कुल ३९ होते है। अनागामी पुद्गल मे भी उसी प्रकार ३९ चित्त होते है। ध्यानलाभी कामावचर अर्हत् द्वारा प्राप्त ४४ चित्तो मे से उपर्युक्त नय के अनुसार वर्जन एव सयोग करने पर रूपावचर अर्हत् मे प्राप्त होनेवाले चित्त कुल ३५ होते है। (अनागामी एव अर्हत् पुद्गल द्वेषमूलद्वय का प्रहाण कर चुके होते है अत, उनमे भूमि के कारण पुन द्वेषमूल का वर्जन आवश्यक नही है।)

अरूपावचरपुद्गल मे प्राप्तचित्त – रूपावचर त्रिहेतुक पुद्गलो द्वारा प्राप्त ४३ चित्तो मे से अरूपभूमि मे नही होनेवाले पञ्चद्वारावर्जन १, चक्षुर्विज्ञान २, श्रोत्रविज्ञान २, सम्पटिच्छन २, सन्तीरण ३, रूपावचरकुशल ५ एव रूपावचरविपाक ५=२० चित्तो का वर्जन करने पर २३ चित्त अवशिष्ट रहते है। उनमे अरूपभूमि मे होनेवाले ४ अरूपविपाक चित्तो को मिलाने से अरूपावचर त्रिहेतुक पुद्गलो मे प्राप्त होनेवाले चित्त कुल २७ होते है।

रूपावचर स्रोतापन्न, सकृदागामी एव अनागामी पुद्गलो द्वारा प्राप्त ३९ चित्तो मे से उपर्युक्त नय के अनुसार वर्जन एव सयोग करने पर अरूपावचर स्रोतापन्न, सकृदागामी एव अनागामी पुद्गलो मे प्राप्त होनेवाले चित्त कुल २३ होते है। रूपावचर अर्हत् द्वारा प्राप्त ३५ चित्तो मे से उपर्युक्त २० चित्तो के साथ हसितोत्पाद को भी वर्जित करने पर केवल १४ चित्त अवशिष्ट रहते है तथा उनमे ४ अरूपविपाक मिलाने पर अरूपावचर अर्हत् द्वारा प्राप्त होनेवाले चित्त कुल १८ होते है।

रूपावचरविपाक एव अरूपावचरविपाक एकभूमि मे प्रतिसन्धि-आदि कृत्य **करने के लिये एक एक ही प्राप्त हो सकते है** – किन्तु प्रारूप मे सभी भूमियो मे उन्हे

सामूहिक रूप से सङ्गृहीत किया गया है, इसलिये नैवसञ्ज्ञानासञ्ज्ञायतनभूमि मे होनेवाले अर्हत् की सन्तान मे उपर्युक्त १८ चित्तो मे से नीचे के अरूपावचरविपाक ३ चित्तो को वर्जित करना पड़ेगा तथा 'हेट्ठिमारुप्पवज्जितानि' के अनुसार नीचे के अरूपावचरक्रिया ३ चित्तो को भी वर्जित करना पडेगा अत नैवसञ्ज्ञानासञ्ज्ञायतनभूमि मे होनेवाले अर्हत् मे कुल १२ चित्त ही होते है। इसी प्रकार अन्य पुद्गलो मे भी समझना चाहिये।

अभिधर्मप्रकाशिनी व्याख्या मे वीथिसङ्ग्रहविभाग नामक
चतुर्थ परिच्छेद समाप्त ।

वीथिसमुच्चय

(चित्तवीथि)

परिशिष्ट–१

'वीथिसमुच्चय' में प्रयुक्त

ज्ञातव्य साङ्केतिक शब्द और उनके द्वारा सङ्केतित अर्थ–

साङ्केतिक शब्द	सङ्केतित अर्थ
०००	उत्पाद-स्थिति-भङ्ग
भ	भवङ्ग
ती	अतीतभवङ्ग
न	भवङ्गचलन
द	भवङ्गोपच्छेद
प	पञ्चद्वारावर्जन
च	चक्षुर्विज्ञान
सो	श्रोत्रविज्ञान
घा	घ्राणविज्ञान
जि	जिह्वाविज्ञान
का	कायविज्ञान
स	सम्पटिच्छन
ण	सन्तीरण
वो	वोट्ठपन
ज	जवन
त	तदालम्बन
आ	आगन्तुक भवङ्ग
म	मनोद्वारावर्जन
रि	परिकर्म
उ	उपचार
नु	अनुलोम
गो	गोत्रभू
दा	वोदान (व्यवदान)
झ	ध्यान
भि	अभिज्ञा
मा	मार्ग
फ	फल
टि	प्रतिसन्धि
चु	च्युति

वीथिसमुच्चय

१. 'वियन्ति गच्छन्ति सत्ता एत्था ति वीथि, वीथि विया ति वीथि' इस विग्रह के अनुसार सत्त्वो की सन्तान में नियमत: उत्पन्न होनेवाली चित्तसन्तति को गमनीय मार्ग (=रास्ता) सन्ततियो (परम्पराओ) के सदृश होने से 'वीथि' कहते हैं[१]।

वीथिसमुच्चय

१. अभिधर्मशास्त्र मे चित्तो की सन्तति को 'चित्तवीथि' एव रूपो की सन्तति को 'रूपवीथि' कहना प्रसिद्ध है। यदि वीथि का सम्यग् ज्ञान न होगा तो पालि-अट्ठकथाओ का सम्यग् ज्ञान होना भी सम्भव न होगा। विपश्यना-कम्मट्ठान आरब्ध करने के अभिलाषी योगियो को अनित्य, अनात्म एव दु ख का ज्ञान होने के लिये ये वीथियाँ कुञ्जी की तरह हैं। अत· बौद्धदर्शन के हृदय की भाँति इन वीथियो का ज्ञान अत्यन्त अपेक्षित है। यद्यपि आचार्य अनुरुद्ध द्वारा विरचित 'अभिधम्मत्थसङ्गहो' के सम्पूर्ण चतुर्थ परिच्छेद मे वीथियों का प्रतिपादन किया गया है, तथापि अतिसूक्ष्म होने के कारण जिज्ञासुओं को उनका यथेष्ट ज्ञान नही हो पाता, इसीलिये अति प्राचीन काल से लेकर आज तक ब्रह्मदेश की आचार्य-परम्परा ने उन वीथियो को समझने एव समझाने के लिये अनेक प्रकार के वीथिसमुच्चयो का प्रणयन किया है। तथा वहाँ उन्हे अपनी शिष्य-परम्परा को कण्ठस्थ कराया जाता है। हम यहाँ उन्ही आचार्यो की परम्परा द्वारा प्रणीत वीथिसमुच्चयो का आधार करके इस 'वीथिसमुच्चय' नामक प्रकरण का न अतिसङ्क्षेप और न अधिक विस्तार से निरूपण कर रहे हैं और टीका-टिप्पणियो द्वारा उसे सरलतया समझाने का प्रयास कर रहे हैं। इससे वीथियो का स्पष्ट ज्ञान होने मे सहायता मिलेगी। 'वीथिपरिच्छेद' का अध्ययन कर लेने के अनन्तर इस 'वीथिसमुच्चय' का अध्ययन करने से चित्तवीथियो का पर्याप्त ज्ञान हो सकता है। अत वीथिपरिच्छेद के अनन्तर इस 'वीथिसमुच्चय' प्रकरण का स्वतन्त्ररूप से पृथक् निरूपण किया जा रहा है।

'वियन्ति गच्छन्ति सत्ता एत्था ति वीथि' अर्थात् इस (मार्ग) मे सत्त्व गमन करते है अत इसे 'वीथि' कहते हैं। इस विग्रह के अनुसार 'वीथि' शब्द मुख्यत सत्त्वो (प्राणियो) के जाने की मार्गसन्तति (रास्ते की परम्परा) के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। सत्त्वो की सन्तान में होनेवाली चित्तसन्तति भी उस मार्गसन्तति के सदृश ही होती है। जिस प्रकार मार्गसन्तति एक रास्ते के अनन्तर दूसरा फिर तीसरा—इस प्रकार चलती हुई और बीच के अनन्त रास्तो से मिलती हुई अविच्छिन्न रूप से बढती रहती है, ठीक उसी प्रकार चित्तसन्तति भी एक चित्त के अनन्तर दूसरे चित्त के उत्पन्न होते

---

१ अभि० प० सू०, पृ० ५१०।

पञ्चद्वारवीथि

२ यह वीथि भी पञ्चद्वारवीथि तथा मनोद्वारवीथि भेद से द्विविध होती है। उसमें पञ्चद्वारवीथि भी चक्षुर्द्वारवीथि, श्रोत्रद्वारवीथि, घ्राणद्वारवीथि, जिह्वाद्वारवीथि एवं कायद्वारवीथि – इस प्रकार द्वारभेद से पाँच प्रकार की होती है। उनमें से चक्षुर्द्वारवीथि अतिमहद्-आलम्बनवीथि, महद्-आलम्बनवीथि, परीत्त-आलम्बनवीथि एवं अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि– इस प्रकार आलम्बनभेद से चार प्रकार की होती है। उनमें भी अतिमहद्-आलम्बनवीथि तदालम्बनपर्यन्त तदालम्बनवार एवं जवनपर्यन्त जवनवार – इस प्रकार वारभेद से द्विविध होती है।

रहने से निरन्तर अविच्छिन्न रूप से प्रवृत्त होती रहती है। इसीलिये 'वीथि वियाति वीथि' ऐसा कहा गया है। अर्थात् 'मार्ग' (रास्ते) के सदृश होने से चित्तसन्तति को भी 'वीथि' कहा जाता है।

अथवा "पन्ति वीथ्यावळिसेनी, पालि[1]" के अनुसार 'वीथि' शब्द 'पङ्क्ति' अर्थ मे होता है। अत यहाँ 'वीथि' शब्द चित्तो की पङ्क्ति अर्थ को द्योतित करनेवाला अनिष्पन्न प्रातिपदिक है। इसीलिये 'वीथि'=चित्तपरम्परा – यह व्याख्या की जाती है।

पञ्चद्वारवीथि

२ **पञ्चद्वारवीथि एवं मनोद्वारवीथि** – चक्षुष्, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा एव काय – इन पाँच द्वारो को 'पञ्चद्वार' कहते हैं। इन पाँच द्वारो मे रूपालम्बन-आदि पाँच आलम्बनो के प्रादुर्भाव से उत्पन्न चित्तसन्तति को 'पञ्चद्वारे पवत्ता वीथि' – इस विग्रह के अनुसार 'पञ्चद्वारवीथि' कहते हैं। तथा 'भवङ्ग' नामक मनोद्वार मे प्रादुर्भूत आलम्बन की अपेक्षा करके उत्पन्न चित्तसन्तति को 'मनोद्वारे पवत्ता वीथि' – इस विग्रह के अनुसार 'मनोद्वारवीथि' कहते है।

चक्षुर्द्वारिक वीथि, अतिमहद्-आलम्बनवीथि, तदालम्बनवार – 'चक्खुद्वारे पवत्ता वीथि' के अनुसार चक्षुर्द्वार मे प्रादुर्भूत आलम्बन की अपेक्षा करके उत्पन्न चित्तसन्तति 'चक्षुर्द्वारिक वीथि' कहलाती है। जब वह अतिमहद्-आलम्बन का आलम्बन करती है तब वही (चक्षुर्द्वारवीथि) 'अतिमहद्-आलम्बनवीथि' कही जाती है। तथा अभिनव आलम्बन की अपेक्षा करके एक प्रकार की चित्तसन्तति के उत्पन्न होने पर यदि वह चित्तसन्तति (चित्तवीथि) तदालम्बन मे पर्यवसित होती है तो तदालम्बन द्वारा अभिलक्षित करके उसे ही 'तदारमणेन उपलक्खितो वारो तदारमणवारो' के अनुसार 'तदालम्बनवार' कहा जाता है।

---

१ अभि० प०, ५३६ का०।

तदालम्बनवार अतिमहद्-आलम्बन चक्षुर्द्वारवीथि

३ रूपालम्बन एव चक्षु प्रसाद – दोनो के युगपत् अभिनिपात (=प्रादुर्भाव) से लेकर १ वार अतीतभवङ्ग होने के अनन्तर चक्षु प्रसाद मे रूपालम्बन का प्रादुर्भाव होने से भवङ्गचलन, भवङ्गोपच्छेद, पञ्चद्वारावर्जन, चक्षुर्विज्ञान, सम्पटिच्छन, सन्तीरण, वोट्ठपन, ७ वार जवन एव २ वार तदालम्बन होने पर चक्षु प्रसाद एव रूपालम्बन दोनो की १७ चित्तक्षण (रूप की) आयु को पूर्ण करके द्वितीय तदालम्बनचित्त के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली वीथि 'तदालम्बनवार अतिमहद्-आलम्बन चक्षुर्द्वारवीथि' कहलाती है।

तदालम्बनवार अतिमहद्-आलम्बन

चक्षुर्द्वारवीथि

३. इस वीथि को निम्न प्रारूप द्वारा समझाया गया है–

भ	'ती	न	द	प	च	स	ण	वो	ज	ज	ज	ज	ज	ज	ज	न	त'	भ
०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००	०००

इसी तरह श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा एव कायद्वार मे होनेवाली वीथियो को भी जानना चाहिये। इस प्रकार अतिमहद्-आलम्बनवीथियाँ कुल पाँच होती हैं।

उपर्युक्त वीथि मे सबसे पहलेवाला भवङ्ग तथा तदालम्बन के बादवाला भवङ्ग – इस प्रकार ये दोनो भवङ्ग इस वीथि के अन्तर्गत नही आते, किन्तु ये इस वीथि से पूर्व अनेक भवङ्गो की उत्पत्ति तथा इस वीथि से पश्चात् भी अनेक भवङ्ग होकर पुन वीथिचित्तो की उत्पत्ति को दिखलाते है। इस वीथि के अन्तर्गत विद्यमान अतीतभवङ्ग, भवङ्गचलन, एव भवङ्गोपच्छेद भी वीथिचित्त नही है, अपितु वीथिमुक्त चित्त ही है, तथापि रूपालम्बन के प्रादुर्भाव से लेकर निरोधपर्यन्त रूप की आयु के काल मे होनेवाले १७ चित्तक्षणो की गणना करते समय परिगणित किये जाते है, अत इन भवङ्गो को वीथि मे समाविष्ट कर लिया गया है। वस्तुत पञ्चद्वारावर्जन से लेकर तदालम्बनपर्यन्त ही वीथिचित्त है।

इस चक्षुर्द्वारवीथि द्वारा 'मैंने अमुक वस्तु देखी, वह नील है या वह पीत है या अमुकविध है' – इस प्रकार का विशिष्ट ज्ञान नही होता, अपितु केवल रूपालम्बनमात्र का ही ज्ञान होता है। इस वीथि के अनन्तर यथायोग्य भवङ्ग अन्तरित करके तदनुवर्तक मनोद्वारवीथियो के होने पर ही नील, पीत-आदि का ज्ञान हो पाता है[1]।

---

१ तु० – प० दी०, पृ० १३२-१३३।

जवनवार अतिमहद्-आलम्बनवीथि

४. जवनवार भी आगन्तुक भवङ्गपातवार एवं आगन्तुकभवङ्ग-अपातवार – इस प्रकार द्विविध होता है। उनमें से 'आगन्तुकभवङ्ग-अपातवार अतिमहद्-आलम्बन चक्षुर्द्वारवीथि की उत्पत्ति –

रूपालम्बन एवं चक्षु प्रसाद – दोनो के युगपत् अभिनिपात (= प्रादुर्भाव) से लेकर १ वार अतीतभवङ्ग होने के अनन्तर चक्षु प्रसाद में रूपालम्बन का प्रादुर्भाव होने से भवङ्गचलन, भवङ्गोपच्छेद, पञ्चद्वारावर्जन, चक्षुर्विज्ञान, सम्पटिच्छन, सन्तीरण, वोट्ठपन एव ७ वार जवन होकर २ वार भवङ्गपात होने पर रूपालम्बन एवं चक्षु.प्रसाद दोनों की १७ चित्तक्षण (रूप की) आयु को पूर्ण करके द्वितीय भवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली वीथि 'जवनवार अतिमहद्-आलम्बन चक्षुर्द्वारवीथि' कहलाती है।

आगन्तुकभवङ्गपातवार अतिमहद्-आलम्बन चक्षुर्द्वारवीथि की उत्पत्ति–

सौमनस्यसहगत प्रतिसन्धि लेनेवाले तैर्थिक-आदि पुद्गलो की सन्तान में भगवान् बुद्ध के रूप-आदि अति-इष्ट अतिमहद्-आलम्बन का प्रादुर्भाव होनेपर, रूपालम्बन एव चक्षु.प्रसाद – दोनो के युगपत् अभिनिपात से लेकर १ वार अतीतभवङ्ग होने के अनन्तर चक्षु.प्रसाद में रूपालम्बन का प्रादुर्भाव-होने से भवङ्गचलन, भवङ्गोपच्छेद, पञ्चद्वारावर्जन, चक्षुर्विज्ञान, सम्पटिच्छन, सन्तीरण, वोट्ठपन, ७ वार द्वेषजवन, तदनन्तर १ वार आगन्तुक भवङ्ग, तत्पश्चात् १ वार मूलभवङ्ग का पात होने पर रूपालम्बन एवं चक्षु.प्रसाद – दोनो की १७ चित्तक्षण (रूप की) आयु पूर्ण कर प्रथम मूलभवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली वीथि 'आगन्तुकभवङ्गपातवार अतिमहद्-आलम्बनवीथि' कहलाती है।

जवनवार
अतिमहद्-आलम्बनवीथि

४. इस वीथि मे तदालम्बनवार की भाँति २ वार तदालम्बन न होनामात्र ही विशेष है। तथा –

"कामे जवनसत्तालम्बनान नियमे सति।
विभूतेतिमहन्ते च तदारमणमीरित[1]॥

के अनुसार पहलेवाली (तदालम्बनवार) वीथि कामभूमि मे रहनेवाले सत्त्वो

---

१. द्र० – अभि० स० ४ : ३५, पृ० ३७३।

महद्-आलम्बनवीथि

५ यह महद्-आलम्वनवीथि भी वार-भेद से 'जवनवार' नाम से केवल एक प्रकार की ही होती है। २ वार अतीतभवङ्ग होने वाली प्रथम महद्-आलम्वनवीथि एवं ३ वार अतीतभवङ्ग होनेवाली द्वितीय महद्-आलम्वनवीथि – इस प्रकार महद्-आलम्वनवीथि दो प्रकार की होती है। इनमे से प्रत्येक वीथि आगन्तुकभवङ्ग-अपातवार एवं आगन्तुकभवङ्गपातवार – इस प्रकार २ प्रकार की होती है। इनमें से प्रथम 'महद्-आलम्बनवीथि' की उत्पत्ति –

रूपालम्बन एव चक्षु प्रसाद – दोनों के युगपत् अभिनिपात (प्रादुर्भाव) से लेकर २ वार अतीतभवङ्ग होने के अनन्तर चक्षु प्रसाद में रूपालम्वन का प्रादुर्भाव होने से भवङ्गचलन, भवङ्गोपच्छेद, पञ्चद्वारावर्जन, चक्षु-विज्ञान, सम्पटिच्छन, सन्तीरण, वोट्ठपन, ७ वार जवन होने के अनन्तर १ वार भवङ्गपात होने पर रूपालम्वन एव चक्षु प्रसाद – दोनो की १७ चित्तक्षण (रूप की) आयु पूर्ण करके प्रथम भवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली वीथि 'आगन्तुकभवङ्ग-अपातवार महद्-आलम्वन चक्षुर्द्वार-वीथि' कहलाती है।

की सन्तान मे ही होती है, किन्तु यह (जवनवार) वीथि कामभूमि एव रूपभूमि – दोनो भूमियो मे रहनेवाले सत्त्वो की सन्तान मे हो सकती है। आचार्य अनुरुद्ध द्वारा अपने ग्रन्थ मे अतिमहद्-आलम्बनवीथि को ही 'तदालम्बनवार' – कहा जाना उत्कृष्ट निर्देशवचन है।

अपिच – उपेक्षासहगतचित्त द्वारा प्रतिसन्धि लेनेवाले कामपुद्गल की सन्तान मे भगवान् बुद्ध के रूप-आदि अति-इष्ट अतिमहद् रूपालम्बन का आलम्बन करके यदि द्वेषजवन प्रवृत्त होते है तो 'अतिइट्ठे पन सोमनस्ससहगतानेव'[1] के अनुसार यदि तदालम्बन का पात होता है तो अति-इष्ट आलम्बन के अनुसार सौमनस्य तदालम्बन का पात ही होगा, किन्तु द्वेषजवन एव सौमनस्य तदालम्बन – इन दोनो का पूर्वापरभाव परस्पर विरुद्ध होने से तदालम्बन का पात न होकर इस जवनवार अतिमहद्-आलम्बनवीथि के अनन्तर प्रतिसन्धि के सदृश उपेक्षाभवङ्ग का पात ही होता है।

आगन्तुकभवङ्गपात अतिमहद्-आलम्बनवीथि

ती न द प च स ण वो ज ज ज ज ज ज ज आ भ
००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००

महद्-आलम्बनवीथि

५. आगन्तुक भवङ्गपातवीथि मे द्वेषजवन होते हैं। सप्तम जवन के अनन्तर आगन्तुक भवङ्गपात होता है और उस आगन्तुक भवङ्ग के भङ्ग के साथ रूपालम्बन

---

१. द्र० – अभि० स० ४.३५, पृ० ३७३।

एव चक्षुप्रसाद – दोनो अपनी आयु (१७ चित्तक्षण) पूर्ण हो जाने से निरुद्ध हो जाते है । ३ वार अतीतभवङ्ग अतीत होकर आगन्तुकभवङ्ग-अपातवीथि एव आगन्तुक-भवङ्गपातवीथि मे सप्तम जवन के भङ्ग के साथ रूपालम्बन एव चक्षुप्रसाद निरुद्ध हो जाते है। इन वीथियो को प्रथम महद्-आलम्बनवीथि के सदृश ही जानना चाहिये । और इन के प्रारूप को भी अतिमहद्-आलम्बनवीथि के आधार पर जान लेना चाहिये । यहाँ आगन्तुकभवङ्ग-अपात प्रथम महद्-आलम्बनवीथि एव आगन्तुक-भवङ्ग-अपात द्वितीय महद्-आलम्बनवीथि के प्रारूप दिखलाये जा रहे है।

आगन्तुकभवङ्ग-अपात प्रथम महद्-आलम्बनवीथि

भ 'ती ती न द प च स ण वो ज ज ज ज ज ज ज भ'

००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ०००

आगन्तुकभवङ्ग-अपात द्वितीय महद् आलम्बनवीथि

भ 'ती ती ती न द प च स ण वो ज ज ज ज ज ज ज'

००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ०००

इसी प्रकार श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा-आदि द्वारो मे भी दो दो वीथियाँ होती है । इस तरह महद्-आलम्बनवीथियाँ कुल १० होती है। यदि आगन्तुकभवङ्गपात-वीथि की भी गणना की जाये तो इनकी सख्या दुगुनी (२०) हो जायेगी।

आगन्तुकभवङ्गपात अतिमहद् एवं महद् आलम्बनवीथि में विशेष –

अतिमहद् आलम्बनवीथि मे यदि आलम्बन अति-इष्ट होता है तो द्वेषजवन के अनन्तर सौमनस्यतदालम्बन का पात न हो सकने के कारण आगन्तुकभवङ्गपात होना पडता है। यदि आलम्बन इष्ट-मध्यस्थ आलम्बन होता है तो कुशलविपाक उपेक्षा-तदालम्बन का पात होगा। यदि आलम्बन अनिष्ट आलम्बन होता है तो अकुशलविपाक उपेक्षातदालम्बन का पात होगा । इसलिये इष्ट-मध्यस्थ एव अनिष्ट आलम्बनो मे आगन्तुकभवङ्ग का पात आवश्यक नही होता ।

इस महद्-आलम्बनवीथि मे यदि सौमनस्य से प्रतिसन्धि लेनेवाला पुद्गल होता है तो द्वेषजवन के अनन्तर प्रतिसन्धि के सदृश सौमनस्यभवङ्ग का पात न हो सकने के कारण अति-इष्ट, इष्ट-मध्यस्थ एव अनिष्ट – इन प्रकारो से आलम्बन को उपलक्षित करना आवश्यक नही होता, क्योकि आलम्बन चाहे किसी भी प्रकार का हो, यदि द्वेषजवन जवित होते है तो उनके अनन्तर आगन्तुक भवङ्ग का पात अवश्य होगा, तदनन्तर मूल सौमनस्यभवङ्ग का पात हो सकता है।

इस प्रकार 'अतिमहद्-आलम्बन मे अति-इष्ट होने पर ही द्वेषजवन के अनन्तर आगन्तुकभवङ्ग का पात होना एव महद्-आलम्बन मे कोई भी आलम्बन होने पर द्वेषजवन के अनन्तर आगन्तुकभवङ्ग का पात होना' – यही इन दोनो वीथियो मे विशेष है ।

विशेष—ब्रह्माओ की सन्तान मे द्वेषजवन न होने के कारण उनमे आगन्तुक भवङ्गपात वीथियाँ नही हो सकती । परीत्त एव अतिपरीत्त आलम्बनवीथियो मे जवन

परीत्त-आलम्बनवीथि

६. परीत्त-आलम्बनवीथि भी 'वोट्ठपनवार' इस नाम से केवल एक प्रकार की होती है। यह चार वार अतीतभवङ्ग होनेवाली प्रथम परीत्त-आलम्बनवीथि, पाँच वार, छह वार, सात वार, आठ वार एवं नौ वार अतीत-भवङ्ग होनेवाली परीत्त-आलम्बनवीथि – इस प्रकार परीत्त-आलम्बनवीथियाँ कुल छह प्रकार की होती है। इनमे से प्रथम परीत्त-आलम्बनवीथि की उत्पत्ति –

रूपालम्बन एवं चक्षु प्रसाद – दोनो के युगपद् अभिनिपात (प्रादुर्भाव) से लेकर चार वार अतीतभवङ्ग होने के अनन्तर चक्षु प्रसाद मे रूपालम्बन का प्रादुर्भाव होने से भवङ्गचलन, भवङ्गोपच्छेद, पञ्चद्वारावर्जन, चक्षुर्विज्ञान, सम्पटिच्छन, सन्तीरण एव तीन वार वोट्ठपन होने के अनन्तर चार वार भवङ्ग होकर रूपालम्बन एवं चक्षु प्रसाद – दोनों की १७ चित्तक्षण (रूप की) आयु पूर्ण करके चतुर्थभवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली 'प्रथम परीत्त-आलम्बनवीथि' कहलाती है।

भी न होने के कारण उनके अनन्तर आगन्तुक भवङ्गपात नही हो सकता। आगन्तुक भवङ्गपात होने के कारणो को पहले (तदालम्बननियम मे) कहा जा चुका है।

परीत्त-आलम्बनवीथि

६. **शेष परीत्त-आलम्बन वीथियाँ** – ५ वार अतीतभवङ्ग होकर क्रमश तीन वार वोट्ठपन होने के अनन्तर तीन वार भवङ्ग होकर तृतीय भवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली 'द्वितीय परीत्त आलम्बनवीथि', ६ वार अतीतभवङ्ग अतीत होकर क्रमश. ३ वार वोट्ठपन होने के अनन्तर २ वार भवङ्ग होकर द्वितीय भवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली 'तृतीय परीत्त-आलम्बन वीथि', ७ वार अतीतभवङ्ग अतीत होकर क्रमश ३ वार वोट्ठपन होने के अनन्तर १ वार भवङ्ग होकर प्रथम भवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली 'चतुर्थ परीत्त-आलम्बन वीथि', ८ वार अतीतभवङ्ग अतीत होकर क्रमश ३ वार वोट्ठपन होकर तृतीय वोट्ठपन के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली 'पञ्चम परीत्त-आलम्बन वीथि' एव ६ वार अतीतभवङ्ग अतीत होकर क्रमश दो वार वोट्ठपन होकर द्वितीय वोट्ठपन के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली 'षष्ठ परीत्त-आलम्बनवीथि' – इस प्रकार एक एक द्वार मे ६ – ६ परीत्त-आलम्बनवीथियाँ होती है।

अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि

७ अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि 'मोघवार' नाम से केवल १ प्रकार की ही होती है। यह भी १० वार अतीतभवङ्ग होनेवाली 'प्रथम अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि' ११ वार, १२ वार, १३ वार, १४ वार एवं १५ वार अतीतभवङ्ग होनेवाली अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि – इस प्रकार अतिपरीत्त-आलम्बनवीथियाँ कुल ६ प्रकार की होती है। इनमे से प्रथम 'अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि' की उत्पत्ति –

रूपालम्वन एव चक्षु प्रसाद –दोनो के युगपद् अभिनिपात (=प्रादुर्भाव) से लेकर १० वार अतीतभवङ्ग होने के अनन्तर चक्षु प्रसाद मे रूपालम्बन का प्रादुर्भाव होने से दो वार भवङ्गचलन होने पर (तदनन्तर वीथिचित्तो का उत्पाद न होकर) पुन ५ वार भवङ्ग होकर रूपालम्वन एव चक्षु प्रसाद – दोनो की १७ चित्तक्षण (रूप की) आयु पूर्ण करके भवङ्गचलन के अनन्तरवर्त्ती पञ्चम भवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली 'प्रथम अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि' कहलाती है।

चक्षुर्द्वारिक परीत्त-आलम्बनवीथि

प्र० ती ती ती ती न द प च स ण वो वो वो भ भ भ भ

द्वि० ती ती ती ती ती न द प च स ण वो वो वो भ भ भ

तृ० ती ती ती ती ती ती न द प च स ण वो वो वो भ भ

च० ती ती ती ती ती ती ती न द प च स ण वो वो वो भ

प० ती ती ती ती ती ती ती ती न द प च स ण वो वो वो

ष० ती ती ती ती ती ती ती ती ती न द प च स ण वो वो

इसीप्रकार श्रोत्रद्वारिक, घ्राणद्वारिक, जिह्वाद्वारिक एव कायद्वारिक वीथियो के छह-छह प्रकारो को भी जानना चाहिये। इस प्रकार परीत्त-आलम्बन वीथियाँ ३० होती है।

अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि

७. शेष अतिपरीत्त-आलम्बनवीथियाँ – ११ वार अतीतभवङ्ग अतीत होने के अनन्तर चतुर्थ भवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होने वाली 'द्वितीय अतिपरीत्त-आलम्बन-वीथि', १२ वार अतीतभवङ्ग अतीत होने के अनन्तर तृतीय भवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली 'तृतीय अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि', १३ वार अतीतभवङ्ग अतीत होने

के अनन्तर द्वितीय भवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली 'चतुर्थ अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि', १४ वार अतीतभवङ्ग अतीत होने के अनन्तर प्रथम भवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली 'पञ्चम अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि' तथा १५ वार भवङ्ग अतीत होने के अनन्तर द्वितीय भवङ्गचलन के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली 'षष्ठ अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि' – इस प्रकार एक एक द्वार मे ६ – ६ अतिपरीत्त- आलम्बनवीथियाँ होती हैं। इस तरह अतिपरीत्त-आलम्बनवीथियाँ कुल ३० होती हैं।

अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि

प्र० ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती न न भ भ भ भ भ

द्वि० ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती न न भ भ भ भ

तृ० ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती न न भ भ भ

च० ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती न न भ भ

पं० ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती न न भ

ष० ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती ती न न

पञ्चद्वारवीथि की सङ्ख्या – परम्परा के अनुसार अतिमहद्-आलम्बनवीथि १, महद्-आलम्बनवीथि २, परीत-आलम्बनवीथि ६ एव अतिपरीत्त-आलम्बनवीथि ६ – इस प्रकार एक एक द्वार मे १५ – १५ वीथियाँ होने से कुल पाचो द्वारो मे होनेवाली पञ्चद्वारिक वीथियाँ ७५ होती हैं, किन्तु यहाँ 'तदालम्बन-अपात अतिमहद्-आलम्बन जवनवार' एव आचार्य अनुरुद्ध के 'अभिधम्मत्थसङ्गहो' मे प्रतिपादित 'आगन्तुक भवङ्गपात वार' को मिलाकर अतिमहद्-आलम्बनवीथि ३ तथा महद्-आलम्बनवीथि ४ होने से एक एक द्वार मे १९–१९ वीथियाँ हो जाती है, अत पाचो द्वारो मे कुल ९५ वीथियाँ होती हैं[1]।

चित्तस्वरूप, आलम्बन एवं वस्तु

चित्तस्वरूप – उपर्युक्त ९५ पञ्चद्वारवीथियो मे होनेवाले चित्त "सब्बथापि पञ्चद्वारे चतुपञ्ञास चित्तानि कामावचरानेव[2]" के अनुसार ५४ कामचित्त ही होते है। अर्थात् इन ५४ कामचित्तो मे से ही प्रतिवीथि चित्त यथासम्भव प्रवृत्त होते है। ध्यान एव मार्गवीथि न होने से यहाँ अर्पणाजवन नही होते।

आलम्बन – वीथिचित्तो के पूर्ववर्ती अतीतभवङ्ग, भवङ्गचलन एव भवङ्गोपच्छेद, तथा वीथिचित्तो के परवर्ती भवङ्ग – ये चित्त अतीत कर्म, कर्मनिमित्त एव गतिनिमित्त – इन तीनो मे से किसी एक का आलम्बन करते हैं[3]।

---

१. परमत्थसरूपभेदिनी (बर्मी टीका)।

२ द्र० – अभि० स० ३ ३७, पृ० २४४।

३. द्र० – अभि० स० ३ ५२, पृ० २५२।

भवङ्ग से अवशिष्ट पञ्चद्वारावर्जन से लेकर तदालम्बनपर्यन्त वीथिचित्त यथा-योग्य रूपालम्बन-आदि पाँच आलम्बनों का आलम्बन करते हैं[1]। अर्थात् चक्षुर्द्वारिक वीथि-चित्त १ वार या २ वार अतीतभवङ्ग अतीत होने के अनन्तर चक्षुर्द्वार में प्रादुर्भूत अनिरुद्ध प्रत्युत्पन्न रूपालम्बन का आलम्बन करता है। तथा श्रोत्रद्वारिक वीथिचित्त प्रत्युत्पन्न शब्दालम्बन का, घ्राणद्वारिक वीथिचित्त प्रत्युत्पन्न गन्धालम्बन का, जिह्वाद्वारिक वीथिचित्त प्रत्युत्पन्न रसालम्बन का एवं कायद्वारिक वीथिचित्त प्रत्युत्पन्न स्प्रष्टव्यालम्बन का आलम्बन करता है।

वस्तु – पञ्चवोकारभूमि में होनेवाले चित्त चक्षुष्-आदि ६ वस्तुरूपों में से किसी एक का आश्रय करके प्रवृत्त होते हैं। अर्थात् चक्षुर्विज्ञान-आदि चित्त स्वसम्बद्ध अपनी अपनी वस्तुओं का आश्रय करके उत्पन्न होते हैं[2]।

पञ्चविज्ञानों से अवशिष्ट अतीतभवङ्ग-आदि चित्तसमूह अपने पूर्व-पूर्व चित्तों के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का आश्रय करके प्रवृत्त होते हैं[3]। अर्थात् अतीतभवङ्ग अपने पूर्ववर्ती भवङ्ग के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का, भवङ्गचलन अपने पूर्ववर्ती अतीत-भवङ्ग के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का, भवङ्गोपच्छेद अपने पूर्ववर्ती भवङ्गचलन के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का, पञ्चद्वारावर्जन अपने पूर्ववर्ती भवङ्गोपच्छेद के साथ उत्पन्न हृदय-वस्तु का, (चक्षुर्विज्ञान चक्षुर्वस्तु का आश्रय करके प्रवृत्त होता है, अत उसे यहाँ छोड दिया गया है) सम्पटिच्छन अपने पूर्ववर्ती चक्षुर्विज्ञान के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का आश्रय करके प्रवृत्त होता है। (हृदयवस्तु कर्मजरूप होने से प्रतिसन्धिक्षण से लेकर प्रत्येक चित्त के उत्पाद, स्थिति एव भङ्ग में सर्वदा अनुगत होती रहती है, अत चक्षुर्विज्ञानचित्त के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का सम्पटिच्छन द्वारा आश्रय किया जा सकता है।) सन्तीरण अपने पूर्ववर्ती सम्पटिच्छन के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का, वोट्ठपन अपने पूर्ववर्ती सन्तीरण के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का, प्रथमजवन अपने पूर्ववर्ती वोट्ठपन के साथ उत्पन्न हृदय-वस्तु का, द्वितीयजवन अपने पूर्ववर्ती प्रथमजवन के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का, इसी प्रकार द्वितीय तदालम्बन के अनन्तर होनेवाला भवङ्ग अपने पूर्ववर्ती द्वितीय तदालम्बन के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का आश्रय करता है।

भूमि, पुद्गल एवं भवङ्ग

भूमि – १९-१९ प्रकार की घ्राणद्वारिक जिह्वाद्वारिक एव कायद्वारिक वीथियाँ, तदालम्बनपात चक्षुर्द्वारिक वीथि १, श्रोत्रद्वारिक वीथि १, द्वेषजवन होकर आगन्तुक भवङ्गपात

१ द्र० – अभि० स० ३ ५०, पृ० २४९।

२ द्र० – अभि० स० ३ ६८, पृ० २७७।
"यत्थ हि रूपारम्मण घट्टेति, त चक्खुवत्थु निस्साय तत्थ घट्टित रूपारम्मण आरब्भ चक्खुविञ्ञाण उप्पज्जति।" – प० दी०, पृ० १३२।

३ द्र० – अभि० स० ३ ६९, पृ० २७७।
"इतरानि पन आवज्जनादीनि मनोविञ्ञाणानि अत्तनो अत्तनो अतीतानन्तर-चित्तेन सहुप्पन्न हदयवत्थु निस्साय तमेवारम्मण आरब्भ उप्पज्जन्ति।" – प० दी०, पृ० १३२।

(अतिमहद्-आलम्बन, महद्-आलम्बन) चक्षुर्द्वारिक वीथियाँ ३, श्रोत्रद्वारिक ३ – इस प्रकार कुल ६५ वीथियाँ कामभूमि मे ही होती है। रूपभूमि मे ये वीथियाँ नही हो सकती[1]। रूपधर्मो के अभाववाली अरूपभूमि मे तो पञ्चद्वार- वीथियाँ कथमपि नही हो सकती।

१६ प्रकार की चक्षुर्द्वारिक वीथियो मे से तदालम्बन एव द्वेषजवन होनेवाली चार वीथियो से अवशिष्ट १५ चक्षुर्द्वारिक वीथियाँ तथा १५ श्रोत्रद्वारिक वीथियाँ – इस प्रकार ये ३० वीथियाँ कामभूमि एव रूपभूमि नामक २५ पञ्चवोकारभूमियो मे होती है। उपर्युक्त दोनो वचनो से यह निष्कर्ष निकलता है कि कामभूमि मे ६५ पञ्चद्वारवीथियाँ होती है तथा रूपभूमि मे तदालम्बन एव द्वेषजवन नही होनेवाली चक्षुर्द्वारिक एव श्रोत्रद्वारिक ३० वीथियाँ होती है – इस प्रकार जानना चाहिये।

पुद्गल – मार्गस्थ पुद्गल मे मार्गचित्त एकक्षण मात्र होने से उनमे इन पञ्चद्वार-वीथियो का उत्पन्न होना असम्भव है। ४ पृथग्जन एव ४ फ़लस्थ – इस प्रकार इन ८ पुद्गलो की सन्तान में ही ये पञ्चद्वारवीथियाँ हो सकती है। (अनागामी एव अर्हत् पुद्गलो की सन्तान मे द्वेष का प्रहाण कर दिया गया होने से उनमे आगन्तुक भवङ्ग-पातवीथियाँ भी नही हो सकती—यह विशेष ज्ञातव्य है।)

भवङ्ग – वीथिचित्तो के पूर्ववर्ती एव परवर्ती भवङ्गो की मीमासा आवश्यक होने से उस पर यहाँ विचार करना चाहिये। यदि कामपुद्गल की वीथि होती है तो १० काम-भवङ्गो का, एव रूपपुद्गल की वीथि होती है तो ५ रूपभवङ्गो का पात होता है। तथा १० कामभवङ्गो मे से भी यदि दुर्गति-अहेतुक पुद्गल होता है तो अकुशलविपाक उपेक्षासन्तीरण का, सुगति-अहेतुक पुद्गल होता है तो कुशलविपाक उपेक्षासन्तीरण का, द्विहेतुक पुद्गल होता है तो ४ ज्ञानविप्रयुक्त महाविपाक चित्तो मे से किसी एक का तथा कामत्रिहेतुक पुद्गल अथवा आर्यपुद्गल होता है तो ४ ज्ञानसम्प्रयुक्त महाविपाक-चित्तो मे से किसी एक का भवङ्ग के रूप मे पात होता है। रूपावचर प्रथमध्यानभूमि मे रहनेवाला पुद्गल होता है तो रूपावचरविपाक प्रथमध्यान का – इस प्रकार भूमि एव पुद्गलो के अनुसार मीमासा करके पूर्व एव पर भवङ्गो के पात को जानना चाहिये।

मन्दायुक-आदि का विचार

चक्षुःप्रसाद कर्मज रूप होने के कारण "खणे खणे समुट्ठापेति[2]" के अनुसार चित्त के प्रत्येक उत्पाद, स्थिति एव भङ्ग क्षण मे निरन्तर उत्पन्न होता रहता है। 'रूपधर्म स्थितिक्षण मे अत्यन्त बलवान् होते है' – ऐसा कहा गया होने से जब चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है तब स्थितिक्षण मे विद्यमान वह चक्षुःप्रसाद ४६ प्रकार का होता है। (रूप की आयु ५१ क्षुद्रक्षण होती है। इनमे से १ उत्पाद-क्षुद्रक्षण तथा एक भङ्ग-क्षुद्रक्षण को निकाल कर स्थितिक्षण मे ४६ क्षुद्रक्षण होते है)। यहाँ, उन ४६ प्रकार के चक्षुःप्रसादो मे

---

१ द्र० – अभि० स० ३ ६६, पृ० २७६, एव ४ · ५४, पृ० ३६३।

२. द्र० – अभि० स० ६ : ३१।

से – १ चक्षुर्विज्ञान किस चक्षु प्रसाद का आश्रय ग्रहण करता है ? २ 'चक्षु प्रसाद मे रूपालम्बन प्रादुर्भाव होता है' – इस प्रकार कहा गया होने से किस चक्षु प्रसाद मे रूपालम्बन का प्रादुर्भाव होता है ? ३ 'चक्षुर्द्वारवीथि' कहने मे कौन चक्षु प्रसाद द्वारकृत्य सम्पन्न करता है ? – इस प्रकार के कुछ प्रश्न उपस्थित होते है।

४९ प्रकार के चक्षु प्रसादो मे से सर्वप्रथम अतीत भवङ्ग के साथ उत्पन्न चक्षु-प्रसाद का चक्षुर्विज्ञान आश्रय करता है। उस प्रसाद मे ही चक्षुर्द्वारवीथि का आलम्बन-भूत रूपालम्बन प्रादुर्भूत होता है। वही चक्षु प्रसाद इस चक्षुर्द्वारवीथि मे द्वारकृत्य भी सम्पन्न करता है[1]—इस प्रकार आधुनिक आचार्य सङ्केत करते है। यहाँ पर हम उन्ही आधुनिक आचार्यो के मतानुसार मन्दायुक-आदि की मीमासा प्रस्तुत करते है।

चक्षुर्विज्ञान-आदि पञ्चविज्ञानो की आश्रयभूत वस्तु को चुनते समय मन्दायुक-आदि की मीमासा उपस्थित हो जाने के कारण, जिस समय पञ्चविज्ञान उत्पन्न होते है उस समय स्थितिक्षण मे विद्यमान वस्तुरूपो को ही चुनने के सम्बन्ध मे मीमासा की जायेगी। वे वस्तुरूप अतीतभवङ्ग के पूर्व तेरहवे भवङ्ग के भङ्गक्षण से लेकर पञ्चद्वारावर्जन के भङ्गक्षणपर्यन्त – इस बीच होनेवाले चित्त के प्रत्येक क्षण मे उत्पन्न वस्तु-रूप होते है। इसलिये तेरहवे भवङ्ग के भङ्ग से लेकर आवर्जन के भङ्गपर्यन्त एक एक क्षुद्रक्षण मे 'एक एक प्रकार' ऐसी गणना करके उसका ४९ प्रकार का होना जाना जायेगा। जब पञ्चविज्ञान उत्पन्न होता है तब ४९ प्रकार निरुद्ध न होकर स्थितिक्षण मे ही विद्यमान होते है।

जब पञ्चविज्ञान उत्पन्न होता है तब सहोत्पन्न वस्तुरूप, तेरहवे भवङ्ग के स्थितिक्षण मे उत्पन्न होकर पञ्चविज्ञान के उत्पादकाल मे निरुद्धयमान (निरुद्ध हो रहे) वस्तुरूप, निरुद्ध हुए पूर्व पूर्व वस्तुरूप, एव अनुत्पन्न (अनागत) वस्तुरूप पञ्च-विज्ञान के आश्रय होते है – इसमे किसी भी प्रकार का सन्देह न होने के कारण इस विषय मे मन्दायुक-आदि की मीमासा आवश्यक नही होती। तथा सभी वस्तुरूप १७ चित्तक्षण के बराबर आयुवाले होने के कारण उनमे भी स्वभावत मन्दायुक, मध्यमायुक एवं अमन्दायुक – इस प्रकार का भेद नही होता। इन मन्दायुक-आदि भेदो का विभाजन (वर्गीकरण) तो उन उन वीथियो के आलम्बनो की आयु की अपेक्षा करके ही किया जाता है।

---

१. द्र० – प० दी०, पृ० १३२।

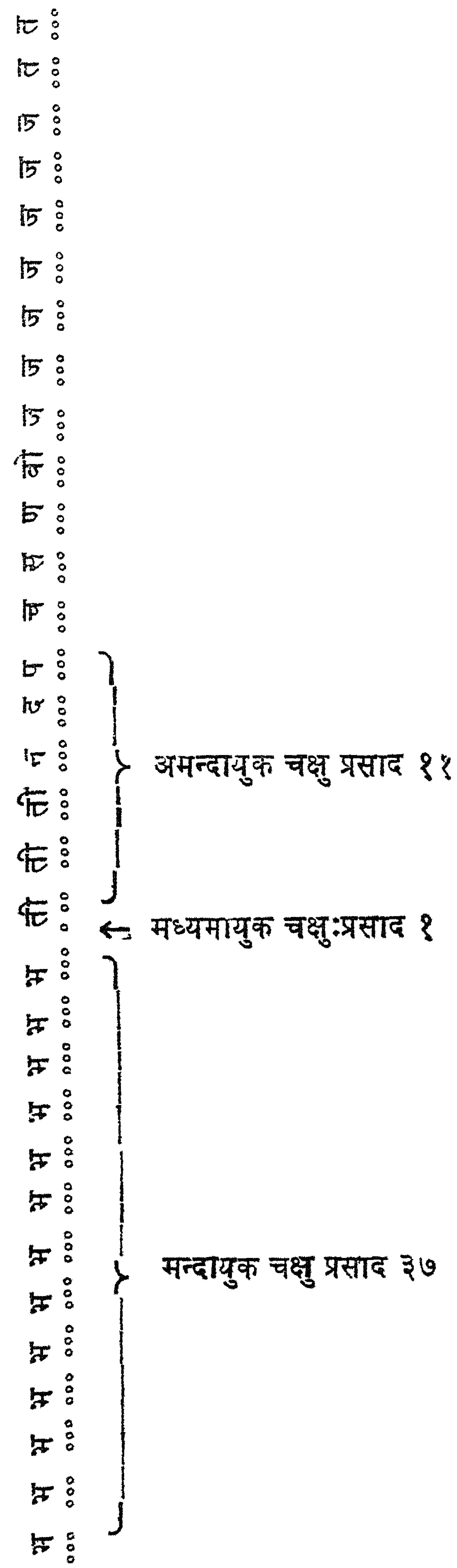

अतीतभवङ्ग से पूर्वक्षणो की गणना करने पर तेरहवे भवङ्ग के भङ्गक्षण से लेकर प्रथमभवङ्ग के भङ्गक्षणपर्यन्त प्रत्येक क्षण मे उत्पन्न वस्तुरूप इस चक्षुर्द्वारिक वीथि के आलम्बनभूत रूपालम्बन के निरोध के पहले ही निरुद्ध हो जाने के कारण 'मन्द आयु येस ति मन्दायुकानि' के अनुसार 'मन्दायुक' कहलाते है।

अतीतभवङ्ग के पूर्ववर्ती प्रथम भवङ्ग के भङ्ग के साथ उत्पन्न वस्तुरूप द्वितीय-

तदालम्बन के स्थितिक्षण मे निरुद्ध हो जाते है, अत रूपालम्बन के निरोध से पहले लगभग एकक्षणमात्र कम आयुवाले होते है, प्रथम भवङ्ग की स्थिति के साथ उत्पन्न वस्तुरूप-आदि लगभग दो क्षणमात्र कम आयुवाले होते है – इस प्रकार क्रम से जानना चाहिये। तेरहवे भवङ्ग के भङ्ग के साथ उत्पन्न वस्तुरूप चक्षुर्विज्ञान के स्थिति-क्षण मे निरुद्ध हो जाता है, अत यह रूपालम्बन के निरोध से ३७ क्षण पूर्व निरुद्ध हो जाता है। इस प्रकार इस वीथि के सम्बन्ध मे रूपालम्बन की अपेक्षा करके रूपालम्बन से कम आयुवाला होने के कारण तेरहवे भवङ्ग के भङ्ग से लेकर प्रथम भवङ्ग के भङ्गपर्यन्त – इस बीच उत्पन्न ३७ प्रसाद वस्तुरूपसमूह 'मन्दायुक चक्षु प्रसाद' कहा जाता है।

अतीतभवङ्ग के स्थितिक्षण से लेकर पञ्चद्वारावर्जन के भङ्गक्षणपर्यन्त इस बीच प्रत्येक क्षण मे उत्पन्न ११ प्रसाद वस्तुरूप रूपालम्बन के निरोध के बाद भी निरुद्ध होने से 'अमन्दायुक' कहलाते है। अर्थात् अतीतभवङ्ग के स्थितिक्षण मे उत्पन्न वस्तुरूप द्वितीय तदालम्बन के अनन्तर प्रथम भवङ्ग के उत्पादक्षण मे निरुद्ध होने से इस वीथि के रूपालम्बन से अधिक आयुवाला होता है – ऐसा जानना चाहिये। इसी प्रकार वस्तुरूपो का विचार करना चाहिये।

अतीतभवङ्ग के साथ उत्पन्न प्रसाद वस्तुरूप इस वीथि के रूपालम्बन के साथ निरुद्ध होता है, अत उसकी आयु रूपालम्बन से न तो अधिक होती है और न कम होती है; अपितु बराबर होती है, अत वह 'मध्यमायुक' कहलाता है। जैसे कहा भी गया है –

"सत्ततिस मन्दायुका एक व मज्झिम मत ।
अमन्देकादसा चेति विञ्ञातब्बा विभाविना[1] ॥"

इन ४६ प्रकार के प्रसादरूपो मे से यह मध्यमायुक प्रसाद ही मध्यमा प्रतिपदा होने से चक्षुर्द्वारिकवीथि मे चक्षुर्विज्ञान का एव श्रोत्रद्वारिक-आदि वीथियो मे श्रोत्रविज्ञान-आदि विज्ञानो का आश्रयभूत होने के लिए उपयुक्त होता है।

रूपालम्बन-आदि पाँच आलम्बन इस मध्यमायुक चक्षु प्रसाद मे ही प्रादुर्भूत होते है और वीथिचित्तो की उत्पत्ति के लिये मूलभूत द्वारकृत्य को भी यही मध्यमायुक चक्षु प्रसाद सिद्ध करता है—इस प्रकार कुछ आचार्यो का कथन है। (हम अपना विचार नि.श्रय-प्रत्यय की व्याख्या मे कहेंगे।)

इन मन्दायुक-आदि का एक बार अतीतभवङ्ग अतीत होनेवाली वीथियो से ही मुख्य रूप से सम्बन्ध है। २ वार, ३ वार एव ४ वार-आदि अतीतभवङ्ग अतीत होने-वाली महद्-आलम्बन एव परीत्त-आलम्बन वीथियो मे यदि अतीतभवङ्ग एक वार अधिक अतीत होता है तो मन्दायुक मे ३ क्षण कम हो जाते है तथा अमन्दायुक मे ३ क्षण

१. तु० – मणि०, प्र० भा०, पृ० ३३५ ।

अधिक हो जाते हैं। इस प्रकार जिस वीथि में अतीतभवङ्ग जितने अधिक अतीत होते हैं उतने क्षण मन्दायुक में कम तथा अमन्दायुक में अधिक हो जाते हैं। मध्यमायुक प्रसाद सर्वप्रथम अतीतभवङ्ग के साथ उत्पन्न प्रसाद ही है।

षष्ठ परीत्त-आलम्बनवीथि

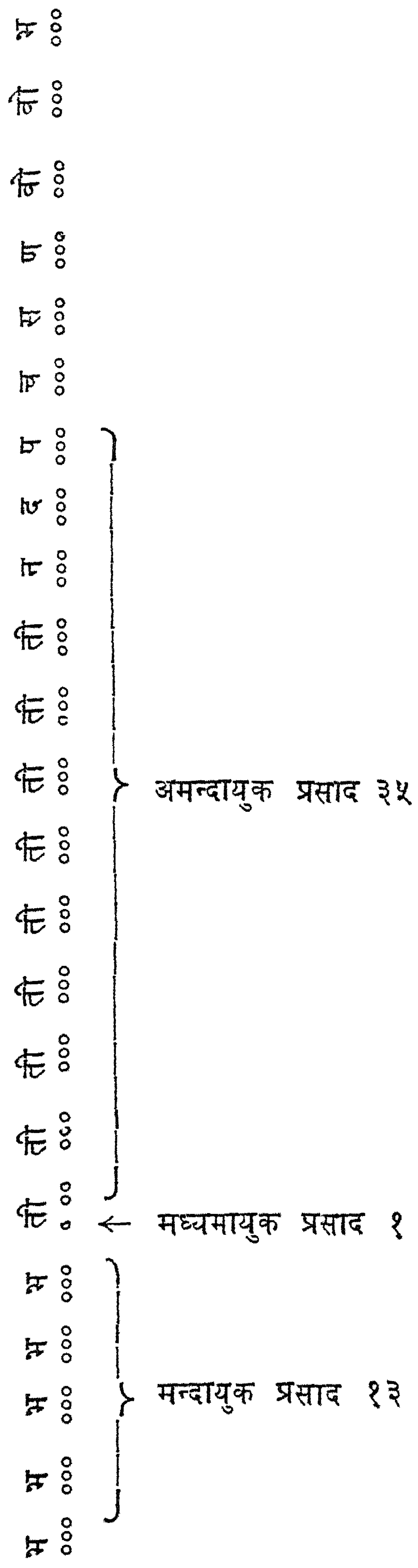

इसी प्रकार अन्य परीत्त-आलम्बन वीथियों को भी जानना चाहिये। अतिपरीत्त-

कामजवनवार
मनोद्वारवीथि

८. मनोद्वारवीथि भी कामजवनवार एव अर्पणाजवनवार भेद से द्विविध होती है। उनमे से कामजवनवारवीथि भी शुद्ध मनोद्वारवीथि एव तदनुवर्तक मनोद्वारवीथि – इस प्रकार द्विविध होती है। उनमे से शुद्धमनोद्वारवीथि भी तदालम्बनवार एव जवनवार भेद से दो प्रकार की होती है।

तदालम्बनवार

९ कामजवनवार मनोद्वारवीथियो मे से तदालम्बनवार मनोद्वारवीथि 'विभूत-आलम्बन' – इस नाम से केवल एक प्रकार की ही होती है। किन्तु आलम्बनो मे कुछ प्रत्युत्पन्न निष्पन्नरूप आलम्बन एव अतीत-अनागत निष्पन्न-रूप आलम्बन अथवा त्रैकालिक कामचित्त-चैतसिक आलम्बन – इस प्रकार आल-म्बन द्विविध होते है। इनमे से प्रत्युत्पन्न निष्पन्न रूप भी १ वार अतीतभवङ्ग अतीत होने के अनन्तर प्रादुर्भूत आलम्बन, २ वार, ३ वार, ४ वार एव

आलम्बनवीथियो मे चक्षुर्विज्ञानमात्र की भी उत्पत्ति न होने से चक्षुर्विज्ञान के आश्रयभूत प्रसाद का विचार करना आवश्यक नही होता[1]।

पञ्चद्वारवीथि समाप्त।

कामजवनवार
मनोद्वारवीथि

८ **शुद्ध एवं तदनुवर्तक** – पञ्चद्वार की अनुगामिनी न होकर केवल मनोद्वार मे ही प्रादुर्भूत आलम्बनो का आलम्बन करनेवाली वीथि 'शुद्ध मनोद्वारवीथि' कहलाती है। इसे 'शुद्धक मनोद्वारवीथि' भी कहते है।

जिस प्रकार घण्टी बजाते समय प्रथम अभिघातजन्य शब्द उत्पन्न होने के अनन्तर अनुरव के रूप मे कुछ क्षणपर्यन्त अविच्छिन्न रूप से अनुगुञ्जन होता है, ठीक उसी प्रकार एक (किसी) प्रकार की पञ्चद्वारवीथि होने के अनन्तर उस वीथि के ही आलम्बन का आलम्बन करके अनेक प्रकार की मनोद्वारवीथियाँ भी आलम्बन की शक्ति के अनुसार अभिप्रवृत्त होती हैं, इन्हे ही 'तदनुवर्तक मनोद्वारवीथि' कहते हैं।

तदालम्बनवार

९ इस वार मे "विभूतेतिमहन्ते च तदारमणमीरित[2]" के के अनुसार विभूतालम्बन एकविध ही होता है। इस तदालम्बन के लिये १७ चित्तक्षण आयुवाले आलम्बनो को

---

१ सङ्क्षेप०, पृ० २४८, २४९।

२. द्र० – अभि० स० ४ ३५, पृ० ३७३।

५ वार अतीतभवङ्ग अतीत होने के अनन्तर प्रादुर्भूत आलम्बन – इस प्रकार ५ प्रकार के होते हैं।

इनमें से प्रत्युत्पन्न निष्पन्न रूपधर्म उत्पाद के अनन्तर १ वार अतीत-भवङ्ग अतीत होने के अनन्तर यदि मनोद्वार में विभूततया प्रादुर्भूत होता है तो भवङ्गचलन, भवङ्गोपच्छेद, मनोद्वारावर्जन, ७ वार जवन एवं २ वार तदा-लम्बन होने के अनन्तर ४ वार भवङ्ग होने पर १८ निष्पन्न रूपों की १७ चित्तक्षण आयु परिपूर्ण हो जाने से चतुर्थ भवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली वीथि 'तदालम्बनवार प्रथम विभूतालम्बन वीथि' कहलाती है। इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ एवं पञ्चम वीथि के भेद से विभूत-आलम्बनवीथियाँ पाँच प्रकार की होती हैं।

चुनते समय आचार्यपरम्परा विज्ञप्तिद्वय एवं लक्षणरूप ४ का वर्जन करके अवशिष्ट २२ रूपों को ही चुनती है, किन्तु सभी अनिष्पन्नरूप मुख्यतया परमार्थ नहीं होते[1] तथा तदालम्बन कृत्य करनेवाले महाविपाक एवं सन्तीरण मुख्य परमार्थ-धर्मों का ही आलम्बन करते हैं, अतः हम यहाँ १८ निष्पन्न रूपों का ही चुनाव करते हैं। तथा तदालम्बन द्वारा काम-आलम्बनों का ही एकान्तरूप से आलम्बन किया जाने के कारण हम अतीत अनागत निष्पन्नरूपों एवं तीनों कालों में यथायोग्य होनेवाले त्रैकालिक काम चित्त-चैतसिकों को आलम्बन करनेवाली षष्ठ विभूत-आलम्बनवीथि का भी इस तदालम्बनवार में प्रतिपादन करते हैं।

द्वितीय तदालम्बनवीथि-आदि – प्रत्युत्पन्न निष्पन्न रूपधर्म उत्पाद के अनन्तर दो वार अतीतभवङ्ग अतीत होने के अनन्तर यदि मनोद्वार में विभूततया प्रादुर्भूत होता है तो भवङ्गचलन, भवङ्गोपच्छेद, मनोद्वारावर्जन, ७ वार जवन एवं २ वार तदालम्बन होने के अनन्तर ३ वार भवङ्ग होने पर १८ निष्पन्न रूपों की १७ चित्तक्षण आयु परिपूर्ण हो जाने से तृतीय भवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली वीथि 'तदा-लम्बनवार द्वितीय विभूत-आलम्बनवीथि' कहलाती है। इस वीथि के आधार पर तृतीय, चतुर्थ एवं पञ्चम विभूतआलम्बन वीथियों को भी जान लेना चाहिये।

अतीत-अनागत निष्पन्न रूप एवं त्रैकालिक काम चित्त-चैतसिकों में से किसी एक के मनोद्वार में विभूततया प्रादुर्भूत होने पर प्रत्युत्पन्न रूपालम्बन न होने से अतीतभवङ्ग-पात आवश्यक नहीं होता। तथा १७ चित्तक्षण आयु का विचार करने योग्य आलम्बन न होने से किस चित्त के भङ्ग के साथ उसका निरोध होता है – इस प्रकार आलम्बन के निरोधक्षण का निर्देश करना भी आवश्यक नहीं होता। अतीत-अनागत निष्पन्न रूप एवं काम चित्त-चैतसिकों में से किसी एक के मनोद्वार में विभूततया प्रादुर्भूत होने के अनन्तर अतीतभवङ्गपात न होकर भवङ्गचलन, भवङ्गोपच्छेद, मनोद्वारावर्जन, ७ वार जवन एवं २ वार तदालम्बन होकर यथासम्भव भवङ्ग होते हैं।

---

१. द्र० – अभि० स० ६ : ११, १८।

जवनवार प्रत्युत्पन्न निष्पन्नरूपालम्बन

१० जवनवार भी विभूत-आलम्बन एव अविभूत-आलम्बन—इस भेद से द्विविध होता है । इनमे से विभूत-आलम्बन भी प्रत्युत्पन्न निष्पन्नरूपालम्बन एव अवशिष्ट आलम्बन भेद से दो प्रकार का होता है । प्रत्युत्पन्न निष्पन्न-रूपालम्बन भी एक वार अतीतभवङ्ग अतीत होने पर प्रादुर्भूत होनेवाला आलम्बन, २ वार, ३ वार, ४ वार, ५ वार, ६ वार, एव ७ वार अतीतभवङ्ग अतीत होने पर प्रादुर्भूत होनेवाला आलम्बन – इस तरह ७ प्रकार का होता है । इनमे से १८ प्रत्युत्पन्न निष्पन्न रूप यदि अपने उत्पाद के अनन्तर १ वार अतीतभवङ्ग अतीत होने पर मनोद्वार मे विभूततया प्रादुर्भूत होते है तो भवङ्गचलन, भवङ्गोपच्छेद, मनोद्वारावर्जन एव ७ वार जवन होने के अनन्तर ६ वार भवङ्ग होने पर छठवे भवङ्ग के भङ्गक्षण मे १८ निष्पन्न रूपो की १७ चित्तक्षण आयु परिपूर्ण हो जाने से षष्ठ भवङ्ग के भङ्ग के साथ निरुद्ध होनेवाली वीथि 'जवनवार प्रथम विभूत-आलम्बन वीथि' कहलाती है । इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ एव सप्तम जवनवार-वीथियाँ होती है । तथा जब १८ प्रत्युत्पन्न निष्पन्न रूप मनोद्वार मे अविभूत-तया प्रादुर्भूत होते है तब इसी तरह ७ प्रकार की अविभूत-आलम्बनवीथियाँ भी यथायोग्य होती है ।

तदालम्बनवार विभूत-आलम्बनवीथि

प्र० ती न द म ज ज ज ज ज ज ज त त भ भ भ भ

द्वि० ती ती न द म ज ज ज ज ज ज ज त त भ भ भ

तृ० ती ती ती न द म ज ज ज ज ज ज ज त त भ भ

च० ती ती ती ती न द म ज ज ज ज ज ज ज त त भ

प० ती ती ती ती ती न द म ज ज ज ज ज ज ज त त

ष० भ 'न द म ज ज ज ज ज ज ज त त' भ

जवनवार प्रत्युत्पन्न निष्पन्नरूपालम्बन

१० प्रत्युत्पन्न निष्पन्न रूपो के प्रादुर्भूत होने मे यदि वे ब्रह्माओ की सन्तान मे प्रादुर्भूत होते है तो उनके विभूत-आलम्बन होने पर भी तदालम्बन का पात नही होता । काम-

प्रत्युत्पन्न निष्पन्न रूपों से अवशिष्ट आलम्बन

११. प्रत्युत्पन्न निष्पन्न रूपो से अवशिष्ट चित्त, चैतसिक, रूप, निर्वाण एव प्रज्ञप्ति मे से किसी एक के मनोद्वार मे विभूततया प्रादुर्भूत होने पर भवङ्ग-

भूमि के सत्त्वो की सन्तान मे प्रादुर्भूत होने पर भी किसी एक कारण से तदालम्बन-अपात विभूत-आलम्बन वीथि भी हो सकती है[1]। इसलिये जवनवार में विभूत-आलम्बन एव अविभूत-आलम्बन – इस तरह दो प्रकार के आलम्बन हो सकते है। प्रत्युत्पन्न निष्पन्नरूपधर्म १७ चित्तक्षण आयुवाले होने के कारण 'किस क्षण मे उनका प्रादुर्भाव होता है और किस चित्त के भङ्ग के साथ उनका निरोध होता है' – ऐसा नियम किया जा सकता है, और इसी कारण इस वीथि मे अनेक अतीतभवङ्ग अतीत होते है, किन्तु ७ वार जवन होने तक प्रवृत्त होनेवाली यह वीथि होती है अत अतीतभवङ्ग ७ वार से अधिक अतीत नही हो सकते। इसलिये प्रत्युत्पन्न निष्पन्न रूपो को आलम्बन करनेवाली इन जवनवारवीथियो का ७ विभूत-आलम्बनवीथि एव ७ अविभूत-आलम्बनवीथि – इस प्रकार विभाजन किया जा सकता है।

इन वीथियो के प्रारूप को तदालम्बनवार के अनुसार जान लेना चाहिये। यहाँ २ वार तदालम्बन न होकर यथासम्भव भवङ्ग ही होते है – इतना विशेष है।

यहाँ प्रश्न होता है कि जिन आलम्बनो का, अतीतभवङ्ग अनेक वार अतीत होने पर प्रादुर्भाव होता है, क्या उन्हे पञ्चद्वारवीथि के आलम्बनो की तरह दुर्बल आलम्बन (या अविभूत-आलम्बन) कहा जा सकता है? तथा क्यो विभूत-आलम्बन एव अविभूत-आलम्बन – दोनो मे अतीतभवङ्ग बराबर बराबर ही होते है?

उत्तर – मनोद्वारवीथि मे आलम्बन की शक्ति प्रधान नही होती, अपितु चित्त की शक्ति प्रधान होती है। अनेक अतीतभवङ्ग अतीत होने के बाद प्रादुर्भाव होने पर भी यदि चित्त की शक्ति तीक्ष्ण (प्रबल) होती है तो उसका विभूत-आलम्बन के रूप मे ही प्रादुर्भाव होगा। योगी जब प्रत्युत्पन्न पृथ्वीधातु का आलम्बन करके कम्मट्ठान-भावना आरब्ध करता है तब जबतक कम्मट्ठान-भावना प्रबल नही होती तबतक अतीत-भवङ्ग २ वार या ३ वार अतीत होकर प्रादुर्भूत होनेवाला आलम्बन भी अविभूत-आलम्बन के रूप मे ही प्रादुर्भूत होता है। कम्मट्ठान-भावना करनेवाला चित्त जब अत्यन्त अभ्यस्त हो जाता है तब वही आलम्बन विभूत-आलम्बन के रूप मे प्रादुर्भूत होता है। इस प्रकार प्रादुर्भूत होने मे कभी कभी अतीतभवङ्ग एक वार अतीत होने पर प्रादुर्भाव होता है, कभी कभी २ वार, ३ वार-आदि यथायोग्य वार अतीत होने के अनन्तर प्रादुर्भाव होता है। इस कारण विभूत-आलम्बन एव अविभूत-आलम्बन इस तरह दोनो प्रकार के आलम्बनो मे अतीतभवङ्ग बराबर बराबर हो सकते है।

प्रत्युत्पन्न निष्पन्न रूपों से अवशिष्ट आलम्बन

११ अतीत-अनागत-प्रत्युत्पन्न चित्त-चैतसिक, अतीत-अनागत निष्पन्न रूप, अनिष्पन्न रूप, निर्वाण एव प्रज्ञप्ति – इन आलम्बनो मे से किसी का प्रादुर्भाव होने पर अतीत-

१ द्र० – अभि० स० ४.३५ की व्याख्या, पृ० ३७३।

चलन, भवङ्गोपच्छेद, मनोद्वारावर्जन एवं ७ वार जवन नामक विभूत-आलम्बन-वीथि तथा निर्वाण से अवशिष्ट इन आलम्बनो मे से किसी एक के अविभूततया प्रादुर्भूत होने पर भवङ्गचलन, भवङ्गोपच्छेद, मनोद्वारावर्जन एवं ७ वार जवन नामक अविभूत-आलम्बन वीथि होती है।

अव्याकृतवार स्वप्नवीथि

१२ स्वप्नकाल में 'देखने की तरह, सुनने की तरह'–आदि अनुभूति होते समय किसी एक अविभूत-आलम्बन का प्रादुर्भाव होने पर भवङ्गचलन, भवङ्गोपच्छेद एवं २-३ वार मनोद्वारावर्जन होने के अनन्तर यथायोग्य भवङ्ग होते है।

भवङ्गपात नही होता तथा 'किस चित्त के साथ निरोध होता है' – ऐसा भी नही कहा जा सकता, इसलिये वीथि का भेद न होकर यदि आलम्बन का विभूततया प्रादुर्भाव होता है तो विभूत-आलम्बन तथा अविभूततया प्रादुर्भाव होता है तो अविभूत-आलम्बन – इस तरह आलम्बनभेद से दो प्रकार होते हैं।

इन वीथियो मे '७ वारजवन' – यह वचन भी जवन के स्वभाव की अपेक्षा करके ही कहा गया है, क्योकि यमक-प्रातिहार्यकाल-आदि मे ध्यानाङ्गो का प्रत्यवेक्षण करनेवाली वीथियाँ 'जवनवार मनोद्वारवीथियाँ' ही होती है फिर भी उस काल मे जवन ४ या ५ वार ही प्रवृत्त होते हैं।

अपि च – इस जवनवार मे आगन्तुक भवङ्गपात विभूत-आलम्बन एव अविभूत-आलम्बन वीथियाँ भी हो सकती है। इन वीथियो के आलम्बन के साथ द्वेषजवन के विषय मे हम 'तदालम्बननियम' की व्याख्या के प्रसङ्ग मे कह चुके है[1]।

अव्याकृतवार स्वप्नवीथि

१२ सुषुप्तिकाल मे वीथिचित्त बिलकुल नही होते, केवल भवङ्ग ही होते हैं। सुषुप्तिकाल मे एव धातुक्षोभ (रक्त, पित्त, वायु – आदि की विकृति) – आदि के काल मे अभिनव आलम्बन के प्रादुर्भूत होने पर प्रायः स्वप्न होते हैं। इस तरह स्वप्न होने पर अङ्ग-प्रत्यङ्गो का सञ्चालन एव वार्तालाप- आदि प्राय कायविज्ञप्ति के साथ ही होगे और उन विज्ञप्तियो को कामजवन एव अभिज्ञा ही उत्पन्न करते हैं, अत तदालम्बनवार एव जवनवार स्वप्नवीथियाँ भी हो सकती हैं। इस प्रकार की स्वप्नवीथियाँ पूर्वोक्त वीथियो के अन्तर्गत ही समाविष्ट होती हैं।

इन अव्याकृतवार स्वप्नवीथियो मे जवनचित्त बिलकुल नही होते, सभी चित्त अव्याकृत चित्त होते है। इसीलिये "सुपिनेनेव 'दिट्ठ विय मे, सुत विय मे' ति कथनकाले पि अव्याकतो येव[2]" – ऐसा कहा गया है। 'मूलटीका' मे यद्यपि मनोद्वारावर्जन का

---

१ द्र० – अभि० स०, पृ० ३६६।

२. विभ० अ०, पृ० ४११।

२–३ वार होना – कहा गया है, फिर भी मूलटीकाचार्य इस अव्याकृतवीथि को पसन्द नही करते[1]।

पूर्वकथित क्रम के अनुसार प्रत्युत्पन्न निष्पन्न रूप का आलम्बन करनेवाली तदालम्बनवार विभूतालम्बनवीथि ५, अतीत-अनागत निष्पन्न रूप एव त्रैकालिक चित्त-चैतसिको का आलम्बन करनेवाली तदालम्बनवार विभूत-आलम्बनवीथि १, उसी तरह प्रत्युत्पन्न निष्पन्न रूप का आलम्बन करनेवाली जवनवार विभूत-आलम्बनवीथि ७, अविभूत-आलम्बनवीथि ७ तथा अवशिष्ट आलम्बनो का आलम्बन करनेवाली विभूत-आलम्बन वीथि, अविभूत-आलम्बनवीथि एव अव्याकृतवीथि – इस प्रकार शुद्ध मनोद्वारवीथि कुल २३ होती है।

चित्तस्वरूप आलम्बन एवं वस्तु

चित्तस्वरूप – कामजवनवार होने के नाते इन २३ मनोद्वारवीथियो मे होनेवाले चित्त द्विपञ्चविज्ञान १० एव मनोधातु ३=१३ चित्तवर्जित ४१ कामचित्त है। ये "वित्थारेन पनेत्थेकचत्तालीस विभावये[2]" के अनुसार होते है।

आलम्बन – तदालम्बनपात विभूत-आलम्बनवीथि मे भवङ्ग से अवशिष्ट चित्त प्रत्युत्पन्न निष्पन्न रूपो का आलम्बन करते है तथा प्रत्युत्पन्न-अतीत-अनागत (त्रैकालिक) काम चित्त-चैतसिक एव अतीत-अनागत निष्पन्न रूपो का भी आलम्बन करते है।

शेष जवनवार विभूत-आलम्बनवीथिचित्त एव अविभूत-आलम्बनवीथिचित्त कोई विशेष (भेद) न करके चित्त, चैतसिक, रूप एव प्रज्ञप्ति – सभी का आलम्बन करते है। ये आलम्बन यदि विभूततया प्रादुर्भूत होते है तो विभूत-आलम्बनवीथि के, यदि अविभूततया प्रादुर्भूत होते है तो अविभूत-आलम्बनवीथि के आलम्बन होते है – इतना मात्र विशेष होता है तथा आलम्बन यदि प्रत्युत्पन्न निष्पन्न रूप होते है तो अतीतभवङ्ग का पात होता है। शेष आलम्बनो मे अतीत भवङ्गपात नही होता – यह भी जान लेना चाहिये। निर्वाण सर्वदा विभूतालम्बनवीथि का ही आलम्बन होता है।

वस्तु – इन वीथियो की आश्रयवस्तु पञ्चद्वारवीथि की आश्रयवस्तु की भाँति ही होती है।

भूमि एवं पुद्गल

तदालम्बनपात विभूत-आलम्बनवीथियाँ कामभूमि मे ही होती है। शेष जवनवार विभूत-आलम्बन वीथियाँ एव अविभूत-आलम्बनवीथियाँ असञ्ज्ञिभूमिवर्जित ३० भूमियो मे यथायोग्य होती है।

पुद्गल के रूप मे ४ पृथग्जन एव ४ फलस्थ – इन ८ पुद्गलो की सन्तान मे ही ये वीथियाँ होती है।

---

१ द्र० – विभ० मू० टी०, पृ० २०१।

२ अभि० स० ४ : २१, पृ० ३४२।

तदनुवर्तक मनोद्वारवीथि

१३ तदनुवर्तक मनोद्वारवीथि भी चक्षुर्द्वारवीथि का अनुवर्तन करनेवाली वीथि, श्रोत्रद्वारवीथि का, घ्राणद्वारवीथि का, जिह्वाद्वारवीथि का एव कायद्वार-वीथि का अनुवर्तन करनेवाली वीथि – इस प्रकार पाँच प्रकार की होती है।

[अव्याकृतवार स्वप्नवीथि मनुष्यभूमि मे पृथग्जन, स्रोतापन्न एव सकृदागामी मे ही हो सकती है। अनागामी, अर्हत् एव देवभूमियो के ब्रह्माओ मे स्वप्न नही होते ।]

समीक्षा – प्राचीन आचार्य 'यदि विभूतमारमण आपातमागच्छति' – आदि वचनो को प्रमाण मानकर 'यदि विभूत-आलम्बन होता है तभी तदालम्बन का पात होना चाहिये' ऐसा ग्रहण करके महग्गत-लोकोत्तर चित्त-चैतसिक, निर्वाण एव प्रज्ञप्ति आलम्बन होने पर इनके कामधर्म न होने से तदालम्बन का पात नही हो सकता है अत (तदालम्बन का पात न होने से) ये आलम्बन अविभूत ही होगे' – इस प्रकार स्वीकार करते है। यदि उन आचार्यों का मत समीचीन माना जाये तो ब्रह्माओ की सन्तान मे तदालम्बन का पात न हो सकने के कारण विभूततर प्रादुर्भाव से उत्पन्न विभूत-आलम्बनवीथियो का होना असम्भव हो जायेगा। वस्तुत स्वच्छ चित्तधातुवाले ब्रह्माओ की सन्तान मे काम-पुद्गलो की अपेक्षा आलम्बनो का प्रादुर्भाव अतिविभूततया होता है।

तथा उन आचार्यों के अनुसार निर्वाण को अविभूत-आलम्बन मे सङ्गृहीत करना भी अत्यन्त विचारणीय है, क्योकि निर्वाण का आलम्बन करने मे समर्थ कामजवनवीथि-चित्त अत्यन्त तीक्ष्ण प्रत्यवेक्षणवीथिचित्त ही है। उन चित्तो द्वारा निर्वाण 'अविभूततया जाना जाता है' – ऐसा नही कहा जा सकता। मार्गचित्त एव फलचित्त होने के अनन्तर आलम्बन को पुन अतिविभूततया ही जाना जाता है और मार्गवीथि एव फलवीथि होने के पहले निर्वाण का आलम्बन नही ही किया जा सकता, अत निर्वाण सर्वदा विभूतालम्बन ही होता है।

महग्गत-लोकोत्तर चित्त-चैतसिक एव प्रज्ञप्ति आलम्बन को केवल अविभूत-आलम्बन मे ही सङ्गृहीत करना भी विचारणीय है। ध्यान का समावर्जन करने के अनन्तर उन ध्यानाङ्गो का समावर्जन करते समय, मार्ग एव फल वीथि होने के अनन्तर उन मार्ग एवं फलो का समावर्जन करते समय, पृथ्वीकात्स्न्यप्रज्ञप्ति (पठवीकसिणपञ्ञत्ति) का आलम्बन करके कम्मट्ठान सिद्ध होने के आसन्नकाल मे कामजवनो के जवित होते समय – वे आलम्बन क्यो अविभूततया प्रादुर्भूत होगे ! वे तो अत्यन्त विभूत-आलम्बन ही होगे। अत निष्कर्ष यह हुआ कि निर्वाण सर्वदा विभूत-आलम्बन ही है तथा अन्य चित्त-चैतसिक, रूप एव प्रज्ञप्ति विभूत एव अविभूत – दोनो होते है[1]।

तदनुवर्तक मनोद्वारवीथि

१३. सबसे पहले प्रत्युत्पन्न रूपालम्बन का आलम्बन करनेवाली 'चक्षुर्द्वारिकवीथि' होने के अनन्तर यथासम्भव भवङ्गपात होकर निरुद्ध अतीतरूपालम्बन का आलम्बन करके 'अतीतग्रहण मनोद्वारवीथि' होती है। इस मनोद्वारवीथि के आलम्बन विभूत-आलम्बन एव अविभूत-आलम्बन – दोनो हो सकते है।

१ ब० भा० टी०।

चक्षुर्द्वारवीथि का अनुवर्तन करनेवाली वीथि भी अतीतग्रहणवीथि, समूहग्रहण-वीथि, अर्थग्रहणवीथि एव नामग्रहणवीथि – इस तरह चार प्रकार की होती है । इनमे से अतीतग्रहणवीथि की उत्पत्ति –

चक्षुर्द्वारवीथि के अनन्तर यथायोग्य भवङ्गपात होने के बाद उस चक्षुर्द्वारवीथि का आलम्बनभूत अतीतरूपालम्बन ही जब मनोद्वार मे प्रादुर्भूत होता है तो भवङ्गचलन, भवङ्गोपच्छेद, मनोद्वारावर्जन, एवं ७ बार जवन (यदि विभूत–आलम्बन होता है तो २ बार तदालम्बन और यदि अविभूत-आलम्बन होता है तो तदालम्बन का पात न होकर) तदनन्तर यथायोग्य भवङ्ग होते हैं ।

तदनन्तर अनेक रूपालम्बनो का सामूहिकरूप से आलम्बन करनेवाली समूहग्रहणवीथि, रूपालम्बन के आश्रयभूत वस्तुद्रव्य का आलम्बन करनेवाली अर्थग्रहणवीथि एव नामप्रज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाली नामग्रहणवीथि यथायोग्य होती है । घ्राणद्वारिक, जिह्वाद्वारिक एव कायद्वारिक वीथियो का अनुवर्तन करनेवाली तदनुवर्तकवीथियो को भी इसी क्रम से जानना चाहिये ।

यथा – किसी एक व्यक्ति को देखते समय एक चक्षुर्द्वारिक एव एक अतीतग्रहण – इस प्रकार इस वीथियुगल के होने मात्र से मनुष्य के सम्पूर्ण शरीर का ज्ञान नही हो सकता । यदि उसके शरीर का एक भाग (शिरस्) पहले चक्षुर्द्वारवीथि द्वारा देखा जाता है तो शरीर के उस एकदेश मे होनेवाले रूपालम्बन का आलम्बन करके, तदनन्तर शरीर के अन्य भागो (ग्रीवा, उरस्, उदर-आदि) का क्रमश पृथक् पृथक् आलम्बन करके चक्षुर्द्वारिकवीथि एव अतीतग्रहणवीथि – इस प्रकार अनेक वीथियुगल होते हैं ।

तदनन्तर देखेहुए सम्पूर्ण शिरोभाग के रूपालम्बनसमूह का आलम्बन करनेवाली 'समूहालम्बनवीथि' होती है । इस वीथि द्वारा समूहभूत अतीतरूपालम्बन कामधर्मो का आलम्बन किया जाने के कारण यदि इस (वीथि) का वह आलम्बन विभूत-आलम्बन होता है तो तदालम्बन का पात हो सकता है । 'रूपालम्बनसमूह' – इस प्रकार कहा जाने पर भी यह (रूपालम्बनसमूह) प्रज्ञप्ति नही है । चू कि रूपालम्बन के अवयवो का वर्जन करके 'समूह' भी नही हो सकता, अत 'रूपालम्बनसमूह' यह परमार्थ-धर्म ही है ।

उस समूहालम्बनवीथि के, भवङ्गो द्वारा अन्तरित (बीच बीच मे भवङ्ग) हो होकर अनेक बार प्रवृत्त होने के बाद उन रूपालम्बनो के आश्रयभूत 'शिरस्' नामक वस्तुद्रव्य को जाननेवाली 'अर्थग्रहणमनोद्वारवीथि' होती है । इस 'शिरस्' नामक वस्तुद्रव्य का आलम्बन करने मे यह 'द्रव्यप्रज्ञप्ति' होने के कारण यह (प्रज्ञप्ति-आलम्बन) चाहे विभूत-आलम्बन हो चाहे अविभूत-आलम्बन, इसमे तदालम्बन का पात नहीं हो सकता । अर्थात् जवनवार मनोद्वारवीथि ही होती है ।

उसके (अर्थग्रहणवीथियो के अनेक वार प्रवृत्त होने के) बाद उस वस्तुद्रव्य के लोकव्यवहारानुसार 'शिरस्' इस नाम को जाननेवाली 'नामग्रहणवीथि' भी अनेक वार प्रवृत्त होती है। 'शिरस्'—यह नाम नामप्रज्ञप्ति है, अत इस नामप्रज्ञप्ति को आलम्बन करनेवाली नामग्रहणवीथि मे भी आलम्बन चाहे विभूत हो या अविभूत, तदालम्बन का पात नही हो सकता।

इस प्रकार शरीर के एकदेश 'शिरोभाग' को जानने के लिये नामग्रहणवीथि-पर्यन्त अनेक वीथियो के होने पर 'शिरस्' के निचले प्रदेश ग्रीवा, स्कन्ध, उरस्, उदर-आदि शरीर के विभिन्न अङ्गो का परिच्छेद करके उन (अङ्गो) के दिखाई पडने योग्य पुरस्थ भागो को अनेक वीथियो द्वारा जान लेने के बाद सम्पूर्ण शरीरपिण्ड को जानने के लिये चक्षुर्द्वारवीथि से लेकर नामग्रहणपर्यन्त प्रवृत्त अनेक वीथियो द्वारा ही इस 'मनुष्य-द्रव्य' नामक नामप्रज्ञप्ति का सम्यग् ज्ञान होता है। द्रव्य यदि सूक्ष्म (छोटा) होगा तो वीथियाँ कम तथा द्रव्य यदि स्थूल होगा तो वीथियाँ अधिक होगी। इस प्रकार द्रव्यभेद से वीथियो के न्यूनाधिक्य को भी जानना चाहिये। अर्थग्रहणवीथि होने के अनन्तर यदि पहले से नाम का परिज्ञान होगा तभी नामग्रहणवीथि प्रवृत्त होगी, अन्यथा नही।

कुछ आचार्य अर्थग्रहण एव नामग्रहणवीथियाँ चूकि पञ्चद्वारिकवीथियो की भाँति आलम्बन का ग्रहण नही करती, अपितु उन रूपालम्बन-आदि की अर्थ-प्रज्ञप्ति एव नाम-प्रज्ञप्ति का ग्रहण करती है, अत उन्हे (अर्थग्रहण एव नामग्रहण वीथियो को) तदनुवर्तकवीथि नही कहना चाहते, अपितु 'शुद्ध मनोद्वारवीथि' ही कहते है, किन्तु यहाँ आलम्बनभेद होने पर भी पञ्चद्वारवीथि से सम्बद्ध होनेवाली सभी मनोद्वार-वीथियो को उन्हे (आचार्यो को) 'तदनुवर्तक वीथि' कहना चाहिये, क्योकि 'पञ्चद्वार-वीथि होने पर भी हमेशा अर्थग्रहण एव नामग्रहण वीथियाँ होती ही है'—ऐसा नही कहा जा सकता। कभी कभी अतीतग्रहणवीथिमात्र से वीथिसन्तति विच्छिन्न होनेवाले विषय भी होगे।

घ्राणद्वारवीथि का अनुवर्तन करनेवाली तदनुवर्तकवीथियो द्वारा आलम्बन का ग्रहण करना इस प्रकार है—

गन्धालम्बन मे समूहग्रहणवीथि द्वारा क्रमश गृहीत गन्धसमूह का आलम्बन होता है। अर्थग्रहणवीथि द्वारा गन्ध के आश्रयभूत द्रव्य का आलम्बन होता है। नामग्रहण-वीथि द्वारा गन्ध के नाम (सज्ञा) का ग्रहण होता है।

रसालम्बन मे समूहग्रहणवीथि द्वारा क्रमश गृहीत रससमूह का, अर्थग्रहणवीवीथि द्वारा रस के आश्रयभूत भोज्यद्रव्य का, नामग्रहणवीथि द्वारा भोज्य रस के नाम का आलम्बन होता है।

स्प्रष्टव्यालम्बन मे समूहग्रहणवीथि द्वारा क्रमश स्पृष्ट स्प्रष्टव्यालम्बनसमूह का, अर्थग्रहणवीथि द्वारा स्प्रष्टव्यालम्बन के आश्रयभूत द्रव्य का, नामग्रहणवीथि द्वारा उस स्प्रष्टव्यालम्बन के नाम का ग्रहण होता है।

श्रोत्रद्वारिक तदनुवर्तकवीथि

१४. श्रोत्रद्वारवीथि का अनुवर्तन करनेवाली अतीतग्रहणवीथि एवं समूह-ग्रहणवीथि के अनन्तर पहले नामग्रहणवीथि होकर तदनन्तर अर्थग्रहणवीथि होती है।

श्रोत्रद्वारिक तदनुवर्तकवीथि

१४. किसी एक पुरुष द्वारा 'गो' इस शब्द का उच्चारण करने पर उस प्रत्युत्पन्न (उच्चारणकालिक) शब्दालम्बन का आलम्बन करके श्रोत्रद्वारिकवीथि होने के बाद यथायोग्य भवङ्ग अन्तरित करके अतीत शब्दालम्बन का आलम्बन करनेवाली 'अतीत-ग्रहणवीथि नामक' मनोद्वारवीथि होती है। यह वीथियुगल पुन पुन (अनेक वार) प्रवृत्त होता है – यह ध्यान मे रखना चाहिये। अक्षर यदि ह्रस्व होता है तो उसके उच्चारण मे एक अच्छरामात्र काल लगता है, यदि दीर्घ होता है तो दो अच्छरामात्र काल होता है। एक अच्छरामात्र काल मे भी "एकच्छरक्खणे कोटि-सतसहस्ससङ्खा (सङ्खारा) उप्पज्जन्ति[1]" के अनुसार लाखो करोड चित्त उत्पन्न हो सकते है। अत 'गो' इस एक शब्दपिण्ड मे पुन पुन उत्पन्न होनेवाले अनेक प्रत्युत्पन्न शब्दालम्बनो का आलम्बन करनेवाली अनेक श्रोत्रद्वारवीथि, तदनन्तर यथायोग्य भवङ्ग अन्तरित करके अतीतशब्दा-लम्बन का आलम्बन करनेवाली अनेक अतीतग्रहणवीथियाँ पुन. पुन होती हैं। एक अक्षर-वाले शब्द मे शब्दालम्बनसमूह का आलम्बन करनेवाली समूहग्रहणवीथि नही हो सकती। अतीतग्रहणवीथि होने के अनन्तर ही 'गो' नामक नामप्रज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाली नामग्रहणवीथियाँ होती है। श्रोत्रद्वारिकवीथि एव अतीतग्रहणवीथि के क्षण मे शब्दमात्र का श्रवण हो सकता है, 'गो' इस शब्द का सम्यग् (यथाभूत) ज्ञान नही होता। नामग्रहणवीथि के काल मे ही 'गो' इस कथन का सम्यग्ज्ञान होता है। इस नामग्रहणवीथि के अनन्तर 'गो' इस शब्द के अर्थभूत 'गोद्रव्य' का आलम्बन करनेवाली अर्थग्रहणवीथि होती है। (इस शब्दालम्बन तदनुवर्तकवीथि मे पहले नामग्रहणवीथि होने के बाद तदनन्तर अर्थग्रहण-वीथि का होना ध्यान मे रखना चाहिये।)

"सद्द पठमचित्तेन तीत दुतियचेतसा।
नाम ततियचित्तेन अत्थ चतुत्थचेतसा[2]॥"

अर्थात् प्रत्युत्पन्न शब्दालम्बन का प्रथम श्रोत्रद्वारिक वीथिचित्त द्वारा ज्ञान होता है। अतीत शब्दालम्बन का द्वितीय मनोद्वारिक चित्त द्वारा ज्ञान होता है। नामप्रज्ञप्ति का तृतीय मनोद्वारिक चित्त द्वारा ज्ञान होता है। तथा अर्थ (द्रव्य)-प्रज्ञप्ति का चतुर्थ मनोद्वारिक चित्त द्वारा ज्ञान होता है।

---

१. विभ० अ०, ३४।

२ ब० भा० टी०।

दो अक्षर, तीन अक्षर या इससे अधिक अक्षरोवाले शब्दालम्बन का आलम्बन करने मे 'समूहग्रहणवीथि' हो सकती है। जैसे किसी के द्वारा 'बुद्ध' शब्द का उच्चारण करते समय 'बुद्' इस अश के उच्चारण-क्षण मे प्रत्युत्पन्न शब्दालम्बन का आलम्बन करनेवाली श्रोत्रद्वारिक वीथि, निरुद्ध अतीतशब्दालम्बन का आलम्बन करनेवाली अतीत-ग्रहणवीथि – इस प्रकार यह वीथियुगल अनेक वार होता है। इसके बाद 'ध' इस अश के उच्चारणक्षण मे भी उपर्युक्त वीथियुगल अनेक वार प्रवृत्त होते है। तदनन्तर निरुद्ध हुए 'बुद्' 'ध' – इन दोनो अशो के सयुक्तरूप का आलम्बन करनेवाली समूहग्रहण-वीथियाँ होती है। इसी प्रकार तीन अक्षरोवाले 'सब्बञ्ञू' शब्द मे भी एक एक अक्षर के ग्रहण के लिये श्रोत्रद्वारिक एव अतीतग्रहण वीथियो के अनेक युगल प्रवृत्त होने के अनन्तर पुन तीनो अक्षरो को मिलाकर सयुक्तरूप से आलम्बन करनेवाली समूह-ग्रहणवीथियाँ होती है। अनेक अक्षरोवाले अन्य शब्दो के ग्रहण मे भी इसी तरह विचार करना चाहिये। इन समूहग्रहणवीथियो के होने के अनन्तर 'बुद्ध' नामक नाम-प्रज्ञप्ति या 'सब्बञ्ञू' नामक नामप्रज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाली नामग्रहणवीथियाँ होती है। तदनन्तर 'बुद्ध' एव 'सब्बञ्ञू' शब्दो की अर्थ (वाच्यद्रव्य)-प्रज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाली अर्थग्रहणवीथियाँ होती है।

नामग्रहणवीथि होने के अनन्तर 'गो यह नाम इस गोद्रव्य का वाचक है' – इस प्रकार का पूर्वसङ्केत रहने पर ही गोद्रव्य को जाननेवाली अर्थग्रहणवीथि हो सकती है। क्योकि अज्ञात भाषा के किसी शब्द का अनेक वार उच्चारण करने पर भी श्रोता को जब उसके अर्थ का ज्ञान नही हो पाता है तो ऐसी स्थिति मे उसमे अर्थग्रहणवीथि कैसे हो सकती है! इसीलिये कहा गया है –

> "सोतालम्बनमापन्नो सङ्केतेन ववत्थितो।
> अत्यस्स ञापको सद्दो नासन्ते कारणद्वये[1]॥"

अर्थात् श्रोत्रद्वारवीथि के आलम्बनत्व को प्राप्त हो जाने पर भी शब्द 'यह शब्द इस अर्थ का वाचक है' – इस प्रकार का पूर्वसङ्केत होने पर ही अर्थ का ज्ञापक होता है। उपर्युक्त कारणद्वय (शब्दश्रवण एव सङ्केतग्रहण) न होने पर शब्द अर्थ का ज्ञापक नही हो सकता। तथा किसी विदेशी भाषा के शब्द का श्रवण करने पर उस विदेशी शब्द का आलम्बन करनेवाली नामग्रहणवीथि हो जाने पर भी अपनी मातृभाषा के नाम का आलम्बन करनेवाली एक अन्य प्रकार की नामग्रहणवीथि भी होती है। इस प्रकार विदेशी भाषा के शब्द का श्रवण करते समय एक अधिक नामग्रहणवीथि का होना जानना चाहिये।

आचार्यों का मत है कि नामग्रहण एव अर्थग्रहण वीथियो के बीच मे 'यह शब्द इस अर्थ का वाचक है' – इस प्रकार पूर्वज्ञात सङ्केतप्रज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाली 'सङ्केतग्रहणवीथि', उस सङ्केत के साथ इस शब्द का सम्बन्ध जाननेवाली 'सम्बन्धग्रहण-

---

१. स० भे० चि०, का० ११, पृ० २।

कायविज्ञप्तिग्रहणवीथि

१५ इच्छा (छन्द) के साथ अङ्ग-प्रत्यङ्गो के चालन एवं कथन को देख एवं सुन कर चक्षुर्द्वारिक एव श्रोत्रद्वारिक वीथियो का अनुवर्तन करनेवाली विज्ञप्तिग्रहण एव अभिप्रायग्रहण मनोद्वारवीथियाँ होती है । यथा –

"रूप पठमचित्तेन तीत दुतियचेतसा ।
ततियेन तु विञ्ञत्ति भाव चतुत्थचेतसा[1] ।।"

इस गाथा के अनुसार किसी व्यक्ति द्वारा हाथ हिलाकर बुलाने पर सर्वप्रथम हिलनेवाले हाथ के रूपालम्बन का आलम्बन करनेवाली चक्षुर्द्वारिकवीथि, अतीत रूपालम्बन का आलम्बन करनेवाली अतीतग्रहणवीथि, आगमनेच्छाकार (आगमनसम्बन्धिनी उसकी इच्छा के आकार) को जाननेवाली कायविज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाली विज्ञप्तिग्रहणवीथि तथा आगमन-अभिप्राय का आलम्बन करनेवाली अभिप्रायग्रहणवीथि होती है ।

वीथि', 'यह शब्द मेरे द्वारा सङ्केतित गोद्रव्य का वाचक है' – इस प्रकार का निश्चय करनेवाली 'विनिश्चयवीथि' – इस प्रकार की ये वीथियाँ भी होती है। वे (आचार्य) रूपालम्बन तदनुवर्तकवीथि मे भी अर्थग्रहण एव नामग्रहणवीथियो के बीच मे इन वीथियो का होना स्वीकार करना चाहते है । किन्तु इतने सूक्ष्मरूप से प्रत्येक व्यक्ति मे इनका होना सम्भव नही है, कुछ ज्ञानी पुद्गलो मे ही ये कभी कभी हो सकती है ।

कायविज्ञप्तिग्रहणवीथि

१५ प्रत्युत्पन्न रूपालम्बन का प्रथम चक्षुर्द्वारिक वीथिचित्त द्वारा ज्ञान होता है। अतीत रूपालम्बन का द्वितीय मनोद्वारिक चित्त द्वारा ज्ञान होता है । कायविज्ञप्ति का तृतीय मनोद्वारिक चित्त द्वारा ज्ञान होता है तथा अभिप्राय का चतुर्थ मनोद्वारिक चित्त द्वारा ज्ञान होता है।

उपर्युक्त गाथा मे रूपालम्बनसमूह का आलम्बन करनेवाली समूहग्रहणवीथि एव अर्थप्रज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाली अर्थग्रहणवीथि नही आती, तथापि हाथ को ऊपर-नीचे हिलाते समय ऊपरवाले रूपालम्बन के दर्शनमात्र से विज्ञप्ति एव अभिप्राय का ज्ञान नही हो सकता। अत ऊपरवाले रूपालम्बन, उससे ईषद् (कुछ) निम्न रूपालम्बन एव उससे भी ईषद् निम्न रूपालम्बन – इस प्रकार के रूपालम्बनो का चक्षुर्द्वारिक एव अतीतग्रहणवीथियो द्वारा पुन पुन ग्रहण किया जाने के बाद समूहग्रहणवीथि द्वारा रूपालम्बन-समूह का भी ग्रहण हो सकेगा। इस समूहग्रहणवीथि के अनन्तर 'हाथ हिलना' क्रिया-नामक अर्थप्रज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाली अर्थग्रहणवीथियाँ भी होगी। तदनन्तर विज्ञप्ति एव अभिप्राय को जाननेवाली मनोद्वारवीथियाँ भी हो सकेगी।

---

१. ब० भा० टी० ।

वाग्विज्ञप्तिग्रहणवीथि

१६ श्रोत्रद्वारवीथि का अनुवर्तन करते समय –

"सद्द पठमचित्तेन तीत दुतियचेतसा ।
ततियेन तु विञ्ञत्ति भाव चतुत्थचेतसा[1] ।।"

इस गाथा के अनुसार किसी व्यक्ति द्वारा 'आओ' इस प्रकार का शब्द करके पुकारने पर 'आओ' इस प्रत्युत्पन्न शब्दालम्बन का, फिर अतीत शब्दालम्बन का आलम्बन करके श्रोत्रद्वारिकवीथि एव अतीतग्रहणवीथि, आगमनाभिलाष-आकार को जाननेवाली वाग्विज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाली वाग्विज्ञप्तिग्रहणवीथि तथा आगमन-अभिप्राय को जाननेवाली अभिप्राय-ग्रहणवीथियाँ होती है ।

वाग्विज्ञप्तिग्रहणवीथि

१६ श्रोत्रद्वारवीथि का अनुवर्तन करने मे भी यदि शब्द एक अक्षरवाला होता है तो समूहग्रहणवीथि आवश्यक नही होती । यदि अक्षर अनेक होते है तो अनेक समूह-ग्रहणवीथियॉ होती है । तदनन्तर 'आओ' इस नामप्रज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाली नाम-ग्रहणवीथि, 'आना' क्रिया नामक अर्थप्रज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाली अर्थग्रहणवीथियॉ भी होगी ही । इसके बाद विज्ञप्तिग्रहणवीथि एव अभिप्रायग्रहणवीथियॉ भी होती है ।

आचार्यों का कथन है कि हाथ हिलाने पर पूर्वज्ञात सङ्केतप्रज्ञप्ति का आलम्बन करनेवाली सङ्केतग्रहणवीथि, पूर्वसङ्केत का हिलाने के साथ सम्बन्ध करके जाननेवाली सम्बन्धग्रहणवीथि 'मुझे बुलाता है' – इस प्रकार का निश्चय करनेवाली निश्चयग्रहण-वीथियाँ भी समूहग्रहण, नामग्रहण, एव अर्थग्रहण वीथियो के अनन्तर होती है । 'ये सभी वीथियो मे, सभी पुद्गलो मे हो सकती है कि नही' – इस पर विचार करना चाहिये ।

चित्तस्वरूप – ये कामजवन प्रकृतिकाल (स्वाभाविक काल) मे आलम्बन यदि दुर्बल होते है तो ६ वार प्रवृत्त होते है । मज्झिमभाणकत्थेर के अनुसार १ वार तदालम्बन भी हो सकता है । इस प्रकार अनेक मत होने से इन वीथिचित्तो का स्वरूप पूर्णरूप से दिखलाया नहीं जा सकता । 'कौन कौन वीथिचित्त होते है ?' – ये विषय कुछ ज्ञानी पुरुषो के ज्ञान के ही विषय है ।

कामजवनवार मनोद्वारवीथि समाप्त ।

---

१ ब० भा० टी० ।

अर्पणाजवनवार
मनोद्वारवीथि
ध्यानवीथि

१७ अर्पणाजवनवारवीथि भी ध्यानवीथि, मार्गवीथि, फलसमापत्तिवीथि, अभिज्ञावीथि एव निरोधसमापत्तिवीथि – इस तरह पाँच प्रकार की होती है। इनमे से ध्यानवीथि भी आदिकर्मिकवीथि एवं समापत्तिवीथि – इस प्रकार द्विविध होती है। उनमे से आदिकर्मिकवीथि की उत्पत्ति –

पृथ्वीकसिण-आदि कम्मट्ठान की बार-बार भावना करने से ध्यान-प्राप्ति का आसन्नकाल होने पर पृथ्वीकसिण-प्रज्ञप्ति-आदि सम्बद्ध आलम्बनो में से किसी एक आलम्बन का मनोद्वार मे प्रादुर्भाव होने पर भवङ्ग-चलन, भवङ्गोपच्छेद, मनोद्वारावर्जन, मन्दप्रज्ञ दन्धाभिज्ञ पुद्गलमें 'परिकर्म, उपचार, अनुलोम एव गोत्रभू' – इस प्रकार ४ वार उपचारसमाधिजवन, तीक्ष्णप्रज्ञ क्षिप्राभिज्ञ पुद्गल में 'उपचार, अनुलोम, गोत्रभू' - इस प्रकार ३ वार उपचारसमाधिजवन, तदनन्तर अर्पणासमाधिजवन नामक ध्यान १ वार होता है। इसके बाद यथायोग्य भवङ्ग अन्तरित करके वितर्क-आदि ध्यानाङ्गो का समावर्जन करनेवाली प्रत्यवेक्षणवीथियाँ यथायोग्य होती है।

अर्पणाजवनवार
मनोद्वारवीथि
ध्यानवीथि

१७ इस अर्पणाजवनवीथि से सम्बद्ध जानने योग्य बातें नवम परिच्छेद में आनेवाली है, अत यहाँ हम वीथिक्रम मे अपेक्षित अभिप्रायमात्र को कहेंगे।

['समापज्जन' (समापादन=ध्यान प्राप्त करने की क्रिया) को 'समापत्ति' कहते है। आदिकर्मिक, समापज्जन, मन्दप्रज्ञ दन्धाभिज्ञ एव तीक्ष्णप्रज्ञ क्षिप्राभिज्ञ के शब्दार्थ चतुर्थपरिच्छेद के अर्पणाजवनवार एव जवननियम मे कहे जा चुके है[1]।]

मन्दप्रज्ञ की आदिकर्मिकवीथि

भ 'न द म रि उ नु गो झ' भ
००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ०००

तीक्ष्णप्रज्ञ की समापत्तिवीथि

भ 'न द म उ नु गो झ झ झ' भ
००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ०००

---

१ द्र० – अभि० स०, चतु० परि०, पृ० ३७६, ३८१, ३४४।

समापत्तिवीथि की उत्पत्ति –

अपने द्वारा प्राप्त किसी एक ध्यान की समापत्ति अभीष्ट होने पर पृथ्वीकसिण-प्रज्ञप्ति-आदि सम्बद्ध आलम्बनो मे से किसी एक का मनोद्वार मे प्रादुर्भाव होने पर भवङ्गचलन, भवङ्गोपच्छेद, मनोद्वारावर्जन, तदनन्तर ध्यान २-३ वार से लेकर यथायोग्य अनेक वार होते है। ध्यान से उठने के बाद यथायोग्य भवङ्ग अन्तरित करके प्रत्यवेक्षणवीथियाँ होती है।

प्रत्यवेक्षणवीथि – पहले पहल ध्यान प्राप्त होने के बाद, अथवा समापत्ति होने के बाद उस ध्यान मे आनेवाले ध्यानाङ्गसमूह का एक एक करके पुन समावर्जन करनेवाली वीथि 'प्रत्यवेक्षणवीथि' कहलाती है। यह उपर्युक्त कामजवनवार शुद्ध मनोद्वारिकवीथि ही है। इस वीथि मे कुछ लोग जवन का ५ वार होना कहते है। यमकप्रातिहार्यकाल-आदि मे जवन ४ या ५ वार होते है, किन्तु प्रकृतिकाल मे वे जवन ७ वार होते है[1]। यहाँ महग्गत ध्यानाङ्गो का आलम्बन किया जाने से तदालम्बनपात आवश्यक नही है।

ध्यानवीथि के प्रभेद – रूपावचरध्यान ५, अरूपावचरध्यान ४ – इस प्रकार ९ ध्यानो का कुशल एव क्रिया से गुणन करने पर ९×२=१८ वीथियाँ होती है। इन १८ वीथियो का आदिकर्मिक एव समापत्तिवीथि से गुणन करने पर १८×२=३६ वीथियाँ हो जाती है। इन ३६ वीथियो का तीक्ष्णप्रज्ञ क्षिप्राभिज्ञ पुद्गल की वीथि एव मन्दप्रज्ञ दन्धाभिज्ञ पुद्गल की वीथि – इन २ वीथियो से गुणन करने पर कुल ३६×२=७२ वीथियाँ हो जाती है। यदि इनमे से केवल प्रथमध्यानवीथि की ही गणना की जाये तो प्रथमध्यान का कुशल एवं क्रिया से गुणन करने पर २ वीथियाँ होती है। इन २ वीथियो का आदिकर्मिक एव समापत्तिवीथि से गुणन करने पर २×२=४ वीथि, इन ४ वीथियो का तीक्ष्णप्रज्ञ एव मन्दप्रज्ञ की वीथि से गुणन करने पर कुल ४×२=८ वीथियाँ हो जाती है। इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय एव चतुर्थ ध्यानवीथियाँ भी ८–८ होती है। पञ्चमध्यानवीथि रूपावचर पञ्चमध्यानवीथि १ एव अरूपावचर ध्यानवीथियाँ ४=५ प्रकार की होती है। इन पाँचो का क्रमश कुशल, क्रिया-आदि से गुणन करने पर ये कुल ४० हो जाती है।

प्रत्यवेक्षणवीथियों के प्रभेद – एक एक ध्यानाङ्ग मे एक एक प्रत्येवक्षणवीथि होती है। प्रथमध्यान की उपर्युक्त ८ वीथियो मे से एक एक वीथि मे ५–५ ध्यानाङ्ग होते है, अत ८ का ५ से गुणन करने पर प्रथमध्यानाङ्गो का समावर्जन करनेवाली प्रत्यवेक्षणवीथियाँ कुल ४० होती है। द्वितीयध्यान की ८ वीथियो मे प्रत्येक वीथि मे ४–४ ध्यानाङ्ग होते है, अत द्वितीयध्यानाङ्गो का समावर्जन करनेवाली प्रत्यवेक्षणवीथियाँ कुल ८×४=३२ होती है। तृतीयध्यान की ८ वीथियो मे प्रत्येक

---

१. द्र० – अभि० स० ४ : ३६-३८ की व्याख्या, पृ० ३७५।

मे ३–३ ध्यानाङ्ग होते है, अत तृतीयध्यानाङ्गो का समावर्जन करनेवाली प्रत्यवेक्षण-वीथियाँ कुल ८×३=२४ होती है। चतुर्थध्यान की ८ वीथियो मे प्रत्येक मे २–२ ध्यानाङ्ग होते है, अत चतुर्थध्यानाङ्गो का समावर्जन करनेवाली प्रत्यवेक्षणवीथियाँ कुल ८×२=१६ होती है। तथा पञ्चमध्यान की ४० वीथियो मे प्रत्येक मे २ ध्यानाङ्ग होते है, अत पञ्चमध्यानाङ्गो का समावर्जन करनेवाली प्रत्यवेक्षणवीथियाँ कुल ४०×२=८० होती है। इस प्रकार प्रत्यवेक्षणवीथियाँ कुल १६२ है।

चित्तस्वरूप, आलम्बन एवं वस्तु

आदिकर्मिक प्रथमध्यानवीथि मे सम्मिलित होनेवाले चित्त ये है, यथा – मनोद्वारावर्जन १, त्रिहेतुक कामावचर कुशल एव क्रिया सौमनस्यजवन ४ (सौमनस्यसहगत ज्ञानसम्प्रयुक्त महाकुशल एव महाक्रिया) प्रथमध्यान कुशल एव क्रिया चित्त २=७ प्रकार के चित्त होते है। इन चित्तो मे से ज्ञानसम्प्रयुक्त कुशल एव क्रियाचित्त परिकर्म, उपचार, अनुलोम एव गोत्रभू कृत्य करनेवाले चित्त है। इन परिकर्म-आदि जवनो के सौमनस्यसहगत होने से प्रथमध्यानचित्त भी सौमनस्यसहगत ही होते है। जैसे कहा गया है – 'सोमनस्ससहगतजवनानन्तर अप्पना पि सोमनस्ससहगता व पाटिकङ्खितब्बा[1]।' पृथग्जन एव शैक्ष्य पुद्गलो की सन्तान मे कुशलप्रथमध्यान तथा अर्हत् की सन्तान मे क्रियाप्रथमध्यान होता है। इस प्रकार कुशल एव क्रिया द्वारा विभाजन करके जानना चाहिये।

भवङ्ग से अवशिष्ट मनोद्वारावर्जन से लेकर ध्यानपर्यन्त वीथिचित्त उपेक्षाब्रह्मविहार की आलम्बनभूत सत्त्वप्रज्ञप्ति का वर्जन करके शेष रूपावचरध्यान की आलम्बनभूत २५ प्रज्ञप्तियो मे से किसी एक का आलम्बन करते है। (उपेक्षाब्रह्मविहार के परिवर्जन एव २५ प्रज्ञप्तियो के स्वरूप के ज्ञान के लिये नवम परिच्छेद देखे।)

इन वीथियो का आश्रय हृदयवस्तु ही होता है।

भूमि, पुद्गल एवं भवङ्ग

इन आदिकर्मिकवीथियो मे भूमि, पुद्गल एव भवङ्ग के सम्बन्ध मे परस्पर मतभेद है। पूर्वाचार्यो के मतानुसार प्रथमध्यान आदिकर्मिकवीथि, ७ कामसुगतिभूमियो मे ही होती है। पुद्गल के रूप मे यह वीथि ४ फलस्थ पुद्गल एव १ ध्यानलाभी त्रिहेतुक पुद्गल = ५ प्रकार के पुद्गलो मे ही होती है। यह वीथि चूकि कामसुगतिभूमियो मे ही होती है, अत पूर्व एव अपर भवङ्ग ४ कामत्रिहेतुक भवङ्गो मे से ही कोई एक होता है।

ऊपर ऊपर की आदिकर्मिकवीथियाँ – द्वितीयध्यान-आदि आदिकर्मिकवीथियो मे प्रथमध्यान के भवङ्गो एव भूमियो के अतिरिक्त कुछ और जोडना पडेगा। जैसे – द्वितीयध्यान आदिकर्मिकवीथि ७ काम-सुगतिभूमियो के अतिरिक्त प्रथमध्यान ब्रह्मभूमि मे भी होती है। तथा भवङ्गो मे ४ कामत्रिहेतुक भवङ्गो के अतिरिक्त प्रथमध्यान विपाकचित्त भी होता है। तृतीयध्यान-वीथि मे पूर्वोक्त भूमि एव

१ द्र० – अभि० स० ४ २४, पृ० ३५० ।

भवङ्गों मे द्वितीयध्यानभूमि और द्वितीयध्यानविपाकचित्त को भी जोडना चाहिये। चतुर्थध्यान से तृतीयध्यान ब्रह्मभूमि मे ही होने के कारण चतुर्थध्यानवीथि ७ कामसुगतिभूमि, प्रथमध्यानभूमि एव द्वितीयध्यानभूमि मे ही होने से कोई अधिक भूमि नही होती। यदि द्वितीयध्यानभूमि मे तृतीयध्यानविपाक से प्रतिसन्धि लेनेवाला होता है तो पञ्चमध्यानवीथि मे तृतीयध्यानभूमि एव चतुर्थध्यानविपाक भवङ्ग-चित्त अधिक होगे। आकाशानन्त्यायतनवीथि कामसुगतिभूमि एव असञ्ञिवर्जित १५ रूपावचरभूमियो मे होती है। विज्ञानानन्त्यायतनवीथि मे उन (पूर्वोक्त) भूमियो के अतिरिक्त प्रथम अरूपभूमि भी होती है। आकिञ्चन्यायतनवीथि मे द्वितीय-अरूपभूमि एव नैवसञ्ज्ञानासञ्ज्ञायतनवीथि मे तृतीय अरूपभूमि अधिक होती है। इसी प्रकार जितनी अधिक भूमियाँ होती हैं, उन्ही के अनुसार उतने ही अधिक भवङ्ग भी जानने चाहिये – यह पूर्वाचार्यो का अभिमत है।

स्पष्टीकरण – पूर्वाचार्यो का मत है कि चाहे मनुष्य हो या देवता, यदि उसने कामसुगतिभूमि मे रहते समय ही ध्यान की भावना करके प्रथमध्यान की प्राप्ति कर ली है तो वह प्रथमध्यान-आदिकर्मिकवीथि कामसुगतिभूमि मे ही होती है। उससे च्युत होकर जब वह प्रथमध्यानभूमि मे पहुँचता है तो कामसुगतिभूमि मे प्राप्त वह प्रथमध्यान-कुशल उस (ब्रह्मा) की सन्तान मे विद्यमान ही रहता है। अत उस प्रथमध्यानभूमि मे प्रथमध्यान-आदिकर्मिकवीथि का होना फिर आवश्यक नही है। ध्यान का समावर्जन करते समय समापत्तिवीथि ही होती है। इसी प्रकार द्वितीयध्यान-आदिकर्मिकवीथि भी द्वितीयध्यानभूमि मे नही होती, अपितु कामसुगतिभूमि एव प्रथमध्यानभूमि मे ही होती है। इसी प्रकार ऊपर ऊपर की भूमियो से सम्बद्ध आदिकर्मिक ध्यानवीथियाँ भी नीचे की भूमियो मे ही होगी – यही उनके विचारो का निष्कर्ष है।

समीक्षा – उपर्युक्त पूर्वाचार्यो के मतानुसार यदि 'प्राप्त ध्यान भवपरिवर्तन होने पर भी अन्तर्हित नही हो सकते' – ऐसा कहा जाता है तो फिर आसानी से ब्रह्मभूमि से कामभूमि मे प्रत्यावर्त्तन नही हो सकेगा, अपितु ब्रह्मभूमियो मे ही परिवर्तन होता रहेगा। तथा ऊपर ऊपर की ध्यानभूमियो मे पहुँचा हुआ पृथग्जन आसानी से नीचे की ब्रह्मभूमियो मे पुन नही आ सकेगा। अर्थात् पूर्वाचार्यो के मतानुसार कामभूमि मे प्रथम-ध्यान प्राप्त होने पर च्युति के अनन्तर प्रथमध्यानभूमि मे पहुँचने पर भी उसे प्रथम-ध्यान की ही प्राप्ति होती रहेगी और इस तरह प्राप्त होते रहने से वह पुन पुन उसी का समावर्जन करता रहेगा। उस प्रथमध्यान की आयु पूर्ण हो जाने पर जब च्युति होगी तब भी समावर्जित प्रथमध्यान से प्रथमध्यानभूमि मे ही पुन होगा। उसका कामभूमि मे फिर लौटना कदाचित् सम्भव नही हो सकेगा। यदि द्वितीयध्यान की प्राप्ति हो जाती है तो द्वितीयध्यानभूमि मे पहुँच जायेगा। उस द्वितीयध्यानभूमि मे भी द्वितीयध्यान के अन्तर्हित न होने से यदि ऊपर के ध्यान को बिना प्राप्त किये ही च्युति हो जाती है तो च्युति के अनन्तर पुन द्वितीयध्यानभूमि ही प्राप्त होगी। जब प्रथमध्यानभूमि मे ही लौटना सम्भव न हो सकेगा तो ऐसी स्थिति मे कामभूमि की तो बात ही दूर है! इस प्रकार

रूपावचरध्यानप्राप्त पुद्गल पृथग्जन होने पर भी सर्वदा ऊपर ही ऊपर चलता रहेगा, (कामभूमि के प्रति आसक्त निकन्तिका तृष्णा के कारण जबतक ध्यान से पतित नही होगा तबतक) आसानी से नीचे की भूमि मे न आ सकेगा।

आधुनिक आचार्यों का मत – आधुनिक आचार्यो का मत है कि कामसुगतिभूमि मे चाहे प्रथमध्यान हो चाहे द्वितीयध्यान, यदि प्राप्त होने के बाद च्युति हो जाती है तो वह प्राप्त कुशलध्यान अन्तर्हित हो जाता है। उस कुशलध्यान के बल से रूपावचर-भूमि मे, सम्बद्ध ध्यानविपाकचित्त प्रतिसन्धि एव भवङ्ग कृत्य करते हुए उत्पन्न होता है। विपाकचित्त के भवङ्गकृत्य करते हुए उत्पन्न होने से जिस समय ब्रह्मा किसी आलम्बन का आलम्बन नही करते रहते उस समय ध्यानविपाकचित्त के लिये वह ध्यान समावर्जन करने के काल की तरह होता है। इसलिये प्रथमध्यानभूमि मे पहुँचने पर भी प्रथमध्यान की पुन भावना करने से ही उस (प्रथमध्यान) की प्राप्ति हो सकती है। यदि पुन भावना नही की जाती है तो प्रथमध्यान की समावर्जनवीथि भी नही हो सकेगी। यदि पुन भावना करने से ही उस (ध्यान) की प्राप्ति होती है तो प्रथमध्यानभूमि मे प्रथम-ध्यान-आदिकर्मिकवीथि भी अवश्य होगी। इसी प्रकार द्वितीयध्यान प्राप्त करके जब द्वितीयध्यानभूमि मे पहुँचता है तब भी उसके सब कुशलध्यान अन्तर्हित हो जाते है। प्रथमध्यान से लेकर पुन भावना करने से ही क्रमश बढते हुए उन ध्यानो की प्राप्ति होती है। उस भूमि मे प्राप्त होनेवाले सभी ध्यान आदिकर्मिक ही होते है, इसलिये प्रथमध्यान आदिकर्मिकवीथि ७ कामसुगतिभूमि एव १५ रूपभूमियो मे हो सकती है। ऊपर ऊपर की रूपध्यान-आदिकर्मिकवीथियो मे भी इसी प्रकार जानना चाहिये। कहा भी गया है –

"अथ खो अञ्ञतरो सत्तो आयुक्खया वा पुञ्ञक्खया वा आभस्सरकाया चवित्वा सुञ्ञ ब्रह्मविमान उप्पज्जति[1]।"

"अथ सत्तान पकतिया वसितट्ठाने निकन्ति उप्पज्जति, ते पठमज्झान भावेत्वा ततो ओतरन्ति[2]।"

उपर्युक्त पालि एव अट्ठकथा मे प्रलयकाल के बाद सृष्टि के आदिकाल मे बिना ब्रह्माओवाली प्रथमध्यान ब्रह्मभूमि मे नये ब्रह्माओ की उत्पत्ति कही गयी है। उपर्युक्त पालि मे उल्लिखित 'पुञ्ञक्खय' शब्द द्वारा उसी आभास्वर द्वितीयध्यानभूमि मे पुन उत्पन्न होने के लिये आवश्यक द्वितीयध्यान की शक्ति का क्षीण हो जाना कहा गया है। इस प्रकार के कथन से उस द्वितीयध्यानभूमि मे उस ब्रह्मा की सन्तान मे द्वितीयध्यान का न होना (लोप) जाना जा सकता है। द्वितीयध्यानहीन वह ब्रह्मा प्रथमध्यानभूमि मे उत्पन्न होने की अभिलाषा से पुन प्रथमध्यान आरब्ध करता है। इसीलिये अट्ठकथा मे 'पठमज्झान भावेत्वा' – ऐसा कहा गया है। निष्कर्ष यह हुआ कि उस आभास्वरभूमि के ब्रह्माओ की सन्तान मे भावना करने से पूर्व प्रथमध्यान भी नही

---

१ दी० नि०, प्र० भा०, पृ० १७।

२ दी० नि० अ० (सीलक्खन्धट्ठकथा), पृ० १०२।

होता। अत आभास्वरभूमि के ब्रह्माओ की सन्तान मे आरब्ध करने से पूर्व कोई कुशल-ध्यान नही होते – यह स्पष्ट होता है।

द्वितीयध्यान-आदि आदिकर्मिकवीथियो के आलम्बन नवम परिच्छेद के अनुसार १० कसिण-आदि ही है। द्वितीय, तृतीय एव चतुर्थ ध्यानो के आलम्बन १० कसिण, नीचे के तीन ब्रह्मविहारो की आलम्बनभूत त्रिविध सत्त्वप्रज्ञप्ति एव आनापानस्मृति की आलम्बनभूत आश्वास-प्रश्वास-प्रज्ञप्ति = १४ होते है। पञ्चमध्यान के आलम्बन १० कसिण, उपेक्षाब्रह्मविहार की आलम्बनभूत सत्त्वप्रज्ञप्ति एव आश्वास-प्रश्वास-प्रज्ञप्ति = १२ होते है। ४ अरूपध्यानो के आलम्बन क्रमश आकाशप्रज्ञप्ति, प्रथमारूप्यविज्ञान, नास्तिभावप्रज्ञप्ति (नत्थिभावपञ्ञत्ति) एव तृतीयारूप्यविज्ञान है।

समापत्तिवीथि – कामभूमि मे ९ ध्यानो को प्राप्त पुद्गल कामभूमि मे ही उन ध्यानो का समावर्जन कर सकता है। प्रथमध्यानभूमि एवं शुद्धावास अकनिष्ठभूमि मे भी इन ९ ध्यानो को प्राप्त किया जा सकता है। शुद्धावासभूमिस्थ ब्रह्मा अभिज्ञाप्राप्ति के लिये नीचे के रूपावचर एव अरूपावचर ध्यानो का समावर्जन करते है। इसलिये सभी रूप एव अरूप ध्यानो की समापत्तिवीथियाँ ७ कामसुगतिभूमि एव १५ रूपभूमियो मे हो सकती हैं।

ऊपर ऊपर की अरूपभूमियो मे पहुँचनेवाले पुद्गल को नीचे नीचे के ध्यानो की प्राप्ति नही हो सकती। तथा पुन आरब्ध न करने के कारण प्रथम अरूपभूमि मे रूपध्यानसमापत्तिवीथियाँ भी नही होती, चार अरूपध्यान-समापत्तिवीथियाँ ही होती है। द्वितीय अरूपभूमि मे प्रथम अरूपसमापत्तिवीथि नही होती, अवशिष्ट तीन अरूपसमापति-वीथियाँ ही होती है। तृतीय अरूपभूमि में तृतीय एव चतुर्थ दो अरूपसमापत्तिवीथियाँ ही होती है। तथा चतुर्थ अरूपभूमि मे एक चतुर्थ अरूपसमापत्तिवीथि ही होती है। पूर्व एव अपर भवङ्गो को भी यथायोग्य भूमि के अनुसार ही समझना चाहिये।

प्रत्यवेक्षणवीथि के चित्तस्वरूप-आदि

प्रत्यवेक्षणवीथियो मे मनोद्वारावर्जन १ एव कामजवन १६ (महाकुशल एव महाक्रिया) = १७ चित्त ही होते है। त्रिहेतुक पृथग्जन एव शैक्ष्य की सन्तान मे महाकुशल जवन तथा अर्हत् की सन्तान मे महाक्रियाजवन होते है।

भवङ्ग से अवशिष्ट वीथिचित्त ध्यानाङ्गो का आलम्बन करते है। जब प्रथम-ध्यानवीथि के अनन्तर प्रत्यवेक्षणवीथि होती है तब वह प्रथमध्यान मे आनेवाले अतीत वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एव एकाग्रता – इन ५ ध्यानाङ्गो मे से किसी एक का आलम्बन करती है। नैवसंज्ञानासंज्ञायतनवीथि के अनन्तर अतीत उपेक्षा एव एकाग्रता-इन दो अङ्गो मे से किसी एक का आलम्बन करती है।

उन उन ध्यानवीथियो के अनुसार भूमि एव पुद्गल भी होते है। जैसे – प्रथमध्यान-वीथि के उत्पत्तिस्थानभूत भूमि एव पुद्गल ही उस प्रथमध्यानवीथि के अनन्तर होनेवाली प्रत्यवेक्षणवीथि के भी भूमि एव पुद्गल होते है। अर्थात् जिस भूमि एव पुद्गल मे प्रथमध्यानवीथि होगी उसी भूमि एव पुद्गल मे प्रथमध्यानवीथि की प्रत्यवेक्षणवीथि भी होगी।

ध्यानवीथि समाप्त।

मार्गवीथि

१८ मार्गवीथि भी स्रोतापत्तिमार्गवीथि, सकृदागामिमार्गवीथि, अनागामिमार्गवीथि एवं अर्हत्-मार्गवीथि – इस तरह चार प्रकार की होती है। उनमें से स्रोतापत्तिमार्गवीथि भी प्रथमध्यान, द्वितीयध्यान, तृतीयध्यान, चतुर्थध्यान एवं पञ्चमध्यान मार्गवीथि – इस तरह पाँच प्रकार की होती है। उनमें से प्रथमध्यान स्रोतापत्तिमार्गवीथि की उत्पत्ति –

त्रैभूमिक संस्कार-धर्मो मे अनित्य-आदि आकारों के अत्यन्त विभूततर (स्पष्ट) होने से मार्गवीथि की प्राप्ति अत्यासन्न होने पर भवङ्गचलन भवङ्गोपच्छेद, मनोद्वारावर्जन, मन्दप्रज्ञ दन्धाभिज्ञ पुद्गल मे 'परिकर्म, उपचार, अनुलोम एवं गोत्रभू' – इस प्रकार उपचारसमाधिजवन ४ बार; तीक्ष्णप्रज्ञ क्षिप्राभिज्ञ पुद्गल मे 'उपचार, अनुलोम एवं गोत्रभू' – इस प्रकार उपचारसमाधिजवन ३ बार तदनन्तर मार्गजवन १ बार एवं फलजवन ३ बार होते हैं। तत्पश्चात् यथायोग्य भवङ्ग अन्तरित करके मार्ग, फल, निर्वाण, प्रहीणक्लेश एवं शेष क्लेशों का समावर्जन करनेवाली प्रत्यवेक्षणवीथियाँ उत्पन्न होती हैं।

मार्गवीथि

१८ स्रोतापत्तिमार्गप्राप्त पुद्गलो मे से कुछ पुद्गल प्रथम परिच्छेद मे कथित नय के अनुसार वितर्क, विचार-आदि ५ ध्यानाङ्गो से सम्प्रयुक्त मार्ग प्राप्त करते हैं। कुछ पुद्गल ४, कुछ ३ एवं कुछ २ ध्यानाङ्गो से सम्प्रयुक्त मार्ग की प्राप्ति करते हैं। इस तरह ध्यानाङ्गो का सम्प्रयोग पाँच प्रकार का होने से स्रोतापत्तिवीथि भी प्रथमध्यान स्रोतापत्तिवीथि, द्वितीयध्यान स्रोतापत्तिवीथि-आदि भेद से पाँच प्रकार की होती है।

मन्दप्रज्ञ पुद्गल की प्रथमध्यान स्रोतापत्तिवीथि

भ 'न द म रि उ नु गो मा फ फ' भ
००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ०००

द्वितीयध्यान, तृतीयध्यान, चतुर्थध्यान एवं पञ्चमध्यान मार्गवीथियाँ तथा ऊपर की मार्गवीथियाँ भी प्रथमध्यान स्रोतापत्तिमार्गवीथि की तरह ही होती हैं। किन्तु ऊपर की मार्गवीथियो में गोत्रभू के स्थान पर 'वोदान' (व्यवदान) को विशेष जानना चाहिये।

मन्दप्रज्ञ पुद्गल की ऊपर की मार्गवीथि

भ 'न द म रि उ नु दा मा फ फ' भ
००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ००० ०००

स्रोतापत्तिमार्ग का पूर्वगामी ज्ञान पृथग्जनगोत्र का अभिभव करके आर्यगोत्र का उत्पाद करने से मुख्यरूप से 'गोत्रभू' कहा जाता है। ऊपर के मार्गों के पूर्वगामी ज्ञान के लिये

उसी तरह पृथग्जनगोत्र का अभिभव करके आर्यगोत्र को उत्पन्न करने का अवकाश न होने से वह मुख्यरूप से गोत्रभू नही कहा जा सकता, किन्तु मार्गधर्मो का पूर्वगामी होने के रूप मे समान होने से सदृशोपचार से उसे कोई 'गोत्रभू' कहना चाहे तो कह सकता है, किन्तु कुछ कुछ क्लेश-धर्मो से विशुद्ध होने के कारण तथा सर्वतोभावेन विशुद्ध निर्वाण का आलम्बन करने के कारण उसे 'वोदान' कहा जाता है[1]।

मार्गवीथि के प्रभेद – ४ मार्गो का ५ ध्यानो से गुणन करने से मार्ग ४×५=२० होते है। इनका तीक्ष्णप्रज्ञ क्षिप्राभिज्ञ एव मन्दप्रज्ञ दन्धाभिज्ञ – इन द्विविध पुद्गलो से गुणन करने पर मार्गो की सङ्ख्या २०×२=४० हो जाती है। उन ४० का पादक ध्यान, सम्मर्शित ध्यान एव पुद्गलाध्याशय – इन तीन से गुणन करने पर मार्गवीथि कुल ४०×३=१२० हो जाती है।

[यहाँ इन पादक, सम्मर्शित एव पुद्गलाध्याशय से गुणन करने पर भी मार्गवीथि मे कोई विशेष (भेद) नही होता। ये पादकध्यान-आदि गुणीकृत ४० के ही अन्तर्गत समाविष्ट हो जाते है। कोई शक्तिविशेष होने पर ही गुणन करना चाहिये। इसलिये इन पादक-आदि से गुणन करना उचित प्रतीत नही होता। फिर भी, क्योकि पूर्वाचार्यो ने गुणन किया है, अत यहाँ भी कर दिया गया है।]

प्रत्यवेक्षणवीथि के प्रभेद– स्रोतापत्तिमार्गवीथि के अनन्तर उस मार्ग का समावर्जन करनेवाली वीथि १, फल का समावर्जन करनेवाली वीथि १, निर्वाण का समावर्जन करनेवाली वीथि १, प्रहीणक्लेशो का समावर्जन करनेवाली वीथि १ एव अवशिष्ट क्लेशो का समावर्जन करनेवाली वीथि १ – इस प्रकार स्रोतापत्तिमार्गवीथि के अनन्तर ५ प्रत्यवेक्षणवीथियाँ होती है। इसी तरह सकृदागामिमार्गवीथि एव अनागामिमार्गवीथि के अनन्तर भी ५ – ५ प्रत्यवेक्षणवीथियाँ होती है। अर्हत्-मार्गवीथि मे अवशिष्ट क्लेश न होने से उस (अर्हत्-मार्गवीथि) के अनन्तर केवल ४ प्रत्यवेक्षणवीथियाँ ही होती है। इस प्रकार प्रत्यवेक्षणवीथियाँ कुल १९ होती है।

ऊपर विस्तार के साथ गुणन करने से सिद्ध १२० मार्गवीथियो मे स्रोतापत्ति-मार्गवीथि ३० होती है। उन ३० मे से एक एक मार्गवीथि के अनन्तर ५ – ५ प्रत्य-वेक्षणवीथियाँ होने से प्रत्यवेक्षणवीथियाँ कुल ३०×५=१५० होती है। इसी प्रकार सकृदागामिमार्गवीथि के अनन्तर प्रत्यवेक्षणवीथि १५०, अनागामिमार्गवीथि के अनन्तर प्रत्यवेक्षणवीथि १५० एव ३० अर्हत्-मार्गवीथि का ४ प्रत्यवेक्षणवीथियो से गुणन करने पर अर्हत्-मार्गवीथि के अनन्तर प्रत्यवेक्षणवीथियाँ १२०=५७० प्रत्यवेक्षणवीथियाँ होती है।

---

१ "पठममग्गपुरेचारिक ञाण हि पुथुज्जनगोत्ताभिभवनतो अरियगोत्तभवनतो च निप्परियायतो 'गोत्रभू' ति वुच्चति। इद (वोदान) पन तसदिसताय परियायतो गोत्रभू। एकच्चसङ्किलेसविसुद्धिया पन अच्चन्तविसुद्धिया आलम्बनकरणतो च 'वोदान' ति वुच्चति।" – विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ४८७ – ४८८।

स्रोतापत्तिमार्गवीथि के 'चित्तस्वरूप-आदि'

प्रथमध्यान स्रोतापत्तिमार्गवीथि मे मनोद्वारावर्जन १, सौमनस्यसहगत ज्ञानसम्प्रयुक्त महाकुशल २, स्रोतापत्तिमार्ग १ एव स्रोतापत्तिफल १=५ चित्त होते है। भवङ्ग से अवशिष्ट चित्तो मे से मनोद्वारावर्जन, परिकर्म, उपचार एव अनुलोम तक ये चित्त त्रैभूमिक सस्कार-धर्मो का आलम्बन करते है। अर्थात् मनोद्वारावर्जन से लेकर अनुलोम तक के चित्त काम, रूप एव अरूप भूमियो मे होनेवाले सभी नाम एव रूप धर्मो का आलम्बन करते है। शेष गोत्रभू, मार्ग एव फल चित्त निर्वाण का आलम्बन करते है।

भूमि एवं पुद्गल

यह प्रथमध्यान स्रोतापत्तिमार्गवीथि कामसुगतिभूमि ७, असञ्ज्ञिसत्त्व एव शुद्धावासभूमिवर्जित रूपावचरभूमि १०=१७ भूमियो मे होती है। त्रिहेतुक पुद्गल, स्रोतापत्तिमार्गस्थ एव स्रोतापत्तिफलस्थ पुद्गल–इस प्रकार इन तीन पुद्गलो मे होती है। अर्थात् मनोद्वारावर्जन, परिकर्म, उपचार, अनुलोम, एव गोत्रभू के क्षणो मे यह वीथि त्रिहेतुक पुद्गल की सन्तान मे होती है, स्रोतापत्तिमार्ग के क्षण मे मार्गस्थ पुद्गल की सन्तान मे होती है तथा फलजवनो की प्रवृत्ति के क्षण मे फलस्थ पुद्गल की सन्तान मे होती है। कामसुगतिभूमि एव रूपावचरभूमियो मे होने के कारण पूर्व एव अपर भवङ्ग कामत्रिहेतुकविपाक ४ एव रूपविपाक ५=९ होते है।

ऊपर की ध्यानमार्गवीथियाँ–प्रथमध्यान स्रोतापत्तिमार्ग से ऊपर के ध्यानो में भी चित्तस्वरूप, आलम्बन, भूमि एव भवङ्ग प्रथमध्यानमार्गवीथि की तरह ही होते है। केवल इतना विशेष जानना चाहिये—पञ्चमध्यानमार्गवीथि मे मार्ग के पूर्ववर्त्ती परिकर्म-आदि के क्षणो मे २ उपेक्षासम्प्रयुक्त महाकुशलचित्त होते है। ऊपर के मार्गो की ध्यानवीथियो के चित्तस्वरूप एव आलम्बन स्रोतापत्तिमार्गवीथि के समान ही होते है, किन्तु उनमे स्रोतापत्ति मार्ग एव फल चित्तो का परिवर्तन करके उनके स्थान पर उन उन वीथियों से सम्बद्ध मार्ग एव फल चित्तो को रखना चाहिये।

भूमि की दृष्टि से–ये सकृदागामिमार्ग एव अनागामिमार्ग वीथियाँ कामसुगतिभूमि ७, रूपावचर भूमि १० एव अरूपावचरभूमि ४=२१ भूमियो मे होती है। अर्हत्-मार्गवीथि मे उपर्युक्त भूमियो के अलावा ५ शुद्धावासभूमियो को भी जानना चाहिये। भूमि के अनुसार ही भवङ्गो को भी जानना चाहिये। अर्थात् इनमे कामत्रिहेतुक भवङ्ग ४ एव रूप-अरूप भवङ्ग ९=१३ भवङ्ग होते है। त्रिहेतुक पृथग्जन जिस प्रकार स्रोतापत्तिमार्ग को प्राप्त होता है उसी प्रकार स्रोतापत्तिफलस्थ पुद्गल सकृदागामिमार्ग को प्राप्त होता है; अत सकृदागामिमार्गवीथि स्रोतापत्तिफलस्थ, सकृदागामिमार्गस्थ एव सकृदागामिफलस्थ=३ पुद्गलो मे होती है। इसी प्रकार ऊपर की मार्गवीथियो के सम्बन्ध में भी जानना चाहिये।

प्रत्यवेक्षणवीथियो मे से मार्ग, फल एव निर्वाण का समावर्जन करनेवाली वीथियो मे ८ ज्ञानसम्प्रयुक्त काम कुशल एव क्रिया जवन होते है। प्रहीण क्लेश एव अवशिष्ट क्लेशो का समावर्जन करने मे विप्रयुक्तो के भी हो सकने के कारण १६ काम कुशल एवं

फलसमापत्तिवीथि

१९. फलसमापत्तिवीथि मे भी मार्गवीथि की ही तरह स्रोतापत्तिफलवीथि-आदि भेद होते हैं। इनमे से प्रथमध्यान स्रोतापत्तिफलवीथि की उत्पत्ति –

स्रोतापत्तिफलप्राप्त स्रोतापन्न पुद्गल निर्वाण का आलम्बन करके दृष्टधर्मसुखविहार करना चाहता है तो (इसी भव मे फलसमापत्तिसुख से विहार करना चाहता है तो) त्रैभूमिक संस्कारो के अनित्य-आदि आकार (लक्षण) अत्यन्त विर्भूततया अवभासित होने से भवङ्गचलन, भवङ्गोपच्छेद, मनोद्वारावर्जन, मन्दप्रज्ञ दन्धाभिज्ञ पुद्गल में अनुलोम ४ वार, तीक्ष्णप्रज्ञ क्षिप्राभिज्ञ पुद्गल मे अनुलोम ३ वार, तदनन्तर यथेष्ट फल होते हैं। फल-समापत्ति से उठते समय यथायोग्य भवङ्ग होते है।

क्रिया जवन होते हैं। इन प्रत्यवेक्षण जवनो का अतिशीघ्र जवित होना आवश्यक न होने के कारण ये ७ वार जवित होते हैं।

[अर्हत् की सन्तान मे क्रियाजवन एव शैक्ष्य की सन्तान मे कुशलजवन जवित होते है। शेष ज्ञातव्य विषयो का ज्ञान नवम परिच्छेद की 'मग्ग फलञ्च निब्बान'[1] इस गाथा की व्याख्या देखकर जानना चाहिये।]

आलम्बन की दृष्टि से – मार्ग का समावर्जन करनेवाली वीथि मार्ग का आलम्बन करती है। अवशिष्ट क्लेशो का समावर्जन करनेवाली वीथि अवशिष्ट क्लेशो का आल-म्बन करती है – ऐसा जानना चाहिये।

पुद्गल की दृष्टि से – फलजवन होने के बाद अर्थात् फलस्थ पुद्गल होकर समावर्जन करने के कारण ४ फलस्थ पुद्गलो मे स्वसम्बद्ध प्रत्यवेक्षणवीथियाँ होती हैं।

भूमि की दृष्टि से – स्वसम्बद्ध मार्गवीथि जिस भूमि मे होती है, उसी भूमि मे प्रत्यवेक्षणवीथि भी होती है – ऐसा जानना चाहिये।

मार्गवीथि समाप्त।

फलसमापत्तिवीथि

१९ ऐश्वर्यशाली राजा, देवराज एव ब्रह्मा-आदि जिस प्रकार अपनी सुख-सम्पत्ति का अनुभव करते है, उसी प्रकार निर्वाण नामक सुख-सम्पत्ति के स्वामी आर्यपुद्गल भी अपने निर्वाणसुख का प्रत्यक्ष भव मे अनुभव करके उपभोग करते हैं। इस प्रकार विहार करने में निर्वाण का आलम्बन करनेवाले फलधर्मों को अनेक वार उत्पन्न करना 'फल-समापत्ति' कहलाती है।

---

१. द्र० – अभि० स० ९ ६२।

मन्दप्रज्ञ की फलसमापत्तिवीथि

भ 'न द म नु नु नु नु फ (अनेक वार)' भ

°°° °°° °°° °°° °°° °°° °°° °°° °°° °°°

तीक्ष्णप्रज्ञ की वीथि मे अनुलोम ३ वार होते है – इसे जानना चाहिये।

फल-समापत्तिवीथि के प्रभेद – फलसमापत्तिवीथि भी मार्गवीथि की तरह १२० होती है। ये सभी वीथियाँ कामसुगतिभूमि, रूप एव अरूप भूमियो मे होती है, किन्तु शुद्धावासभूमि मे स्रोतापत्तिफल एव सकृदागामिफल वीथियाँ नही हो सकती – यह ध्यान मे रखना चाहिये। पूर्व एव अपर भवङ्ग भी त्रिहेतुक १३ भवङ्गो मे से ही कोई एक होता है। नीचे की तीन फलवीथियो मे अनुलोमजवन ज्ञानसम्प्रयुक्त महाकुशल एव अर्हत्-फलवीथि मे ज्ञानसम्प्रयुक्त महाक्रिया होते है। तथा यदि पञ्चमध्यान होता है तो उपेक्षासम्प्रयुक्त और यदि नीचे के ध्यान होते है तो सौमनस्यसम्प्रयुक्त होते है। अपने अपने फल का ही समावर्जन करने से स्रोतापत्तिफलसमापत्तिवीथि मे स्रोतापत्तिफल तथा सकृदागामि-अनागामि-अर्हत्-फलसमापत्तिवीथियो मे क्रमश सकृदागामिफल, अनागामिफल, एव अर्हत्-फल होते है।

अनुलोम नाम – फलजवनो के पूर्ववर्ती उपचारसमाधि-जवनो का 'अनुलोम' यह नामकरण किया गया है। "अरहतो अनुलोम फलसमापत्तिया अनन्तरपच्चयेन पच्चयो, सेक्खान अनुलोम फलसमापत्तिया अनन्तरपच्चयेन पच्चयो[1]" – इस प्रकार 'पट्ठानपालि' मे भी 'अनुलोम' यह नामकरण उपलब्ध होता है, किन्तु 'विसुद्धिमग्ग' मे सबसे अन्तिम जवन का गोत्रभू यह नाम भी उपलब्ध होता है[2]।

अनुलोम निर्वाण का आलम्बन नही करते – जिस प्रकार मार्ग का पूर्ववर्ती गोत्रभू निर्वाण का आलम्बन करता है, उस प्रकार फलजवनो के पूर्ववर्ती अनुलोम निर्वाण का आलम्बन नही करते, अपितु सस्कार-धर्मो का ही आलम्बन करते है[3]। मार्ग-धर्म अपने निश्रयभूत सत्त्वो का 'वट्टदुक्ख[4]' (ससार दुख) नामक सस्कारक्षेत्र से निसरणकृत्य करते है। अत उनके पूर्वगामी गोत्रभू धर्म भी 'वट्टदुक्ख' नामक सस्कार धर्मों का आलम्बन न करके उनसे मुक्त निर्वाण का आलम्बन करते है, और इसीलिये वे (गोत्रभू) धर्म भी मार्गकृत्य के अनुकूल होते है। फल-धर्म 'वट्टदुक्ख' नामक सस्कारक्षेत्र से निसरणकृत्य करनेवाले धर्म नही है, अपितु वे दृष्टधर्मसुखविहारमात्र होते है, अत फल-धर्मो के पूर्वगामी अनुलोमधर्मो के लिये भी सस्कार-धर्मो से निसरणकृत्य करना आवश्यक नही होता। इसलिये फलसमापत्तिवीथि मे फल के पूर्वगामी ये अनुलोम धर्म,

---

१. पट्ठान, प्र० भा०, पृ० १२८-१२९।

२. द्र० – विसु०, पृ० ६३।

३. विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ४८५।

४. "वट्ट ससारो।" – विभ० अनु०, पृ० १७१।

अभिञ्ञावीथि

२० अभिञ्ञावीथि भी इद्धिविध (ऋद्धिविध), दिब्बसोत, परचित्त-विजानन, पुब्बेनिवासानुस्सति, दिब्बचक्खु, यथाकम्मूपग एव अनागतंस अभिञ्ञा-वीथि – इस तरह ७ प्रकार की होती है। इनमे से इद्धिविध अभिञ्ञा-वीथि भी अधिट्ठानिद्धि, विकुब्बनिद्धि एव मनोमयिद्धि – इस प्रकार त्रिविध होती है। इनमे से अधिट्ठानिद्धि अभिञ्ञावीथि की उत्पत्ति –

प्राय आठ समापत्तियो से सम्पन्न पुद्गल जब अनेक प्रकार की ऋद्धियों का निर्माण करना चाहता है तो उसमे किसी एक कसिण का आलम्बन करके रूपावचर-पञ्चमध्यान का समावर्जन करनेवाली समापत्तिवीथि होती है। यह अभिञ्ञा की पादकध्यानवीथि है।

मार्ग के पूर्वगामी गोत्रभू एव वोदान (व्यवदान) की भाति निर्वाण का आलम्बन करनेवाले न होकर सस्कार-धर्मो का आलम्बन करते है[1]।

मार्गवीथियाँ – मार्गवीथि के फलजवन फलसमापत्ति नही है। मार्गवीथि मे आने-वाले २ – ३ वार फलजवनो के लिये पृथक् परिकर्म नही किया जाता, अपितु मार्ग के वेग से ही वे अपने आप होनेवाले फलमात्र होते है, अत उन्हे 'फलसमापत्ति' नही कहा जा सकता। मार्ग से असम्बद्ध पृथक् फलजवन होने के लिये, सस्कार-धर्मो की अनित्य-अनात्म-दुख – इस प्रकार भावना के रूप मे पृथक् परिकर्म किया जाता है, अत मार्ग से असम्बद्ध फलजवनो को ही 'फलसमापत्ति' कहा जाता है।

फलसमापत्ति से उठना – फलसमापत्ति का समावर्जन करने से पूर्व 'मै इतने कालपर्यन्त समावर्जन करूँगा' – इस प्रकार कालपरिच्छेदपूर्वक अधिष्ठान करके ही समावर्जन किया जाता है। इसलिये अपने अधिष्ठान का काल पूर्ण हो जाने पर फलजवनसन्तति रुककर भवङ्ग-चित्त उत्पन्न होते है। इस प्रकार भवङ्गचित्तो के उत्पाद को ही 'फलसमापत्ति से उठना' कहते है।

फलसमापत्तिवीथि समाप्त।

अभिञ्ञावीथि

२० रूपावचर कुशल एव क्रिया पञ्चमध्यान मे सम्प्रयुक्त अभि अर्थात् विशेषरूप से जाननेवाले ज्ञान को 'अभिञ्ञा' कहते है। उस ज्ञान से सम्प्रयुक्त पञ्चमध्यान को भी 'अभिञ्ञा' कहते है।

इस अभिञ्ञा को प्राप्त करने के इच्छुक पुद्गल को प्राय आठ समापत्तियो (चतुष्क नय के अनुसार चार रूपावचरध्यान एव चार अरूपावचरध्यान को आठ समापत्ति

---

१ द्र० – अट्ठ०, पृ० १८८ – १८९; विसु० महा०, द्वि० भा०, पृ० ४८०।

इसके अनन्तर यदि अनेक शरीर होने के लिये अपना निर्माण करना चाहता है तो अनेक शरीर का आलम्बन कर के 'सत होमि, सहस्स होमि' अर्थात् मै सौ होऊँ, या हजार होऊँ'– इस प्रकार परिकर्म करनेवाली काम-जवनमनोद्वारवीथियाँ होती है। यह ऋद्धि होने के लिये परिकर्म (अभिसंस्कृत) करनेवाली वीथि है।

तदनन्तर किसी एक कसिण का आलम्बन करके रूपावचरपञ्चमध्यान का समावर्जन करनेवाली समापत्तिवीथि पुन होती है। यह भी अभिज्ञा की पादकध्यानवीथि है। तदनन्तर परिकर्म किये गये 'सत' 'सहस्स' निर्मातव्य-रूपो का आलम्बन करके, कृत परिकर्म के अनुसार होने मे समर्थ अभिज्ञा-वीथि होती है। जब यह वीथि होती है तब अभीष्ट निर्माण के अनुसार अनेक प्रकार की ऋद्धियाँ उत्पन्न होती है।

कहते है) का लाभी होना चाहिये। इन समापत्तियो मे आठ कसिणो का 'विसुद्धि-मग्ग' के अभिज्ञानिर्देश के अनुसार अनुलोम, प्रतिलोम, अनुलोमप्रतिलोम-आदि नाना प्रकार से अभ्यास करके वशीभाव प्राप्त कर लेने पर आगे आनेवाले क्रम से अभिज्ञा सिद्ध की जा सकती है। कुछ विशेप पुद्गलो को रूपावचरपञ्चमध्यान की प्राप्ति-मात्र से अथवा मार्ग की प्राप्तिमात्र से अभिज्ञा सिद्ध हो सकती है। इस अभिज्ञा को प्राप्त पुद्गल यदि अभिज्ञा उत्पन्न करना चाहते है तो 'पादकध्यान, परिकर्म एव पुन. पादकध्यान' होकर ही अभिज्ञा की प्राप्ति हो सकती है। अर्थात् चतुर्थ वीथि मे ही अभिज्ञावीथि हो सकती है।

पादकध्यानवीथि

भ 'न द म रि उ नु गो झ झ झ' भ
ooo ooo ooo ooo ooo ooo ooo ooo ooo ooo ooo ooo

'इस पादकध्यानवीथि मे कितने ध्यान होने चाहिये' – इस प्रकार का कोई नियम नही है। समापत्तिवीथियो के सदृश होने से यथेष्ट ध्यान हो सकते है। कुछ विशेष समय मे अनेक वार ध्यान नही होगे। तदनन्तर ध्यानाङ्गो का समावर्जन करनेवाली प्रत्यवेक्षणवीथियाँ स्वभावत होगी ही।

पादकध्यान का लाभ – पादकध्यान का समावर्जन करने से क्या लाभ होता है?

इस पादकध्यान का समावर्जन करके समाधिप्राप्त पुद्गल बाद मे 'सत होमि, सहस्स होमि' आदि द्वारा जब परिकर्म करता है तब स्वसम्बद्ध आल-म्बन मे परिकर्मचित्त को अच्छी तरह नियन्त्रित कर सकता है, इसलिये पादकध्यान का समावर्जन करना, समाधि का प्रापक होने से परिकर्मचित्त के समाधान के लिये होता है।

परिकर्मवीथि

भ 'न द म ज ज ज ज ज ज ज' भ

यहाँ परिकर्म करने मे 'सत होमि, सहस्स होमि' – आदि, मन्त्रपाठ की तरह नही किये जाते, अपितु 'एक सौ होऊँ, एक हजार होऊँ, अमुक रूप से होऊँ' – इस प्रकार अपने अभीष्ट रूप का चित्त द्वारा आलम्बन करके अधिष्ठान करना मात्र होता है। इसलिये इस वीथि को 'अधिष्ठानवीथि' भी कहते है। यह कामजवन मनोद्वारवीथि ही है। यह एक वीथिमात्र नही है, अपितु अनेक वीथियाँ हो सकती है। उसके बाद अभिज्ञा के पादकरूप मे पञ्चम ध्यान का पुन समावर्जन होता है।

पुनः पादकध्यानवीथि का लाभ – इस पादकध्यान का पुन समावर्जन करने से क्या लाभ होता है?

पुन समावर्जन करना अभिज्ञा को बल प्रदान करनेवाला होता है। अर्थात् बलवती अभिज्ञा होने के लिये पादकध्यान का पुन समावर्जन किया जाता है।

स्वभाव से अभिज्ञा मे वशीभाव को प्राप्त (अभ्यस्त) पुद्गल यदि पादकध्यान का पुन समावर्जन न करे, फिर भी अभिज्ञा उत्पन्न हो सकती है – यह भी जानना चाहिये। अत 'अभिधम्मत्थसङ्गहो' के साथ ही कुछ अट्ठकथाओ मे पुन पादकध्यानवीथि का उल्लेख नही है।

अभिज्ञावीथि

भ 'न द म रि उ नु गो भि' भ

इस अभिज्ञावीथि के उत्पाद से पहले पादकध्यानवीथि एव परिकर्मवीथियाँ पुनः पुन उत्पन्न होती है। अरूपभूमि मे रूपावचर पञ्चमध्यान का समावर्जन न हो सकने के कारण वहाँ ये वीथियाँ नही हो सकती। अत ७ कामसुगतिभूमि एव १५ रूपभूमि मे ही ये वीथियाँ होती हैं। इसलिये पूर्व-अपर भवङ्ग भी कामत्रिहेतुक भवङ्ग ४ एव रूपावचर भवङ्ग ५ = ९ ही होते है। त्रिहेतुक पृथग्जन १ एव फलस्थ पुद्गल ४ = ५ पुद्गलो मे ही ये वीथियाँ होती हैं। अर्हत्-पुद्गल की सन्तान मे क्रिया-अभिज्ञा तथा पृथग्जन एव शैक्ष्य पुद्गल की सन्तान मे कुशल अभिज्ञा होती है। अभिज्ञा से पूर्ववर्ती जवन महाकुशल एव क्रिया उपेक्षासम्प्रयुक्त ही होते हैं, क्योकि यह ध्यान पञ्चमध्यान होता है। यदि तीक्ष्ण पुद्गल होता है तो परिकर्मजवन ३ वार ही होते है।

(इद्धिविध के प्रभेद तथा दिव्यश्रोत्र-आदि अभिज्ञाओ की उत्पत्ति का क्रम एव स्वभाव-आदि नवम परिच्छेद के 'अभिज्ञा-प्रकरण' की व्याख्या मे देखे।)

दिव्यश्रोत्र-आदि अभिज्ञाओ मे परिकर्म के अतिरिक्त शेष क्रम दिव्यचक्षुष्-अभिज्ञा की तरह ही होता है। दिव्यश्रोत्र मे 'एतस्स सद्द सुणामि' मैं इसका शब्द सुनना चाहता हूँ –

इस प्रकार परिकर्म करना चाहिये। परचित्तविजानन में 'एतस्स चित्त जानामि' मैं इसके चित को जानना चाहता हूँ – इस प्रकार परिकर्म करना चाहिये। पुब्बेनिवासानुस्सति में 'पुब्बे निवुत्त जानामि' मैं पूर्वभव मे निवास किये गये अपने एव दूसरो के स्कन्ध, उन स्कन्धो से सम्बद्ध नाम, गोत्र-आदि प्रज्ञप्ति, परिनिर्वाणप्राप्त बुद्ध-आदि के निर्वाण को जानना चाहता हूँ – इस प्रकार यथेच्छ परिकर्म करना चाहिये।

दिव्यचक्षुष् में जब पादकध्यान का समावर्जन किया जाता है तब सभी कसिण अनुरूप नही होते। केवल आलोक उत्पन्न होने के लिये तेजस्, अवदात, एव आलोक – इन तीन कसिणो मे से ही किसी एक का आलम्बन करके समावर्जन कर 'एतस्स रूप पस्सामि' मैं इसका रूप देखना चाहता हूँ – इस प्रकार परिकर्म करना चाहिये। यथाकम्मूपग मे 'अतीत कम्म जानामि' मैं अतीत कर्म को जानना चाहता हूँ – इस प्रकार परिकर्म करना चाहिये। अनागतस मे 'अनागत अस जानामि' मैं उनके अनागत अश को जानना चाहता हूँ – इस प्रकार परिकर्म करना चाहिये।

पुब्बेनिवासानुस्सति मे 'पुब्बे निवुत खन्ध जानामि' – इस प्रकार पूर्वाचार्य परिकर्म करते है, किन्तु यहाँ केवल स्कन्ध ही नही, अपितु स्कन्ध से सम्बद्ध नाम, गोत्र-आदि प्रज्ञप्ति एव निर्वाण का भी यथाभिलषित परिकर्म किया जा सकने के कारण स्कन्ध शब्द आवश्यक नही है। इसी तरह अनागतस मे भी स्कन्ध शब्द आवश्यक नही है, अत 'अनागत अस जानामि' – इस प्रकार परिकर्म करना चाहिये।

ये ७ लौकिक अभिज्ञायें है। इनमे से अनागतस एव यथाकम्मूपग को दिव्यचक्षुष् की मूलभूत होने से अर्थात् दिव्यचक्षुष् की परिवारभूत होने से दिव्यचक्षुष् मे ही सम्मिलित करके 'पञ्च अभिज्ञा' भी कहा जाता है। कही कही ६ अभिज्ञाओ का उल्लेख भी आता है। वहाँ उपर्युक्त ५ अभिज्ञाओ मे १ आस्रवक्षय (अर्हत्-मार्ग) अभिज्ञा को जोडकर जानना चाहिये।

अभिज्ञा के आलम्बन – भगवान् बुद्ध द्वारा 'धम्मसङ्गणि' पालि मे परीत्तालम्बन-तिक-आदि ४ आलम्बनतिको का उपदेश किया जाने से उन अभिज्ञा के आलम्बनो को उन ४ आलम्बनतिको मे यथायोग्य सम्मिलित करना चाहिये।

"आरम्मणतिका वुत्ता ये चत्तारो महेसिना।
सत्तन्नमभिञ्ञाणान पवत्ति तेसु दीपये[1] ।।"

१. इद्धिविध – ब्रह्मभूमि मे जाने की इच्छा होने पर यदि स्कन्ध (शरीर) को चित्त की तरह अत्यन्त शीघ्रगामी करना अभीष्ट होता है तो 'यह शरीर चित्त की तरह शीघ्रगामी हो' – ऐसा अधिष्ठान किया जाता है। वह अधिष्ठानचित्त (परीत्तालम्बनतिक के अनुसार) कामधर्म स्कन्ध (रूप) का आलम्बन करता है। वह स्कन्ध प्रत्युत्पन्न होने से (अतीतालम्बनतिक के अनुसार) प्रत्युत्पन्न धर्म का आलम्बन करता है। वह स्कन्ध आध्यात्मिक (अज्झत्तिक) धर्म होने से (अज्झत्तारम्मणतिक के अनुसार) आध्यात्मिक धर्म का आलम्बन करता है। पादकध्यान का आलम्बन करके 'यह चित्त काय के अनुसार

१. विसु०, पृ० २६६।

हो' – इस प्रकार अधिष्ठान करते समय आलम्बनभूत ध्यानचित्त महग्गत अतीतधर्म होता है। बाह्य (बहिद्धा) अश्व, हस्ती-आदि का निर्माण करते समय अश्व, हस्ती-आदि काम बहिद्धा प्रत्युत्पन्न आलम्बन होते हैं। महाकाश्यप की धातुओं की स्थापना करते समय धातुगर्भ में रखे हुए दीपक एवं पुष्प-आदि का 'अनागतकाल में मलिन एवं शुष्क न हों' – इस प्रकार अधिष्ठान करते समय कुछ चित्तों ने प्रत्युत्पन्न दीपक एवं पुष्पों का आलम्बन तथा कुछ अधिष्ठानचित्तों ने अनागत दीपक एवं पुष्पों का आलम्बन किया होगा। उपर्युक्त आलम्बनों में से कुछ रूपालम्बन, कुछ शब्द, गन्ध, रस या स्प्रष्टव्य आलम्बन तथा कुछ ध्यानचित्त एवं द्रव्य-आदि धर्मालम्बन हैं। इस प्रकार ६ आलम्बन होते हैं।

२ दिब्बसोत – दिव्यश्रोत्र-अभिज्ञा प्राकृत कर्ण से सुनने में अयोग्य अपने शरीर के अन्दर के (अज्झत्त) एवं दूरस्थ (बहिद्धा) शब्दालम्बन का आलम्बन करती है। इसलिये अज्झत्त एवं बहिद्धा कामधर्मभूत प्रत्युत्पन्न शब्दालम्बन का आलम्बन करती है।

३ परचित्तविजानन – परचित्तविजानन में 'परचित्त' कथित होने से अज्झत्त एवं बहिद्धा में वह बहिद्धा है, ६ आलम्बनों में वह धर्मालम्बन है। केवल चित्त ही नहीं, अपितु चैतसिक का भी आलम्बन करने से ४ नामस्कन्ध का आलम्बन किया जाता है – ऐसा जानना चाहिये। परीत्तालम्बनतिक के अनुसार काम, महग्गत, एवं लोकोत्तर सभी चित्तों का यथाशक्ति आलम्बन किया जा सकता है। पूर्व ७ दिन एवं अपर ७ दिन के बीच होनेवाले चित्तों का आलम्बन कर सकने के कारण अतीतालम्बनतिक के अनुसार ७ दिन के बीच होनेवाले अतीत चित्तों एवं अनागत चित्तों के साथ प्रत्युत्पन्न चित्त का भी आलम्बन किया जा सकता है। प्रत्युत्पन्न चित्त का आलम्बन करने के बारे में अट्ठ-कथा-टीकाओं में मतभेद है। इस विषय में चतुर्थ परिच्छेद की मनोद्वारवीथि देखें[1]। इस परचित्तविजानन अभिज्ञा को 'चेतोपरिय-अभिञ्ञा' भी कहते हैं।

४ पुब्बेनिवास – यह पूर्वनिवास-अभिज्ञा पूर्व अतीत द्वितीय भव से लेकर पूर्व पूर्व भव में अपने या दूसरों द्वारा निवास किये गये 'नाम-रूप स्कन्ध नामक काम, महग्गत एवं लोकोत्तर चित्त-चैतसिक अतीतधर्मसमूह, उन उन नाम-रूपों से सम्बद्ध नाम, गोत्र-आदि प्रज्ञप्ति एवं निर्वाण धर्म – इन छह आलम्बनों का आलम्बन करती है।

वादान्तर – कुछ आचार्य "चेतोपरियञाणचतुत्थ अतीते सत्तदिवसब्भन्तरे अनागते सत्तदिवसब्भन्तरे परेस चित्त जानन्तस्स अतीतारम्मण अनागतारम्मण च होति सत्तदिवसातिक्कमे पन त जानितु न सक्कोति। अतीतानागतसञाणान हि एस विसयो[2]" – इस 'अट्ठसालिनी' के 'सत्तदिवसातिक्कमे. .एस विसयो' का प्रमाण करके 'अतीत हुए सात दिन के ऊपर से लेकर इस भव में उत्पन्न स्कन्ध-आदि का भी 'पुब्बेनिवासानुस्सति' अभिज्ञा द्वारा ही आलम्बन किया जाता है' – ऐसा कहते हैं। 'अट्ठसालिनी' में कथित अतीतांशज्ञान 'पुब्बेनिवासानुस्सति' ही है।

---

१. द्र० – अभि० स०, चतु० प० (मनोद्वारवीथि), पृ० ३३९–३४१।
२ अट्ठ०, पृ० ३२९।

किन्तु उन आचार्यों के मत के सदृश मत का 'विसुद्धिमग्ग' मे खण्डन किया गया है। 'विसुद्धिमग्ग' का कहना है कि इस भव के स्वसम्बद्ध अतीत हुए सभी आलम्बनो का सामान्य परिकर्मसमाधि से सम्प्रयुक्त ज्ञान द्वारा (परिकर्म करनेवाली मनोद्वारवीथि द्वारा) भी आलम्बन किया जा सकता है। 'अतीतांश ज्ञान द्वारा आलम्बन किया जाता है' – इस प्रकार कुछ लोगो द्वारा कहा जाने मे 'अतीतांशज्ञान' यह शब्द यदि रूपावचर पुब्बेनिवास-अभिज्ञा की अपेक्षा से कहा जाता है तो उचित नही है, किन्तु यदि अतीत का आलम्बन करनेवाले सामान्य परिकर्म समाधि से सम्प्रयुक्त कामावचर ज्ञान की अपेक्षा करके कहा जाता है तो युक्तियुक्त होता है।[1]

"तत्थ पच्छिमनिसज्जतो पभुति याव पटिसन्धितो आरम्मण कत्वा पवत्त ञाण पुब्बेनिवासञाण नाम न होति, त पन परिकम्मसमाधिञाण नाम होति। अतीतंसञाण पि एके वदन्ति त रूपावचर सन्धाय न युज्जति[1]।"

'परमत्थदीपनी' मे कहा गया है कि पुब्बेनिवास-अभिज्ञा इस भव मे अतीत हुए दूसरो के चित्त-चैतसिको एव उनके साथ नाम, गोत्र-आदि प्रज्ञप्तियो तथा निर्वाण का आलम्बन करती है। अट्ठकथाओ मे न आने पर भी यह उचित प्रतीत होता है। अपने चित्त-चैतसिको का आलम्बन करने के बारे मे ही 'यह अभिज्ञा का आलम्बन नही है' – ऐसा 'विसुद्धिमग्ग' मे कहा गया है। अतीत चित्त-चैतसिक-आदि का आलम्बन करने के बारे मे नही कहा गया है[2]।

५ दिब्बचक्खु – दिव्यचक्षुष्-अभिज्ञा कामधर्मभूत अज्झत्त (प्राकृत चक्षुष् से देखने मे अयोग्य स्कन्ध के भीतर) एव बहिद्धा सन्तान मे सभी प्रत्युत्पन्न रूपो का आलम्बन करती है।

६ यथाकम्मूपग – कर्म के अनुसार उन उन भवो मे उपगत पुद्गलो की अतीत कर्मचेतना का आलम्बन करनेवाली अभिज्ञा को 'यथाकर्मोपग अभिज्ञा' कहते है। कर्म को प्रधान करके उस कर्म से सम्प्रयुक्त चित्त-चैतसिक ४ नामस्कन्धो का भी आलम्बन किया जाता है। इसलिये यह काम एव महग्गत अतीत कुशल-अकुशल नामक धर्मालम्बन का आलम्बन करती है – ऐसा कहा गया है।

७ अनागतंस – जैसे पुब्बेनिवास-अभिज्ञा अतीत धर्मसमूहो का आलम्बन करती है, वैसे ही अनागतांश-अभिज्ञा अनागत धर्मसमूह का आलम्बन करती है, किन्तु काल का परिच्छेद करते समय ये दोनो समान नही होती। पुब्बेनिवास द्वारा अतीत द्वितीय-भव से लेकर अतीत धर्मसमूह का आलम्बन किया जाता है। यह अनागतांश आज से लेकर अध्यात्म एव बहिर्धा स्वसन्तान एव परसन्तान मे होनेवाले काम, महग्गत एव लोकोत्तर चित्त-चैतसिक तथा रूप नामक अनागत धर्मसमूह एव नाम-गोत्र, वस्तु-द्रव्य, प्रज्ञप्ति तथा निर्वाण सभी का आलम्बन कर सकती है।

---

१ विसु०, पृ० २८७।

२ प० दी०, पृ० २७३।

'विभावनी' मे, परचित्तविजानन से सम्मिश्रण न होने देने के भय से 'आनेवाले ५८ दिन से लेकर चित्त-चैतसिको का, आनेवाले द्वितीय दिन से लेकर शेष आलम्बनो का अनागतांश-अभिज्ञा द्वारा आलम्बन किया जाता है'–ऐसा विभाजन किया गया है[1]। किन्तु अनागतांश-अभिज्ञा यदि द्वितीय दिन से लेकर शेष आलम्बनो का आलम्बन करती है तो प्रथम दिन के आलम्बनो का कौन ज्ञान आलम्बन करेगा ? क्या यह अनागतांश-ज्ञान का क्षेत्र नही है ?

कुछ आचार्य आनेवाले सात दिन से ऊपर आठवे दिन से लेकर 'अनागत धर्म-समूह' का ग्रहण करते है। ये आचार्य 'सत्तदिवसातिक्कमे पन त जानितु न सक्कोति, अतीतानागतसञ्ञाणान हि एस विसयो'–इस 'अट्ठसालिनी' का ही प्रमाण करते है –ऐसा प्रतीत होता है, किन्तु हमने 'विसुद्धिमग्ग' के आधार पर कहा है कि 'अट्ठसालिनी' मे आनेवाला अनागतांश-ज्ञान रूपावचर-अभिज्ञा नही है।

उन आचार्यो के मतानुसार आनेवाले ७ दिन के अन्दर होनेवाले चित्त-चैतसिको का परचित्तविजानन-अभिज्ञा द्वारा आलम्बन किया जाता है अत उनके सामने कोई समस्या नही है, किन्तु चित्त-चैतसिको से अवशिष्ट रूप, नाम-गोत्र, वस्तु-द्रव्य-आदि प्रज्ञप्ति एव निर्वाण का किस ज्ञान द्वारा आलम्बन होगा ? अनागतांश-अभिज्ञा द्वारा आलम्बन किया जायेगा–उन्हे ऐसा मानना पडेगा कि नही ?

आधुनिक आचार्यो के मतानुसार आज से लेकर सात दिन के भीतर होनेवाले चित्त-चैतसिको का परचित्तविजानन एव अनागतांश-अभिज्ञा–दोनो के द्वारा आलम्बन किया जा सकता है। (एक आलम्बन मे दो ज्ञान होने से कोई आपत्ति नही है। यथायोग्य ज्ञान आलम्बन करेगा ही।) सात दिन के भीतर चित्त-चैतसिको से अतिरिक्त आलम्बन एव सात दिन के अनन्तर चित्त-चैतसिको के साथ सभी आलम्बनो का अनागतांश-अभिज्ञा द्वारा ही आलम्बन किया जायेगा।

इन आचार्यो की आधारभूत पालि यह होगी –

"तत्थ किञ्चापि चेतोपरियञाण पि अनागतारम्मण होति, त पन सत्तदिवसब्भन्तरे उप्पज्जनकचित्तमेव आरम्मण करोति। इद (अनागतसञाण) अनागते कप्पसतसहस्से उप्पज्जनकचित्त पि खन्धे पि खन्धपटिबद्ध पि [2]।"

अभिज्ञावीथि समाप्त।

---

१ विभा०, पृ० २०२।

२ अट्ठ०, पृ० ३२२।

निरोधसमापत्तिवीथि

२१. निरोधसमापत्तिवीथि की उत्पत्ति –

अष्ट-समापत्तिलाभी काम एव रूपी अनागामी एव अर्हत् पुद्गल 'भारा हवे पञ्च खन्धा' के अनुसार भारयुक्त स्कन्ध को धारण करने से अत्यन्त उद्विग्न हो कर जब दृष्टधर्म निर्वाणसुख का उपभोग करना चाहते है तो लौकिक प्रथमध्यान का समावर्जन करके उस ध्यान मे होनेवाले चित्त-चैतसिक संस्कार-धर्मों की अनित्य, अनात्म एवं दु ख – इस प्रकार विपश्यना करते है । उसी तरह द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, आकाशानन्त्यायतन एव विज्ञानानन्त्यायतन ध्यानपर्यन्त समावर्जन करके जब जब ध्यान से उठते है तब तब उन ध्यानो मे होनेवाले सस्कार-धर्मों की विपश्यना करते है, तदनन्तर आकिञ्चन्यायतन ध्यान का समावर्जन करके उस ध्यान से उठते समय उनमे विपश्यना न होकर नानाबद्ध-अविकोपन, सङ्घपटिमानन, सत्थुपक्कोसन एवं अद्धान-परिच्छेद – इन पूर्वकृत्यों को करनेवाली ६ कामजवन मनोद्वारवीथियाँ होती है[२] । तदनन्तर नैवसंज्ञानासंज्ञायतन ध्यान का समावर्जन करते समय दो वार ध्यान होने के अन्त मे चित्त-चैतसिक एव चित्तज रूपो के निरोध नामक निरोधसमापत्ति की प्राप्ति होती है । निरोधसमापत्ति से उठते समय अनागामी पुद्गल मे अनागामिफल एक वार, अर्हत् मे अर्हत्फल एक वार होता है । तदनन्तर यथायोग्य भवङ्ग होते है ।

निरोधसमापत्तिवीथि

२१. यह निरोधसमापत्ति ध्यानसन्तति नामक शमथ एव उन ध्यानो मे होनेवाले संस्कार-धर्मों की अनित्य-आदि द्वारा भावना नामक विपश्यना – इस प्रकार शमथ-विपश्यनायुगलो के क्रमश आरब्ध होने से प्राप्त होनेवाली समापत्ति है । अरूपभूमि मे उसी तरह क्रम से प्राप्त होनेवाले रूपध्यान न होने के कारण काम एव रूपी अनागामी एव अर्हत् पुद्गल ही इसका समावर्जन कर सकते है[१] ।

नानाबद्ध-अविकोपन – नानाविध प्रदेशो मे आबद्ध अपने परिष्कारभण्डारो को नष्ट न होने देने के लिये अधिष्ठान करना 'नानाबद्ध-अविकोपन' है । अपने शरीर से सम्बद्ध चीवर-आदि तो समापत्ति के बल से ही नष्ट नहीं हो सकते, किन्तु दूरस्थ प्रदेश मे रखे

---

१. द्र०–विसु, पृ० ४९८–५०० ।

हुए भण्डार जल, अग्नि एव चोर-आदि शत्रु नष्ट न कर सके – इस प्रकार अधिष्ठान करना 'नानाबद्ध-अविकोपन' है[1] ।

सङ्घपटिमानन – सङ्घ द्वारा 'पटिमानन' करना अर्थात् कोई एक सङ्घकृत्य करने के लिये सङ्घ द्वारा अपनी प्रतीक्षा किया जाना 'सङ्घपटिमानन' है । इस प्रकार की प्रतीक्षा की सम्भावना होने पर 'सङ्घ द्वारा बुलाने से पहले समापत्ति से उठूँगा' – ऐसा अधिष्ठान करना 'सङ्घपटिमानन' है । इस तरह अधिष्ठान करके समावर्जन करने से ही प्रतीक्षा-काल मे समापत्ति से उठा जा सकता है । यदि अधिष्ठान न करके समावर्जन किया जाता है तो सङ्घ की आज्ञा से सुनाई पडने योग्य स्थान से 'सङ्घ आपकी प्रतीक्षा कर रहा है' – इस प्रकार कहने पर तुरन्त समापत्ति से उठना पडता है[2] ।

सत्थुपक्कोसन – भगवान् बुद्ध द्वारा बुलाया जाना 'सत्थुपक्कोसन' है । यदि भगवान् बुद्ध बुलानेवाले है तो 'भगवान् बुद्ध द्वारा बुलाये जाने से पूर्व समापत्ति से उठूँगा' – इस प्रकार अधिष्ठान करना 'सत्थुपक्कोसन' कहलाता है । इस प्रकार अधिष्ठान करके समावर्जन किया जाता है तो बुलाने से पहले उठा जा सकता है । यदि अधिष्ठान न करके समावर्जन किया जाता है तो भगवान् बुद्ध की आज्ञा से सुनायी पडने योग्य स्थान से बुलाने पर समापत्ति से उठना पडता है[3] । (भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के अनन्तर इस सत्थुपक्कोसन का विचार आवश्यक नही है ।)

अद्धानपरिच्छेद – अपनी आयु के काल का परिच्छेद करना 'अद्धानपरिच्छेद' है । इस समापत्ति का समावर्जन करनेवाला पुद्गल यदि मनुष्यभूमि मे होता है तो उसे 'मेरी आयु १ सप्ताह पर्यन्त रहेगी कि नही ?' – इस प्रकार परिच्छेद करना होता है । यदि बिना विचार किये समावर्जन करना चाहे तो समावर्जन तो किया जा सकता है, किन्तु एक सप्ताह के भीतर यदि आयु क्षय हो जाता है तो समापत्ति से उठना होगा । समापत्ति के समय च्युति नही होना चाहिये । यदि समापत्ति से उठते ही च्युति हो जाती है तो अनागामी के लिये अर्हत् होने का अवकाश न होने से उसकी हानि होती है तथा अर्हत् भी अपने अर्हत् होने के कारणो का सङ्घ को ज्ञान करा देने का अवकाश प्राप्त नही कर पाता, तथा उपदेश करने के लिये भी अवकाश प्राप्त नही कर पाता – इन कारणो की वजह से शासन की हानि होती है । अत अद्धानपरिच्छेद का मुख्य रूप से परिच्छेद करना चाहिये, उपर्युक्त ३ कृत्यो का विचार न करने पर भी अधिक हानि नही होती । ब्रह्मभूमि मे इन चारो पूर्वकृत्यो का विचार आवश्यक नही होता । यदि कोई करना चाहे तो केवल अद्धानपरिच्छेद का विचार किया जा सकता है[4] । (इस समापत्ति-काल मे समाधिविप्फारिद्धि के बल से दूसरो द्वारा प्राणातिपात नही किया जा सकता ।)

---

१. तु० – विसु०, पृ० ५०१ ।
२. तु० – विसु०, पृ० ५०२ ।
३ तु० – विसु०, पृ० ५०२ ।
४. तु० – विसु०, पृ० ५०२ ।

निरोधसमापत्तिवीथि

भ 'न द म रि उ नु गो ञ ञ (निरोध) फ' भ
ooo ooo ooo ooo ooo ooo ooo ooo ooo ooo ooo ooo

इस वीथि का ध्यान नैवसञ्ज्ञानासञ्ज्ञायतन ध्यान ही है। यदि अनागामी होता है तो कुशलध्यान एव अनागामिफल, यदि अर्हत्-होता है तो क्रियाध्यान एव अर्हत्फल होते हैं। परिकर्म आदि इस उपेक्षाध्यान से पूर्वगामी होने के कारण महाकुशल एव महाक्रिया उपेक्षासम्प्रयुक्त ही होते हैं। कामसुगतिभूमि एव रूपभूमि होने से पूर्व एव अपर भवङ्ग कामतिहेतुक भवङ्ग ४ एव रूपभवङ्ग ५=९ ही होते हैं।

कारण एवं फल – निरोधसमापत्ति आर्यमार्गप्रज्ञा का फल है। फलसमापत्ति विपश्यना का फल है। अभिज्ञा लौकिकध्यानसमापत्ति का फल है। इस निरोध-समापत्ति का कामभूमि एव रूपभूमि से गुणन करने पर ये २ होती है। इन २ का अनागामी एव अर्हत् से गुणन करने पर ४ होती हैं। इन ४ का तीव्र एव मन्द पुद्गलो से गुणन करने से निरोधसमापत्ति कुल ८ होती है।

ध्यान दो वार – यहाँ प्रश्न होता है कि निरोध-समापत्ति से पूर्व ध्यान दो वार ही क्यो होता है ?

उत्तर – पूर्व आरब्ध सभी प्रयोग निरोधसमापत्ति के लिये ही होने के कारण ध्यान दो वार ही होते है। अर्थात् प्रथमध्यान से लेकर शमथविपश्यना-युगलो के ऊपर ऊपर आरोहण करते हुए आरब्ध प्रयोग नैवसञ्ज्ञानासञ्ज्ञायतनध्यान के समावर्जन के लिये नही, अपितु निरोधसमापत्ति के लिये ही होते है। इसलिये नैवसञ्ज्ञानासञ्ज्ञायतन-ध्यान प्राप्त करते समय अपने इष्ट फल की पूर्ति न होने के कारण उसका ही चिरकाल तक समावर्जन न करके २ वार (कुछ लोग १ वार भी कहते है) होने के बाद ही निरोध प्राप्त करते है[1]।

अनागामी एवं अर्हत् – क्यो अनागामी एव अर्हत् ही निरोधसमापत्ति का समावर्जन कर सकते है ?

उत्तर – स्रोतापन्न एव सकृदागामी पुद्गल समाधि के प्रतिपक्ष कामच्छन्दनीवरण एव अनुशयधातु का अशेष प्रहाण करने मे असमर्थ होते हैं, अतः उन मे समाधि प्रबल नही होती। अनागामी एव अर्हत् मे ही इस कामच्छन्दनीवरण का अशेष प्रहाण हो चुका होने से समाधि प्रबल होती है, अत अनागामी एव अर्हत् ही निरोध-समापत्ति का समावर्जन कर सकते है[2]।

"समाधिपरिबन्धस्स कामरागस्स हायिन।
अत्थित्ता अनुपुब्बाय निरोधो कामरूपिन[3]॥"

अर्थात् समाधि के प्रतिबन्ध कामराग-अनुशय का अशेष प्रहाण करनेवाले काम एव रूपी अनागामी एव अर्हत् पुद्गलो मे अनुक्रम से समावर्जन की गयी आठ समा-पत्तियाँ होने के कारण वे ही निरोधसमापत्ति का समावर्जन कर सकते है।

---

१. द्र० – विसु० पृ० ५०३।

२. द्र० – विसु०, पृ० ४९९; पटि० म०, पृ० ११०; पटि० म० अ०, प्र० भा०, पृ० २८६।

३. ब० भा० टी०।

उद्देश्य – किसलिये अनागामी एव अर्हत् इन समापत्तियो का समावर्जन करते है ?

उत्तर – सस्कार-धर्मों मे सवेग-ज्ञान होने से सविग्न होकर उन सस्कारधर्मों से यथासम्भव विरत रहते हुए दृष्टधर्मसुखविहार का उपभोग करने के लिये अनागामी एव अर्हत् पुद्गल निरोधसमापत्ति का समावर्जन करते है ।

"उदयब्बयसङ्खारे उक्कण्ठित्वान योनिसो ।
सुख विहरिस्सामा ति समापज्जन्ति ते इम[1] ।।"

उदयव्ययशील (उत्पन्न एव विनष्ट होनेवाले) सस्कार-धर्मो मे योनिश सवेग-ज्ञान से उद्विग्न होकर 'सुखपूर्वक विहार करेगे' – इस प्रकार विचार करके वे अनागामी एव अर्हत् पुद्गल इस समापत्ति का समावर्जन करते है ।

कामभूमि में ७ दिन – आहार का आश्रय करके जीवित रहनेवाले कामभूमि के सत्त्वो का एक बार खाया हुआ आहार अधिक से अधिक १ सप्ताहपर्यन्त जीवन-यापन करने मे समर्थ होता है, अत वे अधिक से अधिक १ सप्ताहपर्यन्त ही इस समापत्ति का समावर्जन कर सकते है ।

"आहारमुपजीविन भुत्तस्स एकदिवस ।
सत्ताह व यापनतो कामे सत्ताहमेव च[2] ।।"

आहार से जीवित रहनेवाले कामभूमि के सत्त्वो का एक दिन खाया हुआ आहार एक सप्ताह ही यापन कर सकता है, अत कामभूमि मे एक सप्ताह ही निरोधसमापत्ति का समावर्जन किया जा सकता है ।

एक सप्ताह के भीतर यथेष्ट समावर्जन किया जा सकता है । रूपभूमि मे उसी तरह आहार की अपेक्षा आवश्यक न होने से यथेष्ट कालपर्यन्त समावर्जन किया जा सकता है । 'कामभूमि' यह शब्द केवल मनुष्य कामभूमि की अपेक्षा से ही प्रयुक्त हुआ है – ऐसा प्रतीत होता है, क्योकि ऊपर की देवभूमियो मे इन समापत्तियो का समावर्जन करने का अवसर मिलेगा ही नही । वहाँ लौकिक आलम्बनो से रहित एकान्त स्थान न होने से यदि अनागामी होता है तो वह ब्रह्मभूमियो मे चला जायेगा । यदि अर्हत् होता है तो तत्काल परिनिर्वाण कर लेगा । नीचे के भूमिदेव अपनी आहार-शक्ति के अनुसार दिनो का परिच्छेद करके समावर्जन कर सकते है ।

संस्कृत-आदि नहीं, किन्तु निष्पन्न – यह निरोधसमापत्ति सस्कृत एव असस्कृत लौकिक एव लोकोत्तर नही है । ये सस्कृत-आदि नाम परमार्थरूप से विद्यमान होने पर ही प्रयुक्त होनेवाले नाम है । यह चित्त-चैतसिक एव चित्तज रूपो का निरोध

---

१. ब० भा० टी० । तु० – विसु०, पृ० ५०१ ।

२. ब० भा० टी० ।

जवन के अनन्तर च्युतिवीथि

भ 'ती न द प च स ण वो ज ज ज ज ज चु टि भ (१६ वार) म ज ज ज ज ज ज ज' भ

यह अतिमहद्-आलम्बन मरणासन्नवीथि है। कामजवन, कामसत्त्व, एव कामरूपालम्बन – तीनो के होने पर भी यहाँ तदालम्बन का पात नही होता। यदि कर्मज रूपो के निरोध का समय आ जाता है तो इस वीथि की भाँति मुख्य च्युति होगी तथा उपेक्षा से प्रतिसन्धि लेकर अति इष्ट-आलम्बन मे द्वेषजवन का पात होता है तो भी तदालम्बन का पात न होकर इस वीथि की भाँति च्युति होगी।

जवनभवङ्ग के अनन्तर च्युति होनेवाली वीथि मे भवङ्ग एक बार ही नही, अपितु जबतक कर्मज रूपो का निरोध नही होता तबतक दो-तीन बार भी हो सकते है। उपेक्षा से प्रतिसन्धि लेकर अतिइष्ट-आलम्बन मे यदि द्वेषजवन होता है तो उक्त वीथि की तरह ही च्युति होती है। तथा सौमनस्य से प्रतिसन्धि लेकर यदि द्वेषजवन का पात होता है तो आगन्तुक भवङ्ग का पात करके उक्त वीथि की तरह च्युति होती है। केवल अतिमहद्-आलम्बन ही नही, अपितु जवन के अनन्तर च्युति का पात होने मे महद्-आलम्बनवीथियाँ भी हो सकती है।

[इस मरणासन्नवीथि से सम्बद्ध ज्ञातव्य विषय 'मरणुप्पत्ति' (पञ्चम परिच्छेद) एव 'रूपप्पवत्तिक्कम' प्रकरण (षष्ठ परिच्छेद) मे देखे।]

चित्तस्वरूप-आदि

इस पञ्चद्वारमरणासन्नवीथि मे ६ क्रियाजवनवर्जित ४५ कामचित्त होते है। क्रियाजवन अर्हत् की सन्तान मे ही होने के कारण यहाँ वर्जित किये गये है। अर्हत् इस पञ्चद्वारवीथि से च्युति नही करते।

पूर्वभव के भवङ्ग एव च्युति चित्त अतीत अनन्तरभव के मरणासन्न जवनो द्वारा गृहीत कर्म, कर्मनिमित्त एव गतिनिमित्त – इनमे से किसी एक आलम्बन का आलम्बन करते है। भवङ्ग एव च्युति से अवशिष्ट पञ्चद्वारावर्जन से लेकर तदालम्बनपर्यन्त वीथिचित्त प्रत्युत्पन्न पञ्चालम्बन (रूप-आदि पाँच आलम्बन) नामक कर्मनिमित्त का आलम्बन करते है। अर्थात् मरणासन्नवीथि का आलम्बन कर्म, कर्मनिमित्त एव गतिनिमित्त – इन तीनो मे से कोई एक ही होता है। यहाँ लौकिक कुशल, अकुशल चेतना को 'कर्म' कहते हैं। इसलिये पञ्चालम्बन को कर्म नही कहा जा सकता। यद्यपि जानेवाली गति के सङ्केत या उस गति मे समागन्तव्य शुभ अशुभ नानाविध आलम्बनो को 'गतिनिमित्त' कहते हैं तथापि वे गतिनिमित्त इस पञ्चद्वारवीथि मे प्रादुर्भूत नहीं होते; अपितु मनोद्वार में ही प्रादुर्भूत होते है – इस प्रकार माना जाता है। कुशल एव अकुशल कर्म करते समय उपकरणभूत साधनो को 'कर्मनिमित्त' कहते है। वे उपकरण कर्म की सिद्धि मे कारणभूत होने से कर्मनिमित्त कहे जाते है। ये कर्मनिमित्त उपकरण रूप-आदि आलम्बन ही हैं। इन आलम्बनो मे से पञ्चद्वारवीथि द्वारा प्रत्युत्पन्न का ही आलम्बन किया जाने से प्रत्युत्पन्न पञ्च-आलम्बन कर्मनिमित्त का ही आलम्बन किया जाता है।

[ये पञ्च-आलम्बन मुख्य कर्मनिमित्त नही है, इस बारे में 'मरणुप्पत्ति' प्रकरण (पञ्चम परिच्छेद) देखे।]

नये भव के प्रतिसन्धि एव भवङ्ग चित्त भी इन पञ्चालम्बन कर्मनिमित्तो का ही आलम्बन करते है। प्रत्युत्पन्नकर्मनिमित्त एव अतीतकर्मनिमित्त – इस प्रकार यथा-योग्य चित्त होगे। अतीतभवङ्ग से लेकर च्युतिपर्यन्त गणना करने पर रूपालम्बन की आयु सत्रह चित्तक्षण पूर्ण न होने पर प्रतिसन्धिचित्त के साथ कुछ भवङ्ग प्रत्युत्पन्न रूपालम्बन कर्मनिमित्त का आलम्बन करते हैं। पीछे पीछे के भवङ्ग अतीत रूपालम्बन कर्मनिमित्त का आलम्बन करते है। च्युतिचित्त तक पहुँचते समय यदि सत्रह चित्तक्षण पूर्ण हो जाते है तो प्रतिसन्धिचित्त से लेकर सभी भवङ्ग अतीत कर्मनिमित्त का ही आलम्बन करते है। जवन के अनन्तर च्युति होनेवाली प्रथम वीथि को देखिये – वहाँ अतीत भवङ्ग के साथ उत्पन्न रूपालम्बन के च्युतिचित्त होते समय चौदह चित्तक्षण ही अतीत होते है; अभी ३ चित्तक्षण आयु अवशिष्ट होती है, इसलिये प्रतिसन्धिचित्त के साथ दो बार भवङ्ग प्रत्युत्पन्न रूपालम्बन कर्मनिमित्त का ही आलम्बन करते है तथा तृतीय भवङ्ग से लेकर आगे आनेवाले सम्पूर्ण भव के भवङ्ग उस अतीत कर्मनिमित्त रूपालम्बन का ही आलम्बन करते है। यदि तदालम्बन भवङ्ग के अनन्तर च्युति होनेवाली वीथि होती है तो अतीतभवङ्ग के साथ उत्पन्न रूपालम्बन की, जब च्युतिचित्त होता है तब, सत्रह चित्तक्षण आयु पूर्ण हो जाती है, अत नवप्रतिसन्धि से लेकर सभी भवङ्ग अतीतरूपालम्बन कर्मनिमित्त का ही आलम्बन करते है। इस प्रकार नये भव के चित्तो के आलम्बनो का विभाजन करके उन्हे जानना चाहिये।

मनोद्वारावर्जन के साथ ७ बार भवनिकन्तिक लोभजवन 'प्रतिसन्धि' नामक नाम-विपाकस्कन्ध एव कटत्तारूप (कर्मजरूप) का आलम्बन करते है। (प्रतिसन्धिकृत्य करनेवाले विपाक चित्त-चैतसिको के साथ होनेवाले कर्मजरूपो को 'प्रतिसन्धि' कहते है। जैसे – महाविपाक प्रथमचित्त, ३३ चैतसिक एव ३ कर्मजकलापो को 'त्रिहेतुक प्रतिसन्धि' कहते है। इस प्रतिसन्धि को ही 'भव' कहते है। इस भव का ही आलम्बन करके उसने आसक्त होनेवाले लोभजवनो को 'भवनिकन्तिक लोभजवन' कहते है। सभी सत्त्व चाहे किसी भी अवस्था मे हो, अपने भव के प्रति आसक्त होते है। इस आसक्ति को ही 'भवनिकन्तिका' कहते है।)

च्युतिचित्त से ऊपर (पूर्ववर्त्ती चित्तो की) गणना करने पर सत्रहवे चित्त के ठीक स्थितिकाल से लेकर नये कर्मजरूपो के उत्पन्न न होने से द्विपञ्चविज्ञान १०, प्रवृत्ति-पञ्चद्वारवीथि मे होने की तरह न होकर च्युतिचित्त से ऊपर सत्रहवे चित्त के साथ उत्पन्न पञ्चवस्तु का आश्रय करते है। (किन्तु पञ्चविज्ञान उत्पन्न होते समय विद्यमान पञ्च वस्तुओ मे से सभी वस्तुओ का आश्रय कर सकते है – इस प्रकार आधुनिक आचार्य विचार करते है। विशेष ज्ञान के लिये 'निःश्रयप्रत्यय' देखे।)

द्विपञ्चविज्ञान से अवशिष्ट पूर्वभव के वीथिचित्त उसी तरह च्युतिचित्त से ऊपर गणना करने पर सत्रहवे चित्त के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का आश्रय करते है। (प्रवृत्तिकाल की तरह पूर्व पूर्व चित्त के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का नही।)

मनोद्वारमरणासन्नवीथि

२३. मनोद्वारवीथि भी पृथग्जन एव शैक्ष्यो की मरणासन्न वीथि, एव अर्हत् की मरणासन्नवीथि – इस प्रकार द्विविध होती है। उनमे से पृथग्जन एवं शैक्ष्यो की मरणासन्नवीथि भी कामभूमि में होनेवाले पुद्गल मे जवन के अनन्तर च्युति, जवन-भवङ्ग के अनन्तर च्युति, तदालम्बन के अनन्तर च्युति एव तदालम्बन-भवङ्ग के अनन्तर च्युति – इस तरह ४ प्रकार की होती है। कामभूमि से च्युत होकर अन्य भूमियो मे प्रतिसन्धि लेनेवाले तथा अन्य भूमि से च्युत होकर कामभूमि में प्रतिसन्धि लेनेवाले पुद्गलो मे जवन के अनन्तर च्युति एवं जवन-भवङ्ग के अनन्तर च्युति – इस तरह दो प्रकार की च्युति होती है।

नवप्रतिसन्धिचित्त इस भव मे अपने से पूर्व हृदयवस्तु उत्पन्न न होने के कारण अपने साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का आश्रय करता है। इसलिये हृदयवस्तु एव प्रतिसन्धि चित्त अन्योन्यनिश्रयप्रत्यय होते है।

प्रतिसन्धि से अवशिष्ट भवङ्ग, मनोद्वारावर्जन एव जवन अपने पूर्वचित्त के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का आश्रय करते है। प्रथम भवङ्गचित्त प्रतिसन्धिचित्त के साथ उत्पन्न हृदयवस्तु का आश्रय करता है – इस प्रकार विस्तार से जानना चाहिये।

भूमि एवं पुद्गल

कामभूमि से च्युत हो कर कामभूमि मे ही प्रतिसन्धि लेनेवाले पुद्गल एव रूपभूमि से च्युत होकर कामभूमि मे प्रतिसन्धि लेनेवाले पुद्गल मे ही यह पञ्चद्वारवीथि होने के कारण विगत भव के लिये कामभूमि एव रूपभूमि कही गयी है। (रूपभूमि से च्युत होने मे घ्राणादित्रयवीथि नही होती तथा तदालम्बन का पात भी नही होता – ऐसा जानना चाहिये। रूपभूमि एव अरूपभूमि मे जानेवाले पुद्गलो मे पृथ्वीकसिण-आदि कर्मनिमित्त का आलम्बन करने से तथा अरूपभूमि से इस कामभूमि मे आनेवाले पुद्गलो मे रूपालम्बन का आलम्बन न कर सकने से वहाँ ये पञ्चद्वारवीथियाँ नही हो सकती।)

अनागामी एव अर्हत् कामभूमि मे प्रतिसन्धि नही लेते, अत यह पञ्चद्वारवीथि ४ पृथग्जन तथा स्रोतापन्न एव सकृदागामी पुद्गलो मे ही होती है।

पञ्चद्वारमरणासन्नवीथि समाप्त।

मनोद्वारमरणासन्नवीथि

२३. कामभूमि से च्युत होकर कामभूमि मे ही प्रतिसन्धि लेनेवाले पुद्गलो मे कामजवन, कामसत्त्व एव विभूत काम-आलम्बन – इन तीनो के सम्पन्न होने से तदालम्बनपात होनेवाली

वीथियाँ भी होती हैं। अविभूत-आलम्बन या विभूत-आलम्बन होने पर भी च्युति का काल अत्यन्त आसन्न होने पर तदालम्बन का पात न होनेवाली वीथियाँ भी होती हैं। इसलिये ४ वीथियाँ हो सकती हैं। कामभूमि से च्युत होकर अन्य भूमियो मे जानेवाले पुद्गलो मे कामजवन एव कामसत्त्व होने पर भी रूप एव अरूप प्रतिसन्धि-चित्तो द्वारा प्रज्ञप्ति एव महग्गत का ही यथायोग्य आलम्बन किया जाने से[1] उन भूमियो मे जानेवाले कामपुद्गलो का मरणासन्न जवन भी प्रज्ञप्ति एव महग्गत का ही आलम्बन करेगा, अत इनमे तदालम्बन-पात नही हो सकता। अन्य भूमियो से कामभूमि मे आनेवाले पुद्गलो मे कामसत्त्व न होने के कारण तदालम्बन का पात नही हो सकता। इसीलिये जवन के अनन्तर च्युति एव जवन-भवङ्ग के अनन्तर च्युति – इस प्रकार २ वीथियाँ ही होती हैं।

इन वीथियो के आलम्बन अतीत, प्रत्युत्पन्न, काम, महग्गत एव प्रज्ञप्ति – इस प्रकार नानाविध होते है। उन आलम्बनो मे से प्रत्युत्पन्न कर्मनिमित्त या गतिनिमित्त का आलम्बन करते समय यदि जवन के अनन्तर च्युति होती है तो अतीतभवङ्ग से लेकर गणना करने पर च्युति से पूर्व १० चित्तक्षण ही अतीत होते हैं। प्रतिसन्धि एव छह भवङ्ग प्रत्युत्पन्न आलम्बन का ही पुन' आलम्बन कर सकते है। इन वीथियो के भवङ्गो से अधिक प्रत्युत्पन्न का आलम्बन करनेवाले भवङ्ग अन्य नही हैं।

अर्हत् की परिनिर्वाणवीथि से अवशिष्ट मरणासन्न मनोद्वारवीथि मे होनेवाले चित्त पञ्चद्वारवीथि मे ही होनेवाले द्विपञ्चविज्ञान १०, मनोधातु ३ एवं अर्हत् की सन्तान मे ही होनेवाले क्रियाजवन ९ = २२ चित्तो को वर्जित करके कामचित्त ३२ ही होते है।

[आलम्बन अनेकविध होते है, अत उन्हे पृथक् नही दिखलाया गया है। जिज्ञासु पाठक आलम्बनसङ्ग्रह के 'द्वारविमुत्तानञ्च पटिसन्धिभवङ्गचुतिसङ्खातान' आदि की व्याख्या एव 'मरणुप्पत्तिप्रकरण' (पञ्चम परिच्छेद) देखे।]

सक्षेपत रूपभूमि मे पहुँचनेवाले पुद्गल की वीथि मे "रूपावचरपटिसन्धिया पञ्ञत्तिभूत कम्मनिमित्तमारमण होति[2]" के अनुसार मरणासन्न जवन, प्रतिसन्धि एव भवङ्ग कसिणप्रज्ञप्ति-आदि कर्मनिमित्त का ही आलम्बन करते हैं। अरूपभूमि मे पहुँचनेवाले पुद्गल 'तथा आरुप्पपटिसन्धिया च महग्गतभूत पञ्ञत्तिभूतञ्च[3]' के अनुसार महग्गत एव प्रज्ञप्ति – इनमे से किसी एक कर्मनिमित्त का आलम्बन करते हैं। कामभूमि मे पहुँचनेवाले पुद्गल की वीथि मे कर्म, कर्मनिमित्त एव गतिनिमित्त – इन तीनो मे से कोई एक अर्थात् कामधर्म नामक ६ आलम्बनो मे से कोई एक यथायोग्य आलम्बन होता है।

---

१. द्र० – अभि०, स० पृ० २५६।

२. द्र० – अभि० स०, ५ : ८७।

३. द्र० – अभि० स० ५ : ८८।

आश्रयवस्तु पञ्चद्वारमरणासन्नवीथि की तरह ही है। अरूपभूमि मे आश्रय-वस्तु न होने से उसका विचार करना आवश्यक नही है।

भूमि-भेद से – असञ्ज्ञिवर्जित ३० भूमियो मे यह वीथि होती है। (असञ्ज्ञिभूमि मे रूपधर्म द्वारा ही च्युति होती है)।

पुद्गलभेद से – पृथग्गजन ४, एव अर्हत्-वर्जित ३ फलस्थ पुद्गलो मे ही यह वीथि यथायोग्य होती है।

मनोद्वारमरणासन्नवीथि समाप्त।

भवङ्गमीमांसा

अमुक भूमि से अमुक च्युति के अनन्तर अमुक प्रतिसन्धि होती है' – इस प्रकार कहने पर 'विगत भव मे अमुक भवङ्ग होकर नये भव मे अमुक भवङ्ग होते है' – इस प्रकार जाना जा सकने के कारण मरणासन्नवीथियो मे भवङ्गपात के नय का यहाँ पूर्वच्युति एव अपरप्रतिसन्धि द्वारा सङ्क्षेपत प्रतिपादन किया जाता है। इस प्रकार भवङ्गमीमासा करने पर न केवल भवङ्ग का ज्ञान ही, अपितु भूमिपरिवर्तन का ज्ञान भी सुकर हो जायेगा।

अहेतुक च्युति २, द्विहेतुक च्युति ४=६ के अनन्तर १० कामप्रतिसन्धि होती है। यदि अहेतुक एव द्विहेतुक पुद्गल च्युत होता है तो ध्यान प्राप्त न होने से कामभूमि मे ही अहेतुक प्रतिसन्धि २ एव महाविपाक प्रतिसन्धि ८ मे से किसी एक के द्वारा प्रतिसन्धि लेगा, इसलिये सम्बद्ध मरणासन्नवीथि मे विगत भव में अहेतुक एव द्विहेतुक भवङ्गो मे से कोई एक तथा नये भव मे १० कामभवङ्गो मे से कोई एक भवङ्ग होता है।

त्रिहेतुक पृथग्जन की ४ कामच्युति के अनन्तर प्रतिसन्धिचित्त १९ एव असञ्ज्ञि-रूपप्रतिसन्धि १=२० प्रतिसन्धियाँ होती है। आर्य पुद्गलो की ४ त्रिहेतुक कामच्युतियो के अनन्तर कामत्रिहेतुक प्रतिसन्धि ४ एव रूप-अरूप प्रतिसन्धि ९=१३ त्रिहेतुक प्रतिसन्धियाँ होती है।

असञ्ज्ञिच्युति के अनन्तर कोई ध्यानविशेष प्राप्त न होने से अन्य रूप-अरूप भूमियो मे न जाकर केवल कामभूमि मे ही आगमन होता है, किन्तु अहेतुक प्रतिसन्धि नही होती। उपचारध्यान के बल से काम द्विहेतुक एव त्रिहेतुक प्रतिसन्धि होती है। इसलिये असञ्ज्ञि-च्युति के अनन्तर ८ कामद्विहेतुक एव त्रिहेतुक प्रतिसन्धियाँ होती है।

वेहप्फलभूमि तक १० रूपावचरभूमियो से पृथग्जन की ५ च्युतियो (रूपविपाक) के अनन्तर महाविपाक ८, महग्गत विपाक ९=१७ सहेतुक प्रतिसन्धियाँ होती है। सुभकिण्ह तक ९ रूपभूमियो से आर्य की ४ च्युतियो (पञ्चमध्यानवर्जित रूपा-

परिनिर्वाणवीथि

२४ परिनिर्वाणवीथि भी यदि कामजवन मनोद्वारवीथि होती है तो उपर्युक्त नय के अनुसार जवन के अनन्तर च्युति-आदि भेद से चतुर्विध होती है। यदि अर्पणाजवन होने के अनन्तर परिनिर्वाणवीथि होती है तो ध्यानसमनन्तर-

---

प्रतिसन्धि के साथ ऊपर ऊपर की ९ रूप-अरूप प्रतिसन्धियाँ होती है। (यदि पुद्गल आर्य होता है तो वह नीचे की भूमि मे नही जाता।)

यदि वेहप्फलभूमि का आर्य च्युत होता है तो वह इन भूमियो मे नही आता। श्रद्धा-आदि इन्द्रिय मृदु होने से यदि अर्हत्फल की प्राप्ति नही होती ह तो उस वेहप्फल भूमि मे ही पुन प्रतिसन्धि होती है। वेहप्फल, अकनिट्ठ एव नेवसञ्ञानासञ्ञायतन भूमियो मे उत्पन्न आर्य (वे भूमियाँ भवाग्र होने से) इन भूमियो मे नही आते। (विस्तार के लिये चतुर्थ परिच्छेद के अन्त मे देखे।)

शुद्धावासभूमि से च्युत होनेवाले पुद्गल अनागामी एव अर्हत् ही होते है। उनमे से अनागामी पुद्गल पूर्व उषित (वास की हुई) शुद्धावासभूमि मे पुन उत्पन्न नही होते, अपितु ऊपर की भूमि मे चले जाते है। अत शुद्धावासच्युति के अनन्तर एक शुद्धावास-पञ्चमध्यान-प्रतिसन्धि ही होती है।

यदि अकनिष्ठभूमि से च्युति होती है तो वहाँ से प्रतिसन्धि लेनेवाला कोई पुद्गल नही होता, क्योकि वहाँ अर्हत् होकर ही च्युति होती है।

यदि पृथग्जन अरूपभूमि से च्युत होता है तो वह अपनी भूमि मे भी होता है, ऊपर ऊपर की अरूपभूमि मे भी होता है तथा कामभूमि मे त्रिहेतुक प्रतिसन्धि भी लेता है। अत उस च्युति के अनन्तर कामत्रिहेतुक ४ एव अरूप ४=८ प्रतिसन्धियाँ होती है। यदि आर्य उस अरूपभूमि से च्युत होता है तो उसके अपनी भूमि मे एव ऊपर ऊपर की भूमियो मे ही होने के कारण उस च्युति के अनन्तर ४ अरूपप्रतिसन्धियाँ ही होती है।

इस च्युति एव प्रतिसन्धि क्रम को देखकर भूमि के अनुसार मनोद्वार मरणासन्न-वीथियो को जानना चाहिये।

भवङ्गमीमांसा समाप्त।

मरणासन्नवीथि समाप्त।

परिनिर्वाणवीथि

२४. यह परिनिर्वाणवीथि ध्यान-अलाभी शुष्कविपश्यक पुद्गल होने पर या ध्यान-लाभी होने पर भी ध्यान का समावर्जन न करने पर मनोद्वार कामजवनवीथि के अन्त

वीथि, प्रत्यवेक्षणसमनन्तरवीथि, अभिज्ञासमनन्तरवीथि एव जीवितसमसीसी-वीथि – इस प्रकार चतुर्विध होती है । इनमे से ध्यान का समावर्जन करने के अन्त मे च्युति होनेवाली वीथि 'ध्यानसमनन्तरवीथि' कहलाती है, ध्यान का समावर्जन करने के अनन्तर प्रत्यवेक्षणवीथि होने के बाद च्युति होनेवाली वीथि 'प्रत्यवेक्षणसमनन्तरवीथि' कहलाती है, अभिज्ञा का समावर्जन करने के बाद च्युति होनेवाली वीथि 'अभिज्ञासमनन्तरवीथि' कहलाती है एव जीवितेन्द्रिय निरुद्ध होने के आसन्नकाल मे अर्हत्-फल की प्राप्ति होने से अर्हत्-मार्गवीथि होने के अनन्तर भवङ्ग अन्तरित करके मार्ग एव फल-आदि का समावर्जन करनेवाली प्रत्यवेक्षणवीथि के अन्त मे परिनिर्वाण करनेवाले पुद्गल की वीथि 'जीवितसमसीसीवीथि' कहलाती है ।

मे होती है । इस वीथि का प्रारूप उपर्युक्त मनोद्वारमरणासन्नवीथि की तरह ही है । केवल च्युति के अनन्तर प्रतिसन्धि, भवङ्ग-आदि न होना ही विशेष है ।

आलम्बन के रूप मे मनोद्वारावर्जन, जवन एव तदालम्बन नामक वीथिचित्त अन्य मरणासन्नवीथियो की तरह कर्म, कर्मनिमित्त या गतिनिमित्त का आलम्बन न करके सामान्य त्रैभूमिक नाम-रूप एव प्रज्ञप्ति आलम्बनो मे से किसी एक का आलम्बन करते है । अर्थात् पुन फल देने के लिये कर्म आवश्यक न होने से यहाँ कर्म-आलम्बन एव कर्मनिमित्त आलम्बन प्रादुर्भूत नही हो सकते । जाने की गति भी न होने से गतिनिमित्त आलम्बन भी नही हो सकते । सामान्य लौकिक नाम-रूप एव प्रज्ञप्ति आलम्बनो मे से ही कोई एक प्रादुर्भूत होगा और उसी आलम्बन का परिनिर्वाणचित्त द्वारा आलम्बन किया जायेगा ।

परिनिर्वाण च्युतिचित्त 'पटिसन्धिभवङ्गञ्च तथा चवनमानस । एकमेव तथेवेक-विसयञ्चेकजातिय[1] ।।" के अनुसार मूल-प्रतिसन्धिकाल के आलम्बन के सदृश कर्म, कर्मनिमित्त एव गतिनिमित्त – इन तीन मे से किसी एक का आलम्बन करता है ।

[केचिवाद के साथ कुछ ज्ञातव्य विषयो के बारे मे 'मरणुप्पत्तिचतुक्क' (पञ्चम परि०) की व्याख्या देखे ।]

ध्यानसमनन्तरवीथि – यह वीथि कामसुगति, रूप एवं अरूप भूमियो मे होती है । ध्यान यथायोग्य अनेक बार होते है । अर्हत् की सन्तान होने से पूर्व-अपर जवन क्रिया-जवन ही होते है । आलम्बन उन उन ध्यानो के अनुसार कसिण-प्रज्ञप्ति ही है । पूर्व-भवङ्ग एव च्युति चित्त स्वभावत कर्म, कर्मनिमित्त एव गतिनिमित्त – इन तीन मे से

---

१. द्र० – अभि० स० ५ : ४० ।

किसी एक का ही आलम्बन करते हैं। ध्यान के अनन्तर भवङ्ग एव भवङ्ग के अनन्तर च्युति होनेवाली वीथि भी हो सकती है। अत ध्यान के अनन्तर च्युति एव ध्यान-भवङ्ग के अनन्तर च्युति – इन दो वीथियो का क्रियाध्यान ९ से गुणन करके १८, उन १८ का तीक्ष्ण एव मन्द दो पुद्गलो से गुणन करने पर कुल ३६ वीथियाँ होती हैं।

प्रत्यवेक्षणसमनन्तरवीथि – इस वीथि के जवन कामजवन ही हैं। मरणासन्नकाल होने से ये जवन ५ वार ही होते हैं। ध्यानसमनन्तर की तरह यह वीथि कामसुगति, रूप एव अरूप भूमियो मे यथायोग्य होती है। आलम्बन के रूप मे समावर्जन किये गये ध्यान के अङ्गो का आलम्बन करती है। यहाँ जवन-भवङ्ग के अनन्तर च्युति होनेवाली वीथि भी हो सकती है, इसलिए जवन के अनन्तर च्युति एव जवन-भवङ्ग के अनन्तर च्युति – इन दो वीथियो का, यदि वे प्रथम ध्यान के अनन्तर होती हैं तो पाँच ध्यानाङ्गो से गुणन करके १०, यदि द्वितीयध्यान के अनन्तर होती हैं तो ४ ध्यानाङ्गो से गुणन करके ८, यदि तृतीयध्यान के अनन्तर होती हैं तो ३ ध्यानाङ्गो से गुणन करके ६, यदि चतुर्थ या पञ्चमध्यान के अनन्तर होती हैं तो २-२ ध्यानाङ्गो से गुणन करके ४-४ होती हैं। इस प्रकार कुल प्रत्यवेक्षणवीथियाँ ३२ होती हैं। महापरि-निब्बानसुत्त-अट्ठकथा मे इन वीथियो का इस प्रकार प्रतिपादन किया गया है—

"चतुत्थज्झाना वुट्ठहित्वा भगवा परिनिब्बायीति एत्थ झानसमनन्तर, पच्चवेक्खणसमनन्तर ति द्वे समनन्तराणि। तत्थ झाना वुट्ठाय भवङ्गं ओतिण्णस्स तत्थेव परिनिब्बान झानसमनन्तर नाम। झाना वुट्ठहित्वा पुन झानङ्गानि पच्चवेक्खित्वा भवङ्ग ओतिण्णस्स तत्थेव परि-निब्बान पच्चवेक्खणसमनन्तर नाम[1]"।

इस अट्ठकथा मे 'भवङ्ग ओतिण्णस्स तत्थेव परिनिब्बान' कहने से ध्यान के अनन्तर, प्रत्यवेक्षणजवन के अनन्तर भवङ्ग-च्युति होनेवाली वीथियाँ भी होती हैं। यहाँ 'च्युति' शब्द का अभिप्राय भी भवङ्ग ही है। अर्थात् च्युतिचित्त भवङ्गचित्त ही होने से ध्यान के अनन्तर एव प्रत्यवेक्षणजवन के अनन्तर च्युति होनेवाली वीथियाँ भी होती हैं – ऐसा जानना चाहिये।

अभिज्ञासमनन्तरवीथि – यह वीथि "वुट्ठहित्वा परिनिब्बायीति इद्धिचित्ततो वुट्ठ-हित्वा भवङ्गचित्तेन परिनिब्बायी[2]" – इस प्रकार उदान-अट्ठकथा-आदि मे आती है। नाना प्रकार की अभिज्ञाओ मे से इद्धिविध-अभिज्ञा मरणासन्नकाल मे अभीष्ट है। इस अभिज्ञावीथि के अनन्तर परिनिर्वाण-च्युति होगी, अत अभिज्ञा के अनन्तर च्युति अभिज्ञा-भवङ्ग के अनन्तर च्युति – इस प्रकार २ च्युतियाँ होती हैं। इन २ वीथियो का तीक्ष्ण एव मन्द पुद्गल से गुणन करने से ये ४ होती हैं। यह अभिज्ञावीथि काम-

१. दी० नि० अ० (महावग्गट्ठकथा), पृ० १८६।

२ उदानट्ठकथा, पृ० ३८६।

सुगति एव रूपभूमि में ही होती है। अरूपभूमि में रूपग समावर्जन करने के लिये आठ समापत्तियाँ न होने के कारण वहाँ अभिज्ञावीथि नहीं होती।

जीवितसमसीसीवीथि – शरीर में शीर्ष की भाँति क्लेश-धर्मो में शीर्ष (प्रधान) अविद्या है तथा वट्टदुक्खो में शीर्ष (प्रधान) जीवितेन्द्रिय है। अर्थात् जब अविद्या नष्ट होती है तब सभी क्लेश निरुद्ध हो जाते है तथा जब जीवितेन्द्रियसन्तति विच्छिन्न होती है तब वट्टदुक्ख नामक स्कन्धसन्तति निरुद्ध हो जाती है। कुछ-एक योगी रोगवेदना से पीडित होने के कारण ससार से उद्विग्न होकर यदि गम्भीरतया विपश्यनाभावना करते है तो मार्गक्रम से चलते हुए अर्हत्-मार्गवीथि द्वारा अविद्या का प्रहाण कर देते है, साथ ही जीवितेन्द्रिय के भी विच्छिन्न हो जाने से उनमे क्लेससीस एव वट्टसीस – दोनो का युगपत् निरोध हो जाता है। ऐसे पुद्गलो को 'जीवितसमसीसी पुद्गल' कहते है। अत. इस समस्त शब्द का इस प्रकार विग्रह कर सकते है—'जीवितेन सम अविज्जासीस यस्सा ति जीवितसमसीसी' अर्थात् जिसका जीवित के साथ (समानकाल मे) अविद्या नामक शीर्ष भी होता है वह 'जीवितसमसीसी' कहलाता है। यहाँ 'अविद्या एव जीवित अन्योन्यसम है' – ऐसा कहने पर भी दोनो का निरोध सम नही हो सकता, केवल 'वार' सम होने की अपेक्षा करके 'समसीसी' कहते है। अर्थात् अविद्या का निरोधक्षण अर्हत्-मार्गक्षण है, उस अर्हत्-मार्ग के अनन्तर २-३ वार फल तदन्तर भवङ्ग अन्तरित करके उस मार्ग एव फल का समावर्जन करनेवाली प्रत्यवेक्षणवीथि होने के अनन्तर परिनिर्वाण-च्युति होती है। उस च्युतिक्षण मे ही जीवितेन्द्रिय का निरोध होता है। इस प्रकार अविद्या एव जीवित का निरोधक्षण सम (एक साथ) नही हो सकता, किन्तु चित्त का १ वार कहने पर (एक क्षणमात्र को ही नही, अपितु) सम्बद्ध सभी वीथियो को १ वार कहा जाता है। अत अर्हत्-मार्गवीथि के अनन्तर सब प्रत्यवेक्षणवीथियो के होने पर ही १ चित्तवार कहा जाता है या १ चित्तवार सम्पन्न होता है। इस नय के अनुसार अविद्या के निरोध वार मे ही जीवित के भी निरुद्ध होने से वट्टसीस का क्लेससीस अविद्या के साथ निरोधवार समान होता है।

"यस्स पन उपक्कमतो वा परियादानतो वा जीवितपरियादानञ्च आसवक्खयो च एकप्पहारेनेव होति, अय जीवितसमसीसी नाम तत्थ किञ्चापि आसवपरियादान मग्गचित्तेन, जीवितपरियादान चुतिचित्तेन होतीति उभिन्न एकक्खणे सम्भवो नाम नत्थि। यस्मा पनस्स आसवेसु खीणमत्तेसु पच्चवेक्खणानन्तरमेव जीवितपरियादान गच्छति, अन्तर न पञ्ञायति, तस्मा एव (जीवितसमसीसीति) वुत्त[1]।"

यह वीथि कामभूमि में ही होती है। इस वीथि मे आनेवाले जवन प्रत्यवेक्षण-जवन ही है। जवन-भवङ्ग के अनन्तर होनेवाली वीथि भी हो सकती है। [इरियापथ-समसीसी एवं रोगसमसीसी पुद्गल भी अट्ठकथा मे कहे गये है, किन्तु इस मरणासन्न

१. अ० नि० अ०, तृ० भा०, पृ० १४६; द्र० – पु० प०, पृ० २२।

वीथि से उनका सम्बन्ध न होने से उनका यहाँ प्रतिपादन नहीं किया गया है[१]।]

निगमन – उपर्युक्त कथन के क्रम से पञ्चद्वारवीथि, कामजवन मनोद्वारवीथि, ध्यानवीथि, मार्गवीथि, फलसमापत्तिवीथि, अभिज्ञावीथि, निरोधसमापत्तिवीथि एव मरणासन्नवीथि – इस प्रकार इन आठ परिच्छेदों से परिच्छिन्न करके यह 'वीथिसमुच्चय' दिखलाया गया है। भावना की तरह इसका पुन पुन मनन करने से पाठको को वीथिसम्बन्धी ज्ञान स्पष्ट होगा।

परिनिर्वाणवीथि समाप्त।

वीथिसमुच्चय समाप्त।

१ द्र० – अ० नि० अ०, तृ० भा०, पृ० १४६।